

3972

कालेकालसर्वज्ञ आचार्यदेवश्री हेमचन्द्रसूरिरचित वीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशान्तर्निहितमर्मद्योतक
न्यायविशारद - न्यायाचार्य - महामहोपाध्यायश्री यशोविजयगणिवररचित
मुनि यशोविजयकृत - जयलतावृत्ति - रमणीयाव्याख्याऽलङ्कृत

स्याद्वादरहस्य

(मध्यम)

(द्वितीय खण्ड)

(दिव्याशिष)

वर्धमानतपोनीधे न्यायविशारद संघाहिताचेत्तक गच्छाधिपति स्व.आचार्यदेवेश
श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

(प्रेरक-प्रोत्साहक)

सिद्धान्तादेवाकर गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय
जयघोषसूरीश्वरजी महाराज

-: प्रकाशक :-

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३६, कलिकुण्ड सोसायटी,
धोलका.
Pin - 387810.

-: प्राप्तिस्थान :-

१, प्रकाशक
२, भरतभाई चतुरदास शाह,
कालुशीपोल, कालुपुर,
अमदाबाद.
Pin - 380 001



महामहोपाध्यायजी के उद्गार →
यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयैष्विव ।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व व्युत्पादिकशेषमेषी ॥
(अध्यात्मोपादेशत् १/६१)

जैसे माता को अपने सब बच्चों के प्रति समान प्रेम होता है ठीक वैसे जिस अनेकान्तवाद को सब नयों के प्रति समान हरि होती है उस स्याद्वाद को एक नय में हीनता की बुद्धि और अन्य नय के प्रति उच्चता की बुद्धि कैसे होगी ? अर्थात् किसी भी नय में हीनता या उच्चता की बुद्धि स्याद्वाद को नहीं होती है ।

क्रम	ग्रंथशरीरपरिचय	पत्रक्रमांक
१	प्रकाशकीय वक्तव्य	(III)
२	प्रास्ताविक	(IV)
३	विषयमार्गदर्शिका	(XIII)
४	प्रस्तुत प्रकरण - द्वितीय खण्ड	२१८-५४८
५	परिशिष्ट (लघुस्याद्धादरहस्य-सम्पूर्ण)	(1-18)

संशोधक

न्यायादिशास्त्रमर्मज्ञ तपोरत मुनिप्रवरश्री पुण्यरत्नविजयजी महाराज

ॐ प्रथम आवृत्ति ॐ
● वि.सं. २०५२
● नकल - ६००

मूल्य: रु. १४५-००

कम्प्यूटर्स टाईप सेटींग
श्री पार्श्व कम्प्यूटर्स,
३३, जगपथ सोसायटी, केनाल पर,
घोडासर, अहमदाबाद-३८००५०.
फोन :- 396246

सर्वाधिकार अमणप्रधान श्री श्वेतांबरमूर्तिपूजक जैन संघ के स्वाधीन

नोट :- यह ग्रंथ दार्शनिक अध्ययनशील जैन साधु साध्वीजी भगवंत को भेट रूप में मिल सकेगा । ज्ञाननिधि से प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण होने से बिना मूल्य के गृहस्थ इस पुस्तक को अपनी मालिकी में नहीं रख सकते ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्राज्ञ मुमुक्षुवर्ग के पाणिपत्र में जयलता (संस्कृत टीका) एवं रमणीया (हिन्दी व्याख्या) से सुशोभित स्याद्वादसहस्य (मध्यमपरिमाणवाले) ग्रन्थरत्न का द्वितीय खंड प्रस्तुत करते हुए हम आज अविद्यतीय आनंद की अनुभूति कर रहे हैं ।

प्रस्तुत द्वितीय खंड में वर्तमानकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज से निर्मित मूलग्रन्थ स्वरूप वीतरागस्तोत्र प्रकरण के प्रथम प्रकाश की १-६-१०-८ वीं कारिकाओं का महोपाध्याय श्रीगणेशदेवजी भागवतभस्मिल (मध्यम) स्याद्वादसहस्य वितरण एवं उसकी जयलता नामक संस्कृत टीका और रमणीया नामक हिन्दी व्याख्या मुद्रित हैं । परिशिष्ट के रूप में लघुपरिमाणवाला स्याद्वादसहस्य ग्रन्थ भी इस पुस्तकग्रन्थ में समाविष्ट है । जिस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति नव्य ज्ञान की विशेष परिभाषिक पदावली से व्याप्त होने से अत्यंत भूढ़-दर्शनी है ऐसे कठिनतम दार्शनिक ग्रन्थ की संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के माध्यम से रसपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये हम मुनिश्री गणेशदेवजी का अभिवादन करते हैं ।

प्रस्तुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ के द्वितीय खंड की दोनों व्याख्याओं में भूटते रहने न पाये तदर्थ तत्कालपरिकर्ममति तपस्वी मुनिराजश्री पुण्यरत्नविजयजी महाराज ने संशोधन के लिये पर्याप्त श्रम किया है । एतदर्थ हम उनके भी ऋणी हैं । मुद्रण आदि कार्य में कोई भी भूटते न रह जाय उसके लिए व्याख्याकार मुनिश्री ने भी प्रकाशिका आदि कार्य में काफी उद्यम किया है । फिर भी मुद्रण आदि में तन्मयतामूलक कोई क्षोभ दीर्घगोचर हो तब उसका परिमार्जन करने के लिये अध्यक्षतावर्ग से हमारी प्रार्थना है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खंड के प्रकाशन के बाद अल्प समयावधि में सर्वांग सुन्दर कम्पोज-सेटिंग-मुद्रण आदि कार्यसहित द्वितीय खंड के प्रकाशन में श्री पार्श्व कोम्प्यूटर्स वाले अजयभाई और विमलभाई ने भी अच्छा सक्रिय सौजन्य दिखाया है । एतदर्थ वे भी अवश्य हमारे धन्यवाद के पात्र हैं ।

परमाराध्यपाद वर्धमानतपोनिधि त्वाणीवेश्वर सतनसंधाहेतावंतक गच्छाधिपति आचार्यदेवेश स्व. श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज की पुणित प्रेरणा से प्रारब्ध हमारी संस्था को आज भी उनकी दिव्य कृपा से ऐसे शास्त्रीय प्रकाशनों का लाभ मिल रहा है । इस बात का हमें गौरव है और आज भी ऐसे महत्वपूर्ण शास्त्र ग्रन्थों के प्रकाशन का लाभ हमारी संस्था को मिलता रहे - ऐसी हम प.पू.स्व. गुरुदेवश्री से याचना करते हैं ।

प्रान्ते, अधिकृत जिज्ञासु मुमुक्षु वाचकवर्ग टीकाव्याख्यानसहित इस ग्रन्थरत्न का सम्यक् अध्ययन कर के पारमार्थिक विश्वकल्याणकर तत्त्वों के श्रवण-मनन निोदेष्टासन से मोक्षमार्ग की ओर प्रगति करे-यही एक शुभेच्छा ।

लि. दिव्यदर्शनद्रष्ट के ट्रस्टी

कुमारपाल वि. शाह

अश्वतभाई चतुर्दश शाह.

मयंकभाई शाह आदि

परमपूज्य सिद्धांतदिवाकर गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय जयधोषसूरीश्वरजी म.सा. की पावन प्रेरणा से प्रस्तुत द्वितीय खंड का संपूर्ण आर्थिक सहयोग श्री लालबाग भेतांबर मूर्तिपूजक तपगच्छ जैन संघ - मुम्बई-४ ज्ञाननिधि की ओर से प्राप्त हुआ है । एतदर्थ हम उनके ऋणी हैं और उस संघ के ट्रस्टीओं को हार्दिक धन्यवाद देते हैं । अस्तु !

प्रस्ताविकम्

ॐ ह्रीं श्रीं शङ्खेश्वरपार्श्वताधाय नमः

मियाँजी जंगल में बिल्ली को छोड़ कर तीन दिन के बाद वापस घर लौटे तब बीबी चिल्ला उठी ।

‘हजरत ! इतने दिन कहाँ गये थे ?’

‘बेगम साहेबा ! जंगल में बिल्ली को छोड़ने के बाद घर का रास्ता भूल गया था.’

‘तो फिर यहाँ वापस कैसे लौटे ?’

‘अजी, उसी बिल्ली के पीछे पीछे घर आ गया !’

इस प्रसङ्ग में एकान्तवादी मानस का प्रतिबिम्ब निहित है । अनेकान्तवाद को कुतर्क एवं कुयुक्तिपूर्ण से एकान्तवाद की सीमा के बाहर निकालने के बाद एकान्तवादी परदर्शनी वापस अपने एकान्तवाद के क्षेत्र में प्रवेश पाने की क्षमता को खो देते हैं । अपने एकान्तवाद के सिद्धान्त की स्थापना करने के लिये एवं उसकी बुद्धियाँ दूर करने के लिये स्याद्वाद का ही आश्रय लेना आवश्यक बन जाता है । सापेक्षवाद से बहिर्भूत निरपेक्ष एकान्तवाद की प्रतिष्ठा कभी नहीं की जा सकती । अनेकान्तवाद की कुक्षि में रह कर ही एतद्वादा एकान्तवाद का जन्म सुमकिन है । एकान्तवादी परदर्शनी के सिद्धान्त किस तरह अनेकान्तवाद से संमिलित हैं ? इस विषय का सतर्क सम्यक् प्रतिपादन कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीभरजी महाराज ने वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश में किया है । इसी अष्टम प्रकाश में अन्तर्निहित रहस्य के द्योतनार्थ एवं उसमें अन्तर्गत शान्तरस का आस्वाद करने के लिये महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने स्वाद्वादरहस्य प्रकरण बनाया । नव्य न्याय की शैली में अष्टम प्रकाशस्वरूप बाग को नवपल्लवित करने में न्यायविशारदजी ने कुछ कसर नहीं रखी है - इस बात का भली भाँति परिचय श्रीमद्जी की कृति पर गौर से निगाह करने पर सुज्ञ पाठक महाशयों को अनायास ही मिल जाता है । अष्टम प्रकाश को नव्य न्याय की परिभाषा से परिप्लावित करने के लिये न्यायाचार्यजी के उद्घास और उमंग में इतनी उभार आई कि जिसके फलस्वरूप इसी अष्टम प्रकाश पर जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट परिमाणवाले स्याद्वादरहस्य नाम के तीन प्रकरणरत्न का अनुपम उपहार जिनशासन को मिला । हमारा यह बड़ा सीभाग्य एवं सद्भाग्य है ।

जीव में से शिव बनने की साधना करनेवाले साधकों को परास्त करने के लिये मोहमल्ल सदा सज्ज रहता आया है । अतएव मुमुक्षु के लिये मोहमहामल्ल के स्वरूप की समीचीन जानकारी एवं उसको हटाने की क्षमता को प्राप्त करना अनिवार्य बन जाता है । ज्ञानयोग से उपासक मोहमल्ल के सही स्वरूप को पहचान सकते हैं एवं भक्तियोग से भक्त मोह का उन्मूलन करने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं । न तो हम मोह की भायाजाल से अपरिचित होते हुए, शक्ति होने पर भी उसे हटा सकते हैं और न तो मोह की इन्द्रजाल को ठीक तरह पहचानते हुए भी, सम्यक् आत्मशक्ति के प्रयोग के बिना, उसका उच्छेद कर सकते हैं । अतः ज्ञानयोग एवं भक्तियोग की नितांत आवश्यकता है । शुद्धि एवं शक्ति के आद्य उद्गमस्थानस्वरूप अरिहंत परमात्मा एवं शुद्धमहाव्रतधारी गुरुवर्ग तथा साधना में सहायक साधर्मिक की भक्ति से मोह का विच्छेद करने की ताकत पानेवाले आराधकों के लिये भी मोहोन्मूलन के लिये मोहराजा की सम्यक् समझ जरूरी बन जाती है ।

द्रव्यानुयोग का महत्त्व

आज हम यहाँ ज्ञानयोग के बारे में कुछ विमर्श करते हैं । षोडशक आदि ग्रन्थ में ज्ञानयोग के तीन भेद बताये हैं - (१) श्रुतज्ञान (२) चिन्ताज्ञान (३) भावनाज्ञान । श्रुतज्ञान के चार विभाग हैं (१) द्रव्यानुयोग (२) गणितानुयोग (३) चरणकरणानुयोग (४) धर्मकथानुयोग । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति-शुद्ध-वृद्धि-स्थिरता के लिए द्रव्यानुयोग का गहरा अभ्यास करना आवश्यक है । यदि षड्जीवनिकाय की अवधारणापूर्वक श्रद्धा रखते हुए भी द्रव्यानुयोग से कोई अज्ञात है तो वह द्रव्य सम्यग्दृष्टि कहा जाता है, भाव सम्यग्दर्शन का वह भाजन नहीं बन सकता - इस बात की घोषणा करनेवाले ‘सम्मतिर्तर्ककार श्रीमद् सिद्धसेनदिवाकर सूरिवर ने द्रव्यानुयोग की गंभीरता और आवश्यकता की और अंगुलिनिर्देश किया

है। उन्होंने तो यहाँ तक साफ साफ प्रतिपादन किया है कि - 'हेतुवादगम्य पदार्थों का हेतु-तर्क से एवं आगमवादगम्य पदार्थों का आगम से प्ररूपण करनेवाला ही जैनसिद्धान्त का प्रज्ञापक है। हेतुवादगम्य पदार्थ का आगम से एवं आगमैकगम्य पदार्थ का तर्क और युक्ति से प्रतिपादन करने वाला सचमुच सर्वज्ञप्रणीत सिद्धान्त का विराधक है - भंजक है'।

इतना ही नहीं वह ज्ञानगर्भित वैराग्य से भी शून्य है - यह महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजा के उद्गार हैं^१। सम्यक् मीमांसा के बिना चाहे अनेक शास्त्रों को पढ़े, जनसम्मत बन जाये, अनेक शिष्यों के परिवार से समृद्ध बन जाये तो भी यदि वह स्वसिद्धान्त के विषयविभाग से अज्ञात है, वह चाहे कितना ही चारित्र के मूल गुण एवं उत्तर गुण में उद्यम करे फिर भी चरण-करण के तात्त्विक फल को वह जान नहीं सकता, अनुभव की तो बात ही कहाँ? यह पूर्वधर श्रीमत् सिद्धसेनदिवाकर सूरिवर का वक्तव्य 'द्रव्यानुयोग का कितना मूल्यांकन करना चाहिये?' इस दिशा में विचार करने के लिये प्राज्ञ मुमुक्षु के लिये पर्याप्त है। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि-^२ 'केवल शासन की भक्ति से सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञाता नहीं बना जा सकता। एवं कुछ इधर से, कुछ उधर से ज्ञान पानेवाला वास्तव में स्याद्वादगर्भित सिद्धान्त की प्ररूपणा करने में असमर्थ एवं अनधिकारी है'। 'शास्त्रपरिकर्मित प्रज्ञा के बिना केवल आशयशुद्धि का कुछ भी महत्त्व नहीं है'^३ - यह सूरिपुरंदर हरिभद्रसूरि महाराजा का टंकोत्कीर्ण वचन है। 'अतएव सूत्रअभ्यास के बाद नय-निक्षेप-प्रमाण से अर्थ का अभ्यास करना यानी द्रव्यानुयोग का अध्ययन करना नितांत आवश्यक है। जो आचार्य होते हुए भी तात्त्विक शास्त्रार्थ से अज्ञात है वह जिनेश्वरदेव की महाआज्ञा की विह्वलना करता है।' उपर्युक्त पूर्वधर महर्षि के वचनों का उल्लेख करने के पीछे हमारा आशय सिर्फ इतना ही है कि - मोक्षमार्ग की नींव, जो नैश्वयिक सम्यक् दर्शन है, उसकी प्राप्ति के लिए स्वपरदर्शन के सिद्धान्त का सूक्ष्म प्रज्ञा से तलस्पर्शी अभ्यास जीवननिर्वाहक अन्न-पान-हवा-प्रकाश आदि से भी ज्यादा मूल्यवान् है। कहने दो कि- वह अमूल्य ही है। इस वक्तव्य के विधेयात्मक हार्द को सुज्ञ पाठकवर्ग अच्छी तरह समझ पायेंगे - यह मंगलकामना।

नव्यन्यायअध्ययन की आवश्यकता

जिनशासनस्वरूप विशाल नभस्थल में द्रव्यानुयोगमर्म के प्रकाशक पूर्वधर श्रीसिद्धसेनदिवाकर सूरिवर, मल्लवादी आचार्य, वादिवैताल शांतिसूरिजी, कलिकालसर्वज्ञ श्रीहरिभद्रसूरि-हेमचन्द्रसूरिजी, श्रीवादिदेवसूरिवर, श्रीरत्नप्रभाचार्य आदि अनेक सूरज-चौद-सितारे उदित हो चुके। उपर्युक्त महर्षियों की प्रतिपादनशैली प्राचीन न्याय की परिभाषा से प्लावित है। किसी विषय के बारे में अनेक संभवित विकल्पों की जाल बिछा कर वस्तु के सत्स्वरूप का मंडन करना एवं असत्स्वरूप का खण्डन करना - यह प्राचीन न्याय की शैली है। न्यायशब्द का प्रयोग प्राचीनन्याय, जैनन्याय, बौद्धन्याय तथा नव्यन्याय के स्वरूप में बहुधा भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध है। न्यायशब्द का अर्थ है तर्क अथवा युक्ति। 'न्याय' शब्द की शास्त्रीय व्युत्पत्ति यह है कि - 'नीयतेऽनेन वस्तुस्वरूपं इति न्यायः'। अर्थात् जिसके आधार पर किसी निर्णय तक पहुँचा जाय वह न्याय है। भाष्यकार वात्स्यायन ने 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' (न्यायसूत्र वा.भा. १-१-१) ऐसा कह कर 'प्रमाणों के आधार पर अर्थ की परीक्षा का नाम न्याय है' ऐसी निजी परिभाषा बनाई है। परन्तु कालान्तर में न्यायशब्द मुख्यतः गीतमदर्शन (अक्षपादमत) के लिये रूढ़ हो गया। महर्षि गीतम के द्वारा प्रतिपादित पञ्च अवयवों के लिये न्यायशब्द का प्रयोग कर के वात्स्यायन ने उसे 'परमो न्यायः' संज्ञा प्रदान की और पञ्चावयव तथा उस प्रणालि से दार्शनिक प्रमेयों की स्थापना करनेवाले गीतमीय दर्शन के रूप में स्थापित किया। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि - (१) इन्द्रभूति गीतम गणधर (२) गीतम बुद्ध एवं (३) न्यायदर्शनप्रस्थापक गीतम महर्षि - ये तीनों ठीक उसी तरह भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं जैसे सैधवशब्दवाच्य लवण, वस्त्र और अन्न।

गीतम महर्षि के कई शताब्दियों के पश्चात् प्राचीन न्यायदर्शन की शैली ने नया परिमाण एवं नया परिवेश धारण

१. जो हेतुवायपक्खम्मि हेतुओ आगमे य आगमिओ । सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अओ ॥ सं.त. ३/४५ ।
२. आज्ञयाऽऽगमिकार्यानां, योक्तिकानां च युक्तितः । न स्थाने योजकत्वं चेत् ? न तदा ज्ञानगर्भता । अध्यात्मसार ६-३८ ।
३. जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य, सिस्सगणसंपरिवुडो य । अविणिच्छिओ य समए, तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥ सम्मतितर्क ३-६६ ।
४. चरणकरणप्पहाणा ससमयपरसमयमुक्त्वावारा, चरणकरणस्स सारं निच्छयसुद्धं ण याणांति ॥ सं.त. ३-६७ ।
५. ण हु सासणभन्तिमेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ । ण वि जाणओ वि गियमा, पण्णवणाणिच्छिओ णाम ॥ सं.त. ३/-६३ ॥
६. जिणाणाण कुणंताणं नूणं निव्वाणकारणं । सुंदर पि सबुद्धिए सत्त्वं भवनिबंधणं ॥
७. तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयल्लं । आधरीय धीरहत्था हंदि महाणं विलंबेन्ति ॥ सं.त. ३/६५ ।

किया, जिससे प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय ऐसे दो विभाग प्रचलित हो गये। बौद्ध, मीमांसक, वेदान्ती तथा जैनो के साथ लगभग हजार वर्ष के वैचारिक संघर्ष के फलस्वरूप गौतमीय नैयायिकों ने अपने विवेचन को प्रमाणमीमांसा पर केन्द्रित किया, जिसके फलस्वरूप नव्यन्याय का जन्म हुआ। प्राचीन न्याय में पञ्चावयवों के विवेचन के साथ साथ 'वाद' के सभी अङ्गों के प्रतिपादन के अतिरिक्त पदार्थमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, तथा ज्ञानमीमांसा भी प्रस्तुत की गयी है, जब कि नव्यन्याय प्राचीन नैयायिकों के द्वारा विवेचित निग्रहस्थान-वाद-जल्प-वितण्डा आदि के सिद्धांतों की ओर उदासीन रहते हुए मुख्यतः प्रमाण के स्वरूप, फल एवं हेतु विषयक विचार पर अपना अवधान केन्द्रित करता है। प्रमाण की जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दावली नव्यन्याय में विवेचित है वैसी किसी भी शायद अन्य न्याय में या दर्शन में उपलब्ध नहीं है। नव्य न्याय ने पदार्थों के विशेषरूपों का अन्वेषण कर के उनकी सर्वशुद्ध परिभाषा करने पर विशेष जोर दिया ताकि उनके विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति या सन्दिग्धता का अवसर ही न रहे। नव्यनैयायिक मोक्षपुरुषार्थ के प्रति आग्रह छोड़ कर 'वस्तु' के यथार्थ बोध के प्रति अधिक संवेदनशील है। पक्षता, अनुयोगिता, प्रतियोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छिन्नता, प्रकारता, विषयता, प्रकारिता, विषयिता, संसर्गता, प्रतिबन्धकता, प्रतिबन्धता, निरूपकता-निरूपितता आदि शब्दावली से गर्भित नव्य न्याय की प्रवृत्ति, शब्दों में सन्दिग्धता को अवकाश न देते हुए, पदार्थ को विशेष व्यक्त करने की रही है। अतएव नव्य न्याय के आधुनिक पारिभाषिक पदार्थों का परिचय पाना अत्यन्त दुर्लभ है। वस्तु के वास्तविक स्वरूप को निःसन्दिग्धरूप में प्रस्तुत करने में प्राचीन न्याय की अपेक्षा नव्य न्याय अधिक सक्षम होता हुआ भी प्रसङ्गवशात् प्रमाण-प्रमेय-प्रमा या व्याप्ति की जटिल परिभाषा दे कर अच्छे अच्छे प्राज्ञ पंडितों को भी दिन में आसमान के तारे दीखाने लगता है। रोमांचित करनेवाली पारिभाषिक अर्वाचीन पदावली में पदार्थविवेचन की जो सूक्ष्मता है वही नव्यन्याय की मुख्य विशेषता है। विषय की सूक्ष्मता को प्रदर्शित करने के लिये जिन नवीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है वही उसका प्राचीन न्याय से विलक्षण है। ये नवीन सांकेतिक शब्द ही नव्य न्याय को अन्य सभी शास्त्रों से भिन्न शास्त्र के स्वरूप में स्थापित करते हैं। नवीन न्याय की इस पारिभाषिक तकनीकी ने उसके नूतन अध्येताओं के लिये अनुत्साह का सृजन किया। जब तक नवीन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ ही समझ में नहीं आते तब तक 'उनके उपयोग से अर्थच्छटा की सूक्ष्मता कैसे उत्पन्न होती है?' इसका भी पता नहीं लगता। परिणामतः प्राज्ञ मुमुक्षु भी नव्यन्याय से दूरी से ही घबड़ाते हैं।

अलीकिक प्रतिभावाली गङ्गेश उपाध्याय ने प्राचीन न्यायशास्त्रों का मन्थन कर के उसके सारमय जिस तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ का सृजन किया उससे प्रारंभ होनेवाला शास्त्र नव्यन्याय के रूप में विख्यात हुआ। अतएव गङ्गेश उपाध्याय नव्यन्याय के आद्य प्रस्थापक के रूप में प्रसिद्ध हुए। बाद में नवद्वीप के वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, मधुरानाथ, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य, विश्वनाथ पञ्चानन भट्ट आदि विद्वानों ने नव्यन्यायशास्त्र को अपनी अपनी कृतियों से प्रवहणशीलता प्रदान की। इनके अतिरिक्त मिथिला के पक्षधरमिश्र, वर्धमान उपाध्याय, यज्ञपति उपाध्याय, रुचिदत्तमिश्र, भगीरथ ठकुर, महेश ठकुर आदि ने भी नव्य न्याय के ग्रन्थों की रचना कर के नव्यन्याय सम्प्रदाय को गौरवान्वित किया। जहाँ तक पदार्थप्रतिपादन का सवाल है हम कह सकते हैं कि नव्य नैयायिकों ने प्राचीन न्याय को मान्य वैशेषिक पदार्थों को विशेषस्वरूप से आत्मसात् कर के अपने शास्त्र की मंजील खड़ी की है।

नव्यन्याय के सृजन के पश्चात् इसका प्रभाव विभिन्न दर्शनों के शास्त्रों पर बड़े व्यापकरूप से पड़ा है। इस शास्त्र के प्रादुर्भाव के पश्चात् भारतीय दार्शनिक विद्या के लगभग हर एक क्षेत्र को इसने प्रभावित किया। नव्य न्याय की संकलनाओं के और दार्शनिक पारिभाषिक पदावली के ठीक तरह परिचय के बिना मानो कि धर्मशास्त्र, साहित्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा अन्य दर्शनों के सर्वमान्य ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन नामुमकिन हो गया। दीधितिकार आदि से नवीन न्याय पल्लवित और पुष्पित होने के बाद प्रायः प्रत्येक दर्शनकार नवीन न्याय की परिभाषा को अपना कर अपने सिद्धांतों का सूक्ष्म एवं सतर्क प्रतिपादन करने को उद्यत बने। मधुसूदन सरस्वती के अद्वैतसिद्धिग्रन्थ की गौडब्रह्मानंदी टीका, काव्यप्रकाश-व्याख्या, परिभाषा शब्देन्दुशेखर, जल्पकल्पतरु, मञ्जूषा आदि वेदान्त आदि दर्शनों के ग्रंथों में नव्य न्याय की पदावली का काफ़ी उपयोग किया गया है, जिनमें स्वसिद्धान्तस्थापन एवं परसिद्धान्तनिकन्दन किया गया है। अन्य नव्य दार्शनिकों ने स्याद्वाद का भी बिना सोचे समझे खण्डन किया। अतएव नवीन न्याय की शैली में स्याद्वादबाधक कुतर्कों का निरसन एवं स्याद्वाद का सूक्ष्म समीचीन प्रतिपादन करना जैन मनीषियों के लिये कर्तव्य बना। इस कार्य का श्रीगणेश महामहोपाध्याय

यशोविजयजी महाराज ने किया। श्रीसिद्धसेनदिवाकरजी, श्रीहरिभद्रसूरिजी, महवादी आचार्य आदि प्राचीन पूर्वजों के ग्रन्थों का मनन-निदिध्यान कर के उनमें से सुधारस निकाल कर परिवेषण करने की अद्भुत क्षमता महोपाध्याय श्रीमदजी को बरी हुई थी। स्याद्वाद, सप्तभङ्गी, नप, निक्षेप आदि के हार्द को एवं प्राचीन शास्त्र के समीचीन तात्पर्य को परिस्फुरित करती हुई नव्यन्यायगर्भित महोपाध्यायजी की कृतियों का आस्वाद लेने के लिए प्राज्ञ मुमुक्षु के लिए नव्यन्याय की पारिभाषिक पदावली का सही ज्ञान पाना जरूरी बन जाता है। ऐसे देखा जाय तो एकान्तवादावलम्बी परदर्शनवार्ता को स्वदर्शनप्रतिपादन में कुछ स्थान ही नहीं है फिर भी मार्गानुसारी बुद्धि की विशदता एवं सूक्ष्मता के लिए तथा नैश्चयिक सम्पद्दर्शन की स्पर्शना के लिये एकान्तवादी-परदर्शननिरसन भी आवश्यक है, जो जैनन्याय के प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों में द्रष्टिगोचर होता है। अनेकान्तवाद के जना जंथे में खनन एकान्तवादों का इतना समन्वय किया गया है कि उसका हार्द समझे बिना एकान्तवाद का खण्डन करने पर अनेकान्तवाद पर ही कुठारप्रहार हो जाय एवं तन्मूलक द्वादशांगी की भी भारी आशातना हो जाय। इसीसे पता चलता है कि नव्यन्याय का अध्ययन कितना आवश्यक है? जब अनेकान्तवाद को केन्द्रित कर के सब दर्शनों का अभ्यास किया जाय तब तो स्वदर्शन एवं परदर्शन का आग्रह ही छूट जाता है। मगर केवल श्रद्धा के स्तर पर इस परमोच्च स्थिति पर पहुँचना मुश्किल ही है किन्तु किसी भी हालत में इस मनःस्थिति के पाने के बाद भी उसे चिरस्थायी रखना तो बकरे की दाढ़ी से दूध निकालना है। मोहनीयक्षयोपशमानुविद्ध सूक्ष्म प्रज्ञाशक्ति से ही उपर्युक्त शमत्वअवस्था प्राप्य है एवं स्थाप्य है। यँ तो स्वतंत्र केवल बुद्धि बेइया ही है मगर मार्गानुसारी क्षयोपशम से नियन्त्रित बन जाने पर स्याद्वाद राजराजेश्वर की वह मुशील महारानी बन सकती है। तदर्थ सम्यक् एकान्तवादों की नींव पर स्थित स्याद्वाद का परिशीलन एवं तदर्थ परदर्शनों का यथावत् अवलोकन अनिवार्य बन जाता है।

दार्शनिक अभ्यास

द्रव्यानुरोध का एवं सर्वदर्शनअध्ययन का अपने क्षेत्र में महत्त्व होते हुए भी रत्नत्रयी के समाराधक मुमुक्षु के लिए संस्कृत-प्राकृत-काव्य आदि के निपुण अभ्यास के बाद जैन आचारविज्ञान के लिये दशर्वकालिक, ओघनिर्मुक्ति, पिंडनिर्मुक्ति, आचारंगसूत्र, पंचसूत्र, पंचवस्तु, पंचाशक आदि शास्त्रों का अध्ययन एवं जैन पदार्थविज्ञान के लिये आवश्यकनिर्मुक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, लोकप्रकाश, प्रवचनसारोद्धार, प्रज्ञापना आदि शास्त्रों का परिचय तो सब से पहले ही जरूरी है। बाद में प्रज्ञाशक्ति के अनुसार जैनन्याय के जैनतर्कभाषा स्याद्वादभाषा, स्याद्वादमञ्जरी, रत्नाकरावतारिका, धर्मसङ्ग्रहणीटीका आदि का अच्छी तरह वीक्षण करने के पश्चात् महोपाध्यायजी महाराज के रसप्रद साहित्य का मधुर आस्वाद पाने के लिये नव्यन्याय के न्यायभूमिका, तर्कसङ्ग्रह, मुक्तावली, दिनकरी, व्याप्तिपञ्चक, सिद्धान्तलक्षण, अवच्छेदकनिरुक्ति, व्युत्पत्तिवाद आदि ग्रन्थों का अध्ययन उचित समझा जा सकता है। साथ ही साङ्ख्यदर्शन की सांख्यतत्त्वकौमुदी, बौद्धदर्शन के न्यायविन्दु, वेदान्तदर्शन के वेदान्तपरिभाषा, मीमांसादर्शन के मीमांसापरिभाषा या अर्थसङ्ग्रह, योगदर्शन के पातञ्जलयोगसूत्र की राजमार्तण्ड या मणिप्रभा टीका आदि का अन्वीक्षण जरूरी है, क्योंकि उपाध्यायजी महाराज अवसरोचित षड्दर्शन के सिद्धांतों की समीक्षा करने के लिये लालायित रहते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं, हम यह कह सकते हैं कि उपाध्यायजी महाराज के साहित्य का सानंद एवं सम्यक् लाभ उठाने के लिये उपर्युक्त क्रम से अभ्यास करना ठीक रहेगा। साथ साथ योगदृष्टिसमुच्चय, योगविन्दु, ललितविस्तरा आदि योगग्रन्थों का अभ्यास करना छूट न जाये यह भी ध्यान में रखना जरूरी है। विद्यार्थिक मुमुक्षु के लिये आनन्द की बात यह है कि बहुधा उपदर्शित षड्दर्शनों के प्राथमिक ग्रन्थ हिन्दी या गुजराती में सविवेचन उपलब्ध होते हैं। एवं उपाध्यायजी महाराज के भी नवीनन्यायगर्भित अनेक प्रकरणरत्न भी हिन्दी या गुजराती भाषा में सविवेचन उपलब्ध हैं। जो मुमुक्षु अधिक प्रज्ञाशाली हैं एवं उपाध्यायजी महाराज के ग्रन्थों की प्रत्येक पंक्ति एवं पदों का समीचीन सूक्ष्म हार्द पाने के लिए उत्साही हैं उनके लिये प्राचीनन्याय के न्यायकुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक, न्याय-तात्पर्यपरिशुद्धि आदि ग्रन्थों का एवं नवीनन्याय के सामान्यनिरुक्ति, व्यधिकरण जागदीशी, वादवारिधि, तत्त्वालोक, प्रामाण्यवाद-गादाधारी, तत्त्वचिन्तामणि की माधुरी या दीधिति टीका आदि ग्रन्थों का, सांख्यदर्शन के गौडपादभाष्य, सांख्यसूत्रभाष्य आदि प्रकरणों का, बौद्धदर्शन के प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसङ्ग्रह, माध्यमिककारिका आदि ग्रन्थों का, मीमांसादर्शन के आकर ग्रन्थ श्लोकवार्तिक का, व्याकरणदर्शन के वाक्यपदीय (जो पाँच भाग में साम्प्रतकाल में सटीक उपलब्ध है) ग्रन्थ का, वैशेषिकदर्शन के न्यायलीलावती, प्रशस्तपादभाष्य आदि शास्त्रों का, वेदान्तदर्शन के चित्सुखी (अपरनाम तत्त्वप्रदीपिका), अद्वैतसिद्धि,

१. सीसमङ्गविष्कारणमेत्तोऽयं कओ समुल्लाओ । इहरा कहामुहं चेव पत्थि एवं ससमर्थमि ॥ सं.त. ३/५५ ।

२. आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ? ॥ योगविन्दु - ५५५

सिद्धान्तविन्दु, खण्डनखण्डखाद्य, वेदान्तकल्पलता आदि ग्रन्थों का, योगदर्शन में पातंजलयोगसूत्रभाष्य पर तत्त्ववैशारदी टीका, जो वाचस्पतिमिश्रकृत है, उसका एवं मंडनमिश्रकृत विधिविवेक की वाचस्पतिमिश्रकृत न्यायकणिका टीका का अध्ययन हो जाय तो बड़ा सीमाग्य एवं सद्भाग्य समझा जायेगा ।

पश्चात् जैन नव्यन्याय के अध्ययनार्थ नयरहस्य, नयोपदेश न्यायालोक, आत्मख्याति, वादमाला, प्रमेयमाला, न्यायखण्डखाद्य, स्याद्वादकल्पलता, स्याद्वादरहस्य, अनेकान्तव्यवस्था आदि ग्रन्थों का, नव्यन्याय गर्भित आगमिक एवं योगग्रन्थों के अभ्यासार्थ उपदेशरहस्य, भाषारहस्य, धर्मपरीक्षा, अध्यात्ममतपरीक्षा, आध्यात्मिकमतपरीक्षा, देवधर्मपरीक्षा, गुरुतत्त्वविनिश्चय, ज्ञानविन्दु, ज्ञानार्णव, प्रतिमाशतक, षोडशकनव्यटीका, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, योगविंशिकावृत्ति, द्रव्यगुणपर्यायरास, ऐन्द्रस्तुति चतुर्विंशतिका आदि का अध्ययन करना उचित समझा जाता है । प्राचीन जैनन्याय के द्वादशार-नयचक्र, सम्मतितर्कटीका, स्याद्वादरत्नाकर, न्यायवतारवार्तिक, प्रमाणमीमांसा आदि आकर ग्रन्थ भी मननीय हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रवचनसार, बृहद्द्रव्यास्तिकाय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, प्रमेयरत्नमाला आदि न्यायग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं । एवं शेष आगमग्रन्थों का, योगग्रन्थों का, वैराग्यवर्धक ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् अध्यात्मविन्दु, अध्यात्मउपनिषद्, अध्यात्मसार, ज्ञानसार, योगसार, योगशतक आदि निश्चयनयप्रधान ग्रन्थों का अध्ययन भी प्रशमरसबाहिता के अनुभवार्थ उपयोगी माने जाते हैं । यहाँ जो कुछ अध्ययनक्रम बताया गया है वह तो एक दिग्दर्शनमात्र है । इस पद्धति के अनुसार अन्य जितने भी ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय उतना कम है, क्योंकि जैनशासन तो सम्यक् शास्त्ररत्नों का महासागर है । उसका पार कौन पा सकता है ?

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि दार्शनिक ग्रन्थों का ज्ञान जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्व दार्शनिक अध्ययन के दौरान वैराग्यकल्पलता, उपमितिभवप्रपञ्चकथा, समराइचकहा, संवेगारंगशाला, अध्यात्मकल्पद्रुम, शांतसुधारस, प्रशमरति आदि आत्मपरिणतिविशुद्धिकारक ग्रन्थरत्नों के अध्ययन का भी है । यदि केवल शुष्क तर्कग्रन्थों के अध्ययनार्थ उपर्युक्त वैराग्यपोषक ग्रन्थों की उपेक्षा की जाय तो जीव में से शिव बनने की साधना निश्चेतन एवं प्राणविहीन बनने की भी पूर्णतया संभावना है । अतः दोनों विभागों का अच्छा सन्तुलन गुरुगम से किया जाय यही उपासक का सम्यक् ज्ञानमार्ग है । गंगाजल की भौति न्यायविद्या-तर्कविद्या अपने आपमें पवित्र एवं निर्मल होते हुए भी अयोग्यस्थान को पाकर जहर भी बन सकती है । इस भयस्थान से मुक्त बनने के लिये भक्तियोग भी एक उत्तम-सुरक्षित-ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक उपाय है । दार्शनिक अभ्यासार्थ संयमयोगों की निर्दोष एवं आवश्यक चर्या कुरबान की जाय - यह भी कथमपि सङ्गत नहीं है ।

श्री सिद्धविंशतिगिर ने उपमितिभवप्रपञ्चा कथा में भवभ्रमणहेतुभूत कुविकल्प के दो प्रकार बताये हैं (१) आभिसंस्कारिक (२) सहज । मिथ्याशास्त्रश्रवण के संस्कार से उत्पन्न होनेवाले कुविकल्प आभिसंस्कारिक कहे जाते हैं, जो कभी गीतार्थ स्वपरसमयज्ञ भवभीरु सद्गुरु के सत्संग के प्रभाव से निवृत्त होते हैं तो कभी सम्यग् एकान्तअविनाभावी अनेकान्तवाद के श्रवण-मनन-चिन्तन-निदिध्यासन से भी । पौद्गलिकसुख की लालसा, दुःख से खीफ, कञ्चन-कीर्ति-कामिनी में परमार्थसुखबुद्धि ये सब कुविकल्प सहज कहे जाते हैं, जिनकी निवृत्ति अधिगम सम्यग्दर्शन के बिना नामुमकिन है । अधिगम सम्यक्त्व का मतलब है अनेकांतगर्भित-सद्गुरुउपदेशजन्य नैश्वयिक सम्यक्त्व । नैश्वयिक सम्यग्दर्शनवाले प्रत्येक जीवों को दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा होती है । इसका मतलब यह हुआ कि निश्चय सम्यग्दर्शन और दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा परस्पर समव्याप्त अविनाभावी हैं और परस्पर के उपष्टम्भक हैं । दृष्टिवादपद से द्वादशांगी के अन्तिम अङ्गसूत्र, जिसमें १४ पूर्व सामिल हैं, का भी ग्रहण हो सकता है और अनेकान्तवाद-सापेक्षवाद-स्याद्वाद प्रमाण का भी । दृष्टिवाद अङ्गसूत्र अन्तर्गत १४ पूर्व तो कालिकानुयोग-नयवाद-प्रमाणवाद इत्यादि की मीमांसा से भरसक हैं, जो नैश्वयिक सम्यग्दर्शन का मूल आधार है । अनेकान्तवाद के बिना केवल नैश्वयिक दर्शन ही नहीं बल्कि लौकिकव्यवहार भी कथमपि सङ्गत नहीं हो सकता । अतएव

१. द्वये खल्वमी कुविकल्पाः प्राणिनो भवन्ति । तद्यथा - एके कुशास्त्रश्रवणवासनाजनिताः यदुत - 'अण्डसमुद्भूतमेतत्त्रिभुवनं, महेश्वरनिर्मितं, ब्रह्मादिकृतं, प्रकृतिविकारात्मकं, क्षणविनश्वरं, विज्ञानमात्रं, शून्यरूपं वा' इत्यादयः । ते हि आभिसंस्कारिका इत्युच्यन्ते । तथा अन्ये सुखमभिलषन्तो दुःखं द्विषन्तो द्रविणादिषु परमार्थबुद्ध्यध्यवसायिनः, अत एव तत्संरक्षणप्रवणचेतसोऽदृष्टतत्त्वमार्गस्यास्य जीवस्य प्रवर्तन्ते, परैव जीवोऽशाङ्कनीयानि शङ्कते, अचिन्तनीयानि चिन्तयति, अभाषितव्यानि भाषते, अनाचरणीयानि समाचरति । ते तु कुविकल्पाः सहजा इत्यभिधीयन्ते । तत्राभिसंस्कारिकाः प्रथमसुगुरुसम्पर्कप्रभावादेव कदाचिच्चित्तैरन् । एते पुनः सहजा यावदेव जीवो मिथ्यात्वोपप्लुतबुद्धिस्तावन्न कथञ्चिद् निवर्तन्ते । यदि परमधिगमजसम्यग्दर्शनमेव प्रादुर्भूतमेताभिधत्तयतीति । उपमितिभवप्रपञ्चायां पीठबन्धे दृश्यतां ७६ तमे पृष्ठे प्रती ।

२. जेण विणा लोगस्सवि यवहारो सज्जहा न निव्वहइ । तस्स भुवणेकगुरुणो नमो अणेगंतवायस्स ॥

अनेकान्तवाद सब के लिये अवश्य नमस्करणीय है। सम्यगेकान्तवादों से अनुप्राणित अनेकान्तवाद की सही जानकारी वर्तमान में परदर्शनों के अभ्यास के बिना अधूरी समझी जाती है। 'एक पदार्थ की संपूर्ण ज्ञप्ति के लिए सब पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है और सब पदार्थों की परिपूर्ण जानकारी के लिये एक पदार्थ का सूक्ष्म बोध आवश्यक है। इस तरह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, स्थिरता एवं वृद्धि के लिये परदर्शनअध्ययन की आवश्यकता होने पर भी, बिना विनय-विवेक-वैराग्य के, तर्कअभ्यास मुक्तिसाधना में विघ्न भी पैदा कर सकता है - यह भयस्थान जरूर है। मगर इस भयस्थान को अवसर ही न मिले तदर्थ हमने पूर्व बताया वैसे भक्तिमार्ग एवं वैराग्यपोषक शास्त्रपरिशीलन का अमोघ सहारा लिया जा सकता है। मगर इस भयस्थान से परदर्शनअध्ययन को ही अलविदा करना तो गले में फोड़ा होने पर गले को ही काटना है। जैसे फोड़े की चिकित्सा कर के गले को सुरक्षित रखना ही अवलमन्द का कार्य है ठीक वैसे ही परदर्शन-अध्ययनस्थलीय भयस्थान को दूर कर के मोक्षमार्गबीजतुल्य नैश्चयिक सम्यग्दर्शन के योगक्षेमार्थ सर्वदर्शनों का गुरुगम के सहारे मार्गानुसारी बुद्धि से अध्ययन किया जाय- यही विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य है।

-: द्वितीय खण्ड विषय :-

मध्यमस्याद्वादरहस्य के प्रथम खण्ड में वीतरागस्तोत्र अष्टम प्रकाश की आद्य ४ कारिका की श्रीमद् महोपाध्यायजीकृत म. स्याद्वादरहस्याभिधान व्याख्या, उसकी जयलतानामक संस्कृतटीका एवं रमणीया - हिन्दी विवेचन का समावेश किया गया है। प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में वी.स्तो.अष्टम प्रकाश की ५-६-७-८ कारिका की महोपाध्यायकृत व्याख्या, उसकी संस्कृतटीका एवं हिन्दीविवरण उपलब्ध है। अवशिष्ट ग्रंथांश एवं व्याख्याएं तृतीय भाग में लभ्य होगी। पंचम श्लोक की व्याख्या में महोपाध्यायजी ने 'जिनोक्त नित्यानित्यत्वसंभिन्न वस्तुस्वभाव किसी प्रकार के दोष से कलङ्कित नहीं है' इस श्लोकार्थ की पुष्टि के हेतु (१) प्रारंभ में सप्तभङ्गी का विस्तार से प्रतिपादन किया। यहाँ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव को व्यधिकरण-सम्बन्धावच्छिन्न अभाव से ही अन्यथासिद्ध बतानेवाले भवदेव आदि नव्य नैयायिकों के मत का नव्य न्याय की गूढ़ शैली में उन्मूलन किया गया है। बाद में एवकार की शक्ति अयोगव्यवच्छेद में न मान कर अन्ययोगव्यवच्छेद में मानने वाले नवीन नैयायिकों के मत का निरसन कर के अयोग एवं व्यवच्छेद में एवपद की खण्डशः शक्ति का समर्थन किया गया है। वक्तव्यत्वसाधन के द्वितीय-भेद 'स्यादवक्तव्यः' एवं चतुर्थे भेद 'स्यादवक्तव्यः' में अभेद या पुनरुक्ति दोष का समाधान श्रीमद्जी ने यह दिया कि द्वितीयभंग में वक्तव्यत्वाभाव का प्रतिपादन अभिमत है और चतुर्थे भंग में उससे भिन्न अवक्तव्यत्वनामक स्वतंत्र-जात्यन्तरभूत धर्म का कथन अभिमत है (पृ.नं. २८१)। यह समाधान उपाध्यायजी की अलीकिक प्रतिभा का दर्शन कराता है। बाद में प्रमाणनयनत्वालोकालङ्कारसूत्र का हवाला देकर सकलादेश एवं विकलादेशस्वरूप दो सप्तभङ्गी का निरूपण कर के सप्तभङ्गीवादस्थल पर पर्दा डालने के पूर्व 'सकृदुचरितः शब्दः सकृदेव अर्थ बोधयति' इस न्याय के तात्पर्यार्थ का नव्य पदावली से निरूपण किया है (पृष्ठ-२८९)।

(२) तमोद्रव्यत्ववादस्थल में 'नीलरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है' इस प्रबल तर्क से अन्धकार में द्रव्यत्वबाधक रूपाभाव का निराकरण किया गया है। त्रसरेणु के स्पर्श में अनुद्भूतत्व का स्थापन, अर्थसमाजसिद्ध धर्म में कार्यतानवच्छेदकता का प्रतिपादन, तमोद्रव्यत्वसाधक पूर्वाचार्यमतमंडन, आलोकगत चाक्षुषकारणता का उलूचाक्षुषादि में व्यभिचार से निराकरण, उच्छुखलमत-मीमांसा, तामसेन्द्रियवादी-तीतातिकेकदेशीयमतसमीक्षा, प्रभाकरमिश्रमत समालोचना, प्रकाशकरूपाभावात्मकतमोवादी प्रगल्भ के मत का समीक्षण, वर्धमानउपाध्यायमत अपाकरण, स्वतन्त्रमतप्रतिपादन में जन्यभावमात्र में ससमवायिकारणकत्वनियम का पराकरण एवं परिष्कार, अन्धकार में रत्नप्रभसूरिमतानुसार भावत्व साधन, तम में पृष्ठीत्वबाधन, व्यवहार के बल से अन्धकार में द्रव्यत्वसिद्धि, पुनः वर्धमानमतनिरास एवं कन्दलीकारमतकर्तन कर के तमोद्रव्यत्वाद को तिलांजलि दी गई है।

“अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर मध्याह्नकाल में राजमार्ग पर यकायक घट आदि को उलटा करने पर घट आदि के अंदर अन्धकारद्रव्य की उत्पत्ति कैसे मुमकिन होगी? क्योंकि तब वातावरण में अन्धकार के अवयव अनुपस्थित हैं और प्रीड आलोक होने के सबब अन्य देश से भी तमोडवयव का आगमन नामुमकिन है” - यह वर्धमान उपाध्याय का स्याद्वादी के प्रति आक्षेप है जिसकी समीक्षा करते हुए उपाध्यायजी ने अपने परिणम्य-परिणामकभाव के सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर यह बताया कि - 'घनतर आवरण के सहकार से वहाँ आलोकद्रव्य ही अन्धकारात्मना परिणत होता है। नियतारम्भवादी नैयायिक के मतानुसार इसकी कथमपि सङ्गति नहीं हो सकती मगर उपर्युक्त रीति से अनियतारम्भवादी जेनों के मतानुसार ही यह सम्भव है। इस विषय का विस्तार से निरूपण स्याद्वादकत्वलता, बादमाला आदि ग्रन्थों में

१. जो एगं जाणइ सो सब्जं जाणइ । जो सब्जं जाणइ सो एगं जाणइ ॥ आचारांगसूत्र

भी उपलब्ध है ।

न्यायकन्दलीकार श्रीधर का मत यह है कि - आरोपित नील रूप ही अन्धकार है, न कि द्रव्यादि । इसका समीक्षण श्रीमद् न्यायविशारदजी इस तरह करते हैं कि - निराश्रय रूप वैशेषिकसिद्धान्तानुसार भी नामुमकिन है । अतः प्रतीयमान नील रूप के आश्रयीभूत द्रव्य को ही अन्धकार कहना सुनासिब है ।

पञ्चम कारिका का आकर्षक तृतीय वादस्थल है ईश्वरकर्तृत्ववाद । क्षिति आदि में ईश्वर कर्तृत्वसाधक कार्यत्व हेतु का विकल्पवद्क से जो निरसन यहाँ उपलब्ध है, हमारी धारणा है - अन्यत्र वह प्राप्य नहीं है (१) प्रयत्न भी विलक्षणसंयोग का ही हेतु है (२) व्यवहार से दण्डादि घट के कारण नहीं किन्तु प्रयोजक है । मगर निश्चयतः स्वद्रव्य मिट्टी ही घटजनक है (३) खण्डघटजनक ईश्वरीय कृति के आश्रयविधया महेश्वर के साधक दीधितिकार की तो हवा इस तरह न्यायाचार्य ने निकाली है कि तब घटसामान्य के प्रति कुलालत्वेन हेतुता का ही उच्छेद हो जायगा । स्याद्वादकल्पलता में उपर्युक्त दीधितिकारमत की समालोचना स्वसिद्धान्तानुसार इस तरह प्राप्य है कि - खण्डघटस्थल में हम नवीन घट की उत्पत्ति नहीं मानते हैं । अतः खण्डघटजनकविधया ईश्वरसिद्धि नामुमकिन है। इसी बात का श्रीमद्जी ने भाषारहस्य स्वोपज्ञविवरण में इस तरह बताई है कि - घट में छिद्र पर्याय उत्पन्न होता है, न कि नूतन छिद्रघट (भा.र. पृ.३३) । न्यायकुसुमाञ्जलिकार उदयन के धृतिआदिहेतुक अनेक अनुमानप्रयोगों का खण्डन आगे चल कर किया है । ईश्वरसाधक उदयनउपन्यस्त 'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्वयः ॥ (न्या.कु. ५/१) इन दश हेतुओं की एवं दशहेतु के नवीन अर्थ की विस्तार से कड़ी समालोचना न्यायाचार्य ने स्याद्वादकल्पलता के तृतीय स्तवक में की है । अष्टसहस्रीविवरण आदि ग्रन्थों में भी यह वादस्थल उपलब्ध है । श्रीसिद्धसेनादि प्राचीन जेनाचार्यों की युक्तिओं का भी अवसरोचित उपयोग न्यायाचार्यजी ने किया है ।

पञ्चम कारिका का चतुर्थ वादस्थल है सर्वज्ञसिद्धि । मीमांसक आदि असर्वज्ञवादी के मत का यहाँ खण्डन करते हुए क्षयपदार्थ का बहुत मार्मिक प्रतिपादन कर के इस वादस्थल को एवं पञ्चम कारिका को दिगम्बर अनुयायी की युक्ति बता कर जलाञ्जलि दी है (पृ.४५८) ।

षष्ठ कारिका सुगम होने के सबब उस पर श्रीमद्जी ने कुछ विवेचन-विवरण मध्यम स्याद्वादरहस्य में नहीं किया है । मगर श्रीलघुहरिभद्रजी ने स्वयं ही स्याद्वादकल्पलता एवं नयरहस्य आदि ग्रंथों में इस कारिका की व्याख्या की है । अन्यत्र भी इस कारिका का अर्थात् विवरण उपलब्ध है । इन सब विवरणों का संकलन मैंने जयलता में किया है । प्रत्येक दोषकारी होते हुए भी संमीलित होने पर गुड और मुण्ड दोषकारक नहीं रहते हैं किन्तु बल-पुष्टि आदि के हेतु बन जाते हैं । दोषापहारपरक इस दृष्टान्त के बल से इस कारिका में स्याद्वाद की निर्दोषता का प्रतिपादन किया गया है (पृ. ४६२) ।

सप्तम कारिका का मध्यम स्याद्वादरहस्यविवरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है 'द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।' इस पूर्वाद्ध का अन्वय किस तरह लगाया जा सकता है ? इसका जो नव्यपदावलीगर्भित सूक्ष्म विवेचन महोपाध्यायजी ने किया है उसमें उनके व्याकरण, तत्त्वचिन्तामणिशब्दखण्ड नञ्वाद आदि शास्त्रों का गहरा ज्ञान प्रतिबिम्बित हो रहा है । गदाधरकृत व्युत्पत्तिवाद के अभ्यासी के लिये यह विषय इतना जटिल नहीं बनेगा, जितना केवल तर्कसङ्ग्रह-मुक्तावली के अध्येताओं को होगा - यह हमारी राय है । बाद में एकत्र सत्त्व और असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व आदि विरुद्ध प्रतीयमान धर्मयुगल किस तरह समाविष्ट होते हैं ? इसका नववाद से निरूपण किया गया है । सत्त्व की व्याख्या करते करते श्रीमद् उपाध्यायजी ने न्यायसम्मत जाति की आलोचना कर के ऊर्ध्वतासामान्य और तिर्यक्सामान्य की निर्दोषता का प्रतिपादन किया गया है । ऐसे देखा जाय तो ऊर्ध्वतासामान्य एवं तिर्यक्सामान्य का सविस्तर समर्थन स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध है । मगर उस पर जो आक्षेप किया जा सकता है, उसे बता कर नव्यन्याय की परिभाषा के आलंबन से उसको दूर करने की श्रीमद्जी की जो शैली है, उसमें उनकी अभिनवउन्मेषशाली प्रतिभा का दर्शन होता है । 'समकालीन भिन्नद्रव्यों का अनुगत धर्म जैनन्याय की परिभाषा के अनुसार तिर्यक्सामान्यपद से प्रतिपाद्य है और पूर्वापरकालीन विभिन्नपरिणामशाली द्रव्य ही ऊर्ध्वतासामान्य है' - यह प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार सूत्र में बताया गया है । मगर इसको यथावत् मान्यता दी जाय तब तो चिरस्थायी गुण एवं पर्याय में ऊर्ध्वतासामान्यपद की और तिर्यक्सामान्यपद की प्रवृत्ति नामुमकिन बन जायेगी, क्योंकि सूत्र में द्रव्यपदार्थ को केन्द्रस्थान में रख कर ही ऊर्ध्वतासामान्य और तिर्यक्सामान्य का स्वरूप बताया गया है - इस समस्या को हल करते हुए रहस्यकार ने यह सूत्ररहस्य बताया कि - द्रव्यपद धर्मिपरक है । इसका मतलब यह है कि पूर्वापरकालसाधारण धर्मी ही ऊर्ध्वतासामान्य है और एककालीन विभिन्न धर्मीओं का अनुगत अनतिप्रसक्त धर्म ही

तिर्यक्सामान्य है। स्वयं द्रव्य न होते हुए भी द्रव्य की भाँति गुण-पर्याय धर्मी तो हो सकते ही हैं। चिरकालस्थायी मनुष्यपर्याय भी बाल-युवा-वृद्ध आदि परिणाम = धर्म का आधार होने से धर्मी तो होना किसी हिचकिचाहट के कहा जा सकता है। अतएव उसमें ऊर्ध्वतासामान्यपद प्रतिपाद्यता भी निराबाध है। एवं एककालीन अनेक भेद गुण भेदत्व धर्म का आश्रय होने से धर्मी तो है ही। अतएव उसमें रहा हुआ शुक्लत्व तिर्यक् सामान्यशब्द से अभिलाप्य है। इस गंभीर तत्त्व के परिवेषणार्थ श्रीमद्जी ने केवल इतना ही कहा कि 'सूत्रस्थ द्रव्यपद धर्मिपरक है'। यही महोपाध्यायजी की विशेषता है कि - वे जितना अर्थप्रतिपादन शब्द से करते हैं उससे अधिक अर्थ वे शब्द में ही निहित रखते हैं। सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप से यह विवेचन करने की क्षमता जो नव्यन्याय की पारिभाषिक पदान्वली में है वह प्राचीन परिभाषा में नहीं है। अतएव श्रीमद्जी के साहित्य से लाभान्वित होने के लिये नवीन न्याय का अध्ययन अपरिहार्य है। नव्यन्यायदर्शन की परिभाषा को अपना कर और स्वसिद्धांतों का सन्तुलन रख कर सपरिष्कार निर्दोष प्रतिपादन करना बहुत कठिन है, मगर श्रीमद्जी इसमें सफल रहे हैं।

बाद में प्रवचनसार ग्रन्थ का हवाला दे कर दिगम्बरमतानुसार स्वरूपअस्तित्व का प्रतिपादन कर के उस पर अपनी स्वतंत्र मीमांसा का भी श्रीमद्जी ने दर्शन कराया है (पृष्ठ-४८४)। आगे चल कर (पृ. ४८५) नैयायिकसम्मत सादृश्यपदार्थ का निरूपण एवं निराकरण कर के जैनमतानुसार सङ्ग्रह नप के अवलम्बन से सादृश्यपदार्थ को प्रकाशित किया है। न्यायविशेषिकदर्शनअभिमत विशेषपदार्थ का तो श्रीमद्जी ने कचूबर निकाला है (पृष्ठ-५०५)।

इस सप्तम श्लोक का महत्त्वपूर्ण वादस्थल है (पृष्ठ-५२४) अभिलाप्यत्वपदार्थपरीक्षण, जो इस तरह सूक्ष्मरूप से अन्यत्र मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। यह वादस्थल बृहत्कल्प भाष्य के वचनों की सूक्ष्म मीमांसा से भरा हुआ है। शब्द को प्रमाण नहीं मानने वाले बीजों का निराकरण श्रीमद्जी ने शब्दाद्वैतवादी की युक्ति से किया है, उससे यह जानकारी सुझ जनों को मिल सकती है कि 'स्याद्वाद को केन्द्र में रख कर किस तरह परदर्शन को भी मान्यता दी जाय ?'

→ केवली की देशना शब्दात्मक नहीं है किन्तु ध्वनिस्वरूप है, जो शब्दात्मना परिणत हो कर श्रुतियों का विषय बनती है; क्योंकि शब्द का कारण है इच्छा, जो रागात्मक होने से केवली में नहीं हो सकती। बिना कारण के, केवली शब्दों का प्रयोग कैसे कर सकते हैं ? यदि ऐसा न माना जाय और केवली को वक्ता माना जाय तब तो उनमें वीतरागागता का ही विच्छेद हो जायेगा। ← यह दिगम्बरमत है; जिसका खण्डन महोपाध्यायजी ने इस तरह किया है कि वर्णमात्र के प्रति प्रयत्न कारण है और प्रयत्न का कारण इच्छा है फिर भी वीतराग केवली शब्द प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि केवली में मोहाभिव्यक्त चैतन्यविशेषात्मक इच्छा न होने पर भी मोहानभिव्यक्त चैतन्यविशेषात्मक इच्छा तो निराबाध है। इच्छामात्र अभिध्वहात्मक ही होती है - यह कोई नियम नहीं है। निरुपाधिकपरदुःखप्रहाणेच्छा करुणात्मक है, न कि रागात्मक। विस्तार से इस विषय का निरूपण अध्यात्ममतपरीक्षा, स्याद्वादकल्पलता, तत्त्वार्थनव्यटीका आदि में श्रीमद्जी ने ही किया है।

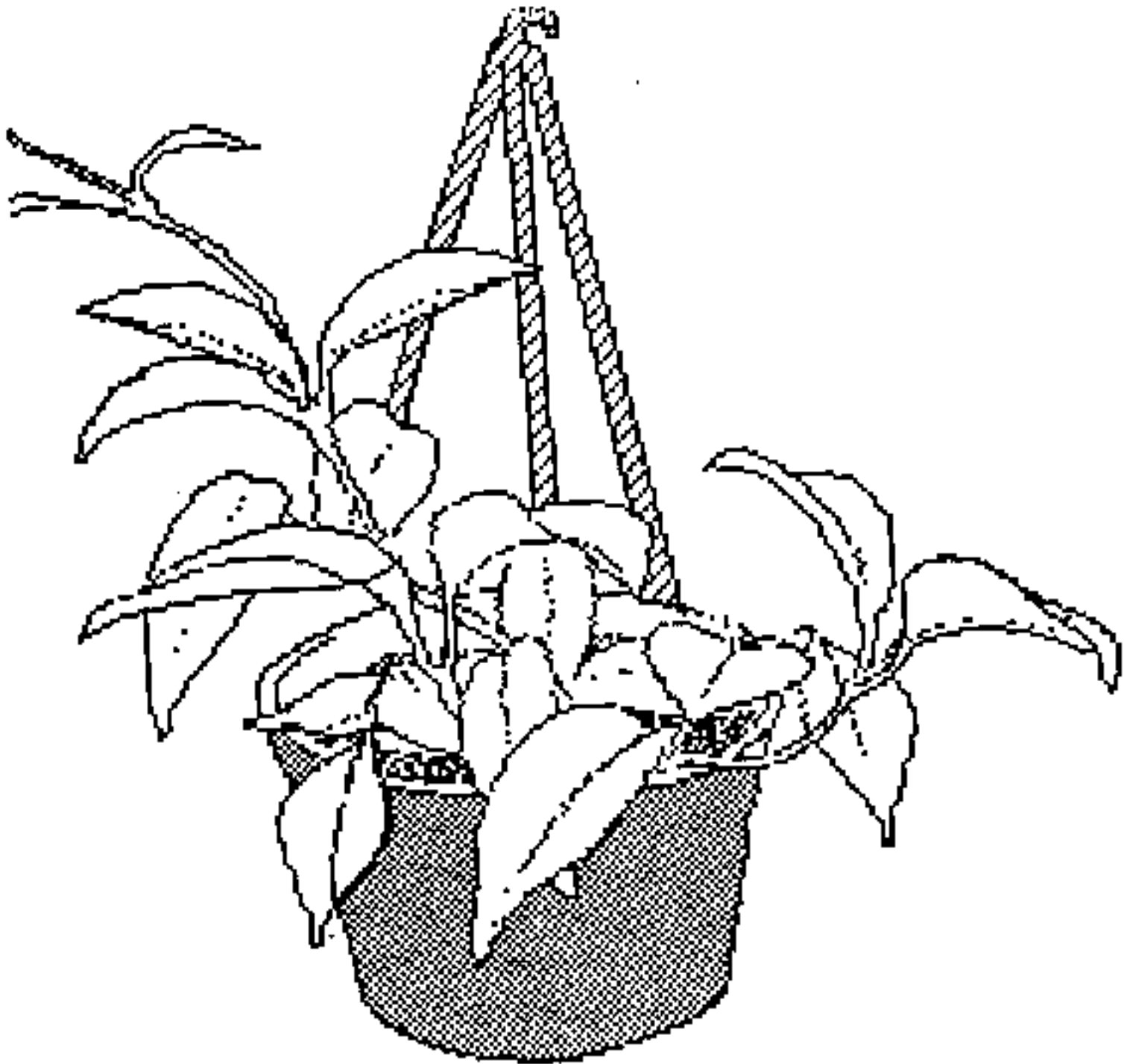
आगे चल कर सप्तम कारिका के उत्तरार्द्ध की विभिन्न व्याख्याओं का आविर्भाव किया गया है। बाद में सामान्य विशेष में विरोध के परिहारार्थ मयूरपंख आदि मेचक पदार्थों का दृष्टान्त बता कर सप्तम श्लोक का विवरण समाप्त किया है (पृष्ठ-५४५)। अष्टम कारिका में विज्ञान को साकार एवं निराकार, एकाकार और अनेकारात्मक मानने वाले बीज मनीषी भी किस तरह अनेकान्तवाद की नींव पर खड़े हैं ? यह बता कर अनेकान्तवाद की सर्वदर्शन में व्यापकता का समर्थन किया गया है। वीतरागस्तोत्र के अष्टमप्रकाश की ४-५-६-७ कारिका के (म)स्याद्वादरहस्यनामक महोपाध्यायकृत विवरणग्रन्थ के विषयों का यहाँ जो निर्देश किया गया है वह संक्षिप्त विवेचन हुआ। उससे ज्ञात उपाध्यायजी की कलम की कुछ कमाल से सुझ वाचकों के दिमाग में 'पूरे ग्रन्थों नव्यन्याय की परिभाषा में इन सभी विषयों का प्रतिपादन श्रीमद् महोपाध्यायजी ने किस तरह किया है ?' - यह उत्कण्ठा जिज्ञासा जरूर उत्पन्न होगी। यह उत्कण्ठा और जिज्ञासा निरुत्साह न बने तदर्थ गुरुकृपा से क्षयोपशमानुसार जयलता (संस्कृत टीका) एवं रमणीया (हिन्दी टीका) को मैंने बनाई हैं। इस ग्रन्थ के अभ्यास के लिये अभ्यासियों को एक विवेचन की आवश्यकता पहले महसूस होती थी जिसकी पूर्ति करने का मैंने एक नम्र प्रयास किया है। आशा है संस्कृत-हिन्दी टीकाद्वय के माध्यम से अध्येतागण को उपाध्यायजी के प्रस्तुत ग्रन्थ के पदार्थ-वाक्यार्थ-महावाक्यार्थ-ऐदम्पर्यार्थ को समझने में सुगमता रहेगी। सभी विषयों के जिज्ञासु विषयानुक्रम से अधिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

परमाराध्यपाद सिद्धांतमहोदधि वात्सल्यवारिधि सुविशालगच्छाधिपति स्वर्गस्थ भगवान् प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के अनगिनत दिव्याशिष्य से, पूज्यपाद गच्छाधिपति-वर्धमानतपोनिधि प्रगुरुवर्य आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी

म. की महती कृपा से, परमोपकारी कर्मसाहित्यनिष्णात न्यायविशारदपट्टधर सिद्धान्तदिवाकर श्रीमद् विजय जयधोषसूरिजी महाराज की प्रोत्साहक प्रेरणा से, दीक्षागुरुदेव भीमभवोदधिजाता प्रभावक ज्वलंतवैरागी श्रीमद् हेमचन्द्रसूरिजी म. के असीम उपकार से, प्रथमखण्ड के संशोधक पूज्यपाद विद्यागुरुवर्य पन्थासप्रवर श्री जयसुंदरविजयजी के मंगल मार्गदर्शन से, महोपकारी पूज्यपाद शासनप्रभावक, पद्ममणितीर्थोद्धारक गुरुदेवश्री विश्वकल्याणविजयजी महाराज की अनहद कृपा से, संपूर्ण टीकाद्वय के संशोधक विद्वद्वरेण्य तपोरत पूज्य मुनिराजश्री पुण्यरत्नविजयजी म. की निःस्वार्थ परोपकाररसिकता से, विद्यागुरुवर्य पूज्य मुनिराजश्री अभयशेखरविजयजी म., श्री अजितशेखरवि. म. एवं श्रद्धेय कल्याणमित्र मुनिराजश्री कल्याणबोधिविजयजी म., मुक्तिवल्लभविजयजी म. युगसुंदर विजयजी म. आदि के निर्व्याज स्नेह से तथा सहकृती सभी मुनिराजों के सहृदयी सहकारभाव से मध्यमस्याद्वादरहस्य ग्रन्थ की टीकाद्वय की रचना और सम्पादन के द्वारा जो पावन पुण्य का उपार्जन हुआ उससे विश्वकल्याण एवं विश्वमङ्गल हो यही एक मङ्गलकामना ।

मुनि यशोविजय

ऐकारसूरि आराधनाभवन, सुरत - २०४९ पौष सुद-१



विषयमार्गदर्शिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
पांचवीं कारिका का सामान्य अर्थ	२१८	सप्तभङ्गीस्वरूपप्रकाशनम्	२३०
परदर्शनी और जिनेन्द्र से प्रदर्शित वस्तु का नित्यानित्य- स्वरूप अलग-अलग है	२१८	सप्तभङ्ग्या न्यूनत्वेऽप्रामाण्यम्	२३१
अप्यदीक्षितमतप्रतिक्षेपः	२१९	एक भी भंग से शून्य सप्तभङ्गी प्रमाण नहीं है	२३१
प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सप्तधर्मात्मक है - स्याद्वादी	२१९	अर्पणाविशेषस्य सहकारित्वोक्तिः	२३२
नित्यत्वानित्यत्वयोरेकत्र समावेशः	२२०	संकेत भी शाब्दबोध में सहकारी है	२३२
शंका :- द्रव्यत्व-पर्यायत्व क्रमशः नित्यत्व और अनित्यत्व का अवच्छेदक नहीं हो सकता	२२०	मुक्तावलिकारमतप्रतिक्षेपः	२३३
स्वस्य स्वावच्छेदकत्वविचारः	२२१	न्यायभूषणकाशप्रभृतिमतखण्डनम्	२३४
ध्वंसाप्रतियोगितात्मक नित्यत्व का अवच्छेदक द्रव्य हो सकता है - समाधान	२२१	सप्तभङ्गी में एवकार और स्यात्कार का प्रयोजन	२३४
शुद्ध धर्म से अवच्छेद्य विशिष्ट स्व - स्याद्वादी	२२१	एवैः तत्त्वसङ्ग्रहसमालोचना	२३५
अर्थे क्रमाभ्यारोपप्रदर्शनम्	२२२	उत्पादादिसिद्ध्यनुसारेण सप्तभङ्गीभावना	२३६
घट क्रमिक अर्पणा से कथंचित् नित्यानित्य - स्याद्वादी	२२२	सप्तभङ्गी अप्रामाणिक है - दीर्घ पूर्वपक्ष	२३६
इच्छा भी प्रत्यक्षकारण हो सकती है - स्याद्वादी	२२२	व्यधिकरणधर्मस्याऽवच्छेदकत्वविचारः	२३७
प्रत्यक्षविशेषस्येच्छानियम्यत्वकथनम्	२२३	प्रतियोगितावच्छेदकत्वविचारः	२३८
कथञ्चिदवक्तव्यत्वसमर्थनम्	२२४	व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव प्रामाणिक होने से	
घट युगपत् अर्पणाद्वय से कथंचित् अवक्तव्य - स्याद्वादी	२२४	द्वितीयादि भंग प्रामाणिक है - स्याद्वादी	२३८
शाङ्करभाष्यनिराकरणम्	२२५	'घटत्वेन पटो नास्ति' यहाँ पटत्व प्रतियोगितावच्छेदक है - अवान्तर शंका	२३८
उपदेशसहकार से अवक्तव्यत्व भी शाब्दबोधयोग्य है - स्याद्वादी	२२५	अभावांशे संसर्गविचारः	२३९
अवक्तव्यत्वेन परिणाम ही नित्यत्व का उपकार है - स्याद्वादी	२२५	तृतीयांतापदोपस्थापित धर्म प्रतियोगितावच्छेदक होता ही है - स्याद्वादी	२३९
अष्टभङ्गीप्रसङ्गापाकरणम्	२२६	अवच्छेदकत्वनिरुक्तिरीधितिसंवादः	२४०
अवक्तव्यत्व की भाँति वक्तव्यत्व स्वतंत्र आँठवा धर्म नहीं है - स्याद्वादी	२२६	अभावविशेषणतावच्छेदकत्व और अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व की ज्ञापक सामग्री एक है - पूर्वपक्ष	२४०
वक्तव्यत्वसप्तभङ्गीस्थापनम्	२२७	विप्रतिपत्तिप्रकाशनम्	२४१
घट कथंचित् नित्य और कथंचित् अवक्तव्य है - स्याद्वादी	२२७	अवच्छेदकत्वांशेऽभ्रमत्वाऽऽशङ्कापराकरणम्	२४२
अन्तिम तीन धर्म का समावेश पूर्व धर्म में नहीं हो सकता - स्याद्वादी	२२७	घटत्वेन पटो नास्ति - इस प्रतीति में वैशिष्ट्यांश में अप्रमात्मकत्व और अवच्छेदकत्वांश प्रमात्व की शंका	२४२
सप्तभङ्ग्यां विचारविशेषः	२२८	व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता अप्रामाणिक - पूर्वपक्षी	२४२
विशेषण-विशेष्यभाव में विनिगमक न होने पर भी परिणाम अभिन्न ही है - स्याद्वादी	२२८	व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव है - स्याद्वादी	२४३
उपधेयसाङ्ख्येऽप्युपाध्यसाङ्ख्यम्	२२९	द्वितीय भंग में अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना का गौरव अनिराकार्य - पूर्वपक्ष	२४३
नित्यानित्यत्व ओदि धर्म जातिविशेषात्मक है एकदेशीमत	२२९	अतिरिक्तप्रतियोगिताविचारः	२४४
सप्तभङ्गीस्वरूपविचार	२२९	घटत्वादि घटादिभेदाभावरूप होने से अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना अनावश्यक है - स्याद्वादी	२४४
		प्रतियोगितादेरनतिरिक्तत्वविमर्शः	२४५
		पटादिवृत्ति प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्मविधया घटत्वादि नहीं हो सकता - पूर्वपक्षी	२४५
		प्रतियोगितादि प्रतियोगी आदि स्वरूप है - शंका	२४५

Bold Type जयलता के विषय के सूचक हैं । **Normal Type** रमणीया-हिन्दी व्याख्या के ज्ञापक हैं ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
गौरवस्य दोषत्वविमर्शः	२४६	शुद्धाशुद्धत्वविचारः	२६५
प्रतियोगिता-प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि अतिरिक्त है - पूर्वपक्षी	२४६	अनवच्छिन्नेऽवच्छिन्नत्वप्रतीतिसमर्थनम्	२६६
अधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावासिद्धिः	२४७	रत्नाकरावतारिकाविरोधपरिहारः	२६७
भवदेव के मत का निरूपण	२४७	स्वस्तिता और परनास्तित्व में अभेद नहीं है	२६७
अधिकरणदीधितिसंवादद्योतनम्	२४८	कुटशब्दविचारः	२६८
भवदेव के मत की समालोचना	२४८	अष्टसहस्रीकारमतनिकंदन	२६८
नव्यमतनिराकरणम्	२४९	विद्यानन्द-विमलदासमतकर्तृत्वम्	२६९
निरवच्छिन्न प्रतीति विरुद्ध नहीं हो सकती	२४९	पररूपनास्तित्व काल्पनिक नहीं है - स्याद्वादी	२६९
'घटत्वेन घटो नास्ती' तिधीप्रतिबन्धकत्वविमर्शः	२५०	जिनेन्द्रवचने प्रामाण्यसप्तभङ्गीविचारः	२७०
अधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावानतिरेकाऽऽशङ्का	२५१	सप्तभङ्गी की प्रवृत्ति जिनवचन में नहीं हो सकती	
अतिरिक्तप्रतियोगितादिविचारः	२५२	- एकान्तवादी	२७०
प्रतियोगिताअधिकरण धर्म में अवच्छेदकत्व की कल्पना		एवकारार्थविचारः	२७१
में गौरव है - पूर्वपक्षी	२५२	सप्तभङ्गी शिववचन में भी अव्याहत - अनेकान्तवादी	२७१
अस्तित्व-नास्तित्वस्वरूपविचारः	२५३	भासर्वज्ञप्रतिभाभङ्गः	२७२
सप्तभङ्गी प्रामाणिक है - उत्तरपक्ष	२५३	विशेषणसंगत एवकार का अर्थ - पूर्वपक्ष	२७२
सप्तभङ्गीतरङ्गिणीसंवादः	२५४	विशेषणसंगत एवकार का द्वितीय अर्थ - नैयायिक	२७३
परद्रव्यादि चतुष्टय में अवच्छेदकता मुमकिन है-स्याद्वादी	२५४	खण्डशः शक्तिविचारः	२७४
विशेषिकसूत्रोपस्कार-भाष्यसंवादावेदनम्	२५५	विशेषणसंगत एवकार का अयोग्यवच्छेद अर्थ नहीं है	
उत्पाद-व्यय-ध्रुव्यैक्यात्मक घटास्तित्व है - दिगम्बर	२५५	- नव्यनैयायिक	२७४
प्रवचनसारवृत्तिद्वयसंवादप्रकाशनम्	२५६	नव्यनैयायिक मतानुसार 'घटः सन् एव' वाक्य का अर्थ	२७४
'घटो नास्ति' यहाँ घटाभाव अस्तित्व का आश्रय है		'घटः सन्नेवे'तिवचनविचारः	२७५
- पूर्वपक्ष	२५६	'द्रव्यं सदेव' इस प्रतीति की अनुपपत्ति - आक्षेप	२७५
'भूतले घटो नास्ती'तिप्रतीतिविचारः	२५७	परोदासीन्येन सत्त्वमात्रबोधनम्	२७६
द्वितीय भंग के स्वीकार में निराकांक्ष शान्दबोधानुपपत्ति	२५७	प्रतियोगितानवच्छेदकत्व का अर्थ - नव्यनैयायिक	२७६
मुक्तानलीकारमतप्रतिक्षेपः	२५८	अवच्छेदकत्वनिरुक्तिसंवादः	२७७
द्वितीय भंग में घट ही विशेष्य है, न कि घटाभाव		शास्त्रवार्तासमुच्चयसंवादः	२७८
- उत्तरपक्ष	२५८	'प्रमेयं वाच्यं एव' स्थल का निरूपण	२७८
व्युत्पत्तिवादसंवादः	२५९	विस्तरत एवकारार्थमीमांसा	२७९
परमत में 'घटो नास्ति' इस प्रयोग के प्रामाण्य की		आकाङ्क्षानुसारिवोधसमर्थनम्	२८०
आपत्ति	२५९	सप्तभङ्गी में आधिक्यदोषशंकानिरास	२८०
सुमिहोः वचनैक्यनियममीमांसा	२६०	वक्तव्यत्वसप्तभङ्गीद्योतनम्	२८१
सङ्ख्यान्वयविचारविशेषः	२६१	वक्तव्यत्वसप्तभङ्गी के द्वितीय-चतुर्थ भंग में अभेदनिरास	२८१
सावच्छिन्न नास्तित्व और निरवच्छिन्न अस्तित्व में विरोध		सप्तभङ्गीद्विविध्यम्	२८२
नहीं है	२६१	सत्त्वसप्तभङ्गी में वक्तव्यत्व धर्म अतिरिक्त नहीं	२८२
अवच्छेदकभेदापेक्षाप्रयोजनम्	२६२	कालाद्यष्टकविचारः	२८३
एक वाक्य में तात्पर्यभेद से प्रामाण्य-अप्रामाण्य		अभेदवृत्तिप्राधान्य-तदुपचारमीमांसा	२८४
- स्याद्वादी	२६२	'सकृदुचरित'...न्यायपरीक्षा	२८५
तात्पर्यभेदेन योग्यायोग्यत्वसमर्थनम्	२६३	सकृदुचरित न्याय में दोषोद्भावन	२८५
नत्रर्थान्वय अनुयोगितावच्छेदकावच्छिन्न में होता है		सिद्धहेमलघुन्याससंवादः	२८६
- अन्यमत	२६३	द्वितीय 'सकृत' पद का अर्थ	२८६
दिगर्थविभाजने शङ्कराचार्यमतनिराकरणम्	२६४	काशिकावृत्तिसंवादः	२८७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अभेदविबद्धा से नानाधर्मावच्छिन्नबोधोपपत्ति	२८६	एकत्वे जातिविशेषकल्पने साङ्ख्यम्	३१०
एकदोष में पदान्तरस्मरण आवश्यक	२८७	स्याद्वादी मत में सांकर्य - नैयायिक एकदेशीय	३१०
एकदोषस्थले पदान्तरस्मरणाङ्गीकारः	२८८	विनिगमनाविरहेण सङ्गरापाकरणम्	३११
'सकृदुचरित...' न्यायनिष्कर्षः	२८९	नैयायिक मत में विनिगमकाभाव दोष	३११
'सकृदुचरित.' न्याय का निष्कर्ष	२८९	उत्कटनीलस्योत्कटस्पर्शव्याप्त्यापादनम्	३१२
पुण्यदन्तपद से सूर्यचन्द्र का युगपत् बोध संमत	२८९	वायुचाक्षुषापत्ति का निराकरण - नैयायिक की ओर से	३१२
अमरकोशवचनसंवादः	२९०	आपादितव्याप्तिप्रत्याख्यानम्	३१३
लघुस्याद्वादादस्यसंवादः	२९१	विषयस्य तत्तद्व्यक्तित्वेनाऽकारणत्वसमर्थनम्	३१४
धर्मनिष्ठ एकत्व का निर्वचन	२९१	व्यक्तिगतरूप से विषय प्रत्यक्ष का कारण नहीं है	
शकुन्तलानाटकसंवादः	२९२	- स्याद्वादी	३१४
'सकृदुचरित...' न्याय अप्रामाणिक - नव्यनैयायिक	२९२	श्रुतिस्पर्शाऽस्पर्शनविचारः	३१५
'प्रजयति' वाक्यविचारः	२९३	स्पर्शेन्द्रिय की स्वसंयुक्तत्वाच्चवत्समवाय से कारणता	
शक्ति-लक्षणा से युगपदनेकाधर्मेबोध मान्य - नव्यनैयायिक	२९३	- नैयायिकदेशीय	३१५
'गङ्गायां घोष' इतिशब्दबोधविमर्शः	२९४	त्वाच्चवत्त्वस्य विशेषणत्वोपलक्षणत्वकल्पनमयुक्तम्	३१६
शक्यतावच्छेदक में भी पदशक्ति अबाधित - नव्यनैयायिक	२९४	त्वाच्चप्रत्यक्ष में समवाय की विशेषणता या उपलक्षणता	
शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिसमर्थनम्	२९५	नामुमकिन - स्याद्वादी	३१६
'सकृदुचरित...' न्याय प्रामाणिक है - स्याद्वादी	२९५	विशेषणोपलक्षणस्वरूपमीमांसा	३१७
प्रकरणादीनां न शक्तिसहकारिता	२९६	श्रुतिस्पर्शस्यानुद्भूतत्वसमर्थनम्	३१८
तात्पर्यग्रह को शक्तिसहकारी मानने में लाघव - स्याद्वादी	२९६	उपलक्षणविधया त्वाच्चप्रत्यक्ष का सम्बन्धकुक्षि में प्रवेश	
अष्टसहस्रीकारमतनिकन्दनम्	२९७	गौरवग्रस्त - स्याद्वादी	३१८
'सर्वे सर्वाधर्मावकाः' प्रवाद का स्याद्वाद में स्वीकार	२९७	व्यासज्यवृत्तिगुणाऽस्पर्शननिर्वाहविचारः	३१९
शक्तेरवश्यकल्पनीयत्वम्	२९८	आश्रयस्पर्शनाभाव गुणादिस्पर्शन में प्रतिबन्धक	
लक्षणा का अवकाश - स्याद्वादी	२९८	- नैयायिकदेशीयमत	३१९
स्याद्वादरत्नाकरसंवादः	२९९	त्वाचाभावस्य प्रतिबन्धकताविचारः	३२०
तमोवादाऽऽरम्भः	३००	उद्भूतस्पर्शाभावस्य प्रतिबन्धकता	३२१
प्रदीपादि भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य	३००	उद्भूतस्पर्शाभाव ही गुणादिस्पर्शन का प्रतिबन्धक	
प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रोपयोगः	३०१	- स्याद्वादी	३२१
अन्धकार अभावरूप नहीं है - स्याद्वादी	३०१	श्रुतिस्पर्शस्यानुद्भूतत्वम्	३२२
पत्रलक्षणाऽऽविष्कारः	३०२	उद्भूतनीलरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है - स्याद्वादी	३२२
उद्भूतरूपव्याप्य उद्भूतस्पर्श की अन्धकार में आपत्ति	३०२	अर्थसमाजसिद्धस्य कार्यतानवच्छेदकता	३२३
उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है - स्याद्वादी	३०४	प्राचीनजैनाचार्यमतप्रकाशनम्	३२४
प्रभायामुद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्तिभङ्गः	३०५	अन्धकार शीतस्पर्शवाला है - प्राचीन जैनाचार्य	३२४
उद्भूत नीलरूप भी उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं - स्याद्वादी	३०५	तमस्युद्भूतस्पर्शस्थापनम्	३२५
नीलव्रसरेणी व्यभिचाराऽऽवेदनम्	३०६	अन्धकार आलोकभावार्थक नहीं है - स्याद्वादी	३२५
नील व्रसरेणु में व्यभिचारापत्ति के उद्धार का प्रयत्न	३०६	महादेवभट्ट-नृसिंहशास्त्रिमतसमीक्षणम्	३२६
उद्भूतस्पर्शस्यानुद्भूतस्पर्शजन्यत्वे विप्रतिपत्तिः	३०७	योग्यताविशेषापेक्षाऽऽविष्कारः	३२७
व्रसरेणु में उद्भूत स्पर्श नामुमकिन - स्याद्वादी	३०७	योग्यताविशेष चाक्षुष का कारण - स्याद्वादी	३२७
योगसिद्धान्त-तदेकदेशिमतभेदविद्योतनम्	३०८	अंशांशिनोः कथञ्चिज्ज्ञेयसमर्थनम्	३२८
मुक्तावली-मञ्जूषा-प्रभाकरमतनिराकरणम्	३०९	आलोकसंयोगस्य चाक्षुषजनकत्वासम्भवविमर्शः	३२९
महत्त्वविशेष के अभाव से व्रसरेणुस्पर्शप्रत्यक्षविरह		द्रव्यचाक्षुषमात्र का योग्यताविशेष कारण है - स्याद्वादी	३२९
अनुपपन्न - स्याद्वादी	३०९	ज्ञप्ती परस्परश्रयप्रकाशनम्	३३०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आलोकादीनां क्षयोपशमविशेषे उपक्षीणत्वम्	३३१	अभिनवरीत्याऽपसिद्धान्तनिराकरणम्	३५०
योग्यताविशेष का निर्वचन	३३१	तामसेन्द्रियकल्प-तातातिकदेशीयमत	३५०
आलोकसंयोगकारणतापक्ष में विनिगमनाविरह	३३१	इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्व ही भिन्नेन्द्रियत्व का व्यवस्थापक	३५१
आलोकसंयोगकारणतायां विनिगमनाविरहः	३३२	तामसेन्द्रियसाधनम्	३५२
चक्षुःसंयोगकारणतावादिमतप्रकटीकरणम्	३३३	अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामससंयोग कारण	३५२
धर्मगौरव की भौति सम्बन्धगौरव भी दोष है - स्याद्वादी	३३३	मीमांसाश्लोकवार्तिकसंवादः	३५३
सम्बन्धगीरवस्यापि दूषणत्वम्	३३४	चांदनी में उल्लूचाक्षुष का स्वीकार	३५३
विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुःसंयोगकारणता में गौरव		तामसेन्द्रियकल्पना अप्रामाणिक - स्याद्वादी	३५४
- आत्मनिष्ठप्रत्यासत्तिवादी	३३४	'पश्यामी'ति विषयतानियामकविचारः	३५५
पद्विधकार्यकारणभावद्योतनम्	३३५	तामसेन्द्रियवादिमत में दोषद्वय - स्याद्वादी	३५५
आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से आलोकसंयोग में कारणताकल्पना		तमःस्थघटादिचाक्षुषमञ्जनादिजन्यम्	३५६
लघु है	३३५	मनुष्यतामसीय प्रत्यक्ष में अन्धकारहेतुता - पूर्वपक्ष	३५६
आलोकसंयोगकारणतापक्षे लाघवप्रकाशनम्	३३६	अञ्जनादेः चाक्षुषसहकारित्वविचारः	३५७
चक्षुःसंयोग को आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कारण		अञ्जनादिसंस्कार से रात में वटादि का चाक्षुष ही	
मानने में गौरव	३३६	होता है - पूर्वपक्ष जारी	३५७
लघुसम्बन्धसम्भवे गुरुसम्बन्धकल्पनाया अन्याय्यत्वम्	३३७	अञ्जनादि में चाक्षुषकारणतावच्छेदकवादिमत का निराकरण	३५७
आलोकसंयोगकारणतापक्ष में विनिगमनाविरह - स्याद्वादी	३३७	अपरमताऽस्वरसबीजाऽऽवेदनम्	३५८
अभिनवदोषद्वयाऽऽविष्करणम्	३३८	तामसेन्द्रियपक्ष में महागौरव - उत्तरपक्ष	३५८
अन्धकार में द्रव्यत्वसिद्धि	३३८	द्विविधयोग्यताप्रतिपादनम्	३५९
उलूकादिचाक्षुषेण व्यभिचारदूषणम्	३३९	पद्माभिराममतद्योतनम्	३६०
आलोकसंयोगकारणतापक्ष में व्यभिचार	३३९	परमत में भी स्वभाव का आश्रय अनिवार्य - स्याद्वादी	३६०
परमत में स्वाभाविकत्व का निर्वचन दुःशक	३४०	स्वभावपक्षाश्रयणविमर्शः	३६१
स्वाभाविकत्वनिर्वचनाऽसम्भवः	३४१	ज्ञान आत्मस्वभाव है - स्याद्वादी	३६१
आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुःजन्यत्व स्वाभाविकत्वस्वरूप नहीं है		आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वसाधनम्	३६२
- स्याद्वादी	३४१	तामसेन्द्रियकल्पना में अन्योन्याश्रय दोष का निराकरण	३६२
आलोकसंयोगकारणताविचारः	३४२	तमोद्रव्यत्वपक्षेऽन्योन्याश्रयापाकरणम्	३६३
कार्यतावच्छेदकधर्मलाघव से अन्धकार में द्रव्यत्व की		आलोकज्ञानाभाव ही अन्धकार है - प्रभाकरमत	३६३
सिद्धि - स्याद्वादी	३४२	सम्बन्धद्वितयेन चाक्षुषाभावरस्याऽन्धकारत्वविचारः	३६४
विजातीयाऽऽलोककल्पना	३४३	प्रभाकरमतनिकंदन	३६४
उलू आदि का चाक्षुष आलोकविशेषजन्य - नैयायिकदेशीयमत	३४३	'आलोकज्ञानाभावेवान् अहं' प्रतीति की प्रभाकरमत	
अतिप्रसक्तधर्मेण कारणताऽभ्युपगमः	३४५	में अनुपपत्ति	३६४
शशधरमतसमालोचना	३४६	प्रभाकरमते तमसश्चाक्षुषत्वाऽसङ्गतिः	३६५
उल्लूचाक्षुष में विजातीय आलोक की कारणता अप्रमाण		'तमः पश्यामि' इत्यादि प्रतीति की प्रभाकर मत	
- स्याद्वादी	३४६	में अनुपपत्ति	३६५
विजातीयचक्षुर्मनोयोग चाक्षुषजनक - उच्छृंखलमत	३४६	जात्यन्धानामपि चाक्षुषत्वोपगमः	३६६
आहुःपदप्रयोजनप्रकाशनम्	३४७	प्रकाशकरूपाभाव ही अन्धकार - प्रगल्भ	३६६
मधुरानाथमतसमीक्षा	३४८	प्रकाशकरूपाभावतमोवादिप्रगल्भमतखण्डनम्	३६७
आलोककालीन चाक्षुष को कार्य मानने पर दोषपरम्परा	३४८	प्रगल्भमतनिराकरण	३६७
विजातीयचक्षुर्मनोयोगकारणताविचारः	३४९	चाक्षुषे स्पर्शस्याऽकारणत्वाऽऽवेदनम्	३६८
अन्धकारसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष ही विजातीयसंयोग		उद्धूतरूप-स्पर्शीभव में बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष की	
का कार्य है - स्याद्वादी	३४९	कारणता नामुमकिन	३६८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
दीधितिकारमतखण्डनम्	३६९	स्वतन्त्रमत में सांकर्य दोष - अपर विद्वान्	३९०
दिनकरभट्ट-रामरुद्रभट्टमतसमीक्षणम्	३७०	जन्यैकत्वस्वरूपविचारः	३९१
प्रगल्भमत में पृथ्वी आदि में सदा अन्धकारव्यवहार की आपत्ति	३७०	स्वतन्त्रमत का परिष्कार	३९४
वृत्त्यनियामकसम्बन्धेनाभावानङ्गीकारः	३७१	द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वविशेष को अनेक मानने में गौरव	३९१
स्वाश्रयसंयोग को भेदप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध मानने में दोष - स्याद्वादी	३७२	साङ्कर्यविचारः	३९२
सिद्धान्तलक्षणदीधिति-जागदीशीसंवादः	३७२	नव्यानां स्वतन्त्रमते सम्मतिः	३९३
अन्धकार को अभावात्मक मानने में दोषपरम्परा	३७३	जन्यभावमात्रस्य ससमवायिकारणत्वाऽनियमः	३९४
तमसो द्रव्यत्वसमर्थनम्	३७४	स्वतन्त्रमत में लाघव	३९४
अभावात्मक अन्धकार में तारतम्य की अनुपपत्ति	३७४	'विभाव्यं' पदविचारः	३९५
उदयनाचार्यमतसमीक्षणम्	३७५	अन्धकारवादसंवादः	३९६
कतिपय आलोकविशेष का अभाव तम नहीं हो सकता	३७५	वादिदेवसूत्रिचिन्तातिदेशः	३९७
अन्धतमसाऽवतमसस्वरूपमीमांसा	३७६	तमसो द्रव्यत्वस्थापनम्	३९८
अन्धतमसादि की निरवच्छिन्न ही प्रतीति होती है		तमसः पृथिवीत्वापत्तिनिरासः	३९९
- स्याद्वादी	३७७	प्राचीन जैनाचार्य का तमोभावत्वसाधक अनुमान	३९९
अन्धकार में द्रव्यत्वसाधक का निराकरण	३७७	अन्धकार पृथ्वी नहीं है	३९९
अन्धकार को अभावात्मक मानने में दोष	३७८	तत्पुनरुक्तः २१६-२४० न्यायकणिकासंवादः	४००
'तमो न नष्टमि'ति प्रतीतिः प्रमात्वापत्तिः	३७९	स्वर्णे पृथिवीत्वाऽङ्गीकारः	४०१
आलोकसंसर्गाभावसमूह भी अन्धकार नहीं है - स्याद्वादी	३७९	पृथ्वीत्वरूप से नीलकारणता अनावश्यक	
न्यायसिद्धान्तदीपकार-शशधरमतसमालोचनम्	३८०	नैयायिक एकदेशीय	४०१
अन्धकारावयव स्पर्शयुक्त ही है - स्याद्वादी	३८०	स्वभावविशेषस्य नीलनियामकत्वम्	४०२
स्पर्शविदनन्त्यावयवित्व अन्धकारसमवायिकारणतावच्छेदक नहीं हो सकता - स्याद्वादी	३८०	व्यवहारविशेष से अन्धकार में आलोकाभावविभिन्नत्व की सिद्धि	४०२
मनन्त्यावयवित्वस्य कारणतानवच्छेदकत्वम्	३८१	परमत में 'अन्धकारे नान्धकारः' प्रतीति के ध्रुत्व का प्रसंग	४०३
जातिविशेष को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानना उचित	३८१	तर्कबलेनान्धकारस्य भावरूपतासमर्थनम्	४०४
नव्यमते इन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शानभ्युपगमः	३८२	तमस्त्वस्य जातित्वसमर्थनम्	४०५
घटत्वादिना द्रव्यप्रतिबन्धकताद्योतनम्	३८३	आलोकसत्ता आलोकाभावज्ञान की विरोधी है	४०५
द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जाति में सांकर्य का निराकरण	३८३	आलोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसो द्रव्यत्वम्	४०६
वर्धमान उपाध्याय के मत का निराकरण	३८४	वर्धमान उपाध्याय का मतव्य	४०६
मुक्तावली-मयूरकारमतयोः समालोचनम्	३८५	तेजःपरमाणु से अन्धकारारम्भस्वीकार - वर्धमानमतनिरास	४०७
मनोभिन्नमूर्तत्व द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक है		कन्दलीकारमतखण्डनम्	४०७
- अमुक विद्वानों का मत	३८५	शिवादित्य-शेषानन्त-पक्षधरमिश्रमतनिरासः	४०८
एकाऽपरपदसूचिताऽस्वरसविभावनम्	३८६	रागद्वेषक्षय के बिना सत्यवचन असंभवित	४०८
मूर्तत्व ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक है - अपरमत	३८६	भवानीपती मानाभावप्रदर्शनम्	४०९
द्रव्यारम्भकतावच्छेदक भूतत्वजाति नहीं हो सकती	३८६	ईश्वरखण्डन	४०९
तमःसाधारणभूतत्वजातिकल्पनसम्मतिः	३८७	शरीरजन्यत्वस्योपाधित्वविचारः	४१०
विश्वनाथ-महादेव-नृसिंहप्रभृतिमतप्रकाशनम्	३८८	कार्य प्रति कर्तृत्वेन कारणत्वनिश्चयविचारः	४११
गुरुधर्म भी शक्यतावच्छेदक हो सकता है - स्याद्वादी	३८८	लाघव तर्क सहकार से ईश्वरसिद्धि - नैयायिक	४११
एकत्ववृत्ति जातिविशेष द्रव्यारम्भकतावच्छेदक - स्वतन्त्रमत	३८९	कार्यत्व षड्विध होने से नैयायिकमत में लाघवतर्क नामुमकिन	४११

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कार्यत्वस्वरूपनिर्वचनम्	४१२	आरभ्याऽऽरम्भवादस्य स्वीकर्तव्यत्वम्	४३३
बृहत्स्याद्वादरहस्यसंवादः	४१३	'कयमाणे कडे' सिद्धान्त से आरभ्यारम्भवाद	४३३
'यद्विशेषपोः...' न्यायस्याऽप्रामाणिकत्वम्	४१४	विशेषावश्यकभाष्यसंवादः	४३४
कुम्भारादि में ताद्रूप्य से हेतुता - स्याद्वादि	४१४	रामरुद्रभट्टमतापाकरणम्	४३५
शरीरलाघवाऽपेक्षया सङ्ग्राहकलाघवस्य न्याय्यत्वम्	४१५	दीधितिकारमतनिरास	४३५
द्वयणुकोपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वरसिद्धि		वादमहार्णवे घटे खण्डत्वपर्यायाभ्युपगमः	४३६
नामुमकिन	४१५	कृतित्वेन कारणता का स्वीकार मुनासिव	४३६
द्वयणुकादावुपादानप्रत्यक्षस्याऽकारणता	४१६	व्याप्यधर्मसत्त्वे व्यापकधर्मेण न हेतुता	४३७
उपादानप्रत्यक्षकारणतामीमांसा	४१७	अभावकर्तृत्वबाध से ईश्वर में जगत्कर्तृत्व नामुमकिन	४३७
उपादानप्रत्यक्षकारणता में लाघव	४१७	कार्यमात्रस्य कृतिजन्यत्वनियमानङ्गीकारः	४३८
ईश्वरप्रत्यक्ष में स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कारणता		कार्यत्व कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता	४३८
नामुमकिन	४१७	रामरुद्रभट्टमतनिरासः	४३९
जन्यताविशेषप्रकाशनम्	४१८	दुलोकपतनाभाव से ईश्वरसिद्धि - नैयायिक	४३९
उपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणता ही असिद्ध - स्याद्वादी	४१८	बृहदारण्यकवचनसमीक्षणम्	४४०
महेश्वरप्रत्यक्षस्याऽसिद्धता	४१९	पृथ्वीलोकादि के पतनाभाव से ईश्वरसिद्धि नामुमकिन	
सम्मतितर्कवृत्तिसंवादः	४२०	- स्याद्वादी	४४०
गुण में साश्रयकत्वव्याप्ति अप्रामाणिक	४२०	स्वभावविशेष ही पतनाभाव में नियामक - स्याद्वादी	४४१
जीवात्मा में ही नित्यज्ञानाश्रयता मुमकिन	४२०	पृथिव्या धृतेरदृष्टजन्यत्वम्	४४२
खण्डनखण्डलाघसंवादः	४२१	अदृष्टविशेष से ही दुलोकादिधृति की उपपत्ति	४४२
नित्यप्रत्यक्षे चैत्रीयत्वादेरभावः	४२२	योगसास्त्रसंवादः	४४३
जीवात्मा में नित्य प्रत्यक्ष मानने में लाघव	४२२	ईश्वर की शरीरी मानने की आपत्ति	४४३
सामान्यलक्षणस्याऽप्रामाणिकत्वम्	४२३	महेशशरीरविमर्शः	४४४
जीवात्मवृत्ति नित्य प्रत्यक्ष में बाधक का निराकरण	४२३	परमाणु ईश्वरदारीर नहीं हो सकते - स्याद्वादी	४४४
नित्यप्रत्यक्षाननुव्यवसायोपपादनम्	४२४	अतिरिक्तेश्वरकल्पने गौरवम्	४४५
नित्यप्रत्यक्षे लौकिकविषयितायाः मत्त्वमसत्त्वं वा ?	४२५	सर्गादि अप्रामाणिक - स्याद्वादी	४४६
इन्द्रियसन्निकर्षजन्यतावच्छेदक लौकिकविषयिता		विधिविनेकसंवादः	४४७
प्रत्यक्षनियामक - अन्यमत	४२५	ईश्वर में सर्वज्ञता असिद्ध - स्याद्वादी	४४७
अस्वरसर्वाजविभाजनम्	४२६	युक्तिविकलभुतेरसाधकता	४४८
गुरुत्वादिअन्यतमभेद ही प्रत्यक्ष का निवामक		ईश्वरज्ञान को गुणादिविषयक न मानने में लाघव	४४८
मतविशेषनिरूपण	४२६	ईशज्ञानस्य गुणादिविषयकत्वमसिद्धम्	४४९
स्याद्वादध्वान्तमार्तण्डखण्डनम्	४२७	ईशाऽसिद्धी विशेषावश्यकभाष्य-तत्त्वसङ्ग्रहसंवादः	४५०
नित्य ज्ञानादि नामुमकिन - मतविशेष	४२७	मीमांसकानामतिमीढ्योपदर्शनम्	४५१
स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वम्	४२८	न्यायसिद्धान्तमञ्जरीटीका-शक्तिवादसंवादः	४५२
विजातीयसंयोग का कारण कुलालादिप्रयत्न - स्याद्वादी	४२८	सर्वज्ञसिद्धि में प्रमाण	४५२
कुलालादिप्रयत्न घटादि के प्रति अन्यथासिद्ध	४२९	पर्यः सर्वज्ञसिद्धिः	४५३
दण्डकार्यतावच्छेदकस्य खण्डघटादिव्यावृत्तत्वम्	४३०	प्रतिबन्धकसत्त्वेऽदृष्टस्याऽकिञ्चित्करत्वम्	४५४
दण्ड भी घटविशेष का ही कारण है - स्याद्वादी	४३०	अष्टसहस्रीविवरणसंवादः	४५५
परद्रव्यस्य निश्चयतोऽकारणत्वम्	४३१	क्षयपदार्थप्ररूपण	४५५
वस्तुतः दण्ड घट का कारण नहीं, प्रयोजक है - स्याद्वादी	४३१	योगसूत्रनिराकरणम्	४५६
घट में भी कथञ्चित्कपालत्व साक्षात् रहता है - स्याद्वादी	४३१	अतीतविषयक प्रत्यक्ष मुमकिन	४५६
द्विकपालघटे कथञ्चित्कपालत्वस्वीकारः	४३२	दिगम्बरनयेन सर्वविषयकज्ञानसिद्धिः	४५७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ज्ञानात्मक ज्ञेयाकार का ज्ञान में स्वीकार	४८७	बीगमते सादृश्यनिरुक्तिः	४८२
अनुमानसप्तकेन सर्वज्ञसाधनम्	४८८	नैयायिकमत से सादृश्य की व्याख्या	४८२
गुह्यगुण्डीन्यायप्रदर्शनम्	४८९	सादृश्यमीमांसायां भस्मत-दर्पिण्डे-रुद्रट-भाजप्रभृतिमत-	
गुह्यगुण्डीन्यायप्रदर्शन - श्लोक - ६	४८९	प्रकाशनम्	४८६
स्याद्वादकल्पलता-नयरहस्य-धर्मसङ्ग्रहणीवृत्त्यादिसंवादः	४९०	प्राचीनमत में दूषणोद्भावन	४८६
स्याद्वादं प्रत्येकान्तवाद्याक्षेपाः	४९१	मुक्तावली-मञ्जूषा-दिनकरीयवृत्त्यादिसंवादः	४८७
एकान्तवादिकृताक्षेपापाकरणं प्रभानन्दसूरिवचनैः	४९२	इवादिशब्द की खंडशः शक्ति - नैयायिक	४८७
अनेकान्तवादे भेदाभेदादिविरोधादिनिराकरणम्	४९३	'पटो न घटसदृशः' इतिधिय इष्टत्वम्	४८९
सातवें श्लोक की व्याख्या	४९३	घटभेदविशिष्टघटधर्मलक्षणसादृश्यसमर्थनम्	४९०
सप्तश्लोकान्वयदिग्दर्शनम्	४९४	घटे घटसादृश्यप्रसङ्गनिराकरणम्	४९१
उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय भिन्न होते हैं	४९४	घट में घटभेद की शंका का परिहार	४९१
एकत्र नित्यानित्यादिप्रतीतिः सार्वजनीनत्वम्	४९५	तद्भिन्नत्वमात्रस्य सादृश्यत्वापाकरणम्	४९२
एक धर्मी में नित्यत्वाऽनित्यत्वोभयप्रतीति प्रामाणिक	४९५	सादृश्य में विशेष्य अंश आवश्यक	४९२
अनेकान्तवादे विरोधपरिहारप्रकारः	४९६	पशुत्वादेः परम्परयाऽखण्डत्वोपपादनम्	४९३
प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थः, नियम में परिष्कार की आवश्यकता	४९६	पशुत्व भी परम्परा से अखण्डधर्मस्वरूप है	४९३
प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमविचारः	४९७	जैनमते सादृश्यनिर्वचनम्	४९४
द्रव्यपदार्थविचारः	४९८	उपमानगतधर्मेकधर्मवत्त्व ही सादृश्य	४९४
सिद्धसाधनदोष का परिहार	४९८	स्वस्मिन् स्वसादृश्याङ्गीकारः	४९५
'असत्प्रमाणप्रसिद्धत' इत्यस्य नानान्याख्यानिरूपणम्	४९९	स्व में स्वसादृश्य सम्मत - स्याद्वादी	४९५
'असत्प्रमाणप्रसिद्धतः' यहां समासविचार	४९९	'अस्या इवास्या' इतिवाक्यसमर्थनम्	४९६
एकत्राऽवच्छेदकभेदेन नित्यत्वानित्यत्वसमावेशः	४९०	वैधर्म्यज्ञान के बिना भी सादृश्यमान मुमकिन - स्याद्वादी	४९६
सत्त्वासत्त्वविरोधपरिहारः	४९१	भेद इव आदि शब्द का अर्थ नहीं है - स्याद्वादी	४९६
व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्वीकारः	४९२	सादृश्यस्य न भेदगर्भितत्वम्	४९७
वस्तु सामान्य-विशेषोभयात्मक है	४९३	सादृश्यबुद्धि और अनुगतबुद्धि के वैलक्षण्य की उपपत्ति	४९७
अन्योन्याभावगर्भितकारणतायां लाघवम्	४९४	सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है - नव्यनैयायिक	४९८
न्यायनयसम्मतजातेरखण्डोपाधिनाऽन्यथासिद्धता	४९५	सादृश्यव्यञ्जकल्पनागीर्यस्य फलमुखत्वम्	४९९
नैयायिकसंमत जाति अप्रामाणिक	४९५	'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशो न गुणत्वेन' इतिवाक्यविचारः	५००
अभावादिसाधारणजातिस्वीकारोचित्यावेदनम्	४९६	सादृश्यविषयकनव्यनैयायिकमतनिरास	५००
अखण्डोपाधिना जातेरन्यथासिद्धिः	४९७	सामान्ये नित्यत्वाऽनेकसमवेतत्वाऽसम्भवः	५०१
उपाधि कारणतावच्छेदक हो सकती है	४९७	जाति में नित्यत्वादि असिद्ध	५०१
अनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वविचारः	४९८	जातेर्यावद्व्यक्तित्ववृत्तित्वोपपादनापाकरणे	५०२
तिर्यक्सामान्य की भाँति ऊर्ध्वतासामान्य वास्तविक	४९८	जाति में अनेकसमवेतत्व की उपपत्ति का निराकरण	५०२
तिर्यगूर्ध्वतासामान्यस्थापने परीक्षामुखसंवादः	४९९	वर्धमान उपाध्याय के मत का निरास	५०३
अनुगतत्व का निर्वचन	४९९	विशेषपदार्थाऽनुपपत्तिः	५०५
द्रव्य-गुणपदार्थसाधारणोर्ध्वतासामान्यस्वीकारः	४८०	नैयायिकसंमत विशेषपदार्थ अप्रामाणिक	५०५
दिग्म्बरसम्प्रदायानुसार अनुगतव्यवहार की उपपत्ति	४८०	अवान्तरजातीयरूपादिव्यावृत्तिविचारः	५०६
अमृतचन्द्रव्याख्योपदर्शनम्	४८१	विशेषपदार्थ परमाणु में है या उन के गुण में ?	५०७
जयसेनीयव्याख्योपदर्शनम्	४८१	नृसिंह-महादेववचननिराकरणम्	५०८
मतभेदेन स्वरूपास्तित्व-सादृश्यास्तित्वविचारः	४८३	विशेष स्वतःव्यावृत्त है या उसका आश्रय ?	५०८
सादृश्यास्तित्वेनानुगतव्यवहारविचारः	४८४	विशेषपदार्थविचार मञ्जूषाकारादिमतप्रकाशनम्	५०९
अनेक द्रव्य में सादृश्यास्तित्व से ही अनुगतव्यवहार	४८४	विशेषसाधक अनुमान उपाधिग्रस्त - स्याद्वादी	५१०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
रामरुद्रभट्ट-नृसिंहमतसमालोचना	५११	अवयवगत विविधवर्ण का अवयवी में भान अप्रामाणिक	
आकाशादि में विशेष की सिद्धि नामुमकिन - स्याद्वादी	५११	- स्याद्वादी	५३१
दिनकरीयतरङ्गिणीमतखण्डनम्	५१२	व्याधिभेदाभित्यत्वानित्यत्वादीनामेकत्र समावेशः	५३२
द्रव्य ही व्यावृत्तिस्वभाववाला है - स्याद्वादी	५१२	स्याद्वादानुसार चित्रत्वव्यवहार मुमकिन	५३२
अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व में अविरोध - स्याद्वादी	५१३	न्यायखण्डखाद्यविरोधपरिहारः	५३३
अनभिलाष्य अर्थ भी कथंचित् अभिलाष्य है - स्याद्वादी	५१३	सातवें श्लोक की अन्य व्याख्या	५३३
बृहत्कल्पभाष्यवृत्त्यादिसंवादः	५१४	परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वं न विरुद्धत्वम्	५३४
अभिलाष्यत्वपदार्थपरीक्षा	५१५	स्वरूपासिद्धिनिराकरणम्	५३५
'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये' इत्यत्र मीमांसा	५१६	नित्यानित्यत्व जातिविशेषस्वरूप है - स्याद्वादी	५३५
अनभिलाष्यत्वे विकल्पव्यक्तासहत्वाशङ्का	५१७	सांकर्य जातिबाधक नहीं है - स्याद्वादी	५३६
अभिलाष्यानामपि श्रुताऽनिबद्धत्वावेदनम्	५१८	नरत्वसमाविष्टसिंहत्वं = नरसिंहत्वम्	५३७
अभिलाष्यत्वनिर्वचनम्	५१९	साङ्ख्यस्य जात्यबाधकत्वनिरूपणम्	५३८
शब्द और अर्थ में कथंचित् भेदाऽभेद - स्याद्वादी	५१९	नरत्वाभावसमानाधिकरण सिंहत्वत्व विरोधितानवच्छेदक	५३८
संकेतानुसारेण शब्दार्थतादात्म्यपरिणामः	५२०	उत्पादादिसिद्धिसंवादेन सामान्यविशेषाऽविरोधप्रदर्शनम्	५३९
अभिलाष्यत्वे मीमांसा	५२०	सामान्य और विशेष परस्परसंविरोध एवं वस्तुदेश है	
कथंचित् अर्थपरिणत शब्द संकेतज्ञानसहकार से		- स्याद्वादी	५३९
बोधजनक है - स्याद्वादी	५२१	सामान्य-विशेषयोः समुद्रोदाहरणेन वस्त्वंशत्वसमर्थनम्	५४०
केवली श्रुतविषयभूत अर्थ के ही प्रतिपादक है	५२१	तत्त्वसङ्ग्रहकारमतसमालोचना	५४१
प्रातिस्विकरूपमीमांसा	५२२	सन्तानित्वेन जात्यन्तरत्वव्यापनम्	५४२
केवलिनि वाग्योगरूपं श्रुतज्ञानम्	५२३	चित्र एत में नील पीतादिवर्ण परस्परानुविद्धस्वभाववाले होते हैं	५४२
केवली में क्षायिक श्रुतज्ञान नामुमकिन	५२३	अतिरिक्तचित्ररूपानङ्गीकारः	५४३
केवलिनी शेषज्ञानचतुष्कसद्भावमीमांसा	५२४	चित्र रूप सर्वथा अतिरिक्त नहीं है	५४३
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककारमतालोचनम्	५२५	चित्रपदप्रवृत्तिनिमित्तनिरूपणम्	५४४
विस्मरतापरिणाम से केवलिदेशना - दिगंबरमत	५२५	रूपविशिष्टरूपत्व चित्रपदप्रवृत्तिनिमित्त है - स्याद्वादी	५४४
केवलिनां शब्दाऽप्रयोजकत्वमाशाम्बरमते	५२६	चित्ररणेऽपीनरुक्त्यम्	५४५
दिगम्बरमतनिराकरणम्	५२७	आठवीं कारिका की व्याख्या	५४५
वीतरागेऽप्यनुजिघृक्षासद्भावोपपादनम्	५२८	वीतरागस्तोत्रावचूर्ण्यादिसंवादः	५४६
शुद्धेच्छाया रागत्वाऽयोगोपपादनम्	५२९	ज्ञानाद्वैतसिद्धि	५४६
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकवचनखण्डनम्	५३०	ज्ञानाद्वैतप्रतिपादने प्रमाणवार्तिकादिसंवादः	५४७
एक धर्मी में अनेकवर्णसमावेश प्रामाणिक	५३०	योगाचार का स्याद्वाद में प्रवेश	५४७
विरुद्धवर्णानामेकत्र सत्त्वसमर्थनम्	५३१	स्याद्वादस्याऽनिराकार्यता	५४८

ॐ नमः सिद्धम् ।

महामहोपाध्यायशोविजयगणिवरविरचितम् ।

मुनियशोविजयकृतजयलताटीका-रमणीयाभिधानव्याख्याभ्यां विभूषितम्

स्याद्वादरहस्यम्

(मध्यम)

(द्वितीयः खण्डः)

अथैकान्तवादोपकल्पितकर्कशतरतर्कतिमिरनिकरनिराकरणेन प्रकटीभूतप्रतापं भास्वत-
मनेकान्तवादमभिनन्दन्ति → 'यदा त्वे'ति ।

यदा तु नित्याऽनित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेत् ।

यथाऽऽत्थ भगवन्नैव तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

ननु परेऽपि "पृथिव्यादीन्यपि नित्यानि परमाणुरूपाणि, स्थूलानि पुनरनित्यानि" इति

✽ जयलता ✽

यस्य हृदिः समाना हे गौशालके च गौतमे ।

तं प्रपद्य महावीरं तूत्तरणे वितव्यते ॥१॥

पञ्चमकारिकोपाध्यातमाह → अथेति । एकान्तवादोपकल्पितेति । एकान्तवादिभिर्विरचितो योऽतितिक्ष्यतर्कलक्षणतमोव्यूहः
तदपाकरणेनेत्यर्थः । तदपाकरणपूर्वकमिति यावत् । यदा तु नित्यानित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेदिति । यदा हि नित्यत्वसंभिन्नाऽ-
नित्यत्वात्मकता वस्तुत्वावच्छिन्ने भवेदित्यर्थः । एतेन 'सर्वधाक्षणिकवादेऽर्थक्रियाकारित्वाद्यसंभवेन पारिशेषाद् वस्तुस्वरूपमेकान्त-
नित्यत्वे पर्यवस्यती'ति नित्यैकान्तवादिवचनं तथा कूटस्थनित्यत्ववादेऽर्थक्रियाकारित्वाद्यसंभवेन पारिशेषन्यायेन वस्तुस्वरूपं
क्षणिकत्वे पर्यवस्यती'ति बौद्धवचनं च प्रत्युक्तम्, नित्यानित्यत्वस्वरूपस्याऽपि वस्तुनि जागरितत्वात् ।

शङ्कते - नन्विति । परेऽपि = नैयायिकादयोऽपि, पृथिव्यादीन्यपि वाय्वन्तानि द्रव्याणि नित्यानि = ध्वंसाऽप्रतियोगीनि
परमाणुरूपाणि, स्थूलानि पृथिव्यादीनि द्रव्यणुकादिरूपाणि, पुनरिति विशेषद्योतनाय, अनित्यानि = ध्वंसप्रतियोगीनि,

✽ रमणीया ✽

इस तरह आच चार शोक द्वारा एकान्तवाद से कल्पित अन्यंत कर्कश तर्कस्वरूप अंधकार के समूह का निरसन करने
से जिसका प्रताप-तेज प्रकट हुआ है ऐसे अनेकान्तवादस्वरूप सूर्य का मूलकार पंचम कारिका में अभिनन्दन करते हैं । कारिका
का अर्थ निम्नोक्त है ।

✽ पाँचवीं कारिका का सामान्य अर्थ ✽

जिस तरह भगवान् जिनेश्वर ने वस्तु के नित्याऽनित्यस्वरूप का निवेदन किया है वैसा माना जाय तब किसी दोष
को अवकाश नहीं है ।५।

✽ परदर्शनी और जिनोन्द्र से प्रदर्शित वस्तु का नित्यानित्यस्वरूप अलग-अलग है ✽

ननु ५. इति । यहाँ यह शंका हो कि → "नैयायिक आदि परदर्शनी भी पृथ्वी, जल, तेज आदि को नित्य और
अनित्य मानते ही हैं, क्योंकि उनका यह सिद्धांत है कि परमाणुस्वरूप पृथ्वी, जल आदि नित्य हैं और द्रव्यणुक त्र्यणुक

संगिरन्त इति को विवादः ? इत्यत आहुः - 'यथात्थे'ति । भगवान् (१) स्यान्नित्यं, (२) स्यादनित्यं, (३) स्यान् नित्याऽनित्यं, (४) स्यादवक्तव्यं, (५) स्यान्नित्यमवक्तव्यं, (६) स्यादनित्यमवक्तव्यं, (७) स्यान्नित्यं चाऽनित्यश्चाऽवक्तव्यश्चेति प्रकाशयति, न तथा परे स्वप्नेऽपि संविद्रत इति भावः ।

इदमिदानीं निरूप्यते - सर्वत्र हि वस्तुनि स्यान्नित्यत्वादयः सप्त धर्माः प्रत्यक्षं प्रतीयन्ते ।

✽ गद्यलता ✽

संगिरन्ते इति को विवादः ? पृथिव्यादीनि द्रव्याणि परैः नित्याऽनित्यरूपाणि स्वीक्रियन्त एवेति विवादोऽनुत्थानहृत् एवेति नन्याशयः । अतः हेतोः आहुः श्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रा इति शेषः । स्यान्नित्यमिति । भजनया ध्वंसाऽप्रतियोगीत्यर्थः । स्यादनित्यमिति । कथञ्चिद् ध्वंसप्रतियोगीत्यर्थः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । भावना चेतेषां भङ्गानां स्वयमेवानुपदं प्रकरणकृद् वक्ष्यतीति मोक्षकण्ठीभव । उपलक्षणात् 'स्यात् सत्, स्यादसत्, स्यात्सदसत्, स्यादवक्तव्यं, स्यात्सदवक्तव्यं, स्यादसदवक्तव्यं, स्यात्सदसदवक्तव्यम्; स्यादेकं, स्यादनेकं, स्यादेकानेकं, स्यादवक्तव्यं, स्यादेकमवक्तव्यं, स्यादनकमवक्तव्यं, स्यादेकानेकाऽवक्तव्यमि'त्यादेर्ग्रहणं स्वयमेव कर्तव्यम् । नेति । व्यवहितसंबन्धः । तथेति । एकस्मिन्नेव वस्तुनि यथा भगवता शबलितनित्यत्वानित्यत्व-सत्त्वासत्त्व-कत्वानेकत्व-वाच्यत्वाऽवाच्यत्वादिस्वरूपमुपदर्शितं तेन प्रकारेण परे = प्रवचनबाह्याः, स्वप्नेऽपि किमुत जागरावस्थायां ? नैव संविद्रते = अनुभवन्ति । परे हि परमाणुरूपेषु पृथिव्यादिषु केवलं नित्यत्वमेवाऽऽमनन्ति, द्रव्यणुकादिलक्षणेषु च परं ध्वंस-प्रतियोगित्वमेव, न तु कर्तुरितनित्यत्वानित्यत्वादिस्वरूपं कदाऽपि । अतो न तत्र दोषाऽनवकाशः किन्तु भगवदाकलिते शब-लैक्यवस्तुस्वरूपे एवेति न साम्यम् । एवञ्च विप्रतिपत्तिर्निराबाधेति न सिद्धसाधनदोषावकाश इति तात्पर्यं पर्यालोचनीयम् ।

लिङ्गाद्यर्थव्यतिरिक्तार्थप्रतिपादकं घटादिपदसमभिव्याहृतं स्यात्पदमनेकान्तं द्योतयति = औपसन्दानिक्या शक्त्या बोधयति । एतेन "अस्तीति वर्तमानत्वं बोध्यते, स्यादिति कालत्रयाऽनवमर्शिविधेयत्वम् । तयोः परस्परविरुद्धयोः कथमेकस्मिन्नर्थे पर्यवसानं = युगपदबोध्यत्वम्" (क.त.प. पृ. ५६१ - ब.सू. २/२/३३) इति स्यादस्तीत्यस्याऽप्रामाणिकत्वमाविष्कुर्वन् कल्पतरुपरिमल-कारः अप्यदीक्षितः प्रतिक्षिप्तः, स्यात्पदोत्तरघटादिपदप्रतिपादानेकान्तात्मकघटाद्यर्थे विशिष्य शक्तिस्वीकारात् । औपसन्दा-निका शक्तिरेवात्र द्योतनमिति भावः । धर्मिवाचकपदसमभिव्याहृतं स्यात्पदमनेकान्तात्मकत्वद्योतकं धर्मवाचकपदसमभिव्याहृतं तु तत्तत्त्व-परद्रव्यक्षेत्र-कालाद्यवच्छेदकविस्फोरकमित्यादिकं स्वसमयनीत्यनुसारेण विभावनीयं सुधीभिः ।

प्रसङ्गासङ्गत्या सप्तमङ्गीघटकीभूतधर्मान् निरूपयति- इदमिति । प्रत्यक्षं प्रतीयन्त इति । उपदेशसहकारेण साक्षात्

आदि स्थूल कार्यात्मक पृथ्वी, जल आदि तत्त्व अनित्य हैं । जैसे जिनेन्द्र भगवंत वस्तु को नित्यानित्य मानते हैं, ठीक वैसे ही उक्त रीति से नैयायिकादि भी पृथ्वी आदि तत्त्व को नित्य और अनित्य मानते ही हैं । इस परिस्थिति में विवाद = विप्रतिपत्ति कैसे संभव है ? विवाद तब प्रसक्त हो सकता है, जब वादी-प्रतिवादी का मंतव्य परस्पर विपरीत हो । यहाँ तो वादी-जैन एवं प्रतिवादी-नैयायिकादि दोनों ही पृथ्वी आदि को नित्यानित्य मानते हैं । अतः विप्रतिपत्ति का उत्थान ही नामुमकिन है" <- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अक्षपाद आदि ने जैसे नित्यत्वानित्यत्व का पृथ्वी आदि में प्रतिपादन किया है वैसे वीतराग भगवंत ने नहीं किया है । भगवान ने तो यह प्रतिपादन किया है कि प्रत्येक पदार्थ (१) कथंचित् नित्य है, (२) कथंचित् अनित्य है, (३) कथंचित् नित्यानित्य है, (४) कथंचित् अवक्तव्य है, (५) कथंचित् नित्य और अवक्तव्य है, (६) कथंचित् अनित्य एवं अवक्तव्य है, (७) कथंचित् नित्य, अनित्य एवं अवक्तव्य है । अक्षपाद - कणाद आदि परदर्शनस्थापक मनीषियों को तो 'प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सात स्वरूप में विभक्त होता है' - ऐसा ज्ञान स्वप्न में भी नहीं होता है । वे तो परमाणुस्वरूप पृथ्वी, जल आदि को केवल नित्य ही मानते हैं । उनके अभिप्रायानुसार परमाणु में किसी भी अपेक्षा से अनित्यत्व का अवकाश नहीं है । उनके मतानुसार द्रव्यणु-घट आदि में केवल अनित्यत्व ही होने से कथंचिदपि नित्यत्व नामुमकिन है । अतः वीतरागप्रतिपादित वस्तुस्वरूप और परतीर्थिकप्रकाशित पदार्थस्वरूप में आकाश-पाताल का अंतर है । कहाँ राजा भोज, कहाँ गांगू तेली ? !

✽ प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सप्तधर्मात्मक है - स्याद्वादी ✽

इदमिदा. इति । अब व्याख्याकार श्रीमद्जी भगवान ने जिस तरह वस्तु का प्रकाशन किया है, उस तरह प्रत्येक वस्तु में सप्त धर्म का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि सब वस्तु में कथंचित् नित्यत्व आदि सात धर्म प्रत्यक्ष ही जाने जाते

तथाहि (१) घटो द्रव्यत्वेन नित्यः (२) पर्यायत्वेन चानित्यः इति संवेद्यते । न च ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्व-तदवच्छेदकपर्यायत्ववत्त्वरूपे नित्याऽनित्यत्वे कथं द्रव्यत्व-पर्यायत्वावच्छेदो ? स्वस्य स्वाऽनवच्छेदकत्वादिति वाच्याम्, अत्र ध्वंसप्रतियोगित्व-तदभाव-

✽ नयलता ✽

प्रतीतिविषयीभवन्तीति । तदेव दृढीकरणार्थमाह- तथाहीति । द्रव्यत्वेन नित्यः = द्रव्यत्वावच्छिन्नध्वंसीयप्रतियोगित्वाभाववान्, द्रव्यत्वश्चोपलक्षणं पुद्गलत्वादीनाम् । घटः स्यान्नित्य इति प्रथमभङ्गधर्मं दर्शयित्वा 'घटःस्यादनित्य' इति द्वितीयभङ्गधर्मं दर्शयति - पर्यायत्वेन चानित्य इति । घटत्वादिलक्षणपर्यायत्वावच्छिन्नध्वंसप्रतियोगितावान् घट इत्यर्थः । द्रव्यत्वादिना तदनाश इव घटत्वादिना तत्राशोऽपि साक्षात् प्रतीयत एव ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । नित्याऽनित्यत्वे इति । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसम्बध्यत' इतिन्यायात् नित्यत्वमऽनित्यत्वश्चेत्यर्थः । कथमिति । अयं भावः ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकीभूतद्रव्यत्वधर्मवत्त्वरूपस्य नित्यत्वस्य द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वं ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकीभूतपर्यायत्वलक्षणघटत्वादिधर्मवत्त्वरूपस्याऽनित्यत्वस्य च पर्यायत्वावच्छिन्नत्वं न संभवति अवच्छेदकाऽवच्छेद्यभावस्य भेदव्याप्यत्वात्, अभिन्नयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतिः । न हि वृक्षे कपिसंयोगः कपिसंयोगावच्छिन्नो भवति किन्तु कपिसंयोगातिरिक्तशाखाऽवच्छिन्नो भवति । प्रकृते तु द्रव्यत्वस्य स्वावच्छेद्यध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्वाऽनतिरिक्तत्वात् पर्यायत्वस्य च स्वावच्छेद्यध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्ववत्त्वाभिन्नत्वात् नावच्छेदकता संभवति, अन्यथा कपिसंयोगस्याऽपि स्वावच्छेदकत्वं प्रसज्येतेति 'घटो द्रव्यत्वेन नित्यः पर्यायत्वेन चानित्य' इति प्रतीतिर्न प्रामाणिकीति शङ्काकृदाशयः ।

स्याद्वादी तन्निराकरणाय हेतुमाह - अत्रेति । सप्तभङ्गचामिति । ध्वंसप्रतियोगित्व-तदभावरूपयोरेवेति । अभेदान्वयश्चाऽस्य नित्यानित्यत्वयोरित्यत्र व्युत्क्रमेण बोध्यः । एवकारेण ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकावच्छेदकवत्त्वरूपयोरित्यस्य व्यवच्छेदः कृतः ।

हैं । देखिये, घट को देख कर 'यह द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य है और पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्य है' ऐसा बोध होता है । यह तो स्पष्ट ही है कि घट का विनाश घटत्व आदि स्वरूप पर्यायत्वावच्छेदेन ही होता है, न कि द्रव्यत्वावच्छेदेन । इस विषय का निरूपण तो हम प्रथम श्लोक की व्याख्या में कर चुके हैं । इसलिए वापस यहाँ उसका निरूपण करना पाठक का अमूल्य समय बरबाद करना समझते हैं । अतः उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जाता है ।

✽ शंका :- द्रव्यत्व-पर्यायत्व प्रमाणः नित्यत्व और अनित्यत्व का अवच्छेदक नहीं हो सकता ✽

शंका :- न च ध्वं इति । आपने जो अभी बताया कि → 'द्रव्यत्वावच्छेदेन नित्यत्व और पर्यायत्वावच्छेदेन अनित्यत्व घट में रहता है, जो प्रत्यक्षतः प्रतीयमान है' ← वह ठीक नहीं है, क्योंकि वह प्रतीति केवल प्रतीति ही है, प्रमीति नहीं । मतलब कि वह प्रतीति भ्रान्त है । इसका कारण यह है कि नित्यत्व का अर्थ है ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व तथा अनित्यत्व का अर्थ है ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व । ध्वंसप्रतियोगिता का अनवच्छेदक द्रव्यत्व ही है एवं ध्वंस की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म पर्यायत्व ही है । अतः आप द्रव्यत्वावच्छेदेन नित्यत्व का प्रतिपादन करते हैं, इसका अर्थ यह प्राप्त होता है कि द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्व है । अर्थात् द्रव्यत्व ही ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्व का अवच्छेदक है और ध्वंसप्रतियोगिता-नवच्छेदक द्रव्यत्व ही द्रव्यत्व से अवच्छेद्य है । इसी तरह घट में पर्यायत्वावच्छेदेन अनित्यत्व है - इसका अर्थ यह होता है कि पर्यायत्वावच्छेदेन ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्ववत्ता है । अर्थात् पर्यायत्व ही ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकीभूत पर्यायत्व का अवच्छेदक है और ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक पर्यायत्व ही पर्यायत्व से अवच्छेद्य है । मगर यह कथमपि संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अपने को ही अपना अवच्छेदक मानने की आपत्ति आयेगी । मगर अपने में अपनी अवच्छेदकता नहीं रहती है । अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव भेदनियत होता है । अवच्छेदक से अवच्छेद्य भिन्न होने पर ही वह उसका अवच्छेदक हो सकता है, क्योंकि अवच्छेदक का अर्थ है नियामक और अवच्छेद्य का अर्थ है नियम्य । नियामक से नियम्य अलग ही होता है-यह व्यवहार में भी देखा जाता है । विद्यार्थी शिक्षक से नियम्य होता है । न्याय की परिभाषा में विचार किया जाय तो हम ऐसा कह सकते हैं कि 'वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसंयोगः' यह प्रतीति होती है, जिसमें शाखा अवच्छेदक और कपिसंयोग अवच्छेद्य है । कपिसंयोग का अवच्छेदक कपिसंयोग नहीं होता है और शाखा से अवच्छेद्य शाखा नहीं होती है । दोनों ही अलग-अलग होते हैं । प्रस्तुत में तादृशद्रव्यत्वस्वरूप नित्यत्व और द्रव्यत्व एक ही है एवं तादृशपर्यायत्वात्मक अनित्यत्व और पर्यायत्व भी परस्पर अभिन्न हैं । अतः उन दोनों में अवच्छेदक-अवच्छेद्यभाव नहीं बन पाता । फिर भी उनमें अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव का अवगाहन वह प्रतीति करती है । अतः वह अप्रामाणिक है ।

रूपयोरेव नित्यानित्यत्वयोरेकत्र समावेशश्च द्रव्यत्व-पर्यायत्वावच्छेद्यत्वाभ्युपगमात् ।
अस्तु वा विशिष्टस्य स्वस्यापि स्वावच्छेद्यत्वं कथमन्यथा अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिता-

ॐ गयलता ॐ

एकत्र धर्मिणि समावेशाय = विरोधपरिहारपूर्वकनिवेशकृते, द्रव्यत्व-पर्यायत्वावच्छेद्यत्वाभ्युपगमात् = द्रव्यत्व-पर्यायत्वनिष्ठा-
वच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतोपगमात् । अयं भावः नित्यत्वं यदि ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्वरूपभ्युपगम्येत तदा तु
भवदुक्तनीत्या द्रव्यत्वावच्छिन्नं तन्न स्यात् परन्तु न तथोपेयते इत्यापादकाभावः । मया तु ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपमेव नित्यत्वमुपेयते ।
तच्च न भवन्मतेऽपि द्रव्यत्वस्वरूपम् । अतः ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपस्य नित्यत्वस्य द्रव्यत्वावच्छेद्यत्वे न किमपि दूषणम् ।
एवमनित्यत्वमपि ध्वंसप्रतियोगित्वरूपं घटत्वादिलक्षणपर्यायत्वव्यतिरिक्तमेवेति न तस्य पर्यायत्वावच्छिन्नत्वे किमपि बाधकम् ।
यद्यपि द्रव्यत्वावच्छिन्न-ध्वंसीयप्रतियोगिताया अप्रसिद्धत्वेन तादृशप्रतियोगिताकाऽभावस्याऽप्यप्रसिद्धेरसंभवः तथापि 'इदं द्रव्यमि'-
त्यादिज्ञानीयविषयतायां द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वस्य प्रसिद्धत्वेन ध्वंसनिरूपितप्रतियोगितायां तदभावप्रतिपादने तात्पर्यमिति न कोऽपि
दोषः । अतो द्रव्यत्व-पर्यायत्वयोः तदवच्छेदकत्वं युक्तमेवेति स्याद्वाद्याशयः ।

ननु नित्यत्वानित्यत्वे ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदक-तदवच्छेदकधर्मवत्त्वरूपे एव न तु ध्वंसाप्रतियोगित्व-तत्प्रतियोगित्वस्वरूपे,
कलुषं विहायाऽतिरिक्तप्रतियोगित्वादिरूपतत्कल्पने गौरवादित्याशङ्क्यामाह-अस्तु वेति । इदंभ्युपगमवादेन बोध्यम् । विशिष्टस्य
= ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वप्रभृतिविशिष्टस्य, स्वस्याऽपि = द्रव्यत्वादेरपि, स्वावच्छेद्यत्वं = शुद्धद्रव्यत्वाद्यवच्छेद्यत्वम्,
शुद्धधर्मस्य विशिष्टस्वावच्छेदकत्वादिति शेषः । अयं भावः ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वविशिष्टद्रव्यत्ववत्त्वरूपमनित्यत्वं च पर्यायत्वेनावच्छिद्यत इति घटादिः द्रव्यत्वेन
नित्यः पर्यायत्वेन चाऽनित्य इति प्रतीतिर्नाऽप्रामाणिकत्वम् । विपक्षे बाधमाह - कथमन्यथेति । स्वस्य विशिष्टस्यानवच्छेदकत्वोपगमे

ॐ ध्वंसाप्रतियोगितात्मक नित्यत्व का अवच्छेदक द्रव्यत्व - समाधान ॐ

समाधान :- अत्र ध्वं. इति । उस्ताद । हम क्या कहते हैं यह तो पहले सुनो । हम नित्यत्व को ध्वंसप्रतियोगिता-
नवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्वरूप नहीं मानते हैं, किन्तु ध्वंसाप्रतियोगितात्मक मानते हैं । तथा अनित्यत्व भी ध्वंसप्रतियोगितास्वरूप
है, न कि ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्ववत्तास्वरूप - ऐसा हम मानते हैं । द्रव्यत्व तो ध्वंसाप्रतियोगितास्वरूप यानी ध्वंसनिरूपि-
तप्रतियोगित्वाभावात्मक नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्व भावात्मक धर्म है, जब कि तादृशनित्यत्व अभावात्मक है । इसी तरह ध्वंसप्रति-
योगितास्वरूप अनित्यत्व भी पर्यायत्व से भिन्न है । अतः द्रव्यत्व तादृश नित्यत्व का एवं पर्यायत्व तादृश अनित्यत्व का अवच्छेदक
हो सकता है । अतः कोई आपत्ति नहीं है । यद्यपि द्रव्यत्वावच्छिन्न ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होने से तादृश प्रतियोगिता
के अभाव को नित्यत्व स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव अस्वीकार्य है । अतः तादृश नित्यत्व
को मान्यता नहीं दी जा सकती तथापि जिस ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता में द्रव्यत्वावच्छिन्नत्व का अभाव है तादृश प्रतियोगिता
को ही नित्यत्वस्वरूप मानी जा सकती है । आशय यह है कि 'इदं द्रव्यं' इत्याकारक ज्ञान से निरूपित विषयता में द्रव्यत्वावच्छिन्नत्व
है और उसका अभाव है ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता में । द्रव्यत्वावच्छिन्नत्व विषयता में प्रसिद्ध होने से उसका अभाव, जो
कि ध्वंसीयप्रतियोगिता में है, अप्रसिद्धप्रतियोगिक नहीं कहा जा सकता । अतः द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वाभावविशिष्ट ध्वंसनिरूपित
प्रतियोगिता को ही नित्यत्वस्वरूप मानी जा सकती है । अतः द्रव्यत्व नित्यत्व का एवं पर्यायत्व अनित्यत्व का अवच्छेदक
हो सकता है । इस तरह एक धर्मी में ही नित्यत्व और अनित्यत्व का समावेश करने के लिए द्रव्यत्व और पर्यायत्व को
उन दोनों का क्रमशः अवच्छेदक माना गया है । विरुद्ध धर्म का एक धर्मी में समावेश करने के लिए अवच्छेदक भेद का
अनुसरण आवश्यक है - ऐसा जो नैयायिकादि का सिद्धांत है, उसके अनुसार यहाँ नित्यत्व और अनित्यत्व में क्रमशः द्रव्यत्व
और पर्यायत्व से अवच्छेद्यत्व बताया गया है ।

ॐ शुद्ध धर्म से अवच्छेद्य विशिष्ट स्व हो सकता है - व्याख्यादी ॐ

अस्तु वा. इति । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ध्वंसीयप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्वात्मक नित्यत्व का अवच्छेदक
द्रव्यत्व ही है और ध्वंसनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्वस्वरूप अनित्य का अवच्छेदक पर्यायत्व ही है, क्योंकि विशिष्ट स्व
(धर्म) का अवच्छेदक शुद्ध धर्म हो सकता है । आशय यह है कि नित्यत्व को उपर्युक्त विशिष्ट द्रव्यत्वात्मक मानने पर भी
शुद्ध द्रव्यत्व उसका अवच्छेदक हो-इसमें कोई बाध नहीं है, क्योंकि विशिष्ट धर्म शुद्ध धर्म से अवच्छेद्य हो सकता है । यह

वच्छेदकदंडत्वादिरूपा कारणता दंडत्वाद्यवच्छिन्ना स्यात् ?

(३) क्रमिकविधिनिषेधाऽर्पणासहकारेण स्यान्नित्याऽनित्योऽपि प्रतीयते । न च समुदिताभ्यां नित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यामेवैतन्निर्वाहात् धर्मान्तरकल्पनं किमर्थकं ? इति वाच्यम्, समुदितयोः

❀ नयलता ❀

कथं अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकदंडत्वादिरूपा = एकादशकारिकावृत्तिवक्ष्यमाणस्वरूपे अनन्यथासिद्धत्वे सति घटादिकार्योत्पादाऽव्यवहितपूर्वध्वजावच्छेदेन कार्याधिकरणनिरूपितवृत्तित्वावच्छेदकीभूतदंडत्वादिलक्षणा कारणता = घटादिनिरूपितकारणता, दण्डत्वाद्यवच्छिन्ना = स्वात्मकदंडत्वाद्यवच्छिन्ना स्यात् ? नैव स्यादित्यर्थः । अयं भावः 'दण्डो दण्डत्वेन घटकारणं न तु द्रव्यत्वादिना' इत्यादिस्वारसिकानुभवबलेन यथा दण्डत्वे प्रोक्तविशिष्टदण्डत्वात्मककारणत्वावच्छेदकत्वं तादृशकारणतायां च स्वात्मकदण्डत्वावच्छेदकत्वं तथैव 'घटो द्रव्यत्वेन नित्यः पर्यायत्वेन चाऽनित्यः' इति स्वरसबाह्यनुभवबलेन द्रव्यत्वपर्यायत्वयोः प्रोक्तविशिष्टद्रव्यत्वपर्यायत्वस्वरूपनित्यत्वानित्यत्वावच्छेदकत्वमपि निराबाधं, अन्यथाऽध्वैशसापत्तेः ।

अस्तुतस्तु 'विशिष्टं शुद्धान्नानिरिच्यत' इति नियमे मानाभावः । प्रागुक्तदिशा विशिष्टस्य शुद्धातिरेकात् तादृशविशिष्टद्रव्यत्वादिस्वरूपनित्यत्वोपगमे गौरवादिति 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापातः । प्रत्युत ध्वंसाऽप्रतियोगित्वतत्प्रतियोगित्वरूपनित्यत्वाऽनित्यत्वोपगमे एव लाघवं, प्रतियोगितायाः सर्वथाऽतिरिक्तत्वाभावादिति दिक् ।

तृतीयधर्मं निर्दिशति - क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेणेति । क्रमशः आदिष्टान्वय-व्यतिरेकयोः साचिच्येनेत्यर्थः । स्यान्नित्यानित्योऽपि = कथञ्चित् नित्योऽनित्यश्चाऽपि, घट इत्यत्रानुवर्तते । एवमग्रे भङ्गचतुष्केऽपि स स्वयमन्वेतव्यः । क्रमेण द्रव्यत्वापेक्षया पर्यायत्वापेक्षया च घटो नित्यश्चाऽनित्यश्चेति प्रतीयत इत्यर्थः । न च तत्र शब्दयोः क्रमव्यापारेऽप्यर्थस्य विशिष्टस्य क्रमाऽवहितत्वात् क्रमाद्यनतिप्रयोजनमित्यारेकणीयम्, शब्दगतस्याऽपि क्रमस्याऽर्थेऽध्यारोपात्, "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । अनुब्रह्ममेव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते" (वा.प.कां.१/का.) इति न्याश्रयणात् । अस्तु वा क्रमादिति वचनं ज्ञानाकारविशेषोपलक्षकमेवेति दिक् ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । एतन्निर्वाहात् = तृतीयभङ्गोपपत्तेः, धर्मान्तरकल्पनं = मिलितनित्यत्वाऽनित्यत्वोभयव्यतिरिक्तनित्यानित्यत्वस्वरूपधर्मविशेषकल्पनं, किमर्थकं ? निरर्थकमिति काक्वा ध्वन्यते । प्रथमद्वितीयभङ्गयोर्विशकलितनित्यत्वानित्यत्वयोरेव समाहारात् तृतीयभङ्गसंभवे उभयविलक्षणधर्मकल्पनमनतिप्रयोजनम् । यथा वृक्षसमुदाय एव वनं

तो नैयायिक महाशय को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि विशिष्टदंडत्वस्वरूप कारणता की अवच्छेदकता दंडत्व में अन्यथा अनुपपन्न होगी । नैयायिकमतानुसार अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तितावच्छेदक धर्मस्वरूप कारणता है । जैसे घटकारणता अनन्यथासिद्धघटनियतपूर्ववर्तितावच्छेदक दंडत्व चक्रत्व आदि धर्मात्मक है । इस कारणता का अवच्छेदक दंडत्व-चक्रत्व आदि धर्म ही है । घटकारणता तादृशविशिष्ट दंडत्वादिरूप है और उसका अवच्छेदक शुद्ध दंडत्वादि धर्म है । यदि शुद्ध धर्म विशिष्ट स्व का अवच्छेदक है - यह न माना जाय तो विशिष्टदंडत्वादिरूप घटकारणता का अवच्छेदक शुद्ध दंडत्वादि धर्म कैसे बनेगा ? अतः विशिष्ट-द्रव्यत्वात्मक नित्यत्व का अवच्छेदक शुद्ध द्रव्यत्व और विशिष्ट-पर्यायत्व का अवच्छेदक शुद्ध पर्यायत्व भी निर्विवादरूप से बन सकते हैं । हाँ, शुद्ध धर्म अपना अवच्छेदक या अवच्छेद्य नहीं बन सकता है । अतः 'घटो द्रव्यत्वेन नित्यः पर्यायत्वेन चानित्यः' यह प्रतीति भी प्रामाणिक है - यह सिद्ध होता है ।

❀ घट क्रमिक अर्पणा से कथंचित् नित्यानित्य - व्याख्यादी ❀

क्रमिकवि. इति । घट में पृथक् पृथक् दो धर्म का निरूपण करने के पश्चात् व्याख्याकार श्रीमदजी अब तृतीय धर्म का प्रतिपादन करते हैं कि नित्यत्व की विधि और निषेध की क्रमिक अर्पणा (= विवक्षा) के सहकार से 'घट कथंचित् नित्यानित्य है' ऐसा भी प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है । तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व की अपेक्षा और पर्यायत्व की अपेक्षा घट क्या है ? ऐसा संशय-जिज्ञासा-प्रश्न उपस्थित होने पर 'घट द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य और पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्य है' ऐसा साक्षात्कार होता है । इस प्रतीति के बल से घट में कथंचित् नित्यानित्यत्व धर्म रहता है । यहाँ यह प्रश्न करना कि -> "प्रथम और द्वितीय धर्म (कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व) मिलित होने पर ही 'घटः कथंचित् नित्यानित्यः' यह प्रतीति उपपन्न हो सकती है, तो फिर उन दोनों धर्मों से अतिरिक्त कथंचित् नित्यानित्यत्व की कल्पना क्यों की जाती है?" <- ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम और द्वितीय धर्म समुदित (= मिलित) होने पर विलक्षणरूप से कथंचित् नित्यानित्यत्व

तयोः विलक्षणत्वेनैतत्स्थानाभिषेचनीयत्वात् । न च प्रत्यक्षे इच्छायाः कथं नियामकत्वमिति तात्पर्यम्, प्रतीतिबलादेतादृशेच्छाविशिष्टबोधं प्रत्येतादृशेच्छायाः कारणत्वकल्पनात् ।

❀ गयलता ❀

न तु तदतिरिक्तं तथैव नित्यत्वानित्यत्वसमूह एव नित्याऽनित्यत्वं न तु तदतिरिक्तम् । संमीलितवृक्षेष्वेव वनपदप्रयोग इव समुदितयोरेव तयोः नित्यानित्यत्वव्यवहारोऽस्तु, न तु तद्व्यतिरिक्ते इति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत्तन्निरासे हेतुमाह - समुदितयोः तयोः = नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः, विलक्षणत्वेन = नित्यानित्यात्मकेन रूपेण एतत्स्थानाभिषेचनीयत्वात् = तृतीयभंगे स्थापनीयत्वात् । अयं स्याद्वादिनः समाधानाशयः यथा समुदितवृक्षाणामेव वनत्वेऽपि धनत्व-निबिडत्व-बहुलत्व-योजनविस्तीर्णत्वादयो धर्मा वनत्वावच्छेदेनैवाऽन्वीयन्ते न तु वृक्षत्वावच्छेदेन तथैव समुदितनित्यत्वाऽनित्यत्वयोरेव नित्याऽनित्यत्वापगमेऽपि क्रमिकोभयार्पणासहकृतप्रत्यक्षं नित्याऽनित्यत्वावच्छेदेनैव जायते न तु तदुभयधर्मावच्छेदेनेति । इदञ्च भेदोपसर्जनाऽभेदेनयमवलम्ब्य बोद्धव्यम् । अभेदोपसर्जनभेदनयमते तु नित्यत्वाऽनित्यत्वान्यां विलक्षणं नित्याऽनित्यत्वं तृतीयधर्मत्वेन प्रतीयते । अत एव सप्तभंग्यां तृतीयभंगोऽपि प्रथमद्वितीयभङ्गाभ्यामतिरिच्यते; प्रथमभङ्गे नित्यत्वस्य प्राधान्येनाऽनित्यत्वस्याऽप्रधानत्वेन स्वात्मदेन प्रतिपादनात् द्वितीयभङ्गे चाऽनित्यत्वस्य मुख्यत्वेन स्वात्मदानित्यत्वस्य गौणत्वेन प्रतिपादनात् तृतीये तु क्रमशः प्राधान्येन नित्यत्वानित्यत्वनिरूपणात् । अनुभूयते च 'स्यात् सन् स्यादसंश्च घट' इति शब्दात् 'क्रमार्पित-सत्त्वासत्त्वोभयधर्मधन्तममुं घटं जानामि'ति, तद्व्यवहारविषयतया सिद्धधर्मप्रत्याख्यानस्याऽन्याय्यत्वात्, क्रमगर्भोभयप्राधान्यबो-धकत्वतात्पर्येणोभयपदप्रयोगात्, तत्र एकत्र द्वयमिति विषयताशालिनो दर्शितबोधान्तरस्याऽऽनुभविकत्वात् । एतेन "सदसत्त्वे वस्तुनो न धर्मी, असत्त्वदशाधामपि वस्त्वनुवृत्त्यापातात्, न च स्वरूपं सर्वदशद्वयप्रसङ्गात्" (ब्र.सू.२।२।३३ - वे.क.प.पृ.५६२) इति वेदान्तकल्पतरुकारवचनं प्रतिक्षिप्तम्, स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनः सत्त्वे प्रतिनियतवस्तुस्वरूपविलोपप्रसङ्गा-दिति दिक् ।

ननु भवतु घटं स्यान्नित्यानित्यत्वप्रत्यक्षं परन्तु तत् क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेण न भवितुमर्हति, प्रत्यक्षे हीच्छा-नियम्यत्वमाधत्तु, अर्पणाया विवक्षारूपत्वेनेच्छाविशेषरूपत्वात् । न हीच्छामृते सन्निकृष्टघटादिप्रत्यक्षं न भवतीति । इच्छायाः प्रत्यक्षसामग्र्यनन्तर्भूतत्वात् 'क्रमिकविधिनिषेधसहकारेण घटः स्यान्नित्याऽनित्योऽपि प्रत्यक्षमेव संवेद्यते' इति वक्तुं न पार्यते इति शङ्कानिरासायाऽऽह न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । प्रत्यक्षे = कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वप्रकारकसाक्षात्कारे इच्छायाः = विवक्षायाः कथं नियामकत्वं ? तैव नियामकत्वमिति काक्वा ध्वनितम् । तदपोहाय स्याद्वादी हेतुमाह - प्रतीतिबलादिति । प्रत्यक्षबलादित्यर्थः । प्रत्यक्षमेव सर्वतो बलवत्प्रमाणम्, तदुपजीवकत्वाच्चदितरप्रमाणानामिति न ते तदतिवर्तितुमुत्सहन्ते । अतः प्रत्यक्षानुसारेणैव नियमकल्पनाऽर्हति न तु नियमानुसारेण प्रत्यक्षकल्पना, उवजीवकस्योपजीव्याऽपेक्षया दुर्बलत्वात् । अत एव एतादृशेच्छाविशिष्टबोधं प्रति = नियतस्वाऽव्यवहितोत्तरत्वेन विधिनिषेधविवक्षाविशिष्टप्रत्यक्षं प्रति एतादृशेच्छायाः = उपदर्शित-स्वरूपायाः कारणत्वकल्पनात् = हेतुत्वोभयनात् । अयं भावः घटादिकं दृष्ट्वा 'किमयं नित्यो न वा ?' इति शङ्कते, जिज्ञासते

के स्थान पर अभिपिक्त होते हैं । विलक्षणरूप से उपस्थित होने से कथंचित् नित्याऽनित्यत्व भी प्रथम द्वितीय धर्म से अतिरिक्त है - यह सिद्ध होता है । अतः प्रथम, द्वितीय धर्म से तृतीय धर्म चरितार्थ नहीं होता है ।

❀ इच्छा भी प्रत्यक्षकारण - स्याद्वादी ❀

न च प्रत्य. इति । यहाँ यह कहना कि → "प्रत्यक्षमात्र की सामग्री में इच्छा का समावेश नहीं होने से प्रत्यक्ष प्रमीति को स्वोत्पत्ति में इच्छा की अपेक्षा नहीं होती है । अतः आपने जो यह कहा कि - 'क्रमिक उभय अर्पणा के सहकार से तृतीय धर्म का साक्षात्कार होता है' - वह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्पणाशब्द का अर्थ है विवक्षा या जिज्ञासा यानी इच्छाविशेष । इच्छात्वावच्छिन्न का प्रत्यक्षसामग्री में निवेश न होने से तृतीय धर्म के साक्षात्कार के लिए तादृश अर्पणा की अपेक्षा ही नहीं है । इस परिस्थिति में तादृश अर्पणा के सहकार में तृतीय धर्म के प्रत्यक्षोदय की कल्पना भी नहीं की जा सकती, बोलने की तो बात ही क्या ?" ← भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि प्रतीति बलवान है । प्रतीति के अनुसार नियम की कल्पना की जा सकती है, न कि नियम के अनुसार प्रत्यक्ष की कल्पना । तादृश अर्पणा होने पर ही तादृश धर्म का बोध होने से स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्व संबंध से तादृश इच्छाविशिष्ट प्रत्यक्ष के प्रति तादृश इच्छा को कारण मानना आवश्यक है । तात्पर्य यह है कि घट को देख कर 'यह नित्य है या नहीं ?' ऐसा संशय, जिज्ञासा होने पर पुरुष अभियुक्त (आप्त) व्यक्ति से प्रश्न करता है या स्वयं उहाऽपोह- चिंतन-मनन करता है । बाद में आप्त पुरुष के उत्तर से या स्वयं

(४) युगपदुभयार्पणासहकारेण स्यादवक्तव्योऽपि, न तु सर्वथा, अवक्तव्यपदेनाऽपि

❀ नयलता ❀

आसत्पुरुषश्च पर्यनुयुक्ते । तत्प्रत्युत्तरेण नित्यत्वप्रकारकबोधे 'जातेऽपि किमयं सर्वथा नित्य आहोस्वित् कथञ्चित् ?' इति संशये बुभुत्सति पृच्छति चाभियुक्तपुरुषम् । तदुत्तरं तदुत्तरात् 'स नित्योऽपि अनित्यत्ववानपी'ति जानाति । यस्तु केवलं घटादिकं पश्यत्येव न तु संदेग्धि, ज्ञातुमिच्छति वा नित्यत्वादिकं, स नैव विमर्शति नित्यत्वादिकं न वाऽनुयुङ्क्ते शिष्टपुरुषमिति न तदवबोधभाग् भवति प्रेक्षमाणोऽपि घटादिकमिताच्छाया अपि नित्यत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षकारणत्वं प्रमायते । न चैवं यदं प्रत्यक्षस्येच्छाजन्यत्वं स्यात् न स्याद् वा नित्यत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षं प्रत्यपीति वाच्यम्, सर्वत्रेच्छायाः प्रत्यक्षसामग्र्यनन्तभूतत्वेऽपि प्रकृते तादृशेच्छां विना नित्यानित्यत्वप्रकारकबोधानुदयात् तत्सत्त्वे चरिर्भावात् अन्वयव्यतिरेकप्रत्यक्षमहिम्ना तस्याः तं प्रातः कारणत्वं कल्पनामर्हति, दृष्टानुसारेणैव कल्पनायाः प्रामाणिकत्वात् । यद्यपि विवक्षा शब्दबोधे एव प्रयोजिका, न प्रत्यक्षे । नाऽपि जिज्ञासा, घटादिदृक्षयोन्मीलितनयनस्य पुरःस्थितपदप्रत्यक्षानुपपत्तिप्रसङ्गात्, तथापि प्रधानगुणभावेन तथातथ्यप्रत्यक्षे तत्तदर्थित्यादिनियन्त्रितक्षयोपशमस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विशिष्य हेतुत्वाद्भानुपपत्तिः । तदुक्तं न्यायकणिकायां वाचस्पतिमिश्रेणापि "विशदतरकार्यसिद्धौ चाऽप्रतीयमानमपि कारणं कल्पनीयं, न पुनरप्रतीयमानकल्पनाभयात् कार्यवैशद्यमपह्नोतुमुचितम्" (न्या.क. पृ.८९) इति ।

चतुर्थधर्मं प्रतिपादयति - युगपदुभयार्पणासहकारेण = एकदैव विधिनिषेधोभयविवक्षासाधिव्येन, स्यादवक्तव्योऽपि = कथञ्चिदवक्तव्यत्वविशिष्टोऽपि, यतो द्वयोर्धर्मयोः प्राधान्येन गुणभावेन वा युगपत्प्रतिपादने न किञ्चिद्वचः समर्थम् सर्वत्र स्यात्पदं निषतापेक्षालाभार्थं प्रयुज्यते । तच्च तिङन्तप्रतिरूपकं निपातरूपं सर्वथात्वनिषेधकमनेकान्तद्योतीति 'प्रागुक्तमनुसन्धेयम् । स्यादवक्तव्यच्छेदं कण्ठत आह- न तु सर्वथेति । अवक्तव्यमित्यत्राऽप्यनुवर्तते । तत्र हेतुमाह - अवक्तव्यपदेनाऽपि अवक्त-

विचार-विमर्श से उसे बोध होता है कि 'घट नित्य है, वह भी सर्वथा नहीं, मगर द्रव्यत्व आदि धर्म की अपेक्षा से' । यदि तादृश संशय-जिज्ञासा आदि न हो तो घट में कथञ्चित् नित्यत्व, कथञ्चित् अनित्यत्व, कथञ्चित् नित्यानित्यत्व आदि धर्म का भान नहीं होता है । अतः तादृश धर्म के साक्षात्कार के प्रति तादृश अर्पणा को कारण मानना आवश्यक है । अतः प्रत्यक्षविशेष की मामग्री में इच्छाविशेष का निवेश करना आवश्यक है - यह फलित होता है ।

❀ ८.८ युगपत् अर्पणादयं ते कथञ्चित् अवक्तव्य - स्याद्वादी ❀

युगपद्, इति । इस तरह युगपत् विधिनिषेध की अर्पणा होने पर 'घट कथञ्चित् अवक्तव्य है' ऐसा साक्षात्कारोदय होने से घट में कथञ्चित् अवक्तव्यत्व धर्म भी रहता है । आशय यह है कि विधि-निषेध की क्रमिक कल्पना होने पर कथञ्चित् नित्यानित्यत्व का प्रतिपादन या प्रत्यक्ष हो सकता है, मगर विधि-निषेध की एक ही काल में कल्पना होने पर अर्थात् द्रव्यत्व-पर्यायत्व वैभय की अपेक्षा घट क्या है ? ऐसी जिज्ञासा या प्रश्न होने पर कोई एक ऐसा शुद्ध शब्द (= असामासिक शब्द) नहीं मिलता है, जिससे एक ही काल में प्रधानतया नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म का प्रतिपादन हो सके । अतः युगपत् उभय अर्पणा होने पर यही कहना पड़ेगा कि घट उभय (द्रव्यत्व-पर्यायत्व) की अपेक्षा एक ही काल में घट अवक्तव्य है - अनिर्वचनीय है । किसी शब्द से प्रधानतया युगपद् नित्यत्व और अनित्यत्व वाच्य नहीं हो सकते । अतः तादृश प्रश्न के प्रत्युत्तर में 'घट अवक्तव्य है' यही कहा जा सकता है । 'पी' कहा जा सकता है, 'पु' कहा जा सकता है । मगर एक ही काल में दोनों को 'पु' इस रूप में बोला नहीं जा सकता । यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि युगपत् उभय अर्पणा होने पर घट सर्वथा अवक्तव्य (वाणी का अविषय) नहीं है किन्तु कथञ्चित् ही अवक्तव्य है । यदि घट को सर्वथा अवक्तव्य माना जाय तब तो इसका मतलब यह हुआ है कि युगपद् उभयार्पणा होने पर घट किसी भी शब्द का विषय (= वाच्य) नहीं है । ऐसा होने पर तो घट अवक्तव्य शब्द से भी अवक्तव्य हो जायेगा । अर्थात् घट अवक्तव्य शब्द का भी विषय (= वाच्य) नहीं बन सकेगा । तब अवक्तव्यपदजन्य प्रतीति का विषय घट कैसे हो सकेगा ? अतः अवक्तव्य शब्द का भी घट में प्रयोग न होने की आपत्ति आयेगी । मगर अवक्तव्य शब्द का प्रयोग तो युगपत् उभय अर्पणा होने पर घट में होता है । अतः यही मानना उचित है कि घट सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, किन्तु कथञ्चित् ही अवक्तव्य है । अर्थात् समकालीन विधि-निषेध की कल्पना होने पर घट अवक्तव्य शब्द से वक्तव्य (= वाच्य = प्रतिपाद्य) है और अवक्तव्य शब्द से अतिरिक्त शब्द से अवक्तव्य (= अप्रतिपाद्य) है ।

अवक्तव्यत्वाऽऽपत्तेः । न ताऽवक्तव्यत्वं शब्दाऽबोध्यत्वस्वरूपं कथं योग्यमिति वाच्याम्, उपदेशसहकारेण पद्मरागादिवत्तद्ग्रहात् ।

‘नित्यत्वस्याऽत्र क उपकारः ?’ इति चेत् ? अवक्तव्यत्वेन परिणतिरित्येव गृहाण ।

❀ गत्यलता ❀

व्यत्वाऽऽपत्तेरिति । अप्रतिपाद्यत्वापत्तेरित्यर्थः । ननु युगपदुभयार्पणायां वस्तु किं सर्वथाऽवक्तव्यं यदुत कथञ्चित् ? इति विमल-विकल्पयुगलमुपतिष्ठते । आद्ये तु अवक्तव्यपदेनाऽपि वस्तुनोऽवाच्यताऽऽपत्तिः, सर्वपदैरप्रतिपाद्यत्वात्तस्याऽस्मिन् पक्षे । नाऽपि द्वितीयो मञ्जुलः, अवक्तव्यत्वस्य पदजन्यप्रतीतिनिरूपितविषयताशून्यत्वरूपत्वेनोऽवक्तव्यपदेन वस्तुनो वक्तव्यत्वोपगमे उन्मत्तत्व-प्रसङ्गात्, पदप्रवृत्तिनिमित्तशून्यं पदप्रयोगादित्याशयकतं संदहं निराकर्तुमाह- न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । कथं योग्यं ? नैयाऽवक्तव्यपदेनाऽपि प्रतिपादयितुमर्हति, विरोधादिति शङ्काकृदाशयः । तद्व्यपोगायाऽऽह-उपदेशसहकारेण = संकेत-सहकारेण, अवक्तव्यपदात् पद्मरागादिवत् = पद्मरागत्वप्रभृतिप्रकारकावबोधवत्, तद्ग्रहात् = अवक्तव्यत्वबोधात् । अयं भावः प्राञ्चां मते यथा पद्मरागेन्द्रनीलरिष्ट-रविकान्त-चन्द्रकान्तादिमणिमाणिक्यादि पुरोवर्त्ति पश्यन्नपि न गोपालादिः जनः पद्मरागत्वादिकं तत्र ज्ञातुं क्षमः किन्तु तद्विशिष्टजनोपदेशसाचिव्येनैव स तत् साक्षात्करोति तथा युगपदेव प्राधान्येन नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः कथयितुमशक्यत्वेऽपि वृद्धपुरुषोऽवक्तव्यशब्दसंकेतद्वारा तत्प्रतिपादनं करोत्येव श्रोतुरपि च गृहीतशक्तिकस्य तदनन्तरं तज्ज्ञानं भवत्येव ।

नव्यनैयायिकास्तु ‘भिन्नप्रमाणयोरेकज्ञानाऽजनकत्वेन न परस्परसहकारित्वमिति पद्मरागत्वप्रत्यक्षे रूपविशेषग्रहणमेव हेतुः ‘रूपादिविशेषवान् मणिः पद्मराग’ इत्युपदेशस्तु ‘गोसदृशो गवय’ इत्यतिदेशवाच्यवत् पद्मरागपदवाच्यत्वोपमितावेवोपयुज्यते इत्याहुः । तदसत् रूपविशेष-पद्मरागत्वयोर्ग्रहस्य तुल्यसामग्रीकत्वात्, शिक्षातः पूर्वं रूपविशेषग्रहेऽपि पद्मरागत्वाऽग्रहात्, स्व-विशेष्यसमवतत्वसम्बन्धेन तस्य पद्मरागत्वप्रत्यक्षहेतुत्वं सदृशपद्मरागद्वयस्थले तदविशेष्यसन्निकर्षेणाऽपि पद्मरागत्वप्रत्यक्षापत्तेः उक्तोपदेशस्य तत्रानुपयोगे च पद्मरागतदन्यसंशयनिवृत्त्यर्थं तदाश्रयणस्थ ‘उपदेशात् पद्मरागं साक्षात्करोमि न तूपमिनोमी’त्युत्तर-कालीनानुव्यवसानाद्वारानुपपत्तेश्चेति दिक्षु ।

अत एव नोन्मत्तप्रलापप्रसङ्गोऽपि सावकाशः, अवक्तव्यशब्दातिरिक्तपदाऽप्रतिपाद्यत्वे सत्यवक्तव्यपदप्रतिपाद्यत्वस्यैव स्यादवक्तव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, तस्य वस्तुनि विद्यमानत्वात्, श्रोतुरपि तस्यैव बोधान्नोपहासाऽऽस्पदत्वम् । एवं शब्दद्वारा सप्तमङ्गीज्ञस्य प्रदर्शिताऽवक्तव्यत्वप्रकारकप्रत्यक्षोत्पादकत्वान्नाऽवक्तव्यत्वं प्रतिपादयितुं बोद्धुं वाऽयोग्यमिति सिद्धमेतावता । एतेन “अवक्तव्यश्चेन्नोच्येरन् । उच्यन्ते चाऽवक्तव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । उच्यमानाश्च तथैवाऽवधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च” (ब्र.सू. २।२।३३ शां.भा.) इति ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यवचनं प्रतिषिद्धम्, ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयत्वेऽयस्याऽनुयोगस्य समानत्वाच्च ।

परः पर्यनुयुह्यते - नित्यत्वस्य = प्राग्व्यापितस्वरूपस्य । इदञ्चोपलक्षणमनित्यत्वस्य । अत्र = चतुर्थमङ्गनिरूपित-

❀ उपदेशसहकारेण अवक्तव्यत्वं न ताऽवक्तव्यत्वं शब्दाऽबोध्यत्वयोग्य - स्यात्वादी ❀

न चाव. इति । यहाँ यह समस्या मुँह फटे खड़ी है कि —> “अवक्तव्यत्व शब्द का अर्थ है शब्द से अवोध्यत्व यानी शब्दजन्य प्रतीति से निरूपित विषयता की योग्यता का अभाव ही अवक्तव्यत्वशब्दार्थ है । जिसमें शब्दजन्य प्रतीति की विषयता ही नहीं है, वह शब्द से कैसे बताया जा सकता है ? वह शब्दी प्रतीति के योग्य कैसे हो सकता है । जैसे इन्द्रियजन्य प्रतीति की विषयता के अयोग्य ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान कराने में इन्द्रिय असमर्थ है वैसे ही शब्दजन्य प्रतीति से निरूपित विषयता के अयोग्य ऐसे अवक्तव्य अर्थ का बोध कराने में शब्द भी असमर्थ ही रहेगा । अतः समकालिक विधिनिषेध अर्पणा होने पर घट में अवक्तव्यशब्द का प्रयोग भी अयोग्य ही ठहरेगा” <— मगर इस समस्या का समाधान भी सरल है । जैसे पद्मरागादि मणि को हम देखने हैं फिर भी हमें यह ज्ञान नहीं होता है कि ‘यह पद्मराग मणि है’ । मगर जीहरी के उपदेशरूप सहकारी कारण से पद्मरागत्वप्रकारक बोध का उदय हमें हो सकता है । वैसे ही सप्तभंगी के ज्ञाता एवं उपदेशक के उपदेशात्मक सहकारी कारण से अवक्तव्यत्वप्रकारक ज्ञान भी हमें हो सकता है । अतएव एक काल में विधि-निषेध उभय जिज्ञासा होने पर अवक्तव्य शब्द का घट में प्रयोग करना भी सुसंगत है - यह सिद्ध होता है ।

≡ अवक्तव्यत्वेन परिणाम ही नित्यत्व का उपकार - स्यात्वादी ≡

नित्य. इति । यहाँ एक और उद्गमन उपस्थित होती है कि —> “घट में अवक्तव्यत्व धर्म मानने पर नित्यत्व का

वक्तव्यत्वेन परिणतिस्तु नित्यत्वादिविशेष एव विश्राम्यतीति न तदतिरेकावकाशः । वक्तव्यत्वेन बोधस्तु नित्यत्वविध्यादिकल्पनातो नित्यत्वादिनैव बोधाज्ञोदेति ।

❀ जयलता ❀

विशेष्यताऽऽक्रान्ते घटे, क उपकारः ? नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः युगपदुभयविवक्षायां वक्तव्यशब्दप्रतिपाद्यत्वेऽपि तत्र तयोः कः उपकारः ? इति प्रश्नार्थः । प्रकरणकृत् प्रत्युत्तरयति - अवक्तव्यत्वेन रूपेण परिणतिरित्येव त्वं गृहाण = जानीहि । युगपदुभयविवक्षायां सत्यां नित्यत्वाऽनित्यत्वधर्मौ स्वयमवक्तव्यत्वीभवन्तौ घटमवक्तव्यत्वेन परिणामयति । अयमेव तदुपकारः । अत एवावक्तव्यत्वमपि स्वतन्त्रपरिणामो न नित्यत्वादिग्रहणेन गृह्यत इति भावः ।

नन्वेवं सति वक्तव्यत्वमप्यवक्तव्यत्ववदतिरिच्येत, घटस्य वक्तव्यत्वेनापि परिणामात् । ततो घटेऽष्टमधर्मप्रसङ्गो दुर्निवार इत्याशङ्क्यामाह - वक्तव्यत्वेन परिणतिः = घटपरिणतिः । तुर्विशेषद्योतनार्थः । तदेवोपदर्शयति - नित्यत्वादिविशेषे एव विश्राम्यतीति । एवकारफलमाह - इति हेतोः न तदतिरेकावकाशः = तस्य वक्तव्यत्वस्य नित्यत्वादिविशेषेभ्यो व्यतिरिक्तत्वसंभवः । अयं भावः वक्तव्यत्वेन रूपेण घटपरिणतिः स्यान्नित्यत्वादिविशेषपरिणतिस्वरूपैवेति नित्यत्वविधिनिषेधादिकल्पनायां नाष्टमधर्मावकाशो, नित्यत्वादिग्रहणेनैव तद्गृहात्, नित्यत्वादिधर्मविशेषैः वक्तव्यत्वेन घटस्य परिणामितत्वादेव 'घटः स्यान्नित्यः स्यादनित्यः' इत्यादिकथनसंभवात् । अत एव स्यान्नित्यत्वादिधर्माणामपि स्याद्वक्तव्यत्वाभेदोऽपि सिद्ध्यति ।

ननु वक्तव्यत्वपरिणामस्य स्यान्नित्यत्वादिधर्मविशेषभ्योऽनतिरिक्तत्वे यथा 'घटः द्रव्यत्वेन नित्यः' इति बोधो जायते तर्धैव 'घटो द्रव्यत्वेन वक्तव्यः' इत्यपि प्रतीयेतेत्याशङ्का निराकर्तुमाह - वक्तव्यत्वेन बोधस्त्विति । अन्वयश्चाऽस्य 'नोदेती'त्यत्र । अत्र हेतुमाह - नित्यत्वविध्यादिकल्पनातः = क्रमिकाऽक्रमिकानित्यत्वविधिनिषेधोभयविवक्षातः नित्यत्वादिनैव = स्यान्नित्यत्वादिप्रकारेणैव, बोधात् = घटविशेष्यकबोधोदयात् । अयं भावः यादृशी अर्पणा तादृशी प्रतीतिः वस्तुन्युपजायते । अतो नित्यत्व-

यहाँ क्या उपकार हो सकता है ? क्योंकि नित्यत्व धर्म को प्रधान बना कर यहाँ प्ररूपणा की जा रही है । अतः नित्यत्व धर्म का उपकार होना जरूरी है" <- । इसका समाधान यह है कि नित्यत्व धर्म का अवक्तव्यरूप से घटपरिणाम होना ही नित्यत्व धर्म का उपकार है । युगपत् उभय अर्पणा होने पर नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म घट को अवक्तव्यतया परिणत करते हैं और स्वयं अवक्तव्यत्वात्मक बनते हैं । इससे यह फलित होता है कि अवक्तव्यत्व धर्म भी स्वतंत्ररूप से घट में रहता है, जो नित्यत्वादि के ग्रहण से गृहीत नहीं होता है । अतः घट में अवक्तव्यत्व धर्म को भी मानना जरूरी हो जाता है ।

❀ अवक्तव्यत्व की भाँति वक्तव्यत्व स्वतंत्र आँठवा धर्म जहाँ - स्यात्वादी ❀

वक्त. इति । यहाँ यह शंका करना कि -> "जैसे घट में अवक्तव्यत्व धर्म स्वतंत्र है, ठीक वैसे ही वक्तव्यत्व भी एक स्वतंत्र धर्म होगा, जिसके फलस्वरूप में घट में सात धर्म नहीं किन्तु आठ धर्म का अंगीकार मान्य करना होगा" <- नामुनासिक है । इसका कारण यह है कि वक्तव्यत्वरूप से घटपरिणति नित्यत्वादिविशेष धर्म में ही विश्रान्त हो जाती है । मतलब कि नित्यत्वादि धर्म घट को वक्तव्यरूप से परिणत करते हैं, मगर वह वक्तव्यत्व धर्म 'स्यात् नित्यत्व, कथंचित् अनित्यत्व' आदि धर्म में ही पर्यवसित होता है । इसलिए तो 'घटः स्यान्नित्यः, स्यात् अनित्यः' इत्याकारक प्रतीति एवं व्यपदेश मुमकिन है । अतः स्यात् नित्यत्व आदि धर्म से अतिरिक्तरूप से वक्तव्यत्व धर्म का अवकाश नहीं है । कथंचित् नित्यत्व, कथंचित् अनित्यत्व आदि धर्म वक्तव्यत्वस्वरूप ही हैं । इसलिए 'कथंचित् नित्यत्व' आदि रूप से वक्तव्यत्व धर्म का भी कथन हो जाता है । अतः स्यान्नित्यत्वादि धर्म से अतिरिक्त वक्तव्यत्व धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती है, जिसके परिणाम में अष्टम धर्म की एवं अष्टभंगी की आपत्ति हो सके । यहाँ यह शंका करना कि -> "घट में कथंचित् नित्यत्व आदि धर्म है वही वक्तव्यत्व धर्म है - ऐसा मानने पर आपत्ति यह आयेगी कि घट का जैसे कथंचित् नित्यत्वरूप से ज्ञान होता है, ठीक वैसे ही वक्तव्यत्वरूप से भी भान होना चाहिए, क्योंकि वक्तव्यत्व स्यान्नित्यत्वादित्वरूप ही है" <- तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि नित्यत्वविधान की विवक्षा होने पर स्यान्नित्यत्वप्रकारक बोध का ही उदय होता है, नित्यत्वनिषेध की जिज्ञासा होने पर स्यादनित्यत्वप्रकारक ज्ञान का ही जन्म होता है । जिज्ञासा के अनुसार ही बोधोदय होता है । अतएव वक्तव्यत्वेन घटज्ञान का तादृश अर्पणा के सहकार से जन्म नहीं होता है । दूसरी बात यह है कि 'स्यान्नित्यः' पद से घट का कथन होने से ही घट में वक्तव्यत्वप्रकारक जिज्ञासा का उदय नहीं होता है । विशेष धर्म का ज्ञान होने पर सामान्य धर्म की शंका नहीं होती है । 'यह ब्राह्मण है' ऐसा ज्ञान होने पर 'यह मनुष्य है या नहीं ?' ऐसी शंका किसीको भी होती नहीं है । अतः वक्तव्यत्वप्रकारक ज्ञान उदय न होना ठीक ही है ।

(५) क्रमाऽक्रमाभ्यां विध्युभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्यः । (६) ताभ्यां निषेधोभयकल्पनासहकारेण स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च । (७) ताभ्यामुभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्चेति । अत्रापि समुदायाऽवलम्बिनी शङ्का प्राग्वन्निरसनीया ।

❀ गत्यतता ❀

विध्यर्पणात्: स्यान्नित्यत्वप्रकारको बोधो जायते, नित्यत्वनिषेधकल्पनासहकारात् स्यादनित्यत्वप्रकारकोऽवबोध उत्पद्यते । अतो वक्तव्यत्वप्रकारको बोधोऽवक्तव्यत्वप्रकारकज्ञानवबोधेति । न च वक्तव्यत्वविधिकल्पनासहकारात्तादृशप्रत्ययप्रसङ्गो दुर्निवार इति वाच्यम्, स्यान्नित्यत्वादेर्वक्तव्यत्वव्याप्यत्वात् स्यान्नित्यत्वादिप्रकारकबोधादेव वक्तव्यत्वप्रकारकजिज्ञासोपरमात् । न. चैवमपि कथञ्चिन्नित्यत्वप्रकारकबोधोदयात् प्राक् वक्तव्यत्वविधिकल्पनासहकारात् वक्तव्यत्वप्रकारकबोधो दुर्निवार इति वक्तव्यम्, उष्टत्वात् । न चाऽष्टमधर्मप्रसङ्गः; स्यान्नित्यत्वाद्यनतिरिक्तत्वात् वक्तव्यत्वस्य । तदुक्तमष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे —> “वक्तव्यत्वस्य कथंतागर्मत्वेन विशिष्य विश्रान्तत्वात्, शब्दानुगममात्रस्याऽप्रयोजकत्वात्, सत्त्वादिना वक्तव्यत्वस्य सत्त्वादिसमनियतत्वेन निराकाङ्क्षतया भङ्गान्तरानारम्भकत्वात् अन्यथाऽसद्भिन्नत्वादिनाऽपि भङ्गान्तरापत्तेः” <— (अ.स.वि.पृ.१८७) प्रकरणकृद्भिरेवेति ।

अस्तु वा वक्तव्यत्वं नाम कश्चनातिरिक्तधर्मस्तथापि वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वाभ्यां विधिनिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तमधर्मचन्तरमेव प्राप्नोतीति न सत्त्वासत्त्वादिसप्तविधधर्मव्याधात् इति ध्येयम् ।

पञ्चमधर्ममाह - क्रमाक्रमाभ्यामिति । विध्यादौ यथाक्रममन्वयः । विध्युभयकल्पनासहकारेणेति । नित्यत्वविधिनित्यत्वविधिनिषेधोभयार्पणासाचिव्येनेति । स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्य इति । प्रतीयत इति शेषः । द्रव्यत्वार्पणा-द्रव्यत्वपर्यायत्वोभयार्पणासाहाय्येन घटे कथञ्चिन्नित्यत्व-कथञ्चिदवक्तव्यत्वप्रकारकं विज्ञानमुत्पद्यते इति भावः ।

षष्ठधर्ममुपदिशति- ताभ्यां = क्रमाक्रमाभ्यां, निषेधोभयकल्पनासहकारेण = नित्यत्वनिषेध-विधिनिषेधोभयभजनासमवधानेन, स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च । संवेद्यत इति शेषः । पर्यायत्वविवक्षा-द्रव्यत्वपर्यायत्वोभयविवक्षासंपातेन घटे स्यादनित्यत्व-स्यादवक्तव्यत्वप्रकारकं प्रत्यक्षं जायत इत्यभिप्रायः ।

सप्तमधर्मं निर्दिशति- ताभ्यां = क्रमाक्रमाभ्यां, उभयकल्पनासहकारेण = नित्यत्वविधि-नित्यत्वनिषेध-नित्यत्वविधि-निषेधोभयकल्पनासन्निधानेन, स्यान्नित्यः स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्चेति । साक्षात्क्रियत इति शेषः । द्रव्यत्वापेक्षया पर्यायत्वापेक्षया द्रव्यत्वपर्यायत्वोभयापेक्षया च घटः कीदृशः ? इति मीमांसायां सत्यां स्यान्नित्यत्वाऽनित्यत्वाऽवक्तव्यत्वत्रितयप्रकारको बोधो जायते, तादृशमीमांसाऽऽहितक्षयोपशमजन्यबोधविषयत्वात् तादृशधर्मस्येति भावः ।

अत्रापि = चरमधर्मत्रिकेऽपि, समुदायाऽवलम्बिनी - पूर्वोक्तधर्मचतुष्कसमूहनिमित्तिका, शङ्का प्रागवन्निरसनीयेति । अयं भावः अत्र स्यादियं शङ्का यदुत स्यान्नित्यत्वाऽवक्तव्यत्वधर्मस्य प्रथमचतुर्थधर्मसमुदायेनैवोपपत्तौ किमर्थकं पञ्चमधर्मकल्पनम् ?

☐ घट कथंचित् नित्य और कथंचित् अवक्तव्य - स्यात्वादी ☐

क्रमाक्र. इति । इस तरह क्रमशः विधि और युगपत् विधिनिषेध उभय की अर्पणा होने पर ‘घट कथंचित् नित्य और कथंचित् अवक्तव्य है’ ऐसी प्रतीति होती है । घट में द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्यत्व और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा अवक्तव्यत्व धर्म रहता है । यह पाँचवा धर्म है । इस तरह क्रमशः निषेध कल्पना और युगपत् उभयकल्पना के सहकार से ‘घटः स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यः’ ऐसा प्रत्यक्ष होता है । अर्थात् पर्यायत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में कथंचित् अनित्यत्व और कथंचित् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है । यह छठा धर्म है । इस तरह क्रमशः विधि की और निषेध की कल्पना तथा युगपत् उभय की अर्पणा होने पर ‘घटः स्यान्नित्यः स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च’ ऐसा साक्षात्कार होता है । मतलब कि द्रव्यत्व की अपेक्षा, पर्यायत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में कथंचित् नित्यत्व, कथंचित् अनित्यत्व और कथंचित् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है । यह ७ वाँ धर्म है ।

❀ अन्तिम तीन धर्म का समावेश पूर्व धर्म में नहीं हो सकता - स्यात्वादी ❀

अत्रापि, इति । यहाँ यह शंका हो कि —> “पाँचवें धर्म का निर्वाह तो प्रथम और चतुर्थ धर्म के समुदाय से ही हो जायेगा । इस तरह छठे धर्म की उपपत्ति तो मिलित द्वितीय और चतुर्थ भंग से ही हो सकेगी । तथा सप्तम धर्म का

न च विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादधिकृत्यमाशङ्कनीयम्, तथाप्येतत्कृतपरिणत्य-
नतिरेकात् ।

✽ नयलता ✽

एवं स्यादनित्यत्वाऽवक्तव्यत्वधर्मस्याऽपि द्वितीयचतुर्थधर्मकलापेनैव निर्वाहसंभवात् षष्ठधर्मकल्पनमपि अनतिप्रयोजनमेव । अत एवा-
तिरिक्तसप्तधर्मकल्पनाऽपि निष्प्रयोजना, तृतीयचतुर्थाभ्यां समुदितधर्माभ्यामेव तत्प्रतीत्युपपत्तेरिति । इयञ्च शंका निरस्तैव प्रागुक्त-
रीत्या । तथाहि - समुदितयोः प्रथमचतुर्थधर्मयोः द्वितीयचतुर्थधर्मयोः तृतीयचतुर्थधर्मयोश्च यथाक्रमं पञ्चमषष्ठसप्तधर्मैर्भ्यो विल-
क्षणत्वेन प्रतीतेः प्रकृतधर्मकल्पनाया आवश्यकत्वात् । यद् यतो विलक्षणत्वेन प्रतीयते तत्ततोऽतिरिच्यते यथा घटात्पटः । तथा
चैते, तस्मात् तथेति सप्तधर्मकल्पना युक्तैवेति सिद्धम् । नयमतभेदेन विशेषस्तु प्रागुपदर्शितप्रकारेण स्वयमुन्नेय इत्यलं चसूर्या ।

न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात् = एकतरपक्षपानियुक्तिशून्यत्वात्,
आधिक्यं = सप्तधर्मातिरेक इति । अयं शङ्काकृदभिप्रायः तृतीयधर्मे यत्तावदुक्तं 'क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेण घटः स्यान्न-
ित्यत्वविशिष्टाऽनित्यत्ववान्' तत्र मयाऽप्येवं वक्तुं शक्यते यदुक्तं क्रमिकनिषेधविध्यर्पणासाचिव्येन घटः स्यादनित्यत्वविशिष्टनित्य-
त्वाश्रयः । न चात्र विनिगमकमस्ति किञ्चित्, विनिगमनाविरहेण कथञ्चिन्नित्यत्वविशिष्टानित्यत्वधर्म इव स्यादनित्यत्वविशिष्टनित्य-
त्वमप्यवधमभ्युपेयं स्वाद्धादिभिः भवद्भिः । एवमेव क्रमाक्रमाभ्यां विध्युभयकल्पनासहकारेण घटे स्यान्नित्यत्वविशिष्टाऽवक्तव्यत्ववत्
अक्रमक्रमाभ्यामुभयविध्यर्पणासंपातेन स्यादवक्तव्यत्वविशिष्टनित्यत्वमभ्युपेयम् । तथा क्रमाक्रमाभ्यां निषेधोभयकल्पनासहकारेण
घटे स्यादनित्यत्वविशिष्टावक्तव्यत्वधर्मकल्पनावत् अक्रमक्रमाभ्यामुभयनिषेधभजनासमवधानेन घटे स्यादवक्तव्यत्वविशिष्टानित्यत्व-
धर्माभ्युपगमस्याऽपि न्याय्यत्वात् । एवमेव ताभ्यामुभयसहकारेण स्यान्नित्यत्वाऽनित्यत्वविशिष्टाऽवक्तव्यत्वधर्मकल्पनेव स्यादनित्य-
त्वानित्यत्वविशिष्टाऽवक्तव्यत्वधर्मस्य स्यादवक्तव्यत्वानित्यत्वविशिष्टानित्यत्वस्य स्यादवक्तव्यत्वाऽनित्यत्वविशिष्टनित्यत्वस्य स्यान्नित्यत्वाऽ-
वक्तव्यत्वविशिष्टाऽनित्यत्वस्य स्यादनित्यत्वाऽवक्तव्यत्वोभयविशिष्टनित्यत्वस्याऽप्यभ्युपगमप्रसङ्गात् । ततश्च नित्यत्वमधिकृत्य त्रयोदश-
धर्मकल्पनाऽऽपातेन त्रयोदशमङ्गीप्रसङ्गात् ।

स्याद्वादी तत्समाधानमाह- तथापीति । तद्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेऽपीति । एतत्कृतपरिणत्यनतिरेकात् =
तादृशार्पणाप्रयुक्तपरिणामाभिन्नत्वात्, अधिकषड्धर्माणामिति शेषः । अयं समाधानाभिप्रायः तादृशधर्मचतुष्टके विशेषणविशेष्य-
भावविनिगमनाविरहेऽपि न विलक्षणविशेष्यभावापन्ना धर्माः तदतिरिक्ताः, वाचकभेदेऽपि वाच्यपरिणामाऽवैचित्र्यात् । यथा भूतले
संयुक्तघटपटसत्त्वदशायां 'घटविशिष्टपटः पटविशिष्टघटो वा भूतलनिरूपितवृत्तितावान् ?' इत्यत्र विनिगमकाभावेऽपि तत्परिणामा-
भेदः तथैव प्रकृते तथाविधविनिगमकाभावेऽपि तत्परिणामा नातिरिच्यन्ते, यथाक्षयोपशमं तथाविधविशेषणविशेष्यभावावगाहि-
बोधस्येष्टत्वात् वाच्याऽभेदेऽपि वाचकभेदस्य व्यवहारनयमतप्रसिद्धत्वात् ।

समर्थन तृतीय और चतुर्थ धर्म के समूह से ही संभव है । अतः प्रथम चार धर्म से अतिरिक्त अंतिम तीन धर्म की घट
में कल्पना नहीं करनी चाहिए" <- तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि संमिलित प्रथम और चतुर्थ धर्म
विलक्षणरूप से पाँचवें धर्म में स्थापित होते हैं । द्वितीय और चतुर्थ धर्म का समूह विशेषरूप से छठे धर्म के रूप में प्रतीत
होते हैं । तृतीय और चतुर्थ धर्म का समुदाय भिन्नरूप से ७ वें धर्म के स्वरूप में सिद्ध होता है । पूर्व चार धर्म उसीरूप
से चरम तीन धर्म के स्थान में ज्ञात नहीं होते हैं । पूर्वोत्तर धर्मों में अविलक्षण प्रतीति न होने से उत्तर तीन धर्म पूर्व
धर्मों से स्वतंत्र हैं - यह सिद्ध होता है ।

✽ विशेषण-विशेष्यभाव में विनिगमक न होने पर भी परिणाम आमेला - स्यादपि ✽

न च विशे. इति । यहाँ यह दहशत हो कि -> "अन्तिम तीन भंग में विशेषण-विशेष्यभाव में विनिगमनाविरह
होने से गौरव दोष प्रसक्त होगा । मतलब कि पाँचवा धर्म कथंचित् नित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व माना जाय या कथंचित्
अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व माना जाय ? - इस विषय में दोनों पक्ष में से एक पक्ष में भी बलवान् युक्ति न होने से दोनों
का स्वीकार करना पड़ेगा । इसी तरह छठा धर्म कथंचित् अनित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व माना जाय या कथंचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट
अनित्यत्व माना जाय ? यहाँ एक भी पक्ष में बलवान् युक्ति न होने से दोनों का स्वीकार करना होगा । इस तरह सातवें
धर्म में भी यही विनिगमनाविरह होने से अनेक धर्मों का स्वीकार करना होगा । जिसके फलस्वरूप में केवल सात धर्म
नहीं किन्तु सात से भी ज्यादा धर्म की आपत्ति नित्यत्व को केन्द्र में रखने पर उपस्थित होगी । अतः केवल सात धर्म
का ही प्रतिपादन करना असंगत है" <- तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि विशेषण-विशेष्यभाव में विनिगमनाविरह
होने पर भी तादृश अर्पणाकृत परिणामविशेष में भेद नहीं होता है । जैसे भूतल में घट और पट संयुक्त होने पर भूतल

‘नित्यानित्यत्वादयो जात्यन्तररूपा अखण्डा’ इत्याद्याहः । अत एवाऽमून् धर्मानिवलम्ब्य तत्र तथोक्ता सप्तभङ्गी सङ्गतिमङ्गति ।

अथ केयं सप्तभङ्गीति चेत् ? एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यन्तयोगवशाद्विरोधेन व्यस्तयोः

*** गायलता ***

अत्रैवाऽन्यमतमाह- नित्यानित्यत्वादयो जात्यन्तररूपा इति । आदिशब्देन सदसत्त्वादेर्ग्रहणम् । अन्येषामयमभिप्रायः तृतीयपञ्चमादिधर्माणां न सखण्डोपाधित्वं येन विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहप्रसङ्गः किन्तु जातित्वमेव । जातित्वावच्छिन्नस्याऽखण्डत्वादेव = तद्गुणविनिगमनाविरहप्रसङ्गः । भेदभेदवत् नित्यानित्यत्वादयोऽपि जात्यन्तररूपा एवोपगन्तुमर्हन्ति ।

इदन्तु ध्येयम् - सर्वथा जात्यन्तरत्वमपि न युज्यते, तदंशनिबन्धनविशेषप्रतिपत्तेरभावप्रसङ्गात् । न चासावस्ति, सदसदुभयात्मके वस्तुनि स्वरूपादिभिः सत्त्वस्य पररूपादिभिरसत्त्वस्य च तदंशस्य विशेषप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य सुनयप्रतीतिनिश्चितस्य प्रसिद्धेः, दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवे शनके तदंशद्वयविशेषप्रतिपत्तिवत् । न चैवं जात्यन्तरमेवोभयात्मकमिति वाच्यम्, सर्वधोभयरूपत्वे जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात्, पानकवदेव । ततः कथञ्चिज्जात्यन्तरत्वमुपेयमिति सूचनार्थं ‘आहु’ रित्युक्तम् । न च तथापि शब्द-समभिरूढेवम्भूतनयमते तु विशेषण-विशेष्यभावभेदेऽष्टमादिभङ्गप्रसङ्गो दुर्निवार इत्यारैकणीयम्, तन्मते आद्य-भङ्गद्वयस्यैवोपगमात् । सुस्पष्टञ्चेतत् तत्त्वं वादमहार्णवे । न चैवमपि अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्याऽष्टमोऽपि विकल्पः किमिति नाऽङ्गीक्रियत इति शङ्कनीयम्, तत्परिकल्पननिमित्तविरहात्, सावयवात्मकस्य निरवयवात्मकस्य चाऽन्योन्य-निमित्तकस्य जिज्ञासायां चतुर्थादि-प्रथमादिविकल्पानामेव प्रवृत्तेः । तथाहि - क्रमेण धर्मद्वयं गुणप्रधानभावेन प्रतिपादने प्रथम-द्वितीयभङ्गौ, क्रमेण प्राधान्येनाऽभिधित्वायां प्रथम-द्वितीयसंयोगनिष्पन्नः तृतीयः, युगपत् प्राधान्येन विवक्षायां चतुर्थः, एकं विभज्याऽपरञ्चाऽविभज्यार्णवायां प्रथम-चतुर्थनिष्पन्नः पञ्चमः, द्वितीय-चतुर्थसमुपजातः षष्ठो वा, द्वौ देशौ विभज्य चतुर्थञ्चाऽविभज्य प्रतिपिषादयिषायां प्रथम-द्वितीय-चतुर्थसंयोगोत्पन्नः सप्तमो भङ्ग एव प्रवर्तते । तृतीयादिदेशोपादानेऽपि द्वित्र्यादीनामेक-विभाजकोपरागपर्यवसानात्र सप्तमाद्यतिक्रमः, एककरदण्डसंयोगे करद्वयदण्डसंयोगे वा दण्डित्वाविशेषात् । ‘तथाप्यनेकान्त उद्भूत-द्वित्वादिविवक्षया स्यादेव विशेष’ इति चेत् ? तर्हि स्यादेव भङ्गावान्तरभेदोऽपि । अत एव द्वादशारनयचक्रादी श्रीमल्लवादिस्मृति-प्रभृतिभिः कोटिशो भङ्गा अभिहिता । न चैवं सप्तभङ्गव्याघात इति वाच्यम्, विभाजकोपाध्यनतिक्रमात्, उपधेयसाङ्ख्येऽप्युपाध्यसाङ्ख्यां विभागव्याघात इति तात्पर्येणाऽऽह- अत एवेति ।

मध्यस्थः शङ्कते - अथेति । का = कीदृशी इयं सप्तभङ्गी ? अत्र प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रमेवोपदर्शयति -

में घटविशिष्ट पट को माना जाय या पटविशिष्ट घट को माना जाय ? इसमें कोई विनिगमक न होने से भूतल में दोनों को माने जाते हैं फिर भी तथाविध परिणाम में, जो घटादि में रहता है, कोई भेद नहीं होता है । इसी तरह यहाँ घट में कथंचित् नित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व माना जाय या कथंचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व माना जाय ? इस विवाद का कोई समाधान न होने पर भी घट में रहा हुआ वह परिणाम तो एक ही है । अतः आप उसे कथंचित् नित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व कहो या कथंचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व कहो, केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं । अतः नित्यत्व को केन्द्र बनाने पर सात धर्म से अधिक धर्म का अवकाश नहीं है ।

ॐ नित्यानित्यत्व आदे धर्म जातिविशेषात्मक - एकदेशीमत ॐ

नित्या. इति । व्याख्याकार श्रीमदजी उपर्युक्त विशेषणविशेष्यभावविषयक विनिगमनाविरह दोष का निवारण अन्य विद्वानों के मुख से कराते हैं । अन्य विद्वान मनीषिओं का यह कथन है कि —> ‘नित्यानित्यत्व सखण्डोपाधिस्वरूप नहीं है, किन्तु जातिविशेषात्मक ही है । जाति सदा के लिए अखण्ड होती है, सखण्ड नहीं । अतः कथंचित् नित्यत्वविशिष्टावक्तव्यत्व या कथंचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व - ऐसा विशेषणविशेष्यभावविषयक विनिगमनाविरह नहीं है’ <— । यह अन्य विद्वानों का कथन है । प्रत्येक वस्तु में उपर्युक्त रीति से जो सात धर्म सिद्ध होते हैं, इनका अवलंबन कर के ही अनेक स्थान में बताई हुई सप्तभङ्गी की संगति होती है । नित्यत्व को केन्द्र में रखने पर सात धर्म ही संभव है, न तो न्यून और न तो अधिक । इसलिए अन्यत्र भी सप्तभङ्गी का ही प्रतिपादन किया गया है त्रिभङ्गी या अष्टभङ्गी आदि का नहीं ।

ॐ सप्तभङ्गीत्वव्यपत्तिरेकार ॐ

यहाँ यह प्रश्न हो कि —> ‘यह सप्तभङ्गी क्या है ?’ जिसके विषय में आप यह लंबा-चौड़ा निरूपण करते हैं ?

समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गीति सूत्रम्

❀ जयलता ❀

एकत्रेति । प्रकृते 'एकत्र वस्तुनी'त्यत्र सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । 'एकैकधर्मपर्यनुयोगवशादि'त्यत्र पञ्चम्यर्थः प्रयोज्यत्वम् । 'अविरोधेने'ति तृतीयार्थो वैशिष्ट्यरूपमवच्छिन्नत्वम् । 'विधिनिषेधयो'रित्यत्र सप्तम्यर्थः विषयत्वं, अन्यथ तस्य कल्पनापदार्थे । 'कल्पनये'त्यत्र तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम् । 'सप्तधे'ति सप्तविधः । 'संज्ञायाः' पर्याप्तिसाधनेनाऽन्यबोधे साकाङ्क्षत्वात् प्रकृते एक-वस्तुविषयकैकैकधर्मगोचरप्रश्नप्रयुक्तविरुद्धव्यस्तसमस्तविधिनिषेधविषयककल्पनाप्रयुक्त-स्यात्पदलाञ्छितसप्तविधत्वपर्याप्तिमद्वचनप्रयोगः सप्तभङ्गीति श्रीवादिदेवसूरिसूत्रशब्दार्थः ।

अत्र श्रीरत्नप्रभाचार्यकृतव्याख्यालेश एवम् → "एकत्र जीवादौ वस्तुन्येकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशादविरोधेन प्रत्यक्षादि-बाधपरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैः वचनविन्यासः सप्तभङ्गी विज्ञेया । भज्यन्ते भिद्यन्तेऽर्थाः यैस्ते भङ्गाः = वचनप्रकाराः । ततः सप्तभङ्गाः समाहृताः सप्तभङ्गीति कथ्यते । नानावस्त्वाश्रयविधिनिषेधकल्पनया शतभङ्गीप्रसङ्गनिवर्तनार्थमेकत्र वस्तुनीत्युपन्यस्तम् । एकत्राऽपि जीवादौ वस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानानन्तधर्मपर्यालोचनयाऽनन्तभङ्गीप्रसक्तिव्यावर्तनार्थमेकैकधर्मपर्यनुयोगवशादित्युपात्तम् । अनन्तेष्वपि हि धर्मेषु प्रतिधर्म पर्यनुयोगस्य सप्तधैव प्रवर्तमानत्वात् तत्प्रतिवचनस्याऽपि सप्तविधत्वमेवोपपन्नमित्येकैकस्मिन् धर्मे एकैकैव सप्तभङ्गी साधीयसी । एवञ्चाऽनन्तधर्मापेक्षया सप्तभङ्गीनामानन्त्यं यदायाति तदभिमतमेव । एतच्चाऽग्रे सूत्रत एव निर्णेष्यते । प्रत्यक्षादि-विरुद्धसदाद्येकान्तविधिप्रतिषेधकल्पनयाऽपि प्रवृत्तस्य वचनप्रयोगस्य सप्तभङ्गीत्वाऽनुषङ्गभङ्गार्थमविरोधेनेत्युक्तम्" ← (प्र.न.त. ४/१५ रत्ना.अव.)

'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी'ति दिगम्बरीयलक्षणम् ।

प्रकरणकारो न्यायविशारदस्तु अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे → "एकत्र वस्तुनि सत्त्वाऽसत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकता-पर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गीति लक्षणतात्पर्यम् । विरोधस्फूर्ती वाक्यस्याऽबोधकत्वेनैव 'अविरोधेने'त्यस्य गतार्थत्वात् । प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाच्छिष्यजिज्ञासयेव क्वचिद् गुरोर्जिज्ञापयिष्येव सप्तभङ्गीप्रयोगसङ्गतेः 'प्रश्नवशादि'त्यस्याऽपि लक्षणेऽप्रवेशात् । नानावस्तुनि सत्त्वाऽसत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणाय 'एकत्र वस्तुनी'ति । एकत्र रूपरसादिधर्मसप्तकबोधकेऽति-प्रसङ्गवारणाय 'सत्त्वाऽसत्त्वादी'ति । खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिः । प्रमाणसप्तभङ्गीवन्नयसप्तभङ्ग्या अपि लक्ष्यत्वान्न तत्राऽ-तिव्याप्तिः । प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः पृथक् पृथक् लक्ष्यत्वे तु सकलादेशत्व-विकलादेशत्वे विशेषणे देये । एकत्र वस्तुन्येक-पर्यायनिरूपितविधिनिषेधकल्पनामूलसप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गी, धर्मिणो देशसर्वभेदेनैक-द्विबहुवचनान्ततया चरमपदोन्नीत्या बहुभेदसम्भवेऽपि फलीभूतबोधे सप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यताया अक्षतत्वान्नाऽव्याप्तिरित्यपि केचित्" ← (अ.स.वि.परि.१।श्लो. १४/पृ.१८६) इति विवृतवान् ।

सप्तभङ्गीतरङ्गिणीकार आशाम्बरो विमलदासस्तु "प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति, एकवस्तुविशेष्यकाऽविरुद्धविधिप्रति-

← तो इसका समाधान देने के लिए व्याख्याकार श्रीमद्गुजी प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार शास्त्र के सूत्र को बताते हैं । इस सूत्र का अर्थ यह है कि - एक ही वस्तु में एक-एक धर्मसंबंधी प्रश्न के सबब, प्रत्यक्षादि प्रमाण का विरोध न हो इस तरह, पृथक् या स्वतंत्र विधि-निषेध की कल्पना से स्यात् पद से युक्त सात प्रकार के वचनप्रयोग के समूह को सप्तभङ्गी कहते हैं । पाठकों की सुगमता के लिए यहाँ एक ही स्थल पर सात भंग का संक्षेप से निरूपण किया जाता है । (१) घट में कथंचित् = द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्यत्व है, (२) कथंचित् = पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्यत्व है, (३) क्रमशः द्रव्यत्व-पर्यायत्व की अपेक्षा स्यात्नित्यत्वाऽनित्यत्व है, (४) एक की काल में द्रव्यत्व-पर्यायत्व की अपेक्षा से विचार करने पर घट में 'स्यात्अवक्त-व्यत्व धर्म रहता है (५) द्रव्यत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में स्याद् नित्यत्व और स्याद् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है, (६) पर्यायत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में स्याद् अनित्यत्व और स्यात् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है (७) क्रमशः पृथक् पृथक् द्रव्यत्व और पर्यायत्व तथा युगपत् द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में स्याद् नित्यत्व, स्यात् अनित्यत्व और स्याद् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है । जिसे इन ७ धर्मों के विषय में संशय होता है कि - घट सर्वथा नित्य ही होगा ? या अनित्य भी ? इत्यादि, उस पुरुष को घट में रहे हुए इन ७ धर्मों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है । यह तो स्वाभाविक ही है कि जिस पुरुष को जिन धर्मों की जिज्ञासा होती है वह या तो स्वयं विचारविमर्श-कर के

[प्र.न.त.परि. ४/सू. १४] । यः खलु प्रागुपदर्शितान् वस्तुनः सप्तधर्मानवलम्ब्य संशेते, जिज्ञासते, पर्यनुयुङ्गते च तं प्रतीयं फलवती, प्रश्नस्य तुल्योत्तरनिवर्त्यत्वात् । अत एवैकेनाऽपि भङ्गेन न्यूना सतीयं न प्रमाणम्, स्वद्रव्याद्यवगति-संशयज-जिज्ञासाजन्यानां सप्तानां प्रश्नानाम-निवर्तनात् ।

॥ नयत्तम् ॥

षेधात्मकधर्मप्रकारकबोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तिसमुदायत्वम्' (स.मं.त.पृ. ३) इति सप्तभङ्गीलक्षणं दर्शितवान् ।

‘विधिनिषेधाद्येणवा प्रतिपर्यायं वस्तुनि सप्तैव भङ्गाः’ इति नियमः प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात्, तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधजिज्ञासानियमान्, तासामपि च सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात्, तस्याऽपि सप्तप्रकारकत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति न स्वाश्रय-परस्परश्रय-चक्रकादिदोषपङ्क्तिव्यमित्याशयेनाऽऽह-यः खलु प्रागुप-दर्शितान् वस्तुनः सप्तधर्मानवलम्ब्य संशेते इति । तं प्रतीयं सप्तभङ्गी फलवती, न त्वसंशितजिज्ञासितपर्यनुयुक्तवन्तं पुरुषं प्रत्यपि, हेतुमाह- प्रश्नस्य = पर्यनुयोगस्य, तुल्योत्तरनिवर्त्यत्वात् = समानप्रकारकप्रत्युत्तरणैव निवृत्तेः, अन्यथा ‘आम्नान् पृष्टः कोविदारामाचष्टे भवानि’ति न्यायापातः स्यात् । वस्तुतोऽत्र शङ्कादिकं भङ्गप्रयोजकं न तु क्वचिदपि भङ्गे विषयावच्छेदकं, स्वद्रव्यादीनामेव तत्त्वस्याऽभियुक्तैरुक्तत्वात् ।

अत एव = प्रश्नस्य समानप्रकारकोत्तरनिवर्तनीयत्वादेव, एकेनाऽपि भङ्गेन = सप्तविधान्यतमभङ्गेन न्यूना सती इयं सप्तभङ्गी न प्रमाणम् । हेतुमाह - सप्तेति । अयं भावः सप्तविधसंशयजिज्ञासानिवर्तकशब्दबोधजनकतापर्याप्तिसमूह वाक्यमेव त्रिविधधर्मविषयकपूर्णबोधकृत् । अत एव सप्तभङ्गात्मकं प्रमाणमित्युच्यते । सप्तविधभङ्गाऽन्यतमभङ्गविकलतायां सत्यां सप्त-विधप्रतिपाद्यधर्मविषयकसंशयानां तज्जन्यसप्तजिज्ञासानां तदुत्पन्नसप्तप्रश्नानां च ‘एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ती’ति न्यायेन निवर्तनं न स्यात् । तादृशसंशयाद्यनिवर्तकत्वे कुतः तत्प्रामाण्यम् ? इदमेवाऽभिप्रेत्य नयोपदेशे ‘सप्तभङ्गात्मकं वाक्यं प्रमाणं पूर्ण-बोधकृत् । स्यात्प्रदादपरोक्षेणैव वचो यच्चैकधर्मगम्’ ॥ (नयो. श्लो. ६) इति प्रकरणकृद्भिरुक्तम् । अत्र च विषये साम्प्रदायिकमत-भेदतन्निराकरणं तदर्थिभिः तद्वृत्तितोऽवसेयम् ।

अथ प्रकृते सांपयोगित्वात् सप्तभङ्गीविषयाणि प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्राणि प्रदर्श्यन्ते । तथाहि - तद्यथा स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः (प्र.न.त. ४/१५) स्याद्वास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः । १६।

अपनी जिज्ञासा को शांत करता है, या तो उस विषय के ज्ञाता पुरुष को प्रश्न करता है कि - ‘यह वस्तु ऐसी है या नहीं ?’ इत्यादि । इसी तरह प्रस्तुत उपर्युक्त ७ धर्मों का जिज्ञासु पुरुष भी सप्तभंगी के ज्ञाता को प्रश्न करता है कि - ‘यह सर्वथा नित्य है या अनित्य भी ?’ इत्यादि । इस तरह प्रश्न करने वाले पुरुष के प्रति सप्तभंगी का ज्ञाता पुरुष सप्तभंगी का प्रयोग कर के उसकी जिज्ञासा का शमन करता है, क्योंकि समानविषयक प्रत्युत्तर से ही प्रश्न का समाधान होता है । जिसे कभी भी ‘यह नित्य है या अनित्य ? ऐसी शंका ही नहीं हुई है, उसे उस विषय में जिज्ञासा भी नहीं होती है, तब वह इन सात धर्म के विषय में प्रश्न भी कैसे करेगा ? तथा प्रश्न न करने वाले पुरुष के प्रति सप्तभंगी का ज्ञाता पुरुष सप्तभंगी का प्रयोग क्यों करेगा ? बिना पूछे बोलने वाला मूर्ख समझा जाता है । अतएव उन सात धर्मों के विषय में शंका और जिज्ञासा होने के बाद प्रश्न करने वाले पुरुष के प्रति ही यह सप्तभंगी सफल है । जिसे स्वप्न में भी इन सात धर्म के विषय में संशय-जिज्ञासा नहीं हुई है, वह इन विषय में प्रश्न भी नहीं करता है । अतएव उसके प्रति यह सप्तभंगी सफल नहीं है । कभी गुरुदेव भी वस्तुगत सात धर्मों का बोध कराने के लिये सप्तभंगी बताते हैं - यह ख्याल में रहे ।

ॐ एक भी भंग तो शून्य सप्तभंगी प्रमाण नहीं है ॐ

अत एव, इति । प्रश्न का समाधान प्रश्न जिस विषय में होता है, उस विषय में प्रत्युत्तर देने से होता है, न कि अन्य विषय में प्रत्युत्तर से । इसलिए जिसे वस्तु के उपर्युक्त सात धर्म के विषय में संशय-जिज्ञासा है और सात धर्म के विषय में आप्त पुरुष को प्रश्न करता है उसके प्रति यदि आप्त पुरुष एक भी भंग से न्यून सात भंगों का प्रयोग करेगा तब वह सप्तभंगी प्रमाण नहीं हो सकती । प्रमाण से तो संशय जन्य जिज्ञासा का शमन होता है । सात धर्म विषयक प्रश्न करने पर छ या पाँच धर्मसंबंधी जवाब देने पर पूछक की पृच्छा का समाधान कैसे होगा ? जिस प्रत्युत्तर से अपने सात प्रश्नों की निवृत्ति न हो, उसे प्रमाण कहना कैसे मुनासिब होगा ? अतः यह सिद्ध होता है कि संपूर्ण सप्तभंगी का

यथा च सामान्यतः शब्दः सर्ववाचकोऽपि संकेतविशेषं सहकृत्याऽन्वयं बोधयति तथे-
यमपि अर्पणाविशेषसहकृत्वरी सतीति ।

❀ नवमः ❀

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । १७। स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद् विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । १८। स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । १९। स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । २०। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति । २१। विधिप्रधान एव ध्वनिर्निति न साधु । २२। निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसङ्गः । २३। अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्त इत्यप्यसारम् । २४। क्वचित्कदाचित्कथञ्चित्प्राधान्येनाऽप्रतिपत्तस्य तस्याऽप्राधान्यनुपपत्तेः । २५। निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम् । २६। क्रमादुभयप्रधान एवाऽयमित्यपि न साधीयः । २७। अस्य विधिनिषेधान्य-तरप्रधानत्वाऽनुभवस्याऽप्यबाध्यमानत्वात् । २८। युगपद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्याऽवाचक एवाऽसाधिते च न चतुरस्रन् । २९। तस्याऽवक्तव्यशब्देनऽप्यप्राधान्यप्रवृत्त्यात् । ३०। निष्ठात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्तुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोऽपि न कान्तः । ३१। निषेधात्मनः सह द्रव्यात्मनश्चाऽर्थस्य वाचकत्वाऽवाचकत्वाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् । ३२। निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्तुभयात्मनो युगपदवाचक एवाऽयमित्यप्यवधारणं न रमणीयम् । ३३। इतरथाऽपि संवेदनात् । ३४। क्रमाक्रमान्यामु-भयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चाऽवाचकश्च ध्वनिर्नान्यधेत्यपि मिथ्या । ३५। विधिमात्रादिप्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धेः । ३६। एकत्र वस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानाऽनन्तधर्माऽभ्युपगमेनाऽनन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तभङ्गीति न चेतसि निधेयम् । ३७। विधिनिषेध-प्रकाराऽपेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात् । ३८। प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात् । ३९। तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् । ४०। तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् । ४१। तस्याऽपि सप्तप्रकारकत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः । ४२। इति । प्रायशो व्याख्यातत्वात् सुगमत्वाच्च नैहैतानि विव्रियन्ते ।

ननु स्याद्वादे सर्वेषामनन्तधर्मात्मकत्वेन कुतः विशेषधर्मबोधः तदितरधर्मविनिर्माणेन सप्तभङ्ग्याऽपि भविष्यति । न हि मधुविषसंपृक्तमन्त्रं विषं परित्यज्य समधु शक्यं शिल्पिवरेणाऽपि भोक्तुमित्याशङ्क्यामाह- यथा चेति । सामान्यतः शब्दः एकोऽपि शब्दः, सर्ववाचकोऽपि = सर्वार्थवाचकोऽपि, विशेषतः संकेतविशेषं सहकृत्य = संकेतविशेषसाचिव्येन, अन्वयं बोधयति = सङ्केतितार्थविशेषविषयकान्वयबोधं जनयति । तथा इयं सप्तभङ्गी अपि अर्पणाविशेषसहकृत्वरी सती = विवक्षा-विशेषसाहाय्या सती, उपसर्जनानुपसर्जनभावेन क्रमाक्रमाभ्यां प्रातिस्विकधर्मगोचरबोधं जनयतीति शेषः । अयं भावः 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये' इतिप्रवादेनैकस्याऽपि शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वं निसर्वाधं तथापि प्रतिनियतसंकेतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थबोधं जनयति यथा गूर्जरादीं चोरशब्दस्य तस्करे द्रविडादौ पुनरोदने प्रतिनियतसङ्केतवशात्प्रतीतिरुपजायते तथेयमपि सप्तभङ्गी एकेनाऽपि भङ्गेन स्यात्पदमहिम्नाऽशेषधर्मप्रतिपादने समर्थाऽपि भजनाविशेषसहकारेण गौण-मुख्यभावेन क्रमिकाऽ-क्रमिकविवक्षितधर्मोपरागेण वस्तु बोधयति ।

प्रयोग करने पर ही वह प्रमाणभूत है, न कि अल्प भंगवाली का ।

संकेत भी शाब्दबोध में सहकारी है

यथा च. इति । यहाँ यह शंका हो कि → 'स्यात्पदगर्भित सप्तभङ्गी से अनन्तधर्मात्मक वस्तु के प्रतिनियत धर्म का बोध कैसे होगा ?' ← तो इसका समाधान यह है कि - जैसे एक ही शब्द सर्वार्थ का वाचक होने पर भी जिस व्यक्ति ने जिस अर्थ में संकेत का ग्रहण किया है उस व्यक्ति के प्रति वह शब्द तादृश संकेतित अर्थ का ही बोधक होता है ठीक वैसे ही यह सप्तभङ्गी विवक्षाविशेष के सहकार से विवक्षा के अनुसार ही आपेक्षिक धर्म का बोध कराती है । यहाँ यह कहना कि → "सप्तभङ्गी तो शब्दविशेष के समूहात्मक है । अतः सप्तभङ्गी के श्रवण से तो श्रोता को शाब्दबोध होता है । शाब्दबोध में तो शक्तिनियामक होती है, न कि इच्छा । यहाँ तो आपने विवक्षा के सहकार से आपेक्षिक धर्म का बोध होने का कहा है । मगर विवक्षा-अर्पणा भी इच्छाविशेषस्वरूप ही है । इच्छामात्र शाब्दबोध में नियामक नहीं होती है, तो इच्छाविशेषरूप अर्पणा भी कैसे शाब्दबोध में नियामक होगी ?" ← भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है

शाब्दे इच्छाया अनियामकत्वं तु दुर्बलयुक्तिकम् ।

सप्तमङ्गीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्याऽबोधकत्वं तु न वाच्यम्, 'विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभि-
दधान' इत्यनेनार्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्तनाभिधानात् ।

*** अथलता ***

ननु सप्तमङ्गी च शब्दविशेषसमूहात्मिका, शब्दश्च व्याकरणकोशादिदर्शितसङ्केतानुसारेणैवाऽर्थं बोधयति, न तु यथा-
कथञ्चिद्विचिच्छानुसारेण, शाब्दबोधस्य शब्दानुल्लिखितार्थान्वगाहित्वादित्याशङ्कयामाह- शाब्द इति । शब्दजन्यबोधे । इच्छायाः
= शब्दानुपस्थापितार्थबोधयिषायाः, अनियामकत्वं = अकारणत्वम्, इति कस्यचित् परस्य वचनं तु दुर्बलयुक्तिकम् ।
अयं भावः शब्दे द्विविधाऽर्थप्रतिपादनशक्तिः स्वाभाविकी संकेतरूपा च । स्वाभाविकं सहजं सामर्थ्यं योग्यताऽपरपर्यायं, ज्ञानस्य
ज्ञेयज्ञापनशक्तिवत् । सङ्केतश्च 'इदमस्य वाच्यमिदञ्चाऽस्य वाचकमि'त्येवंरूपः वाच्यवाचकयोर्विनिर्योगः । स यस्य पुरुषादेरस्ति
तं प्रत्येव शब्दस्याऽर्थबोधकत्वम् ।

सङ्केते क्वचिद् व्याकरणकोशादिकं नियामकं क्वचिच्च वक्तुरिच्छाऽपि, कथमन्यथा कोङ्कणादिदेशे पिचादिपदात्ययः प्रभृत्यर्थ-
बोधः स्यात् ? न च स भ्रमात्मक इति वाच्यम्, अस्वलत्प्रतीतिः । न च तत्र शक्त्यभावा-देवाऽबोधकत्वमिति शङ्कनीयम्,
तत्रापि शक्तेः महता प्रबन्धेनाऽस्माभिः 'मोक्षरत्नायां अपभ्रंशशब्दशक्त्यनङ्गीकर्तृमतचर्चणपूर्वकं व्यवस्थापितत्वात् ।

वस्तुतस्तु प्रकृते स्यात्पदस्य प्रयोगादेव न कश्चिदोपः । तदादिपदवत् स्याच्छब्दस्य स्वातन्त्र्येण बुद्धिविषयतावच्छेदका-
वच्छिन्नेऽपि शक्तिः, तद्बोधकताया वैचित्र्यादिति किं नश्छिन्नम् ? अस्माकं स्याद्वादिनां नित्यानित्याद्यनेकान्तक्रोडीकरणं विना
व्यवहारमात्रस्याऽयोगाच्छब्दत्वावच्छेदेन नित्याऽनित्याद्यनेकान्तात्मक एव शक्तिग्रहात् आद्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन जीवादिपदस्यापि
नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थ एव शक्तिर्गृह्यते इत्यानुभाविका शक्तिः । तथाऽनुभवजननेऽनेकान्तवाचकस्यादादिपदापेक्षणात्
केवलजीवादिपदाजीवाद्यर्थोपस्थितिमात्रम्, अनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थानुभवस्तु स्यात्पदसंयोगादिति सर्वं चतुरस्रम् ।

नन्वेवं सप्तमङ्गीबाह्यशब्दानामर्थबोधजनकत्वं न स्यादित्याशङ्कयामाह - सप्तमङ्गीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्य = सप्तमङ्गी-
बहिर्भूतशब्दत्वावच्छिन्नस्य, अबोधकत्वं = शाब्दबोधाऽजनकत्वं, तु न वाच्यम् । हेतुमाह - विधीति । संपूर्णं सूत्रं त्वेवम्
“सर्वत्राऽयं ध्वनिर्विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः सप्तमङ्गीमनुगच्छति” (प्र.न.त.परि.४/सू.१३)

यद्यपि रत्नाकरावतारिकायां तद्विवरणञ्चैवम् → इह यथैवान्तर्बहिर्वा भावराशिः स्वरूपमाविमर्ति तथैव तं शब्देन
प्रकाशयतां प्रयोक्तृणां प्रावीण्यमुपजायते । तं च तथाभूतं सप्तमङ्गीसमनुगत एव शब्दः प्रतिपादयितुं पटीयानित्याहुः विधीति ।
सदसन्नित्यानित्यादिसकलैकान्त-पक्षविलक्षणानेकान्तात्मके वस्तुनि विधिनिषेधविकल्पाभ्यां प्रवर्तमानः शब्दः सप्तमङ्गीमङ्गीकुर्वाण
एव प्रवर्तते इति भावः <- (रत्ना. अव.४/१३) इति तथापि विधिप्रतिषेधाभ्यामिति विशेषणोपादानेन ताभ्यां विनिर्मुक्तस्य
शब्दस्य सामान्यतः स्वार्थबोधकत्वमव्याहतमेव । सुस्पष्टञ्च सप्तमङ्गीबाह्यशब्दानां वाचकत्वं “अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं
प्रदीपवद् यथार्थावधार्यत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः” (प्र.न.त. ४/१२) इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रे तद्व्याख्यायाञ्च ।
ततो युक्तमुक्तं अर्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्तनाभिधानादिति ।

किं सामान्यतः इच्छा शाब्दबोध के प्रति कारण न होने पर भी यहाँ अन्वय-व्यतिरेक से उसमें शाब्दबोधकारणता का प्रत्यक्ष
से अनुभव होने की वजह इसका अपलाप नहीं किया जा सकता । प्रत्यक्ष सबसे बलवान् प्रमाण है । अतः प्रत्यक्ष के अनुसार
ही नियम की कल्पना करनी चाहिए । जहाँ भी प्रत्यक्ष का विरोध आदि उपस्थित हो वहाँ नियम में भी संकोच करना
आवश्यक होता है । यह तो सब विद्वान् पुरुषों को मान्य है । अतः सप्तमङ्गी स्थल के अनुरोध से अर्पणारूप इच्छाविशेष
में शाब्दबोध की कारणता का स्वीकार करना ठीक ही है । मगर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि - 'सप्तमङ्गी से अतिरिक्त
शब्दमात्र (सब शब्द) अर्थ का बोधक नहीं होगा', - क्योंकि प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार के चतुर्थ परिच्छेद के १३ वें सूत्र में
कहा गया है कि - 'सर्वत्र शब्द विधि-प्रतिषेध के द्वारा स्वार्थ (अपने अर्थ) को कहता हुआ सप्तमङ्गी में प्रवृत्त होता है' ।
इस सूत्र में ऐसा नहीं कहा है कि शब्द अपने अर्थ का बोध कराता हुआ सप्तमङ्गी में प्रवृत्त होता है, मगर 'विधि-प्रतिषेध
के द्वारा' ऐसा कहा है । इससे सिद्ध होता है कि अर्पणाविशेषस्थल में ही शाब्दबोध के प्रति इच्छा के अनुसरण का विधान

अत्र च स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तसु भङ्गेषु एवकारोऽवधारणार्थोऽन्यथाऽनुक्तसमत्वाऽऽपा-
तात् । स्यात्पदं तु तत्तदवच्छेदकरूपपरिचायकम्, तदपरिचये सांकर्यादिशङ्काऽनिवृत्तेः ।

❀ नयलता ❀

नन्वत्र प्रत्येकं भङ्ग एवकारोपादानं किमर्थं ? 'स्यान्नित्यो जीवः' इत्यादिकमेवाऽस्त्वित्याशङ्कयामाह- अत्र चेति । सप्तभङ्गेषु चेति । स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तसु भङ्गेषु एवकारः अवधारणार्थः = अनभिमतधर्मव्यावृत्तिपूर्व आपेक्षिकधर्मविनिश्च-
यार्थः । विपक्षे बाधमाह-अन्यथेति । सप्तसु भङ्गेष्वेवपदाऽप्रयोगे तु, अनुक्तसमत्वापातात् = अनभिहिततुल्यतैव तादृशवाक्यानां
प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके "वाक्येऽवधारणं तावत् अनिष्टार्थनिवृत्तये । कर्तव्यमन्य-
थाऽनुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित्" ॥ (त.श्लो.वा. १।६।५३) इति ।

ननु तथापि 'जीवो नित्य एव' इत्यादिकमेवाऽस्तु, किमर्थं स्यात्पदोपादानमित्याशङ्कयामाह- स्यात्पदं त्विति । 'स्यान्नित्यत्वा-
दिषु सप्तसु भङ्गेष्वित्यत्राऽप्यनुषज्यते । तत्तदवच्छेदकरूपपरिचायकमिति । नित्यत्वाद्यवच्छेदकीभूतद्रव्यत्वादिपरिचयजनकम् ।
परिचयस्थितिश्च न परिचायकस्थित्यर्थेनेति व्यवहारे क्वचित्तदप्रयोगेऽपि न क्षतिः, सामर्थ्यात् तत्प्रतीतेः । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके
सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्राऽर्थात्प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ (त.श्लो.वा. १।६।५६) इति । तत्तद-
वच्छेदकधर्मापरिचये का क्षतिरित्याशङ्कयामाह- तदपरिचये प्रतिनियतस्वावच्छेदकधर्मानवबोधे, सांकर्यादिशङ्काऽनिवृत्तेः ।
संकर-व्यतिकरादिसंशयाऽनिवृत्तिप्रसङ्गात् । अयं भावः 'नित्य एव जीव' इत्याद्युक्ते जीवस्य मनुष्यत्व-चैत्रत्वादिरूपेणाऽपि
नित्यत्वं प्रसज्येत । ततश्च प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः प्रत्यक्षादिविरोध-संकरादिकं च प्रसज्येताम् । ततः स्यात्पदं प्रयुज्यते सर्वत्र
प्रामाणिकाः । ततः 'कथञ्चित् = द्रव्यत्व-जीवत्वादिनैव जीवो नित्यः न तु मनुष्यत्वादिनाऽपि' इत्येवं असंकीर्णाऽबाधित-
प्रतिनियतस्वरूपप्रतीतिर्भवेत् ।

एतेन "यदि खलु भवन्तः खरोष्ट्रसूकरादिकं जिनमिव कदाचिदुपासते, पाषाणपुरीषादिकञ्च गुडदधितक्रादिवद् भक्षयन्ति
तदा न स्यादेकान्तसिद्धिः । को हि जिनस्याऽतिशयो यः खरोष्ट्रादौ नास्त्येव ? को वा खरोष्ट्रादेर्निकृष्टभावो यो नास्त्येव
जिने यतः खरोष्ट्रादिपरिहारेण स एवोपास्यते ? तथा पाषाणपुरीषादीनां को दोषो यो गुडादिषु नास्त्येव, गुडादीनां वा
कोऽतिशयो यः पाषाणादिषु नास्त्येव, यतः पाषाणादिपरिहारेण गुडादीन्येव भक्षयन्ते ? अधाऽस्त्येव कश्चिदत्रैवाऽतिशयो यद्व-
शादत्रैव प्रवृत्तिरिति न तर्हि सर्वत्राऽनेकान्तः" (न्या.भू.पृ.५५७) इति न्यायभूषणकारप्रलापः परास्तः, जिनोऽपि स्वकेवलज्ञान-
जिननामकर्मोदयाऽपेक्षया जिनः, न तु छाद्यस्थिकज्ञानाद्यपेक्षयाऽपि, अन्यथा सर्वजीवानां जिनत्वप्रसङ्गो जिनस्य वा छद्मस्थत्वप्रसङ्गः
संपत्नीपद्येत । एवं पाषाणपुरीषादीनामपि स्वरूपापेक्षायैव पाषाणादिरूपता न तु गुडादिपररूपाऽपेक्षया । ततो न भोजनार्थिनां
मनुष्याणां पाषाणादीं प्रवृत्तिप्रसङ्गः । न चैवमेकान्तवादप्रवेशः, सम्यगेकान्ताऽविनाभावित्वादानेकान्तस्येत्यसकृदुक्तत्वात् ।

अत एव "निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाऽविशेषात्, 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ती'त्यादि-
विकल्पोपनिपातादनिर्धारणतात्मकतैव स्यात् । एवं निर्धारयितुः निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तिनेति ।
एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृ-प्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात् ? कथं वा तदभिप्रायानुसारिणः

किया जाता है, न कि सामान्यरूप से । सप्तभंगी से बहिर्भूत लौकिक-व्यावहारिक शब्द से जन्य बोध के प्रति इच्छा की
कारणता का स्वीकार नहीं करने में तादृश शब्द में अर्थबोधजनकता के अभाव का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित नहीं होगा ।

❀ सप्तभंगी में एवकार और स्यात्कार का प्रयोजन ❀

अत्र च, इति । सप्तभंगी के प्रत्येक भंग में जो 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह अवधारण के लिए किया
जाता है । जैसे कि - 'जीवः स्यात् नित्य एव' इत्यादि में यदि एवकार का प्रयोग न किया जाय तो जीव में विवक्षित
धर्म = द्रव्यत्व की अपेक्षा से नित्यत्व का बोध होने पर द्रव्यत्व की अपेक्षा से ही अनित्यत्व के अभाव का भान नहीं
होगा । अत एव इन भंगों में प्रत्येक में एवकार का प्रयोग किया जाता है, जिससे अनभिमत अर्थ का निषेध होता है ।
उसका प्रयोग न करने पर तो वस्तु के अनभिमत स्वरूप का निराकरण न होने से वस्तु का प्रतिनियतस्वरूप से अभिधान
नहीं होगा । फलतः वस्तु अभिहित = कथित होने पर भी अनभिहित = अकथित के तुल्य हो जायेगी । अतः प्रत्येक
भंग में एवकार का प्रयोग वस्तु के अनभिमत स्वरूप के निराकरणपूर्वक अभिमतवस्तुस्वरूप के निर्णय के लिए आवश्यक

* गद्यलता *

तदुपदिष्टेऽर्थे निर्धारितरूपे प्रवर्तेरन् ? ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते, नाऽन्यथा । अतश्चाऽनिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन् मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्' (ब्र.सू.२।२।३३-शं.भा.) इति ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यवचनमपि प्रत्युक्तम्, वस्तुस्वरूपान्यथानुपपत्त्या स्वपरपर्यायात्मकत्वेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वाऽभ्युपगमात् 'अनेकान्तस्याऽपि स्यात्कारलांछनैकान्तगर्भस्य अनेकान्तस्वभावत्वात्' (सं.त.३।५।२७।६३८ पू.) इति बादमहार्णववचनात् । शङ्करस्याऽपि 'नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं' (क.मं.सू.१० सूत्र-१२१) इति ऋग्वेदवचनस्य, 'मच्चाऽसच्चाऽहमर्जुन ! (भ.गी.१९।९) इति भगवद्गीतावचनस्य, 'न बद्धोऽस्मि न मुक्तोऽस्मि' (महोप.६/६८) इति महोपनिषद्वचनस्य, 'नान्तःप्रज्ञो न बहिःप्रज्ञो नोभयतः प्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाऽप्रज्ञः' (सु.३५ पू.) इति सुबालोपनिषद्वचनस्य, 'नैव चिन्त्यं न चाऽचिन्त्यं अचिन्त्यं चिन्त्यमेव च' (ब्र.विं.उप.६) इति ब्रह्मविन्दूपनिषद्वचनस्य, 'मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि, मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा' (मै.उप. ३।२२) इति मैत्रेय्युपनिषद्वचनस्य विरोधपरिहारे भगवतोऽनेकान्तवादस्यैव शरणीकरणीयत्वादिति 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापातः ।

यच्च शान्तरक्षितेन तत्त्वसङ्ग्रहे

“तत्राऽप्यविकृतं द्रव्यं पर्यायैर्यदि सङ्गतम् । न विशेषोऽस्ति तस्येति परिणामि न तद्वेत् ॥

स्वभावाऽभेद एकत्वं तस्मिन् सति च भिन्नता । कथञ्चिदपि दुःसाधा पर्यायात्मस्वरूपवत् ॥

अगौणे चैवमेकत्वे द्रव्यपर्याययोः स्थिते । व्यावृत्तिमद् भवेद् द्रव्यं पर्यायाणां स्वरूपवत् ॥

यदि वा तेऽपि पर्यायाः सर्वेऽप्यनुगतात्मकाः । द्रव्यवत् प्राप्नुवन्त्येषां द्रव्येणैकात्मका स्थितेः ॥

ततो नाऽवस्थितं किञ्चिद् द्रव्यमात्मादि विद्यते । पर्यायाऽव्यतिरिक्तत्वात् पर्यायाणां स्वरूपवत् ॥

न चोदयव्ययाक्रान्ताः पर्याया अपि केचन । द्रव्यादव्यतिरिक्तत्वात्तद्द्रव्यनियतात्मवत् ॥

ततो निरन्वयो ध्वंसः स्थिरं वा सर्वमिष्यताम् । एकात्मनि तु नैव स्तो व्यावृत्त्यनुगमाविमौ ॥

न चोपलभ्यरूपस्य पर्यायानुगतात्मनः । द्रव्यस्य प्रतिभासोऽस्ति तन्नास्ति गगनाब्जवत् ॥

विविधार्थक्रियायोग्यास्तुल्यादिज्ञानहेतवः । तथाविधार्थसङ्केतशब्दप्रत्ययगोचराः ॥

उदयव्ययधर्माणः पर्याया एव केवलाः । संवेद्यन्ते ततः स्पष्टं नैरात्म्यं चातिनिर्मलम् ॥ (त.सं.श्लो.३१२ तथा ३९६ तः ३२४ पर्यन्ताः श्लोकाः)

इत्युक्तं तत्र हि मया

“स्यादविकारि हि द्रव्यं पर्यायैश्च सङ्गतम् । अत एव विशेषोऽस्ति, परिणाम्यप्यतो हि तत् ॥१॥

स्वभावाऽभेद एकत्वं तस्मिन् सति च भिन्नता । चित्रज्ञाने यथा दृष्टं तद्वदिह प्रतीयताम् ॥२॥

है । इसी तरह सप्तभंगी के प्रत्येक भंग में 'स्यात्'कार का प्रयोग किया जाता है, वह वस्तु के प्रतिनियत स्वरूप के अवच्छेदक = नियामक धर्म का परिचय = ज्ञान कराने के लिए किया जाता है । यदि प्रतिनियत अवच्छेदक धर्म का ज्ञान श्रोता को न हो तब सांकर्यादि दोष का निराकरण नहीं हो सकता । देखिए, 'जीवः नित्य एव' इस तरह स्यात्कारशून्य प्रथम भंग का प्रयोग किया जाय तब श्रोता को इस वाक्य को सुन कर द्रव्यत्व की भाँति पर्यायत्व की अपेक्षा भी जीव में नित्यत्व का बोध होगा एवं 'जीवः अनित्य एव' इस तरह स्यात्काररहित द्वितीय भंग का प्रयोग किया जाय तब श्रोता को इस वाक्य से पर्यायत्व की भाँति द्रव्यत्व की अपेक्षा भी जीव में अनित्यत्व धर्म का बोध होगा । इस परिस्थिति में वस्तु का स्वरूप परस्पर संकीर्ण हो जायेगा । एवं एक ही धर्म की अपेक्षा या निरपेक्षतया नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म का जीव में समावेश का बोध होने से विरोध दोष भी प्रसक्त होगा । ऐसे ही अनेक व्यतिकर, वैयधिकरण्य, संशय आदि भी दोष प्रसक्त होंगे, यदि प्रतिनियत अवच्छेदक धर्म का सप्तभंगी से श्रोता को ज्ञान न हो । अतः इन दोषों को दूर करने के लिए प्रत्येक भंग में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है । स्यात् पद का प्रयोग करने पर 'जीवः स्यात् नित्यः एव' इस भंग से 'द्रव्यत्व की अपेक्षा जीव में नित्यत्व ही है' ऐसा बोध होगा एवं 'स्यात् जीवः अनित्य एव' इस वाक्य से 'जीव में पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्यत्व ही है' ऐसा बोध होगा । परस्पर असंकीर्ण धर्म का बोध होने से अब संकर-विरोध आदि

जयलता

कथञ्चिच्चैवमेकत्वे, द्रव्यपर्याययोः स्थिते । व्यावृत्तिमत् कथं द्रव्यं पर्यायाणां स्वरूपवत् ॥३॥

अतो हि तेऽपि पर्यायाः सर्वेऽननुगतात्मकाः । द्रव्यं ह्यनुगतं तत्र भेदाऽभेदस्थितिः ततः ॥४॥

अत एव नित्यं तत्र द्रव्यमात्मादि विद्यते । पर्यायव्यतिरिक्तत्वात्, तद्विगमेऽप्यनाशतः ॥५॥

प्रत्यक्षतः प्रमीयेते कुम्भहारोदयव्ययी । सुवर्णाद् व्यतिरिक्तत्वात्, सुवर्णञ्चानुवृत्तिमत् ॥६॥

ततो निरन्वयो ध्वंसः स्थिरं वा नास्ति किञ्चन । पर्यायद्रव्ययोः स्तो हि व्यावृत्त्यनुगमाविमौ ॥७॥

न चोपलभ्यरूपस्य पर्यायानुगतात्मनः । आत्मन उलम्भो नास्ति ततोऽस्ति प्रतिपन्नवत् ॥८॥

विविधार्थक्रियायोग्यास्तुल्यादिज्ञानहेतवः । तथाविधार्थसङ्केतशब्दप्रत्ययगोचराः ॥९॥

उदयव्ययधर्माणः पर्याया एव केवलाः । न वेद्यन्ते परन्तु द्रव्यमप्यभेदभेदतः ॥१०॥

तस्मान्नाहति नैरात्म्यं प्रत्यभिज्ञादिबाधतः । तस्मादङ्गीकुरु द्रव्यपर्यायौ पारमार्थिकौ ॥११॥ इत्येवं प्रतिविधीयते ।

यत्तु भासर्वज्ञेन “यदि भावानामुभयात्मकत्वं स्यात्, तदा स्वरूपेणैव घटश्चाऽघटश्च स्यात् । पररूपेणाऽघटत्वे हि गौणं तदऽघटत्वं बहुमाणवकादेरग्नित्वसिंहत्वादिवत् । अतो गौणं तदुभयात्मकं वस्तु, मुख्यतस्तु स्वरूपेणैव यदात्मकं यत्तदात्मकमेव तत्” (न्या.भू.पृ.५५९) इत्युक्तं, तन्न मनोरमम्, न हि स्वरूपाऽपेक्षयाऽपितुः दशरथस्य रामापेक्षयाऽपि पितृत्वं गौणमेव, न तु मुख्यमिति वक्तुं शक्यते, अन्यथा सापेक्षधर्माणामुच्छेदः काल्पनिकत्वं वा प्रसज्येत । न चैवमिष्टम् । अतः परद्रव्याद्यपेक्षयाऽघटत्वमपि स्वद्रव्याद्यपेक्षया घटत्ववन्मुख्यमित्युपगन्तव्यम् । न ह्ययं नियमो यदुत स्वरूपेणैव मुख्यधर्मः पररूपेण तु गौण एवेति, अन्यथा पररूपेणैव मुख्यधर्मः स्वरूपेण तु गौण एवेति वदतो मुखस्याऽपि पिधातुमशक्यत्वादिति दिक् ।

इदं त्वयंवेद्यम् - स्वात्पदात् एकान्तबुद्धिर्विलक्षणबुद्धिविशेषावश्यकतावच्छेदकत्वेनैव अनन्तधर्मघटितसप्तमङ्गीबोधेऽपि प्राति-
स्विकरूपेण तद्वोधनार्थं विशेषप्रयोगोऽवश्यमाश्रयणीयः । यथा वृक्ष इत्युक्ते वृक्षत्वेन प्लक्षबोधेऽपि प्लक्षत्वेन तद्वोधार्थं विशेषप्रयोग आश्रीयत इति । इदमेवाऽभिप्रेत्योक्तम् - “स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्याऽवबोधने । शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥”
स्याच्छब्दस्य द्योतकत्वे तु न्यायप्राप्त एवाऽस्त्यादिशब्दप्रयोगः इत्यादिकं स्वसमयानुसारेण विभावनीयम् ।

सम्मतितर्कवृत्त्यादौ तु तृतीय-चतुर्थमङ्गयोः विपर्ययोऽपि दृश्यते । श्रीचन्द्रसूरिभिः उत्पादादिसिद्धिस्वोपज्ञवृत्तौ सप्त-
मङ्गीभावना — “तत्र यदा द्रव्यस्य प्राधान्यविवक्षा क्रियते तदा ‘स्यादस्ती’ति कथ्यते, विवक्षितपर्यायरूपतया कार्यस्याऽभावेऽपि द्रव्यरूपतया सत्त्वात् । यदा पर्यायाणां प्राधान्यविवक्षा क्रियते तदा ‘स्यान्नास्ती’ति कथ्यते, द्रव्यरूपतया कार्यस्य सत्त्वेऽपि तद्विधपर्यायाऽपेक्षया असत्त्वात् । यदा तु युगपदुभयप्राधान्यविवक्षा क्रियते तदा ‘स्यादवक्तव्यमि’ति व्यपदिश्यते । तथाहि - तत्सदिति वक्तुं न शक्यते, द्रव्यरूपतया सत्त्वेऽपि पर्यायरूपतयाऽसत्त्वात् । ‘असदि’त्यपि वक्तुं न शक्यते, पर्यायरूपतयाऽसत्त्वेऽपि द्रव्यरूपतया सत्त्वात् । ततः तस्य सच्छब्देनाऽसच्छब्देन वा युगपत्प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् अवक्तव्यम् । यदा परनिरपेक्षं द्रव्यरूपतया सत्त्वं पर्यायरूपतया चाऽसत्त्वं स्वात्मनिमग्नमेव विवक्ष्यते तदोभयावयवापेक्षया ‘स्यादस्ति स्यान्नास्ति चे’ति व्यपदेशः प्रवर्तते, भेदमवलम्ब्योभयशब्दसमावेशेन तस्य प्रतिपादयितुं शक्यत्वात् । द्रव्याकारार्पणद्वारेण सत्त्वेनोक्ताऽवक्तव्यस्वरूप-
निरूपणेन चोपदेशे ‘स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यञ्चेति सप्तमङ्गी’ — (उत्पा.सि.का.९ वृ.) इत्यादिरूपेण कार्यसत्त्वासत्त्व-
विधिप्रतिषेधकल्पनाद्वारेण प्रदर्शिता ।

प्राचां प्रलपितं लीलया निराकृत्य साम्प्रतम् । नव्यानां जटिलां वाचं पराणेतुं समुद्यतः ॥१॥

अथ ‘स्यादस्ति एव घटः’ इत्यादौ अस्तिशब्दवाच्यादर्थोऽभिन्नस्वभावो घटशब्दवाच्योऽर्थस्स्यात् आहोस्वित् भिन्नस्व-
भावः ? इति द्विपक्षी राक्षसी प्रत्यक्षीबोभवीति । आद्ये तु घटशब्दार्थोऽस्तिशब्दार्थश्चेक एवेति सामानाधिकरण्य-विशेषणविशेष्यभावादिकं न स्यात् । ‘घटः कलशः’ इत्यादिसामानाधिकरण्याद्यभाववत्, तदन्यतरपदाऽप्रयोगप्रसङ्गश्च दुर्निवारः । किञ्च सत्त्वाऽपराऽभिधान-
स्याऽस्तित्वस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापितया तदभिन्नस्वभावस्य घटस्य तथात्वं प्राप्तमिति समग्रविश्वस्य घटत्वप्रसङ्गः । द्वितीये त्वाह-

दोष का अवकाश नहीं है । अतः सप्तमङ्गी के प्रत्येक भंग में एवकार और स्यात्पद का निवेश उचित एवं आवश्यक है, निरर्थक नहीं ।

ननु 'स्यादस्ति स्यान्नास्ती'त्यादिसप्तभङ्ग्यां घटत्वादिना घटास्तित्वं कथं विधीयतां ? अस्तित्वत्वेनैव तद्विधानसम्भवात् । पटत्वादिना वा घटास्तित्वं कथं प्रतिषिध्यतां ? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाऽभावस्याऽप्रामाणिकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

नन्विति । अयं दीर्घः पूर्वपक्षः तृतीयचेत्यदर्पयन्तं बोध्यः, तदनु 'मैवमि'त्यनेनोत्तरपक्षप्रारम्भ इत्यवधेयम् । स्यादस्ति = स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्ति = 'स्यान्नास्त्येव घटः' इत्यादिसप्तभङ्ग्यां घटत्वादिना धर्मेण घटास्तित्वं = घटप्रतियोगिकास्तित्वं, कथं विधीयतां ? नैवेत्यर्थः काकुन्यायेन व्यज्यते । तर्हि केन धर्मेण तदस्तित्वविधानं सम्भवेदित्याशङ्कयामाह - अस्तित्वत्वेनैव = घटप्रतियोगिकास्तित्वनिष्ठास्तित्वत्वधर्मेणैव, तद्विधानसम्भवात् = घटास्तित्वविधानस्य शक्यत्वात् । एवकारेण घटत्वादिव्यवच्छेदः कृतः । अयमत्र नन्वभिप्रायः घटास्तित्वं तु घटाद्विन्नमिति द्वितीयपक्षकक्षीकरणे घटत्वधर्मो विधीयमानाऽस्तित्वस्य प्रतियोगिनि घटे वर्तते, न तु घटास्तित्वे । विधेयवृत्तिधर्मेणैव विधानं सम्भवति न तु विधेयाऽवृत्तिधर्मेणाऽपि, अन्यथा पटत्वेनाऽपि घटास्तित्वं विधीयेत । न चैवं भवति । ततः पटत्ववत् घटत्वस्याऽपि विधीयमानाऽस्तित्वावृत्तित्वेन न घटत्वेन तद्विधानं शक्यं किन्तु घटास्तित्वत्वेनैव, तस्य विधेयवृत्तित्वात् ।

पटत्वादिना धर्मेण वा घटास्तित्वं = घटप्रतियोगिकसत्त्वं, कथं प्रतिषिध्यतां ? नैवेत्यर्थः । हेतुमाह - व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाऽभावस्य = प्रतियोग्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽत्यन्ताभावस्य, अप्रामाणिकत्वात् = प्रमाणबाधितत्वात् । अयं नन्वभिप्रायः प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदको भवति । अतः तदवच्छिन्ना प्रतियोगिताऽप्यप्रसिद्धा भवति । अत एव तन्निरूपकोऽत्यन्ताभावोऽपि बन्ध्यास्तनन्धयवदप्रसिद्धो भवति । अत एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नात्यन्ताभावस्याऽप्रामाणिकत्वं गीयते । न च प्रतियोगितायाः स्वाश्रयाऽवृत्तिधर्मानवच्छिन्ने किं मानमिति वक्तव्यम्, 'प्रतियोगिता स्वाश्रयाऽवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना, प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्याऽवगाहिबुद्धित्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकप्रकारतावच्छेदकानुयोगितानिरूपितत्वादि'त्यनुमानमेव तत्र मानमिति गृहाण । ततश्च प्रकृतेऽत्यन्ताभावप्रतियोगिनि घटास्तित्वे पटत्वादेरवृत्तित्वेनाऽत्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदकत्वं न सम्भवति । अत एव तदवच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकात्यन्ताभावप्रतिपादनपरः द्वितीयभङ्गोऽप्रामाणिकः । सिद्धे चैवं प्रथमद्वितीयभङ्गयोरप्रामाणिकत्वे तत्संयोगनिष्पन्नाः शेषभङ्गा अपि काल्पनिका एव । ततः नेयं सप्तभङ्गी प्रमाणमिति फलितम् ।

❀ सप्तभङ्गी अप्रामाणिक है - दीर्घपूर्वपक्ष ❀

पूर्वपक्षी :- ननु. इति । सप्तभङ्गी का आपने जो निरूपण किया है, वह ठीक नहीं है । वह इस तरह - 'घटः स्यादस्ति' यह सप्तभङ्गी का प्रथम भंग है, जिससे आप यह विधान करते हैं कि - घटत्वेन घटास्तित्व है । अतः यहाँ घटास्तित्व धर्म विधेय बनता है और घटत्व विधेयतावच्छेदक । मगर यह असंगत है, क्योंकि विधेयतावच्छेदक धर्म विधेयनिष्ठ ही बनता है । घट और अस्तित्व परस्पर अभिन्न तो नहीं है । अतः घट में रहता हुआ घटत्व धर्म घटास्तित्वरूप विधेय में नहीं रह सकता है । अतएव घटत्वरूप से घटास्तित्व का विधान भी नामुमकिन है । घटास्तित्वरूप विधेय में तो घटास्तित्वत्व नाम का धर्म रहता है । अतः विधेयवृत्ति घटास्तित्वत्वरूप धर्म से ही घटास्तित्व का विधान मुमकिन है । अतः घटत्वेन घटास्तित्व का विधान करने वाला प्रथम भंग असंगत है । इसी तरह सप्तभङ्गी का द्वितीय भंग भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि 'घटः स्यान्नास्ति' इस द्वितीय भंग का अर्थ आपको यह अभिमत है कि - 'पटत्वेन घटास्तित्वं नास्ति' अर्थात् 'पटत्व धर्म से घटास्तित्व का निषेध द्वितीय भंग से किया जाता है । यहाँ निषेध है घटास्तित्व, जो अभाव का प्रतियोगी है और प्रतियोगितावच्छेदक है पटत्व । पटत्व पट में रहता है, न कि घटास्तित्वरूप प्रतियोगी में । प्रतियोगितावच्छेदक धर्म तो वही हो सकता है, जो प्रतियोगी में रहता हो । अर्थात् प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्म प्रतियोगितावच्छेदक नहीं बन सकता है । अतएव प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता भी अप्रसिद्ध है । अतएव प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता का निरूपक अत्यन्ताभाव भी अप्रामाणिक कहा जाता है । अप्रसिद्ध धर्म का निरूपक कोई भी नहीं बन सकता है । अतएव प्रस्तुत में पटत्वरूप धर्म से घटास्तित्वाभाव का प्रतिपादन करना भी अप्रामाणिक है । इस तरह द्वितीय भंग भी असंगत है । प्रथम और द्वितीय भंग अप्रामाणिक होने से उन दोनों से घटित (= उन दोनों के संयोग से निष्पन्न) शेष भंग भी अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं । अतः संपूर्ण सप्तभङ्गी अप्रामाणिक = काल्पनिक है- यह निर्विवादरूप से सिद्ध होता है ।

(Z) न च 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरेव तत्र मानम्, (A) न चान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव व्युत्पत्तिरित्युक्त्वात् कथमत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वलाभः ?

नयलता

स्याद्वादिनः शङ्कां (Z) न चेत्यनेन प्रदर्शयति । अन्वयश्चाऽस्य द्वितीयवाच्यमिति पदेन सह । 'घटत्वेन पटो नास्ति' - त्यादिप्रतीतिरेव तत्र = प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वे, मानं = प्रमाणम् । अयं स्याद्वादिन आशयः, घटत्वेनेत्यत्र तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वम्, अन्वयश्च तस्य नास्तिपदार्थात्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगितायाम् । तस्याश्चाऽन्वयः पटः । अतः घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितावनु घट इति तत्प्रतीत्याकारः । ततश्च घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकस्याऽत्यन्ताभावस्य सिद्धिः निराश्रया । अत एव द्वितीयमङ्गस्य प्रामाणिकत्वमव्याहतमिति ।

परकीयशङ्कां (A) न चेति अनेन दर्शयति । अन्वयश्चाऽस्य प्रथमवाच्यपदेन साकम् । अन्वयितेति । अयमवान्तरशङ्काकृदाशयः 'भूतले पटो नास्ति'त्यत्र 'भूतलवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगी पट' इत्येवं बोधो जायते । तत्र अन्वेयं प्रतियोगित्वम्, अन्वयी पटः अन्वयितावच्छेदकं च घटत्वम् । अत्र प्रतियोगित्वमन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नमेव भवति न त्वन्वयितातिरिक्तधर्मावच्छिन्नम् । अतः तादृशोऽत्यन्ताभावोऽयन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य निरूपको भवति । तेन तत्र भूतलवृत्त्यत्यन्ताभावे घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वमानं भवति । अतः नञर्थलेऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नायाः प्रतियोगिताया निरूपकत्वमत्यन्ताभावे भासत इति व्युत्पत्तिः । प्रस्तुते प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकश्च पटत्वं न तु घटत्वं, यतः प्रतियोगिता पटेऽन्वीयते न तु घटे । अन्वयितावच्छेदकधर्मश्चान्वयिवृत्तिर्भवति । अतः प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकीभूतघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताया एव निरूपकत्वमभावे सम्भवति । घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तु न कुतोऽपि लभ्यते । अतः तेन सम्बन्धेन पटत्वस्यैवात्यन्ताभावे मानं संभवति, न तु घटत्वस्य । स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंसर्गाभाववृत्तिधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् 'घटत्वेन पटो नास्ति'त्यत्र पटत्वस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वम्, न तु घटत्वस्य । अतो न स्याद्वादिभिः 'घटत्वेन पटो नास्ति'ति प्रतीतिबलेन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावः साधयितुं शक्यते । कथं अत्र = 'घटत्वेन पटो नास्ति'ति प्रतीतिविषयीभूतात्यन्ताभावे घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वलाभः ? व्युत्पत्त्यनतिक्रमेण शब्दस्य शाब्दबोधजनकत्वनियमात् दर्शितव्युत्पत्तिमहिम्ना न प्रतियोग्यसमानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावः सिध्यतीति ।

व्याधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव प्रामाणिक होने से द्वितीयादे मंग प्रामाणिक - स्याद्वादी

स्याद्वादी :- न च घटत्वेन, इति । उस्ताद ! आपने यह क्या कह दिया कि प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्म प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है ? देखिये, 'घटत्वेन पटो नास्ति' यह प्रतीति ही प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव की साधक है । इसका कारण यह है कि दर्शित प्रतीति में पट प्रतियोगी है और प्रतियोगितावच्छेदक है घटत्व । उपर्युक्त अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता है पट में और प्रतियोगितावच्छेदक है घट में । अतः प्रतियोगिता और प्रतियोगितावच्छेदक परस्पर व्यधिकरण (= एक अधिकरण में अवृत्ति) हैं । प्रतियोगिता स्वावच्छेदक से अवच्छिन्न होती है और अभाव उस प्रतियोगिता का निरूपक होता है-यह तो निर्विवाद सिद्ध है । अतः यहाँ घटत्वरूप व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का, जो कि पटवृत्ति है, निरूपक अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है । अतः आपने जो कहा है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक अभाव अप्रामाणिक है - वह वचन ही अप्रामाणिक सिद्ध होता है । अतएव सप्तमंगी का द्वितीय भंग प्रामाणिक सिद्ध होता है ।

'घटत्वेन पटो नास्ति' यहाँ पटत्व प्रतियोगितावच्छेदक - अवान्तर शङ्का

शङ्का :- न चान्व, इति । जनाब ! आपने जो कहा कि → 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति से घटत्वावच्छिन्न पटनिष्ठ प्रतियोगिता का निरूपक अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है ← वह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है शाब्दबोध में यह एक नियम है कि - अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व ही अभावांश में संसर्ग होता है । जैसे कि 'पटो नास्ति' यहाँ अभाव का प्रतियोगी पट है । पट में प्रतियोगिता रहती है । अतः प्रतियोगिता अन्वेय और पट अन्वयी बनता है । पट में रहने वाला धर्म अन्वयितावच्छेदक बनता है । पट में उसी प्रतियोगिता का अन्वय = सम्बन्ध हो सकता है जो अन्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व से अवच्छिन्न = नियन्त्रित है, न कि अन्वयितानवच्छेदक दंडत्वादि से अवच्छिन्न । अतः पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता का पट में अन्वय होता है । वह अन्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व ही प्रतियोगितावच्छेदक बनता है, जो स्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्व संसर्ग से अभाव में रहता है, क्योंकि अन्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता

इति (A) वाच्यम्, तृतीयान्तपदस्थले एव तदुल्लिखितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव संसर्ग-
त्वात्, अन्यथा 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीतेरप्यप्रामाण्यापत्तेरिति वाच्यम्, (Z)

॥ गयलता ॥

स्याद्वादी अवान्तरशङ्काकर्तुराशयस्याऽश्रद्धेयत्वमाविष्करोति- तृतीयान्तपदस्थले एवेति । एवकारेण प्रथमान्तस्थलव्यवच्छेदः कृतः । तदुल्लिखितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव = तृतीयान्तपदोल्लिखितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वस्यैव संसर्ग-
त्वात् = तृतीयान्तपदोल्लिखितधर्मसम्बन्धत्वादिति । अयं स्याद्वादिनोऽभिप्रायः, 'पटो नास्ति' त्यत्र तृतीयान्तपदोपस्थापितधर्मस्य विरहात् तत्राऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वसंसर्गेण पटत्वस्यात्यन्ताभावे भानं युक्तिमत्, परन्तु तृतीयान्तपद-
समभिव्याहारस्थले तु तृतीयान्तपदोपस्थापितधर्मावच्छिन्नाभावीयप्रतियोगिताकत्वस्यैव संसर्गत्वम् । अतः घटत्वेन पटो नास्ति' त्यत्र तृतीयान्तपदेनोपस्थापितस्य घटत्वस्य स्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वसंसर्गेणाभावांशे भानं युक्तिसहमेव ।

विपक्षबाधमुपदर्शयति - अन्यथेति । तृतीयान्तपदोपसन्धानस्थले तृतीयान्तपदवाच्यधर्मावच्छिन्नाभावीयप्रतियोगिताकत्वं विहायाऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैवाऽभावांशे संसर्गत्वोपगमे इत्यर्थः । 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीतेरप्यप्रामाण्यापत्तेरिति । दर्शितप्रतीतौ कम्बुग्रीवादिमान् प्रतियोगी । अतः प्रतियोगिता कम्बुग्रीवादिमति अन्वीयते । अतः
अन्वयितावच्छेदकं कम्बुग्रीवादिमत्त्वं भवति, अन्वयिवृत्तिधर्मस्यैवाऽन्वयितावच्छेदकत्वनियमात् । अतः अन्वयितावच्छेदकीभूत-
कम्बुग्रीवादिमत्यावच्छिन्नप्रतियोगितायात्सम्बन्धेनात्यन्ताभावे कम्बुग्रीवादिमत्वस्यैव भानं सम्भवति, न तु घटत्वस्य । अतः
'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' त्यत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं न कुतोऽपि लभ्येतेति तदप्रामाण्यापत्त्याऽजां निष्काशयतः
क्रमेलकापातन्यायागमः प्रसक्तः । ततोऽकामेनाऽपि तृतीयान्तपदोपस्थाप्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेनाऽभावांशे तृतीयान्त-

का निरूपक अत्यन्ताभाव है । इसी तरह प्रस्तुत में भी 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति में, प्रतियोगिता पट में रहने से उसका अन्वयितावच्छेदक पटत्व बनेगा । अतः तादृश अत्यन्ताभाव में भी प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व रहेगा । अतः पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व ही अभाव में प्रतियोगितावच्छेदक का संसर्ग बनेगा ।
मगर घटत्व तो उक्त संसर्ग से अत्यन्ताभाव में नहीं रह सकता है । अतएव घटत्व तादृश अत्यन्ताभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी नहीं बन सकता है । हाँ, घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व अभाव में तब रह सकता, यदि घटत्व प्रतियोगिताऽ-
न्वयितावच्छेदक बनता । मगर प्रतियोगी पट में घटत्व नहीं रहने से वह प्रतियोगितान्वयितावच्छेदक नहीं बन सकता । अतः
एव घटत्व तादृशाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी नहीं बन सकता है । जो स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व संबन्ध से अभाव में रहता है, वही तादृश अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है - यह नियम प्रसिद्ध होने की वजह 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी पटत्व ही है, जो प्रतियोगिता का समानाधिकरण है । इसलिए आपने प्रतियोगितान्वयिकरणधर्मावच्छिन्न अत्यन्ताभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया है - वह ठीक नहीं है । अतएव सप्तभंगी का द्वितीय भंग भी अप्रामाणिक सिद्ध होता है । एवं समूची सप्तभंगी ही अप्रामाणिक सिद्ध होती है ।

॥ तृतीयान्तपदोपस्थापित धर्म प्रतियोगितावच्छेदक होता ही है - स्याद्वादी ॥

स्याद्वादी :- तृतीयान्त, इति । हजूर ! आपने 'घटो नास्ति' इस स्थल में पटत्व को अभावनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक कहा वह तो ठीक है । मगर जहाँ तृतीयान्त पद का प्रयोग होता है, वहाँ तो तृतीयान्त पद से उल्लिखित धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व ही अभाव में संसर्ग बनता है - यह भी एक शाब्दबोधस्थलीय व्युत्पत्तिविशेष है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति में तृतीयान्त पद से उपस्थापित घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व तादृश अभाव में मानना आवश्यक है । जैसे 'घटत्वेन पटो नास्ति' यहाँ तृतीयान्त पद का समभिव्याहार होने की वजह तृतीयान्त पद से उपस्थित घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व अभाव में है और वही घटत्व को अभाव में रहने के लिए संसर्ग का भी कार्य करता है, ठीक वैसे ही 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस स्थल में भी तृतीयान्त पद का सन्निधान होने के सबब तृतीयान्त पद से उपस्थित घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व पटाभाव में सिद्ध होता है । अतएव स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से घटत्व पटप्रतियोगिक अभाव में रहता है- यह भी सिद्ध होता है । तब घटत्व को पटनिष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक निर्विवादरूप से माना जा सकता है । यदि तृतीयान्त पद का सान्निध्य होने पर भी तृतीयान्तपदोपस्थापित धर्म को अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक न मान कर प्रतियोगितान्वयितावच्छेदक को ही प्रतियोगि-
तावच्छेदक माना जाय, तब तो 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' यह प्रतीति भी अप्रामाणिक बन जायेगी । इसका कारण

तद्धर्मस्य विशेषणतावच्छेदकतया भासकसामग्र्या एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वात्, पटादौ घटत्वादिभानस्य आवश्यकत्वात्, तस्य च प्रभारूपस्याऽसम्भवात् भ्रमस्य च

✽ नयलता ✽

पदोपस्थापितधर्मान्वयोऽङ्गीकार्यः । ततः 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावसिद्धिः निश्चल्युहा । अनेन गुरुधर्मस्याऽपि प्रतियोगितावच्छेदकत्वं प्रामाणिकमिति ध्वनितम्, 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यत्र यथा घटत्वेऽभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वभानमभावे च स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन घटत्वमानं प्रामाणिकं तथैव 'कम्बुग्रीवादि-मत्त्वेन पटो नास्ती'त्यत्र कम्बुग्रीवादिमत्त्वेऽत्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वभानस्यात्यन्ताभावे च स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व-संसर्गेण कम्बुग्रीवादिमत्त्वभानस्यापि प्रामाणिकत्वात् । इदमेवाऽभिप्रेत्य अवच्छेदकत्वानिरुक्तिदीधितौ "गौरवप्रतिसन्धानदशाया-मपि 'कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'ति प्रतीतिबलाद् गुरुरपि धर्मोऽवच्छेदकः प्रतियोगितायाः" (अव.नि.दी. पृ. १२५) इत्युक्तम् । ततश्च द्वितीयभङ्गोऽपि प्रामाणिक एवेति फलितमिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी प्रकृतस्याद्वाद्याशयं प्रत्याचष्टे- तद्धर्मस्येति । तृतीयांतपदोपस्थापितधर्मस्येति । विशेषणतावच्छेदकतया = अभावीयविशेषणतावच्छेदकविधया भासकसामग्र्याः = ज्ञापकसामग्र्याः एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वात् = अभावीयविशेषणतावच्छेदकनिष्ठस्य अभावनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य उपलम्भकत्वात्, 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ घटत्वादेः पटादिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभ्युपगमे पटादौ घटत्वादिभानस्य = घटस्य स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासम्बन्धेन अभाववृत्तित्वेनाऽभावविशेषणीभूत-पटादिनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टघटत्वादिज्ञानस्य, आवश्यकत्वात्, अभावीय-विशेषणतावच्छेदकत्वेनाऽज्ञातस्य तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽसम्भवात् । परन्तु तस्य = पटादिवृत्तितया घटत्वादिभानस्य, च प्रभारूपस्य = तद्वति तत्प्रकारकत्वविशिष्टस्य, असम्भवात्, घटत्वादेः पटाद्यवृत्तित्वात् । अस्तु तर्हि भ्रमात्मकमेव तद्भानमित्याशङ्क्यामाह - भ्रमस्य च वस्त्वसाधकत्वात् = वैज्ञानिकसम्बन्धेन घटत्वादिविशिष्टपटादिविषयकज्ञानस्य घटत्वादौ

यह है कि उक्त अभाव का प्रतियोगी है कम्बुग्रीवादिमान् । अतः प्रतियोगिता उसमें रहेगी । अतः प्रतियोगिता का अन्वयितावच्छेदक बनेगा कम्बुग्रीवादिमत्त्व । तादृश अन्वयितावच्छेदकीभूत कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से घटत्व तो तादृश अत्यन्ताभाव में नहीं रह सकता है । अतः तादृश प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व नहीं बनेगा, किन्तु कम्बुग्रीवादिमत्त्व होगा मगर कम्बुग्रीवादिमत्त्व गुरुभूत होने से प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है - यह तो आपका मूल सिद्धांत है । अतः फलतः तादृश प्रसिद्ध प्रतीति को भी अप्रामाणिक माननी पड़ेगी, जो आप नैयायिक महाशय को इष्ट नहीं है । अतः उपर्युक्त प्रतीति के प्रामाण्य का निर्वाह करने के लिए तृतीयांतपदसमभिव्याहार स्थल में तृतीयांतपदवाच्य धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व अभाव में मानना आवश्यक है । तब तो 'घटत्वेन पटो नास्ति' यह प्रतीति भी उपदर्शित पद्धति से प्रामाणिक होगी, जिसके फलरूप में प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि हो जायेगी । इस परिस्थिति में सप्तभंगी के द्वितीय भंग का प्रामाण्य भी अबाधित रहेगा ।

✽ अभावविशेषणतावच्छेदकत्व और अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व की ज्ञापक सामग्री एक - पूर्वपक्ष ✽

पूर्वपक्षी :- तद्धर्मस्य, इति । स्याद्वादी महाशय ! आपने उपर्युक्त रीति से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म में अभावविशेषणता-वच्छेदकत्व का भान नहीं होता है । यह एक अकाट्य नियम है कि जिस सामग्री से जिस धर्म में अभावविशेषणतावच्छेदकत्व का भान होता है उसी सामग्री से उसी धर्म में अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्व का भान होता है । यह नियम इस तरह स्पष्ट हो जायेगा । देखिये, 'घटो नास्ति' इस प्रतीति में घट है प्रतियोगी और अभाव है अनुयोगी । अतः घट में प्रतियोगिता और अभाव में अनुयोगिता रहती है । प्रतियोगिता और अनुयोगिता परस्पर सापेक्ष होने से एक-दूसरे से निरूपित बनती है । अनुयोगी विशेष्य बनता है और प्रतियोगी विशेषण । अतः घट स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासंबंध से अभाव में रहता है । तादृश संबंध से घटविशिष्ट अभाव बनता है । विशेषण में रहने वाला धर्म विशेषणतावच्छेदक कहा जाता है । अतः यहाँ विशेष्यभूत अभाव के विशेषणरूप घट में रहने वाला घटत्व अभावविशेषणतावच्छेदक कहा जाता है । वही घटप्रतियोगिकाभावनिरूपितप्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है । अतः घटत्व धर्म में अभावविशेषणतावच्छेदकत्व की भासक सामग्री ही घटत्वरूप धर्म में अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व की भासक = ज्ञापक होती है । अब 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि

वस्त्वसाधकत्वाद् घटत्वादेः घटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्, घटत्वादेः पटादिप्रतियोगि-

✽ गयलतल ✽

पटादिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वसाधनेऽप्रत्यलत्वात् । किं घटत्वादेः नैव कस्याश्चित्प्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वमित्याशङ्कयामाह- घटत्वादेः घटाद्यभावविशेषणीभूतघटादिनिष्ठतया घटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्, एकत्र विशेषणतयाऽन्वितस्याऽन्यत्र विशेषणत्वायोगात् घटादिविशेषणीभूतस्य घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽसिद्धेरिति । अयं मूलपूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः प्रतियोग्यवृत्तिर्धर्मः प्रतियोगितावच्छेदको भवितुं नार्हति, किन्तु अभावविशेषणीभूतप्रतियोगिविशेषणीभूतधर्म एवात्यन्ताभावीयप्रतियोगितावच्छेदको भवितुमर्हति, विद्यमानं सदव्यावर्तकं विशेषणं विशेषणवृत्ति च विशेषणतावच्छेदकं भवतीत्यत्र न काऽपि विप्रतिपत्तिः किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकं प्रतियोगिवृत्त्येव न वा ? इति विप्रतिपत्तिरत्र । विधिकोटिः ननुवादिनः निषेधकोटिश्च स्याद्वादिनः । किन्तु विधिकोटिरेवाऽङ्गीकर्तुमर्हति, यतः अभावविशेषणतावच्छेदकत्वाभावप्रतियोगितावच्छेदके समानवित्तिवेद्ये = एकसामग्रीग्राह्ये । यथा 'घटो नास्ती'त्यत्र स्ववृत्तिप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासम्बन्धेनाऽभावविशेषणीभूतघटविशेषणतया ज्ञातस्य घटत्वस्यैव तदभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्, यतः समकालमेव घटत्ववृत्तितया अभावस्य विशेषणतावच्छेदकत्व-प्रतियोगितावच्छेदकत्वे ज्ञायेते । यत्र चाभावविशेषणतावच्छेदकत्वं न ज्ञायते तत्राऽभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमपि नावबुध्यते । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ यदि घटत्वादेः पटादिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वमभिमतं तर्हि अभावविशेषणीभूतपटादिवृत्तित्वेन तद्भानमावश्यकम् । 'भवत्येवेति' चेत् ? तर्हि अत्र विमलविकल्पयुगली समवतेतीर्यते - तद्भानं प्रमात्मकं यदुत भ्रमात्मकं भवति ? नाऽऽद्यः श्लोदक्षमाः, घटत्वादेः घटादिवृत्तित्वेन पटादिवृत्तित्वेन तत्प्रमाया असम्भवात् । नाऽपि द्वितीयः मतिमतां रतिप्रीतिदायी, तदभाववति तत्प्रकारकत्वविशिष्टरूपस्य भ्रमस्य वस्तुसिद्धिकृतेऽसमर्थत्वात्, अन्यथा त्रैलोक्यमदरिद्रतामविकलामश्नेत । इदमेवाभिप्रेत्य व्यधिकरणदीधिति —> "विशेषणतावच्छेदकविशिष्टज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्ययहेतुत्वात्, अभावप्रत्ययो हि घटत्वादिविशिष्टस्य घटादेः प्रतियोगित्वमवगाहमानो विशेषणस्यापि घटत्वादेः तदवच्छेदकत्वमवगाहते, न स्वातन्त्र्येण, 'घटो नास्ती'त्येव प्रतीतेः । तदिहाऽभावप्रत्ययो यदि व्यधिकरणेन धर्मेण विशिष्टं प्रतियोगिनं नावगाहते, नावगाहते एव तदा तस्यापि प्रतियोगितावच्छेदकत्वम् । अथाऽवगाहते तर्हि भ्रम एव, न हि ततोऽर्थसिद्धिरिति भावः" <- (व्य.दी.पृ.२७६) इत्युक्तम् ।

वस्तुतस्तु घटत्वादेः घटादिवृत्तित्वेन घटादिवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव । घटत्वादेः घटादिप्रतियोगिकात्यन्ताभावविशेषणतावच्छेदकत्वादेव पटादिप्रतियोगिकात्यन्ताभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकत्वमेव । अतो न 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ पटाद्यभावप्रतियोगिता स्वव्यधिकरणीभूतघटत्वादिधर्मावच्छिन्ना संभवति । अतः प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्याऽप्रामाणिकत्वमेवेति सिद्धम् । अत एव द्वितीयमङ्गस्याऽप्यप्रामाण्यं न केनाऽपि दूरीकर्तुं शक्यते । इत्थमेव सकलाऽपि सप्तमङ्गी अप्रामाणिकीति सिध्यति ।

स्थल में यदि घटत्व को ही पटप्रतियोगिकाभावनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक माना जाय तो उपर्युक्त नियम के अनुसार घटत्वादि का पटादिप्रतियोगिक अभाव के विशेषणतावच्छेदकविधया भान मानना आवश्यक है । अर्थात् अभाव के विशेषणीभूत पटादि में घटत्वादि धर्म का भान मानना आवश्यक है, क्योंकि घटत्वादि धर्म में पटादिप्रतियोगिक अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकत्व के भान की सामग्री और पटादिप्रतियोगिक अभाव के विशेषणतावच्छेदकत्व के ज्ञान की सामग्री एक ही है । दोनों की सामग्री एक ही होने की वजह घटत्वादि में अभावविशेषणतावच्छेदकत्व के ज्ञान के लिए अतिरिक्त कारण की अपेक्षा तो है ही नहीं । मगर घटत्वादि में पटादिप्रतियोगिकाभावविशेषणतावच्छेदकत्व का ज्ञान प्रमात्मक होना तो नामुमकिन है, क्योंकि अभाव के विशेषणीभूत पटादि में घटत्वादि नहीं रहता है । विशेषण में न रहने वाला धर्म विशेषणतावच्छेदक कैसे बन सकता है ? अतः घटत्वादि का अभावविशेषणीभूत पटादि के विशेषणरूप से भान प्रमात्मक नहीं हो सकता । हाँ, भ्रमात्मक तादृश बोध हो सकता है कि 'घटत्वादि अभावविशेषणीभूत पटादि में रहता है' । मगर भ्रम तो वस्तुसाधक नहीं होता है । अतः तादृश भ्रमात्मक बोध से घटत्वादि में पटादिप्रतियोगिकाभाव का विशेषणतावच्छेदकत्व या प्रतियोगितावच्छेदकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । घटत्वादि तो घटादि में रहते हैं । अतः घटादिप्रतियोगिक अभाव के विशेषणतावच्छेदक बनने के सबब घटत्वादि घटादिप्रतियोगिकाभाव के प्रतियोगितावच्छेदक बन सकते हैं । मगर पटादिप्रतियोगिक अभाव का प्रतियोगितावच्छेदकत्व तो घटत्वादि में नामुमकिन ही है, क्योंकि पटादिअभाव का विशेषणतावच्छेदक घटत्वादि नहीं बन सकता है - यह प्रतिपादन हम ऊपर कर चुके हैं । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि —> "व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव समानाधिकरण-

तावच्छेदकत्वाऽसिद्धेः अतिरिक्ताभावकल्पने गौरवाच्च ।

एतेन 'पटादौ घटत्वादिवैशिष्ट्यांशभावे भ्रमत्वेऽपि घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वांशे बाधकाभावादभ्रमत्वमिति' निरस्तम् ।

✽ जयलला ✽

ननु 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्याद्यबाधितप्रतीतिबलेन प्रतियोगित्वसमानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो विलक्षण एवास्तु । तद्धर्मस्य विशेषणतावच्छेदकत्वेन भासकसामग्र्या एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वनियमस्तु समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावास्थले एव प्रवर्तते । अत एव न तादृशनियमप्यङ्गो न वा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽप्रामाणिकत्वमिति सर्वाऽमृतिदण्डाऽभङ्गन्यायागम इत्याशङ्कयामाह- अतिरिक्ताऽभावकल्पने गौरवाच्चेति । समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाद् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽतिरिक्तत्वकल्पनायां गौरवाच्चेत्यर्थः । चकारेण तादृशनियमसंकोचे मानाभावाच्चेत्युपदर्शितं भवति । यद्वा समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव प्रसिद्धत्वात् अदृष्टपूर्वस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य कल्पनायां गौरवमपि दुर्निवारमित्यर्थः कार्यः । ततो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाऽप्रामाण्यमूलकद्वितीयादिभङ्गाऽप्रामाण्यमेव 'प्रागुक्तरीत्या प्रथमभङ्गस्याऽप्यप्रामाण्यमिति स्थितिमिति ननुवादिनोऽभिप्रायः ।

एतेनेति । तद्धर्मस्य विशेषणतावच्छेदकविधया भासकसामग्र्या एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वनियमेनेति । अन्वयश्चास्य 'निरस्तमि'त्यनेन । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रतीतौ पटादौ घटत्वादिवैशिष्ट्यांशभावे = 'घटत्वादिमान् पटादि'रित्येवं विशिष्टत्वांशे, भ्रमत्वेऽपि = तदभाववति तत्प्रकारकत्वावगाहित्वेऽपि, घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वांशे = घटत्वादिः पटादिवृत्तिप्रतियोगिताया अवच्छेदक इत्यंश, बाधकाभावात् = बाधकतर्कविरहात्, अभ्रमत्वं = तद्वति तत्प्रकारकत्वावगाहित्वमिति । 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिः घटत्वादिशून्यपटादौ घटत्वादिविशिष्टत्वावगाहित्वेन भ्रमत्वमस्तु किन्तु पटादिवृत्तिप्रतियोगिताया घटत्वाद्यवच्छिन्नत्वावगाहित्वे तु नैव भ्रमत्वं, बाधकाभावात् । अतो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वमिति शङ्काशयः । परं पाटञ्चरविलुप्तिते वेदमनि यामिकजागरणवृत्तान्तमेतदनुसरतीति ननुवादिनोऽभिप्रायः, यतः घटत्वादेः पटादिवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वोपगमे तत्समनियतत्वेनाऽभावविशेषणीभूतपटादिवृत्तित्वमापतितं

धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अतिरिक्त होने से उपदर्शित नियम की प्रवृत्ति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव में नहीं हो सकती, किन्तु समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव में ही" <- क्योंकि समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को अतिरिक्त = भिन्न मानने में गौरव है । अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रामाणिक है । अतएव द्वितीय भंग आदि भी अप्रामाणिक है । अतः सप्तभंगी को प्रमाण मानने में कोई प्रमाण नहीं है ।

॥ घटत्वेन पटो नास्ति - इस प्रतीति में अप्रमात्मकत्व और प्रमात्व की शंका ॥

शंका :- एतेन पटा इति । जनाब ! पटादि में घटत्वादि धर्म का अभाव होने से 'पटादिः घटत्वेन नास्ति' यह ज्ञान पटादि में घटत्वादिवैशिष्ट्यांश में भले ही भ्रमात्मक हो मगर 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति, घटत्वादि में पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व अंश में तो कोई बाध नहीं होने की वजह, प्रमात्मक मानी जा सकती है । घटत्वादि पटादि में न रहता हो तो क्या हुआ ? पटादि में रहने वाली प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व का घटत्वादि में भान मानने में तो कोई बाधा नहीं है । अतः तादृश अवच्छेदकताऽवगाही अंश में वह प्रतीति प्रमात्मक हो सकती है । तब तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव भी प्रामाणिक हो जायेगा ।

✽ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता की कल्पना अप्रामाणिक - पूर्वपक्षी ✽

पूर्वपक्षी :- निरस्तम् इति । उस्ताद ! अब पछताये होत क्या जब चिड़ियों चुग गई खेत ! हमने पूर्व में ही कह दिया है कि धर्म में अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व और अभावविशेषणतावच्छेदकत्व के ज्ञान की सामग्री एक ही होती है । अतः 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति में यदि घटत्वादि को पटादिअभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानोगे

अथ व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव इति न तदतिरेककल्पनाप्रयुक्तगौरवावकाश इति चेत् ? न, तथापि पटादिनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगि-

❀ जयलता ❀

न शक्यते पश्चात्कर्तुं बृहस्पतिनाऽपि, तादृशाऽभावविशेषणीभूतपटादिवृत्तित्वस्य परित्यागे भ्रान्तत्वोपगमे वा घटत्वादेरपि पटादिवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य त्यागो भ्रान्तत्वं वा प्रसज्यत, अन्यथा अर्धवैशसप्रसङ्गात् । अतो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वं विचार्यमाणं विशारस्तामाविर्भति । ततो न द्वितीयादिभङ्गस्याऽपि प्रामाण्यं चारुतामश्नुतीति ननुवादिनो मौलपूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः ।

शङ्कते-अथेति । ‘चेदि’त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव इति । अयमाशयः येन सम्बन्धेन प्रतियोगी कुत्रापि न वर्तते स व्यधिकरणसम्बन्ध उच्यते यथा संयोगसम्बन्धेन वृक्षत्वादजातेः कुत्राऽप्यसत्त्वेन संयोगसम्बन्धस्य वृक्षत्वादिव्यधिकरणतया संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृक्षत्वादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वम् । एवमेव प्रतियोग्यवृत्तिधर्मः प्रतियोगिताव्यधिकरण उच्यते यथा घटत्वादिः पटाद्यवृत्तित्वात् पटादिनिष्ठप्रतियोगिताव्यधिकरणं व्यपदिश्यते । घटत्वादिना रूपेण पटादेः कुत्राऽप्यसत्त्वेन घटत्वादिधर्मावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावस्यापि केवलान्वयित्वम् । समनियतपदार्थयोरैक्यात् संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृक्षत्वादिवृत्तिप्रतियोगितानिरूपक-घटत्वादिधर्मावच्छिन्नपटादिवृत्तिप्रतियोगितानिरूपकाभावयोरैक्यम् । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्तूभयमते क्लृप्त एव । तत्स्वरूप एव च मया व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः स्वीक्रियते, तत्समनियतत्वात् इति न तदतिरेककल्पनाप्रयुक्तगौरवावकाशः = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावातिरिक्तत्वकल्पनाप्रयोज्यगौरवदोषसंभावेनेति न व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽप्रामाण्यमिति । अत एव न द्वितीयभङ्गस्याप्यप्रामाण्यमित्यथाशयः ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी अथमतं प्रत्याचष्टे-नेति । तथापि = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य समनियतत्वेन प्रतियोगिव्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावातिरिक्तत्वोपगमेऽपि, पटादिनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितान्तरकल्पने

तत्र तुल्य न्याय से घटत्वादि को अभावविशेषणीभूत पटादि में वृत्ति मानना ही होगा । यदि घटत्वादि को पटादिप्रतियोगिक अभावविशेषणतावच्छेदक न माना जाय या अप्रामाणिक माना जाय तब तो तुल्य न्याय से घटत्वादि को पटादिप्रतियोगिकाभावीय-प्रतियोगितावच्छेदक भी नहीं माना जा सकता या भ्रान्त माना जायेगा । अतः सिद्ध होता है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव अप्रामाणिक है । अतएव द्वितीयादि भंग और उनके समुदायात्मक सप्तभंगी भी अप्रामाणिक है ।

❀ व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्ना अभाव ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्ना अभाव - स्याद्वादी ❀

स्याद्वादी :- अथ, इति । उस्ताद ! आपने जो ‘पूर्व’ में कहा कि → “व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की कल्पना करने में गौरव दोष उपस्थित होता है” ← वह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव आपके अभिमत व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अतिरिक्त नहीं है । समनियत पदार्थ में ऐक्य होता है - यह न्यायदर्शन का मौलिक सिद्धांत है, जो हमें भी व्यवहारनय से मान्य है । जहाँ जहाँ आपका अभिमत व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव रहता है, वहाँ वहाँ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी अवश्य रहता है । समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक वाच्यत्वाभाव और घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक पटाभाव समनियत ही है । अतएव दोनों में अभेद है । अतः अतिरिक्त व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष का अवकाश हमारे पक्ष में नहीं है । अतएव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी प्रामाणिक है - यह सिद्ध होता है । जब यह सिद्ध हो गया तब तो सप्तभंगी का द्वितीयादि भंग और उनसे घटित सप्तभंगी भी प्रामाणिक सिद्ध हो जायेगी ।

❀ द्वितीय भंग में अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना का गौरव - पूर्वपक्ष ❀

पूर्वपक्षी :- न, त, इति । समनियत अभाव में ऐक्य होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावस्वरूप मानने पर आपके मत में एक अतिरिक्त अभावस्वरूप धर्म की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष भले ही अप्रसक्त हो, मगर अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष तो आपके मते पर चढ़ा

तात्तरकल्पने गौरवात् । न च घटत्वादिपर्यवसितेन घटादितादात्म्येन पटाद्यभावस्य क्लृप्त-

✽ जयलता ✽

गौरवात् । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रतीतिः प्रामाणिकत्वोपगमे घटत्वादेः स्वव्यधिकरणप्रतियोगितावच्छेदकत्वं पटादिनिष्ठ-
प्रतियोगितायाश्च स्वव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वं कल्पनीयम् । तच्च नोभयमते क्लृप्तम् । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमेवो-
भयमते सिद्धम् । अतोऽतिरिक्तधर्मिकल्पनाविरहेऽपि अक्लृप्तधर्मद्वयकल्पनं त्वतिरिच्यत एवेति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो
व्याधिरिति मौलपूर्वपक्षाशयः ।

न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । घटत्वादिपर्यवसितेन = घटत्वादिस्वरूपेण, घटादितादात्म्येन = घटादि-
प्रतियोगिकभेदाभावेन, पटाद्यभावस्य = पटादिप्रतियोगिकाभावस्य, क्लृप्तत्वात् = प्रमाणान्तरसिद्धत्वात्, नोक्तदोषः = न
समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताऽतिरिक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकल्पनाप्रयुक्तगौरवदोष इत्यर्थः । शङ्काकृतोऽयमाशयो
यदुत समनियतपदार्थयोरैक्यात् घटत्वं घटभेदाभावरूपमेव । भेदाभावस्याऽभेदपदार्थस्य तादात्म्यरूपत्वात् घटत्वं घटादात्म्यात्मकमेव ।
'घटो न पट' इत्यादिप्रतीतिरुभयमतसिद्धा । अत्र च घटादितादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिता एव पटादौ भासत इत्याद्युभयप्रतिपन्नम् ।
उपदर्शितरीत्या घटादितादात्म्यस्य घटत्वादिरूपत्वात् पटादिनिष्ठा प्रतियोगिता यथा घटादितादात्म्येनाऽवच्छिद्यते तथैव घटत्वादि-
नाऽप्यवच्छिद्यते । अतः पटादिनिष्ठप्रतियोगितायाः स्वव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वमुभयमतसिद्धमेव । अतो नाऽतिरिक्तप्रतियोगिता-
कल्पनाप्रयुक्तगौरवदोषगंधलेशोऽपि । अत एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वमपि सिद्धिसौधमधिरोहति ।
एवमेव द्वितीयादिभङ्गप्रामाण्यमपि निरन्वाधमिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

ही दिया जायेगा । इसका कारण यह है कि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति में पटादि प्रतियोगी है और घटत्वादि
प्रतियोगितावच्छेदक है । प्रतियोगिता स्वाश्रयवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न होती है यह तो 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति
से उभय मत में सिद्ध है । मगर प्रतियोगिता स्वाश्रय में अवृत्ति धर्म से भी अवच्छिन्न होती है - यह हमने न तो कभी
सुना है, न तो पढ़ा । मगर अभाव के प्रतियोगी पटादि में रहने वाली प्रतियोगिता को स्वाश्रयाऽवृत्ति (= स्वव्यधिकरण)
ऐसे घटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न मानने के लिए तैयार हैं, जो 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति के प्रामाण्य का आपके
द्वारा स्वीकार होने से स्पष्ट हो जाता है । पटादि में रही हुई प्रतियोगिता को स्वव्यधिकरण घटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न
मानने पर स्वसमानाधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता से अतिरिक्त स्वव्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता की कल्पना से प्रयुक्त
गौरव दोष आपके मन में प्रसक्त होता है, जिसका निवारण आप नहीं कर सकते हैं । इस दोष का निवारण करने के
लिए तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का ही त्याग करना होगा जिसके फलस्वरूप में द्वितीयादि भंग और तद्गर्भित
सप्तभंगी भी अप्रामाणिक हो जायेगी ।

✽ घटत्वादि घटादिभेदाभावरूप होने से अतिरिक्त प्रतियोगिता अनावश्यक - स्याद्वादी ✽

स्याद्वादी :- न च घटत्वादि. इति । जनाव ! आपने जो कहा कि → "घटत्वेन पटो नास्ति" इत्यादि प्रतीति
से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को प्रामाणिक मानने पर अतिरिक्त अभाव की कल्पना न करने पर
भी अतिरिक्त प्रतियोगिता की तो कल्पना करनी पड़ेगी" ← यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि 'घटः
पटभिन्नः' इत्यादि प्रतीति में पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता में घटादितादात्म्यावच्छिन्नत्व तो आप को भी मान्य है । अब देखिये,
घटादात्म्य का अर्थ है घटाभेद यानी घटभेदाभाव । यह घटभेदाभाव घटत्व का समनियत है, क्योंकि जहाँ जहाँ घटत्व रहता
है, वहाँ वहाँ घटभेदाभाव रहता है और जहाँ जहाँ घटभेदाभाव रहता है, वहाँ वहाँ घटत्व रहता है । समनियत होने की
वजह घटत्व और घटभेदाभाव एक है । एक होने की वजह पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता जैसे घटादिभेदाभाव = घटादितादात्म्य
से अवच्छिन्न है, ठीक वैसे ही घटत्वादि से भी अवच्छिन्न होगी । अतः पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता में स्वव्यधिकरणीभूत घटत्वादि
से अवच्छिन्नत्व तो आपको भी मान्य करना होगा । तब भला ! यही आँखे मूँद कर क्या बोलते हो कि →
'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को प्रामाणिक मानने पर अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष
उपस्थित होगा' ← ? अतः उपर्युक्त पद्धति से पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता घटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न होती है - यह उभयमत
से सिद्ध होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी प्रामाणिक है । अतएव द्वितीयादि भंग और उनसे गर्भित
सप्तभंगी भी प्रामाणिक है - यह सिद्ध होता है । हाथ कंगन को आरसी क्या ?

त्वाङ्गोक्तदोष इति वाच्यम्, उक्तनीत्या घटत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगिताकल्प-
नेऽपि घटत्वादिधर्मावच्छिन्नतदकल्पनात् । न च तादृशप्रतियोगिता-तदवच्छेदकत्वादेः स्वरूपान-
तिरिक्ततया न तत्कल्पनागौरवमिति वाच्यम्, एवं सति गुरुधर्मे कारणतावच्छेदकत्वादेरप्या-

✽ जयलता ✽

ननुवादी तं प्रत्याचष्टे - उक्तनीत्येति । 'समनैयत्येन घटादितादात्म्य-घटत्वादेरैक्यमि'तिप्रदर्शितदिशेति । घटत्वादिसम्बन्धा-
वच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगिताकल्पनेऽपि = 'घटो न पटः' इत्यादी पटादिनिष्ठप्रतियोगिताया घटादितादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वेन
घटत्वाद्यवच्छिन्नत्वसम्भवेऽपि घटत्वादेः सम्बन्धविषयताऽवच्छेदकत्वं न तु धर्मविधया, भेदीयप्रतियोगितायाः संसर्गावच्छिन्नत्वनियमात् ।
अत एव घटत्वादिधर्मावच्छिन्न-तदकल्पनात् = घटत्वादिधर्मावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगित्वाऽकल्पनात्, धर्मविधया घटत्वादेः
स्यानाश्रयपटादिनिष्ठभेदीयप्रतियोगिताया अनवच्छेदकत्वात् । ततः 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिं घटत्वादिधर्मे पटादि-
वृत्तिप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकत्ववत्त्वस्याऽकल्पत्वेन अधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽप्रामाणिकत्वात् न द्वितीयादि-
भङ्गप्रामाण्यम् । अतः प्रमाणावष्टम्भविकलैव सप्तमङ्गीति मौलपूर्वपक्षिणः तात्पर्यम् ।

न चेति । अन्वयश्चाऽस्य वाच्यमित्यनेन सह । तादृशप्रतियोगिता-तदवच्छेदकत्वादेः = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता-
तादृशप्रतियोगितावच्छेदकत्वादेः, स्वरूपानतिरिक्ततया = प्रतियोगि-प्रतियोगितावच्छेदकरूपतया, न कल्पनागौरवं = अतिरिक्त-
त्वकल्पनाप्रयुक्तगौरवम् । आदिशब्देन कारणता-विषयताऽधिकरणता-तत्त्व-तदवच्छेदकत्वादेर्ग्रहणम् । अयं भावः यदि प्रतियोगिता
प्रतियोगिव्यतिरिक्ता कल्प्येत प्रतियोगितावच्छेदकत्वञ्च प्रतियोगितावच्छेदकातिरिक्तं कल्प्येत तदा तु समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न-
प्रतियोगितातो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य विलक्षणत्वेन तत्कल्पनायां गौरवं स्यादेव । एवमेव समानाधिकरणप्रति-
योगितावच्छेदकाद् व्यधिकरणप्रतियोगितावच्छेदकस्य विलक्षणत्वेन तत्राऽव्यतिरिक्तावच्छेदकत्वकल्पना प्रसज्येत । न चैवम्, यतः
प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूपैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वञ्च प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपमेवेत्यङ्गीकारात् । तयोः तत्स्वरूपत्वे तु नैव
कल्पनागौरवम्, तत्स्वरूपाणां कल्पत्वात् । अत एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रामाण्योपगमे न तत्कल्पनागौरवमपि ।
अतः द्वितीयादिभङ्गानां तद्र्मितसप्तमङ्ग्याश्च प्रामाण्यमक्षतमेवेति स्याद्वादिन आशयः ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी तन्निराकुरुते - एवं सतीति । प्रतियोगिता-तदवच्छेदकत्वादेः प्रतियोगि-प्रतियोगितावच्छेदकाद्य-
नतिरिक्तत्वाभ्युपगमे सतीत्यर्थः । गुरुधर्मे = लघुधर्मसमनियतगुरुधर्मे, कारणतावच्छेदकत्वादेरिति । आदिशब्देनाधिकरण-

≡ पटादेवृत्ति प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्माविधया घटत्वादि नहीं हो सकती - पूर्वपक्षी ≡

पूर्वपक्षी :- उक्तनीत्या. इति । उस्ताद ! आपने घटत्व और घटादात्म्य में समनैयत्य के बल पर अभेद सिद्ध करने
का प्रयत्न किया वह ठीक है । मगर भेदनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक संबंध होता है । अतः 'घटः पटभेदवान्'
इत्यादि प्रतीति में पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक जैसे घटादितादात्म्य संबंध बन सकता है वैसे उससे अभिन्न घटत्वादि
भी बन सकता है, मगर वह सम्बन्धविधया अवच्छेदक हो सकता है, धर्मविधया नहीं । अतः पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता में
हम संबंधविधया घटत्वादि से अवच्छिन्नत्व की कल्पना करते हैं, न कि धर्मविधया घटत्वादि से अवच्छिन्नत्व (= नियंत्रितत्व)
की । अतः उक्त उदाहरण के बल से 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि स्थल में आप घटत्वादिधर्मावच्छिन्न पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता
की कल्पना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह उभय मत से सिद्ध नहीं है । अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक
अभाव अप्रामाणिक ही है । अतएव तन्मूलक द्वितीयादि भंग एवं सप्तमङ्गी भी अप्रामाणिक ही है -यह सिद्ध होता है ।

≡ प्रतियोगितादि प्रतियोगी आदि स्वरूप है - शंका ≡

स्याद्वादी :- न च तादृ. इति । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता एवं तादृश प्रतियोगिता के व्यधिकरण धर्म में
रही हुई अवच्छेदकता स्वरूप से अतिरिक्त नहीं होती है । मतलब कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूप
ही है, उससे भिन्न नहीं है । एवं प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म में रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता तादृश व्यधिकरण धर्मस्वरूप
ही है, उससे अतिरिक्त नहीं । प्रतियोगितावच्छेदक और प्रतियोगी का स्वरूप तो उभयमत से सिद्ध ही है । अतः व्यधिकरण-
धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव के स्वीकार में न तो अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना से प्रयुक्त गौरव है और न तो
अतिरिक्त प्रतियोगितावच्छेदकता की कल्पना से प्रयोज्य गौरव दोष है । अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को

पतेः शास्त्रे गौरवपदार्थस्य दुःप्रचारत्वापत्तेः ।

❀ गयलता ❀

तावच्छेदकत्वादेः परिग्रहः । अपि आपत्तेः । अयं भावः यदि प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूपा प्रतियोगितावच्छेदकत्वं च प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपमित्यङ्गीक्रियते तदा कारणतावच्छेदकत्वमपि कारणतावच्छेदकरूपं स्यात् । एवं च सति घटरूपकारणतावच्छेदकत्वं यथा घटत्वे स्यात् तद्वदेव कम्बुग्रीवादिमत्त्वेऽपि स्यात्, घटत्ववत् कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूपस्याऽपि क्लृप्तत्वात् । अस्त्येवं का क्षतिरित्याशङ्क्यामाह - शास्त्रे गौरवपदार्थस्य दुःप्रचारत्वापत्तेरिति । सर्वत्रैव शक्यत एव वक्तुं यदुताऽधिकरणतावच्छेदकत्वविषयतावच्छेदकत्वादेः स्वरूपाभिन्नत्वमेव । तत्स्वरूपाणां क्लृप्तत्वादेव गुरोरपि तत्त्वोक्तौ न किञ्चिद्वाधकमिति गौरवपदार्थ एव विलीयेत ।

यद्यपि गौरवज्ञानमात्रं नाऽवच्छेदकत्वधीप्रतिबन्धकं, विशिष्टसत्तात्वस्य द्रव्यत्वत्वाऽपेक्षया गुरुत्वग्रहेऽपि 'विशिष्टसत्ता नास्ती'ति प्रतीत्या तदवच्छेदकत्वग्रहस्य प्राच्यैरपि स्वीकृतत्वात् । न च तद्धर्मसमानाधिकरणधर्मधर्मिकः तदपेक्षया लघुत्वग्रहः तद्धर्मस्याऽवच्छेदकत्वधीप्रतिबन्धकः, नीलधूमत्वसमानाधिकरणधूमत्वं तदपेक्षया लघुत्वग्रहेऽपि 'नीलधूमो नास्ती'ति प्रतीत्या नीलधूमत्वस्याऽवच्छेदकत्वावगाहनस्य सर्वसम्मतत्वात् । नापि तद्धर्मसमनियतधर्मधर्मिक एव तद्धर्मपेक्षया लघुत्वग्रहः तद्धर्मस्याऽवच्छेदकत्वधीप्रतिबन्धकः; घटज्ञानत्वाऽपेक्षया लघुनोऽपि ज्ञानत्वस्य घटज्ञानत्वसमनियतत्वविरहाद् गुरुगोऽपि घटज्ञानत्वस्य संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटज्ञानाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वापत्तेः । तथापि अवच्छेदकत्वसम्बन्धेन प्रतियोगितादिप्रकारकबुद्धौ तादात्म्येन गुरुधर्मः प्रतिबन्धक इति न कदाचिदपि संसर्गभर्यादया गुरौ अवच्छेदकत्वग्रहः ।

ननु गुरुत्वस्य किञ्चित्सापेक्षतया कम्बुग्रीवादिमत्त्वादेरपि प्रमेयकम्बुग्रीवादिमत्त्वाऽपेक्षया लघुत्वेन तस्य प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिरिति चेत् ? मैवम्, विशेष्यतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंसर्गावच्छिन्नकम्बुग्रीवादिमत्त्वनिष्ठप्रकारताशालिग्रहं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धावच्छिन्ना कम्बुग्रीवादिमत्त्वापेक्षया लघुधर्मनिष्ठा प्रकारता तच्छालिज्ञानं प्रतिबन्धकमित्यत्र तात्पर्यमित्यन्यत्र विस्तरः ।

किञ्च, प्रतियोगितायाः स्वरूपानतिरिक्तत्वोपगमे सा किं अभावस्वरूपा प्रतियोगिस्वरूपा वेति ? पक्षोभयी समवतिष्ठते । आद्ये 'घटोऽभावप्रतियोगी'त्यस्य 'घटोऽभाववानि'त्यर्थः स्यात् । द्वितीये च 'घटो घटवानि'त्याकारः प्रसज्येतेति प्रतियोगिताऽ-

प्रामाणिक मानना आवश्यक है, जिसके फलरूप में द्वितीयादि भंग और उनसे निष्पन्न सप्तभंगी भी प्रामाणिक सिद्ध हो जायेगी ।

❀ प्रतियोगिता-प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि अतिरिक्त है - पूर्वपक्षी ❀

पूर्वपक्षी :- एवं सति. इति । जी हजरत ! आपकी यह बात कि —> 'प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूप है और प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि प्रतियोगितावच्छेदकादिस्वरूप है' <— असंगत है । इसका कारण यह है कि आपकी इस मान्यता के अनुसार कारणतावच्छेदकता भी कारणतावच्छेदक स्वरूप मानी जा सकती है । तब तो घटवृत्ति वर्ण-गंध-रसादि के कारणतावच्छेदकधर्म से घटत्व की भाँति कम्बुग्रीवादिमत्त्व का भी स्वीकार किया जा सकेगा । घटत्व की अपेक्षा गुरुधर्मभूत कम्बुग्रीवादिमत्त्व में कारणतावच्छेदकता के अंगीकार करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि कारणतावच्छेदकता तो आपके मतानुसार कारणतावच्छेदकस्वरूप ही है । घट में घटत्व और कम्बुग्रीवादिमत्त्व दोनों ही रहते हैं एवं दोनों का अपनी निजी स्वरूप भी विद्यमान है ही, उसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है । जो विद्यमान है, उसकी कल्पना करने की क्या आवश्यकता ? इस तरह तो गुरु धर्म अधिकरणतावच्छेदक, विषयतावच्छेदक, कार्यतावच्छेदक आदि भी बन जायेगा । तब तो न्यायशास्त्र में गौरव पदार्थ का दोषरूप से प्रचार ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार सर्वत्र गौरव दोष का परिहार हो सकता है । मगर ऐसा नहीं है । गुरुभूत धर्म में कारणतावच्छेदकता आदि का स्वीकार तर्कशास्त्र को मान्य नहीं है । अतः कारणतावच्छेदकता आदि को भी अतिरिक्त मानना आवश्यक है । जब यह सिद्ध हुआ तब तो प्रतियोगितासमानाधिकरण धर्म में रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता की अपेक्षा प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म में रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता को अतिरिक्त माननी पड़ेगी । एवं समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता की अपेक्षा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता को भी अतिरिक्त माननी पड़ेगी । तब तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का स्वीकार करने में अतिरिक्त प्रतियोगिता एवं अतिरिक्त प्रतियोगितावच्छेदकत्व की कल्पना से प्रयुक्त गौरव अपरिहार्य बन जायेगा । इस गौरव दोष के कारण हम व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को अप्रामाणिक कहने हैं । तब तो द्वितीयादि भंग एवं उनसे घटित सप्तभंगी भी अप्रामाणिक

यत्तु -> 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतिः घटत्वसम्बन्धावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभा-
वावगाहित्वेनैवोपपत्तेर्न तथा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावसिद्धिः, अन्यथा घटत्वाद्यवच्छिन्न-
घटादिनिष्ठप्रतियोगिताकाऽभावत्वेन घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुताकल्पने (? घटत्वाद्यवच्छिन्न-

॥ गत्यतता ॥

अतिरिक्तैव कल्पनीया । एवमेव विषयता-विषयितादिकमप्यतिरिक्तमेवेत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

यच्चिति । अन्यथास्य 'भवदेवाभिमतमि'त्यत्र । भवदेवः तत्त्वचिन्तामणिल्याख्याकारः प्रकृतेऽभिमतः । 'घटत्वेन
पटो नास्ती'ति प्रतीतेरिति । इदमुपलक्षणं 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रतीतिः । घटत्वसम्बन्धावच्छिन्न-पटनिष्ठप्रतियोगिता-
काभावावगाहित्वेनैवेति घटतादात्म्यलक्षणघटत्वसंसर्गेणाऽवच्छिन्ना या पटवृत्तिप्रतियोगिता तन्निरूपकात्यन्ताभावविषयत्वेनैवेति ।
एवकारेण धर्मविधया घटत्वेनावच्छिन्नायाः पटवृत्तिप्रतियोगिताया निरूपकस्याभावस्य अवच्छेदः कृतः । उपपत्तेः = संगतेः
न तथा = दर्शितप्रतीत्या व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावसिद्धिः = अतिरिक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावसिद्धिः ।
विपक्षत्राधमाह - अन्यथेति । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसमनियतस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव-
स्याऽतिरिक्तत्वोपगमे इति । घटत्वाद्यवच्छिन्नेति । अयं भवदेवाशयः यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य व्यधि-
करणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावातिरिक्तत्वमङ्गीक्रियते तदा घटत्वाद्यवच्छिन्नवत्ताबुद्धिं प्रति घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य
प्रतिबन्धकत्वं न स्यात्, घटत्वाद्यवच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभाववत्यपि घटत्वविशिष्टप्रकारकबुद्धेर्जायमानत्वात् किन्तु
घटत्वाद्यवच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिताकाऽभावरयैव तत्त्वं स्यात् । ततो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽतिरिक्तत्वकल्पने
तादृशप्रतियोगितायां प्रतियोगितावच्छेदकसामानाधिकरण्यनिवेशावश्यकत्वेन गौरवापातः । न च तत्राऽपि संयोगेन घटवति सम-
वायेन घटाभावबुद्धेर्जायमानत्वात्तुल्यगौरवमिति वाच्यम्, स्वप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन स्वप्रतियोगिमत्ताबुद्धिं प्रत्येवाऽभावरय
ही बन जायेगी ।

॥ भवदेव के मत का निरूपण ॥

यत्तु. इति । यहाँ पूर्वपक्षी (ननुवादी) प्रासंगिक रूप से तत्त्वचिन्तामणि के उपर टीका की रचना करने वाले भवदेव
नाम के नव्य नैयायिक के मत का खंडन करने के लिए सर्व प्रथम उसके मत का निरूपण कर रहे हैं । भवदेव का मत
यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताका अभाव की सिद्धि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति के बल से नहीं हो सकती
है, क्योंकि वह प्रतीति - "घटतादात्म्यस्वरूप घटत्वसम्बन्ध से अवच्छिन्न पटवृत्ति प्रतियोगिता के निरूपक अभाव को ही
विषय करती है" - ऐसा स्वीकार करने पर भी उपपन्न हो सकती है, तब घटत्वधर्मावच्छिन्न पटवृत्ति प्रतियोगिता के निरूपक
अभाव को उस प्रतीति का विषय मानने की क्लिष्ट कल्पना क्यों की जाय ? मतलब कि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति
के विषयभूत अभाव से निरूपित प्रतियोगिता धर्मविधया घटत्व से अवच्छिन्न नहीं है किन्तु सम्बन्धविधया घटत्व से अवच्छिन्न
है । अतः उक्त प्रतीति के बल से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता और उसके निरूपक अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती
है । उपर्युक्त प्रतीति प्रतियोगिता के आश्रय में अविद्यमान घटत्व धर्म को स्वव्यधिकरण प्रतियोगिता का अवच्छेदक बना
कर धर्मरूप से घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अत्यन्ताभाव को अपना विषय बनाती है - ऐसा मानने पर
गौरव भी उपस्थित होता है । वह गौरव दोष इस तरह प्रसक्त होता है । देखिए, घटवत्ता बुद्धि की प्रतिबन्धक घटाभावबुद्धि
होती है । घटत्वाद्यवच्छिन्नवत्ता बुद्धि की प्रतिबन्धकता घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबुद्धि में होती है - यह सर्वजनविदित है ।
मगर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबुद्धि को व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयक न मानी जाय, तब
घट-त्वाद्यवच्छिन्नवत्ताबुद्धि की प्रतिबन्धक घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव की बुद्धि नहीं हो सकेगी । इसका कारण यह है कि
घटत्वरूप से घटाभाव भूतल में, जो घटविशिष्ट है, रहने की वजह घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव भूतल में रहता ही है
। उसकी बुद्धि होने पर भी 'घटवत् भूतल' ऐसी घटत्वाद्यवच्छिन्नवत्ताऽवगाहि बुद्धि उत्पन्न होती है । भूतल में घटत्वेन घटाभाव
रहने पर भी घट रह सकता है । अतः घटत्वाद्यवच्छिन्नपटवृत्तिप्रतियोगितानिरूपक अभाव की बुद्धि को ही घटत्वाद्यवच्छिन्नवत्ताबुद्धि
का प्रतिबन्धक मानना होगा । मतलब कि घटत्व से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता है वह घट में वृत्ति हो, तभी तादृश प्रतियोगिता
के निरूपक अभाव का ज्ञान घटप्रकारक बुद्धि का प्रतिबन्धक हो सकता है - ऐसा मानना होगा, जिसकी वजह अभावीय
प्रतियोगिता में प्रतियोगितावच्छेदकीभूत घटत्व के आश्रय घट से निरूपित वृत्तित्व का विशेषणविधया प्रवेश करने का गौरव

वत्ताबुद्धिं प्रति प्रतिबन्धकताकल्पने) गौरवादिति भवदेवाभिमतं <— तात्त्विकत्वात् ।

घटत्वविशिष्टपटवत्ताभ्रमप्रतिबन्धिकायाः तस्या घटत्वविशिष्टपटाभावाऽवगाहित्वस्य बाधकसहस्रेणाऽपि पराकर्तुमशक्यत्वात् । न खलु सहस्रेणाऽपि बाधकैः 'इदं रजतमि'ति प्रतीतेः रङ्गत्वावलम्बनत्वं व्यवस्थापयितुं शक्यते । तदिदमभिप्रेत्योक्तं दीधितिकृता 'यदि पुनरानुभविको लोकानां स्वरसवाही 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रत्ययो न तदा

❀ अयत्नता ❀

प्रतिबन्धकतायाः उन्वयमनसिद्धत्वात्, तव तु प्रतिबन्धकीभूताभावनिरूपितप्रतियोगितायाः स्वावच्छेदकधर्माश्रयवृत्तित्वेनाऽऽकृष्टमन विशेषणीयत्वाद्गौरवमव्याहतमिति व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव 'पटत्वेन घटो नास्ती'ति बुद्धिविषयत्वमर्हतीति ।

यद्यपि प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवे सति प्रतिबन्धकतावच्छेदकावच्छिन्नाभावरूपस्य प्रतिबन्धकाभावस्य प्रतिबन्धनिष्ठ कार्यतानिरूपकस्य गुरुतरशरीरकत्वेऽपि कारणताकुक्षौ तदप्रवेशात्कारणताशरीरे गौरवानापातेन प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवस्य न दोषत्वमिति वक्तुं युज्यते तथापि तस्य स्पष्टत्वात्तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण प्रदर्शितभवदेवमतनिराकरणकृते आह - घटत्वेति । अयमाशयः कस्यचित् भूतले घटत्वविशिष्टरूपेण पटवत्ताप्रकारको भ्रमः सञ्जातः तस्य प्रतिबन्धिका तु घटत्वविशिष्टपटाभावप्रकारकभूतलविशेषकप्रतीतिरेव सम्भवति, विशिष्टतद्वत्ताबुद्धिं प्रति विशिष्टतदभावत्ताबुद्धेरेव प्रतिबन्धकत्वात् । यदि चोपदर्शितभ्रमप्रतिबन्धकप्रतीतेर्यदवच्छिन्नपटवृत्तिप्रतियोगिताकप्रकारकत्वं न स्यात् तर्हि तद्विरोधित्वमेव न स्यात्कृतः तत्प्रतिबन्धकत्वम् ? तस्याः प्रतीतेः घटत्वविशिष्टपटाभावाऽवगाहित्वस्य = घटत्वावच्छिन्नपटवृत्तिप्रतियोगिताकाभावगोचरत्वस्य बाधकसहस्रेणापि पराकर्तुं = निराकर्तुं अशक्यत्वात्, अन्यथा प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्यैवाऽनुपपत्तेः । तदेव दृढयति - न खल्विति । अन्वयश्चाऽस्य 'शक्यत' इत्यत्र । रङ्गत्वावलम्बनत्वं = रङ्गत्वप्रकारकत्वं व्यवस्थापयितुं = प्रमाणयितुं शक्यते, 'इदं रजतमि'ति व्यवसायज्ञानोत्तरं जायमानेन 'इदं रजततया जानामि' 'रजततयेदं मया ज्ञातमि'त्याद्यनुव्यवसायेनैव पूर्वोत्पन्नव्यवसायज्ञानस्य रजतत्वप्रकारकत्वसिद्धेः, अनुव्यवसायस्यैव व्यवसायस्वरूपनिर्णायकत्वात्, स्वरसवाहिप्रत्यक्षस्य सर्वतो बलवत्त्वात् । तस्य रङ्गत्वप्रकारकत्वावगाहनेऽनुव्यवसायस्य भ्रान्तत्वमापद्येत । तदुक्तं भवानन्देन तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रकाशे विशेषव्याप्ती "अतत्प्रकारके तत्प्रकारकत्वस्याऽनुव्यवसायेन विषयीकरणेऽनुव्यवसायस्य तत्प्रकारकत्वांशे भ्रान्तत्वापत्तेः 'इदं रजतमि'तिप्रतीतेः रजतत्वप्रकारकत्वस्याऽनुव्यवसायेन विषयीकरणात्" (त.चिं.दी.प्र.वि.व्या.प्र.पृ.४६९) इति ।

तदिदमभिप्रेत्येति । 'सार्वजनीनानुभवस्यैव बलवत्त्वमि'त्यनुविचिन्त्येति । उक्तं दीधितिकृता रघुनाथशिरोमणिना व्यधिकरणप्रकरणदीधिताविति शेषः । यदि पुनरिति । स्वरसवाही = अस्खलितः स्वारसिकः । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रत्यय इति । आदिपदेन 'घटत्वेन द्रव्यं नास्ति', 'द्रव्यत्वेन घटो नास्ती'त्याद्यनुभवस्य परिग्रहः । तुल्ययुक्त्या तदवृत्तिधर्मेण तस्यैव विशेषरूपेण सामान्यस्य सामान्यरूपेण च विशेषस्याऽभावे बाधकाभावादिति ध्येयम् । तादृशाभावनिवारणं = स्वसमनियतान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावापाकरणम् । तेन विशेषरूपेण सामान्यस्य सामान्यरूपेण य विशेषस्याभावः सङ्गृहीतः

उपस्थित होता है । इस गौरव दोष के सबब 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति को घटत्व = घटभेदाभाव = घटतादात्म्यात्मक सम्बन्ध से अवच्छिन्न = नियन्त्रित प्रतियोगिता के निरूपक अभावविषयक माननी जरूरी है ।

❀ भवदेव के मत की त्रुटिमातोलना ❀

पूर्वपक्षी :- घटत्व. इति । उपयुक्त भवदेव का सिद्धांत ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि जब किसी पुरुष को भ्रम हो जाता है कि 'भूतल में घटत्वविशिष्ट पट है' तब उस भ्रम की प्रतिबन्धक बुद्धि बड़ी हो सकती है जो भूतल में घटत्वविशिष्टपटाभाववत्ता का अवगाहन करती हो । तदवत्ताबुद्धि के प्रति तदभाववत्ताबुद्धि प्रतिबन्धक होती है, न कि अतद्वत्ताबुद्धि । प्रस्तुत में भ्रम घटत्वविशिष्टपटवत्ताविषयक है । अतः उसकी प्रतिबन्धक बुद्धि घटत्वविशिष्टपटाभाववत्ताऽवगाही ही होनी चाहिए । ऐसा मानने पर ही दोनों में विरोध का संपादन होने से प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव उपपन्न हो सकता है । असमानविषयक ज्ञान में विरोध न होने से प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव नहीं हो सकता है । दंडवत्ताबुद्धि का प्रतिबन्धक रक्तदंडाभाववत्ता अवगाही ज्ञान नहीं हो सकता है । अतः यदि प्रस्तुत में घटत्वविशिष्टपटाभावविषयक बुद्धि का स्वीकार न किया जाय तब तो घटत्वविशिष्टपटवत्ता अवगाही भ्रम की कोई भी बुद्धि प्रतिबन्धक नहीं बनेगी । ऐसा होने पर फलतः उस भ्रम का उच्छेद नहीं हो सकेगा । मगर यह तो भवदेव को भी अभिमत नहीं है । अतः उस बुद्धि के प्रतिबन्धकरूप में घटत्वविशिष्टपटाभावभावविषयक बुद्धि

‘तादृशाऽभावनिवारणं गीर्वाणगुरूणामपि शक्यमिति मन्तव्यम् ।

न च घटत्वेनाऽनाहार्यपटवत्तानिश्चये कथमेतादृशधीरिति वाच्यम्, अवच्छेदकोदासीनायाः तस्या अविरोधात् ।

❀ गत्यलम् ❀

इति जगदीशव्याख्यालेशः ।

यत्तु नव्यैः “दीधितिकृता ‘यदि तदा’ इति पदाभ्यां तादृशप्रतीतेरानुभविकत्वे विवादं सूचयता व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्याऽपारमार्थिकत्वं ध्वनितमि” त्र्युच्यते, तदसत्, शतशः तर्कवाक्यशस्त्रप्रयोगानन्तरमपि विपक्षबाधकविरहात् तादृशव्याप्ति-शैथिल्यविमर्शं विना तादृशपदद्वयप्रयोगाऽसम्भवात् । अत एव ‘गीर्वाणगुरूणामपी’ति प्रयोगः तेन कृत इति दृढमवधेयम् ।

भवदेवमतनिराकरणं विस्तरतः ‘अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणादावनुसन्धेयम् ।

ननु घटत्वविशिष्टपटवत्ताबुद्धिर्यदाऽकृत्रिमस्वरूपा जाता तदा तु घटत्वविशिष्टाभाववत्ताबुद्धिर्नैव सम्भवति । अतः साऽकृत्रिमरूपा अनाहार्यबुद्धिः कथं केन प्रतिबध्वा स्यादिति शंकां निराकर्तुमुपन्यस्यति - न चेति । घटत्वेनाऽनाहार्यपटवत्ता-निश्चये = घटत्वविशिष्टपटप्रकारकेऽकृत्रिमनिश्चये सति, कथं एतादृशधीः = घटत्वविशिष्टपटाभावप्रकारकबुद्धिः ? ततः नैवातिरिक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसिद्धिरिति व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूप एव स स्वीकर्तुं योग्य इति शङ्कातात्पर्यम् ।

मौलपूर्वपक्षी तन्निराचष्टे - अवच्छेदकोदासीनाया = अवच्छेदकत्वानवगाहिन्याः तस्याः घटत्वविशिष्टपटाभावप्रकारक-निश्चयरूपायाः बुद्धेः अविरोधात् = अप्रतिबध्यत्वात्, समानावच्छेदकावगाहितद्वत्ता-तदभाववत्ताबुद्धयोरेव प्रतिबध्यप्रतिबन्धक-भावसम्भवात् अवच्छेदकतानवाहिनस्तस्य प्रतिबध्यताकोटिनिष्क्रान्तत्वान्न प्रतिबन्धः इति भावः ‘घटत्वेन पटो नास्ती’त्यत्र

का स्वीकार करना ही होगा । ऐसा मानने पर तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि अनायास हो जायेगी, क्योंकि उक्त बुद्धि में घटत्व का भान धर्मविधया ही होता है, न कि संसर्गविधया । अतः हजार बाधक उपस्थित होने पर भी घटत्वविशिष्टपटवत्ता अवगाही भ्रम की प्रतिबन्धक बुद्धि में घटत्वविशिष्टपटाभाववत्ता अवगाहित्व का निराकरण नहीं हो सकता है । चाकचिक्यादि दोष की वजह रंग = कलाई धातु में ‘इदं रजतं’ ऐसी भ्रमात्मक बुद्धि में हजार बाधक उपस्थित होने पर भी रंगत्वप्रकारकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । इसका कारण यही है कि ‘इदं रजतं’ इत्याकारक व्यवसाय ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर होने वाले अनुव्यवसाय ज्ञान ‘इदं रजततया जानामि’ अर्थात् ‘मैं इसे रजतरूप से = चाँदी के रूप से जानता हूँ’ इत्याद्याकारक होता है, जिससे फलित होता है कि तादृश अनुव्यवसाय के पूर्व उत्पन्न ‘यह चाँदी है’ इत्याकारक व्यवसाय ज्ञान रजतत्वप्रकारक है, न कि रंगत्वप्रकारक । अनुभव ही सब से बड़ा प्रमाण है । इसलिए तो तत्त्वचिंतामणि ग्रंथ की दीधिति नाम की टीका के रचयिता खुनाथशिरोमणि ने व्यधिकरणप्रकरण में कहा है कि - “यदि ‘घटत्वेन पटो नास्ति’ ऐसा अनुभव लोगों का स्वारसिक = अस्वलित स्वारसिक हो तब तो तादृश बुद्धि का निवारण करना देवों के गुरु बृहस्पति के लिए भी अशक्य है, दूसरों की तो बात क्या ?”

❀ निरवच्छिन्ना प्रतीति विरुद्ध नहीं हो सकती ❀

न च घट. इति । यहाँ यह शंका हो कि → “घटत्वेन पटवत्ता की अनाहार्य = अकृत्रिम बुद्धि उत्पन्न होने पर घटत्वेन पटाभाववत्ता की बुद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि घटत्वविशिष्ट पटवत्ता की अनाहार्य = अकृत्रिम बुद्धि घटत्वविशिष्टपटा-भावप्रकारक बुद्धि की विरोधी होती है” ← तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटत्वेन पटवत्ता अवगाही अनाहार्य = अकृत्रिम बुद्धि सावच्छिन्न बुद्धि की ही विरोधी होती है, निरवच्छिन्न बुद्धि की नहीं । घटत्वेन पटवत्ता के अनाहार्य = अकृत्रिम निश्चय के उत्तर काल में जो घटत्वेन पटाभाववत्ता की बुद्धि होती है, वह अवच्छेदकता अवगाही नहीं है, किन्तु अवच्छेदकता अनवगाही है । अतः पूर्वोत्पन्न बुद्धि उसकी विरोधी नहीं हो सकती । अतएव उसकी उत्पत्ति में पूर्वोत्पन्न घटत्वेन पटवत्ता का अनाहार्य

१. मूलादर्शे तादृशशब्दानन्तरानुसन्धेयात् शेषा पद्धिः तन्निनिर्माक्य व्यधिकरणदीधितितो योजिता ।

२. “यत्तु पररूपावच्छिन्नाभावो व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभावेनैव गतार्थ इति भवदेवमतम्, तत्तु गतार्थमेव, विनिगमकाभावात् प्रतीतिशरणप्रथमकल्पनाया उभयत्र तौल्यात्, ‘भूतले घटत्वेन पटो नास्ति न तु घट’ इत्यस्याऽप्यगम्यतात्पत्तेः, घटवत्त्वपि घटत्वसम्बन्धेन तदभावाक्षतेरित्याधिकं लतायाम्” (अ.स.वि.पु.२१५) इति अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे प्रकरणकृतोक्तमिति ध्येयम् ।

'तदौदासीन्यमेव कथमि'ति चेत् ? तृतीयांतपदोल्लिखितधर्मेऽवच्छेदकत्वस्य गौरवेण बाधात्, तृतीयांतपदस्थलेऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य च व्युत्पत्त्यलभ्यत्वात् । गौरवाऽप्रतिसन्धानदशायां घटत्वांशेऽवच्छेदकत्वाऽनुदासीनामपि च 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति धियं घटत्वेन घटवत्ताधीर्न विरुणद्धि, तस्या घटत्वावच्छिन्नाऽभावधिय एव विरोधित्वात् ।

✽ अथ लक्षण ✽

तृतीयायाः सत्त्वे कथं नाऽवच्छेदकत्वावगाहित्वं तस्याः ? इति शङ्कते-तदौदासीन्यं = अवच्छेदकत्वानवगाहित्वं एव कथं = कस्माद्धेतोः ? तस्याऽपि निश्चयस्याऽवच्छेदकतावगाहित्वमेवाहंतीति प्रश्नाशयः । मौलपूर्वपक्षी समाधत्ते - तृतीयान्तपदोल्लिखित-धर्मेऽवच्छेदकत्वस्य कल्पनाया गौरवेण = अप्रामाणिकगौरवेण बाधात् = प्रतिबध्यत्वात् । 'तर्हि प्रागुपदर्शितदिशा अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य च व्युत्पत्तिलभ्यत्वात् 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यत्र पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वलाभेन वृद्धिमिच्छतो मूलहानिरायातेत्याशङ्कायां ननुवादी मौलपूर्वपक्षी आह-तृतीयान्तपदस्थले = तृतीयान्तपदसमभिव्याहारस्थले अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य = प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वस्याऽभावांशे व्युत्पत्त्यलभ्यत्वात्, अन्यथा 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमात्रास्ती'ति प्रतीतेरप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् ।

ननु 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्याकारके अवच्छेदकत्वानवगाहि ज्ञानं घटत्वेन पटवत्ताऽनाहार्यनिश्चयो न प्रतिबध्नाती कुतोऽवसितमित्याशङ्कायां ननुवादी मौलपूर्वपक्षी आह- गौरवाऽप्रतिसन्धानदशायामिति । गौरवज्ञानस्य प्रतिबध्यतावच्छेदकत्व-ग्रहविरोधितया तज्ज्ञानदशायां तादृशप्रतीतिर्न सम्भवति । गौरवज्ञानमात्रमप्रयोजकम्, अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितस्यैव विरोधिज्ञानस्य सर्वत्र प्रतिबन्धकत्वात् । अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितगौरवज्ञानविरहलाभाय 'गौरवाऽज्ञानदशायामि'त्यनुक्त्वा 'गौरवाऽप्रतिसन्धान-दशायामि'त्युक्तम् । घटत्वांशेऽवच्छेदकत्वानुदासीनामपि = पटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितस्यावच्छेदकत्वस्य घटत्वेऽवगाहिनी । इयं बुद्धिः भ्रमात्मिका समवसेया अपिशब्देन तदनवगाहिनीसमुच्चयः कृतः । 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति धियं घटत्वेन घटवत्ताधीः = घटत्वविशिष्टघटप्रकारकबुद्धिः, न विरुणद्धि = प्रतिबध्नाति । कस्माद्धेतोः ? इत्याशङ्कयामाह- तस्याः = घटत्वविशिष्टघटप्रकारकधियः, घटत्वावच्छिन्नाभावधियः = घटत्वविशिष्टघटप्रतियोगिकाभावधियः घटत्वावच्छिन्न-घटनिष्ठप्रतियोगिता-निरूपकाभावबुद्धेरिति यावत् । एवकारेण घटत्वावच्छिन्न-पटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावप्रतीतेर्व्यवच्छेदः कृतः । विरोधित्वात्,

निश्चय प्रतिबन्धक नहीं हो सकता । अतएव उत्तरकाल में उसकी उत्पत्ति होने में कोई बाध नहीं है । यहाँ यह प्रश्न हो कि → "तादृश उत्तर काल में उत्पन्न बुद्धि अवच्छेदकता अनवगाही कैसे होगी ? क्योंकि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस बुद्धि में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है । जहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है, उस स्थल में अवच्छेदकता अवगाही बुद्धि होती है" ← तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि तृतीयांत पद से उपस्थापित पदार्थ में अवच्छेदकत्व की कल्पना करने में गौरव है । गौरव दोष ही तृतीया विभक्ति वाले पद के वाच्यार्थ में अवच्छेदकत्व का बाधक है । यहाँ यह शंका करना कि → "यदि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस बुद्धि में घटत्व में अवच्छेदकत्व धर्म की कल्पना न की जाय तब तो पटत्व धर्म में अवच्छेदकत्व की कल्पना करने का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि प्रतियोगिता स्वान्वयितावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न होती है और तादृश प्रतियोगिता का निरूपकत्व जिस अभाव में रहता है उस अभाव में अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व संबंध से रहने वाला धर्म ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है । अतः प्रस्तुत में स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व संबंध से अभाव में रहने वाले पटत्व धर्म में अवच्छेदकत्व धर्म की कल्पना करनी होगी जिसके फलस्वरूप में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि नहीं होगी" ← ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व संबंध का लाभ तृतीयांत पद के समभिव्याहार के अभाव में ही होता है - यह व्युत्पत्ति है । तृतीया विभक्त्यंत पद के समभिव्याहार स्थल में अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का लाभ शाब्दबोधस्थलीय नियम से प्राप्त नहीं होता है । अतः प्रतियोगिता-न्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व में अवच्छेदकत्व की कल्पना का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित नहीं होगा । यहाँ यह शंका करना कि → "अवच्छेदकताअवगाही बुद्धि अवच्छेदकताअनवगाही बुद्धि की विरोधी नहीं है- यह किसी स्थल में देखा गया है ? जिसके बल पर आप उपर्युक्त प्रतिपादन कर रहे हैं" ← ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि गौरव का प्रतिसन्धान न होने पर घटत्व अंश में अवच्छेदकत्व की अवगाही 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस बुद्धि की भी 'घटत्वेन पटोऽस्ति' यह पूर्वोत्पन्न बुद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती है । इसका कारण यह है कि 'घटत्वेन पटोऽस्ति' ऐसी घटत्वविशिष्ट घटवत्ता अवगाही बुद्धि में घटत्वविशिष्ट घटप्रतियोगिक अभावविषयक बुद्धि का प्रतिबन्धकत्व है । अतः घटत्वविशिष्ट घटवत्ता का निश्चय केवल घटत्वविशिष्ट

अथ व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक इति न तदतिरेककल्पनागौरवम् । न च तथापि घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकसामग्र्या घटत्व-पटत्वादिज्ञानस्य नानाविधतद्विरोधज्ञानस्य च सहकारित्वकल्पने महद्गौरवमिति वाच्याम्, घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभ्रमोपपत्तये

॥ मयत्ता ॥

तयोरेव समानाकारकत्वेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावसम्भवात् । अयमाशयः घटत्वविशिष्टघटप्रकारकबुद्धेः घटत्वविशिष्टघटाभावप्रकारकबुद्धिविरोधित्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वमेव सम्भवति न तु घटत्वविशिष्टघटाभावप्रकारकभ्रमप्रतिबन्धकत्वम् । न च घटत्वविशिष्टप्रकारकबुद्धेः घटत्वविशिष्टप्रतियोगिकाभावप्रकारकबुद्धिप्रतिबन्धकत्वमेवोचितम्, न तु घटत्वविशिष्टघटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावबुद्धिप्रतिबन्धकत्वम्, प्रतिबध्यतावच्छेदकगौरवादिति वाच्यम्, तर्हि घटत्वविशिष्टाभावप्रमात्वस्यैव लाघवात् प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वमस्तु । तावतैव घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावबुद्धेः भ्रमत्वेन प्रतिबध्यताकोटिवद्भिर्भावसम्भवात् । न च तथापि ज्ञानत्वाऽपेक्षया प्रमात्वनिवेशे गौरवमव्याहृतमेव प्रमात्वस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपत्वादिति वाच्यम्, अत एव 'गौरवाऽप्रतिसन्धानदशायामि'त्युक्तत्वात् । इत्यञ्चाऽवच्छेदकत्वावगाहिनः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावज्ञानस्याऽपि तद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकप्रमाऽप्रतिबध्यत्वे कुतोऽवच्छेदकत्वानवगाहिनोऽभावप्रत्ययस्य तत्प्रतिबध्यत्वम् ? ततः घटत्वेन पटवत्ताऽनाहार्यनिश्चयं सत्यपि अवच्छेदकत्वानवगाहिनः 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रत्ययस्य सुतरामप्रतिबध्यत्वमिति स्थितम् । अत एव तृतीयान्तपदोपस्थाप्यधर्मेऽवच्छेदकत्वस्य कल्पनमपि नातिप्रयोजनम् । अवच्छिन्नत्वञ्चाऽत्र वैशिष्ट्यरूपं सामानाधिकरण्यरूपं या शोध्यमिति दिक् ।

कश्चिच्छङ्कते - अथेति । अन्वयश्चाऽस्य 'चेदि'त्यनेन सह बोध्यः । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एवेति । तत्समनियतत्वादिति शेषः । न तदतिरेककल्पनागौरवम् = व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावातिरिक्त-व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावकल्पनाप्रयुक्तगौरवमित्यर्थः । मध्यस्थस्य शङ्कां निरसितुमुपदर्शयति - न चेति । तथापि = अतिरिक्ताभावलक्षणधर्मिकल्पनाप्रयुक्तगौरवविरहेऽपि, घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकसामग्र्याः = घटत्वादिनिष्ठस्य पटादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकत्वस्य ज्ञापकसामग्र्याः, घटत्व-पटत्वादिज्ञानस्य घटत्वादि-पटत्वादिविषयकज्ञानस्य नानाविधतद्विरोधज्ञानस्य च प्रतियोगित्वस्य विरोधित्वलक्षणत्वात् सहकारित्वकल्पने महद्गौरवमिति । अयमाशयः व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव-व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावेक्यकल्पनेऽपि पटादिनिष्ठप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वेन घटत्वादिमानमावश्यकम् । अतः तद्भानार्थमतिरिक्तसामग्री कल्पनीया, घटत्वादेरभावविशेषणतानवच्छेदकत्वेन पटादिप्रतियोगिकाभावविशेषणतावच्छेदकत्वभासकसामग्र्याः घटत्वादिनिष्ठप्रतियोगिताऽवच्छेदकत्वभासकत्वाऽयोगात् । तदर्थं प्रतियोगितावच्छेदकीभूतपटादिविशेषणतावच्छेदकीभूतपटत्वादिगोचरज्ञानस्य सहकारित्वं कल्पनीयम् । तदृशाभावायप्रतियोगिताया व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वेन घटत्वादि-पटत्वादिविषयकविरोधित्वज्ञानस्याऽपि सहकारित्वं कल्पनीयम् । एवञ्चातिगौरवं प्रसज्येतेति ।

अथवादी तत्प्रत्याचष्टे-घटत्वादेरिति । अयमाशयः घटत्वादेः पटाद्यभावविशेषणतानवच्छेदकत्वेन प्रतियोगितावच्छेदकत्वभानं

घटप्रतियोगिक अभाव का विरोधी है, न कि घटत्व अंश में अवच्छेदकत्व की अवगाही 'घटत्वेन पटो नास्ति' ऐसी बुद्धि का भी, क्योंकि यह बुद्धि अभाव के प्रतियोगी पट में घटत्वविशिष्ट (= घटत्वावच्छिन्नत्व) का अवगाहन करने पर भी घट में अवगाहन नहीं करती है । इसी तरह प्रस्तुत में घटत्वविशिष्टपटवत्ता का अनाहार्य निश्चय घटत्वविशिष्टघटाभावविषयक बुद्धि, जो घटत्व अंश में अवच्छेदकता अनवगाही है, विरोधी नहीं हो सकती है । अतएव यह माना जा सकता है कि घटत्वविशिष्ट पटवत्ता का अनाहार्य निश्चय 'घटत्वेन पटो नास्ति' ऐसी अवच्छेदकता अनवगाही बुद्धि का प्रतिबन्धक नहीं होता है । अतः उत्तर काल में तादृश बुद्धि की उत्पत्ति का अंगीकार करने में कोई क्षति नहीं है-यह सिद्ध होता है ।

शंका :- अथ व्य. इति । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव वस्तुतः व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावस्वरूप ही है । अतः गौरव दोष का अवकाश नहीं है । यहाँ यह नहीं कहना कि → "व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अभिन्न मानने पर अतिरिक्त अभाव की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष का अवकाश न होने पर भी आपके पक्ष में महागौरव दोष उपस्थित होता है, जिसका निवारण आप नहीं कर सकते

तत्कल्पनाया आवश्यकत्वादिति चेत् ? न, तथापि घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पने गौरवात् । न च तत्र स्वस्वरूपविशेषरूपमेव तत्कल्पने गौरवधीर्न विरोधिनी, एवं सति गुरुणि कारणतावच्छेदकत्वादेरप्यापत्तेः शास्त्रे गौरवपदार्थप्रचारशैथिल्यापातादिति

✽ ननुवादी ✽

प्रमात्मकं न सम्भवति किन्तु भ्रमात्मकमेव । अतः तादृशभ्रमोपपत्तये दर्शितसहकारित्वादिकल्पनाया आवश्यकत्वमेव । न च गौरवम्, प्रथममतिरिक्ताभावाऽकल्पनलाघवनयेन प्रवृत्तौ पश्चादुपस्थितस्य तस्याऽदोषत्वात् ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी अथमतं प्रत्याचष्टे - नेति । तथापि = तादृशभ्रमोपपत्तये तत्कल्पनाया आवश्यकत्वेऽपि, घटत्वादौ प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मे पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पने गौरवात् । अन्यत्र समानाधिकरणधर्मे एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य दृष्टत्वात् प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मे स्वानाश्रयवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पनाया अदृष्टचरत्वात् तत्कल्पने गौरवमव्याहतमेवेत्यर्थः ।

नन्ववच्छेदकत्वमवच्छेदकस्वरूपविशेषरूपमेव न तु तदतिरिक्तम्, तदतिरिक्तत्वकल्पने गौरवात्, तत्स्वरूपस्य च क्लृप्तत्वादेव व्यधिकरणधर्मेऽवच्छेदकत्वकल्पनायां न गौरवमिति शङ्का निरसितुमुपदर्शयति - न चेति । तत्र = प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मे, स्वरूपसम्बन्धरूपतत्कल्पने = स्वरूपविशेषरूपस्य स्वव्यधिकरणप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य कल्पने, गौरवधीः = अतिरिक्तावच्छेदकत्वबुद्धिः, न विरोधिनी = न प्रतिबन्धिका । मौलपूर्वपक्षी ननुवादी दर्शितशङ्कानिरासे हेतुं दर्शयति - एवं सतीति । अवच्छेदकत्वस्य स्वरूपसम्बन्धरूपत्वकल्पने, गुरुणि = गुरुधर्मे, कारणतावच्छेदकत्वादेः आदिशब्देन प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकार्यतावच्छेदकत्वादेः परिग्रहः अपि किमुत प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्येत्यपिशब्दार्थः, आपत्तेः । ततः किमित्याह - गुरोरप्यवच्छेदकत्वापाते शास्त्रे गौरवपदार्थप्रचारशैथिल्यापातादिति । ततोऽवच्छेदकत्वमतिरिक्तमेवाभ्युपगन्तव्यम् । ततः व्यधिकरण-

हैं । महागौरव दोष का प्रतिपादन इस तरह किया जा सकता है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव का स्वीकार करने पर प्रतियोगिताव्यधिकरणीभूत घटत्वादि धर्म में पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व की भासक सामग्री की कल्पना करनी पड़ेगी । एवं घटत्व-पटत्वादि धर्म के ज्ञान में सहकारित्व की कल्पना करनी होगी । इसी तरह घटत्वादि व्यधिकरणप्रतियोगिता का अवच्छेदक होने की वजह घटत्वादि और प्रतियोगितान्वयितावच्छेदक पटत्वादि में और विरोध ज्ञान में सहकारिकारणत्व की कल्पना करनी पड़ेगी” <- इसका कारण यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अभिन्न सिद्ध होता है तब तो घटत्वादि में पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व की भ्रमात्मक बुद्धि के उपपादन के लिए वह कल्पना आवश्यक होने से गौरवरूप नहीं है ।

✽ प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म में अवच्छेदकत्व की कल्पना में गौरव - पूर्वपक्षी ✽

पूर्वपक्षी :- न तथा, इति । जनाब ! आपकी यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि तादृश सहकारित्व की कल्पना आवश्यक होने पर भी आपके मत में प्रतियोगिता के व्यधिकरण घटत्वादि धर्म में पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व की कल्पना करने का गौरव तो अपरिहार्य ही है । प्रतियोगितासमानाधिकरण धर्म में ही प्रतियोगितावच्छेदकता होती है - यह तो सर्वजनप्रसिद्ध है । मगर आप के मत में प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म में प्रतियोगितावच्छेदकत्व की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष प्राप्त होता है । यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि —> “प्रतियोगितावच्छेदकत्व तो प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप ही होता है । पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकीभूत घटत्वादि का स्वरूप तो क्लृप्त = प्रमाणसिद्ध है, कल्पनीय नहीं है । घटत्वादि में रही हुई पटादिवृत्ति प्रतियोगिता की अवच्छेदकता भी घटत्वादि के स्वरूपसम्बन्धात्मक ही है, अतिरिक्त नहीं । अतः प्रतियोगिताऽनाश्रयवृत्ति धर्म में अवच्छेदकत्व की कल्पना करने में कोई गौरव नहीं है” <- इसका कारण यह है कि अवच्छेदकत्व को अवच्छेदकस्वरूपविशेषात्मक ही माना जाय तब तो कारणतावच्छेदकता कारणतावच्छेदकस्वरूप हो जायेगी, कार्यतावच्छेदकता कार्यतावच्छेदकस्वरूप हो जायेगी । ऐसा होने पर तो गुरुभूत धर्म में भी कारणतावच्छेदकत्व की आपत्ति आयेगी । जैसे कि घटगंधादि का कारणतावच्छेदक घटत्व की भाँति कम्बुग्रीवादिमत्त्व भी हो सकेगा, क्योंकि कम्बुग्रीवादिमत्त्व में कल्पनीय घटगंधादिकारणतावच्छेदकत्व कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप ही है । घटत्व की भाँति कम्बुग्रीवादिमत्त्व को कारणता का अवच्छेदक मानने में कोई गौरव नहीं होगा, क्योंकि कारणतावच्छेदकता कारणतावच्छेदकस्वरूपसंबन्धात्मक ही है और कम्बुग्रीवादिमत्त्व घट में विद्यमान है = सिद्ध है = क्लृप्त है, कल्पनीय नहीं । ऐसा होने पर तो शास्त्र में गौरवपदार्थ का जो दोषरूप से प्रचार है - वह शिथिल हो जायेगा । मगर ऐसा नहीं है । अतः प्रति-

चेत् ?

मैवम्, यतो न ह्यत्र घटत्वेन घटस्येव घटत्वेन घटास्तित्वस्य विधिः, न वा घटत्वेन घटस्येव पटत्वादिना घटास्तित्वस्य प्रतिषेधः । किन्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयपरद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन मूलावच्छेदेन वृक्षे संयोगतदभावाविव घटेऽस्तित्वविधिनिषेधौ ।

❀ जयलता ❀

धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावकल्पने अकल्पावच्छेदकत्वगौरवमव्याहृतमेवेति द्वितीयादिभङ्गानां तद्वर्तितसप्तभङ्ग्याश्चाऽप्रामाणिकत्वमेवेति मौलपूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः ।

अधुना स्याद्वादिन उत्तरपक्षः प्रारम्भ्यते- मैवमिति । अनभ्युपगतोपालम्भदानान्न ननुवाचुक्तं सम्यगिति भावः । तदेव प्रकटयति - यत इति । यत्तु ननुवादिना “घटत्वादिना घटास्तित्वं कथं विधीयतां ? अस्तित्वेनैव तद्विधानसम्भवादि” त्र्युक्तं तत्राऽऽह न हीति । अस्य विधिरित्यनेनाऽन्वयः । घटत्वेन घटस्येवेति । अन्वयोदाहरणमिवम् । दार्ष्टान्तिकमाह- घटत्वेन घटास्तित्वस्य विधिरिति । घटत्वेन यथा घटस्य विधानं भवति तथाऽस्माभिः प्रथमभङ्गे घटत्वेन घटास्तित्वं न विधीयत इत्यनुक्तोपालम्भदानेन प्रतिवादी निगृहीतः इति भावः । यच्च ननुवादिना “पटत्वादिना वा घटास्तित्वं कथं प्रतिषिध्यतां ? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्याऽप्रामाणिकत्वात्” (दृश्यतां २३७ तमे पृष्ठे) इत्युक्तं तन्निरासकृते स्याद्वादी प्राह- न वेति । अस्य प्रतिषेध इत्यनेनाऽन्वयः । घटत्वेन घटस्येवेति । अन्वयदृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकमाह- पटत्वादिना घटस्तित्वस्य प्रतिषेध इति । यथा घटत्वेन घटस्य प्रतिषेधः क्रियते तथाऽस्माभिः द्वितीयभङ्गे पटत्वादिना प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मेण घटास्तित्वस्य निषेधो न क्रियते । अतोऽनुक्तोपालम्भदानेनाऽपरत्राऽपि ननुवादी निगृहीत इति प्रदर्शितम् । तर्हि केन रूपेण कस्य प्रथमे भङ्गे विधिः केन रूपेण कस्य द्वितीये भङ्गे निषेधश्च स्याद्वादिभिः क्रियत इति पराशङ्कयामाह- किन्त्विति । निषेधपूर्वमभ्युपगमसूचकोऽयं निपातः । स्वद्रव्यादिचतुष्टय-परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन = स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूपचतुष्टयावच्छेदेन परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूपचतुष्टयावच्छेदेन इत्यर्थः । यथाक्रममग्रे अस्तित्वविधिनिषेधयोरन्वयो बोध्यः । दार्ष्टान्तिकप्रतीतिदाढ्यार्थं दृष्टान्तं विद्योतयति मूलावच्छेदेन वृक्षे संयोगतदभावाविवेति । यथा वृक्षे मूलावच्छेदेन कपिसंयोगस्य विधिः अग्रभावावच्छेदेन च कपिसंयोगस्य निषेधो भवतः इति दृष्टान्तार्थः । घटेऽस्तित्वविधिनिषेधाविवेति । घटे स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन अस्तित्वस्य विधिः परद्रव्यादिचतुष्टयेन चाऽस्तित्वस्य निषेध इत्यपि संभवति । तथाहि घटे स्वद्रव्यपार्थिवत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधिः

योगितावच्छेदकता, कारणतावच्छेदकता, कार्यतावच्छेदकता आदि को प्रतियोगितावच्छेदकादि से अतिरिक्त मानना आवश्यक है । ऐसा सिद्ध होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव के अंगीकार पक्ष में उपर्युक्त रीति से गौरव अनिवार्य हो जायेगा । अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का अंगीकार करना अप्रामाणिक है । अतः सप्तभंगी के द्वितीय भंग में अप्रामाण्य वज्रलेप हो जायेगा । प्रथम भंग का अप्रामाण्य तो पूर्व में बता दिया ही है । फलतः इन दोनों के संमिलन से निष्पन्न सप्तभंगी भी अप्रामाणिक हो जायेगी । अतः सप्तभंगी में प्रामाण्य की जो घोषणा स्याद्वादी ने की है वह ठीक नहीं है ।

❀ सप्तभंगी प्रामाणिक है - उत्तरपदा ❀

स्याद्वादी :- मैवम्, इति । आपने सप्तभंगी के अप्रामाण्य का जो उपालम्भ दिया है - वह ठीक नहीं है, क्योंकि आपने जैसा कहा है वैसा हम मानते ही नहीं हैं । जैसे घट का घटत्वरूप से विधान होता है वैसे हम घटत्व धर्म की अपेक्षा घटास्तित्व का विधान नहीं करते हैं । अतः आपने जो पूर्व में कहा था कि —> “घटत्वरूप से घटास्तित्व का विधान शक्य नहीं है, घटास्तित्वत्वरूप से ही घटास्तित्व का विधान हो सकता है” <- वह निराकृत हो जाता है । जैसे घटत्वरूप से घट का निषेध होता है वैसे पटत्वरूप से हम घटास्तित्व का निषेध नहीं करते हैं । अतएव पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि —> “पटत्वादि धर्म से घटास्तित्व का निषेध नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रामाणिक होता है” <- वह भी परास्त हो जाता है । जो हम मानते नहीं हैं, उसका उपालम्भ देना नामुनासिब है । अब सप्तभंगी के प्रथम, द्वितीय भंग में हम क्या मानते हैं, उसे कान खोल कर सुनिये । ‘घटः स्यादस्ति एव’ इस प्रथम भंग में स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप चतुष्टयावच्छेदेन घट में अस्तित्व का विधान होता है एवं ‘घटः स्यात् नास्त्येव’ इस द्वितीय भंग में परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप चतुष्टयावच्छेदेन घट में अस्तित्व का निषेध होता है - ऐसा हम मानते

‘अवच्छेद्याधिकरणसम्बद्धमेवावच्छेदकमिति परद्रव्यादेः नास्तित्वावच्छेदकत्वं कथमनु-

❀ जयलता ❀

परद्रव्यभूतजलाद्यवच्छेदेनाऽस्तित्वस्य निषेधः, स्वक्षेत्रपाटलिपुत्रत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधिः परक्षेत्रभूतकान्यकुञ्जत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य प्रतिषेधः, स्वकालशैशिरत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधानं परकालवासन्तिकत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य प्रतिषेधः, स्वभावरक्तत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधिः परभावश्यामत्वाद्यवच्छेदेन चाऽस्तित्वस्य निषेधः इत्येवं विचार्यमाणं आद्यभङ्गद्वयं चारुतामश्नत्येव । एवमेव तद्वर्धितसप्तभङ्गचपि प्रामाण्यकोटिमाञ्जलयत्येव । = तस्य स्थागोपणाय यदेनमन्धो न पश्यति ।

विमलदासेनाऽपि सप्तभङ्गीतरङ्गिण्यां → ‘स्यादस्त्येव घटः, ‘स्यान्नास्त्येव घटः’ इत्यस्य स्वरूपाद्यवच्छिन्नास्तित्वाश्रयो घटः पररूपाद्यवच्छिन्ननास्तित्वाश्रयो घट इति च बोधः’ ← (स.न.त.पृ.३८) इत्येवं प्रतिपादितम् । युक्तञ्चेत्तत् यदि घटे स्वद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधानमिव परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेनाऽपि तद्विधानं स्यात्, घटो वैश्वरूप्यमादर्धीत । यदि परद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेन घटेऽस्तित्वस्य प्रतिषेध इव स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेनाऽपि तन्निषेधः स्यात् घटो बन्ध्यास्तन्धयतामश्नुवीत । न चैवम्, अतः घटे स्वद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधानं परद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेन तत्प्रतिषेधश्चोपगन्तुमर्हत एवेति स्वसमयोक्तदिशा सम्यगवसेयम् ।

ननु अवच्छेदकत्वं स्वावच्छेद्याश्रयसम्बद्धे एव भवितुमर्हति यथा स्वावच्छेद्यकपिसंयोगाधिकरणीभूतवृक्षसम्बद्धमूले कपिसंयोगावच्छेदकत्वं कपिसंयोगे च तदवच्छेद्यत्वम् । अतो घटवृत्तिनास्तित्वस्याऽवच्छेदकत्वं परद्रव्यादिचतुष्के न संभवि, तस्य स्वावच्छेदनास्तित्वाधिकरणीभूतघटाऽसम्बद्धत्वात् । ततः कथं घटे परद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेन नास्तित्वप्रतिपादनं घटाकोटि-माटीकेतेत्याशयेन परः प्रत्यवतिष्ठते - अवच्छेद्याधिकरणसम्बद्धमेवेति । एवकारेणावच्छिन्नाश्रयासम्बद्धस्य व्यवच्छेदः कृतः । परमते मूले वृक्षाश्रितत्वविरहात् सम्बद्धपदोपादानम् । अवच्छेदकमिति नियमादिति शेषः । यथा ‘इह पर्वते नितम्बे हुताशन’ इति बोधे ‘नितम्बावच्छिन्नपर्वतनिरूपितवृत्तिताया हुताशन’ इत्याकारके नितम्बस्य वह्निनिष्ठवृत्तितावच्छेदकत्वम्, अवच्छेद्यीभूताया वह्निनिष्ठाया पर्वतनिरूपितवृत्तिताया अधिकरणीभूतपर्वतसम्बद्धत्वात् । अतः परद्रव्यादेः घटापेक्षया परद्रव्यक्षेत्रकालादेः नास्तित्वावच्छेदकत्वं = घटवृत्तिनास्तित्वस्याऽवच्छेदकत्वं, कथं अनुपप्लवं ? नैव सङ्गतमित्यर्थः, अवच्छेद्यावच्छेदकयोर्वैयधिकरण्यादिति पराकृतम् ।

हैं । इसकी उपपत्ति ठीक उसी तरह हो सकती है, जैसे वृक्ष में मूलावच्छेदेन कपिसंयोग का विधान और अग्रभागावच्छेदेन कपिसंयोग का निषेध । जब वृक्ष के मूलभाग में बंदर बैठता है तब कपिसंयोग का अवच्छेदक मूलभाग होता है और अधिकरण वृक्ष । उस अवस्था में वृक्ष के अग्रभाग में कपिसंयोग नहीं होता है । अतः कपिसंयोगाभाव का अवच्छेदक अग्रभाग होता है और अधिकरण वृक्ष । अवच्छेदकभेद से एक ही वृक्ष में कपिसंयोग का विधान और निषेध हो सकता है । इसी तरह घट भी स्वद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा सत् होता है, न कि परद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से भी । परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा घट असत् होता है । अतः घट में भी स्वद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदेन अस्तित्व का विधान और परद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदेन अस्तित्व का निषेध हो सकता है । अवच्छेदकभेद से एक ही द्रव्य में अस्तित्व का विधान और निषेध होने में कोई बाधा नहीं हो सकती है - यह तो हम अभी ही वृक्ष में अवच्छेदकभेद से कपिसंयोग के विधान और निषेध के दृष्टान्त से प्रतिपादन कर चुके हैं । अतः सप्तभङ्गी का प्रथम और द्वितीय भंग भी प्रामाणिक ही है । एवं प्रथम और द्वितीय भंग के संयोग से निष्पन्न सप्तभङ्गी में अप्रामाण्य की घोषणा करना सिर्फ अज्ञान का ही सूचक है । अतः पूर्वपक्षी की उपर्युक्त रामकहानी नितांत अप्रामाणिक एवं उन्मत्त प्रलाप की भाँति अनुपादेय ही है - यह सिद्ध होता है ।

॥ परद्रव्यादे चतुष्टय में अवच्छेदकता मुमकिन - स्यात्वादी ॥

अवच्छेद्या. इति । यहाँ इस शंका का उद्भावन करना कि → ‘‘अवच्छेदक वही हो सकता है जो स्वावच्छेद्य के अधिकरण से संबद्ध हो । जैसे वृक्ष में कपिसंयोग की अवच्छेदक शाखा हो सकती है, क्योंकि शाखा अपने से अवच्छेद्य = नियंत्रित कपिसंयोग के अधिकरणीभूत वृक्ष से संबद्ध होती है । अतएव प्रस्तुत में द्वितीय भंग में घटवृत्ति नास्तित्व के अवच्छेदकविधया परद्रव्यादिचतुष्टय का स्वीकार नहीं हो सकता है, क्योंकि परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप चतुष्टय स्वावच्छेद्य नास्तित्व के अधिकरणी-भूत घट से असंबद्ध है । घट को स्वद्रव्यादि चतुष्टय के साथ सम्बन्ध होता है, परद्रव्यादि चतुष्टय के साथ नहीं । अतः घट के परद्रव्यादि चतुष्क में घटनिष्ठ नास्तित्व का अवच्छेदकत्व कैसे संगत होगा ?’’ ← ठीक नहीं है । इसका कारण

पल्लवमि'ति चेत् ? तादृग्नियमे माताभावादित्येव ब्रूमः ।

उत्पादव्ययधौव्यैक्यरूपं घटास्तित्वं स्वद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृतं, तदभावस्तु परद्रव्यादि-

❀ जयलता ❀

प्रकरणकृतः तत्प्रत्याचक्षते - तादृग्नियमे = स्वाश्रयसम्बन्धिन एव स्वावच्छेदकत्वमिति नियमे, माताभावात् विपक्ष-
बाधकतर्कविरहात् । अवच्छेद्यावच्छेदकयोरसामानाधिकरण्ये को दोषः ? इत्यत्र नैव किञ्चिदपि परेण वक्तुं शक्यते ।

वस्तुतस्तु यथा गौरवप्रतिसन्धानदशायामपि 'कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'त्यादिप्रत्ययबलात् प्रकारतावच्छेदकवद् गुरुरपि धर्मः
प्रतियोगितावच्छेदकः । अत एव तथाविधयत्किञ्चिद्व्यक्तिसत्त्वे तादृशप्रतीतेरनुदयः तत्सामान्यशून्य एव च तदुदयः । तथा
घटत्वादौ घटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पने गौरवप्रतिसन्धानदशायामपि 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिस्वारसिकप्रतीत्युदय-
महिम्नाऽवच्छेद्याधिकरणाऽसम्बद्धोऽपि धर्मो व्यधिकरणप्रतियोगिताया अवच्छेदक इत्युपगमे बाधकाभावात् ।

सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेवाऽवच्छेदकावच्छेद्योर्व्यधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः । प्रत्यक्षानुसारेणैव नियमकल्पनात् । न हि
प्रत्यक्षातिक्रमेण नियमस्य प्रवृत्तिः, प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेभ्यो बलवत्त्वात्, नियमस्य तदुपजीवकत्वात्, उपजीवकस्योपजीव्य-
प्रतिक्षेपाऽयोगात् । अत एव सामान्यतोऽभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वे क्लृप्तेऽपि संयोगाद्यभावे तथात्वाऽप्रतीतेः तादृग्नियमस्य
सर्वत्रिकत्वं त्यज्यते परेण । तद्वदेवाऽवच्छेदकाऽवच्छेद्योः सामानाधिकरण्ये क्लृप्तेऽपि 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिस्वारसिक-
प्रतीतिबलात् तयोः सामानाधिकरण्यनियमस्य सार्वत्रिकत्वं त्याज्यमेव, अन्यथा घटत्वेनाऽपि पटास्तित्वविधानप्रसङ्गस्य बृहस्पतिनाऽप्य-
निराकार्यत्वापातात् ।

न चैवं परस्याऽपरिद्धान्तोऽपि प्रसज्यते, तत्सिद्धान्तानुसारित्वादेतत्कल्पनायाः । तदुक्तं शङ्करमिश्रेण 'सच्चाऽसत्'
(वै.सू.अ.९, आ.१, सू.४) इति वैशेषिकसूत्रोपस्कारे → "भवति हि असन्नश्चो गवात्मना, असन् गौरश्चात्मना, असन्
पटो घटात्मना" ← (वै.सू.उप. पृ.३१३) । तदीयभाष्येऽपि → 'अश्वात्मना सन्नप्यश्चो न गवात्मनास्ती' ← (वै.सू.भा.
पृ.३१५) त्युक्तम् । अनेन पटादिनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितान्तरकल्पने गौरवादित्यपि प्रत्युक्तम् ।

अत एव घटे परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन नास्तित्वस्य प्रतिपादनमपि सङ्गतिमङ्गति ।

यच्च श्रीरामप्रपन्नाचार्येण जागदीशीव्यधिकरणदीपिकायां "प्रतियोगिता स्वाश्रयाऽवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना प्रतियोगितावच्छेदक-
विशिष्ट्यदिष्ट्यावगाहिबुद्धित्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकप्रकारतावच्छेदकानुयोगितानिरूपितत्वात्" (जा.व्य.दी.पृ.९७)
इत्युक्तं, तन्न चारु, अप्रयोजकत्वात् ।

स्वमतेनाऽऽद्यमङ्गद्वयं व्यवस्थाप्य श्वेताम्बरचूडामणिः प्रकरणकारो दिगम्बरमतेनाऽऽद्यमङ्गद्विकमुपदर्शयति - उत्पादव्यय-
धौव्यैक्यरूपं = संभव-विलय-स्थित्यभेदात्मकं घटास्तित्वं स्वद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृतं = स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावनिष्पन्नं, तदभावस्तु

यह है कि - स्वावच्छेद्य के अधिकरण से संबद्ध ही अवच्छेदक हो सकता है - यह नियम ही अप्रामाणिक होने से मान्य
नहीं हो सकता है - ऐसा हम स्याद्वादी कहते हैं । तादृश नियम के विपरीत में ऐसा कहा जाय कि → अवच्छेदक से
अवच्छेद्य का जो अधिकरण है, उससे अवच्छेदक असंबद्ध हो तो क्या क्षति है ? ← तो इसके प्रत्युत्तररूप में पूर्वपक्षी की
ओर से कुछ भी कथन नहीं किया जा सकता । विपक्षबाधक तर्क के विरह से वह नियम उपादेय नहीं है । अतः घटनिष्ठ
नास्तित्व का अवच्छेदक परद्रव्यादि चतुष्क भी हो सकता है । अनुभव भी इस बात का पोषक है कि घट मिट्टीरूप से सत्
है, जलादिरूप से नहीं । अतः परद्रव्यादि चतुष्कावच्छेदेन घट में नास्तित्व का प्रतिपादन करने में कोई बाधा नहीं है । अतः
द्वितीय भंग भी प्रामाणिक ही है - यह सिद्ध होता है । एवं तद्वर्धित सप्तभंगी भी प्रामाणिक ही है - यह सिद्ध होता है ।

❀ उत्पाद-व्यय-धौव्यैक्यात्मक घटास्तित्व - दिगम्बर का आभेप्राय ❀

उत्पाद. इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार सप्तभंगी के प्रथम और द्वितीय भंग का प्रतिपादन
करने के बाद दिगम्बर आम्नाय के अनुसार प्रथम और द्वितीय भंग का निरूपण करते हैं । दिगम्बर मनीषियों का यह कथन
है कि - 'घटः स्यादस्ति एव' इस भंग = वाक्य में जिस घटास्तित्व का प्रतिपादन किया गया है वह उत्पादव्ययधौव्य से
अभिन्न होता है एवं स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से निष्पन्न होता है । आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण नवीन पर्याय
की उत्पत्ति होती है, पूर्व-पूर्व पर्याय की निवृत्ति होती है और मूल द्रव्यरूप से वस्तु स्थिर रहती है । उत्पाद, व्यय और

चतुष्टयनिर्वृत इति तदर्थ इत्याद्याहुः ।

ननु 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र 'अस्तित्वाऽभाववान् घट' इति न धीर्येन पटत्वस्य

✽ जयलता ✽

= घटास्तित्वाभावश्च परद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृतः = परद्रव्यक्षेत्रकालभावसञ्जात इति तदर्थः = 'स्याद् घटोऽस्त्येव, स्याद् घटो नास्त्येवे'ति भङ्गद्वयार्थः, इत्यपि आहुः आशाम्बरा इति शेषः । तदुक्तं प्रवचनसारतत्त्वप्रदीपिकायां अमृतचन्द्रेण "यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरस्य पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैः यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः । तथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तः उत्पादव्ययध्रौव्यैः यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैः निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैः निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्यैः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्त-रुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः" (प्र.सा.त.दी. २/४-पृ.११६) इति । जयसेनेनाऽपि "स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्यैः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्यय-सुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां सद्भावः" (प्र.सा.२/४ ता.वृ.पृ.११६) इति प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तावुक्तम् ।

समन्तभद्रस्वामिनाऽपि आप्तमीमांसायां 'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ (आ.मी. १५) इत्यादिनाऽस्तित्वस्य स्वद्रव्यादिचतुष्टयनिमित्तकत्वं प्रतिपादितम् ।

स्वमते स्वद्रव्यादिचतुष्टयं घटोऽस्तित्वावच्छेदकं परद्रव्यादिचतुष्टयं च नास्तित्वावच्छेदकम् । आशापटमते तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयं घटवृत्त्यस्तित्वस्य जनकं परद्रव्यादिचतुष्टयं च घटवृत्तिनास्तित्वस्य जनकम् । आहुरित्यनेन स्वकीयाऽस्वरसप्रदर्शनं कृतम् । तद्भाजं त्विदम् - स्वपरद्रव्यादिचतुष्टययोः घटास्तित्वनास्तित्वयोः जनकत्वोपगमे स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयोरनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याऽव्यवहित-पूर्वक्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्याधिकरणवृत्त्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वरूपस्य कारणत्वस्य कल्पना कर्तव्या स्यात् तदपेक्षया नियामकत्वरूपस्याऽवच्छेदकत्वस्य कल्पनैव लधीयसी । न हि 'इदानीमत्र घटोऽस्ति' इत्यत्र लोका अपि कालदेश-योर्घटास्तित्वस्य जनकत्वं प्रतीयन्ति किन्तु तदवच्छेदकत्वमेव । न च तयोरवच्छेदकत्वाविशेषेऽपि तदाधारतया तज्जनकत्वमिति वाच्यम्, आधारत्वस्याऽऽधेयस्थितिनियामकत्वरूपत्वं न तु तत्स्थितिजनकत्वरूपत्वम्, अन्यथा परमतप्रवेशप्रसङ्गादिति दिक् ।

द्वितीयभङ्गे कश्चित् शङ्कते नन्विति । अस्य 'चेदि'त्यनेनाऽन्वयः । 'पटत्वेन घटो नास्ती'ति अत्र द्वितीयभङ्गे 'अस्तित्वाऽभाववान् घटः' = घटोऽस्तित्वाभावाऽऽधार' इति न धीः, जायत इति शेषः । ततः किमित्याह- येन तद्धीबलेन पटत्वस्य

ध्रौव्य तीनों अविनाभावी हैं । इनके बिना किसी पदार्थ की सत्ता नासुमकिन है । अतः अस्तित्व भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न होता है । घटास्तित्व भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न ही है । मगर यह अस्तित्व स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से निष्पन्न होता है । घट की सत्ता मिट्टीद्रव्य, अपने विवक्षित क्षेत्र, अपने विवक्षित काल एवं अपने विवक्षित रक्तत्वादिरूप भाव से उत्पन्न होती है । इसके विपरीत 'घटः स्यान्नास्ति एव' इस द्वितीय भंग में घट के नास्तित्व का प्रतिपादन किया जाता है । यह नास्तित्व अस्तित्व का प्रतिषेध है । अर्थात् घटास्तित्व का अभाव घटनास्तित्व है । यह नास्तित्व भी पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से उत्पन्न होता है । घट में जलादि पर द्रव्य, अपने क्षेत्र से विपरीत क्षेत्र, स्वकाल से भिन्न काल एवं रक्तत्वादि स्वभाव से विपरीत श्यामत्वादिरूप परभाव से नास्तित्व उत्पन्न होता है । इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टय से घटास्तित्व और परद्रव्यादि-चतुष्टय से नास्तित्व घट में उत्पन्न होता है । यह दिगम्बर विद्वानों का मत प्रवचनसार की टीकाएँ आदि में विस्तृतरूप से बताया गया है । विशेष जिज्ञासु उन ग्रंथों का अवलोकन कर के अपनी जिज्ञासा का शमन कर सकते हैं ।

ॐ 'घटो नास्ति' यहाँ घटाभाव अस्तित्व का आश्रय - पूर्वपक्ष ॐ

पूर्वपक्ष :- ननु पट. इति । सप्तभंगी के 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस द्वितीय भंग में आपने (स्याद्वादी ने) पटत्व का

तदवच्छेदकत्वं कल्पयेत्, किन्तु 'पटत्वेन घटाभावोऽस्तित्वाऽऽश्रय' इति, अन्यथा 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्राऽपि 'भूतलास्तित्वाऽभाववान् घट' इत्येव बोधः स्यात्, तथा च 'क्व ?' इत्याधिकरणाऽकाङ्क्षा केन पूर्यतामिति चेत् ?

❀ अयलता ❀

तदवच्छेदकत्वं = नास्तित्वावच्छेदकत्वं कल्पयेत् । तर्हि तत्र कीदृशी बुद्धिर्जायते ? इत्याशङ्कयामाह - किन्त्विति । 'पटत्वेन घटाऽभावोऽस्तित्वाऽश्रय' इति बुद्धिः जायत इति शेषः । घटे नास्तित्वं पटत्वावच्छेदेन न प्रतीयते परं पटत्वावच्छिन्नघटवृत्तिप्रति-योगिताकाभावेऽस्तित्वं जायत इत्यर्थः । अतो घटवृत्तिनास्तित्वावच्छेदकविधया पटत्वस्य प्रतिपादनं न कल्पनामर्हतीति भावः ।

विपक्षबाधमाह - अन्यथेति । 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र पटत्वेन घटाभावोऽस्तित्वाऽश्रय इति बोधं तिरस्कृत्य 'घटो नास्तित्वाऽश्रय' इति बोधस्याऽभ्युपगमं इत्यर्थः । आपादकं दर्शयित्वा साम्प्रतमापाधमाह - 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्रापीति । वाक्य इति शेषः । भूतले घटाऽस्तित्वाऽश्रयमिति स्वयमेव गम्यते । 'भूतलाऽस्तित्वाभाववान् घटः' = भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावाऽश्रयो घटः इत्येव बोधः = शाब्दबोधः स्यात् । एवकारेण 'भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभाववान् घटः' इत्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । यतः 'अग्रे वृक्षो न कपिसंयोगी'त्यत्र 'अग्रावच्छिन्नकपिसंयोगाभाववान् वृक्षः' इति शाब्दबोधो जायते तथा 'भूतले घटो नास्ति' इति प्रकृतेऽपि 'भूतलावच्छिन्नास्तित्वाभावाऽश्रयो घट' इत्येव शाब्दबोधो जायते न तु 'पर्वते धूमध्वज' इत्यत्र 'पर्वतनिरूपितवृत्तित्वाऽश्रयो धूमध्वज' इतिवत् 'भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभाववान् घट' इत्येव शाब्दबोधः स्यादिति भावः । 'ततः किं नश्छिन्नं ?' इत्याशङ्कयामाह - तथा चेति । 'क्व ?' इत्याधिकरणाकाङ्क्षा = 'कुत्र भूतलावच्छिन्नवृत्तित्वाभाववान् घटः ?' इत्याकारिका श्रोतुः तादृशघटाधिकरणविषयिणी शान्दी आकाङ्क्षा, केन शब्देन, पूर्यतां = निवर्तताम् ? वस्तुतः 'घटप्रति-योगिकोऽत्यन्ताभावो भूतलाधिकरणक' इति बुभोधयिष्यैव वक्ता 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यं प्रयुङ्कते । परं त्वन्मते दर्शित-रीत्या श्रोतुः भूतलेऽस्तित्वाभावस्याऽवच्छेदकत्वमेव भासते, न त्वधिकरणत्वमिति तदधिकरणाकाङ्क्षाया अनुपशान्तत्वेन तादृश-वाक्याच्छ्रोतुर्निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिर्न स्यादिति 'भूतले पटत्वेन घटो नास्ती'त्यादिरूपेणैव सर्वदा प्रयोगः स्यान्न तु 'भूतले घटो नास्ती'त्यादिरूपः । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । अतः 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र पटत्वावच्छिन्नघटवृत्तिप्रतियोगिताकाभावोऽस्तित्वाऽश्रय' इत्येव बोधोऽङ्गीकर्तव्यो न तु पटत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वाऽभाववान् घट इत्याकारक इति नन्वभिप्रायः ।

घटवृत्ति अस्तित्वाभाव के अवच्छेदकरूप में निर्देश किया है । मगर यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस वाक्य से यदि 'घटः अस्तित्वाभाववान्' ऐसा घटविशेष्यक अस्तित्वाभावप्रकारक शाब्दबोध हो, तभी पटत्व घटनिष्ठ नास्तित्व का अवच्छेदक हो सकता है । मगर तादृश वाक्य से उपर्युक्त शाब्दबोध नहीं होता है । उक्त वाक्य से जो शाब्द बोध होता है उसका आकार है - 'पटत्वेन घटाभावः अस्तित्वाऽश्रयः' अर्थात् पटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक घटाभाव अस्तित्व = विद्यमानत्व का अधिकरण है । मतलब कि पटत्व घटवृत्ति नास्तित्व का अवच्छेदक न हो कर विद्यमान ऐसे घटाभाव से निरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक है । अतः सप्तभंगी के द्वितीय भंग के द्वारा घट में पटत्वावच्छेदेन नास्तित्व धर्म का प्रतिपादन करना असंगत है ।

☐ द्वितीय भंग में निराकाङ्क्ष शाब्दबोधानुपपत्ति - पूर्वपक्ष चालु ☐

अन्यथा, इति । यदि 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस वाक्य से जन्य शाब्द बोध को घटाभावविशेष्यक-अस्तित्वप्रकारक न मान कर नास्तित्वप्रकारताक-घटविशेष्यताक माना जाय तब तो 'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य से निराकाङ्क्ष शाब्द बोध का उदय न हो सकेगा । इसका कारण यह है कि आपके (= स्याद्धादी के) मतानुसार उक्त वाक्य से शाब्दबोध घटाभावविशेष्यक न हो कर घटविशेष्यक होगा अर्थात् 'भूतलास्तित्वाभाववान् घटः' = 'भूतलावच्छेदेन घट अस्तित्वरहित है' ऐसा शाब्द बोध होने की वजह 'भूतलास्तित्वशून्य घट कहाँ है ?' ऐसी तादृशघट-अधिकरणताविषयिणी शान्दी आकाङ्क्षा शान्त नहीं होती है । घट में तादृश अस्तित्वाभाव का भान होने पर 'तादृश घट कहाँ रहता है ?' इस विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है । अधिकरणता अवगाही आकाङ्क्षा की पूर्ति न होने की वजह श्रोता को उक्त वाक्य से निराकाङ्क्ष शाब्द बोध नहीं हो सकता है । भूतल का तो घटाधिकरणविधया ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि तब भूतल में घट नहीं होता है और उपर्युक्त प्रतीति में भूतल तो घटवृत्ति नास्तित्व का अवच्छेदक है । अतः सप्तभंगी के द्वितीय भंग से जन्य शाब्दबोध को घटविशेष्यक और नास्तित्वप्रकारक न मान कर अस्तित्वप्रकारक और घटाभावविशेष्यक ही मानना युक्तिसंगत है ।

☪ द्वितीय भंग में घट ही विशेष्य है, न कि घटाभाव - उत्तरपक्ष ☪

त 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र 'भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्येव बोधात्, अन्यथा घटवत्यपि भूतले 'घटो नास्ती'ति धेयः प्रामाण्याऽऽपत्तेः ।

❀ अयलता ❀

प्रकरणकृत्त्रिराकरोति - नेति । विपक्षबाधमुन्मूलयति - 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र वाक्ये, सप्तम्यर्थो जन्यत्वम्, अन्वयश्चास्य बोधे । 'भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्येव बोधादिति । एवकारेण भूतलास्तित्वाभाववान् घट' इत्याकारकबोधस्य व्यवच्छेदः कृतः । विपक्षबाधमुपदर्शयति - अन्यधेति । तत्र तादृशशब्दबोधानुपगम इत्यर्थः । अयं समाधानग्रन्थाशयः महानसादौ घटसत्त्वे घटशून्यभूतलदशायां घटे महानसाद्यवच्छेदेन कालसंसर्गाश्रयत्वस्य सत्त्वेऽपि भूतलावच्छेदेन कालसंबन्धाधिकरणत्वं नास्तीति 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यात् 'भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्याकारक एव शब्दबोध उदेतीति स्वीकर्तुं युज्यते, न तु 'घटत्वेन घटाभावो भूतलनिरूपितवृत्तित्वाश्रय' इत्याकारकः । न च शब्दाऽ- बोधितकालसामान्यस्य प्रकारांशे भानमप्रामाणिकमिति वाच्यम्, कालपदस्याऽस्तिपदसमभिव्याहारबलेन वर्तमानकालपरत्वात्, अस्तिपदादेव वर्तमानकालसंसर्गाश्रयत्वरूपस्य वर्तमानकालीनत्वस्योपस्थितेर्नाऽप्रामाणिकगौरवमपि । न च तथापि 'भूतले न घट' इत्यत्र का गतिः ? इति वक्तव्यम्, 'यत्राऽन्यत्क्रियापदं न श्रूयते तत्राऽस्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते' (न्या.संग्र.पृ.६५) इति वैयाकरणन्यायेन अस्तिपदाऽध्याहारात्, अन्यथाऽऽख्यातपदविरहेण वाक्यात्वानापत्तिः स्यात् । यदि च परेण 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र 'घटाभावो भूतलनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतावान्' इति शब्दबोध उपेयते, तदा परमतेऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेन भूतले घटसत्त्वदशायामपि 'भूतले घटो नास्ती'ति प्रमीत्यापत्तिः स्यात् । न च कालविशेषविशिष्टाधिकरणस्याऽभावसम्बन्धत्वो- णमेऽपि घटवति भूतले घटात्यन्ताभावबुद्ध्यापत्तिः निराकर्तुं शक्या, परमते विशिष्टस्य शुद्धानतिरिक्तत्वात् कालस्य नित्यत्वेनै- कत्वेन च विशेषाभावाच्च । अत एव विशिष्टातिरिक्तवादिसार्वभौममतानुज्ञायामपि न निस्तारः, अतिरिक्ताभावमङ्गीकृत्य काल- विशेषविशिष्टाधिकरणस्य तत्संसर्गत्वकल्पनापेक्षया घटे भूतलावच्छेदेन कालसंसर्गानाश्रयत्वकल्पनाया एव युक्तत्वाच्च । एतेन 'घटकालस्य सम्बन्धाघटकत्वात् अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः' (मुक्ता.पृ.१६३) इति विश्वनाथ- पञ्चाननभट्टवचनमपि प्रत्याख्यातम् ।

किञ्च 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र 'भूतलवृत्तिर्यदाऽभावे' इत्येव शब्दबोध उपेयते तदा तस्य 'भूतले घटोऽस्ती'ति- वाक्यजन्यबोधेन साकं विरोधो नोपपद्येत, ग्राह्याभावाऽनवगाहितत्वात् । न हि समानप्रकारकाऽभावाऽनवगाहिज्ञानविरोधः कदापि सम्भवति, अन्यथा भूतले घटसत्त्वे 'घटो नास्ती'त्यादेरपि विरोधप्रसङ्गात् । अतो 'भूतले घटोऽस्ती'तिवाक्यजो घटविशेष्यक- भूतलवृत्तित्वप्रकारकबोधो 'भूतले घटो नास्ती'तिवचनजन्यो भूतलवृत्तित्वप्रकारकघटनिष्ठप्रतियोगिताप्रकारकाऽभावविशेष्यकधियं नैव विरुन्ध्यात् । तथा च भूतले घटसत्त्वदशायामपि 'भूतले घटो नास्ती'तिज्ञानस्य प्रामाण्यं वज्रलेपायितं स्यात् ।

किञ्च 'प्रतियोग्यभावाऽन्वयी तुल्ययोगक्षेमा'विति नियमेन 'चैत्रो न पचती'त्यादौ चैत्रे आश्रयतासम्बन्धेन पाकानुकूलकृत्य- भावान्वयवत् 'भूतले नास्ति घट' इत्यत्राऽपि त्वदुक्तरीत्येव घटविशेष्यकः शब्दबोधः सिध्यति, अन्यथा सुबन्तविशेष्यताक- शब्दबोधनियमोऽपि विशीर्येत । एतेन 'भूतले न घट' इत्यादौ नञोऽभाववद्वाक्षगिकतयाऽभाववता सममनुयोगिनोऽभेदान्वयबोध एवोपेयत इति तत्र 'घटाभाववदभिन्नं भूतलमि'त्येव बोध उपजायत इति प्रत्युक्तम्, तथा सति 'भूतले घट' इत्यादिवाक्यजन्यबोधे 'भूतले न घट' इत्यादिवाक्यजबोधस्याऽविरोधित्वापत्तेः सर्वत्राऽभाववत् एव नञर्थतया मुख्यार्थपरस्य नञो दुर्लभत्वापत्तेश्च । अनेन तादृशलक्षणाया वन्ध्यास्तनन्धयप्रियतमात्वमुपदर्शितम् । न हि मुख्यार्थाभावे सति शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा सम्भवति ।

उत्तरपक्ष :- न भूत. इति । जनाव ! सप्तमंगी के द्वितीय भंग से घटाभाव में अस्तित्व का विधान न मान कर घट में नास्तित्व का विधान मानने पर आपने जो आपत्ति बताई कि → 'तब "भूतले घटो नास्ति"' इस वाक्य से अधिकरणताव- गाही आकांक्षा का शमन न होने से निराकांक्ष शब्दबोध अनुपपन्न हो जायेगा' ← वह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि 'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य से जिस शब्दबोध का उदय होता है उसका आकार हम यह मानते हैं कि - 'भूतलावच्छिन्न कालसंबन्धाश्रयताशून्यः घटः' । इसका विश्लेषण हिन्दी भाषा में न्याय की परिभाषा के अनुसार यह होगा कि अन्यत्र = पर्वत आदि में घट विद्यमान होने से वह पर्वतादि अवच्छेदेन कालसंबन्ध का आश्रय है, मगर भूतलावच्छेदेन वर्तमान काल के संबंध का अनाश्रय = आश्रयताऽभाववाला है । मतलब कि उक्त प्रतीति का विशेष्य घट ही है, न कि घटाभाव । यहाँ यह शंका करना कि → "आप भले ही 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति को घटविशेष्यक मानो मगर

अत एव संप्रतिहोर्वचनैक्यनियमोऽपि सहगच्छते, अन्यथा 'घटो नास्ती'त्यस्याप्यापत्तेः,

✽ जयलता ✽

इत्थमेव 'निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थयोः भेदेन साक्षादन्वयबोधस्याऽव्युत्पन्नत्वनियमोऽपि निपातातिरिक्तत्वविशेषणस्यावश्यकत्वमुपपद्यते । तदुक्तं व्युत्पत्तिवादे गदाधरेण → 'भूतले न घट' इत्यादौ घटाद्यभावे भूतलाद्यन्वितसप्तम्यर्थाधेयत्वस्येव तात्पर्यवशाद् घटादौ सप्तम्यन्तार्थभूतलादिवृत्तित्वाभावस्याऽन्वयबोधोऽप्यनुभवसिद्धः, अन्यथा तादृशवाक्यजन्यस्याऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधस्य 'भूतले घटः' इत्यादिवाक्यजन्यघटादिविशेष्यकभूतलाद्याधेयत्वप्रकारकबोधविरोधितायाः सर्वानुभवसिद्धाया अनुपपत्तेः । नञ्यदं विना यत्र धर्मिणि यस्य विशेषणतया भानं यादृशसमभिव्याहाराद् भवति तादृशसमभिव्याहारस्थले नञ्सत्त्वे तत्र धर्मिणि तदभावः प्रतीयत इत्यनुभवापलापप्रसङ्गाच्च । एवञ्च नञर्थभावेऽनुयोगितया घटाद्यन्वयबोधोपपत्तये निपातातिरिक्तत्वविशेषणमावश्यकम्' ← (व्यु.वा.प्र.ध.का.पृ.११९) इति ।

स्वोक्तमेव दृढयति - अत एवेति । 'घटो नास्ती'त्यत्राऽस्तित्वाऽभावप्रकारक-घटविशेष्यकशब्दबाधोपगमादेवेति । सुप्तिङोः = प्रातिपदिकविभक्ति-धातुविभक्त्योः, वचनैक्यनियमोऽपि = समानवचनकत्वव्युत्पत्तिरपि, अपिशब्देन घटवति भूतले जायमानाया 'घटो नास्ती'ति धियोऽप्रामाण्यं समुचीयते, सङ्गच्छते = उपपद्यते ।

विपक्षबाधमुपदर्शयति- अन्यथेति । 'घटो नास्ती'त्यत्र 'अस्तित्वाश्रयो घटाभाव' इति शब्दबोधाभ्युपगमे इति । 'घटो

मानने न भानने से दर्शनशास्त्र में पदार्थ की - तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है, अन्यथा विनिगमनाविरह से उक्त प्रतीति को घटाभावविशेष्यक भी मानी जा सकती है' ← अनुचित है । इसका कारण यह है कि यदि 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति को घटाभावविशेष्यक मानी जाय तब तो भूतल में घट होने पर भी 'भूतले घटो नास्ति' यह प्रतीति प्रामाणिक हो जायेगी । देखिये, भूमितल में घट होने पर आपके मतानुसार जो प्रतीति होती है उसका आकार है - 'भूतलवृत्तितावान् घटः' । अर्थात् बुद्धि भूतलनिरूपित-वृत्तिताप्रकारक-घटविशेष्यक है । तथा 'भूतले घटो नास्ति' इस बुद्धि का आपके मतानुसार - भूतलनिरूपितवृत्तिताप्रकारक घटाभावविशेष्यक - यह आकार है । उपर्युक्त दोनों ज्ञानाकार में परस्पर विरोध नहीं है । विरोध तब होता, यदि दोनों में विशेष्य एक होता और तद्वत्ता और तदभाववत्ता का अवगाहन होता । मगर 'भूतले घटः' इस बुद्धि में विशेष्य है घट और 'भूतले घटो नास्ति' इस बुद्धि का विशेष्य है घटाभाव (पूर्वपक्षमतानुसार) तथा दोनों में प्रकार भूतलनिरूपितवृत्तिता होने से ग्राह्याऽभावाऽवगाहिता नहीं है । अतः उक्त दो ज्ञानों में परस्पर विरोध नहीं होता । तामिलनाडु की खान में ग्रेफाइट होता है और राजस्थान की खान में ग्रेफाइट नहीं होता है - इन वाक्यों में कोई भी विरोध का अवगाहन नहीं मानते हैं । परस्परविरुद्ध न होने की वजह पूर्व की भूतलनिरूपितवृत्तिताविशेष्यकप्रकारतानिरूपितघटविशेष्यकप्रकारक बुद्धि से उत्तरकालीन भूतलनिरूपितवृत्तिताविशेष्यकप्रकारतानिरूपितघटाभाववृत्तिविशेष्यकप्रकारक बुद्धि का बाध नहीं होगा । अतएव भूमितल में घट विद्यमान होने पर भी 'भूतले घटो नास्ति' ऐसी घटाभावविशेष्यक प्रतीति भ्रमात्मक प्रतीति न हो कर प्रमात्मक प्रतीति (= प्रमीति) बन जायेगी, जो आप को या किसीको भी इष्ट नहीं है । इस आपत्ति का निराकरण करना हो तो एक ही उपाय है । वह यह कि 'भूतले घटो नास्ति' इस बुद्धि को घटाभावविशेष्यक न मान कर घटविशेष्यक मानी जाय । तब तो 'पटत्वेन घटो नास्ति' यहाँ भी घटाभाव में अस्तित्व का विधान न हो कर घट में नास्तित्व का विधान होगा, जिसके फलस्वरूप 'घट में पटत्वावच्छेदेन नास्तित्व है' (= पटत्वेन घटोऽस्तित्वाभाववान्)- यह द्वितीय भंग भी प्रामाणिक सिद्ध होगा । अतः पटत्व को घटवृत्ति नास्तित्व का अवच्छेदक मानना ही युक्त है, न कि घटाभावनिरूपित प्रतियोगिता का ।

✽ परमत में 'घटो नास्ति' इस प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ते ✽

अत एव सु. इति । 'घटो नास्ति' यहाँ जायमान शब्द बोध को अस्तित्वाभावप्रकारक एवं घटविशेष्यक मानने से ही सुन्विभक्ति और तिङ्विभक्ति में ऐक्य = समानवचनकत्व के नियम की उपपत्ति हो सकती है । नामोत्तर विभक्ति को सुन्विभक्ति कहते हैं जैसे 'घटः' में घटपदोत्तर सु विभक्ति बगैरह । धातूत्तर विभक्ति को 'तिङ्विभक्ति' कहते हैं जैसे कि 'अस्ति' में अस् धातु के उत्तर में 'तिप्' प्रत्यय है वह तिङ् विभक्ति । 'रामो चलति' में रामपदोत्तर सु विभक्ति एकवचन है एवं चल् धातु उत्तर तिप् विभक्ति भी एकवचन है । दोनों में समान वचन होने से वह प्रयोग सम्यक् कहा जाता है । 'रामो चलतः' यह प्रयोग अप्रामाणिक है, क्योंकि सुन्विभक्ति एकवचनवाली है और तिङ्विभक्ति द्विवचनवाली है । समान वचन न होने की वजह वह प्रयोग अप्रामाणिक माना जाता है । यदि 'घटो नास्ति' इस वाक्य से जन्य शब्द बोध को घटाभावविशेष्यक माना जाय, तब तो 'घटो नास्ति' यह प्रयोग भी प्रामाणिक हो जायेगा, क्योंकि भावनाविशेष्यभूत घटद्वयप्रति-

भावनाविशेष्यस्य घटद्वयप्रतियोगिकाभावस्याऽऽप्येक्यात् ।

❀ नयलता ❀

नास्ती'त्यस्य वाक्यप्रयोगस्य अपि आपत्तेः = प्रामाण्यापत्तेः । अत्रैव हेतुमाह भावनाविशेष्यस्य = आख्यातार्थभावनाविशेष्य-भूतस्य, घटद्वयादिप्रतियोगिकाभावस्य = द्वित्वावच्छिन्नघटप्रतियोगिकाभावस्य अपि ऐक्यात् = एकत्वसंख्याविशिष्टत्वात् । अयं भावः 'भावनान्वयिनी संख्या' इति नियमात् आख्यातार्थभावनाया यत्रान्वयी भवति तद्विशेष्यकसंख्यान्वयबोध एवाख्यातेन जन्यते । तथा च 'वर्तमाने लट्' (अष्टा. ३/२/१२३) इति पाणिनिसूत्रात् प्रकृते वर्तमानत्वरूपाया लट् आख्यातार्थभावनाया यदि द्वित्वसंख्याविशिष्टघटप्रतियोगिकात्यन्ताभावेऽन्वयः स्वीक्रियेत तदा 'घटी अस्ती'ति वाक्यप्रयोगः प्रामाणिक एव स्यात्, आख्यातार्थैकत्वसंख्याया घटद्वयप्रतियोगिकाभावेऽन्वयस्याऽबाधितत्वात्, अभावस्यैकत्वात् । न च आख्यातार्थैकत्वसंख्यान्वयस्य घटद्वये बाधितत्वान्नयं प्रयोगः प्रामाणिक इति वक्तव्यम्, भावनाया अविशेष्ये घटद्वयादौ संख्यान्वयबोधस्याऽव्युत्पन्नत्वात् । ततः सुमिडोः समानवचनकल्पनियमान्वधानुपपत्त्या अपि 'घटो नास्ती'त्यादौ 'वर्तमानकालसंबन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्यादिरूप एवाऽन्वयबोधोऽभ्युपगन्तव्यः परेणाऽकामेनाऽपि ।

वस्तुतस्तु 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' इत्याद्यबाधितप्रयोगदर्शनात् क्रियापदस्य विशेष्यवाचकपदसमानवचनकल्पनियमो नास्त्येव । न च तत्र सुबेकवचनस्यैव द्वित्वादौ लक्षणाऽस्त्विति वक्तव्यम्, आनुशासनिकार्थातिरिक्तार्थे सुबुविभक्तेर्लक्षणाया अनङ्गीकारादिति पूर्वमेवोक्तत्वात्, अन्यथा 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' इत्यादाविव च्छन्दसि लक्षणयैव स्वादिना द्वित्वादिबोधनसम्भवाद् औ-जसादि-रूपादेशिस्मृतिद्वारा द्वित्वादिबोधनिर्वाहाय छन्दसि 'सुपां सुलुक्' इत्यादिसूत्रेण औ-जसादिस्थाने स्वाद्यादेशस्य वैयर्थ्यात्, चैत्रादिपदोत्तरैकवचनस्य द्वित्वादिलाक्षणिकत्वोपगमे तदप्रकृत्यर्थमैत्रादिसाधारणद्वित्वादिबोधस्य 'प्रत्ययानां स्वप्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थबोध-कत्वमि'ति व्युत्पत्तिविरोधेनाऽनुपपत्तेश्च । आख्यातार्थसंख्यान्वयबोधे च समानविशेष्यकतदर्थभावनान्वयबुद्धिसामग्री अपेक्षिता, भावनाया बाधादिग्रहकाले तात्पर्यादिग्रहशून्यकाले चोक्तस्थले द्वित्वान्वयाऽबाधात् भावनाप्रकारकशाब्दबोधसामग्र्याः संख्यान्वय-बुद्धित्वाच्छिन्नं प्रति स्वातन्त्र्येण हेतुता । अत एव 'घटः तिष्ठत' इत्यादयः प्रयोगाः कथं न प्रामाणिकाः स्युः ? इति नारे-कणीयम्, आख्यातोपरस्थापितद्वित्वादिकमुभयादिरूपान्वयितावच्छेदकावच्छिन्ने एवान्वेतीति व्युत्पत्तेः । अत एव घटद्वयप्रतियोगि-काभावस्याख्यातार्थभावनाविशेष्यत्वोपगमे 'घटी नास्ती'ति प्रयोगस्य प्रामाणिकत्वप्रसङ्गोऽपि परमते बज्रलेपायितः । एवमेव 'घटी न स्त' इत्यादेर-प्रामाण्यप्रसङ्गोऽपि दुर्निवारः, भावनाविशेष्याभावे आख्यातार्थद्वित्वसंख्याया बाधात् । एकवचनान्तक्रिया-पदस्यैकत्वसंख्याविशिष्टविशेष्यवाचकपदप्रयोगे साधुत्वात् । अत एव 'घटी अस्ती'त्यादयो न प्रयोगाः ।

योगिकाभाव भी एक = एकत्वसंख्याविशिष्ट ही है । आशय यह है कि लट्, लोट्, लिट्, लङ् आदि दश लकार पाणिनि ने बताये हैं, जिन्हें आख्यात कहते हैं । आख्यातार्थ भावना, संख्या आदि हैं । आख्यातार्थ भावना का जहाँ अन्वय होता है वहीं आख्यातार्थ संख्या का अन्वय होता है - यह शाब्दिकों (वैयाकरणों) का नियम है । जैसे 'रामो गच्छति' में आख्यातार्थ वर्तमानत्वरूप भावना का अन्वय राम में होने की वजह आख्यातार्थ एकत्व संख्या का अन्वय भी राम में ही होता है । मतलब कि आख्यातार्थ भावना के विशेष्य में संख्या का अन्वय होता है । यदि भावना के विशेष्य में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय बाधित हो तब वह वाक्य अप्रमाण कहा जाता है और अबाधित हो तब वह प्रमाण - सत्य कहा जाता है । अब प्रकृत में देखिये, 'घटी नास्ति' इस वाक्य से जन्य बोध में घट के स्थान में घटाभाव को भावना का विशेष्य माना जाय तब 'घटी नास्ति' यह वाक्य भी प्रामाणिक हो जायेगा, क्योंकि आख्यातार्थ भावना के विशेष्यभूत द्वित्वविशिष्टघटप्रतियोगिक अभाव में आख्यातार्थ एकत्व संख्या अबाधित है । एक घट का, दो घट का या हजारों घट का जो अभाव है वह एक ही है, अलग-अलग नहीं । अतः दो घट का अत्यन्ताभाव भी एक ही है, दो नहीं । अतः 'घटी नास्ति' यह प्रयोग प्रामाणिक हो जायेगा । मगर वह प्रामाणिक नहीं है । 'घटी न स्तः' यह प्रयोग ही प्रामाणिक है । मगर वह प्रामाणिक वचन आपके मतानुसार अप्रामाणिक हो जायेगा, क्योंकि भावनाविशेष्यभूत घटद्वयप्रतियोगिकाभाव एक होने से उस में आख्यातार्थ द्वित्व संख्या का अन्वय बाधित है । यह तो उल्टी सृष्टि हो गई । अतः आपको यह मानना ही उचित है कि 'घटी नास्ति' इत्यादि स्थल में प्रतियोगिविशेष्यक शाब्दबोध का ही अंगीकार किया जाय । तब 'घटी नास्ति' यह प्रयोग प्रामाणिक बनने की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि भावना का विशेष्य घटद्वय है, जिनमें आख्यातार्थ एकत्व संख्या का अन्वय बाधित है । अतः 'घटत्वेन घटो नास्ति' इस स्थल में भी पटत्वावच्छेदेन घट में ही नास्तित्व का अन्वय करना उचित है, न कि घटाभाव में अस्तित्व का अन्वय । अतएव वहाँ पटत्व में घटाभावीप्रतियोगिता की अवच्छेदकता नहीं है किन्तु घटवृत्तिनास्तित्व की

इयांस्तु विशेषो यत् अस्तित्वनास्तित्वोभयसमावेशाय घटेऽवच्छेदकभेदापेक्षा, केवलभूत-
नास्तित्वाभाववति तु आपाततः सेति ।

*** गद्यरत्न ***

अत्रेदमवधेयम् - 'घटौ न स्त' इत्यत्र न द्वित्वसामान्यं तत्प्रतियोगितावच्छेदकं, यत्किञ्चिद्द्वयवति 'घटौ न स्त' इति प्रत्ययात् । नाऽपि द्वित्वविशेषस्तथा, तत्तद्द्वित्वानामननुगमात् तत्तत्कालीन-तत्तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्ध्या जन्यानां व्यङ्ग्यानां वा द्वित्वविशेषाणामानन्त्यात् । न च तत्तद्द्वित्वत्वेनाऽवच्छेदकत्वे नाननुगम इति वाच्यम्, तत्तद्द्वित्वत्वेनाऽनुपस्थितेः । नाऽपि घटत्वं तथा एकघटवत्यपि 'घटौ न स्त' इति प्रतीतेः । किन्तु द्वित्वं पर्याप्तिसम्बन्धेन घटत्वञ्च द्वित्वाश्रयांशे विशेषणत्वेनाऽवच्छेदकम् । तादृशधर्मितावच्छेदकत्वञ्चाऽन्यूनवृत्तित्वेन बोध्यम्, तेन एकघटवत्यपि पटमादाय द्वित्ववद्वयसत्त्वेऽपि 'घटौ न स्त' इतिप्रतीतिर्नानुपपन्ना । एवं 'घटपटौ न स्त' इत्यत्र न घटत्वं पटत्वं वा केवलं प्रतियोगितावच्छेदकम्, एकैकघटपटवत्यपि तथाप्रत्ययात् । नापि घटपटवृत्तिद्वित्वं तथा, द्वित्वस्य घटपटवृत्तित्वानुपस्थितावपि तथाप्रत्ययोदयात् । नापि घटत्वं द्वित्वञ्च तथा, घटवत्यपि तथाप्रतीतेः । नापि पटत्वं द्वित्वञ्च तथा, पटवत्यपि तादृशबोधात् । किन्तु द्वित्वं तद्गर्मितावच्छेदकं घटत्वं पटत्वञ्च तथा । न च त्रयाणामवच्छेदकत्वे केवलघटादिमति तादृशप्रतीतिर्न स्यादित्याशङ्कनीयम्, प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वोपगमे क्षतिविरहात् । प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नञ्च घटपटोभयम् । एतेन तादृशसमुदायस्य विरुद्धघटत्वपटत्व-रूपधर्मद्वयवदिततया तदवच्छिन्नाऽप्रसिद्धिरिति प्रत्याख्यातम्, घटत्वपटत्वयोर्विरुद्धत्वेऽपि द्वित्वधर्मिविशेषणतया तयोस्तत्र पर्याप्ति-सत्त्वेन द्वित्वधर्मिणः घटत्वपटत्वावच्छिन्नत्वादित्येवमन्यत्राऽपि यथानुभवं स्वयमूहनीयम् ।

यत्तु 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्राऽपि 'भूतलास्तित्वाभाववान् घटः' इत्येव बोधः स्यात् तथा च 'क्व ?' इत्यधिकरणाकाङ्क्षा केन पूर्यतामिति (दृश्यतां २५७) इत्युक्तम् तन्मन्दम्, यथा 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्र शाखावच्छेदेन वृक्षे कपिसंयोगः प्रतीयते तथैव 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र भूतलावच्छेदेन घटेऽस्तित्वाभाव एव प्रतीयते । अत एव घटस्य प्रथमान्तत्यात्कथमधि-करणत्वेन भानं ? इत्याशङ्कापि परिहृता शाब्दबोधे विशेष्यतया भासमानस्य विशेषणाधिकरणताव्याप्यत्वात् । न च तथापि घटाधिकरणताकाङ्क्षा कथं पूरणीया ? इति वाच्यम्, वृक्षाधिकरणताकाङ्क्षायामपि प्रकृतपर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् ।

अथ 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्र वृक्षस्य नाऽऽधेयत्वेन निर्देशः, 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र तु घटस्यैवाधेयत्वेन निर्देशः इति 'भूतलास्तित्वाभाववान् घटः क्व ?' इत्यधिकरणाकाङ्क्षाया उत्थिताया अनुपशमेनाऽत्र भूतलाकाङ्क्षाशाब्दबोधानुपपत्तिरिति चेत् ? अत्रोच्यते किमिदं स्वतन्त्रसाधनमाहोस्वित् प्रसङ्गापादनं ? इति विकल्पयामलं समुज्जृम्भते । नाद्यः 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र 'पटत्वेन घटाभावोऽस्तित्वाश्रयः' इति पूर्वमुक्त्वा साम्प्रतं 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र घटस्याऽऽधेयत्वोपगमेऽप्रसिद्धान्त-प्रसङ्गात् । नापि द्वितीयकः, मन्यते साम्प्रतकालस्यैव तादृशघटाधिकरणत्वसम्भवात्, 'इदानीं भूतले घटो नास्ती'तिप्रतीतेः सर्वा-नुभवसिद्धाया तादृशघटाधिकरणत्वाकाङ्क्षोपशमकत्वात्, देशे कालस्यैव काले देशस्याऽवच्छेदकत्वस्याऽपलापानर्हत्वादिति दिक् ।

एतावता स्थितमेतत् - 'घटो नास्ती'त्यादौ प्रतियोगिविशेष्यक एव शाब्दबोधः । ततः 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र पटत्वे न घटाभावीयप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वं किन्तु घटवृत्तिनास्तित्वस्यैवेति । अत एव परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन घटादी अस्तित्वनिषेधप्रतिपादकस्य द्वितीयभङ्गस्य ग्रामाण्यमव्याहतमेवेति । एतेन प्रतियोग्यवृत्तिधर्मस्याऽनवच्छेदकत्वनियमे मानाभावोऽपि प्रदर्शित इत्यादिकं दिव्यदृशा निरीक्षणीयं स्वयमेव ।

अत्रैव विशेषमुपदर्शयति प्रकरणकृत् - इयांस्त्विति । घटेऽवच्छेदकभेदाऽपेक्षेति । अस्तित्वनास्तित्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन घटे तदुभयसमावेशस्य भिन्नावच्छेदेनैव सम्भवात् । केवलभूतलास्तित्वाभाववति भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वविरहवति धर्मिणि तु न आपाततः = विचारमृते सा = अवच्छेदकभेदापेक्षा; अस्तित्व-नास्तित्वोभयसमावेशाद्येत्यत्रानुवर्तते । धर्मिता-

अवच्छेदकता है । इसलिए सप्तमंगी के द्वितीय भंग का हमने (स्याद्वादी ने) जो निर्वचन किया है, वही मुनासिब है- यह तर्क से भी उपदर्शित पद्धति के अनुसार सिद्ध होता है ।

*** आपच्छिन्ना नास्तित्व और निरवच्छिन्ना अस्तित्व में विरोध नहीं है ***

इयांस्तु. इति । यहाँ प्रकरणकार श्रीमद्जी एक धर्मी में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म के समावेश में अवच्छेदक भेद की अपेक्षा कब होती है ? इस विषय का निरूपण करते हैं । घट में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का समावेश करना

‘घटवत्यपि भूतले क्वचिद्धटे भूतलास्तित्वाभावात् ‘भूतले घटो नास्ती’ति वाक्यं योग्यं स्यादिति चेत् ? स्यादेव, घटत्वसामानाधिकरण्येन भूतलास्तित्वाऽभावाद्, घटत्वावच्छेदेन

❀ जयलता ❀

वच्छेदकविधया सावच्छिन्नविरुद्धधर्मस्य भानादिति हेतुर्गम्यते । अयं भावः ‘पर्वतो वह्निमान् बह्वचभाववांश्च’ इति ज्ञानमवच्छेदक-भेदकृते नोदेतुमर्हति किन्तु ‘नितम्बावच्छेदेन बह्वचभाववान् पर्वतो वह्निमान्’ इति ज्ञानं भवितुमर्हति । न हि नितम्बा-वच्छिन्नबह्वचभाववत्ताज्ञानं स्वप्रकारविशिष्टे वह्निमत्ताज्ञानं विरुणद्धि, ग्राह्याभावाऽनवगाहित्वात् । एवं प्रकृते ‘घटोऽस्ति नास्ति चे’ति ज्ञानमवच्छेदकभेदज्ञानमपेक्षते किन्तु ‘भूतलावच्छिन्नास्तित्वाभाववान् घटोऽस्ती’ति ज्ञानमवच्छेदकभेदज्ञानं नापेक्षते सावच्छिन्ननास्तित्वज्ञानस्य समानधर्मिकाऽस्तित्वज्ञानाऽविरोधित्वात् । ततश्च धर्मितावच्छेदकीभूतसावच्छिन्ननास्तित्व-विधेयात्म-काऽस्तित्वोभयसमावेशोऽवच्छेदकभेदमृतेऽपि एकत्र सिद्धयति ।

ननु यथैकत्र सावच्छिन्ननास्तित्ववत्ताज्ञानमवच्छेदकभेदं विनाऽपि निरवच्छिन्नास्तित्वधियं न विरुणद्धि तथैकत्र सावच्छिन्नाऽ-स्तित्वबोधोऽपि निरवच्छिन्ननास्तित्वबुद्धिं न विरुन्ध्यात्, तुल्यत्वात्, अन्यथा पक्षपातमावात् । एवञ्चोपगमे भूतले घटसत्त्वदशा-यामपि ‘भूतले घटो नास्ति’ इति वाक्यं प्रमाणं स्यादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते - घटवत्यपि भूतल इति । ‘भूतले घटवति सत्यपी’ति विपरिणतान्वयः कार्यः । क्वचिद्धटे = कस्मिंश्चिद् घटे, घटविशेषे इति यावत् । भूतलास्तित्वाऽभावात् = भूतलावच्छेदेन नास्तित्वसद्भावात्, ‘भूतले घटो नास्ती’ति वाक्यं योग्यं = प्रमाणं स्यात् । उपलक्षणात् भूतले घटाऽसत्त्व-दशायां ‘भूतले घटो नास्ती’ति वाक्यमपि प्रमाणं प्रसज्येत भूतलविशेषावच्छेदेन घटेऽस्तित्वसद्भावादिति स्वतो ज्ञेयम् ।

‘इष्टं मिष्टं वैद्योपदिष्टञ्चे’ति न्यायेन समाधत्ते - स्यादेवेति । तादृशं वाक्यं प्रमाणं स्यादेवेति । हेतुमाह - घटत्वसामानाधि-करण्येन = घटत्ववति कस्मिंश्चिद् घटे धर्मिणि, भूतलास्तित्वाऽभावात् = निषेध्यभूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वस्य विरहान् । भूतलस्थघटे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वसत्त्वेऽपि पर्वतीयादिघटे तद्विरुद्धेण तदा ‘भूतले घटो नास्ती’ति वाक्यं प्रमाणमेव, अवाधिताऽ-वच्छेदकसामानाधिकरण्याऽवगाहिप्रतीतिजननात् । अत्राऽनेकान्तं दर्शयति - घटत्वाऽवच्छेदेन तु = यावति घटत्वविशिष्टे तु,

हो तत्र भिन्न भिन्न अवच्छेदक धर्म का ज्ञान जरूरी है । यहाँ घट धर्मी है और अस्तित्व-नास्तित्व धर्म हैं । अतः घटात्मक एक धर्मी में उपर्युक्त विरुद्ध धर्म के समावेश के लिए भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा ठीक उसी तरह संगत हो सकती है, जैसे एक वृक्षरूप धर्मी में कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव के समावेशार्थ शाखा और मूलस्वरूप भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा । मगर केवल भूतलाऽस्तित्वरहित पदार्थ में अस्तित्व-नास्तित्वोभय समावेश के लिए भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा नहीं होती है । आशय यह है कि वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव का समावेश अवच्छेदक में भिन्नता की अपेक्षा रखता है मगर मूलावच्छिन्नकपिसंयोगाभावविशिष्ट वृक्ष में कपिसंयोग के समावेशार्थ मूल से भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि सावच्छिन्नधर्मविशेषप्रतियोगिक अभाव कभी भी निरवच्छिन्नतद्धर्मवृत्तिता का विरोधी नहीं होता है । इसी तरह घट में अस्तित्व-नास्तित्वोभय धर्म के समावेश में अवच्छेदकभेद की अपेक्षा होने पर भी भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वशून्य घट में अस्तित्व धर्म का अन्वय करने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता है । अतएव अवच्छेदकभेद की अपेक्षा के बिना भी भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावविशिष्ट घट में अस्तित्व सामान्य का समावेश हो सकता है । घट भूतल में भले ही न हो, मगर पर्वत-तालाब, वृक्ष आदि पर तो हो सकता है । अतः घट में अस्तित्व और भूतलावच्छिन्ननास्तित्व उभय का समावेश भिन्न भिन्न अवच्छेदक के ज्ञान के बिना भी हो सकता है । न्याय की परिभाषा में यह भी कहा जा सकता है कि - अवच्छेदकभेद की अपेक्षा तब उपस्थित होती है, जब दो या अनेक धर्म का एक धर्मी में समावेश करने पर विरोध उपस्थित हो । प्रस्तुत में भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभावप्रकारक-घटविशेष्यक ज्ञान सिर्फ भूतलाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वप्रकारक-घटविशेष्यक ज्ञान का विरोधी हो सकता है, न कि अस्तित्वप्रकारक-घटविशेष्यक ज्ञान का, क्योंकि उन दोनों के बीच समान आकार नहीं है । ग्राह्याऽभावाऽवगाही होने पर ही ज्ञान में विरोध हो सकता है । भूतलाऽवच्छिन्नास्तित्वाभावविशिष्ट घट में निरवच्छिन्न अस्तित्व का समावेश करने में विरोध ही अनुपस्थित है । अतएव सामान्यतः घट में भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभाव और अस्तित्व, इन दोनों धर्म का समावेश भिन्न भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा के बिना भी हो सकता है ।

॥ एक वाक्य का तात्पर्यभेद से प्रामाण्य-अप्रामाण्य - स्यात्वादी ❀

घटवत्यपि, इति । यहाँ यह शंका हो कि —> ‘जैसे निरवच्छिन्नाऽस्तित्व का सावच्छिन्न नास्तित्व विरोधी नहीं है वैसे निरवच्छिन्ननास्तित्व का सावच्छिन्न अस्तित्व भी विरोधी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के ज्ञान में ग्राह्याऽभावाऽनवगाहित्व

तु तदभावाच्चैवमिति तात्पर्यभेदेन तस्य योग्याऽयोग्यत्वे ।

अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनैव नञर्थाऽभावान्वयस्य व्युत्पत्तिरिच्छत्वादयोग्यमेव तदिति पुनरुच्यते ।

॥ मयलता ॥

तदभावात् = भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभावाऽभावात्, नैवं = न प्रामाण्यं, इति = अस्माद्धेतोः, 'इतिशब्दः स्मृतो हेतौ प्रकारा-
दिसमाप्तिषु' (हला. ५/८८७) इति हलायुधकोशवचनात्, तात्पर्यभेदेन तस्य वाक्यस्य योग्याऽयोग्यत्वे । अवच्छेदक-
सामानाधिकरण्यतात्पर्ये 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यस्य प्रामाण्यं, अवच्छेदकावच्छेदेन धुमोदधियेषां त्वप्रामाण्यमित्यर्थः ।
यथा वाय्वाद्वा रूपविरहेऽपि 'द्रव्यं रूपयदि'ति वाक्यस्य तात्पर्यभेदेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ये तथा भूतले घटसत्त्वेऽपि 'भूतले
घटो नास्ती'ति वाक्यस्य तात्पर्यभेदेन तत्त्वं । अत एव भूतले घटाऽसत्त्वदशायां 'भूतले घटोऽस्ती'ति वाक्यं योग्यं स्यादि-
त्युक्तावपि न क्षतिः, अवच्छेदकसामानाधिकरणावच्छेदकावच्छिन्नप्रतीतिजननतात्पर्यप्रयुक्ततदयोग्याऽयोग्यत्वयोरनिराकार्यत्वात् ।

वस्तुतस्तु सर्वत्रैवाऽस्तित्वादेः सावच्छिन्नत्वमेव भेदनयाऽवतारे । अत एव 'आपातत' इत्युक्तम्, निरवच्छिन्नसत्त्वादेः
क्वचिदपि कदापि अप्रतीतेः । एतेन पराभिमतता निरवच्छिन्ना महासत्तापि प्रत्युक्ता ।

स्वमतमुक्त्वा साम्प्रतमवाऽन्येषां मतमाविष्करोति - अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनैव = धर्मितावच्छेदकावच्छेदेनैव, एव-
कारेणाऽनुयोगितावच्छेदकसामानाधिकरण्यव्यवच्छेदः कृतः । नञर्थाऽभावान्वयस्य = नञर्थाऽत्यन्ताभावसम्बन्धस्य, व्युत्पत्तिरिच्छ-
त्वात्, प्रकृतंऽभाववदमन्योन्याऽभावपरतया न संभवति, 'घटो न रक्तघटः' इत्यादौ नञर्थभेदान्वयस्य घटत्वावच्छेदेन बाधात् ।
नाऽपि तत् संसर्गाभावपरतया सम्भवति, प्रागभावाऽवगाहिप्रतीती बाधात्, ध्वंसे चाऽसम्भवात् । अतोऽत्यन्ताभावपरतया तद्-
व्याख्यातम् । तादृशव्युत्पत्तिमहिम्ना अयोग्यमेव = अप्रमाणमेव भूतले घटसत्त्वदशायां तत् = 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यम्,
नञर्थात्यन्ताभावाऽनुयोगितावच्छेदकीभूतघटत्वावच्छेदेन भूतलास्तित्वाऽभावस्य बाधात्, भूतलस्थघटे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभाव-

= समानप्रकारकाऽभावाऽनुद्देशित्वं समान है । मगर ऐसा मानने पर तो भूतल में घट होने पर भी 'भूतले घटो नास्ति'
= 'भूमितल में घट नहीं है' यह वाक्य योग्य = प्रामाणिक हो जायेगा । इसका कारण यह है कि विवक्षित घट में भूतलास्तित्व
होने पर भी अन्य पर्वतादिवर्ती घट में तो भूतलवृत्तिता न होने से भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव का अन्वय हो सकता है,
दोनों में विरोध नहीं है' <- तो यह नामुनासिब है, क्योंकि यह तो हमें इष्ट है । घटत्वसामानाधिकरण्य से भूतलावच्छिन्ननास्तित्व
का सद्भाव होने से भूतल घटवाला होने पर भी तादृश वाक्य योग्य हो सकता है । भूमितल में एक दो या दस-बारह
घट हो सकते हैं मगर 'भूतल घटवाला है' इसका मतलब यह नहीं है कि सारे जहाँ के घट इस भूमितल पर आ गये
हैं । भूतल से भिन्न पर्वत आदि में भी घट हो सकते हैं, जिससे पर्वतादि से अवच्छिन्न अस्तित्व (= कालसंबन्धाश्रयत्व)
होता है, न कि भूतलावच्छिन्नास्तित्व । तादृश घट में भूतलास्तित्व का अभाव होने से 'भूतले घटो नास्ति' यह वाक्य योग्य
है । भले ही भूतल में दो-चार घट पड़े हों, मगर घटत्व के आश्रय यत् किञ्चित् घट में तो भूतलास्तित्वाऽभाव है ही ।
हाँ, यदि भूमितल में घट होने पर 'घटत्वावच्छेदेन भूतलास्तित्व नहीं है' अर्थात् 'घटमात्र में = सभी घट में भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्व
नहीं है' इस तात्पर्य से बक्ता 'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य का प्रयोग करे तब तो वह वाक्य अयोग्य = अप्रामाणिक
ही होगा, क्योंकि भूतलस्थ घट में भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव बाधित है । इस तरह भूतल में घट होने पर 'भूतले घटो
नास्ति' यह वाक्य घटत्वसामानाधिकरण्य से (यत् किञ्चित् घट में) भूतलास्तित्वाभावप्रतिपादन के तात्पर्य से योग्य है और
घटत्वावच्छेदेन (सब घट में) भूतलास्तित्वाऽभावप्रतिपादन के तात्पर्य से अयोग्य है - यह सिद्ध होता है ।

॥ नञर्थान्वय अनुयोगितावच्छेदकावच्छेद में होता है - अन्वयमत ॥

अनुचा. इति । व्याख्याकार यहाँ अन्य मनीषियों के मत का प्रतिपादन करते हैं । उन मनीषियों का कहना है कि -
'नञ्' के अर्थ अन्वयताभाव का अन्वय अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन होता है यानी धर्मितावच्छेदकावच्छिन्न सकल में होता है,
यह एक व्युत्पत्ति - शाब्दबोधस्थलीय नियम सिद्ध - प्रमाणप्रसिद्ध है । जैसे 'शंख में श्याम वर्ण नहीं होता है' - 'शङ्ख
श्यामवर्णों नास्ति' यहाँ अनुयोगी = धर्मी है श्याम रूप, अनुयोगितावच्छेदक है श्यामरूपत्व । अतः उक्त नियम के अनुसार
यहाँ शङ्खावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव का श्यामरूपत्वावच्छेदेन = सकल श्याम रूप में अन्वय होगा । वह अबाधित है, क्योंकि
सभी शंख श्वेतरूपविशिष्ट होने से श्याम रूप में शंखाऽस्तित्वाऽभाव रहता है । अतएव वह वाक्य योग्य = प्रमाण है ।
मगर अब भूमितल के ऊपर घट रहता है, तब 'भूतले घटो नास्ति' यह वाक्य तो अयोग्य ही है, क्योंकि यहाँ अनुयोगी

एतन्मते कपिसंयोगवति वृक्षे 'वृक्षे कपिसंयोगो नास्ती'ति न प्रमाणं, कपिसंयोगत्वा-
वच्छेदेन वृक्षास्तित्वाऽभावाऽभावात् । 'मूले वृक्षे कपिसंयोगो नास्ती'तितु प्रमाणमेव, कपि-
संयोगत्वावच्छेदेनैव मूलावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्नकालसम्बन्धाऽभावात् । 'घटः स्यादस्तित्ववान्
स्यादस्तित्वाऽभाववानि'ति बोधान्तरादप्यस्तित्व-नास्तित्वयोः समावेशसिद्धिरिति । देक् ।

❀ नयलता ❀

विरहात् । एतेनैकत्र सावच्छिन्नास्तित्वधर्मज्ञानस्य निरवच्छिन्ननास्तित्वधीविरोधित्वमावेदितम् ।

प्रकरणकार आह एतन्मते = प्रकृतेऽन्यमते, कपिसंयोगवति वृक्षे सति 'वृक्षे कपिसंयोगो नास्ती'ति वाक्यं न प्रमाणं
= प्रमाजमकं, हेतुमाह-कपिसंयोगत्वावच्छेदेन = नञर्थाभावधर्मितावच्छेदकीभूतकपिसंयोगत्वावच्छिन्ने, वृक्षास्तित्वाभावाभावात्
= वृक्षावच्छिन्नसाम्प्रतकाल-संसर्गाश्रयत्वाऽभावविरहात्, पर्वतादिवृत्तिकपिसंयोगे वृक्षावच्छिन्नास्तित्वाऽभावसन्त्येऽपि वृक्षवृत्तिकपि-
संयोगे तद्विरहात् । तर्हि किम्भूतं तत्प्रमाणमित्याशङ्क्यामाह प्रकरणकृत् - 'मूले वृक्षे कपिसंयोगो नास्ती'ति तु प्रमाण-
मेवे'ति । शाखावच्छेदेनैव वृक्षे कपिसंयोगसत्त्वदशायामिति गम्यते । तत्प्रमाणत्वे हेतुमाह-कपिसंयोगत्वावच्छेदेनैवेति । एवका-
रोऽयोगव्यवच्छेदार्थः । मूलावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्नकालसम्बन्धाभावात् = मूलावच्छिन्नो यो वृक्षः = वृक्षविशेषः तदवच्छिन्नो
यः कालः वर्तमानकालः तत्संसर्गाश्रयत्वाऽभावविरहात् । विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेनाऽन्वयाऽबाधान्नादृशं वाक्यं योग्यमिति
भावः । एवं च पुरोवर्तिनि भूतले घटसत्त्वदशायां 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यं न प्रमाणम्, 'अन्यत्र भूतले घटो नास्ती'ति
प्रमाणमिति भावनीयम् ।

नन्वेवं नञर्थात्यन्ताभावस्य धर्मितावच्छेदकावच्छेदेनैवाऽन्वयाङ्गीकर्तृमतेऽस्तित्वनास्तित्वोभयधर्मनिवेशः कथं युक्तः स्यात् ?
अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनाऽनुयोगितावच्छेदकसामानाधिकरण्येन वाऽस्तित्वबोधेऽनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन नास्तित्व-
स्याऽसम्भवादित्याशङ्क्यामाह- 'घटः स्यादस्तित्ववान् स्यादस्तित्वाभाववानि'ति बोधान्तरादपीति । 'घटः स्वद्रव्यादि-
चतुष्टयावच्छेदेनाऽस्तित्वान् परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेनाऽस्तित्वाऽभाववानि'त्याकारकज्ञानविशेषादपीति । अस्तित्व-नास्तित्वयोः
परस्परविरुद्धधर्मयोः एकत्र धर्मिणि समावेशसिद्धिः । स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्ववति घटेऽन्वयितावच्छेदकीभूतघटत्वाऽ-
वच्छेदेन नञर्थापरद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावान्वयस्याऽबाधात् । अपिशब्देन 'स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेन घटोऽस्ती'-
त्यस्य 'परद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेन घटो नास्ती'त्यस्याऽपि ग्रहणम् । एतेन 'एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वाऽभन्वयोर्विरुद्धयो-
र्धर्मयोरसम्भवात् सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्याऽसम्भवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्याऽसम्भवादसङ्गतमिदमार्हतं मतं' (ब्र.सू.२/
२/३३ शां.भा.) इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यवचनं प्रत्याख्यातम् घटत्वावच्छेदेन घटादेवेकस्मिन् धर्मिणि स्वद्रव्यादिलक्षण-

है घट और अनुयोगितावच्छेदक है घटत्व, मगर घटत्वावच्छेदेन भूतलास्तित्वाऽभाव रहता नहीं है । जहाँ जहाँ घटत्व रहता
है, वहाँ वहाँ भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव नहीं है । घटत्व तो भूतलस्थ घट में भी रहता है, मगर भूतलास्तित्वाभाव वहाँ
रहता नहीं है । प्रस्तुत में नञ् (न पद) का समभिव्याहार होने के सबब अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन नञर्था अभाव का अन्वय
साक्षात् है । मगर उपर्युक्त प्रकार से वह बाधित है । अतएव यह प्रयोग अयोग्य ही है ।

एतन्मते, इति । इस तरह प्रकरणकार अन्य मत का उल्लेख करके उसके मतानुसार अपना वक्तव्य प्रकट करते हैं कि
- प्रस्तुत विद्वानों के मतानुसार जब पेड़ की शाखा में बंदर का संयोग होता है तब 'वृक्षे कपिसंयोगो नास्ति' यह वचन
अयोग्य है, क्योंकि अनुयोगितावच्छेदकीभूत कपिसंयोगत्वावच्छेदेन वृक्षावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव बाधित है । जहाँ जहाँ कपिसंयोगत्व
रहता है, वहाँ वहाँ वृक्षावच्छिन्नाऽस्तित्व नहीं रहता है । कपिसंयोगत्व तो वृक्षीयशाखास्थ कपिसंयोग में भी रहता है, मगर
उसमें वृक्षावच्छिन्नास्तित्वाऽभाव नहीं रहता है, क्योंकि वह अनुयोगी वृक्षवृत्ति होने की वजह वृक्षावच्छिन्नवर्तमानकालसंसर्गा-
श्रयत्वविशिष्ट है । मगर 'मूले वृक्षे कपिसंयोगो नास्ति' यह वाक्य तो योग्य ही है । वह इस तरह उक्त वाक्य में प्रथमाविभक्त्यन्त
पद है 'कपिसंयोगः' । अतः बंदरसंयोग अनुयोगी = धर्मी है, क्योंकि प्रथमाविभक्तिविशिष्ट पद का अर्थ वाक्यजन्य शब्दबोध
में अनुयोगी = धर्मी = विशेष्य होता है । अतः अनुयोगितावच्छेदक होगा कपिसंयोगत्व । नञ् का सन्निधान होने की
वजह प्रकृत में अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन ही अभाव का अन्वय हो सकता है । अतः कपिसंयोगत्वावच्छेदेन ही मूलावच्छिन्न
वृक्ष से अवच्छिन्न वर्तमान काल के सम्बन्ध के आश्रयत्वरूप मूलावच्छिन्नवृक्षास्तित्व के अभाव का अन्वय हो सकेगा और
वह अबाधित ही है । अतएव वह वाक्य प्रमाण है । यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो कि -> 'अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन
ही अभाव का अन्वय अङ्गीकार किया जाय तो एक धर्मी में अस्तित्व नास्तित्वोभय धर्म का समावेश कैसे हो सकेगा ?
क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व का विरोध करेगा' <- तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि 'घटः स्यादस्तित्ववान् स्यादस्तित्वाऽभाववान्'

स्यादेतत् → जीवादिद्रव्याणां स्वद्रव्यान्तराऽभावात्स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कथमस्तित्वं सम्भवतु ? तेषामपि स्वाश्रयप्रदेशानां जागरूकत्वात् स्वद्रव्यादिचतुष्टयहानिरिति चेत् ? तथापि परमाणुकालयोः का गतिः ? परमाणोः स्वद्रव्यान्तराऽभावात् कालस्य च स्वकालान्त-

ॐ भयलता ॐ

हिरण्यमयत्व-नागरत्व-वासन्तिकत्व-वटत्वाद्यवच्छिन्नाऽस्तित्वस्य परद्रव्यादिरूपजलमयत्व-ग्राम्यत्व-ग्रैष्मिकत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावस्य च सर्वैरेव प्रतीयमानत्वेनाऽपहोतुमनर्हत्वात् । एतेन जातेरव्याप्यवृत्तित्वविरहात् स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नं सत्त्वं परद्रव्याद्यवच्छिन्नञ्चाऽसत्त्वं कथं सङ्गतिमङ्गेत ? इति परास्मिन्, 'मार्त्तत्वादिना घटः सन् न तु तन्तुजनितत्वादिना', 'इदानीं घटः सन् न तु प्राक्' इत्याद्यनुभवबलेन सत्त्वस्य सापेक्षत्वात् । बुद्धिविशेषकृताऽपेक्षयाऽपि आदेशाऽपराऽभिधानया सापेक्षमेव तत् सर्वैः प्रतीयते, यथा 'अयमेकः अयश्चक' इति कल्पनाकृताऽपेक्षया द्वित्वादीति । एवञ्चाऽसत्त्वस्याऽपि सापेक्षत्वे बाधकाऽभावादित्यादि सूचनार्थं 'दिगि'त्युक्तम् ।

ननु जीवादिद्रव्याणां षण्णामपि किं स्वद्रव्यं ? यतः सत्त्वं व्यवतिष्ठेत्, द्रव्यान्तरस्याऽसम्भवादिति स्वद्रव्यादिचतुष्टय-पर-द्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेनाऽस्तित्वविधिनिषेधाविति नाऽभ्युपगन्तुमर्हतीत्याशयेन कश्चिच्छङ्कते-स्यादेतदिति । स्वद्रव्यादि-चतुष्टयेन कथमस्तित्वं सम्भवतु ? स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वं नैव सम्भवेदित्याक्षेपाशयः । मध्यस्थः कश्चित्समाधत्ते-तेषामपीति । जीवादिद्रव्याणां षण्णामपीति । स्वाश्रयप्रदेशानां = जीवादिद्रव्याश्रयभूतनिरवयवाऽवयवानां, जागरूकत्वात् = विद्यमानत्वात्, न स्वद्रव्यादिचतुष्टयहानिः, जीवत्वाद्यवच्छेदेन स्वाश्रयप्रदेशलक्षणद्रव्य-शरीराद्यवच्छिन्नाऽकाशप्रदेशात्मकक्षेत्र-स्वकाल-जीवत्वादिरूपस्वभावावच्छिन्नाऽस्तित्वस्याऽबाधात् । मौलशङ्काकारोऽन्यत्राऽनुपपत्तिमुपदर्शयति- तथापीति । जीव-धर्माऽधर्माकाश-पुद्गलस्कन्धद्रव्येषु स्वाश्रयप्रदेशाद्यवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽन्यथाऽबाधात् स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन तत्राऽस्तित्वसम्भवेऽपि, परमाणुकालयोः का गतिः ? पुद्गलस्कन्धेषु तद्देशस्य तद्देशे च प्रदेशानामस्तित्वाऽवच्छेदकत्वसम्भवात् 'पुद्गलं' विहाय परमाणुपादानम् । तयोः स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽसम्भवे पूर्वपक्षी हेतुमाह - परमाणोः निरंशत्वेन स्वद्रव्यान्तराऽभावात् स्ववृत्त्य-स्तित्वाऽवच्छेदकस्वाश्रयद्रव्यान्तराभावात्, कालस्य च समयरूपत्वेन स्वकालान्तराऽभावात् न तत्र स्वद्रव्यादिचतुष्टयेनाऽस्तित्वं सम्भवति । रूपत्वाऽसिद्धौ तदवच्छिन्नभेदाऽप्रसिद्ध्या परत्वस्याऽप्यप्रसिद्धिः । ततश्च सर्वत्र स्वद्रव्यादिचतुष्टय-परद्रव्यादि-चतुष्टयाऽवच्छेदेनाऽस्तित्वविधिनिषेधकृतान्तमङ्गेन सप्तभङ्गी भज्यत इति शङ्काग्रन्थाशयः ।

शुद्धं द्रव्यं स्वं सत्त्वाऽवच्छेदकम्, अशुद्धञ्च परं असत्त्वाऽवच्छेदकम् । अशुद्धशुद्धत्वे च भेदाऽभेदप्रधानव्यवहार-निश्चयनयसाक्षिकावरखण्डोपाधिविशेषौ, प्रतिभासविशेषादपि तत्सिद्धेः, तत्तेदन्तादौ दर्शनादिति नाऽनुपपत्तिरित्याद्याशयेन प्रकरणकारः

इस अतिरिक्त बोध से भी अस्तित्व-नास्तित्व का एक धर्मी में समावेश हो सकता है । आशय यह है कि घट स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेन सत् और परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन असत् होता है । अतः घटत्वाऽवच्छेदेन स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नाऽस्तित्व एवं परद्रव्यादि-चतुष्टयावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव का घट में समावेश निर्विवाद सिद्ध हो सकता है । अतः धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन ही अभवान्वयबोध को मान्यता देने वाले विद्वान् मनीषिओं के मतानुसार भी एक धर्मी में अस्तित्व और नास्तित्व का समावेश मान्य करने में कोई बाध नहीं है । अतएव सप्तभङ्गी भी प्रामाणिक सिद्ध होती है ।

पूर्वपक्ष :- स्यादे. इति । जनाब ! आपने स्वद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदेन अस्तित्व और परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्न नास्तित्व का प्रतिपादन किया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि जीवादि छ द्रव्यों में अतिरिक्त स्वद्रव्य नहीं है, जो अस्तित्व का अवच्छेदक बन सके । जैसे पट का स्वद्रव्य तंतु है वैसे जीवादि द्रव्य में अतिरिक्त द्रव्य नहीं है । जब कि अस्तित्व का अवच्छेदक स्वद्रव्यांतर ही नहीं है, तब स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व जीवादि द्रव्य में कैसे मुमकिन होगा ? घटक अप्रसिद्ध होने पर उससे घटित भी अप्रसिद्ध हो जाता है । यहाँ यह शंका करना कि → "जीव लोकाकाशप्रदेशप्रमाण प्रदेशवाला है, जो जीव के आश्रय है । जैसे पट का आश्रय तंतु होने से तंतु पटवृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक होता है ठीक वैसे जीवद्रव्य का आश्रय जीवप्रदेश होने से वे जीवनिष्ठ अस्तित्व के अवच्छेदक बन सकते हैं । इसी तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि में भी समझा जा सकता है । इस तरह जीवादि द्रव्यवृत्ति अस्तित्व के अवच्छेदकस्वरूप जीवादिआश्रय प्रदेश का सद्भाव होने से स्वद्रव्यादिचतुष्टय से अवच्छिन्न अस्तित्व की जीवादि द्रव्य में हानि नहीं होती है" ← ठीक नहीं है, क्योंकि जीव, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य संप्रदेश (प्रदेशवाले) होने की वजह स्वाश्रयप्रदेशादि से अवच्छिन्न अस्तित्ववाले संभव होने पर भी परमाणु और काल में स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि परमाणु द्रव्य निरंश है । अतएव उसका अतिरिक्त स्वाश्रय द्रव्य नहीं है, जो स्वाश्रित अस्तित्व का अवच्छेदक बन सके । इसी तरह काल द्रव्य

राऽभावादिति <- । मैवम् तत्र शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाऽस्तित्वावच्छेदकत्वात् तन्निर्वर्तकत्वाच्च ।
'अन्यत्राऽपि' स्वेनैव तथा भूयतां' इति चेत् ? न, व्यवहाराऽतिक्रमे निरङ्कुशत्वापातात् ।

✽ मयत्वा ✽

समाधत्ते-मैवमिति । तत्र = परमाण्वादस्थले तन्निर्वर्तकत्वाच्च = स्वाऽस्तित्वजनकत्वाच्चेति विपरिणामेनाऽन्ययः कार्यः । शुद्धं स्वद्रव्यं स्वावच्छिन्नकालसंसर्गाश्रयत्वस्याऽवच्छेदकं जनकश्चेत्यर्थः । न च तथापि शुद्धद्रव्यत्वावच्छिन्नधर्मिताकस्थले का गतिः ? तद्व्यतिरेकेणाऽन्यद्रव्याद्यभावादिति शङ्कनीयम्, तत्राऽपि स्वद्रव्यपरद्रव्यशब्दाभ्यां व्यापकत्वाऽव्यापकत्वोपलक्षणात् तदवच्छिन्नाऽस्तित्वनास्तित्वादिवदितायाः सप्तमङ्ग्या अनुपपत्तिविरहात् ।

अथ परमाण्वादौ शुद्धं स्वद्रव्यमपेक्ष्य सत्त्वस्य तत्प्रतिपक्षसद्भावमपेक्ष्याऽसत्त्वस्य च प्रतिष्ठोपगमे अन्यत्राऽपि तथाप्रसङ्गात् अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते- अन्यत्राऽपीति । घटादिस्थलेऽपि स्वेनैव द्रव्येण, तथा = स्वास्तित्वोपपादनं भूयतां, एवकारेण द्रव्यान्तरादिव्यवच्छेदः कृतः । स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । व्यवहारातिक्रमे = प्रसिद्धव्यवहारोल्लङ्घने, व्यवहारश्चोपलक्षणं प्रतीतेरपि, तस्य तन्मूलत्वात् । अयं भावः प्रकृते वस्तुप्रतीतिव्यवहारावेवोपक्रान्तौ प्ररूपयितुं । वस्तुनो हि यद्यैवाऽबाधिता प्रतीतिस्तथैव तद्व्यवहारः तत्स्वरूपञ्च, अन्यथा नानानिरङ्कुशविप्रतिपत्तीनां निवारयितुमशक्यत्वात् । ततः परमाण्वादौ शुद्धद्रव्यस्यैव स्वाऽस्तित्वाऽवच्छेदकत्वेऽपि प्रतीतिव्यवहारबलेनाऽन्यत्र न द्रव्यान्तरादेरस्तित्वाऽवच्छेदकत्वबाधः । एतेन स्वरूपादौ स्वरूपाद्यन्तराऽभावात्कथं सत्त्वं, सद्भावे वा कथं नाऽनवस्था ? इति पर्यनुयोगः परास्तः, अनर्पितदृष्ट्या अनवच्छिन्नेऽप्यर्पितदृष्ट्याऽवच्छिन्नत्वप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्, केनचिन्नयेन स्वरूपादेः स्वरूपतोऽवच्छेदकत्वं निर्णीयैवाऽस्तित्वादिप्रवृत्तेरनवस्थाया अभावात्, अन्यथा शाखावच्छेदेन वृक्षे कपिसंयोगप्रत्ययोऽपि दुरूपपादः स्यात्, सम्पूर्णां परमाण्वाद्यवच्छिन्ना वा शाखाऽनवच्छेदिकेति ग्रहे शाखात्याऽवच्छेदेनाऽवच्छेदकत्वग्रहाऽसम्भवात्, प्रतिनियताऽवयवाऽवच्छिन्नशाखात्वेन तदवच्छेदकत्वस्य च दुर्गमत्वादिति दिक् ।

ननु लाघवेन स्वरूपसत्त्वस्यैव पररूपाऽसत्त्वत्वम्, स्वरूपाऽस्तित्वसमव्यापकत्वात्पररूपनास्तित्वस्य । स्वपररूपादिसत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेदाभावात् अतिरिक्त- प्रथमद्वितीयभङ्गौ न युक्तौ, तदन्यतरेण गतार्थत्वात् । तदघटने च मिलितप्रथममद्वितीयभङ्ग-

भी निरंश समयस्वरूप होने से उसका कोई अन्य स्वकाल स्वाश्रय नहीं है, जो कालाश्रित अस्तित्व का अवच्छेदक हो सके । इस तरह स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व परमाणु और काल में असंभव है, क्योंकि अस्तित्वाऽवच्छेदकसमूह के घटक अप्रसिद्ध है । अतः सर्वत्र स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नास्तित्व का आपने जो विधान किया था, वह असंगत है ।

उत्तरपक्ष :- मैवं इति । हजूर ! आपकी यह बात ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि परमाणुवृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक शुद्ध परमाणु ही हो सकता है । एवं निरंश कालनिष्ठ अस्तित्व (सत्त्व) का अवच्छेदक शुद्ध कालस्वरूप स्वद्रव्य होता है । तथा परमाणु एवं काल में स्ववृत्ति अस्तित्व की जनकता है । इस तरह शुद्ध स्वद्रव्य में अस्तित्वावच्छेदकता मुमकिन होने से 'सर्वत्र अस्तित्व का अवच्छेदक स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है' यह वचन संगत ही है । यहाँ यह शंका करना कि -> "यदि शुद्ध परमाणु और कालात्मक स्वद्रव्य में स्ववृत्ति अस्तित्व की अवच्छेदकता हो सकती है, तब तो सर्वत्र शुद्ध स्वद्रव्य ही स्ववृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक हो जायेगा । तब तो पटवृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक भी पट ही बनेगा, न कि तंतु" <- ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि जैसा व्यवहार प्रसिद्ध हो उसके अनुसार कल्पना की जाती है । व्यवहार का अतिक्रमण कर के कोई कल्पना की जाय तब भारी गड़बड़-अव्यवस्था हो जायेगी । वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा सामान्यतः सभी को ज्ञान उत्पन्न होता है । जैसा ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अनुसार व्यवहार होता है । अतः प्रसिद्ध व्यवहार का अपलाप कर के कोई कल्पना नहीं की जा सकती । पटवृत्ति अस्तित्व के अवच्छेदकरूप से पटाश्रय तंतुस्वरूप स्वद्रव्य प्रसिद्ध है । पटत्वावच्छेदेन अस्तित्व है, वह पटावच्छिन्न नहीं है, किन्तु तंतुअवच्छिन्न है - यह व्यवहार होता है । अतः वहाँ अपने को ही अपने में रहे हुए अस्तित्वादि धर्म का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता । परमाणु और समयलक्षण काल अतीन्द्रिय है । अतएव उसके अस्तित्व का अवच्छेदक कौन है ? यह आम जनता से अज्ञात है । अतएव सामान्य तौर पर परमाणु और काल में रहे हुए अस्तित्व के अवच्छेदक का व्यवहार भी नहीं होता है । इसलिए यहाँ शुद्ध स्वद्रव्य-स्वकाल में अस्तित्व के अवच्छेदकत्व की कल्पना करने में किसी प्रसिद्ध व्यवहार का अतिक्रमण नहीं है । अतएव यह कल्पना मान्य की जा सकती है । मगर घट, पट आदि के अस्तित्व के अवच्छेदकविधया घट, पट आदि की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा करने पर प्रसिद्ध व्यवहार का अतिक्रमण = उल्लंघन = अपलाप हो जाता है ।

‘स्वरूपाऽस्तित्वेनैव पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात्कथमनयोर्भेद’ इति चेत् ?
स्वेतरवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वाऽप्रमीयमाणत्वरूपविरुद्धधर्माऽध्यासात् । ‘अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽ-

❀ नयत्वा ❀

सम्पादितसत्ताकतृतीयभङ्गाऽभावात्कुतस्सप्तभङ्गी स्वावकाशं लभेतेत्याशयेन कश्चिच्छङ्कते - स्वरूपास्तित्वेनैवेति । एवकारेण पर-
रूपनास्तित्वव्यवच्छेदः कृतः । पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात् = पररूपाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावप्रत्ययोपपत्तेः, कथमनयो-
र्भेदः ? घटभेदाभाव-घटत्वयोरिव प्रकृते स्वरूपाऽस्तित्व-पररूपनास्तित्वयोर्नैव वैलक्षण्यं स्यादित्यर्थः । प्रकरणकृतसमाधत्ते-
स्वेतरवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वाऽप्रमीयमाणत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासादिति । यथाक्रमं पररूपावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावे स्वरूपा-
वच्छिन्नाऽस्तित्वे चाऽन्वयः कार्यः । अयमाशयः ‘घटो घटत्वेनाऽस्ति पटत्वेन च नास्ति’त्यत्र घटत्वाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वं केवलं
घट एव वर्तते न तु घटेतरकुटादौ, पटत्वाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाभावस्तु घटेऽपि वर्तते घटेतरकुटादावपि । एतेन स्वरूपाऽवच्छिन्नाऽ-
स्तित्व-पररूपावच्छिन्ननास्तित्वयोः समनियतत्वं प्रत्याख्यातम्, घटत्वलक्षणस्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्वं घटेतरकुटादौ न प्रमीयते,
पटत्वाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावस्तु घटभिन्नकुटादावपि प्रमीयते । अनेन स्वरूपास्तित्व-पररूपनास्तित्वयोरैक्यं प्रत्युक्तम्, अस्ति-
त्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नभिन्नवृत्तित्वविधया स्वरूपाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वेऽप्रमीयमाणत्वस्य पररूपाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावे च प्रमीय-
माणत्वस्य सद्भावात्, प्रमाविषयत्व-तदविषयत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासस्य स्वाश्रयभेदकत्वात् । ततः स्वातन्त्र्येण प्रथम-द्वितीयभङ्गावपि
घटेते एव । अनेन सप्तभङ्ग्या अनाविलम्बमुपदर्शितम् ।

ननु रत्नाकरावतारिकायां ‘अस्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि’ (रत्ना. ४/१६) इत्याद्युक्तम् । भवद्विस्तु
नास्तित्वस्याऽस्तित्वाऽव्याप्तत्वमुपदर्शितमिति कथं न विरोधः ? इति मुग्धाशङ्कयामाह - ‘अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येक-

❀ स्वास्तित्व और परनास्तित्व में अभेद नहीं है ❀

स्वरूपा. इति । यहाँ यह संशय हो कि → “स्वरूपाऽवच्छिन्न अस्तित्व और पररूपावच्छिन्न अस्तित्वाऽभाव को भिन्न
भिन्न मानने की जरूरत क्या है ? जहाँ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाऽवच्छिन्नाऽस्तित्व रहता है, वहाँ परद्रव्य-क्षेत्र-काला-भावावच्छिन्नाऽ-
स्तित्वाऽभाव रहता ही है । पररूपावच्छिन्न नास्तित्व को छोड़ कर स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व कहीं भी नहीं रहता है । अतः
‘घटः पटत्वेन नास्ति’ इस प्रतीति की उपपत्ति घटत्वाऽवच्छिन्न अस्तित्व से ही हो सकती है । स्वरूप से ही वस्तुमात्र का
अस्तित्व है । इसका मतलब यही है कि पररूप से वस्तु का नास्तित्व है । अतः पररूपावच्छिन्न नास्तित्व प्रकारक प्रतीति
का समर्थन स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व से अतिरिक्त पररूपावच्छिन्न नास्तित्व से न मान कर स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व से अभिन्न
ऐसे पररूपावच्छिन्न नास्तित्व से मानना उचित है । अतः सप्तभंगी के द्वितीय भंग की प्रथम भंग से ही उपपत्ति हो जायेगी ।
अतः प्रथम भंग से अतिरिक्त द्वितीय भंग की कल्पना विनजरूरी है” <- तो यह असंगत है । इसका कारण यह है कि
स्वास्तित्व और परनास्तित्व में विरुद्ध धर्म की आश्रयता है । वह इस तरह - ‘घटः घटत्वेनाऽस्ति पटत्वेन च नास्ति’ इस
वाक्य से घटत्वाऽवच्छिन्न अस्तित्व का और पटत्वावच्छेदेन नास्तित्व का घट में बोध होता है । मगर घटत्वावच्छिन्नाऽस्तित्व
केवल घट में ही है, न कि पर्वत, वृक्ष आदि में भी । जब कि पटत्वावच्छिन्न नास्तित्व घट में भी है और पर्वत, वृक्ष आदि
में भी है, क्योंकि पर्वतादि का अस्तित्व पटत्वाऽवच्छेदेन (=जहाँ पटत्व रहता है वहाँ) नहीं है । इस तरह घटत्वादिसवरूपा-
वच्छिन्न अस्तित्व घटेतर (परद्रव्य) वृत्तित्वरूप से प्रमा ज्ञान का विषय नहीं होने की वजह स्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्व में
स्वेतरवृत्तित्वविधया अप्रमीयमाणत्व (=प्रमाविषयत्वाभाव) धर्म रहता है और पटत्वादिपररूपाऽवच्छिन्न नास्तित्व घटेतरवृत्तित्वरूप
से प्रमा ज्ञान का विषय होने के सबब पररूपावच्छिन्ननास्तित्व में स्वेतरवृत्तित्वविधया प्रमीयमाणत्व (=वर्तमानकालीन प्रमाविषयत्व
धर्म रहता है । स्वरूपास्तित्व और पररूपनास्तित्व में उपदर्शित पद्धति (प्रक्रिया) के अनुसार परस्पर विरुद्ध धर्म रहने की वजह
वे परस्पर भिन्न भी सिद्ध होते हैं । यदि स्वरूपाऽस्तित्व से पररूपनास्तित्व सर्वथा अभिन्न होता, तब तो पररूपनास्तित्व की
भाँति स्वरूपास्तित्व में भी स्वेतरवृत्तित्वविधया प्रमीयमाणत्व धर्म ही रहता या तो स्वरूपास्तित्व की भाँति पररूपनास्तित्व में
भी स्वेतरवृत्तित्वरूप से अप्रमीयमाणत्व धर्म ही रहता । मगर वैसा नहीं है, यह हम अभी ही पढ़ चुके हैं - जान चुका हैं ।
इसलिए इन दोनों को अलग-अलग मानना आवश्यक हो जाता है । यदि आप ऐसा कहें कि → “अस्तित्व तो एक धर्मी
में प्रतिषेध्य (= नास्तित्व) से अविनाभावी है अर्थात् स्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्व तो पररूपावच्छिन्ननास्तित्व का व्याप्य है”
<- तो इससे केवल यह सिद्ध होगा कि जहाँ जहाँ स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व है, वहाँ वहाँ पररूपावच्छिन्न नास्तित्व अवश्य
रहता है और जहाँ जहाँ पररूपावच्छिन्न नास्तित्व नहीं रहता है, वहाँ वहाँ स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व नहीं रहता है । मतलब

विनाभाव्येकधर्मिणी'त्यादिना स्वास्तित्वस्य प्रतिषेध्याऽविनाभावित्वोक्तावपि प्रतिषेधस्य स्वास्तित्वविनाभावित्वस्य यौक्तिकत्वात्, पटत्वादिना नास्तित्वस्य घटेतरकुटादिवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वं तु निराबाधम् ।

'स्वपररूपादिचतुष्टयभेदात्तद्भेद' इति अष्टसहस्रीकास्वचनं तु विचारणीयम्, अवच्छेदकभेदादवच्छेदकभेदः अवच्छेदकभेदाच्चावच्छेदकभेद इत्यन्योन्याश्रयात् ।

ॐ नमो लला ॐ

धर्मिणी'त्यादिनेति । 'स्वरूपावच्छिन्नकालसंसर्गाश्रयत्वं पररूपावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभावव्याप्यमभिन्नाधिकरणे इति सिद्धं' इति वचनेन । स्वास्तित्वस्य = स्वरूपावच्छिन्नास्तित्वस्य, प्रतिषेध्याऽविनाभावित्वोक्तावपि = पररूपावच्छिन्नास्तित्वाऽभावाऽभावाश्रयत्वावच्छिन्ननिरूपितवृत्तित्वाऽभाववत्त्वप्रतिपादनेऽपि, प्रतिषेधस्य = पररूपावच्छिन्ननास्तित्वरूपस्य, स्वास्तित्वविनाभावित्वस्य = स्वरूपावच्छिन्नास्तित्वाऽव्याप्यत्वस्य, यौक्तिकत्वात् - युक्तिसिद्धत्वात् । तदेव दर्शयति - पटत्वादिनेति । घटेतरकुटादिवृत्तित्वेनेति । यद्यपि कुटतीति कुट इति व्युत्पत्त्या कुटशब्दार्थो घटः सम्भवति तथापि इतरपदसमभिव्याहारीत् कुट्यतेऽस्मिन्निति कुट इति व्युत्पत्त्या गृह इत्यर्थो बोध्यः, यद्वा कांशविशेषात् कुटशब्देन पर्वत-लौहमुद्गर-वृक्ष-प्राकारादयोऽर्था ज्ञेयाः । धूमस्य वह्निव्याप्यत्वेऽपि वह्न्यव्यापकत्ववत् स्वरूपावच्छिन्नास्तित्वस्य पररूपावच्छिन्नास्तित्वाऽभावव्याप्यत्वेऽपि तदव्यापकत्वमुपपद्यत इति भावः । शेषार्थश्चाऽनुपपद्यते भावित इति न पुनः प्रतन्यते ।

अत्रैव विचारन्यासिप्रायः सप्तविंशत्यनुपपत्तये - 'स्वपरचतुष्टयभेदात्तद्भेदः' इति । स्वद्रव्यपरद्रव्यादि-चतुष्कलक्षणाऽवच्छेदकभेदात् अस्तित्वनास्तित्वयोर्भेद इत्यर्थः । साम्प्रतन्तु अष्टसहस्रीकां 'स्वपररूपादिचतुष्टयाऽपेक्षया स्वरूपभेदात्सत्त्वाऽसत्त्वयोरेक्यस्तुनि भेदोपपत्तेः' (अ.स.परि-१ श्लो. १५, पृ. १५३ A) इत्येवं पाठो लभ्यत इति ध्येयम् । अयं अष्टसहस्रीकास्य विधानानन्दस्याऽभिप्रायः सर्वं स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन सत् परद्रव्यादिचतुष्टयेन चाऽसत् । वस्तुनि सत्त्वासत्त्वयोरेवच्छेदकभेदात् भेदः सिध्यति, कपिरसंयोग-तदभावयोः स्वाऽवच्छेदकीभूतशाखामूलभेदाच्चेद इवेति । विचारणीयमित्यनेन स्वाऽस्वरसः प्रदर्शितः प्रकरणकृता । विचारबीजमेवाऽऽह - अवच्छेदकभेदात् = सत्त्वाऽसत्त्वभेदात्, अवच्छेदकभेदः = स्वपरद्रव्यादिभेदः, सिध्यतीति शेषः । अवच्छेदकभेदात् = स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयलक्षणाऽवच्छेदकभेदात् च अवच्छेदकभेदः = स्वास्तित्व-परनास्तित्वविभेदः, सिध्यतीति गम्यते । ततः किमित्याह - इति = एतस्माच्चेतोः, अन्योन्याश्रयात् । अत्र परस्पराश्रयो नोत्पत्तौ, नाऽपि स्थितौ

किं स्वरूपास्तित्व पररूपनास्तित्व को छोड़ कर कहीं भी रहता नहीं है । मगर पररूपनास्तित्व का स्वरूपास्तित्व विनाभावित्व तो युक्तिसंगत ही है अर्थात् पररूपनास्तित्व स्वरूपास्तित्व को छोड़ कर भी अन्यत्र रह सकता है । यह तो हम ऊपर देख ही चुके हैं कि पररूपनास्तित्व घटेतर पर्वत, वृक्ष आदि में भी रहता ही है । अतः पररूपावच्छिन्नास्तित्वाऽभाव में घटेतर कुट (= पर्वतादि) आदि वृत्तित्वविधया प्रमीयमाणत्व निराबाध ही है, जब कि घटेतरवृत्तित्वरूप से प्रमीयमाणत्व स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व में नहीं रहता है । तात्पर्य यह है कि जैसे 'धूम अग्नि का व्याप्य है' ऐसा प्रतिपादन करने पर भी 'धूम अग्नि का व्यापक नहीं है', 'अग्नि हो वहाँ धूम अवश्य हो ऐसा नहीं है' यह कहा जा सकता है, जिसके फलस्वरूप धूम और अग्नि में भेद सिद्ध हो सकता है । ठीक वैसे ही स्वरूपास्तित्व पररूपनास्तित्व का व्याप्य है' ऐसा प्रतिपादन करने पर भी 'स्वरूपास्तित्व पररूपनास्तित्व का व्यापक नहीं है' अर्थात् - 'पररूपनास्तित्व जहाँ रहे वहाँ स्वरूपास्तित्व अवश्य हो ऐसा नहीं है' - यह कहा जा सकता है, जिसका निरूपण अभी ही हमने किया है । इसके फलस्वरूप स्वरूपास्तित्व और पररूपनास्तित्व में भेद सिद्ध हो जायेगा, जिसकी वजह प्रथम भंग से अतिरिक्त द्वितीय भंग की आवश्यकता सिद्ध हो जायेगी । अतः तत् नत् प्रामाणिक भंगों के समूह से निर्मित सप्तभंगी भी प्रामाणिक सिद्ध होती है, इसमें लेश भी संदेह नहीं है ।

ॐ अष्टसहस्रीकारमताजेकंदन ॐ

स्वपर. इति । यहाँ प्रकरणकार श्रीमद्जी अष्टसहस्रीकार दिगम्बर विद्यानन्द के मत को निराकरणार्थ बताते हैं । अष्टसहस्रीकर्ता का यह कथन है कि —> "स्वास्तित्व और परनास्तित्व के भेद की सिद्धि उनके अवच्छेदक के भेद से होती है । आशय यह है कि स्वास्तित्व और परनास्तित्व यदि एक = अभिन्न हो, तब तो परनास्तित्व की भाँति स्वास्तित्व का भी अवच्छेदक परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होना चाहिए या स्वास्तित्व की भाँति परनास्तित्व का भी स्वद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदक बनना चाहिए ।

‘स्वास्तित्वेनैव पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात्नास्तित्वमलीकमिति तु पापीयांसः,

❀ जयलता ❀

किन्तु ज्ञप्तौ ज्ञेयः । तल्लक्षणञ्च - ‘स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वमि’त्यामनन्ति मनीषिणः । प्रकृतेऽयं भावः, अवच्छेदकभेदो हि अवच्छेद्यविरोधे सत्यपेक्ष्यते । अवच्छेद्यविरोधश्चाऽवच्छेद्याऽभेदे सति नैव सम्भवति, स्वस्य स्वाऽविरोधित्वात् । अवच्छेद्यभेदे सिद्धे सत्येव क्वचित् अवच्छेद्यविरोधः सम्भवति । सिद्धे चाऽवच्छेद्यविरोधेऽवच्छेदकभेदो मृग्यते । ततोऽवच्छेदकभेदसिद्धयर्थं परम्परयाऽवच्छेद्यभेदज्ञानमावश्यकम् । किन्तु विद्यानन्दमते तु अवच्छेद्यभेदसिद्धिरवच्छेदकभेदसिद्धयधीना, तेन अवच्छेदकभेदेन सत्त्वासत्त्वभेदसाधनात् । ततोऽवच्छेद्यभेदग्रहसापेक्षोऽवच्छेदकग्रहः तत्सापेक्षश्चाऽवच्छेद्यबोध इति ज्ञप्तावितरेतराश्रयदोषान्नैव सत्त्वाऽसत्त्वलक्षणाऽवच्छेद्यभेदः सिध्येत् । एतेन ‘स्वरूपाद्यवच्छिन्नं सत्त्वं पररूपाद्यवच्छिन्नमसत्त्वमित्यवच्छेदकभेदात्तयोर्भेदसिद्धेः (स.न.त.पृ.११) इति सप्तमङ्गीनयतरङ्गिणीकारस्य विद्यानन्दानुगामिनो दिगम्बरस्य विमलदासस्य वचनं प्रतिक्षिप्तम् । न चैवं स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षयेव परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽपि सत्त्वप्रसङ्गः, तदपेक्षयेव स्वरूपाद्यपेक्षयाऽपि वाऽसत्त्वप्रसङ्ग इति शङ्कनीयम्, विरुद्धधर्माध्यासप्रदर्शनेन तदभेदप्रच्यवप्रदर्शनतः, तदनवकाशात् ।

अन्ये तु वदन्ति स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नास्तित्वमेव परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावप्रकारकप्रतीतिविषयः । अतो न तद्गोचरतया पररूपावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावसिद्धिरित्यनुमन्यन्ते । तन्मतमपहस्तयितुमुपक्रमते- स्वास्तित्वेनैवेति । एव-कारेण पररूपनास्तित्वं व्यक्वच्छिन्नम् । पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात् = पररूपावच्छिन्नास्तित्वाभावप्रकारकज्ञानोपपत्तेः, नास्तित्वं = परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नास्तित्वाऽभावात्मकं, अलीकं = काल्पनिकं, इति वदन्तः तु पापीयांसः = कदाग्रह-

मगर ऐसा नहीं है । स्वास्तित्व का अवच्छेदक केवल स्वद्रव्यादि चतुष्टय है और परनास्तित्व का अवच्छेदक केवल परद्रव्यादि चतुष्टय है । अवच्छेदक में भेद होने की वजह अवच्छेद्य अस्तित्व और नास्तित्व में भी भेद सिद्ध होता है । अतः प्रथम और द्वितीय भंग भी स्वतंत्र है, एक-दूसरे से चरितार्थ नहीं होते हैं” <— मगर महोपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि विद्यानन्द का यह वचन विचारणीय है । मतलब कि वह मीमांसा - परीक्षा करने योग्य है, क्योंकि वैसा प्रतिपादन कर के प्रथम-द्वितीय भंग में स्वातन्त्र्य की सिद्धि करने पर ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है । A के ज्ञान के लिए B के ज्ञान की अपेक्षा हो और B का ज्ञान A विषयक ज्ञान से सापेक्ष हो, यह ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय कहा जाता है । प्रस्तुत में अस्तित्व और नास्तित्व में विरोध सिद्ध होने पर ही एक धर्मी में उन दोनों के समावेश के लिए भिन्न भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा सिद्ध हो सकती है । यदि अस्तित्व और नास्तित्व अभिन्न हो, तब तो उन दोनों में विराध ही नहीं हो सकता । भला ! अपना विरोध स्वयं कौन करेगा ? अतः अवच्छेदकभेद के लिए अपेक्षित अवच्छेद्यविरोध अपनी सिद्धि के लिए कमसे कम अवच्छेद्यभेद की अपेक्षा रखता है । अर्थात् अवच्छेदक (= स्वपरद्रव्यादि चतुष्टय) में भेद की सिद्धि परंपरा से स्वाऽवच्छेद्य सत्त्व और असत्त्व के भेद पर अवलम्बित है । कम से कम जब तक सत्त्व और असत्त्व में भेद की सिद्धि न हो, तब तक उनके अवच्छेदक में भेद की सिद्धि नहीं हो सकती । मगर विद्यानन्द के मतानुसार अवच्छेद्य में भेद की सिद्धि अवच्छेदक के भेद की सिद्धि पर अवलम्बित है, क्योंकि पृथक् पृथक् अवच्छेदक होने की वजह ही सत्त्व और असत्त्व में वैलक्षण्य होता है - यह उसका कथन है । अतः पृथक् पृथक् अवच्छेद्य (सत्त्व और असत्त्व) सिद्ध होने पर अवच्छेदक में वैजात्य की सिद्धि होगी और अवच्छेदक (स्व-पर द्रव्यादि चतुष्टय) में पार्थक्य की सिद्धि होने पर उनसे अवच्छेद्य सत्त्व-असत्त्व अलग-अलग सिद्ध होंगे । फलतः भेदसिद्धि न तो अवच्छेद्य में होगी, न अवच्छेदक में । ऐसा होने पर परवादी का जो आक्षेप था कि —> ‘प्रथम भंग से ही द्वितीय भंग चरितार्थ हो जाने की वजह दो अलग अलग भंग बताने की क्या जरूरत है ?’ <— उसका समाधान न हो सकेगा । इसके समाधान के लिए हमने (प्रकरणकार ने) जो पूर्व में विरुद्धधर्माध्यास से सत्त्व और असत्त्व में भेद की सिद्धि की थी, वही उचित है ।

❑ पररूपनास्तित्व काल्पनिक नहीं है - स्यादतीदी ❑

स्वा. इति । यहाँ —> “स्वास्तित्व से ही पररूपनास्तित्व का निर्वाह - समर्थन हो जाने से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं । मतलब स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नाऽस्तित्व ही प्रामाणिक है, न कि परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्न नास्तित्व” <— ऐसा कथन करने वाले लोग अत्यंत पापी (= कदाग्रहदोषग्रस्त अन्तःकरण वाले) हैं, क्योंकि एक की प्रामाणिकता से अन्य में अप्रामाणिकता सिद्ध करने पर तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि - ‘स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व विषयक प्रतीति की उपपत्ति परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्ना नास्तित्व से ही हो जाने के सबब स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्न

ते पुनः 'अस्ती'तिप्रतीतेर्नास्तित्वेनैव निर्वाहे कथमस्तित्वे गच्छन्ति हस्तावलम्बदायिनः ?
सङ्गीता सप्तभङ्गी यदि निखिलजगन्त्यस्तवस्तुव्यवस्था,
मूलं कूलं कषायाः कषत्तु तटमियं तत्प्रमाणव्यवस्था ।
येन स्यादप्रमाणं भुवनगुरुवचः सर्वथा न प्रमाणं,
तस्मादेकान्तवादी हित इति गदति स्पष्टमेकान्तवादी ॥१॥

❀ गद्यलता ❀

लक्षणनिकृष्टावद्यस्तान्तःकरणाः । तदभिनिविष्टत्वमेव काकुन्यायेनादिष्करोति- ते इति । 'अस्ती'तिप्रतीतेः = स्वरूपावच्छिन्नाऽ-
स्तित्वप्रकारकधियः, विषयविधया नास्तित्वेनैव निर्वाहे सम्भवे कथं अस्तित्वे गच्छन्ति हस्तावलम्बदायिनः ? स्वरूपा-
वच्छिन्नास्तित्वहस्तालम्बनग्रहीतारो न न्यायसभायां सुष्ठु भ्राजन्त इत्यर्थः । स्वरूपास्तित्वेन पररूपनास्तित्वापलापे पररूपनास्ति-
त्वेन स्वरूपास्तित्वनिराकरणमपि न दुष्करम् । न चैवम्, इति स्वास्तित्ववत् पररूपावच्छिन्ननास्तित्वमपि प्रामाणिकमित्यभ्यु-
पेयम् । कथमन्यथा हेतोः त्रैरूप्यं पञ्चरूपत्वं वा परस्याऽपि सम्भवेत् ? सपक्षास्तित्वेनैव विपक्षनास्तित्वप्रतीतेर्निर्वाहसम्भवात्,
विपक्षनास्तित्वविरहे तत्सत्त्वप्रसङ्गाच्चेति दिक् ।

पद्येन परमतमपसारयितुमुपन्यस्यति- सङ्गीतेति । सप्तभङ्गी यदि निखिलजगन्त्यस्तवस्तुव्यवस्था = सम्पूर्णविश्वस्य
न्यस्ता = निहिता वस्तुव्यवस्था यस्यां सा, इति संगीता, तदा इयं तत्प्रमाणव्यवस्था = सप्तभङ्गीप्रमाणव्यवस्था, कूलं कषायाः
= जलभृतनद्याः मूलं तटं कषत्तु । सप्तभङ्ग्या अखिलप्रमेयव्यवस्थापकत्वे प्रमाणव्यवस्था विप्लवेत्यर्थः । हेतुमाह- येन कारणेन
भुवनगुरुवचः = जिनेन्द्रवचनं अप्रमाणं अपि स्यात् = भवेत् यद्वा स्यादप्रमाणं = कथञ्चिदप्रमाणं, यतः सा न सर्वथा
प्रमाणं, भगवद्भारत्याः सर्वथा प्रमाणत्वे सप्तभङ्गीभङ्गप्रसङ्गात्, 'तदपि स्यात्प्रमाणं स्यादप्रमाणमि'त्युपगमे च प्रामाण्यव्यवस्थापनं
दुर्घटं स्यात्, अनवधारणात् । ततः किमित्याह - तस्मात् = प्रामाण्यव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः, एकान्तवाद एव हित इति स्पष्टं
एकान्तवादी सदसि गदति = जल्पति ।

अयमत्र एकान्तवादिनोऽभिप्रायः 'जिनेन्द्रवचनं स्यात्प्रमाणं स्यादप्रमाणमि'त्यङ्गीकारे साङ्ख्यादिदोषाऽनिराकरणेन निष्कम्प-
प्रवृत्त्यादिकं नोपपद्येत, 'अर्हद्वचः प्रमाणमेवे'त्यङ्गीकारे च तत्र मानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽयोगव्यवच्छेदापातेनैकान्तवादप्रवेश-
प्रसङ्गात् । एवकारमर्यादाऽत्रैवं ज्ञेया, विशेष्यसङ्गतैवकारस्याऽन्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थः यथा 'पार्थ एव धनुर्धर' इत्यादौ एवकारार्थ-
स्याऽन्ययोगव्यवच्छेदस्यैकदेशोऽन्यत्वे प्रतियोगितासम्बन्धेन पार्थान्वयः, पार्थान्वयनिरूपितवृत्तित्वाभावान्वयो विशेषणैकदेशो धनुर्धरत्वे,
तादृशधनुर्धरत्ववदन्वयोऽभेदसम्बन्धेन पार्थपदार्थे । ततः पार्थान्वयाऽवृत्तिधनुर्धरत्वाश्रयाऽभिन्नः पार्थ इति बोधो जायते । विशेषण-
सङ्गतैवकारार्थोऽयोगव्यवच्छेदः, यथा 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यादौ । अयोगस्य सम्बन्धाभावरूपस्यैकदेशो सम्बन्धे विशेषणैकदेशस्य
पाण्डुरत्वस्याऽन्ययः, अयोगव्यवच्छेदस्य च स्वरूपसम्बन्धेन विशेष्यपदार्थे शङ्खेऽन्ययः । ततः 'पाण्डुरत्वसम्बन्धाऽभावप्रतियोगिका-

अस्तित्व काल्पनिक = असत् है ।' यदि अस्तित्व से नास्तित्वगोचर प्रतीति का समर्थन करके नास्तित्व को अन्यथासिद्ध
= असत् माना जाय तो तुल्य न्याय से नास्तित्व से अस्तित्वविषयक ज्ञान की उपपत्ति हो जाने से अस्तित्व भी झूठा =
काल्पनिक माना जा सकता है । तो फिर वे स्वरूपास्तित्व को अपनी मान्यतारूप हस्त का आलम्बन क्यों बनाते हैं ?
मतलब कि नास्तित्व से अस्तित्व का अपलाप नहीं होता है, वैसे अस्तित्व से नास्तित्व का निराकरण नहीं किया जा सकता ।
स्वरूपसत्त्व और पररूपाऽसत्त्व दोनों प्रामाणिक हैं ।

❀ सप्तभङ्गी जिनवचन में प्रवृत्त नहीं हो सकती - एकान्तवादी ❀

एकान्तवादी :- संगीता. इति । जी हज़ूर ! आपने जिस सप्तभङ्गी का बयान किया है वह यदि संपूर्ण विश्व की
वस्तुओं की व्यवस्थापक होगी यानी 'प्रत्येक वस्तु में वह सप्तभङ्गी प्रवर्तमान है' ऐसा माना जाय तब तो यह सप्तभङ्गी की
प्रमाणव्यवस्था नदी के, जिसके दोनों किनारे पे पानी उभर रहा है, मूल तट में जाकर गिरेगी । अर्थात् प्रमाणव्यवस्था
ही अव्यवस्थित बन जायेगी । इसका कारण यह है कि 'जिनेन्द्र का वचन प्रमाण है या नहीं ?' इस प्रश्न के जवाब में
या तो जिनवचन में प्रामाण्यधर्मविषयक सप्तभङ्गी में यही स्याद्वादी की ओर से कहा जा सकता है कि - जिनवचन कथञ्चित्
प्रमाण है, कथञ्चित् अप्रमाण है, कथञ्चित् प्रमाणाऽप्रमाणोभय है इत्यादि । मतलब कि तीर्थंकरवचन को भी सर्वथा प्रमाण
नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिनवचन में अपेक्षा से अप्रामाण्य भी है - यह सप्तभङ्गी से जाना गया है । तब तो जिनवचन

अत्र ब्रूमः प्रमाणं भवति भववचः किं सद्यप्रमाणं,
येन प्रामाण्यमुद्रा परपरिचयतः संकरोत्कीर्णकुक्षिः ।

✽ गयलता ✽

भाववान् शङ्ख' इत्यर्थबोध उपजायते । क्रियासङ्गतैयकारार्थश्चाऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदः यथा 'सरोजं नीलं भवत्येवे'त्यादी अत्यन्ता-योगव्यवच्छेदैकदेशेऽत्यन्तायोगे नीलकर्तृकभवनक्रियाऽन्वयो भवति तथा सरोजत्वव्यापकस्वरूपसम्बन्धेन नीलकर्तृकोत्पत्तिप्रति-योगिकाभावान्वयः सरोजपदार्थं भवति । ततः सरोजं नीलकर्तृकोत्पत्त्यभावप्रतियोगिकाभाववदिति शाब्दबोधः समुपजायत इति प्राश्नो नैयायिकाः ।

नव्यास्तु एवकारस्य द्वयमेवार्थः अयोगव्यवच्छेदोऽन्ययोगव्यवच्छेदश्च, न त्वत्यन्तायोगव्यवच्छेदः, गौरवादिति यद्वा अन्ययोगव्यवच्छेद एव वा तदर्थं इति वदन्ति ।

इतरे तु - एवकारस्याऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चार्थ इत्याहुः ।

सप्तमङ्गलाः सार्वत्रिकत्वाऽभ्यनुज्ञायामेवकारो निरर्थकः प्रसज्येत सार्थकत्वे वा एकान्तमतानुप्रवेश इति द्विपक्षी राक्षसी प्रत्यक्षीचोभवीतीति एकान्तवादमतमेव विश्वकल्याणकरमिति परस्याऽऽशयः ॥१॥

साम्प्रतं प्रकरणकृत समाधत्ते - अत्र ब्रूमः इति । भववचः = भवानीपतिवचनं, किं प्रमाणं एवेति भवति ? 'शिववचनं प्रमाणमेव' इति भवितुं नार्हति । कस्माद्धेतोः ? इत्याशङ्कयामाह- अप्रमाणमपि सद् = भवनार्हम् । कथं ? इत्याकाङ्क्षयामाह येनेति । परपरिचयतः = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितासंसर्गतः प्रामाण्यमुद्रा सङ्करोत्कीर्णकुक्षिः = अप्रामाण्यसाङ्कर्यव्या-मिश्रितगर्भा । अयं भावः 'उमापतिवचनं प्रमाणमेवे'त्यत्र विशेषणसङ्गतैयकारसमभिव्याहारात् प्रमाणत्वाऽयोगव्यवच्छेदः नव्यमतेन प्रमाणान्ययोगव्यवच्छेदो वा भवतु तथापि 'महेश्वरचसि प्रत्यक्षत्वेन न मानत्वम्', 'त्रिलोचनवचनं प्रत्यक्षत्वेन न प्रमाणं' इति प्रतीत्या विशेषरूपेण सामान्याभावस्य प्रत्यक्षत्वनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपित-प्रमाणत्वनिष्ठप्रतियोगिताकाऽभाव-रूपस्य विशेषरूपेण सामान्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितप्रमाणसामान्यनिष्ठ-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-काभावरूपस्य वा सिद्धौ न सर्वथा तद्व्यवच्छेदः शक्यः ।

किञ्च व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वात् प्रमाणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य घटाभावस्य परमे-श्वरवचसि सत्त्वात्कथं तद्व्यवच्छेदः ? न च प्रमाणत्वावच्छिन्नप्रमाणनिष्ठप्रतियोगिताकस्य सामान्यरूपेण विशेषाऽभावसत्त्वे वा तादृशतत्सामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकस्याऽभावस्य व्यवच्छेद्यत्वान्न दोष इति वाच्यम्, प्रमाणत्वेन प्रमाण-घटोभयाऽभावस्य तथात्वात् । न च प्रमाणभावनिष्ठप्रतियोगितोपादानान्न दोष इति वक्तव्यम्, तथापि 'शङ्करवचोघटौ न मानम्' इति प्रतीतेः शङ्कर-वचोघटोभयत्वावच्छेदेन तादृशप्रमाणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य सत्त्वेन तद्व्यवच्छेदाऽयोगात्, त्रिपुरारिवचनत्वावच्छिन्ना-धिकरणताकस्य च तादृशाऽभावस्य सिद्धयसिद्धिपराहतत्वेन व्यवच्छेदुमशक्यत्वात् । ततः प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्गिरीशवचनेऽपि सत्त्वमुपगन्तव्यमायुष्मतेति साङ्कर्यम् । तदनुपगमे चेश्वरवचसि प्रत्यक्षानुमानादिवृत्तिप्रामाण्याप्रातेन परकीयधर्मसत्त्वलक्षणं साङ्कर्यमिति तत्र गीर्वाणगुरुणापि निवारयितुं शक्यम् ।

अत एव "त्वत्तीर्थकरवचनं किं सत्यं ? आहोस्विदसत्यमिति ? सत्यमेवेति न युक्तम्, एकान्तवादप्रसङ्गात् । अथाऽत्रापि

से प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि निश्चितप्रामाण्यवाला वचन ही प्रवर्तक हो सकता है । जिनवचन में अपेक्षा से अप्रामाण्य का ज्ञान प्रामाण्य निश्चय का विरोधी है । अतः जिनवचन से प्रवृत्ति आदि की उपपत्ति के लिए भी जैन को जिनवचन में सर्वथा प्रामाण्य मानना उचित है । अतएव सप्तमंगी-स्याद्वाद अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा । इसलिए सर्वत्र एकान्तवाद ही उचित है ।

✽ सप्तमंगी शिववचन में भी अव्याहत - अनेकान्तवादी ✽

अनेकान्तवादी :- अत्र ब्रू इति । अरे ओ, एकान्तवादी ! जरा हमारा भी जवाब सुनियेगा । आपने अरिहंतवचन के विषय में जो आक्षेप किया है वह शिववचन में भी समान है । 'क्या आपके शंकर का वचन प्रमाण ही है ?' इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में यह तो नहीं कहा जा सकता कि - 'शंकर भगवान का वचन प्रमाण ही है', क्योंकि वह अप्रमाण भी है । इसका कारण यह है कि परपरिचय से यानी अन्यवृत्ति धर्म की अपेक्षा वह प्रमाण नहीं है । शिववचन में आगमत्वरूप धर्म से प्रमाणत्व होने पर भी प्रत्यक्षत्व, अनुमानत्व, घटत्व आदि स्वाऽवृत्ति व्यधिकरण धर्म की अपेक्षा प्रामाण्य नहीं है ।

एकान्तः कान्त एवेत्यपि यदि मनुषे किं तवाऽम्बा तदेयं,
ब्राह्मण्यं भोः । तपस्विन् । प्रथयति नियतं शुद्धदाराणुरूपम् ॥२॥
“अथ विशेषणसङ्गतैवकारस्य विशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं,

✽ जयलता ✽

सप्तभङ्गीष्टा-स्यात् सत्यम्, स्यादसत्यम्, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यमित्यादिका; तदा प्रमाणाऽप्रमाणव्यवस्थानुपपत्तिः” (न्या.भू. पृ.५६०) इति भासर्वज्ञवचनमपि प्रत्याख्यातम्, स्वविषयाऽपेक्षयाऽर्हद्वचसि सत्यत्वस्य स्वाऽगोचरापेक्षया चाऽसत्यत्वस्योपग-
मेऽपि स्वविषयेऽबाधित-बाधितवचस्त्वयोः व्यवहारसत्यत्याऽसत्यत्वनियामकत्वेन प्रमाणाऽप्रमाणव्यवस्थानिर्वाहात् अनेकान्ते सम्यगे-
कान्ताविनाभावित्वस्य बहुश उक्तत्वात् ।

पद्यपूर्वार्धबलादेव ‘एकान्तवादो हित’ (पश्यतां २७० तमे पृष्ठे) इति पूर्वोक्तं जर्जरीकृतं तथापि तत्र विशेषत आह
प्रकरणकृत् - ‘एकान्तः कान्त एवे’त्यपीति । यदि त्वं एकान्तः = एकान्तवाद एव कान्तः मनोहारी इत्यपि मनुषे ।
किं मनुषे ? कामं चेत् ? तदा भोः ! तपस्विन् ! तव एकान्तवादिन इयं एकान्तवादर्चिलक्षणा अम्बा = जननी नियतं
ध्रुवं शुद्धदाराणुरूपं ब्राह्मण्यं प्रथयति = प्रकटयति, शम्भुवचस्येव प्रामाण्येकान्तविरहात् । ‘घटः सत्त्वे’त्यत्राऽपि सत्त्वैकान्तो
न कान्तः, घटे कृत्स्नसत्त्वप्रसङ्गेन परसत्त्वस्य दुर्निवारत्वात् । न चैवम् । अतः पराऽसत्त्वमपि तत्रोपगन्तुमर्हति । ततः स्थित-
मिदमनेकान्तस्य सर्वव्यापितत्वमिति समाधानग्रन्थाशयः ।

पूर्वपक्षयति नव्यनैयायिकः अथेति । द्वितीयचेत्यदपर्यन्तं पूर्वपक्षो बोध्योऽत्र । विशेषणसंगतैवकारस्य = विशेषणवाचक-
पदाऽव्यवहितोत्तरैवपदस्य, विशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं = विशेष्यार्थवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावनिरू-

मतलब की प्रत्यक्षत्वादि धर्म की अपेक्षा महेश वचन में अप्रामाण्य भी है । प्रत्यक्षत्वादि धर्म की अपेक्षा शिववचन में प्रामाण्य
मानने पर वह वचन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि स्वरूप बन जायेगा । अतः अप्रामाण्य के संकर = मिश्रण से एकान्तप्रामाण्य
की कुक्षि उत्कीर्ण-दूषित हो जाती है । अतः शिववचन में भी स्यात् प्रामाण्य, स्यात् अप्रामाण्य, कथञ्चित्प्रामाण्य-अप्रामाण्य
आदि का स्वीकार नैयायिक आदि एकान्तवादिओं को भी करना पड़ेगा । इस तरह सप्तभङ्गी की प्रवृत्ति सर्वत्र अव्याहत है ।
एकान्तवादी ने जो कहा था कि —> ‘एकान्तवाद ही हितकर है’ <— इसका निराकरण प्रकरणकार श्लोक के पश्चाद् से
करते हैं । हे तपस्वी श्रोत्रिय ब्राह्मण ! क्या तुम ‘एकान्त ही कान्त = रम्य है’ यह मानते हो ? यदि वैसी मान्यता का
स्वीकार करोगे तब इस मान्यतारूपी तुम्हारी मां जिस ब्राह्मणत्व को प्रकट करेगी वह अवश्य शुद्धपत्नी के अनुरूप = समान
होगा, न कि ब्राह्मणस्त्री के समान । इसका कारण यह है कि शिववचन में भी प्रामाण्य का एकान्त नहीं है । ‘घटः सन्
एव’ = ‘घट सत् ही है’ यहाँ भी एकान्ततः घट में सकल सत्त्व प्रतीत नहीं होता है, अन्यथा घटत्वादि पररूप से भी
घट सत् बन जायेगा । अतः एकान्तवाद व्यापक नहीं है, मगर अनेकान्तवाद ही सर्वव्यापक है । अतएव वही हितकर है ।

✽ विशेषणसंगत एवकार का अर्थ - पूर्वपक्ष ✽

‘नव्यनैयायिक :- अथ विशेषः इति । ‘घटः सत् एव’ यहाँ आपने (स्याद्वादी ने) जो अनेकान्तोद्भावन किया है वह
ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि उक्त वाक्य में विशेष्य है घटपद और विशेषणवाचक है सत्पद । सत्पदस्वरूप विशेषणवाचक
पद से समभिव्याहत है ‘एव’पद । विशेषणसंगत एवकार का अर्थ है अन्ययोगव्यवच्छेद जिसको नव्य न्याय की परिभाषा में
इस तरह कहा जा सकता है- विशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं । जैसे ‘घटः सन् एव’ यहाँ विशेष्यपदार्थ घट में
रहा हुआ व्याप्यवृत्ति अभाव है गुणत्वाभाव, कर्मत्वाभाव आदि । उनका प्रतियोगी है गुणत्व, कर्मत्व आदि । अतः तादृश
अभाव का प्रतियोगित्व गुणत्व आदि में रहेगा । मगर घट विद्यमान होने की वजह उसमें अस्तित्व का अभाव नहीं रहता
है । अतः घटवृत्ति व्याप्यवृत्ति अभाव का अप्रतियोगी बनेगा अस्तित्व = सत्त्व । अतः सत्त्व में घटवृत्ति व्याप्यवृत्तिअभाव का
अप्रतियोगित्व रहेगा । यहाँ शाब्दबोध का आकार होगा-घट स्ववृत्ति व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी सत्त्ववाला है ।

शंका :- यदि विशेषणसमभिव्याहत एवकार का अर्थ विशेष्यार्थनिष्ठ व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व माना
जायेगा, तब तो ‘वृक्षः संयोगी एव’ इत्यादि स्थल में एवकारार्थ अप्रसिद्ध बन जायेगा । इसका कारण यह है कि यहाँ
‘वृक्षः’ पद विशेष्यवाचक है और विशेषणवाचक ‘संयोगी’पद से एवकार संगत है । वृक्षात्मक विशेष्य पदार्थ में जो व्याप्यवृत्ति

**विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वाऽर्थः, तैः 'वृक्षः संयोगी एव' इत्यत्र नाऽप्रसिद्धिः ।
अयोगव्यवच्छेदस्तु नार्थः, 'प्रमेयमभिधेयमेव' इत्यत्रैवाऽभावात् ।**

❀ जयलता ❀

पितप्रतियोगित्वाभावः, अर्थ इत्यत्राऽनुषज्यते । तथाहि - 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यत्र विशेष्यलक्षणशङ्खवृत्तिः व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिको योऽत्यन्ताभावः स न तावत् पाण्डुरत्वाभावः किन्तु श्यामत्वाद्यभावः तत्प्रतियोगित्वं श्यामरूपादौ, तदभावश्च पाण्डुरत्वे वर्तत इति 'शङ्खः स्ववृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकाभावनिरूपितप्रतियोगित्वा-भावविशिष्टपाण्डुरत्ववान्' इत्युक्तस्थले बोधः ।

नन्वेवं सति 'वृक्षः संयोगी एव' इत्यत्र तादृशैवकारार्थाऽसङ्गतिः स्यात् व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितायाः संयोगानुयोगिकत्वाऽप्रसिद्ध्या संयोगे वृक्षवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकाऽत्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगितानिषेधाऽयोगादित्याशङ्कयामाह- विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वाऽर्थः इति । विशेष्यपदार्थवृत्तिः यो भेदः तदीयप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वविरहो वा तदर्थः इति । यथा 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यत्र शङ्खवृत्तिः यो भेदः स न पाण्डुरप्रतियोगिकः किन्तु घटादिप्रतियोगिकः तदीय-प्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वं घटत्वादौ तदभावश्च पाण्डुरत्वे इति 'शङ्खः स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वशून्यपाण्डुरत्ववान्' इत्युक्तस्थले शाब्दबोधः । तत्फलमाह- तेनेति । विशेषणवाचकपदोत्तरैवकारस्य द्वितीयार्थोपगमेनेति । 'वृक्षः संयोगी एव' इत्यत्र स्थले नाऽप्रसिद्धिः तादृशैवकारार्थस्येति शेषः । तथाहि वृक्षवृत्तिर्यो भेदः स न तावत् संयोगिप्रतियोगिकः किन्तु घटादिप्रतियोगिकः तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वं घटत्वादौ तदभावश्च घटवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्ववति संयोगे वर्तत इति तत्र 'वृक्षः स्ववृत्ति-भेदप्रतियोगितानवच्छेदकसंयोगवानि' त्याकारको बोधो जायत इति नाऽप्रसिद्धिः ।

ननु विशेषणसंगतैवकारस्याऽर्थोऽयोगव्यवच्छेद एवास्तु सम्बन्धाभावाऽभावात्मकः, 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यादौ 'शङ्खः पाण्डुरत्वसम्बन्धाभावप्रतियोगिकाऽभाववानि' त्याद्याकारकबोधस्यैवाऽनुभवसिद्धत्वादिति प्राचीनन्यायमतं दूषयितुमुपक्रमते नव्यः- अयोगव्यवच्छेदस्तु नार्थः इति । 'विशेषणसङ्गतैवकारस्ये'त्यत्राऽप्यनुषज्यते । हेतुमाह- 'प्रमेयमभिधेयमेव' इत्यत्रैवाऽभावादिति ।

अभाव है उसका प्रतियोगित्व घट, पट आदि में रहता है, क्योंकि घटाभाव, पटाभाव आदि वृक्ष में विद्यमान हैं । संयोग अव्याप्यवृत्ति है, क्योंकि संयोग के आश्रय में अन्य भाग में उसका अभाव भी रहता है । वृक्ष में जो संयोगाभाव रहता है वह अव्याप्यवृत्ति है, क्योंकि वह संपूर्ण वृक्ष में नहीं रहता है । शाखा में संयोग होने की वजह मूलादि अवच्छेदेन ही यानी मूलादि अभुक्त भाग में ही संयोगाभाव रहता है । संयोग अव्याप्यवृत्ति होने की वजह उसमें कभी भी व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रहता ही नहीं है । जो धर्म जहाँ कभी भी न रहता हो उसका वहाँ निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसक्त का ही निषेध हो सकता है, अप्रसक्त का नहीं । एवकार का प्रयोग प्रसक्त का व्यवच्छेद करने के लिए ही होता है । संयोग में व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही प्रसक्त नहीं है तो वृक्षवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व कैसे प्रसक्त होगा ? जब कि वह कभी भी संयोग में प्रसक्त = संभव = प्रसिद्ध ही नहीं है तो उसका व्यवच्छेद भी कैसे होगा ? अतः संयोगात्मक विशेषण में तादृशाऽप्रतियोगित्व अप्रसिद्ध हो जायेगा । फलतः विशेष्यवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व को विशेषणसंगत एवकार का अर्थ नहीं माना जा सकता ।

❀ विशेषणसंगत एवकार का द्वितीय अर्थ - नैयायिक ❀

समाधान :- विशेष्यनिष्ठभेदः इति । विशेषणसंगत एवकार का अर्थ विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व मानने से उपदर्शित अप्रसिद्धि दोष का निराकरण हो सकता है । वह इस तरह - 'वृक्षः संयोगी एव' यहाँ वृक्ष विशेष्य है । उसमें जो जो भेद रहते हैं, उनका अवच्छेदक संयोग नहीं है, किन्तु घट, पट आदि हैं । 'वृक्षः घटवान् न, पटवान् न' इत्यादि प्रतीति होती है, एवं वृक्ष में घटवच्छेद, पटवच्छेद आदि रहते हैं । मगर न तो 'वृक्षः न संयोगी' ऐसी प्रतीति होती है और न तब वृक्ष में संयोगिभेद रहता है । अतः वृक्षवृत्तिभेदप्रतियोगिता की अनवच्छेदकता संयोग में अबाधित है । यत् किञ्चित् भेदप्रतियोगितावच्छेदकता संयोग में है, क्योंकि 'गुणो न संयोगी' इत्यादि प्रतीति से गुणवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकता संयोग में प्रसिद्ध है । अतः संयोग में वृक्षवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकता का निषेध हो सकता है । इस तरह विशेषणसमभिव्याहृत एवकार का अर्थ विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव मानने से 'वृक्षः संयोगी एव' इत्यादि स्थल में अप्रसिद्धि दोष की संभावना नहीं है । अतः विशेषणसंगत एवकार का वही अर्थ उचित है ।

❀ विशेषणसंगत एवकार का अयोगव्यवच्छेद अर्थ नहीं है - नव्य नैयायिक ❀

अयो. इति । प्राचीन नैयायिक आदि 'विशेषणसंगत एवकार का अर्थ अयोगव्यवच्छेद है' ऐसा मानते हैं । उसका

तत्र च खण्डशः शक्तिर्लक्षणा वेत्यन्यदेतत् ।

❀ नयतता ❀

अभावपदार्थोऽत्राऽसम्भवो बोध्यः, अयोगव्यवच्छेदस्येति गम्यते । न चाऽत्र सम्बन्धाभावलक्षणाऽयोगैकदेशसम्बन्धेऽन्वितस्याऽभिधेयपदार्थैकदेशस्याऽभिधेयत्वस्य प्रतियोगितारम्बन्धेनान्वयेऽन्वत्, तस्याऽपि स्वप्रतियोगितायाऽभावान्तरेऽन्वयात्, 'प्रमेयं स्वरूपसम्बन्धेन अभिधेयत्वसम्बन्धाभावाभाववदि'ति बोध उपगन्तुं शक्यः; अभिधेयत्वस्याऽभिधाविषयत्वरूपस्य केवलान्वयित्वेन तदभावाऽप्रसिद्धेः, असतोऽनिषेधात् । न च तत्र विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगिज्ञानावच्छेदकत्वस्य तत्त्वेऽपि अन्यत्र अयोगव्यवच्छेदस्यैव तत्त्वमिति वक्तव्यम्, शक्तिद्वयकल्पने गौरवात् । ततश्च लाघवेनाऽपि सर्वत्र विशेषणसमभिव्याहृतैवकारस्य विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव एवार्थः । 'घटो नीलघटो न भवति, द्रव्यं न घट' इत्यादिवत् 'प्रमेयं न द्रव्यं' इति प्रतीत्या प्रमेयवृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वं द्रव्यत्वादौ तदभावश्चाऽभिधेयत्वे इति प्रमेयनिष्ठभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वशून्याऽभिधेयत्ववदि'त्युक्तस्थले बोध इत्यङ्गीकारात् दोषः ।

ननु अभिधेयत्वे भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य सत्त्वे प्रमेयवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वनिषेधो घटामन्वेत, प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधात् । न चैवं प्रकृते सम्भवः; अभिधेयत्वस्य केवलान्वयित्वेनाऽभिधेयभिन्नस्याऽप्रसिद्धेः । ततो न दर्शितार्थे विशेषणसङ्गतैवकारशक्तिः, अन्यथा 'वृक्षः संयोगी एव' इत्यत्र विशेष्यवृत्तिव्याप्यवृत्त्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वसम्भवेन विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वकल्पानुसरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्यामाह- तत्र च खण्डशः शक्तिरिति । 'घटो न घटाभिधेय' इति प्रतीत्या अभिधेयत्वे भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य प्रसिद्धेः प्रमेयत्वावच्छिन्नवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वव्यवच्छेदस्य युक्तत्वादिति तत्तद्विशेषणसङ्गतैवकारस्य तत्तद्विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वे व्यवच्छेदे च शक्तिरिति खण्डशः शक्तिकल्पने दोषाभावात् । अत एव द्वितीयकल्पानुसरणमपि सङ्गच्छते; संयोगेऽखण्डस्य वृक्षवृत्तिव्याप्यवृत्त्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि खण्डशः तदसम्भवात्, तादृशप्रतियोगित्वस्य तत्राऽप्रसिद्धत्वेन तन्निषेधाऽयोगादित्युक्तत्वात् ।

नन्वेवं शक्तिद्वयकल्पने गौरवमव्याहतमिति 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापात इत्याशङ्क्यामाह- लक्षणा वेति । व्यवच्छेदे एव शक्तिः, समभिव्याहारादिबलोपस्थिते विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वे लक्षणेत्यर्थः । न चैवं लक्ष्य-शक्ययोः एवकारार्थयोः परस्परमन्वयप्रसङ्ग इत्यारेकणीयम्, 'एवपदप्रयोज्यलक्ष्यार्थनिष्ठविषयतानिरूपितशक्यार्थनिष्ठविषयतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति एवपदनिष्ठशक्तिज्ञानजन्योपस्थितिः विशेष्यतासम्बन्धेन कारणमि'ति कार्यकारणभावलब्धात्मलाभायाः 'एवपदप्रयोज्यलक्ष्यार्थनिष्ठविषयतानिरूपितशक्यार्थविषयता एवपदप्रयोज्या भवती'तिव्युत्पत्तेर्महिम्ना तयोः परस्परमन्वयात् । अत एव घटपदस्य नीले लक्षणामङ्गीकृत्य 'नीलो घटो न शुक्ल' इति तात्पर्येण 'घटो न शुक्लः' इत्यस्याऽनापत्तेः ।

निराकरण करने के लिए नव्य नैयायिक कहते हैं कि - विशेषणसंगत एवकार का अर्थ अयोगव्यवच्छेद तो नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्रमेयं अभिधेयं एव' इत्यादि स्थल में अयोगव्यवच्छेद अर्थ अप्रसिद्ध है । वह इस तरह समझा जा सकता है । 'प्रमेयं अभिधेयं एव' यहाँ विशेष्य है प्रमेयपदार्थ और विशेषण है अभिधेयपदार्थ । अयोगव्यवच्छेद के घटकीभूत अयोग का मतलब है सम्बन्धाभाव और व्यवच्छेद का मतलब है अभाव या निषेध । अयोग के एकदेश सम्बन्ध में अभिधेयत्व का, जो अभिधेयशब्दार्थ का एक देश है, अन्वय करने पर 'अभिधेयं एव' का अर्थ होगा अभिधेयत्वसंसर्गाभाव का अभाव । उसका स्वरूपसम्बन्ध से प्रमेयपदार्थ में अन्वय होने से उक्त वाक्य का अर्थ होता है 'प्रमेयं अभिधेयत्वसंसर्गाभावऽभाववत्' अर्थात् प्रमेयपदार्थ में अभिधेयत्व का सम्बन्धाभाव नहीं है । मगर यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी चीज-वस्तु अभिधेय यानी अभिधा = शब्द का विषय होने की वजह कोई भी चीज अभिधेयत्व = अभिधाविषयत्व के संसर्ग से शून्य नहीं है । मतलब कि अभिधेयत्वसंसर्गाभाव कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है । निषेध उसीका हो सकता है जो वस्तु अन्यत्र दिग्मान हो, सत् हो, प्रसिद्ध हो । अभिधेयत्वसंसर्गाभाव सर्वथा अप्रसिद्ध होने से उसका निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रसिद्धप्रतियोगिक निषेध नहीं होता है । अतः 'प्रमेयपदार्थ अभिधेयत्वसंसर्गाभावाऽभाववान् है' यह अर्थ असंगत है । इस असंगति की वजह विशेषणसंगत एवकार का अर्थ अयोगव्यवच्छेद नहीं माना जा सकता । प्रदर्शित अर्थ में एवकार की खंडशः = पृथक् शक्ति मानी जाय या लक्षणा ? इस विषय में हमारा कोई आग्रह नहीं है ।

❀ नव्यनैयायिक मतानुसार 'घटः सत् एव' वाक्य का अर्थ ❀

तथा च 'घटः सन्नेवे'त्यत्र स्ववृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसत्त्ववान् स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्त्ववान् वा घट' इति बोधः, न तु सर्वसत्त्ववानिति । तथा च क्व सांकर्यम् ? एकान्तवादे परौदासीन्येन सत्त्वमात्रबोधनात् ।

❀ जयलाल ❀

एतावत्पर्यन्तकथनफलमाह- तथा चेति । 'विशेषणसङ्गतैवकारस्य स्वविशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं स्वविशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वाऽर्थ' इति समर्थनप्रकारेण चेति । 'घटः सन्नेवे'त्यत्र स्थले स्ववृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसत्त्ववानिति । 'घट' इति बोधः इत्यनुकृष्यते । स्वपदेन घटो बोध्यः, 'विशेषणकुक्षिप्रविष्टस्वपदस्य विशेष्यपरत्वमिति सर्वसम्मतत्वात् । तथा च घटवृत्तिः योऽत्यन्ताभावः तदप्रतियोगि यत् सत्त्वं तदाश्रयो घट इत्यर्थः । घटवृत्तिरत्यन्ताभावः घटादि-प्रतियोगिको न तु सत्त्वप्रतियोगिक इति तस्य तदप्रतियोगित्वमव्याहतम् । विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य तदर्थत्वकल्पे आह- स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्त्ववान्वेति । घटवृत्तिर्यः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाऽभावः पटादिभेदलक्षणः तन्निरूपितप्रतियोगिताऽवच्छेदकत्वस्य पटत्वादिवृत्तेः अभावकत्वं सत्त्वं, 'घटो न सन्' इत्यप्रतीतिः । तादृशसत्त्ववान् घटः इति वा बोध उक्तस्थले उपजायत इति । अवच्छेदमाह- न तु सर्वसत्त्ववानिति । अनेन घटस्य पटादिरूपताप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः । तथा च क्व सांकर्यम् ? इति । तादृशवाक्यजन्यबोधस्य घटेतरवृत्तिसत्त्वाऽनवगाहितया घटे परवृत्तिधर्मवत्त्वरूपं सत्त्वविरोध्यसत्त्वसमावेशरूपं वा साङ्कर्यमनवकाशमित्यर्थः । तदेवाऽऽह- एकान्तवादे उक्तवाक्यात् परौदासीन्येन = परकीयधर्मविषयकास्तित्वनास्तित्वविचारनैरपेक्ष्येण, सत्त्वमात्रबोधनात् = घटे केवलं सत्त्वबोधजननात् । तत एकान्तवाद एव विश्वकल्याणकरः न त्वेनकान्तवादः साङ्कर्यादिदोषानतिवृत्तेरिति नव्यनैयायिकस्याऽभिप्रायः ।

तथा च. इति । विशेषणसंगत एवकार का उपदर्शित अर्थ मानने की वजह 'घटः सन् एव' = 'घट सत् ही है' इस वाक्य में विशेषणवाचक सन् पद से संगत एवकार का अर्थ होगा घटवृत्ति व्याप्यवृत्ति अन्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व या घटवृत्ति भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व । उसका अन्वय सत्पदार्थ के एकदेश सत्त्व में होगा । अतः उक्त वाक्य से (१) घटः स्ववृत्तिव्याप्य-वृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसत्त्ववान्' ऐसा शाब्दबोध श्रोता को होगा । घट में जो व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिक अभाव रहते हैं वे घट, पट, मट आदि प्रतियोगिक हैं, मगर सत्त्वप्रतियोगिक नहीं हैं । अतः सत्त्व तादृश अभाव का अप्रतियोगी है, जो कि घट में रहता है । इसलिए 'घट अपने में रहे हुए व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगि सत्त्ववाला है' ऐसा शाब्द बोध का आकार हिन्दी भाषा में बताया जा सकता है । यदि विशेषणसंगत एवकार के द्वितीय अर्थ का स्वीकार किया जाय तब उक्त वाक्य से श्रोता को शाब्दबोध होगा कि 'घटः स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्त्ववान्' । यहाँ एवकार का अर्थ होगा, घटनिष्ठ भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व (= अवच्छेदकत्वाऽभाव) । उसका अन्वय स्वरूप संबंध से सत्त्व में होगा और उसका अन्वय विशेष्यभूत घटपदार्थ में होगा । अतः उक्त वाक्य से जन्य शाब्दबोध का आकार - 'घट अपने में रहने वाले भेद की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक सत्त्व वाला है' - यह होगा । घट में जो भेद रहते हैं, वे पटआदिप्रतियोगिक हैं । मगर सत्त्वप्रतियोगिक नहीं हैं । 'घटो न सन्' ऐसी प्रतीति नहीं होती है । अतः घटवृत्ति तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक पटत्व आदि धर्म होंगे, न कि सत्त्व । तादृश सत्त्व का आश्रय घट है । मतलब कि घट में जो सत्त्व प्रतीयमान होता है, वह सर्व सत्त्व (= सत्ता) नहीं है, मगर सावच्छिन्न है, घटवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वावच्छिन्न है । इसलिए सांकर्य दोष का यहाँ अवकाश ही नहीं है । सांकर्य दोष तब प्रसक्त होता यदि घट में सत्त्व के साथ साथ असत्त्व का भी भान उक्त वाक्य से होता । मगर यहाँ तक के विवरण से हम यह देख चुके हैं कि उक्त वाक्य से घट में सावच्छिन्न (= विशिष्ट) सत्त्व का ही केवल बोध होता है, न कि यत् किञ्चित् असत्त्व का भी, क्योंकि एकान्तवाद में, जो हमारा प्राणप्रिय है, व्यधिकरण धर्म की उदासीनता = निरपेक्षता से सत्त्व मात्र का ही बोध होता है । मतलब कि व्यधिकरण धर्म की अपेक्षा घट आदि पदार्थ में कौनसा धर्म रहता है ? इस विषय में उदासीन हो कर एकान्तवाद यह प्रतिपादन करता है कि - उक्त वाक्य से विशेष्य घट में केवल सत्ता का ही बोध होता है, जो सत्ता घटनिष्ठाभावाप्रतियोगी या घटनिष्ठभेदप्रति-योगितानवच्छेदक होती है । उक्त रीति से सांकर्यादि दोष को अवकाश नहीं होने के सबब एकान्तवाद ही हितकर = विश्वकल्याणकर है । अनेकान्तवाद के स्वीकार में तो सांकर्यादि दोष की वजह प्रमाणव्यवस्था ही विलीन हो जाती है । अतएव वह त्याज्य है - यह हम नव्यनैयायिक मनीषियों का तात्पर्य है ।

❀ 'द्रव्यं लदेव' इति प्रतीति की अनुपपत्ति - आक्षेप ❀

नन्वेवं 'द्रव्यं सदेवे'तिथीः कथं ? सत्तानतिरिक्ताया गुणत्वविशिष्टसत्ताया द्रव्यनिष्ठ-
भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वादिति चेत् ? न, विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्य-
नधिकरणत्वस्य विवक्षितस्य तत्र सत्त्वादिति चेत् ?

❀ जयलता ❀

नव्यमते कश्चिच्छङ्कते - नन्वेवमिति । विशेषणसमभिव्याहृतैवकारस्य विशेष्यवृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेद-
कत्वार्थोपगमे इति । 'द्रव्यं सदेवे'तिथीः कथम् ? हेतुमाह- सत्तानतिरिक्तायाः = शुद्धसत्तानतिरेकिण्याः, गुणत्वविशिष्टसत्तायाः
= सामानाधिकरण्येन गुणत्वजातिविशिष्टसत्तायाः, द्रव्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् = विशेष्यभूतद्रव्यनिष्ठभेदत्वावच्छिन्न-
निरूपकतानिरूपितप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकतावत्त्वात् । अपमाशयः उक्तस्थले द्रव्यं विशेष्यं सत्त्वञ्च विशेषणम् । द्रव्ये या
सत्ता वर्तते सा न गुणत्वसामानाधिकरणत्वविशिष्टा किन्तु द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यविशिष्टा । अतः द्रव्ये सामानाधिकरण्येन
गुणत्वविशिष्टसत्तावत्प्रतियोगिको भेदो वर्तते । तत्प्रतियोगितावच्छेदिका गुणत्वविशिष्टसत्ता । सा च शुद्धसत्तानतिरिक्ता, 'विशिष्टं
शुद्धान्नातिरिच्यते' इति न्यायात् । अतो द्रव्यवृत्तिभेदस्य गुणत्वविशिष्टसत्ताधिकरणप्रतियोगिकस्य प्रतियोगितावच्छेदकता गुणत्व-
विशिष्टसत्तावत् शुद्धसत्तायामपि वर्तते । अतो द्रव्यविशेषणीभूतसत्तायां द्रव्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽभावो नास्ति । ततः
'द्रव्यं स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्तावदिति' बोधः प्रकृतं भवितुं नार्हतीति विशेषणसङ्गतैवकारस्य विशेष्यवृत्तिभेदप्रति-
योगितानवच्छेदकत्वाऽर्थकत्वं न चास्तामश्नति ।

नव्यनैयायिकस्तां प्रत्याचष्टे-नेति । विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनधिकरणत्वस्य = विशेष्यार्थवृत्तिभेदनिरू-
पितप्रतियोगितानिरूपिताया अवच्छेदकताया या पर्याप्तिः तन्निरूपितं यदधिकरणत्वं तदभावस्य, विवक्षितस्य = विशेष्यवृत्ति-
भेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वपदेन वक्तुमभिप्रेतस्य, तत्र = शुद्धसत्तायां, सत्त्वात् = विद्यमानत्वादिति । अयं नव्याशयः प्रतियो-
गितानवच्छेदकत्वपदेनाऽत्र प्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽभावो न विवक्षितः किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यधिकरणत्वाभावः ।
स च न सत्तायां वर्तते । तथाहि - 'द्रव्यं न सामानाधिकरण्येन गुणत्वविशिष्टसत्तावत्' इति प्रतीत्या यो भेदो द्रव्ये ज्ञायते

शंका :- नन्वेवं. इति । जनाब ! यदि एवकार का अर्थ अयोग्यवच्छेद न माना जाय और विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगि-
तानवच्छेदकत्व ही माना जाय तब तो 'द्रव्यं सत् एव' यह प्रतीति आपके मत में अनुपपन्न बन जायेगी । इसका कारण
यह है कि द्रव्य में शुद्ध सत्ता रहती है मगर गुणत्वविशिष्ट सत्ता नहीं रहती है । गुणत्वविशिष्ट सत्ता का मतलब है गुणत्वजाति-
समानाधिकरण सत्ता = सामानाधिकरण्य संबंध से गुणत्वविशिष्ट सत्ता = जिसके अधिकरण में गुणत्व जाति रहती हो वैसी
सत्ता । गुणत्वविशिष्ट सत्ता का आश्रय गुण है, न कि द्रव्यादि । अतः 'द्रव्यं न गुणत्वविशिष्टसत्तावद्' यह प्रतीति एवं व्यवहार
होने में कोई बाध नहीं है । द्रव्यवृत्ति गुणत्वविशिष्टसत्तावच्छिन्नत्व का प्रतियोगितावच्छेदक है गुणत्वविशिष्टसत्ता । मगर
न्यायनयमतानुसार गुणत्व-विशिष्ट सत्ता तो शुद्ध सत्ता से अतिरिक्त नहीं है । अतः द्रव्यवृत्ति गुणत्व-विशिष्टसत्ताश्रयभेद से
निरूपित प्रतियोगिता की अवच्छेदकता जैसे गुणत्वविशिष्ट सत्ता में रहती है, ठीक वैसे ही शुद्ध सत्ता में भी रहती है, जो
कि द्रव्य में भी रहती है । द्रव्यवृत्तिसत्ता में स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व न होने से द्रव्यनिष्ठभेद-प्रतियोगितानवच्छेदकसत्ताश्रय
द्रव्य नहीं होगा । अतः 'द्रव्यं सदेव' यह बोध अनुपपन्न हो जायेगा ।

❀ प्रतियोगितानवच्छेदकत्व का अर्थ - नव्यनैयायिक ❀

समाधान :- न, विशि. इति । उस्ताद ! आपकी यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व
एवकारार्थ है - यह कहने का मतलब आप जानते नहीं हैं । हमारा मतलब यह है कि प्रतियोगितानवच्छेदकत्व प्रतियोगिता-
वच्छेदकत्वाभावस्वरूप नहीं है किन्तु प्रतियोगितानिरूपित अवच्छेदकता की पर्याप्ति से निरूपित अधिकरणत्व का अभाव है ।
अतः विशेषणसंगत एवकार का अर्थ होगा विशेष्यनिष्ठ भेद से निरूपित प्रतियोगिता की अवच्छेदकता से निरूपित पर्याप्ति
के अधिकरणत्व का अभाव, जो विशेषण में रहना चाहिए । प्रस्तुत में 'द्रव्यं सदेव' यहाँ विशेष्यात्मक द्रव्य में जो भेद
रहता है वह सामानाधिकरण्यसंबन्ध से गुणत्वविशिष्टसत्तावत्प्रतियोगिक है । विशेष्यवृत्ति भेद का प्रतियोगितावच्छेदक गुणत्वविशिष्ट
और सत्ता है । अतः प्रतियोगितावच्छेदकता तादृश प्रत्येक धर्म में रहती है । मगर विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकता की
पर्याप्ति प्रत्येक धर्म में नहीं रहती है, किन्तु मिलित उभय धर्म में ही रहती है, क्योंकि 'तादृशप्रतियोगितावच्छेदकता प्रत्येक
धर्म में ही रहती है, क्योंकि 'तादृशप्रतियोगितावच्छेदकता प्रत्येक धर्म में पर्याप्त नहीं है किन्तु उभय में ही पर्याप्त है' ऐसा

मैवम्, 'घटः सन्नेवे'त्यत्र 'घटः सन्न त्वसन्नि'ति एव हि स्वारसिको बोधः । तथा च प्रत्यक्षतः प्रतीयमानमपि पररूपेणाऽसत्त्वं घटे प्रतिक्षिपतः फलतः पररूपेणाऽपि सत्त्वाऽभ्यु-

✽ जयलता ✽

तन्निरूपितप्रतियोगितावच्छेदकत्वं न वैशिष्ट्यम्, यत्किञ्चिद्वैशिष्ट्यवति द्रव्ये 'द्रव्यं न गुणत्वविशिष्टमि'ति प्रत्ययात् । न वा सत्ता, तत्र सत्तायाः समवेतत्वेऽपि 'द्रव्यं न गुणत्वविशिष्टसत्तावदि'ति प्रतीत्युदयात् । नाऽपि वैशिष्ट्यसत्तोभयम्, द्रव्यत्वविशिष्ट-सत्तावत्यपि तथाप्रत्ययात् । किन्तु गुणत्ववैशिष्ट्यं सत्त्वञ्च । प्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकत्वञ्चाऽत्र पर्याप्तिसम्बन्धेन बोध्यम् । द्रव्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनिरूपिताधिकरणत्वं गुणत्वविशिष्टसत्तायामेव वर्तते । तदभावस्तु शुद्धसत्तायां वर्तते । सा च द्रव्ये वर्तते । अतः 'द्रव्यं स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनिरूपिताधिकरणसत्त्ववदि'त्यन्यबोधोपगमे बाधकाभावात् । ततो विशेष्यनिष्ठभेदवृत्तिभेदत्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकतानिरूपितपर्याप्त्यनिरूपिताधिकरणत्वप्रति-योगिकात्यन्ताभावस्य विशेषणसमभिव्याहृतैवकारार्थत्वोपगमे न कश्चिद्दोष इत्येकान्तवाद एव सार्वजनीन इति नव्यनैयायिकाशयः ।

अत्रेदमवधेयम् - विशेषणसंगतैवकारार्थघटकीभूता पर्याप्तिः अनित्यत्वे सति व्याप्यवृत्तित्वे च सति स्वरूपसम्बन्धभिन्नसंसर्ग-रूपा । शिरोमणिनये तु स्वरूपसम्बन्धविशेषात्मिका सा । तदुक्तं अवच्छेदकत्वनिरुक्तिदीधितौ "पर्याप्तिश्च 'अयमेको घट इमौ द्वौ' इत्यादिप्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः" इति । नानासमवायवादिमते तु तत्तत्समवाय एव तत्तत्पर्याप्तिर्न त्वतिरिक्तपदार्थः स्वरूपं वेति ।

साम्प्रतं स्याद्वादी नव्यनैयायिकमतं प्रतिक्षिपति - मैवमिति । 'घटः सन्नेवे'त्यत्र स्थले 'घटः सन् न तु असन्' इत्येव हि स्वारसिकः स्वरसबाही सार्वलौकिकः बोधः समुपजायते इति शेषः । 'घटः स्ववृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगितानिरूपि-तावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनिरूपिताधिकरणताप्रतियोगिकाभावाश्रयसत्त्ववान्' इति बोधस्तु स्वप्नेऽपि नोदेतीति तद्व्यवच्छेद एवकारेण कृतः । अयं भावः विशेषणसंगतैवकारस्य अयोगो व्यवच्छेदश्चार्थः । विशेषणार्थस्य चैवकारोपस्थितेऽन्यपदार्थेऽन्वयः । ततश्चोक्त-स्थले 'घटः सन्, न सदस्य' इत्येव बोधः । तदर्थश्च 'घटः घटत्वावच्छिन्नसत्त्ववान्, न तु घटत्वावच्छिन्नसत्त्वाऽभाववानि'त्येव । एवञ्च घटवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूताऽत्यन्ताभावप्रतियोगिसत्त्वस्य घटत्वावच्छिन्नत्वप्रतीतौ सत्यां पटत्वाद्यनवच्छिन्नत्वमपि प्रत्यक्षतः प्रतीयत एव । उक्तस्थले 'घटः स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यधिकरणत्वाभावाश्रयसत्त्ववानि'ति बोधोपगमे तूपदर्शितरीत्या घटे प्रत्यक्षप्रतीतमपि पटत्वाद्यवच्छिन्नासत्त्वं घटवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूत-व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नसत्त्वसमान-वित्तिवेद्यमपह्नुतं स्यात् । तेन च पटत्वादिपररूपावच्छिन्नं सत्त्वं, घटेऽभ्युपगतं स्यात् । ततः परकीयसत्त्वसमावेशलक्षणं साकार्यं दुर्निवारमित्याशयेनाऽऽह - तथा चेति । उक्तरीत्या चेति । प्रत्यक्षतः = प्रत्यक्षमाश्रित्य, प्रतीयमानमपि पररूपेणाऽसत्त्वं = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाऽसत्त्वं, घटे प्रतिक्षिपतः = अपलपतः नव्यनैयायिकस्य, फलतः = अर्थतः, पररूपेणाऽपि सत्त्वा-

सार्वलौकिक अनुभव है । दो पन्नास रुपये की प्रत्येक नोट (Money) में सौ रुपये पर्याप्त = समाविष्ट नहीं होते किन्तु मिलित उभय में ही । अतः द्रव्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्ति की अधिकरणता गुणत्ववैशिष्ट्य और सत्ता उभय में रहती है, न कि केवल सत्ता में । शुद्ध सत्ता में, जो कि द्रव्यवृत्ति है, तो तादृश अधिकरणत्व का अभाव ही रहता है । अतः 'द्रव्यं स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकतापर्याप्त्यनिरूपिताधिकरणसत्तावत्' यह अर्थ संगत हो जाता है । अतः विशेषणसंगतैवकारार्थस्वरूप विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व का विशेष्यनिष्ठभेदनिरूपितप्रतियोगितानिरूपितपर्याप्त्यनिरूपिताधिकरणत्वप्रतियोगिकाऽभावरूप से स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है । इस तरह एकान्तवाद में सांकर्य आदि दोष का संभव नहीं है, क्योंकि तादृशसत्ता का ही घट, द्रव्य आदि में भान होता है - यह एकान्तवाद का सिद्धान्त-अभिप्राय है । इसलिए यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तवाद हेय है और एकान्तवाद उपादेय है - यह नव्य नैयायिक मनीषियों का स्याद्वादी के प्रति आक्षेप है ।

स्याद्वादी :- मैवम्, इति । जनाब ! आपकी यह बात ठीक नहीं है । 'घटः सन् एव' इस वाक्य से श्रोता को 'घट सत् है, न कि असत्' ऐसा ही स्वारसिक बोध होता है । उक्त बोध के उत्तर अंश से घट में परकीय सत्त्व का निषेध फलित होता है । घट में घटत्वरूप से सत्त्व और पटत्वादिरूप से असत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित होता है । मगर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नसत्त्वाऽभाव का घट में निषेध किया जाय तब तो अर्थतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न सत्त्व का स्वीकार हो जायेगा । तब तो घट में स्वरूप की भाँति पररूप से सत्त्व प्रसक्त होने से घट का स्वरूप संकीर्ण बन जायेगा । सभी

पञ्चमापातात् सांकर्यशंकाशङ्कुसंकुलचेतस्कता दुर्निवारा चिरमायुष्मतः ।

अथ एवं 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्र का गतिः ? इति चेत्,

'किं तत्राऽवाच्यता न प्रतिषिध्यते ?'

'अप्रसिद्धा सा कथं प्रतिषिध्यतामिति चेत् ?'

तर्हि तत्र योग्यताऽभावादेवकारोऽबोधक एवास्तु ।

❀ गयलता ❀

भ्युपगमापातात् = परधर्मावच्छिन्नसत्त्वोपगमप्रसङ्गात्, द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायेन, सांकर्यशङ्काशङ्कुसंकुल-चेतस्कता = स्वकीयपरकीयधर्मसमावेशव्यतिकीर्णस्वरूपलक्षणसङ्केतसंशयास्त्राकुलमनस्कता, दुर्निवारा सुरगुरुणाऽपि चिरं आयुष्मतः भवत इति । स्वसत्त्वविरोधि न पराऽसत्त्वमिति तत्स्यादेव, अन्यथा तदभावनियतं परसत्त्वमेव स्यात् । एतेन पराऽसत्त्वस्य काल्पनिकत्वमपि परास्तम् । तदुक्तं शास्त्रवार्तासमुच्चये श्रीहरिभद्रसूरिपुरन्दरेण → 'परिकल्पितमेतच्चेन्नन्वित्थं तत्त्वतो न तत् । ततः क इह दोषश्चेन्ननु तद्भावसङ्गतिः ॥ (शा.स.स्त.७। श्लो०२३) इति ।

नव्यनैयायिकः शङ्कते - अथेति । एवमिति । 'घटः सन्नेवे'त्यत्र 'घटः सन् न तु असन्' इत्यवबोधाङ्गीकारे इति । 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्र का गतिः ? 'प्रमेयं वाच्यं, न त्ववाच्यमि'त्यस्योपगन्तुमनर्हत्वात्, वाच्यत्वस्य केवलान्वयित्वेन भेद-प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् वाच्यभेदस्याऽप्रसिद्धेः तदाश्रयस्यालीकत्वेन निषेधाऽयोगात् ।

स्याद्वादी नव्यमाश्लिषति काकुन्यायेन - किमिति । तत्र = 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्र, अवाच्यता = वाग्विषयत्वाऽभावलक्षणा, न प्रतिषिध्यते ? 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्राऽवाच्यता प्रतिषिध्यते न वा ? इति पक्षोभयी समुपतिष्ठते । तत्र नाद्योऽनवयः, तुल्यन्यायेन तदाश्रयस्याऽपि प्रतिषेध्यत्वसिद्धेः । नाऽपि द्वितीयः, तद्वेतोरप्रदर्शनादिति स्याद्वाद्याशङ्कायां नव्योऽपि काक्वा आह - 'अप्रसिद्धेति । सा = अवाच्यता, कथं प्रतिषिध्यतां ? वाच्यतायाः केवलान्वयित्वेन तदभावलक्षणाया अवाच्यताया अप्रसिद्धत्वात् तस्या निषेधाऽयोगादिति नव्याशयः ।

यदि चाऽवाच्यताया अप्रसिद्धत्वेन तन्निषेधो न भवितुमर्हति तर्हि अवाच्यस्याऽप्रसिद्धत्वेन तन्निषेधोऽपि न भवितुमर्हतीत्याशयेन स्याद्वाद्याह - तर्हीति । तत्र = 'प्रमेयं वाच्यमेवे'ति स्थले, योग्यताऽभावात् = अवाच्यत्वाऽप्रसिद्धिमुलकतदाश्रयाऽप्रसिद्धि-प्रयोज्यप्रतिषेधाऽप्रतियोगित्वलक्षणायोग्यत्वहेतोः, एवकारः विशेषणसङ्गतः, अबोधकः साधुत्वार्थ एव अस्तु । एतेन 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्र का गतिः ? इति निरस्तम् ।

ननु 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्र प्रमेयं स्ववृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेदकवाच्यत्ववदि'ति बोधः स्वरसवाहीति वाच्य-पदसंगतैवकारस्य प्रमेयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वार्थकत्वं सिद्धमिति तत्रैवकारस्य न निरर्थकत्वमुपगन्तुमर्हतीति नव्याऽऽ-

रूप से घट में सत्त्व होने से घट का विशेषस्वरूप अनिश्चित रहेगा । संकर दोष की वजह आपका चित्त चिरकाल तक चंचल ही रहेगा ।

❀ 'प्रमेयं वाच्यं एव' स्थल का निरूपण ❀

अथैवं, इति । यहाँ नव्यनैयायिक की ओर से यह शंका की जा सकती है कि → 'घटः सन् एव इस वाक्य से 'घटः सन् न तु असन्' ऐसा शब्दबोध माना जाय तो 'प्रमेयं वाच्यमेव' इस स्थल में एवपद का अर्थ संगत नहीं हो सकेगा । इसका कारण यह है कि वाच्यत्व केवलान्वयिधर्म होने से वाच्यत्व का अनाश्रय अवाच्य पदार्थ कोई है ही नहीं, जिसका निषेध हो सके । जो पदार्थ प्रसिद्ध होता है उसीका निषेध हो सकता है, अप्रसिद्ध का नहीं । अतः 'प्रमेयं वाच्यं न तु अवाच्य' ऐसा शब्दबोध 'प्रमेयं वाच्यमेव' इस वाक्य से नहीं हो सकता' ← इस संबंध में स्याद्वादी की ओर से नव्य नैयायिक को प्रश्न किया जा सकता है कि - 'प्रमेयं वाच्यमेव' इस वाक्य से प्रमेय में क्या अवाच्यत्व का निषेध नहीं किया जाता है ? यदि नैयायिक का यह जवाब हो कि → 'अवाच्यता तो अप्रसिद्ध = असत् है । उसका निषेध कैसे हो सकता है ? क्योंकि असत् का निषेध नहीं हो सकता' ← तो स्याद्वादी की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि अवाच्यत्व में प्रसिद्धत्वस्वरूप योग्यता न होने से वाच्यपदसंगत एवकार अबोधक है । अतः 'प्रमेयं वाच्यमेव' यहाँ 'प्रमेयं वाच्यं' ऐसा ही बोध होता है, न कि 'प्रमेयं वाच्यं न तु अवाच्यं' इत्याकारक । यदि नैयायिक की ओर से ऐसा कहा जाय कि

‘प्रमेयवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वबोधः स्वारसिकश्चेत् ?’ तदाऽस्तु तत्र तस्य लक्ष-
णैव । शक्तिस्तु लाघवाद्योगे (? अन्यस्मिन्) व्यवच्छेदे च खण्डश एवेति युक्तमुत्पश्यामः ।

अस्तित्वं यत्पटादौ न तदिह कलशे, यद्यटे तत्तु बाढम् ।

रूपं तस्यैव कुम्भे न भवति हि यथेत्यत्र नो नो विवादः ।

✽ जयलला ✽

शङ्कायां स्याद्वाद्याह-प्रमेयेति । तदा = तर्हि, तत्र प्रमेयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वविशिष्ट वाच्यत्वप्रकारकशब्दबोधाङ्गीकारे
इति यावत् । तत्र = प्रमेयवृत्तिभेदीयप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे, तस्य = वाच्यपदसङ्गतैवकारस्य, लक्षणैवेति । ननु लक्षणाया
जघन्यवृत्तित्वात् तत्र शक्तिरेव युक्तेत्याशङ्कायां स्याद्वाद्याह - शक्तिस्त्विति । विशेषणसंगतैवकारशक्तिस्त्विति । लाघवात्
अयोगे व्यवच्छेदे च खण्डश एवेति । विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे विशेषणसंगतैवकारस्य शक्तत्वोपगमापेक्षया
खण्डशः संबन्धाभावलक्षणेऽयोगेऽभावरूपे व्यवच्छेदे चैव शक्तत्वाङ्गीकारो लाघवाद्युक्त इत्यर्थः ।

नन्वत्र ‘अन्यस्मिन्’ इत्येव पाठः युक्तः, ‘घटः सन्न त्वसन्नि’तिबोधस्य ‘घटः सन्नेवे’ति वाक्यात् प्रकरणकारेणोपगमात् ।
‘न त्वसन्नि’त्यस्य सद्भिन्नभेदानित्येव स्वारसिकबोधाभ्युपगमात् । अयोगे व्यवच्छेदे च खण्डशः शक्त्यङ्गीकारे तु तत्र ‘घटः
सत्त्वसंसर्गाभावाभाववान्’ इति यद्वा ‘घटः सत्त्वाभाववद्भेदवान्’ इत्येव बोधः स्यात् । तथा चानुभवविरोधः । न हि ‘न
पर्वतोऽसंयोगी’त्यत्र ‘पर्वतः संयोगाभाववद्भिन्नः’ इति बोध उदेति किन्तु ‘पर्वतः संयोगिभिन्नभेदवानि’त्येव । ‘घटः सन्नेवे’त्यत्र
अन्यो व्यवच्छेदश्चैवकारार्थ इत्युपगमे तु समभिव्याहृतप्रातिपदिकार्थस्यैवकारोपस्थितेऽन्यपदार्थेऽन्वयात् ‘घटः सन्, न सदन्य’
इति बोध उपपद्येतेति । किञ्चैवं विशेषणविशेष्यक्रियात्रितयसङ्गतैवकारशक्तिरप्यनुगता स्यात्, ‘शङ्खः पाण्डुर एव’ति अत्र
‘शङ्खः पाण्डुरः न पाण्डुरान्यः’, ‘पार्थ एव धनुर्धर’ इति अत्र ‘पार्थो धनुर्धरः पार्थान्यो न धनुर्धरः’, ‘सरोजं नीलं भवत्येव’त्यत्र
‘सरोजं नीलकर्तृकोत्पत्तिमद् नीलकर्तृकोत्पत्तिमदन्यद् न’ इत्युपपत्तेः । अयोगे व्यवच्छेदे च विशेष्यसमभिव्याहृतैवकारशक्तिर्न
संभवति । न चात्र पार्थो धनुर्धरः पार्थत्व-सम्बन्धाऽभाववान् न धनुर्धर इति बोध उपगन्तुमहतीति वक्तव्यम्, अननुभवात्,
गौरवाच्चेति अन्यो व्यवच्छेदश्चैवकारार्थ इति चेत् ? न, ‘घटः सन्न त्वसन्नि’त्यत्र ‘घटः घटत्वावच्छिन्नसत्त्ववान् न तु घटत्वा-
वच्छिन्नसत्त्वाभाववानि’त्येव बोधोपगमात्, इत्यमेवाग्रिमग्रन्थसङ्गतेः । अन्यपदार्थे तच्छक्त्यभ्युपगमे तु ‘प्रमेयं वाच्यमेव’त्यत्र
लक्षणाप्रतिपादनानुपपत्तिरित्यादिकं विभावनीयमवहितमानसैः ।

प्रस्तुतमीमांसाफलितं पद्येन प्रकरणकृदाह - अस्तित्वमिति । तद्व्याख्यालेशस्त्वेवम् - इह = जगति यत् अस्तित्वं
= सत्त्वं पटादौ धर्मिणि वर्तते, तत् = पटादिनिष्ठाऽस्तित्वं, कलशे = घटे न अस्ति । यत् अस्तित्वं घटे वर्तते तत्
अस्तित्वं तु बाढं निःशङ्कं कलशपदवाच्येऽस्त्येव । एतत्कथं सङ्गच्छेत ? इत्याशङ्कयामाह - यथा हि तस्य पटादेः रूपं =
नीलादि स्वरूपं वा पटत्वादिकं कुम्भे नैव भवति । यथा ‘घटे पटादिरूपं न भवति तथा पटादिसत्त्वमपि । यथा घटे घटरूपमेव
भवति तथा घटसत्त्वमेव । यथा ‘घटे पटादिरूपं नास्ती’त्यत्र नः = अस्माकं विवादः = विप्रतिपत्तिर्नास्ति, तथैव भवतामपि

→ “प्रमेयं वाच्यमेव इस वाक्य से ‘प्रमेयं स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकवाच्यत्ववत्’ इत्याकारक बोध होता है । यह सर्वजनविदित
होने से वाच्यपदसंगत एवकार का अर्थ प्रमेयवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व है, जो कि वाच्यत्व में रहता है । एवकारार्थ का
वाच्यत्व में और वाच्यत्व का प्रमेयात्मक विशेष्यार्थ में अन्वय होने से उपर्युक्त बोध सम्पन्न हो सकता है” ← तो स्याद्वादी
की ओर से यह कहा जा सकता है कि - “यदि ‘प्रमेयं वाच्यमेव’ इस वाक्य से एवकार से यदि प्रमेयवृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगिता-
नवच्छेदकता का वाच्यत्व में स्वरसवाही बोध होता हो, तब उस अर्थ में वाच्यपदसंगत एवकार की लक्षणा ही माननी चाहिए,
न कि शक्ति, क्योंकि तादृश गुरुभूत अर्थ में शक्ति मानने पर गौरव दोष प्रसक्त होता है । एवकार की शक्ति तो लाघवसहकार
से अयोग और व्यवच्छेद = अभाव में खण्डशः ही माननी चाहिए । यह हमें (महोपाध्यायजी को) युक्तिसंगत लगता है ।

इस विचारविमर्श से यह फलित होता है कि ‘घटः सन् एव’ इस वाक्य से या तो प्रत्यक्ष से पट आदि पदार्थ में
जो अस्तित्व = सत्ता है, वह कलश (= घट) में नहीं रहता है, मगर घट में जो अस्तित्व है वह तो घटपदवाच्य अर्थ
में है ही । इस विषय में कोई सन्देह नहीं है । यह उसी तरह संगत होता है जैसे पट का ही रूप (अथवा स्वरूप-पटत्वादि)
घट में नहीं होता है, मगर घट का रूप (अथवा स्वरूप घटत्वादि) तो घट में होता ही है । इस विषय में हमारा कोई
विवाद नहीं है । भावाभावैकस्वभाववाली वस्तु के स्वीकार को छोड़ने वाले हे नैयायिक ! आपका यह वचन कि ‘एकान्तवाद

भावाभावेकभावाऽभ्युपगमविमुचो नो वचो युज्यतेऽदो ।

यस्मादस्माकमेतद्व्यमिह मिलितं सप्तधा धर्मशालि ॥१॥

ननु तथापि 'नास्ती'त्यत्राऽस्तित्वाभावस्यैव 'नास्ती'तिपदवाच्यत्वादिधर्मस्यापि घटादौ सम्भवाद् भङ्गानां सप्तसीमातिक्रम इति चेत् ? न, 'नास्ती'त्यनेन प्रतिषेधकल्पनाऽवतीर्ण-प्रश्नोन्मग्नस्याऽस्तित्वाऽभावस्यैव आकाङ्क्षितत्वात् ।

ॐ गयलता ॐ

'घटे पटाद्यसत्त्वं नास्ती'त्यत्र विप्रतिपत्तिर्भवितुं नार्हतीति भावः । तदेव पक्षपक्षार्द्धेनाऽऽह - भावाभावेकभावाभ्युपगमविमुचः = अस्तित्वनास्तित्वस्वभावशालिवस्तूपगमप्रतिक्षेपिणो भवतो नैयायिकादेः अदो वचः = 'एकान्तवाद एव सार्वजनीन' इति वचनं नो युज्यते = नैव युज्यत इत्यर्थः, 'सर्वं वाक्य सावधारणमि'ति न्यायात् । हेतुमाह - यस्मान् कारणान् एतद्व्ययं = भावाभावोभयं, इह = वस्तुनि, मिलितं = कर्तुरितं, सत् सप्तधा धर्मशालि भवति अस्माकं नयं । यथा चैतत्तत्त्वं तत्तु प्रज्ञापितमेव पूर्वम् । प्रयोग एवम् - पटास्तित्वं घटाऽवृत्ति घटेतरवृत्तित्वात्, पटरूपवत् । न च द्रव्यत्वेन व्यभिचार उद्भावीयः, एकमात्रवृत्तित्वे सतीति हेतोर्विशेषणात् । यदि च विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरह उद्भाव्यते परेण तदा 'पटनिष्ठास्तित्वं घटेतरवृत्ति पटमात्रवृत्तिप्रतियोगिकत्वात्, पटीयरूपाभाववदि'ति वक्तव्यम् ।

परः शङ्कते - नन्विति । तथापीति । अस्तित्वनास्तित्वयोरेकत्र समावेशेऽपि । 'नास्ती'त्यत्र = 'घटः स्यान्नास्ती'त्यादौ, अस्तित्वाभावस्यैव 'नास्ती'तिपदवाच्यत्वादिधर्मस्यापि = 'नास्ती'तिपदनिष्ठवाचकतानिरूपितवाच्यत्वस्यापि, घटादौ धर्मिणि सम्भवाद् भङ्गानां सप्तसीमातिक्रमः इति । 'नास्ति'पदेन घटादावस्तित्वाभावस्यैव तत्पदवाच्यत्वस्याऽपि भानसम्भवात् तस्य तत्र सत्त्वाच्चाऽष्टमभङ्गप्रसङ्गेन सप्तभङ्ग्यतिलङ्घनं दुर्निवारमिति शङ्काशयः । प्रकरणकृतत्वात्वाचष्टे - नेति । 'घटः स्यान्नास्ती' - त्यत्र 'नास्ती'त्यनेन पदेन प्रतिषेधकल्पनावतीर्णप्रश्नोन्मग्नस्य = घटेऽस्तित्वधर्मनिषेधस्य कल्पनया विवक्षया अवतीर्णनं लब्धा-त्मलाभेन प्रश्नेन पर्यनुयोगेन उन्मग्नस्य जिज्ञासितस्य, अस्तित्वाभावस्यैव आकाङ्क्षितत्वात् तस्यैव बोधो जायते न तु 'नास्ति'पदवाच्यत्वस्य । यथा 'घटो नीलो न वा ?' इति जिज्ञासायां 'घटोऽनील' इति कथिते श्रोतुः घटे नीलमेदस्यैव बोध उपजायते न त्वनीलपदवाच्यत्वस्याऽपि, तस्यानाकाङ्क्षितत्वात् । तथा 'घटः सर्वधाऽस्ति न वा ?' इति बुभुत्सायां सत्यां 'घटः स्यान्नास्ती'त्युक्ते घटे कथञ्चिदस्तित्वाभावस्यैव भानं भवति न तु 'नास्ति'पदप्रतिपाद्यत्वस्यापि, 'आकाङ्क्षितमेवाऽभिधीयतेऽवबुध्यते चे'ति न्यायात् । ततोऽष्टमभङ्गानापातेन सप्तभङ्ग्यनतिक्रमात् 'सप्तधा धर्मशालि' इति सुष्ठुक्तमिति समाधानाशयः ।

अथाऽवक्तव्यत्वं यदि धर्मान्तरं तर्हि वक्तव्यत्वमपि धर्मान्तरं स्यात् । तथा चाऽष्टमस्य वक्तव्यत्वधर्मस्य सद्भावेन तेन सहाऽष्टमङ्गी स्यान्न तु सप्तभङ्गीति चेत् ? न सामान्येन वक्तव्यत्वस्याऽतिरिक्ततरयाऽभावात् । सत्त्वादिरूपेण तु वक्तव्यत्वं प्रथमादिभङ्गान्तर्भूतम् । अस्तु वा वक्तव्यत्वं नाम कश्चनाऽतिरिक्तधर्मः तथापि वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना-

ही हितकर है' युक्त नहीं होता है, क्योंकि भाव और अभाव अर्थात् सत्त्व और असत्त्व दोनों एक ही पदार्थ में संमिलित होते हैं । अस्तित्व और नास्तित्व से व्याप्त पदार्थमात्र सात प्रकार के धर्म से संपन्न-समृद्ध होता है । यह हमारे मत से पूर्वोक्त और उपर्युक्त युक्ति से सिद्ध होता है । इस बात को प्रकरणकार ने पथ के द्वारा बताई है ।

ॐ लप्टभङ्गी में आधेय्यदोषशंकाभेदात् ॐ

ननु त. इति । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि → "घटः स्यात् नास्ति-इस द्वितीय भंग में जैसे 'नास्ति' पद से अस्तित्वाभाव धर्म का घट में बोध होता है, ठीक वैसे ही 'नास्ति'पदवाच्यत्व धर्म का भी भान होगा, क्योंकि घट में 'नास्ति' ऐसा जो शब्द है उसकी वाच्यता रहती है । इस तरह द्वितीय भंग से घट में अस्तित्वाभाव एवं नास्तिपदनिरूपितवाच्यता, इन दो धर्म का बोध होने की वजह सप्तभङ्गी के स्थान में अष्टभङ्गी प्रतिष्ठित हो जायेगी" ← मगर यह शंका अयोग्य होने का कारण यह है कि 'घटः स्यात् नास्ति एव' इस द्वितीय भंग का उत्थापक जो प्रश्न है उसका आकार 'क्या घट सर्वथा असत् है या नहीं ?' यह है, जो कि घट में अस्तित्व के निषेध की कल्पना = विवक्षा से उपस्थित होता है । इस प्रश्न से घट में अस्तित्वाभाव धर्म का ही आक्षेप होता है, क्योंकि यह आकाङ्क्षित = जिज्ञासित है । शब्द व्यवहार में यह देखा जाता है कि जैसी जिज्ञासा होती है उसके अनुरूप ही प्रश्न किया जाता है । अभियुक्त पुरुष भी प्रश्न के अनुरूप ही उत्तर देता है और उससे श्रोता को जिज्ञासित धर्म का ही बोध होता है, न कि अन्य धर्म का । अतः प्रस्तुत में अस्तित्वाभाव

अत एव वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यां द्वितीय-चतुर्थभङ्गयोर्नाभेदः, प्रतिषेधकल्पनासाचिव्येन द्वितीयभङ्गेन वक्तव्यत्वाभावस्यैव बोधनात् ।

❀ गयल्ले ❀

विषयान्यां सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरमेव प्राप्नोतीति न सप्तभङ्ग्यतिक्रम इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । न चैवं न्यूनता-बुभुक्षितराश्यां वक्तव्यत्वसप्तभङ्गील्लेखनाकमवलम्बात् न विचारयितुं शक्या तत्रभवद्भिः भवद्भिः, द्वितीयचतुर्थभङ्गयोर्वक्तव्यत्वाऽविशेषेण भेदाभावादिति वक्तव्यम्, निषेधकल्पनया द्वितीयभङ्गेन वक्तव्यत्वाभावस्यैवाऽऽकाङ्क्षितत्वेन बोधादित्याशयेन प्रकरणकृदाह - अत एवेति । प्रत्युत्तरजन्यबोधस्य बुभुक्षितविषयकत्वादेवेति । वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यां = वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यां, द्वितीयचतुर्थभङ्गयोः 'घटः स्यादवक्तव्य' इत्येवंरूपयोः नाऽभेदः = नानतिरेकः प्रसज्येत । हेतुमाह - प्रतिषेधकल्पनासाचिव्येन = निषेधविवक्षासहायेन, द्वितीयभङ्गेन वक्तव्यत्वाऽभावस्यैव बोधनात्, न तु तदतिरिक्ताऽवक्तव्यत्वस्य । 'किं घटः सर्वथा वक्तव्यः ?' इति पर्यनुयोगे सति 'घटः पटादिपदेन न वक्तव्य' इति निषेधकल्पनया 'घटः स्यादवक्तव्योऽपीत्युक्ते श्रोतुर्घटे स्यादवक्तव्यत्वप्रतियोगिकाभावोऽस्तीति बोधो जायते, न तु 'घटः तदतिरिक्ताऽवक्तव्यत्वधर्मवान्' इत्येवम् । यदा तु 'घटः कुम्भपदपदोभयापेक्षया किं वक्तव्यः ?' इति पर्यनुयुज्यते तदा 'घटः स्यादवक्तव्यः' इति प्रत्युत्तरेण 'घटः कुम्भपदपदोभयापेक्षयाऽवक्तव्यत्वधर्मशाली'ति बोधः जायते । अतोऽत्र द्वितीय-चतुर्थयोर्नाऽवैलक्षण्यम् । एतेनाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वाभावरूपमेवेति प्रत्युक्तम्, चतुर्थभङ्गे तस्यातिरिक्तत्वसाधनात् ।

एतेन वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यां तृतीयपञ्चमयोरभेदः प्रत्येकं षष्ठसप्तमयोः पौनरुक्त्यञ्च प्रत्युक्तम् । स्यात्पदार्थोल्लेखेन वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्याः स्वरूपञ्चैवम्, (१) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्य एव, (२) घटः पटपदापेक्षया अवक्तव्य एव, (३) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्यः पटपदापेक्षयाऽवक्तव्यश्च, (४) घटः घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्य एव, (५) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्यो घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्यश्च, (६) घटः पटपदापेक्षया अवक्तव्यः घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्यश्च (७) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्यः पटपदापेक्षया अवक्तव्यः घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्यश्चेति ।

ननु वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यां न्यूनत्वाभावेऽपि 'घटः स्यात्सन्नि'त्यादिरूपायां सप्तभङ्ग्यामष्टमभङ्गप्रसङ्गो

धर्म की जिज्ञासा से प्रयुक्त प्रश्न के 'घटः स्यात् नास्ति एव' ऐसे प्रत्युत्तर से श्रोता को जिज्ञासित ऐसे अस्तित्वाभाव का ही भान होता है, न कि नास्तिपदनिरूपित वाच्यता का । इस तरह आठवें धर्म का भान नहीं होने की वजह 'घटः स्यात् अस्ति एव, स्यात् नास्ति एव' इत्यादि सप्तभङ्गी अपने स्थान से च्युत नहीं है, अष्टभङ्गी की प्रतिष्ठा भी नहीं होगी ।

❀ वक्तव्यत्वसप्तभङ्गी के द्वितीय-चतुर्थ भंग में अभेदनिरास ❀

अत एव च, इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि → जब 'घट वक्तव्य है या नहीं ?' इत्यादि सात जिज्ञासा से जो वक्तव्यत्वसप्तभङ्गी प्रवृत्त होती है, उसका आकार (१) घटः स्यात् (= घटपदापेक्षया) वक्तव्य एव, (२) घटः स्यात् (पटादिपदापेक्षया) अवक्तव्य एव, (३) घटः स्यात् (= घटपदापेक्षया) वक्तव्यः स्यात् (= पटादिपदापेक्षया) अवक्तव्यश्च, (४) घटः स्यात् (= घटपदपटपदोभयापेक्षया) अवक्तव्य एव इत्यादिस्वरूप होगा । यहाँ जो द्वितीय और चतुर्थ भंग प्रदर्शित किये गये हैं वे अवक्तव्यत्वधर्मविषयक हैं । समानविषयक होने के नाते वे दोनों अभिन्न हो जाँयेगे । समानधर्मविषयक होने पर भी यदि उक्त भंगों में ऐक्य का अंगीकार न किया जाय तब तो अनन्तभङ्गी भी हो सकती है । इसलिए दर्शित वक्तव्यत्वसप्तभङ्गी में द्वितीय और चतुर्थ भंग में अभेद मानना आवश्यक है । ऐसा होने पर तो षट्भङ्गी हो जायेगी । अतः सर्वत्र सप्तभङ्गी की व्यापकता का जो स्याद्वादी का सिद्धान्त है वह धराशायी हो जायेगा" ← मगर यह शंका भी उचित नहीं है । इसका कारण यह है कि द्वितीय भंग से वक्तव्यत्वाभाव का और चतुर्थ भंग से अवक्तव्यत्व धर्म का उक्त सप्तभङ्गी से बोध होता है । आशय यह है कि पटादि पद की अपेक्षा घट वक्तव्य नहीं है ऐसी निषेधमुखी अर्पणा = विवक्षा से प्रवृत्त होने वाले उक्त द्वितीय भंग से घट में पटादिपद की अपेक्षा वक्तव्यत्व धर्म के अभाव का ही बोध होता है । जब कि चतुर्थ भंग में, जो युगपत् विधि-निषेध की कल्पना के सहकार से प्रयुक्त होता है, अवक्तव्यत्व नाम के धर्म का, जो कि वक्तव्यत्वाभाव से अतिरिक्त है, बोध होता है । इस तरह वक्तव्यत्वसप्तभङ्गी के द्वितीय भंग में अभावात्मक धर्म का और चतुर्थ भंग में भावात्मक धर्म का बोध होता है । इसलिए उनमें ऐक्य नहीं है । अतएव षट्भङ्गी का अवकाश नहीं है और सप्तभङ्गी की सार्वत्रिकता का भंग भी प्रसक्त नहीं है ।

अत एव च प्रकृतसप्तभङ्ग्यां वक्तव्यत्वमपि नाधिकं, सप्तकल्पनावतीर्णप्रश्नानुन्मज्जनादिति दृश्यम् ।

सा चेयं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च । तत्र “प्रमाणप्रतिपक्षाऽनन्त-

❀ जयलता ❀

दुर्वार एव अवक्तव्यत्ववत् वक्तव्यत्वस्यापि बोधसम्भवादित्याशङ्कां दूरीकर्तुमाह - अत एवेति प्रत्युत्तरजाऽवबोधस्य बुभुत्सितगोचरत्वादेवेति । प्रकृतसप्तभङ्ग्यां = ‘घटः स्यात् सन्नेव, स्यादसन्नेवे’त्यादिरूपायां, वक्तव्यत्वमपि नाधिकं = नाष्टमभङ्गविषयत्वापन्नम् । हेतुमाह - सप्तकल्पनावतीर्णप्रश्नानुन्मज्जनादिति । अयं भावः ‘घटः सर्वथा सन्न वा ?’ इत्यादिरूपायां जिज्ञासायां सत्तां वक्तव्यस्यापि सतो घटस्य बुभुत्सितेन सत्त्वादिरूपेणैव भानं भवति, न तु वक्तव्यत्वेन रूपेण, यथा ‘रामो राजपुत्रो न वा ?’ इति प्रश्ने सति ‘रामो राजपुत्र’ इत्युत्तरेण मनुष्यस्याऽपि सतो रामस्य राजपुत्रत्वेन भानं भवति; न तु मनुष्यत्वेन रूपेण, तस्य प्रश्नेनाऽबुभुत्सितत्वात् । अत एव राजपुत्रत्वस्य मनुष्यत्वव्याप्यत्वेऽपि दर्शितोत्तरेण मनुष्यत्वस्य न शाब्दबोधगोचरत्वम् । अनुमानेन तु तज्ज्ञानं भवत्यपि । तद्वदेव प्रकृतसप्तभङ्ग्यां सप्तधर्मप्रकारकबुभुत्सालम्बजन्मपर्यनुयोगेन वक्तव्यत्वस्याऽनाश्लेषात् प्रत्युत्तरेण न तच्छाब्दबोधो भवितुमर्हति । अतो नाऽष्टमभङ्गप्रसङ्गः ।

सप्तभङ्गीद्विविध्यप्रतिपादनार्थमुपक्रमते - सा चेयमिति । प्राग्व्यावर्णितस्वरूपा चेयं सप्तभङ्गीति । सकलादेशस्वभावा = सकलादेशलक्षणा, विकलादेशस्वभावा = विकलादेशलक्षणा चेति । सकलादेशमुपदर्शयितुं प्रमाणनयतत्त्वालो-कालङ्कारसूत्रमाह - प्रमाणेति । रत्नाकरावतारिकायां तद्व्याख्या चैवम् - “कालादिभिरष्टाभिः कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात् । कालादिभिः भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद्वा समकालमभिधायकं वाक्यं सकलादेशः प्रमाणवाक्यमित्यर्थः । अयमर्थः यौगपद्येनाऽशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद् भेदप्राधान्याद्वाऽभिधत्ते, तस्य नयायत्तत्वात् । कः पुनः क्रमः ? किं वा यौगपद्यम् ? यदाऽस्तित्वादिधर्माणां कालादिभिः भेदविवक्षा, तदैकस्य शब्दस्याऽनेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते, तदैकेनाऽपि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्याऽनेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवात् यौगपद्यम् । के पुनः कालादयः ? (१) कालः, (२) आत्मरूपं, (३) अर्थः, (४) सम्बन्धः, (५) उपकारः, (६) गुणिदेशः (७) संसर्गः, (८) शब्द इत्यष्टौ । तत्र स्याज्जीवादिवस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकवेति तेषां कालेनाऽभेदवृत्तिः १। यदेव चाऽस्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपम्, तदेव चान्याऽनन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाऽभेदवृत्तिः २। य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य, स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाऽभेदवृत्तिः ३। य एव चाविष्वग्भावः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य, स एवाऽशेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तिः

❀ सत्त्वसप्तभङ्गी में वक्तव्यत्व धर्म अतिरिक्त नहीं ❀

अत एव च. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> “घटः स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति च, स्यादवक्तव्यः इत्यादिरूप से जो सप्तभङ्गी प्रवृत्त होती है उसमें चतुर्थ भंग में जैसे अवक्तव्यत्व धर्म का प्रवेश होता है, ठीक वैसे ही उसके प्रतिपक्ष वक्तव्यत्व धर्म का भी सप्तभङ्गी में समावेश एवं उसका ज्ञान भी होना चाहिए । वैसे होने पर अष्टभङ्गी की पुनः आपत्ति होगी” <— तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि सप्तभङ्गी के प्रयोजक सात प्रश्न हैं, जो सात प्रकार की शंका एवं जिज्ञासा से प्रयोज्य हैं, उनसे वक्तव्यत्व धर्म का आक्षेप नहीं होता है, क्योंकि वह शंका, जिज्ञासा और प्रश्न का विषय नहीं है । जिस विषय में शंका, जिज्ञासा, प्रश्न होते नहीं हैं, उसका प्रत्युत्तर एवं ज्ञान नहीं हो सकता । पृच्छक को सत्त्वादि धर्म की शंकादि है, न कि वक्तव्यत्व की । अतः वक्तव्यत्व धर्म का सत्त्वसप्तभङ्गी में समावेश हो सकता नहीं है । इसलिए आठवें धर्म या अष्टभङ्गी की आपत्ति नहीं है । इस तरह सप्तभङ्गी की सार्वत्रिकता अव्याहत है - यह सिद्ध होता है ।

❀ सप्तभङ्गी के दो भेद ❀

सा चेयं. इति । उपर्युक्त सप्तभङ्गी के दो भेद हैं - सकलादेश सप्तभङ्गी और विकलादेश सप्तभङ्गी । इनमें सकलादेश सप्तभङ्गी उस वचन को कहते हैं, जो वचन प्रमाणसिद्ध अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कालादि के द्वारा अभेदवृत्ति प्राधान्य से या अभेदोपचार से एक ही काल में प्रतिपादक होता है । आशय यह है कि प्रमाण द्वारा यह निश्चित हो चुका है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है । वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता ही उसकी समग्रता है, जो वस्तु में एक ही काल में विद्यमान रहती

धर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः” (प्र.न.त. ४/४४) तदन्यो विकलादेशः ।

❀ जयलता ❀

४ । य एव चोपकारोऽस्तित्वे स्वाऽनुरक्तत्वकरणम्, स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाऽभेदवृत्तिः ५ । य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य, स एवाऽन्यगुणानामिति गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तिः ६ । य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवाऽशेषधर्माणामिति संसर्गेणाऽभेदवृत्तिः । ननु प्रागुक्तसम्बन्धादस्य कः प्रतिविशेषः ? उच्यते, अभेदप्राधान्येन भेदगुणभावेन च प्रागुक्तः सम्बन्धः, भेदप्राधान्येनाऽभेदगुणभावेन चैषः संसर्ग इति ७ । य एवाऽस्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्याऽपीति शब्देनाऽभेदवृत्तिः ८ । पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यादुपपद्यते । द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात् सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्वा भेदप्रसङ्गात् १ । नानागुणानां सम्बन्धित आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपभेदे तेषां भेदस्य विरोधात् २ । स्वाश्रयस्याऽर्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् ३ । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नाना-सम्बन्धिभिरेकैकसम्बन्धाऽघटनात् ४ । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्याऽनेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् ५ । गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाऽभेदप्रसङ्गात् ६ । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् ७ । शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः ८ । तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसम्भवे कालादिभिर्मिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । तदेताभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाचकाऽप्यवर्ण्य इति स्थितम्” कालात्मरूपसम्बन्धाः संसर्गोपक्रिये तथा । गुणिदेशार्थशब्दाश्चेत्यष्टौ कालादयः स्मृताः ॥ (रत्ना. अव. ४-४४) ।

केचन तु ‘अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाऽविशेषेऽपि प्रथम-द्वितीय-चतुर्थभङ्गाः निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः, शेषास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशा’ इति व्याचक्षते । श्रीवादिदेवसूर्यादिभक्ते तु - ‘इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा चे(प्र.न. ४/४३)ति ध्येयम् ।

तदन्यो विकलादेश इति । सकलादेशान्यो विकलादेशः । तथाहि नयप्रतिपन्नवस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद्वा क्रमेण यदभिधायकं वचः तत् विकलादेश इत्यर्थः ।

है । वस्तु की समग्रता का प्रतिपादन करने वाला वचन ही सकलादेश कहा जाता है । यह प्रतिपादन कभी कालादि के द्वारा उपपन्न अभेदवृत्ति की प्रधानता से होता है और कभी अभेदोपचार = अभेद में लक्षणा से होता है । अभेदवृत्ति की प्रधानता का अर्थ यह है कि द्रव्यार्थिकनयानुसार काल आदि के द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु के अनन्त धर्मों में अभेद का ज्ञान होने से वस्तु के अनन्त धर्मों में अभेदबुद्धि द्वारा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सत् आदि पद से होने वाले शाब्दबोध का विघटन होना । द्रव्यार्थिक नय द्वारा सत् आदि पदों का सत्ता आदि से अभिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु में शक्तिज्ञान होता है । अतः सत् आदि पदों से घटित वाक्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध होना चाहिए । मगर पर्यायार्थिक नय द्वारा वस्तु के विभिन्न पर्यायों की उपस्थिति होने पर एक वस्तु में विभिन्न धर्मों की अभिन्नता बाधित होने से सत् आदि पदों से घटित वाक्य का अर्थबोध दुर्घट हो जाता है । ऐसी स्थिति में जब काल आदि की दृष्टि से प्रतिपाद्य वस्तु के धर्मों में अभेद का ज्ञान होने से वस्तु में अभिन्नरूप से गृहीत अनन्त धर्मों के अभेद का ज्ञान होता है तब उससे उक्त रीति से पर्यायार्थिकनयप्रयुक्त वाक्यार्थ बाध का अवरोध होने से सत् आदि पदों से घटित वाक्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध सम्पन्न होता है । इस प्रकार होने वाला वस्तु की समग्रता का बोध ही अभेद वृत्ति की प्रधानता से अनन्त धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादनस्वरूप सकलादेश है । अभेदोपचार का अर्थ है अभेद से अनन्त धर्मात्मक वस्तु में सत् आदि पद की लक्षणा । काल आदि पदार्थ की, जिनकी दृष्टि से वस्तुधर्मों में अभेद का ज्ञान होता है, संख्या आठ है । जैसे १ काल, २ आत्मरूप, ३ अर्थ, ४ सम्बन्ध, ५ उपकार, ६ गुणिदेश, ७ संसर्ग और ८ शब्द । जिस काल में किसी वस्तु में अस्तित्व धर्म रहता है, उस काल में नास्तित्वादि अनन्त धर्म भी होते हैं । ये सभी धर्म एक काल में होने से काल की दृष्टि से अभिन्न होते हैं । वस्तु के अनन्त धर्मों की यह अभिन्नता कालमूलक अभेदवृत्ति है । इस तरह आत्मरूप आदि दृष्टि से भी ज्ञातव्य है । प्रस्तुत मूल ग्रन्थ में उसका विशेषतः उल्लेख न होने से यहाँ विस्तार से निरूपण नहीं किया जाता है ।

नित्यत्वादीनां कालादिभिरभेदविवक्षायां हि एकेनाऽपि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेनाऽनेक-
धर्मरूपस्य तदात्मकतापन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम् ।

❀ जयलता ❀

समकालमनन्तधर्मप्रतिपादनासंभवात्सूत्रे 'यौगपद्येने'ति वक्तुं नाहंतीत्याशङ्क्यामाह - नित्यत्वादीनामिति । आदिशब्देन सत्त्वान्यत्वादेर्ग्रहणम् । कालादिभिरिति । आदिपदेन आत्मरूपार्थ-सम्बन्धोपकार-गुणितेश संसर्ग-शब्दानां ग्रहणम् । अभेद-विवक्षायां = तादात्म्यार्पणायां सत्यां, हि एकेनापि शब्देन सदादिरूपेण, एकधर्मप्रत्यायनमुखेन = सत्त्वाद्येकधर्मबोधनपरेण, अनेकधर्मरूपस्य = प्रमाणसिद्धान्तधर्मस्वभावस्य तदात्मकतापन्नस्य = अनेकधर्मात्मकतामापन्नस्य सतः वस्तुनः प्रतिपाद-नसम्भवात् यौगपद्यमिति । धर्ममुखेन धर्मभिन्नधर्माणामपि समकालं प्रतिपादनं सम्भवति । एतेनैकत्र युगपदेकधर्मप्रति-पादनसम्भवे चतुर्थभङ्गो धिलीयेतेति प्रत्युक्तम्, धर्मरूपेण तत्प्रतिपादनसम्भवेऽपि प्रातिस्विकरूपेण युगपत् तदसम्भवेन, अवक्तव्यत्वस्य न्याय्यत्वात् ।

अत्राऽभेदवृत्तिप्राधान्यतदुपचारौ इत्थं बोद्धव्यौ । द्रव्यार्थिकनयेन सदादिपदस्य सत्ताद्यभिन्नानन्तधर्मात्मके वस्तुनि शक्ति-वर्तते । अतः सदादिपदघटितवाक्येन अनन्तधर्मात्मकवस्तुगोचरशब्दबोधेन भाव्यम् । परन्तु पर्यायार्थिकनयेनाऽस्तित्व-नास्ति-त्वादिभेदोपस्थापिते सदादिपदघटितवाक्यजन्यबोधो दुर्घटः, तद्विषयबाधात् । तदा कालाद्यष्टकापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वादीनामभेदग्रहे सति वस्तुन्यभिन्नत्वेन गृहीतानामनन्तानामस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणां भेदाभावग्रहेण पर्यायार्थदिशगृहीतबाधप्रतिरोधो भवति । स एवाऽभेदवृत्तिप्राधान्यपदार्थः । ततोऽनन्तधर्मात्मकवस्तुबोधः सुघटः । अभेदोपचारश्चाक्तार्थे लक्षणा । पर्यायार्थिकनयेनातद्-व्यावृत्तिलक्षणसत्तादावेव सदादिपदशक्तिः । तन्मतेऽन्यपर्यायेभ्यः सत्तादिपर्यायाणां भिन्नत्वात् सत्त्वाऽभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुबोधो न भवितुमर्हति । सत्तादिमात्रे सदादिपदशक्तिग्रहे सत्त्वाभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुबोधविषयान्यधानुपपत्त्या तत्र सदादिपदलक्षणा भवति । अयमेवाऽभेदोपचारपदार्थः । तदुक्तं स्याद्वादकल्पलतायां → 'अभेदवृत्तिप्राधान्यं = द्रव्यार्थिकनयगृहीतसत्त्वाद्य-नन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य कालाद्यभेदविशेषप्रतिसन्धानेन पर्यायार्थिकनयपर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोधः । अभेदोपचारश्च पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य तात्पर्यानुपपत्त्या सदादिपदस्योक्तार्थे लक्षणा' ← (स्या.क.ल.७/२३-पृ.१७३) इति ।

उक्तरीत्या कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वाऽनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकं वचः सकलादेश इति भण्यते । तथाहि - 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यत्र हि यादृशकालावच्छेदेन घटात्मके धर्मिणि अस्तित्वं वर्तते, तत्कालावच्छेदेन शेषानन्तधर्मा अपि घटे वर्तन्ते इति तेषामेककालावच्छिन्नैकाधिकरगतात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितवृत्तित्वं कालेनाऽभेदवृत्तित्वम् १। यदेवाऽ-स्तित्वस्य घटगुणत्वं स्वरूपं तदेवानन्ताशेषगुणानामपि स्वरूपमिति घटगुणत्वत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावत्त्वमात्म-रूपेणाभेदवृत्तित्वम् २ । य एव घटद्रव्यलक्षणोऽर्थोऽस्तित्वस्याऽऽधारः स एवान्यधर्माणामप्याधार इति एकाधिकरणनिरूपिताधेय-तावत्त्वमर्थेनाऽभेदवृत्तित्वम् ३ । य एवाऽविष्यग्भावः तादात्म्यलक्षणोऽस्तित्वस्य सम्बन्धः स एवानन्तधर्माणामपीति एकसम्बन्ध-

जिज्ञासु वाचक यहाँ जयलता टीका पर अपनी निगाह डाल सकते हैं ।

नित्य. इति । वस्तु में रहे हुए नित्यत्वादि अनन्त धर्मों की कालादि की दृष्टि से अभेदविवक्षा हो तब एक ही काल में एक शब्द से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। जैसे 'नित्य आत्मा' इस वाक्य में नित्य शब्द यद्यपि नित्यत्वलक्षण एक धर्म का ही बोधक है । मगर जिस काल में आत्मा में नित्यत्व धर्म रहता है, उसी कालावच्छेदेन अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, वाच्यत्व, अवाच्यत्व आदि अनन्त धर्म रहते हैं । ये सभी धर्म एककालावच्छेदेन आत्मवृत्ति होने के सबब परस्पर अभिन्न होते हैं । कालमूलक अभेदवृत्ति की वजह 'नित्य आत्मा' इस वाक्य से एक ही काल में नित्यत्वादि अनन्तधर्मात्मक आत्मा का प्रतिपादन हो सकता है । जिस तरह एक ही काल में आत्मा की समग्रता का प्रतिपादन सकलादेश करता है, वही तरह एक काल में सब वस्तु की समग्रता का निरूपण सकलादेश के द्वारा मुमकिन है । मगर जब पर्यायार्थिक नय के पुरस्कार से आत्मवृत्ति नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों में भेद की विवक्षा की जाती है, तब 'नित्य आत्मा' इस वाक्य से एक काल में नित्यत्व, अनित्यत्व आदि आत्मधर्मों का भान नहीं हो सकता । किन्तु केवल नित्यत्व धर्म का ही भान हो सकता है, क्योंकि 'सकृत् उचरितः शब्दः सकृदेव अर्थं गमयति' यह न्याय है । इस न्याय का अर्थ यह है कि एक बार बोला गया शब्द सिर्फ एक बार ही अर्थ का बोधक होता है । एक शब्द में अनेक धर्म का बोध कराने की शक्ति एक काल में नहीं होती है जैसे 'घटोऽयं' इस वाक्य में रहे हुए घटशब्द से पुरोवर्ती पदार्थ में घटत्व

भेदविवक्षायां तु 'सकृदुच्चरित' इत्यादिन्यायाद् एकशब्दस्याऽनेकार्थानां युगपदबोधकत्वात्क्रमः ।

अथ 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे एकशिष्टघटादिपदस्यानेकघटादिबोधक-

॥ गयलल ॥

निरूपितप्रतियोगितामत्त्वं सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तित्वम् ४। य एव चोपकारोऽस्तित्वेन वस्तुनः स्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वलक्षणः स एवान्येषामित्युपकारेणाऽभेदवृत्तित्वम् ५ । कश्चित्तु 'य एव चोपकारोऽस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरणम् तच्च स्ववैशिष्ट्यसम्पादनमेव तदपि स्वप्रकारकधर्मविशेष्यकज्ञानजनकत्वपर्यवसन्नम् । अस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरणं हि अस्तित्वप्रकारकघटविशेष्यकज्ञानजनकत्वम् । तादृशोपकार एव नास्तित्वादिभिरशेषधर्मैः क्रियत इत्येककार्यजनकत्वमुपकारेणाऽभेदवृत्तिः' इत्याह । एकदेशावच्छिन्नवृत्तित्वं हि गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तित्वम् । घटनिष्ठास्तित्वनास्तित्वादिसकलधर्माणां भिन्नदेशनिरूपितवृत्तिताविरहात् स्वाश्रयेनाऽभेदवृत्तित्वं निराबाधम् । न हि घटेऽग्रावच्छेदेनाऽस्तित्वं पृष्ठावच्छेदेन नास्तित्वं वर्त्तते ६ । पृथग्भावप्रधानाऽऽधाराधेयभावलक्षणसंसर्गनिष्ठनिरूपकतानिरूपितप्रतियोगितामत्त्वं हि संसर्गेणाऽभेदवृत्तित्वं घटनिष्ठाऽस्तित्वनास्तित्वादीनाम् ७ । अस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो नास्तित्वादिधर्मात्मकत्वेन अस्तिशब्दनिष्ठवाचकतानिरूपितवाच्यतामत्त्वस्याऽस्तित्वनास्तित्वादिधर्मेषु सद्भावो हि शब्देनाऽभेदवृत्तित्वमुच्यते । पर्यायार्थिकनयावतारे तूक्तरीत्याऽभेदे उपचारः = लक्षणा क्रियते सर्वथाऽभेदस्य तन्मते बाधितत्वात् एवं द्वितीयादिष्वपि भङ्गेषु भावनीयम् ।

विकलादेशस्तु क्रमेण भेदाप्राधान्येन भेदोपचारेण वा सुनयैकान्तात्मकं घटादिकं प्रतिपादयति, विकलादेशस्य नयरूपत्वात् । भेदप्राधान्यं नाम पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य सदादिपदस्य विरुद्धधर्माध्यासादिना भेदविशेषप्रतिसन्धानाद् द्रव्यार्थिकनयपर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोधः । भेदोपचारश्च द्रव्यार्थिकनयगृहीतसत्त्वाद्यभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य तात्पर्यानुपपत्त्या प्रदर्शितार्थे लक्षणात्मकः बोध्यः । प्रकृते क्रमपदप्रवेशप्रयोजनमाह - भेदविवक्षाया-मिति । विरुद्धधर्माध्यासादिप्रयुक्तास्तित्वनास्तित्वादिधर्मभेदार्पणायां, तुर्विशेषणार्थः, 'सकृदुच्चरित' इत्यादिन्यायात् = 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयती'तिन्यायात्, एकशब्दस्य 'अस्ती'त्यादिलक्षणस्य, अनेकार्थार्थानां = नास्तित्वाद्यशेषधर्माणां, युगपत् = समकालं, अबोधकत्वात् = बोधजननशक्तिविरहात्, क्रमः विकलादेशलक्षणे निवेशित इति शेषः ।

मुग्धः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे = एकस्य शब्दस्य युगपदेकार्थबोधकत्वमेव न त्वनेकार्थबोधकत्वमित्यर्थकस्य प्रकृतन्यायस्य प्रमाणमूलकत्वोपगमे, एकशिष्टघटादिपदस्य = एकशेषसमासत्वमापन्नस्य 'घटी', 'घटाः' इत्याकारकघटपदस्य, अनेकघटादिबोधकत्वं न स्यादिति । युगपदनेकार्थबोधजनने एकशब्दस्य शक्तिविरहात् । ननु एकशेषस्थले द्वाभ्यामेव घटशब्दाभ्यां घटद्वयस्य बहुभिरेव घटशब्दैर्बहुनां घटानामभिधानान्नैकशब्दस्य समकालमनेकार्थबोधकत्वम् । लुप्ताऽवशिष्टशब्दयोः साम्यात् घटात्मकार्थस्य समानत्वः नैकत्वोपचारात्तत्रैकशब्दप्रयोगो-

धर्म का ही बोध होता है, न कि मृत्त्व, पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व आदि अनन्त धर्मों का । उन धर्मों का बोध कराने के लिए 'मात्तोऽयं' 'पृथ्वी इयं', 'द्रव्यं इदं' इत्यादि वाक्य का प्रयोग आवश्यक है । इससे यह फलित होता है कि एक शब्द एक काल में विभिन्न धर्मों का बोध नहीं कराता है । यह इस न्याय का तात्पर्य है । पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होने पर आत्मा आदि में रहे हुए नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्म विभिन्न होते हैं । अतः एक शब्द से एक ही काल में उन सभी का प्रतिपादन नहीं हो सकता है, किन्तु क्रमशः ही हो सकता है । अतः विकलादेश सप्तभंगी भेदप्राधान्य से या भेदोपचार से क्रमशः वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन करती है ।

॥ सकृदुच्चरित न्याय में दोषोद्घाटन ॥

पूर्वपक्ष :- अथ स० इति । यदि 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इस न्याय को प्रामाणिक माना जाय तब तो एकशेषसमासगर्भित घट आदि पद से अनेक घटादि अर्थ का बोध नहीं होगा । मतलब यह है कि 'घटी', 'घटाः' यह प्रयोग एकशेष समासात्मक है, जिससे दो घट का और बहुत घट का क्रमशः बोध होता है । मगर एक पद एक काल में एक ही अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है - ऐसा मानने पर 'घटी' पद से दो घट का बोध नहीं होगा किन्तु एक घट का ही बोध होगा । व्यवहार में देखा जाता है कि 'घटी' पद से एक ही काल में घट का बोध होता है और

त्वं न स्यात्, न स्याच्च कस्मादपि घटपदाद् घट-घटत्वयोरपि स्वारसिको बोध इति चेत् ?
न, अग्रिमसकृत्पदस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वात् । एवं सति भेदविवक्षायामप्येकेन शब्दे-

❀ जयलता ❀

पपत्तिः, 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी'ति () वचनात् । अत एव शब्दानां द्रव्याभिधायकत्वपक्षे एकशेषारम्भोऽ-
प्युपपद्यते । तदुक्तं सिद्धहेमलघुन्यासे मूलकारैः → "एकेन शब्देनाऽनेकस्य द्रव्यस्याऽभिधानं नोपपद्यत इत्यनेकस्याऽर्थस्य
प्रतिपादनेऽनेकशब्दानां वाचकानां प्रयोगः प्राप्नोतीति द्रव्यपदार्थदर्शने एकशेषारम्भ" ← (सि.ह.ल.न्या. ३/१/११८ -
पृ.५०९.) इति स्याद्वादिना समाहितं स्यात्तदा दोषान्तरमाह - न स्याच्चेति कस्मादपि घटपदात् घटघटत्वयोरपि स्वारसिको
बोधः इति । शब्दानां केवलजात्यभिधायकत्वपक्षे केवलद्रव्यवाचकत्वमते वा प्रस्तुतदोषापादनं न सम्भवति किन्तु भयशक्तत्वदर्शने
एवेति ध्येयम् ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । अग्रिमसकृत्पदस्य = 'सकृदुचरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयती'त्यत्र द्वितीयसकृत्पदस्य,
एकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वादिति । ततः एकं पदमेकधर्मावच्छिन्नमेवार्थं बोधयती'त्येतन्न्यायार्थः इति प्राप्तम् । ततः 'घट' इत्यत्र
घटत्वावच्छिन्नगोचरबोधो नानुपपन्नः । एवं 'घटा'वित्यत्र द्वित्वं द्विचनार्थः, प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थेऽन्वयात् 'द्वित्वविशिष्टौ
घटावि'ति बोधः । 'घटा' इत्यत्र बहुवचनार्थो बहुत्वमिति 'बहुत्वविशिष्टा घटा' इति बोधः ।

वस्तुतः 'एकपदस्य प्रधानतयाऽनेकधर्मावच्छिन्नबोधकत्वं युगपन्नास्ती'त्येव प्रकृतन्यायार्थः । एतेन 'सुप्तिङन्तं पदं' (पा.
१/४/१४) इति पाणिनिसूत्रात् 'घटा' इति बहुवचनान्तप्रकृतिनैकेन पदेन बहुत्व-घटत्वरूपानेकधर्मावच्छिन्नस्य बोधाद्
एकपदस्य युगपदेकधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वनियमभङ्ग इति पराकृतम्, प्रधानभावेन घटत्वावच्छिन्नस्य गुणभावेन च बहुत्व-
संख्यायाः प्रतीतिः, घटपदेन घटत्वावच्छिन्नद्रव्यं बोधयित्वैव संख्यादिबोधनात् ।

तदुक्तं 'स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।

समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तियुक्तस्सन् ॥ () इति ।

ननु एकस्य पदस्य वाक्यस्य वा प्रधानभावेनाऽनेकधर्मावच्छिन्नवस्तुबोधकत्वानङ्गीकारे प्रधानभावेनाऽशेषधर्मात्मकस्य
वस्तुनः प्रमाणवाक्यं न घटाकोटिमाटीकेत । न च कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा सकलस्य वस्तुनः प्रतिपादनस्य
प्राग् विवेचितत्वादिति वक्तव्यम्, एकधर्मावच्छिन्नविषयकबोधजनकेनैकेन पदेन वाक्येन वाऽभेदविवक्षायां नानाधर्मावच्छिन्न-
गोचरधीजनने तु भेदविवक्षायामपि तथात्वप्रसङ्गादित्याशयेन परः शङ्कते - एवं सतीति । स्याद्वादी तन्निरस्यति - नेति ।

'घटाः' पद से अनेक घट का एक काल में बोध होता है । मगर उपर्युक्त न्याय को मान्य करने पर वह नहीं हो सकेगा ।
दूसरी बात यह है कि 'घटः' इस पद से घटत्व से विशिष्ट घट का बोध होता है वह भी उपर्युक्त न्याय के सबब नहीं
हो सकेगा । 'घटः' पद से या तो केवल घटत्व का या तो केवल घट का बोध हो सकेगा, क्योंकि एक पद से एक अर्थ
का बोध हो सकता है । मगर दोनों का बोध नहीं हो सकेगा ।

≡ द्वितीय 'सकृत्' पद का अर्थ ≡

उत्तरपक्ष :- न, अ. इति । सकृदुचरित न्याय में जो आगे दूसरा सकृत् पद है, उसका अर्थ केवल 'एक अर्थ'
ऐसा नहीं है, किन्तु 'एक धर्म से अवच्छिन्न' यह है । मतलब कि एक पद एक काल में एकधर्मावच्छिन्न वस्तु का बोध
कराता है - यह उक्त न्याय का अर्थ है । यह अर्थ मान्य करने पर उपर्युक्त दोष का अवकाश नहीं है । वह इस तरह
- 'घटी' इस एकशेष समास से द्वित्वावच्छिन्न घट अर्थ का बोध होता है, वह द्वित्वस्वरूप एक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ
को ही अपना विषय बनाता है, न कि अनेक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ को । तथा 'घटाः' इस एकशेषसमासगर्भित पद से
बहुत्वधर्मावच्छिन्न घट का बोध होता है, वह बहुत्वात्मक एक धर्म से अवच्छिन्न घट को अपना विषय बनाता है । एवं 'घटः'
पद से घटत्वावच्छिन्न अर्थ का बोध होता है, जो घटत्वलक्षण एक धर्म से अवच्छिन्न वस्तु को अपना विषय बनाता है ।
उपर्युक्त प्रत्येक पद एक एक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ को ही बोध करा सकते हैं, न कि अनेक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ
का - यह उपर्युक्त न्याय का तात्पर्य है, जो उपर्युक्त बोध की उत्पत्ति में बाधक नहीं है । अतः उक्त न्याय को मान्यता
प्रदान करने पर एक भी दोष की संभावना नहीं है ।

❀ अभेदविवक्षा से नानाधर्मावच्छिन्नबोधोपपत्ति ❀

नैकधर्मप्रत्यायनमुख्येन वस्तुतोऽनेकधर्मात्मकस्यैव धर्मिणो बोधाद् यौगपद्यं निराबाधमिति
तेत् ? न, अभेदविवक्षायामेवैकपदेन नानाधर्मावच्छिन्नधर्मिबोधसम्भवे यौगपद्यप्रवृत्तेः ।

एकशेषस्थले तु वस्तुतः पदान्तरस्मरणमेव कल्प्यं, अन्यथा घटपदात् समवाय-कालिक-
विशेषणताभ्यां घटत्वावच्छिन्नयोः युगपद्बोधप्रसक्तिभिर्या एकधर्मावच्छिन्नत्वस्य बोध्यता-
वच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नत्वगर्भतावश्यकतया विषयितासमवायाभ्यां गुणत्व-

॥ जयलता ॥

अभेदविवक्षायामेवेति । द्रव्यार्थिकादेशेनाऽस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणामभेदार्थिणां सत्यामेव, एवकारेण भेदकल्पनाव्यवच्छेदः
कृतः । एकपदेन = एकधर्मावच्छिन्नार्थवाचकेन नानाधर्मावच्छिन्नधर्मिबोधसम्भवे = अनन्तधर्मावच्छिन्नविशेष्यकधीसम्भवे,
यौगपद्यप्रवृत्तेः । अयं समाधानाशयः, द्रव्यार्थिकनयावतारे घटादिवृत्तीनामस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणामभेदग्रहात् सत्त्वाऽभिन्नानन्त-
धर्मात्मकवस्तुज्ञानं युगपद् भवितुमर्हति । द्रव्यार्थदेशेन वस्तुनः सत्त्वाद्यभिन्नाऽसत्त्वाद्यनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि पर्यायार्थिकनय-
पुरस्कारेऽस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणां विभिन्नत्वेन स्वाश्रयभेदकत्वात् सदादिपदेन शक्त्या युगपन्न नानाधर्मावच्छिन्नधर्मिबोधः
सम्भवति, तन्नये विरुद्धनानाधर्मावच्छिन्नस्यैकस्य धर्मिणः एवाऽसत्त्वात् । ततश्च कालादिभिरभेदविवक्षायामेव स्वाभिन्नाऽ-
नन्तधर्मात्मकत्वरसंसर्गेण स्वाश्रयविशेष्यकैकधर्मप्रकारकबोधतात्पर्यकत्वं पदे वाक्ये चाऽविरुद्धमिति स्थितम् ।

एकशेषस्थले तु वस्तुतः इति । व्यवहितान्वयात् वस्तुतस्त्वेकशेषस्थल इति । पदान्तरस्मरणमेव = लुप्तपदस्मरणमेव,
कल्प्यम् । प्रत्यर्थं शब्दनिवेशात्, तस्यैवैकशेषबीजत्वात् । तदुक्तं काशिकायां —> 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनाऽनेकस्याऽभिधानम् ।
तत्राऽनेकार्थाऽभिधानेऽनेकशब्दत्वं प्राप्तं तस्मादेकशेषः' <- (पा.का.पृ. ३९) । ततश्च 'घटा' वित्यत्र लुप्तपदपदस्मरणमहिम्ना
प्रत्येकपदेन घटत्वावच्छिन्नस्यैकैकघटस्य बोधो जायत इति फलितम् । विपक्षबाधमाह - अन्यथेति । एकशेषस्थले लुप्तपद-
स्मरणनियमाऽनुपगमे इत्यर्थः । अन्वयश्चाऽस्य 'उभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेदि' त्यत्र बोध्यः । घटपदात् = घटत्वावच्छिन्नवाचकात्,
समवाय-कालिकविशेषणताभ्यां संसर्गाभ्यां, घटत्वावच्छिन्नयोः = घटत्वविशिष्टयोः घट-पदाद्योः, युगपत् = समकालं बोध-
प्रसक्तिभिर्या = ज्ञानोत्पादप्रसङ्गभवेन, एकधर्मावच्छिन्नत्वस्य एकपदजन्यबोधविषयनिष्ठस्य, बोध्यतावच्छेदकतावच्छेदकैक-
सम्बन्धावच्छिन्नत्वगर्भतावश्यकतया = शक्यतावच्छेदकीभूतधर्मनिष्ठावच्छेदकताया अवच्छेदकीभूतेनैकसंसर्गेणाऽवच्छिन्नत्वं यत्
तेन घटितत्वस्य क्लृप्तत्वेन, विषयिता-समवायाभ्यां, गुणत्ववद्बोधकैकशिष्टतदादिपदात् = विषयितया गुणत्ववतः समवायेन

एवं स= इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> "कालादि अष्टक के द्वारा सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मों में
अभेद की विवक्षा हो या भेद की विवक्षा हो, मगर प्रमाण से वस्तुमात्र अनन्त धर्मात्मक सिद्ध है । अतएव सत्त्व, असत्त्व
आदि धर्मों में भेदविवक्षा होने पर भी वस्तुतः अनन्त धर्मात्मक धर्मों का ही बोध होगा । अतः एक धर्म के बोधक एक
पद से एक ही काल में अनेक धर्म से अवच्छिन्न धर्मों का बोध तो निराबाध ही होगा" <- मगर यह शंका इसलिए
निराकृत हो जाती है कि कालादि अष्टक की अपेक्षा संपादित सत्त्वासत्त्व आदि धर्म में अभेदविवक्षा होने पर ही एक पद
से नानाधर्मावच्छिन्न धर्मों का बोध हो सकता है इसलिए 'या तो सर्वत्र अविशेषरूप से नानाधर्मावच्छिन्न धर्मों का युगपत्
बोध होगा या तो कहीं भी नहीं होगा' इस समस्या को भी अवकाश नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से अनेक धर्म में
अभेदविवक्षा होने पर नानाधर्मावच्छिन्न धर्मों का एक पद से एक ही काल में बोध हो सकता है ।

॥ एकशेष में पदान्तरस्मरण आवश्यक ॥

एकशेष इति । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'घटी, घटाः' इत्यादि एकशेषसमासगर्भित पद को सुन कर श्रोता को
पूर्व में लुप्त घट आदि पद का स्मरण अवश्य होता है और बाद में दो या अनेक घट का बोध होता है । 'यह मानना
क्यों जरूरी है ?' ऐसी शंका यहाँ हो सकती है । मगर इसका समाधान सुनने से पहले यह बात समझना आवश्यक है
कि 'सकृदुचरित...' न्याय का संपूर्ण अर्थ क्या है ? यदि उक्त न्याय का अर्थ यह समझा जाय कि —> "एक पद एक
काल में एक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ का ही बोधक होता है - यह एक अटल नियम है;" <- तो यह ठीक नहीं है ।
इसका कारण यह है कि 'घटी' इस पद से श्रोता को जैसे समवाय सम्बन्ध से घटत्वविशिष्ट घटद्वय का बोध होता है,
ठीक वैसे ही समवाय सम्बन्ध से और कालिकविशेषणता सम्बन्ध से घटत्वविशिष्ट धर्मों का बोध होने लगेगा, क्योंकि वह
एकधर्मावच्छिन्नार्थविषयक है । मगर ऐसा शब्द बोध होता नहीं है । अतः इसका वारण करना आवश्यक है । तदर्थ एकधर्मावच्छिन्न

तद्बोधकैकशिष्टतदादिपदादुभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेत् ।

✽ गत्यलता ✽

गुणत्ववतः बोधकात् एकशेषसमासगर्भितात् 'तौ' इत्यादिपदात्, उभयप्रतीतिः = गुणद्वयावबोधो न प्रादुर्भवेदिति । अयमभिप्रायः 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य 'एकं पदमेकधर्मावच्छिन्नमर्थं बोधयती'त्यर्थकत्वे 'घटौ स्त'इति वाक्यात् समवायेन घटत्वावच्छिन्नस्य घटस्य कालिकविशेषणतासम्बन्धेन घटत्वावच्छिन्नस्य जन्यस्य सतःपटादेश्च युगपद् बोधः प्रामाणिकः स्यात्, तस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थगोचरत्वात् । न च कालिकेन घटत्वं पटादौ कुतः सम्भवेदिति वक्तव्यम्, जन्यमात्रस्य कालोपाधित्वेन घटत्वविशिष्टत्वात् । न च पटादेः कालोपाधित्वेऽपि घटत्वस्य नित्यत्वेनाऽतथात्वात् कालिकसम्बन्धप्रतियोगित्वं स्यादिति स्वाज्ञानं प्रकटनीयम्, कालिकेन वृत्तावनुयोगिन एव जन्यत्वस्य नियामकत्वात् तु प्रतियोगिनोऽपि । ततः तादृशप्रतीतिप्रामाण्यं पराकर्तुं 'एकं पदं एकसम्बन्धावच्छिन्ना या एकधर्मनिष्ठा प्रकारता तदाश्रयविशेष्यं युगपद् बोधयितुं समर्थमि'त्येवैन्यायार्थ इत्यवश्यमुपगन्तव्यमायुष्मताऽकामेनाऽपि । न चैवं गौरवम्, प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वेन फलमुखस्य तस्याऽदोषत्वात् । स चैक सम्बन्धः शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धो ज्ञेयः । घटपदशक्यतावच्छेदकीभूतघटत्वनिष्ठावच्छेदकताया अवच्छेदक एकसंसर्गश्च समवायः घटत्वस्य समवायेन घटे वर्तमानत्वात् यद्वा कालिकविशेषणता, न तूभयम् । ततो 'घटौ' पदात् समवाय-कालिकविशेषणताभ्यां न घटत्वविशिष्टबोधप्रसङ्गः, तस्य सम्बन्धद्वयावच्छिन्नप्रकारतावगाहित्वात् । एतेन विषयितासंयोगाभ्यां घटत्वावच्छिन्नबोधोऽपि परास्तः, एवं स्थिते एकशेषस्थले पदान्तरस्मरणाऽनभ्युपगमं विषयितासम्बन्धेन गुणत्ववतो ज्ञानादेः समवायेन गुणत्ववतो गन्धादेः बोधनार्थं 'तौ'पदप्रयोगे कृतेऽपि युगपत् प्रकारिताद्यन्यतर-विषयितासम्बन्धावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावतः समवायावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावतश्च शाब्दबोधो न स्यात्, इष्टतादृशबोधनिष्ठविशेष्यतात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितविशेष्यतानिरूपकप्रकारतयोरेकधर्मावच्छिन्नत्वेऽप्येकसंसर्गानवच्छिन्नत्वात् । तादृशबोधनिर्वाहकृते एकशेषस्थले पदान्तरस्मरणमुपगन्तव्यमेव । तदा 'तौ' इत्यादिपदात् लुप्ततदादिपदस्मरणे सति विषयितया गुणत्ववतः समवायेन गुणत्ववतश्च बोधकाभ्यामुपस्थिततदादिपदाभ्यामुभयबोधोऽपि निर्वहेत् ।

प्रकरणकार एतादृशजटिलमीमांसाविधुरीभूतबुद्धेः शिष्यस्योपकाराय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य फलितार्थमाविष्करोति -

प्रकारता को एकसम्बन्धावच्छिन्नत्व विशेषण से विशिष्ट मानी जाय, यह जरूरी है । मतलब कि एक पद से एकसम्बन्धावच्छिन्न और एकधर्मावच्छिन्न ऐसी प्रकारता से निरूपित विशेष्यता का अवगाही शब्द बोध होता है - ऐसा उक्त न्याय का अर्थ मानना पड़ेगा । एकधर्मावच्छिन्न प्रकारता का अवच्छेदक सम्बन्ध वही हो सकेगा, जो शक्यता(बोध्यता) अवच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध होगा । शक्यतावच्छेदक धर्म जिस सम्बन्ध से शक्यार्थ (वाच्यार्थ) में रहता है, वह शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध कहा जाता है । जैसे 'घटौ' पद का शक्यार्थ है दो घट और शक्यतावच्छेदक है घटत्व । शक्यतावच्छेदकीभूत घटत्व धर्म (जाति) स्वाश्रय घट में समवाय सम्बन्ध से वृत्ति होने की वजह घटपदशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध समवाय होगा । अतः घटपद एक काल में समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता के निरूपक शाब्दबोध को ही उत्पन्न करेगा, न कि समवाय और कालिकविशेषणता सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रकारता के निरूपक शाब्दबोध को । इस तरह एकधर्मावच्छिन्नत्व को शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नत्व से धटित मानना आवश्यक है । जब यह उक्त रीति से सिद्ध होता है, तब एकशेषस्थल में पदान्तरस्मरण का अङ्गीकार न करने पर एक आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी है । इसका बयान इस तरह किया जा सकता है । सुनिये, गुणत्व जाति समवाय संबंध से गन्ध, रस आदि २४ गुणों में रहती है और विषयितासम्बन्ध से 'अयं गुणत्ववान्' इत्याकारक ज्ञान आदि गुण में रहती है । उक्त दो सम्बन्ध से गुणत्वविशिष्ट दोनों का बोध कराने के तात्पर्य से जब 'तौ' शब्द का, जो एकशेष समासगर्भित तत्पदस्वरूप है, प्रयोग करेगा तब उभय का शाब्दबोध श्रोता को नहीं हो सकेगा, क्योंकि उक्त बोध की विशेष्यता से निरूपित प्रकारता एक संबन्ध से अवच्छिन्न नहीं है, किन्तु समवाय और विषयितारूप दो सम्बन्ध से अवच्छिन्न है । एकशेष समास गर्भित 'तौ' पद समवाय संबन्ध से गुणत्वविशिष्ट और विषयितासंबन्ध से गुणत्वविशिष्ट उभय का बोध तभी करा सकता है, जब लुप्त पदान्तर का स्मरण माना जाय । लुप्तपदान्तरविषयक स्मरण होने पर दो तत् पद उपस्थित होते हैं, जिससे समवायसंबन्धावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताआश्रय का एवं विषयितासम्बन्धावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्ट का युगपत् बोध उपपन्न हो सकता है । अतः एकशेषस्थल में पदान्तर का स्मरण आवश्यक है - यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

एकपदस्यैकस्मिन् काले एकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालि-
बोधोपधायकत्वमिति तु निष्कर्षः, तेन नैकपदस्य वस्तुतो नानाधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वेऽपि
क्षतिः । एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमत्पदारिक्तस्थले चायं नियमः, तेन न पुष्पदन्तपदादे-

❀ जयलता ❀

एकपदस्येति । एतेन पृथगुच्चरितनानापदानां व्यवच्छेदः कृतः । एकस्मिन् काले इति । अनेन विभिन्नकालव्यवच्छेदः कृतः ।
एकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालिबोधोपधायकत्वं = एकसंसर्गेणाऽवच्छिन्ना या एकधर्मनिष्ठा प्रकारता
तन्निष्ठनिरूपकतानिरूपिताया विशेष्यताया अवगाही गृहीतशक्तिकपुरुषनिष्ठो यः शाब्दबोधः तदुत्पत्तिव्याप्यत्वम् । व्याप्यता-
वच्छेदकसम्बन्धश्च स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्वम् । यथा 'घट' इति पदोच्चारणान्तरोत्तरक्षणे घटपदशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकी-
भूतसमवायसम्बन्धावच्छिन्नया घटत्वलक्षणैकधर्मनिष्ठया प्रकारतया निरूपितायाः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाया विशेष्यताया अवगाहिनः
शाब्दबोधस्यावश्यं जायमानत्वेन घटपदस्य स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्वसंसर्गेण तादृशशाब्दबोधोदयव्याप्यत्वम् । तत्फलमाह-
तेनेति । 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्योक्तार्थकत्वेनेति । न क्षतिरित्यन्वयः । एकपदस्य - घटादिलक्षणस्य, वस्तुतः युगपत्
नानाधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वेऽपि = अनेकधर्मविशिष्टविषयकबोधजननेऽपीति । अयमभिप्रायः वस्तुगतिमनुरूप्य सर्वस्य वस्तु-
नोऽनन्तधर्मात्मकत्वमेवेति स्यादिति दर्शने एकस्मादपि घटपदानानाधर्मावच्छिन्नवस्त्वबोधो जायते तथापि न प्रकृतन्यायभङ्ग-
प्रसङ्गः, घटपदजन्यशाब्दबोधविशेष्यस्याऽनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताया घटत्वस्वरूपैकधर्मनिष्ठया अनेक-
संसर्गावच्छिन्नत्वविरहात् । वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि एकस्मात् घटादिपदात् प्रातिस्विकरूपेणैव तद्बोधो, न तु नानाविध-
रूपेणेति भावः । एतेन शङ्कादिदोषा अपि परिहृता भवन्ति ।

ननु पुष्पदन्तपदाद् युगपत् सूर्यत्वचन्द्रत्वाभ्यामुभयोर्बोधेन प्रकृतन्यायोऽसार्वत्रिक इत्याशङ्कायामपवादमाह-
एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमत्पदातिरिक्तस्थले चाऽयं दर्शितो नियमः बोध्यः । अयं भावः पदं द्विविधं समस्तमसमस्तं
च । तत्र समस्तपदे एकोच्चारणान्तर्भावेनैव शक्तिः यथा 'रामलक्ष्मणौ' इति सहोच्चारे सत्येव रामलक्ष्मणोभये तच्छक्तिः । न
हि 'राम' इति पृथगुच्चारे सति तदुभये शक्तिर्भवति । असमस्तपदे तु स्यात्तन्व्येणैव शक्तिः, न तु सहोच्चारणान्तर्भावेन ।
दर्शितनियम एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमति पदे नास्ति । ततस्तत्रैकदैकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-
शालिबोधप्रादुर्भावेऽपि नायं नियमो भग्नः, तादृशनियममर्यादाबहिर्भूतत्वात्तस्येत्याशयेनाऽऽह - तेनेति । दर्शितनियमस्यैकोक्त्य-

❀ 'सकृदुच्चरित..' न्याय का निष्कर्ष ❀

एकपदस्यै. इति । यहाँ तक के विचारविमर्श से 'सकृदुच्चरितं पदं सकृदेवाऽर्थं गमयति' न्याय का ऐदम्पर्य यह फलित
होता है कि एक पद एक काल में एकसंसर्गावच्छिन्न जो एक धर्मनिष्ठ प्रकारता, उससे निरूपित विशेष्यता के अवगाही शाब्दबोध
का उपधायक = जनक है । एक पद में तादृशशाब्दबोधोपधायकत्व का अर्थ है एक पद स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्व संबन्ध
से तादृशशाब्दबोधोत्पत्ति का व्याप्य है । मतलब कि एक पद के उच्चारण के अव्यवहित उत्तर क्षण में अवश्य तादृश शाब्दबोध
का जन्म होता है । 'सकृदुच्चरित' न्याय का यह गूढार्थ होने की वजह यहाँ यह कहा जाय कि → 'वस्तुमात्र अनन्त
धर्मात्मक होने से एक पद से जिस वस्तु का बोध होगा वह भी अनन्त धर्मात्मक ही होगी । अतः एक पद से भी अनन्तधर्मावच्छिन्न
अर्थ का ही बोध होगा । इसलिए एक पद से अनेकधर्मावच्छिन्न धर्मी का बोध हो सकता है' ← तो भी कोई दोष नहीं
है । इसका कारण यह है कि एक पद से एक धर्म के पुरस्कार से ही अनेकधर्मावच्छिन्न धर्मी का बोध होता है, न कि
अनेक धर्म के पुरस्कार से । अनन्तधर्मावच्छिन्न घट का ही घटपद से शाब्दबोध होता है, मगर वह घटत्वरूप धर्म से ही
होता है, न कि द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, सत्त्व आदि धर्म से । घटपद से घट का घटत्वेन ही बोध होता है, न कि सत्त्व, पृथ्वीत्व,
द्रव्यत्व आदि रूप से - यह सर्वजनसिद्ध है । इसलिए 'सकृदुच्चरित' न्याय का जो निष्कर्ष बताया गया है कि - एक पद
से एक काल में एकसम्बन्धावच्छिन्न एकधर्मनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता के अवगाही शाब्द बोध का उदय होता है
- वह संगत ही है । तादृश विशेष्यता का आश्रय नानाधर्मावच्छिन्न (= अनेकधर्मात्मक) हो, इसके साथ उसका कोई सम्बन्ध
नहीं है । उस न्याय से - तादृश विशेष्यता का आश्रय एक धर्म से ही विशिष्ट हो - ऐसा नियमन नहीं किया जाता है ।

❀ पुष्पदन्तपद से सूर्यचन्द्र का युगपत् बोध संमत ❀

एका. इति । यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि 'सकृदुच्चरित..' न्याय से जिस नियम का विधान किया गया है, वह

ककाले सूर्यचन्द्रत्वाभ्यां सूर्यचन्द्रमसयोर्बोधेऽपि क्षतिरिति द्येयम् । धर्मे एकत्वसैकसङ्केत-

❀ न्यायसूत्र ❀

न्तर्भावप्रयुक्तशक्तिमत्पदजन्यशब्दबोधोऽनियामकत्वेनेति । न क्षतिरित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । पुष्पदन्तपदात् = 'पुष्पदन्तौ' इति पदात्, एककाले = युगपत्, सूर्यचन्द्रत्वाभ्यां = सूर्यत्वचन्द्रत्वाभ्यां, सूर्यचन्द्रमसयोः बोधेऽपि न क्षतिः । अयं भावः 'पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिमास्करौ' इति कोशवचनात् एकोच्चारणान्तर्भावेन गृहीतनानार्थशक्तिकपुष्पदन्तादिपदस्य व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् हि चन्द्रसूर्ययोरैकैव शक्तिः शक्यतावच्छेदकत्वं तु चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्व्यासज्यवृत्तिः । 'पुष्पदन्तादिपदं चन्द्रे सूर्ये च शक्तिमि'त्याकारकः शक्तिग्रहः । तत्कार्यतावच्छेदकञ्च चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारकस्मृतित्वं, तादृशशब्दत्वञ्च । अत्र शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतपर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नचन्द्रत्वसूर्यत्वोभयनिष्ठप्रकारतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नचन्द्रसूर्योभय-निष्ठविशेष्यतावगाहिशब्दबोधो न त्वेकधर्मावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशाली । 'एकयोक्त्या' इति कोशस्वारस्यात् सहो-च्चारणान्तर्भावेनैकैव शक्तिः सिद्धेति न प्रदर्शितनियमाक्रान्तत्वं तादृशबोधस्येति भावः ।

स्यादेतत् - यथा हि 'चन्द्रसूर्यौ पुष्पदन्तपदजन्यैकबोधविषयौ भवतामि'त्याकारिकैव शक्तिः, 'एकयोक्त्या पुष्पदन्तौ दिवाकरनिशाकरौ' (अ.को.कां.१/छो.१०) इत्यमरकोशवचनात्, लाघवाच्च । अत एव न चन्द्रसूर्यपर्यायता, नानार्थे गणनं वा । शक्तितदवच्छेदकतयोर्व्यासज्यवृत्तितया च 'चन्द्रत्वेन चन्द्रः शक्यः सूर्यत्वेन च सूर्यः' इत्यादिर्न धीः किन्तु चन्द्रत्वेन सूर्यत्वेन च चन्द्रसूर्यौ शक्यावित्येव । तथैवोभयपदस्याऽपि प्रकृते शबलवस्तुन्येकैव शक्तिः, शक्यतावच्छेदकत्वं तु सत्त्वासत्त्वयोर्व्यासज्य-वृत्ति' इति किं न स्यात् ? एवञ्चोभयपदेन युगपदुभयप्राधान्यबोधसम्भवादवक्तव्यत्वमङ्गोऽनुत्थानोपहतः इति । मैवम् पुष्प-दन्तपदवदुभयपदस्याऽसाधारणत्वाऽभावात्, बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वादस्त्यादिधर्मद्वयावच्छिन्नबोधकत्वे च प्राधान्येनोभयाकारबोधा-सिद्धेः । किञ्च, व्यासज्यवृत्तिशक्यतावच्छेदकताकस्य पदस्य द्विवचनान्तरस्यैव साधुत्वेन न पुष्पदन्तपदवदुभयपदस्यात्र बोधकत्व-मित्यादिसूचनार्थं 'ध्येयमि'त्युक्तम् ।

ननु एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमत्पदान्यस्यैकपदस्य शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मनिष्ठप्रकारतानिरू-पितविशेष्यतावगाहिशब्दबोधोपधायकत्वमिति नियमघटकीभूतधर्मनिष्ठैकत्वं किंस्वरूपमित्याशङ्क्यामाह-धर्मे एकत्वञ्चेति । सप्तम्यर्थो

एकोच्चारण अन्तर्भाव से जिस पद में शक्ति रहती है, उससे अन्यपद विषयक है । ऐसा कहने का कारण यह है कि 'पुष्पदन्तौ' यह समस्त (= समासगर्भित) पद एक ही काल में चन्द्रत्व और सूर्यत्व उभय धर्म से चन्द्र-सूर्योभय का बोधक होता है । तादृश शब्दबोध से निरूपित विशेष्यता चाँद-सूरज में रहती है और उससे निरूपित प्रकारता चन्द्रत्व और सूर्यत्व जाति में रहती है । अतएव तादृश शब्द बोध की विशेष्यता चन्द्रत्व-सूर्यत्वस्वरूप दो धर्म से निरूपित होती है, न कि एक धर्म से । यदि 'सकृदुच्चरित....' न्याय को सार्वत्रिक माना जाय तो प्रस्तुत चाँद-सूरज उभयविशेष्यक शब्द बोध की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह एकधर्मनिष्ठप्रकारता से निरूपित विशेष्यता का अवगाहन नहीं करता है । यह शब्द बोध प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक है । अतः इसको अप्रमाण कहना ठीक नहीं है । इसलिए तादृश नियम में संकोच करना आवश्यक है, जिससे यह शब्दबोध उस नियम की मर्यादा से बहिर्भूत हो जाय । प्रदर्शित न्याय से फलित नियम में संकोच करने के पहले यह समझना जरूरी हो जाता है कि पुष्पदन्त पद में अर्थबोधक शक्ति कैसी रहती है ? पुष्पशब्द के पृथक् उच्चारण से या दन्तशब्द के पृथक् उच्चारण से चाँद-सूरज दोनों का बोध नहीं होता है किन्तु 'पुष्पदन्तौ' ऐसा एक - अखंड उच्चारण करने पर ही उभय का बोध होता है । मतलब कि 'पुष्पदन्तौ' पद एकोच्चारण के अन्तर्भाव से चाँद-सूरज उभय की बोधक शक्ति वाला है । अतः पुष्पदन्तपदजन्य शब्दबोध को उक्त नियम का अविषय बनाने के लिए यह कहा जा सकता है कि 'सकृदुच्चरित....' न्याय का फलितार्थरूप नियम एकोक्ति के अन्तर्भाव से शक्तिमत् पद से अन्य पद को अपना विषय बनाता है । ऐसा कहने से पुष्पदन्तपद तादृश नियम की मर्यादा से बहिर्भूत बन जाता है और उससे अन्य घटपद, पटपद आदि में उपर्युक्त नियम प्रवृत्त होता है । अतः घटपट आदि पद ऐसे हैं जो एक काल में एकसम्बन्धावच्छिन्न ऐसी एकधर्मनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता के अवगाही शब्द बोध का जनक है । यह 'सकृदुच्चरित.....' न्याय का निष्कर्ष है ।

❀ धर्मीजेष एकत्व का निर्वचन ❀

धर्मे. इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि → "शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूत एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न एकधर्मनिष्ठ-प्रकारता से निरूपित विशेष्यता का अवगाही शब्द बोध एक काल में एक पद से होता है - ऐसा आपने कहा है । मगर यह नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि एकधर्मनिष्ठ प्रकारता का अर्थ प्राप्त होता है एकत्वसंख्याविशिष्ट ऐसे धर्म में

विषयतावच्छेदकत्वादिकम् ।

* जयलाल *

वृत्तित्वमिति धर्मवृत्त्येकत्वमित्यर्थः । एकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वादिकमिति । एकसङ्केतनिरूपितविषयताया अवच्छेदकत्वादिकम् । यथा 'कम्बुग्रीवादिमान घटपदवाच्य' इत्याकारकस्य एकसङ्केतस्य विषयः कम्बुग्रीवादिमान् तद्वृत्तेरेकसङ्केतविषयताया अवच्छेदकं लाघवात् घटत्वम् । तादृशविषयतावच्छेदकत्वञ्च घटत्वे निराबाधम् । एतेन घटपदजन्यशाब्दबोधीयविशेष्यतानिरूपितप्रकारतायाः शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतसमवायावच्छिन्नत्वेऽपि एकधर्मनिष्ठत्वं बाधितम्, घटत्वस्य जातित्वेन गुणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्वादेकत्वसंख्यात्मकगुणविशिष्टत्वविरहादिति परास्तम्, एकधर्मस्यैकत्वसंख्याविशिष्टधर्मत्वाऽविवक्षणात्, तादृशविशेष्यतानिरूपकप्रकारताश्रयीभूते घटत्वलक्षणे धर्मे एकसङ्केतविषयताऽवच्छेदकत्वलक्षणैकत्वविशिष्टत्वस्याऽबाधात् ।

ननु एकपदजन्यशाब्दबोधीयविशेष्यतानिरूपितप्रकारतायाः शक्यतावच्छेदकीभूतैकसम्बन्धावच्छिन्नत्वं कथं स्यात् ? समवायादौ एकत्वादिसंख्यालक्षणगुणबाधात् । न चैकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वरूपमेकत्वं तत्र सम्भवत्येवेति वाच्यम्, एवं सति घटपदात् समवायकालिकविशेषणताभ्यां घटत्वावच्छिन्नयोर्युगपद्वोधप्रसङ्गात्, 'समवाय-कालिकविशेषणतादयः सम्बन्धपदवाच्याः' इत्याकारकैकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वलक्षणैकत्वस्य समवायकालिकविशेषणतासंसर्गयोरबाधात् । न च तत्र स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यगतमेकत्वमेव भासत इत्यारेकणीयम्, 'घटौ' इत्यादिपदजन्यशाब्दबोधानुपपत्तिप्रसङ्गात्, समवाये तादृशसम्बन्धेन द्वित्वादेः परिसमाप्ततया तादृशशाब्दबोधीयप्रकारताया द्वित्वविशिष्टसमवायावच्छिन्नत्वादिति चेत् ? मैवम्, अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वलक्षणस्यैकत्वस्य तत्राऽबाधितत्वात् । इदञ्च सम्बन्ध इव धर्मेऽपि बोध्यम् । अत एव आदिशब्दसाफल्यमप्युपपद्यते । एतेन एकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वघटकीभूतसङ्केतस्येच्छाविशेषरूपत्वेनैकत्वविशिष्टत्वबाधेन न तादृशमेकत्वं प्रकारताश्रयीभूतधर्मं सम्भवतीति प्रत्युक्तम्, अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वलक्षणैकत्वस्य तत्राऽप्यबाधितत्वात् । ततश्च एकोच्चारणान्तर्भावप्रयुक्तशक्तिमत्पदव्यतिरिक्तसंज्ञापदस्य एकस्मिन् काले अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपैकत्वविशिष्टस्वशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नदर्शितैकत्वविशिष्टधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावगाहिशाब्दबोधव्याप्यत्वं स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्वसम्बन्धेनेति प्रकृतन्यायनिष्कर्ष इति तात्पर्यम् ।

लघुस्याद्वादरहस्ये तु प्रकृते —> "धर्मे एकत्वञ्च यावद्वोध्यवृत्तित्वादिकम् । यत्तु - स्वाश्रयबोध्यतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनैकवृत्तिमत्त्वं तद्वोध्यत्वम्, तेन न पशुत्वादेर्नानात्वेऽपि दोष इति न्यायनयानुयायिनः तन्न सर्वस्य सर्वपदशक्यत्वात्" <- (ल.स्या. र.पृ. १३) इत्युक्तमिति ध्येयम् ।

रही हुई प्रकारता । देखिये, 'घटः' इस पद से समवायावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता का अवगाहन करने वाला शाब्द बोध उत्पन्न होता है । मगर तादृशशाब्दबोधीयविशेष्यतानिरूपक प्रकारता का आश्रय घटत्व एकत्व संख्या से विशिष्ट नहीं है, क्योंकि घटत्व जाति है और जाति में गुणमात्र का अभाव होता है । संख्या नैयायिकमतानुसार गुणविशेष धर्म) में कैसे रहेगी ? फलतः वह शाब्द बोध अनुपपन्न रह जायेगा" <- मगर इसका समाधान यह है कि धर्मनिष्ठ एकत्व है वह यहाँ संख्यात्मक अभिमत नहीं है किन्तु एक संकेत की विषयता के अवच्छेदकत्वस्वरूप अभीष्ट है, जो घटत्व में अबाधित है । वह इस तरह - 'घटपदवाच्यः कम्बुग्रीवादिमान्' इत्याकारक एक संकेत का विषय है कम्बुग्रीवादिविशिष्ट । उसमें रही हुई विषयता का अवच्छेदक लाघव सहकार से घटत्व है । जहाँ जहाँ घटत्व रहता है वहाँ वहाँ तादृश एक संकेत की विषयता अवश्य रहती है । इस तरह अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति होने की वजह घटत्व तादृश एक संकेत की विषयता का अवच्छेदक हो सकता है । अतः तादृश एकसंकेतीयविषयतानिरूपित अवच्छेदकत्वस्वरूप विवक्षित एकत्व प्रकारताश्रयीभूत धर्म में अबाधित है । अतः विवक्षित एकत्व से विशिष्ट घटत्वादित्वरूप धर्म में रही हुई प्रकारता से, जो समवायसम्बन्धावच्छिन्न है, निरूपित विशेष्यता का अवगाही शाब्द बोध घटपद से हो सकता है । इस विषय में किसी विवाद को अयकाश नहीं है । यहाँ तक के विचारविमर्श से 'सकृदुचरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इस न्याय का अर्थ यह फलित होता है कि एक पद एक काल में स्वशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूत एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रकारता से, जो एकसंकेतविषयतावच्छेदकत्वस्वरूप एकत्वविशिष्ट धर्म में रहती है, निरूपित विशेष्यताशाली शाब्द बोध का जनक होता है ।

अत्र नव्याः → ननु किमर्थमयं नियमः ? न तावज्ज्ञानार्थकपदज्ञानार्थानां युगपदबोध-
निर्वाहाय, नानार्थकपदस्य प्रकरणादिना शक्तिर्यत्र नियम्यते तस्यैव बोधनियमेन तन्निर्वाहात्,
अन्यथा भोजनवेलायां सैन्धवपदाल्लवणमेव प्रतीयते, न त्वश्व इति नियमो न स्यात् ।

❀ नयलता ❀

नव्यनैयायिकमतमुपदर्शयितुमाह- अत्रेति । 'सकृदुचरिते'त्यादिन्यायप्रामाणिकत्वपरीक्षायां प्रस्तुतायामिति । नन्विति
प्रश्ने, तदुक्तं हलायुधकोशे 'ननु प्रश्नेऽवधारणे' (हला. ५/८८४) किमर्थं = कस्मै प्रयोजनाय, अयं प्रदर्शितस्वरूपः
नियमः ? किं नानार्थकपदजन्यनानार्थबोधस्य युगपदुदयनिरासाय यदुत शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थबोधानुत्पादननिर्वाहाय ?
इति विकल्पयुगली समवतिष्ठते । तत्र प्रथमे आह- नेति । अन्वयश्चाऽस्य युगपदबोधनिर्वाहायेत्यत्र । तावदिति प्रथममित्यर्थे
यथा शकुन्तलायां 'आर्ये ! इतस्तावदागम्यतां' (श. १) इत्यत्र । नानार्थकपदात् सैन्धवादिपदात्, नानार्थानां अश्वलवणादि-
रूपाणां, युगपदबोधनिर्वाहाय = समकालं ज्ञानानुत्पादोपपत्तये । अत्र हेतुमाह- नानार्थकपदस्येति । प्रकरणादिनेति आदि-
शब्देन संयोग-वियोग-साहचर्यादीनां ग्रहणम् । तस्यैव = प्रकरणादिनियन्त्रितशक्तिविषयस्यैव, बोधनियमेन = शाब्दबोधोदय-
व्याप्त्या, तन्निर्वाहात् = नानार्थकैकपदजन्यनानार्थविषयकसमकालीनशाब्दबोधानुदयोपपत्तेः । विपक्षबाधमाह- अन्यथेति ।
प्रकरणादिना नानार्थकैकपदशक्तिविषयनियमानभ्युपगमे इति । भोजनवेलायां = मुक्तिप्रकरणे, सैन्धवपदात् लवणाश्चाद्यर्थकात्
लवणमेव प्रतीयते = शाब्दबोधविषयीभवति । एवकारफलमाह- न त्वश्व इति । इति = एवंप्रकारकः, नियमो न स्यादिति ।
अयं नव्याशयः, यदि नानार्थकपदजन्यशाब्दबोधविषयप्रतिनियमस्य प्रकरणादिप्रयुक्तत्वं नोपेयते तदा अश्वलवणबोधौपयिकसामग्र्याः
अविशिष्टत्वात्सर्वदाऽश्वलवणबोधस्यात्, एकसामग्र्या अपरशाब्दबोधप्रतिबन्धकत्वे तादृशवाक्याच्छाब्दबोध एव न स्यात् । न चैवं
भवति, लवणतात्पर्यग्राहकभोजनप्रकरणे लवणस्यैव बोधात्, अश्वतात्पर्यग्राहकप्रयाणप्रकरणे चाऽश्वस्यैव । ततश्च तात्पर्यग्राहकत्वेन
बहुभानां प्रकरणादीनां बहुभनियतपूर्ववर्तिताकत्वेनाऽनन्यथासिद्धत्वमात्रकल्पने लाघवात्प्रकरणादिभिरेव नानार्थकपदशक्तिप्रतिनिय-
मोऽङ्गीकार्यः । तथा चैकपदस्यैकस्मिन् काले शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतैकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष-
ताकशाब्दबोधोपधायकत्वमिति नियमो नातिप्रयोजनः, तन्निर्वाहस्य प्रकरणादिनैव निर्वाहात् । एवं 'घटोऽपसारणीय' इत्यत्र

❀ 'सकृदुचरित...' न्याय अप्रामाणिक - नव्यनैयायिक ❀

पूर्वपक्ष :- अत्र नव्याः, इति । उपर्युक्त वक्तव्य के खिलाफ नव्य नैयायिकों का यह मन्तव्य है कि 'सकृदुचरित...' यह न्याय अप्रामाणिक है, क्योंकि उसकी कल्पना का कोई बीज ही नहीं है । वह इस तरह - इस न्याय से 'एक पद एक काल में एकधर्मावच्छिन्नार्थबोध का जनक है' इस नियम की कल्पना क्यों की जाती है ? इसके प्रत्युत्तर में यह तो नहीं कहा जा सकता कि - 'अनेक अर्थ के वाचक एक पद से एक काल में अनेकअर्थविषयक शाब्दबोध के अनुदय का निर्वाह-उपपादन करने के लिए उस न्याय का आश्रय लिया जाता है' -, क्योंकि अनेकार्थवाचक पद की शक्ति अनेक अर्थ में कोश आदि से सिद्ध होने पर भी प्रकरण आदि से जिस अर्थ में उसकी शक्ति का नियमन होगा उसीका शाब्द बोध अनेकार्थक पद से होता है - यह नियम है । इसीसे अनेकार्थक एक पद से एक काल में अनेक अर्थ के शाब्दबोध के अनुदय का निर्वाह हो सकता है । यदि अनेकार्थवाचक पद की शक्ति का अर्थविशेष में नियंत्रण न माना जाय, तब तो भोजनप्रकरण में सैन्धवपद से लवण = नमक का ही बोध होता है, न कि अश्व का - यह नियम नहीं हो सकेगा । आशय यह है कि सैन्धवशब्द का अर्थ है लवण और अश्व आदि । जब भोजन का समय = अवसर होता है, तब 'सैन्धवं आनय' इस वाक्य से श्रोता को लवण लाने का ही ज्ञान होता है, न कि अश्व को लाने का, क्योंकि भोजनप्रकरण से 'यह सैन्धव पद लवण का बोध कराने की इच्छा से वक्ताने बोला है' ऐसा तात्पर्यग्रह श्रोता को होने से वहाँ सैन्धव पद की शक्ति लवण अर्थ में नियन्त्रित होती है । यदि भोजनप्रकरण से सैन्धव पद की शक्ति का लवण में नियमन न हो, तब तो भोजन के अवसर श्रोता लवण के स्थान में अश्व को या दोनों को लायेगा । मगर ऐसा नहीं होता है । भोजन के अवसर 'सैन्धवमानय' इस वाक्य से श्रोता को मालूम हो ही जाता है कि-भोजन में नमक कम होने की वजह थीमान् मुझे नमक लाने की आज्ञा दे रहे हैं । अतः प्रकरण आदि को ही अनेकार्थकपदजन्य शाब्दबोध के विषयविशेष का नियामक मानने से एक काल में नानार्थवाचक एक पद से अनेकार्थगोचर शाब्द बोध के अनुदय का निर्वाह हो सकता है । उसके लिए 'सकृदुचरित...' इस न्याय की आवश्यकता नहीं है । मतलब कि निप्रयोजन होने के सबब तादृश नियम अप्रामाणिक है ।

नाऽपि शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थबोधनिर्वाहाय, 'प्रजयती'त्यत्रैकस्मादेव जिधातोः शक्त्या जयस्य लक्षणया प्रकृष्टजयस्य च बोधाभ्युपगमात् । अत एव 'चित्रगु'रित्यत्र शक्त्या गोर्लक्षणया स्वामिनश्च बोधो नाऽनुपपन्नः । 'नामार्थयोर्भेदेनाऽन्वयः कथमिति चेत् ?

❀ जयलता ❀

सात्रिध्यलक्षणसंयोगेन सन्निकृष्टघटगोचरो बोधो जायते न तु विप्रकृष्टघटविषयकः । 'घटमानय' इत्यत्र दूरस्थत्वलक्षणवियोगेन घटपटात् दूरस्थघटविषयको बोधो जायते, न तु समीपस्थघटविषयकः । 'घटं पटञ्चानये'त्यत्र साहचर्यात् एकदेशवृत्तिघटपटविषयक-बोधो जायते । एवञ्च प्रकरणादिभिरेवाऽर्थविशेषबोधनियमसम्भवेन तादृशनियमपरिकल्पनमकिञ्चित्करमित्यर्थः ।

द्वितीये आह- नापीति । तत्र हेतुमाह- 'प्रजयती'त्यत्रेति । लक्षणयोपस्थितेन प्रकृष्टजयेन समं शक्त्योपस्थितस्य जयस्याऽभेदान्वयबोधोऽभीष्ट एवाऽस्माकमिति भावः । एवमेव च मुख्यलक्ष्योभयपरे 'गङ्गायां घोषमत्स्यौ स्त' इत्यादौ सकृदु-च्चरितेऽपि गङ्गापदेऽनेकार्थतात्पर्यग्रहेणैकदैव शाब्दबोधाभ्युपगमात्, सामान्यतः उभयतात्पर्यग्रहे प्रथमस्यैव बोधो नान्यस्येति नियन्तुमशक्यत्वाच्च नाऽऽवृत्त्या तन्निर्वाह इति 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्याये मानाभाव इति नव्याभिप्रायः ।

अत एवेति । एकस्मादपि पदात् शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थबोधाभ्युपगमादेवेति । 'चित्रगु'रित्यत्र बहुव्रीहिसमासस्थले शक्त्या = समासघटकीभूतगोपदस्य शक्त्या, गोः = सास्नादिमतः, लक्षणया द्वितीयवृत्त्या स्वामिनश्च = स्वामित्वसम्बन्धेन गोमतश्च, बोधः = शाब्दबोधः, नानुपपन्नः । शक्यार्थं गवि चित्राऽभेदान्वयः लक्ष्यार्थं पुरुषे च गोः स्वनिष्ठस्वत्वनिरूपित-स्वामित्वसम्बन्धेनाऽन्वय इति शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थान्वयबोधस्याऽनुभवप्रसिद्धत्वाच्च तन्निषेधार्थं 'सकृदुच्चरिते'त्यादि-नियमस्याऽऽवश्यकत्वम् ।

अनु गवि चित्राऽभेदान्वयः पुरुषे च गोर्भेदान्वय इति न युज्यते, निपातातिरिक्तनामार्थयोः साक्षाद् भेदान्वयस्याऽव्युत्पन्न-त्वादिति चित्रगुरित्यादौ शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थान्वयबोधस्य न प्रामाणिकत्वम्, अन्यथा 'राजा पुरुषः, 'भूतलं घट' इत्यादेरपि प्रसङ्गादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते - नामार्थयोः = निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थयोः, भेदेन = साक्षात् भेदेन, अन्वयः कथम् ? निपातातिरिक्तनामार्थनिष्ठविभक्त्यर्थातिरिक्तभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति नामपद-निरूपितवृत्तिज्ञानजन्योपस्थितेर्विशेष्यतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वाच्चेतच्छाब्दबोधो भवितुमर्हतीत्याशयः शङ्काकारस्य ।

॥ शक्ति-लक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थबोध मान्य - नव्य नैय्यायिक ॥

नापि श. इति । यहाँ यह शंका हो कि → "अनेकार्थवाचक एक पद से एक काल में शक्ति और लक्षणा से अनेकार्थबोध के अनुदय के निर्वाहार्थ 'सकृदुच्चरित...' यह न्याय प्रामाणिक है, अन्यथा शक्ति और लक्षणा के द्वारा एक पद से एक काल में अनेक अर्थ का बोध होने लगेगा" ← तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि शक्ति और लक्षणा से एक ही काल में अनेक विषय का शाब्द बोध तो हमें अभिमत है । वह इस तरह - 'प्रजयति' पद में एक ही जिधातु की शक्ति से जय का और लक्षणा से प्रकृष्ट जय का एक ही काल में बोध होता है - ऐसा हम स्वीकार करते हैं । मतलब कि प्र उपसर्ग का समभिव्याहार होने पर जिधातु के शक्यार्थ जय से अभिन्न प्रकृष्ट जय का, जो जिधातु का लक्ष्यार्थ है, शाब्द बोध होता है । एक ही काल में एक पद के शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ का अन्वयबोध अभिमत होने से ही 'चित्रगु' इत्यादि पद के घटक गोपद के शक्यार्थ धेनु और लक्ष्यार्थ स्वामी का एक ही काल में बोध हो सकता है । 'चित्रगु' यह बहुव्रीहिसमास है, जिसका अर्थ है चित्र गाय का स्वामी है । यह बोध तभी उपपन्न होता है जब कि गोपद के शक्यार्थ गो में चित्र का अभेदान्वय एवं चित्र गाय का गोपद के लक्ष्यार्थ स्वामी पुरुष में भेदान्वय एक ही काल में माना जाय । अतः एक ही काल में एक ही पद के शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ की पदशक्ति और पदलक्षणा के द्वारा उपस्थिति होनी न्यायसंगत है । यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि → "गोपद का शक्यार्थ धेनु और लक्ष्यार्थ स्वामी, ये दोनों नामार्थ हैं । यह एक नियम है कि नामार्थ का नामार्थ के साथ भेदान्वय नहीं होता है । अतः धेनु का स्वामित्वसम्बन्ध से, जो कि तादात्म्यसम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध होने से भेदसम्बन्ध है, पुरुष में अन्वय नहीं हो सकता है" ← यह अनुचित होने का कारण यह है, कि व्युत्पत्तिविशेष के बल से तादृश अन्वयबोध भी हो सकता है । तात्पर्य यह है कि दो प्रातिपदिकार्थ (= नामार्थ) का साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय तब निषिद्ध होता है, जब दो नामार्थ शक्यार्थ हो । मगर जब एक नामार्थ की पदशक्ति से और अन्य नामार्थ की पदलक्षणा से उपस्थिति होती है, तब उन दोनों में भेदसम्बन्ध से भी अन्वय हो सकता है । इस

व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । अत एव 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र गङ्गातीरत्वेनोपस्थितिर्निराबाधा ।
वस्तुतो 'यद्धर्मविशिष्टे लक्षणाप्रतिसन्धानं तद्धर्मविशिष्टस्यैवोपस्थितिः शाब्दबोधश्च'
इति नियमादेव गङ्गापदाद् गङ्गातीरत्वेनोपस्थितिः ।

❀ नयलता ❀

तत्र नव्याः समादधति - व्युत्पत्तिवैचित्र्यादिति । स्थलविशेषनियन्त्रितव्युत्पत्तिमहिम्न इत्यर्थः, शक्तिलक्षणाभ्यामुपस्थितयोः प्रातिपदिकार्थयोः साक्षाद् भेदेनाऽन्वयोऽप्यदुष्ट इति, व्युत्पत्तिविशेषादिति यावत् । 'राजा पुरुषः' इत्यादौ तयोः साक्षाद् भेदेनाऽन्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वेऽपि प्रकृते तान्त्रिकाणां स्वारसिकानुभवबलादेव तादृशव्युत्पत्तौ सङ्कोच आवश्यक एवेति न शक्तिलक्षणाभ्यामुपस्थितयोः क्वचित् प्रातिपदिकार्थयोः साक्षाद् भेदेनाऽन्वयेऽपि दोष इति भावः । अत एवेति । एकपदशक्तिलक्षणाभ्यां भेदेन युगपदनेकप्रातिपदिकार्थान्वयबोधस्य क्वचिददुष्टत्वादेवेति । 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र स्थले गङ्गातीरत्वेन धर्मेण गङ्गातीरस्य उपस्थितिः = स्मृतिः निराबाधा = अदुष्टा । अयं भावः 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र गङ्गापदस्य शक्त्योपस्थिताया गङ्गाया लक्षणयोपस्थितेन तीरेण साकं भेदेनाऽन्वयोपगमे एव गङ्गातीरत्वेन गङ्गातीरे घोषान्वयः सम्भवति । 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ सम्भूयैकार्थबोधकत्वज्ञानानुरोधादेव लक्षणास्वीकारात्, अन्यथा 'गङ्गायां जलं तीरे घोष' इति पदद्वयाध्याहारादेवोपपत्तौ लक्षणाया अनतिप्रयोजनत्वापत्तेः । अत एव च 'दण्डी चैत्रो द्रव्यं नीलं घटमानये'त्यादौ चैत्रो न दण्डी, घटो न नील' इत्यादिबाधधीकाले 'चैत्रो द्रव्यं घटमानये'त्यादिशब्दबोधानुदयः, सम्भूयोच्चारितत्वेन गृहीतानामेकं विनाऽन्वयस्याऽबोधकत्वात् । ततश्चैकपदशक्यलक्ष्ययोः प्रातिपदिकार्थयोः साक्षाद् भेदेनाऽन्वयोऽदुष्ट इति फलितम् ।

नन्वपदार्थगङ्गातीरत्वादेः शाब्दबोधविषयत्वे घटादेरपि तद्विषयत्वापत्तिरिति चेत् ? न, प्रकृतेऽपदार्थत्वस्य पदजन्यप्रतीत्यविषयत्वरूपत्वस्वीकारेण लक्षणया गङ्गापदजन्यस्मृत्यादौ गङ्गातीरत्वस्यापि विषयत्वेन तस्याऽपदार्थत्वाभावादित्याशयेनाऽऽह-वस्तुत इति । यद्धर्मविशिष्टे वस्तुनि लक्षणाप्रतिसन्धानं = लक्षणाग्रहः तद्धर्मविशिष्टस्यैव उपस्थितिः = स्मृतिः, शाब्दबोधश्चेति नियमादेव = नियमाभ्युपगमादेव, गङ्गापदात् लक्षणया गङ्गातीरत्वेन गङ्गातीरविषयिणी उपस्थितिः = स्मृतिः निराबाधा, तादृशशब्दबोधश्चेति गम्यम् । एतेन वृत्त्या पदजन्योपस्थित्यविषयस्यापि शाब्दबोधे भानोपगमे घटादिपदात् पटादिविषयकशब्दबोधप्रसङ्गो दुर्निवार इति प्रत्युक्तम्, यद्धर्मविशिष्टविशेष्यकशक्यसम्बन्धग्रहः तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकमेव पदार्थस्मरणं शाब्दबोधश्चेति नियमोपगमेनैव घटादिपदात् पटादिविषयकशब्दबोधानापत्तेः । तद्धर्मविशिष्टे लक्षणाग्रहस्य तेन रूपेणोपस्थिति-

व्युत्पत्ति के बल से 'चित्रगु' समास के घटक गोपद के शक्यार्थ धेनु का गोपदलक्ष्यार्थ स्वामी में भेदसम्बन्ध से = स्वामित्व सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है । एक ही काल में शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ का भेदसम्बन्ध से अन्वय होने से ही तो 'गङ्गायां घोषः' यहाँ गङ्गातीरत्वरूप से गङ्गातीर की उपस्थिति बिना किसी द्विकिचाहट के हो सकती है । आशय यह है कि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य का 'गंगा (= विशिष्ट जलप्रवाह) में गोशाला है' यह अर्थ पदशक्ति से प्राप्त होता है । मगर यह अर्थ बाधित है, क्योंकि जलप्रवाहस्वरूप गंगानदी के ऊपर गोशाला का होना नामुमकिन है । अतः शक्यार्थ जलप्रवाह के संबंधी तट में गंगापद की लक्षणा से 'गंगातट पर गोशाला' है' यह शाब्दबोध होता है, जो अबाधित एवं तात्पर्यानुसारी है । यहाँ गङ्गातीर की उपस्थिति इस तरह होती है - गंगापद की शक्ति से गंगानदी की और लक्षणा से तीर की उपस्थिति होती है । पश्चात् गंगानदी का अन्वय भेदसम्बन्ध (संयोगसंसर्ग) से तीर में होता है । इस तरह गङ्गातीर की स्मृति होती है । मगर दो नामार्थ में साक्षात् भेदान्वय सर्वथा निषिद्ध हो, तब तो गङ्गातीरत्वेन रूपेण गङ्गातीर की उपस्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों ही प्रातिपदिकार्थ हैं । अतः तादृश बोध की अनुपपत्ति से शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ में साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय मानना भी प्रामाणिक है - यह सिद्ध होता है । इसलिए 'चित्रगु' इस समास में धेनु का स्वस्वामी पुरुष में भेदसम्बन्ध से अन्वय होना भी प्रामाणिक है ।

❀ शक्यताप्रवच्छेदक में भी पदशक्ति अबाधित - नव्यनैयायिक ❀

वस्तुतो. इति । वास्तव में तो नियम यह है कि जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु में लक्षणा का ग्रह (= प्रतिसन्धान) होता है, उसी धर्म से विशिष्ट वस्तु का स्मरण एवं शाब्दबोध होता है । इस नियम के अनुसार गङ्गातीरत्व धर्म से विशिष्ट गङ्गातीर में गंगापद की लक्षणा का प्रतिसन्धान होने से ही गङ्गातीरत्वरूप धर्म से तट की उपस्थिति और शाब्दबोध सिद्ध हो सकता है । यहाँ यह शंका हो कि → "जैसे जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु में लक्षणाग्रह होता है, उसी धर्म से विशिष्ट

न तैवं शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्न स्यात्, यद्धर्मविशिष्टशक्तिग्रहस्तेन रूपेणोपस्थितिः शाब्दबोधश्चेति नियमादेव शक्यतावच्छेदकबोधसम्भवादिति चेत् ? न, शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तेरबाधादित्याहुः < ।

अत्र तद्वन्तै - प्रकरणादीनामननुगतानां नाऽर्थविशेषबोधे शक्तेः सहकारित्वं,

❀ जयलला ❀

शाब्दबोधौ प्रति हेतुत्वादेव लक्ष्यतावच्छेदके तीरत्वादौ गंगापदशक्यप्रवाहसंयुक्तसमवायरूपलक्षणा न स्वीक्रियते, तीरत्ववृत्ति-तादृशसमवायस्य प्रयोजनविरहेण लक्षणत्वानुपगमादिति भावः ।

ननु यद्धर्मविशिष्टे लक्षणाप्रतिसन्धानं तद्धर्मविशिष्टस्यैवोपस्थितिः शाब्दबोधश्चेति नियमवत् यद्धर्मविशिष्टे शक्तिग्रहः तद्धर्म-विशिष्टस्यैवोपस्थितिः शाब्दबोधश्चेति नियमस्याऽप्यनिराकार्यत्वेन घटत्वादौ शक्यतावच्छेदके घटादिपदशक्तिस्वीकारोऽप्रामाणिकः स्यात्, घटत्वादेरपि घटपदजन्यप्रतीतिविषयत्वात्, अवच्छेदकतासम्बन्धेन घटपदनिरूपितशक्तिमत्त्वाच्च तस्यापि घटादिपदार्थत्वेन तादृशशाब्दबोधविषयत्वसम्भवादित्याशङ्कां निराकर्तुमाह- न चेति । इति चेदित्यनेनास्याऽन्वयः । एवं = वृत्तिज्ञान-स्मरण-शाब्दबोधानां समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावस्वीकारे, शक्यतावच्छेदकेऽपि, अपिशब्देन लक्ष्यतावच्छेदकसमुच्चयः, शक्तिः = पदमुख्यवृत्तिः, न स्यात् = न सम्भवेत् । अत्र हेतुमाह- यद्धर्मविशिष्टशक्तिग्रहः = घटत्वादिलक्षणयद्धर्मविच्छिन्ने शक्ति-प्रतिसन्धानं, तेन रूपेण = घटत्वादिरूपेण, घटादेः उपस्थितिः = स्मृतिः शाब्दबोधश्चेति नियमादेव घटत्वादिप्रकारकस्मरण-शाब्दबोधोदयेन शक्यतावच्छेदकबोधसम्भवात् = घटत्वादिशाब्दबोधाऽवश्यंभावात्, विशेषणज्ञानमृते विशिष्टबोधाऽसम्भवात् ।

नव्यः तन्निराकरोति-नेति । प्रदर्शितशङ्काऽपाकरणे हेतुमाह - शक्यतावच्छेदकेऽपि = घटत्वादावपि, शक्तेः = घटादि-पदशक्तेः, स्वविषयत्वसम्बन्धेन अबाधात् = अब्याहृतत्वादिति, अन्यथा यद्वृत्तित्वेन वृत्तिग्रहः तद्वृत्तित्वेनोपस्थितिशाब्दबोधौ भवत इति नियमस्यापि सुवचत्वाद् घटादावपि शक्तिर्न स्यात् । किञ्च, शक्यतावच्छेदके शक्त्यस्वीकारे पृथिवीपदात् कदाचिदष्ट-द्रव्याऽतिरिक्तद्रव्यत्वेन, कदाचित् गन्धवत्त्वेन कदाचित्पृथिवीत्वेन च शाब्दबोध आपद्येत । पृथिवी पृथिवीपदशक्येतिवत् अष्ट-द्रव्यातिरिक्तद्रव्यं गन्धवद्वा पृथिवीपदशक्यमित्याकारकस्य शक्तिज्ञानस्य सम्भवात् तीरं गङ्गातीरं वा प्रवाहसंयोगवदिति लक्षणाग्रहेण शक्तिग्रहस्य तुल्ययोगक्षेमत्वात् । तथा च लक्षणया यत्किञ्चिदेकधर्मावच्छिन्नविषयक एव शाब्दबोध इति यथा न नियमस्तथा शक्यार्थविषयकशाब्दबोधेऽपि नियमो न स्यात् । शक्यतावच्छेदके शक्तिस्वीकारे तु पृथिवीपदात्पृथिवीत्वेनैव शाब्दबोध इति नियम उपपद्यते । पृथिवीपदस्य पृथिवीत्वपृथिव्योरेव शक्ततया शक्त्या शक्यार्थस्यैव शाब्दबोधे भानमिति नियमेन च तदुप-पादनसम्भवात् । इत्थमेव 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इत्यस्यापि नियमस्योपपत्तिरिति नव्यनैयायिकाशयः ।

प्रथमविकल्पमङ्गीकृत्य नव्यमतं पराकर्तुं परिशीलितं पन्थानमाविष्कुर्वन्ति- अत्र वदन्तीति । यत्तावदुक्तं 'नानार्थकपदस्य प्रकरणादिना यत्र शक्तिर्नियम्यते तस्यैव बोधनियमेन नानार्थकपदान्नानार्थानां युगपदबोधनिर्वाहादि'ति (पृ. २९२) तन्निराकुर्वन्ति- प्रकरणादीनामिति । अननुगतानामिति । विशेषणमुखेनाऽयं हेतुनिर्देशः । नेत्यस्य व्यवहितान्वयः । प्रयोगश्चात्रैवम् - प्रकरणा-

वस्तु की उपस्थिति (= स्मरण) और शाब्दबोध होता है, इस नियम का प्रदर्शन किया जाता है; ठीक वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि - 'जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु में पदशक्ति का ग्रह होता है उसी धर्म से विशिष्ट का पद से स्मरण एवं शाब्दबोध होता है, यह नियम है' । इसका अंगीकार करने पर तो शक्यतावच्छेदक धर्म में भी पदशक्ति न हो सकेगी, क्योंकि शक्यतावच्छेदकधर्मविशिष्ट में शक्तिग्रह होने से शक्यतावच्छेदक से विशिष्ट का शाब्द बोध होगा, जिसके विशेषणरूप से शक्यतावच्छेदक का भी भान अनायास ही हो जायेगा, क्योंकि विशेषण के ज्ञान के बिना विशेष्य का भान नहीं होता है । इस तरह शक्यतावच्छेदक में शक्ति का स्वीकार न करने पर भी उसका भान हो सकता है, तब क्यों उसमें पदशक्ति की कल्पना का गौरव किया जाय ?' < तो इसका समाधान यह है कि पदजन्यप्रतीति का विषय होने की वजह शक्यतावच्छेदक में भी शक्ति अबाधित है । जिस पद से जिस अर्थ का अवश्य भान होता हो, उस अर्थ में उस पद की शक्ति का होना आवश्यक है, अन्यथा शक्ति का नियमन ही दुर्घट हो जायेगा । घटपद से घटत्वविशिष्ट का भान होता है । अतः घटत्व और उसके आश्रय घट में घटपद की शक्ति का होना जरूरी है । अतः शक्य की भाँति शक्यतावच्छेदक में भी स्वविषयत्वसंबन्ध से शक्ति अवश्य रहती है - यह सिद्ध होता है । निष्कर्ष :- 'सकृदुचरित...' न्याय अप्रामाणिक है ।

❀ 'सकृदुचरित...' न्याय प्रामाणिक है - स्यात्वादी ❀

उत्तरपक्ष :- अत्र वद. इति । नव्य नैयायिक के उपदर्शित वक्तव्य की समालोचना करते हुए श्रीमद्जी कहते हैं कि

तात्पर्यग्राहकत्वेन तदनुगमे तु लाघवात्तात्पर्यग्राहकत्वेनैव तत्सहकारित्वकल्पनमुचितमिति एकदोभयतात्पर्यग्राहे एकपदादेकदोभयबोधाऽऽस्वारस्यनिर्वाहाय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिनियमो युक्त

❀ अथ लाला ❀

दयः प्रतिनियतार्थविषयकशब्दबोधं प्रति न शक्तिसहकारिणः, अननुगतत्वात् । अनुगतत्वविरहेऽपि तृणारणिमणिन्यायेन तत्सहकारित्वो-पगमे कार्यकारणभावे महद्वैरवप्रसङ्गात् ।

ननु प्रकरणसंयोगविभागादीनां प्रकरणत्व-संयोगत्व-विभागत्वादिरूपेणाऽननुगतत्वेऽपि तात्पर्यग्राहकत्वेनाऽनुगतत्वसम्भवेन व्यतिरेकव्यभिचारविरहात् नाऽर्थविशेषबोधे शक्तिसहकारित्वाऽसम्भव इति पराऽऽशङ्कयामाह- तात्पर्यग्राहकत्वेनेति । एतत्पदा-देतदर्थविषयकः शब्दबोधो भवत्वित्याद्याकारकप्रयोक्तृनिष्ठेच्छाग्रहजनकत्वेनेति । तदनुगमे = प्रकरणादीनामशेषाणां सङ्ग्रहे । तुः विशेषे, तदुक्तं हलायुधकोशे 'तु स्याच्चेदेऽवधारणे' (हला. ५/८८१) इति । यद्यपि तात्पर्यज्ञानजनकत्वस्य व्यक्तिभेदेन भिन्नतया इदमपि न सर्वानुगतं तथापि जनकतासम्बन्धेन तात्पर्यज्ञानत्वावच्छिन्नवत्त्वं सर्वानुगतं प्रसिद्धमित्याशयेन तथोक्तमिति ज्ञेयम् । लाघवादिति । तात्पर्यज्ञानजनकत्वरूपगुरुधर्मेण प्रकरणादीनां बहूनां कारणत्वाऽपेक्षया तात्पर्यज्ञानत्वरूपलघुधर्मेण एकस्य कारणत्वे लाघवादित्यर्थः । तात्पर्यग्राहकत्वेनैवेति । एवकारेण तात्पर्यज्ञानजनकत्वस्य, जनकतासम्बन्धेन तात्पर्यज्ञान-त्वावच्छिन्नवत्त्वस्य वा व्यवच्छेदः कृतः । तत्सहकारित्वकल्पनं = प्रतिनियतार्थबोधे शक्तेः सहकारित्वमिति कल्पनं उचितम् । इति = उक्तलाघवबलेन शब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति तात्पर्यग्राहत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वसिद्धौ, एकदा = युगपत्, उभयतात्पर्य-ग्राहे नानाधर्मावच्छिन्नविषयकतात्पर्यज्ञाने सति, एकपदात् 'श्वेत'आदिलक्षणात्, एकदा = समकालं, उभयबोधाऽऽस्वारस्य-निर्वाहाय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिनियमो युक्त इति । 'श्वेतो धावती'त्यादायेकदा श्वेतवर्णो धावति. श्वा = कुकुर इतो धावती'-

- नव्य नैयायिक का उक्त कथन असंगत है । इसका कारण यह है कि नानार्थवाचक एक पद से एक काल में अनेक अर्थ के बोध के अनुदय के निर्वाह के लिए प्रदर्शित न्याय का आश्रयण करना आवश्यक ही है । नव्य नैयायिक मनीषियों ने जो कहा था कि —> 'प्रकरणादि से ही नानार्थक पद की शक्ति का अर्थविशेष में नियमन भुमकिन होने से उसके लिए 'सकृदुच्चरित... न्याय का आलंबन करना नामुनासिब है' <- वह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रकरण आदि अननुगत होने से अर्थविशेषविषयक शब्द बोध के प्रति पदशक्तिसहकारिकारणता प्रकरणादि में संभवित नहीं है । मतलब यह है कि अनेकार्थक पद की अर्थविशेषनिष्ठ शक्ति का नियमन कभी प्रकरण से, तो कभी संयोग से, तो कभी विभाग से, तो कभी आभिमुख्य आदि से होता है । प्रकरण, संयोग, विभाग, आभिमुख्य आदि में कोई अनुगत धर्म नहीं है, जिसकी अपेक्षा प्रकरणादि में प्रतिनियतार्थविषयक शब्दबोध के प्रति अनेकार्थकपदशक्ति का नियमन हो सकेगा । प्रकरण आदि अननुगत होने से तादृश-शक्तिनियमनस्वरूप कार्य में व्यतिरेकव्यभिचार प्रसक्त होता है । अतः तादृशशक्तिनियमनार्थ 'सकृदुच्चरित...' न्याय का आश्रयण संगत ही है ।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> "नानार्थक पद की अर्थविशेषनिष्ठ शक्ति का नियमन प्रकरण, संयोग, विभाग, आभिमुख्य आदि में तात्पर्यग्राहकत्वस्वरूप अनुगत धर्म से मुमकिन होने से तदर्थ 'सकृदुच्चरित...' न्याय का आश्रय करना असंगत है । आशय यह है कि प्रकरण, संयोग, विभाग आदि में प्रकरणत्व, संयोगत्व, विभागत्व आदि धर्म अननुगत होने पर भी तात्पर्यग्राहजनकत्वस्वरूप धर्म अनुगत है, क्योंकि वे सभी वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान करा के ही अर्थविशेष में नानार्थक पद की शक्ति का नियमन कराते हैं । 'सैन्धवमानय' इत्यादि स्थल में भोजनप्रकरण 'लवणविषयक शब्दबोध कराने के अभिप्राय से सैन्धव पद यहाँ प्रयुक्त है' ऐसा तात्पर्यग्राह उत्पन्न करता है । 'घटमपनय' यहाँ संयोग ही घटपद की समीपस्थ घट में शक्ति का, 'घटपद से समीपवर्ती घट का श्रोता को बोध हो, इस अभिप्राय से वक्ता ने घटपद का प्रयोग किया है', ऐसा तात्पर्यज्ञान (= वक्ता की इच्छा का ज्ञान) उत्पन्न कर के नियमन करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रकरण, संयोग आदि तात्पर्यग्राहजनक हैं । अतः तात्पर्यग्राहकत्वस्वरूप धर्म उन सब में अनुगत है । तात्पर्यग्राहकत्वलक्षण अनुगत धर्म से ही प्रकरणादि नानार्थक पद की शक्ति का अर्थविशेष में नियमन कर के अर्थविशेषविषयक शब्दबोध के प्रति पदशक्ति के सहकारी हो सकते हैं । अतः तदर्थ 'सकृदुच्चरित...' न्याय का अवलंबन लेना निरर्थक है ।" <-

❀ तात्पर्यग्राह को शक्तिसहकारी मानने में लाघव - त्याग्यता ❀

तात्पर्य. इति । मगर यह शंका ठीक नहीं होने का कारण यह है कि प्रकरण, संयोग, विभाग आदि को तात्पर्यग्राहक मान कर अर्थविशेषविषयक शब्द बोध के प्रति नानार्थक पद की शक्ति के सहकारी मानने की अपेक्षा लाघव सहकार से तात्पर्यज्ञान को ही उसका सहकारी कारण मानना उचित है । प्रकरणादि को तात्पर्यग्राहकत्वेन = तात्पर्यज्ञानजनकत्व धर्म

इति । एकपदमेकया वृत्त्या एकमेवार्थं बोधयतीति 'सकृदुच्चरिते'त्याद्यर्थ इति तु न युक्तम्, 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इत्यभ्युपगमेनैकया शक्त्याऽप्रत्येकपदस्याऽनेकार्थबोधकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

त्युभयतात्पर्यग्रहे सति 'श्वेतवर्णः कुकुर इतो धावती'त्युभयविषयकशब्दबोधस्य युगपदनुदयनिर्वाह, प्रदर्शितनियमस्याऽऽवश्य-
कत्वम्, अन्यथा हरिपदादुपस्थितयोः सिंहकृष्णयोराधाराधेयभावसम्बन्धेनाऽन्वयबोधप्रसङ्गादिति । एतेन वेदाऽपौरुषेयकल्प-
नाऽपि प्रत्युक्ता, तात्पर्यज्ञानस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दबोधहेतुत्वनिश्चयादिति तात्पर्यम् ।

विद्यानन्दमतमपाकर्तुमुपदर्शयति - एकपदमिति । एकया वृत्त्या = शक्त्या एकमेवार्थं बोधयति = शब्दबोधविषयी-
करोति, इति = एवंप्रकारः, 'सकृदुच्चरिते'त्याद्यर्थः = 'सकृदुच्चरितं पदं सकृदेवार्थं गमयती'ति न्यायार्थः, इति मतं तु
न युक्तम् । तदुक्तमष्टसहस्रां → 'शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य पदस्यैकपदार्थविषयत्वप्रसिद्धेः, सदिति पदस्याऽसदविषय-
त्वात्, असदिति पदस्य च सदविषयत्वादिति' ← (अ.स.पृ. १९७/१) । एतदनुवादरूपेण तद्विवरणे प्रकृतप्रकरणकृद्भिरपि
'एकं पदमेकया वृत्त्या एकमेवार्थं बोधयतीति स्वभावकल्पनादिति' (अ.स.वि.पृ. २०१/१) विवृतम् । एतन्मताऽयुक्तत्वमा-
विष्करोति - 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः, सति तात्पर्ये इति शेषः । इत्यभ्युपगमेन = इतिनियमाऽङ्गीकारेण, एकया एव शक्त्या
= पदशक्त्या, अपि एकपदस्य अनेकार्थबोधकत्वात् = नानाविषयविषयकशब्दबोधजनकत्वात् । 'सति तात्पर्ये सर्वे शब्दाः
सर्वार्थवाचकाः' इतिन्यायेन प्रतिशब्दं सर्वार्थप्रतिपादनशक्त्यैव्यवहारात्मिका वर्तते । अत एव प्रत्येकः शब्दः सर्वदा एकैव
शक्त्या नानार्थबोधजनको न तु भिन्नशक्त्येति सिद्धेः एकं पदं एकया शक्त्या एकमेवार्थं बोधयतीति वक्तुं न पार्थक्ये किन्तु
यथासङ्केतमनेकानर्थानपीति भावः ।

से सहकारी कारण मानने पर कारणताअवच्छेदक तात्पर्यज्ञानजनकत्व धर्म होगा । जब कि तात्पर्यज्ञान को ही सहकारी कारण
मानने पर तात्पर्यज्ञानत्व कारणताअवच्छेदक धर्म होगा । अतः प्रकरण आदि की अपेक्षा तात्पर्यज्ञान को पदशक्ति का सहकारी
मानने में कारणताअवच्छेदक धर्म में लाघव है । इस तरह तात्पर्यज्ञान को ही पदशक्ति का सहकारी मानना आवश्यक है,
तब एक काल में उभय वस्तुविषयक एक पद का तात्पर्य होने पर एक पद से एक काल में उभयविषयक शब्द बोध प्रसक्त
होता है, जिसका निवारण करने के लिए यानी उसके अप्रामाण्य का निर्वाह करने के लिए 'सकृदुच्चरित...' न्याय को मान्यता
प्रदान करना आवश्यक है । जैसे, 'श्वेतो धावति' इस वाक्य के घटक 'श्वेतो' पद 'श्वेतवर्णविशिष्ट का एवं श्व = कुकुर,
इतः = यहाँ से' ऐसा उभयविषयक बोध के तात्पर्य से प्रयुक्त है - ऐसा उभयविषयक तात्पर्य का ज्ञान होने पर 'श्वेतवर्णविशिष्ट
कुकुर (कुत्ता) यहाँ से दौड़ता है' ऐसे शब्द बोध की अस्वाभाविकता - अप्रामाण्य के लिए 'सकृदुच्चरित...' न्याय आवश्यक
है, जो 'एक पद एक काल में शक्यताअवच्छेदकताअवच्छेदकीभूत सम्बन्ध से अवच्छिन्न एकधर्मनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता
के अवगाही शब्द बोध का जनक है' इस नियम का विधान करता है । अब श्वेतत्व और कुकुरत्व, इन दो धर्म से निरूपित
विशेष्यता के अवगाही तादृश शब्द बोध की अप्रामाणिकता सिद्ध हो सकती है । अतः 'सकृदुच्चरितं पदं सकृदेवार्थं गमयति'
यह न्याय प्रामाणिक है - यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

❀ 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' प्रवाद का स्याद्वाद में स्वीकार ❀

एकप. इति । अन्य विद्वान् मनीषिओं की यह मान्यता है कि → 'सकृदुच्चरित...' इस न्याय का फलितार्थ यह है
कि एक पद एक शक्ति से एक ही अर्थ का बोध करता है, न कि अनेक अर्थ का' ← मगर यह ठीक नहीं है । इसका
कारण यह है कि 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये' यह न्याय स्याद्वादमत में स्वीकृत है । मतलब कि प्रत्येक पद
सभी अर्थ का बोध कराता है । इससे यह सिद्ध होता है कि एक पद एक शक्ति से भी अनेक अर्थ का बोध करा सकता
है । जैसे चौर शब्द से गुजरात में चोरी करने वाले का बोध होता है, मगर उसीसे दक्षिणदेश में (कालविशेष की अपेक्षा)
पके चावल का बोध होता है । अभी तामिलनाडु में सोरशब्द पक्व चावल का बोध कराता है । मालूम होता है कि चीरशब्द
का तामिल भाषा में अपभ्रंश होकर सोर शब्द बना हो । हिन्दी भाषा में भी यह प्रसिद्ध है । जैसे 'और आगे बढ़ो', राम
और सीता' इत्यादि स्थल में और शब्द से क्रमशः 'अधिक' एवं 'समुच्चय' - इन दो अर्थ का बोध होता है । एक ही शब्द
एक शक्ति से अनेक अर्थ का शब्द बोध कराता है - इस विषय में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । इसलिए 'एक
शब्द एक शक्ति से एक ही अर्थ का बोध कराता है' - ऐसा मानना असंगत है । हाँ, एक शक्ति से एक पद एक काल
में अनेक अर्थ का बोध नहीं करा सकता है । इसीलिए तो 'सकृदुच्चरित...' न्याय का आशय करना जरूरी है ।

न चैवं लक्षणाद्युच्छेदः; नियन्त्रितसङ्केताऽसम्भवे तदवकाशात् । न च घटत्व-पटत्वादिना शक्तिकल्पने गौरवम्; प्रमेयत्वेनैव तत्कल्पनात्, तत्तद्धर्मेण बोधस्य सङ्केतविशेषनियम्यत्वात् ।

✽ न्यायलता ✽

नन्वेकया वृत्त्यैकपदस्याऽनेकार्थबोधकत्वे तु गतं लक्षणया; पदशक्त्या एवाभिमतार्थबोधसिद्धेरिति शङ्कामपनोदयितुमाह- न चेति । एवं = एकया शक्त्याऽप्येकपदस्याऽनेकार्थबोधकत्वसम्भवे । लक्षणाद्युच्छेदः इति । आदिशब्देन व्यञ्जनापरिग्रहः । तदनुच्छेदे हेतुमाह- नियन्त्रितसङ्केताऽसम्भवे = कोशादिनियमितसङ्केतविरहे, तदवकाशात् = लक्षणाद्यात्मलामसम्भवात् । यथा गङ्गापदस्य जलप्रवाहविशेषे कोशादिना सङ्केते कृते ततः तत्तीरे सङ्केताऽसम्भवे गङ्गाधदस्य गङ्गातीरे लक्षणा तात्पर्यानुपपत्त्यादितः सम्भवति ।

नन्वेकपदस्यैकया शक्त्या नानार्थबोधकत्वे घटत्ववत् पटत्व-कटत्वादावपि घटपदशक्त्यावच्छेदकत्वकल्पनागौरवमतिरिच्येतेति शङ्कामपहस्तयितुमाह- न चेति । घटत्व-पटत्वादिना शक्तिकल्पने = घटत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नाया घटपदशक्त्याः कल्पने, गौरवं = शक्यतावच्छेदकत्वगौरवम् । तदपोहे हेतुमाह - प्रमेयत्वेनैवेति । एवकारेण प्रमेयत्वव्याप्यघटत्व-पटत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः । तत्कल्पनात् = घटपदशक्तिकल्पनात् । प्रमेयत्वस्यैव प्रत्येकपदशक्त्यावच्छेदकत्वे तु घटपदात् घटत्ववत् पटत्वादिनाऽपि शब्दबोधस्य दुर्निवारत्वम्, प्रमेयत्वव्याप्यत्वाऽविशेषादित्याशङ्कयामाह- तत्तद्धर्मेण बोधस्य = प्रातिस्विकधर्मावच्छिन्नप्रकारताक-शब्दबोधस्य, सङ्केतविशेषनियम्यत्वात् = तत्तत्सङ्केतनियन्त्रितत्वात् । एतेनैकशब्दस्याऽनेकार्थप्रतिपादने शक्तिसद्भावे एकस्मादपि पदात् समसमयं नानार्थप्रतीतिप्रसक्तेः प्रतिनियते वस्तुनि प्रवृत्तिर्न प्राप्नोतीति प्रत्याख्यातम्, शब्दस्याऽनेकार्थप्रतिपादने नैसर्गिकशक्तिसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । अनुभूयते हि एकस्यापि पदस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतः । यथा गूर्जरादौ चौरशब्दस्य तस्करं द्रविडादौ पुनरोदन इति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्याऽपि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरसामर्थ्याच्च सन्निहिते रूपे विशिष्टाऽञ्जनादिवशादन्धकारान्तरितेऽपि काचकामलादिदूषणबलाच्च विवक्षितरूपाऽभावेऽपि ज्ञानजनकत्वम् । ततो यथाऽनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्याऽपि चक्षुषो दूरतिमिरादिप्रतिनियतसन्निहितरूपादिविज्ञानजनकत्वं तथाऽनेकार्थप्रतिपादनयोग्यस्याऽपि शब्दस्य प्रतिनियतपदार्थप्रतिपादकत्वं सङ्केतसा-

✽ लक्षणा का अवकाश - व्याख्याती ✽

न चैवं ल. इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> “एक ही शब्द में अनेक अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शक्ति मानने पर तो लक्षणादि का उच्छेद ही हो जायेगा । वह इस तरह ‘गंगायां घोषः’ यहाँ गंगापद में जैसे जलप्रवाहविशेष की प्रतिपादक शक्ति है, ठीक वैसे ही गंगानदीतट की बोधक शक्ति भी रहती है - ऐसा मानने पर तो गंगातट भी गंगापद का शक्यार्थ बन जायेगा । इस तरह गंगापद से गंगातट का बोध गंगापद की शक्ति से ही हो जाता है तब तो लक्षणा का आश्रय करना जरूरी नहीं है । लक्षणा का अवकाश तब हो सकता है जब कि शक्यार्थ का अवलंबन करने पर अन्य की या तात्पर्य की अनुपपत्ति हो । मगर एक शब्द में सर्वार्थप्रतिपादक शक्ति मानने पर तो लक्षणा के बिना भी वक्ता के अभिमत अर्थ का पदशक्ति से बोध हो सकता है । अतः ‘सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः’ इस न्याय को मान्यता देने पर तो लक्षणा का उच्छेद ही हो जायेगा” <— मगर इसका समाधान यह है कि प्रत्येक पद में सर्वार्थप्रतिपादक शक्ति होने पर भी श्रोता विवक्षित पद में जिस संकेत का ग्रहण करेगा उसी अर्थ का पदशक्ति से बोध होता है । जब विवक्षित शब्द में कोशादि से नियन्त्रित संकेत का असंभव होता है, तब लक्षणा का भी अवकाश है । जैसे ‘गंगायां घोषः’ यहाँ गंगापद का संकेत, जो कोशादि से नियन्त्रित है, जलप्रवाहतट में असंभव है । अतएव गंगापद की गंगातट में लक्षणा का अवकाश है । यहाँ यह शंका हो कि —> “एक पद की शक्ति सब अर्थ में मानने पर तो शक्यतावच्छेदक धर्म में गौरव होगा । वह इस तरह - घटपद की शक्ति घट, पट आदि अनेक अर्थ में मानने पर शक्यतावच्छेदक घटत्व, पटत्व आदि अनेक धर्म बनेंगे, न कि केवल घटत्व । अतः अनेक धर्म में शक्यतावच्छेदकता की कल्पना का गौरव होगा” <— तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि घटपद की शक्ति सब अर्थ में रहने पर भी घटपदशक्यतावच्छेदकता तो प्रमेयत्वावच्छेदेन ही मानी गई है । प्रमेयत्वावच्छेदेन घटपद की शक्ति मानने पर भी घटपदजन्य शब्दबोध प्रमेयत्वरूप से अवच्छिन्न प्रकारता का अवगाहन नहीं करता है, किन्तु संकेतविशेष से नियन्त्रित धर्मविशेष से अवच्छिन्न प्रकारता का ही अवगाहन करता है । अतएव प्रवृत्ति आदि की अनुपपत्ति को भी अवकाश नहीं है, क्योंकि संकेतविशेष की वजह नियतरूप से अर्थ विशेष का

न चैवं शक्तिरन्तर्गद्विरिति वाच्यम्, वाच्यवाचकभावप्रतिनियमाय तत्कल्पनमित्याद्याकरे स्पष्ट-
त्वात् ।

न च शब्दत्वेनैवाऽस्तु वाचकता प्रमेयत्वेन च वाच्यता, तथापि शब्दादेवाऽर्थबोधोऽर्थात्तु
न (तत्) कुतः ? इति पर्यनुयोगस्य वाच्यवाचकभावप्रतिनियामकशक्त्यनभ्युपगमे दुरुद्धर-

✽ जयलला ✽

चिन्त्यात्सम्भवत्येव ।

ननु शक्तिरूपस्वाभाविकं शब्दसम्बन्धं कल्पयित्वाऽपि प्रातिस्निकधर्मप्रकारकप्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या तद्व्यञ्जकस्य सङ्केत-
स्याऽवश्याऽऽश्रयणीयत्वे तु कृतं सर्वार्थगोचरप्रत्येकशब्दशक्तिकल्पनया, सङ्केतेनैव तदुपपत्त्यात् । तत्परिकल्पने वा न कस्यचि-
त्सङ्केतापेक्षा स्यात्, तन्मात्रेणैव शब्दस्याऽर्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः । न चैवमस्ति; सङ्केतमपास्य विपश्चितोऽपि शब्दादर्थप्रतीतेर-
नुपपत्तेः । किञ्च क्वचिदेशविशेषे कश्चिच्छब्दो देशान्तरप्रसिद्धमर्थमुत्सृज्य ततोऽर्थान्तरे प्रयुज्यते, यथा कुमारशब्दः पूर्वदेशे
आश्विनमासे रूढः कर्कट्यादयः शब्दाश्च देशविशेषे योन्यादिवाचकाः । यथेच्छं च शब्दः पुत्रादिषु नियुज्यते । स्वाभाविक-
सम्बन्धसद्भावे त्वेकैकार्थनियतत्वमेव सर्वदा वा सर्वार्थवाचकत्वं प्रसज्येतेति शक्तिकल्पनमनतिप्रयोजनमित्याशङ्कामपनोदयितुमुप-
दर्शयति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । एवं = सङ्केतकल्पनायाः अवश्यकलुप्तत्वे, शक्तिः = सर्वार्थगोचरस्वाभाविक-
शब्दसम्बन्धः अन्तर्गदुः = निरर्थिका, सङ्केतेनैवाऽर्थसिद्धेः ।

दर्शितशङ्काया अश्रद्धेयत्वमाविष्करोति - वाच्यवाचकभावप्रतिनियमायेति । अर्थस्य वाच्यत्वमेव, शब्दस्तु तद्वाचक एवे-
तिनियमायेति । तत्कल्पनं = स्वाभाविकशक्तिकल्पनम् । आकरे = स्याद्वादरत्नाकरे । तदुक्तं स्याद्वादरत्नाकरे 'सङ्केत-
बलादेव तत्र तदुपपत्तेरिति, तदसत्, सङ्केतो हि पुरुषाधीनवृत्तिः । न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते, अन्यथा तदिच्छाया
अव्याहतप्रसरत्वादर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति शब्दश्च वाच्यः ? सुकरमेव हीदं वक्तुमस्य शब्दस्याऽयमर्थो वाचकोऽस्य
चाऽर्थस्याऽयं शब्दो वाच्य इति । न चैवमस्ति । किञ्चेच्छया वस्तुनियमेऽनिच्छतः पुरुषस्य न धूमादपि बह्वेः प्रतीतिः स्यात्,
इच्छतस्तु जलस्याऽपि ततः सा स्यात् । तत्र यथा धूमान्योः नैसर्गिक एवाऽविनाभावो नाम सम्बन्धः तत्प्रतिपत्तये चोपलम्भादिकं
निमित्तमाश्रीयते । एवं सांसिद्धिक एव शब्दार्थयोः शक्त्यात्मा सम्बन्धः, तत्प्रतीतये सङ्केतसमाश्रयणम् । 'शक्त्यभावेऽपि
शब्दस्यैव वाचकत्वे योग्यत्वान्न वाच्यवाचकभावनैयत्यमि'ति चेत् ? तर्हि किमिति कलहायसे ? भवताऽपि योग्यत्वशब्देन शक्तेरेव
स्वीकारात्' (स्या.रत्ना. ४/१६) इति ।

परकीयशङ्कामपाकर्तुमुपदर्शयति - न चेति । तां निराकरोति - तथापीति । विभावितार्थमेवेति न पुनः तन्यते । एतद्-
विस्तरस्तु बुभुक्षुभिः 'स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्द इति' (प्र.न.त.४/११) इति प्रमाणनयतत्त्वाल्लोका-
लङ्कारसूत्रव्याख्याने स्याद्वादरत्नाकरे रत्नाकरावतारिकायाञ्च ज्ञातव्यः ।

बोध हो सकता है । यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि → “नियत अर्थ में नियन्त्रित संकेतविशेष से अर्थविशेष
के बोध की कल्पना करने पर प्रत्येक पद में सर्वार्थविषयक शक्ति की कल्पना निरर्थक बन जायेगी । आशय यह है कि
प्रत्येक पद में सर्वार्थविषयक शक्ति मानने पर भी अर्थविशेषविषयक शब्दबोध की उपपत्ति के लिए संकेतविशेष की कल्पना
आवश्यक ही है । तब तो अच्छा यही है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहार के जनक अर्थविशेषविषयक शब्दबोध के नियामक
संकेतविशेष की ही कल्पना की जाय । शक्ति की कल्पना अनावश्यक है ।” ← यह शंका अनुचित होने का कारण यह
है कि शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचकभाव का नियमन शक्ति के बिना अनुपपन्न है । शब्द में वाचकता है और अर्थ में
वाच्यता है - यह तभी संगत हो सकता है, यदि शब्द में अर्थप्रतिपादक स्वाभाविक शक्ति का अंगीकार किया जाय । यह
विषय स्याद्वादरत्नाकर ग्रन्थ में स्पष्टरूप से विवेचित है । यद्यपि शक्ति का, जो शब्दनिष्ठ है, अंगीकार किये बिना भी शब्दत्वावच्छेदेन
वाचकता और प्रमेयत्वावच्छेदेन वाच्यता का अंगीकार हो सकता है, तथापि शब्द से ही अर्थबोध क्यों होता है, अर्थ से
शब्द बोध क्यों नहीं ? इस समस्या का समाधान शब्द में शक्ति की, जो वाच्य-वाचकभाव की नियामक है, कल्पना के
बिना मिलना मुश्किल है । शब्द में अर्थप्रतिपादक स्वाभाविक योग्यता = शक्ति का स्वीकार करने पर ही यह कहा जा
सकता है कि शब्द ही अर्थबोधक है, क्योंकि उसीमें अर्थप्रतिपादक शक्ति रहती है । अर्थ में तादृश स्वाभाविक योग्यता
न होने की वजह उससे अर्थबोध नहीं होता है । सकलादेश में कालादि आठ की अपेक्षा अभेदप्राधान्य का पूर्व में निरूपण

त्वात् । कालाद्यष्टकस्वरूपश्च^१ श्रीपूज्यलेखादवसेयम् । अधिकतर्काः त्वत्रत्याः मत्कृत^२ सप्त-
भङ्गीतरङ्गिणीतोऽवसेयाः ।

ननु भवतु कदाचिदन्त्यस्य वस्तुनो नित्याऽनित्यत्वं, प्रदीपादेस्तु सर्वथाऽनित्यत्वमेवो-
चितमिति चेत् ? न, प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनाद्, द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वात् ।

अथैवं तमसो द्रव्यत्वं स्यादिति चेत् ? स्यादेव । 'स्यादेव तथापि परमतप्रवेशः, तमस

❀ नयलता ❀

कालाद्यष्टकस्वरूपश्चेति । अस्माभिः रत्नाकरवचनोल्लेखादत्रोपदर्शितमेव । श्रीपूज्यलेखादिति । नाऽयं साम्प्रतमुप-
लभ्यते । अधिकतर्काः तु अत्रत्याः सप्तभङ्गीगोचराः मत्कृतसप्तभङ्गीतरङ्गिणीत इति । प्रकृतप्रकरणकृद्विनिर्मितेयं प्रकरण-
मञ्जूषाऽपि साम्प्रतं न दृग्गोचरीभवति, सप्तभङ्गीनयप्रदीपाभिधानः तत्कृतः संक्षिप्तः ग्रन्थस्तूपलभ्यत एव । एतद्विस्तरार्थिभि-
रधुनाऽष्टसहस्रीविवरण-स्याद्वादकल्पलता-नयोपदेशाऽनेकान्तव्यवस्थादयो निभालनीया निपुणतरम् ।

उपनिषदनेकान्तस्योक्तं सङ्केपतोऽधुना ।

विदुषां भातु कण्ठे तत् सप्तभङ्गीविभूषणम् ॥१॥

तमोद्रव्यत्ववादोपोद्धातसङ्गतिमाविष्करोति- नन्विति । भवत्विति । अभ्युपगमवादेनेदं बोध्यम्, अन्यथा एकान्तवादिभिः
कुत्राऽपि नित्याऽनित्यत्वयोः सम्भिन्नत्वाऽनुपगमात् । प्रदीपादेस्तु, आदिशब्देन शब्दादेर्ग्रहणम् । सर्वथाऽनित्यत्वमेव =
नित्यत्वाऽसम्भिन्नाऽनित्यत्वम् । एवकारेण नित्यत्वसमानाधिकरणाऽनित्यत्वव्यवच्छेदः कृतः । साक्षादेव सर्वथातत्क्षयित्वोपलम्भा-
दिति भावः ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे- नेति । प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनादिति । अत्रैव हेतुमाह- द्रव्यार्थतया
ध्रुवत्वादिति । अयं भावः प्रदीपपर्यायाऽऽपन्नाः तैजसाः परमाणवः स्वभावतः तैलक्ष्याद् वाताभिधाताद्वा ज्योतिष्पर्यायं परित्यज्य
तमोरूपं पर्यायान्तरमाश्रयन्तोऽपि नैकान्तेनाऽनित्याः, पुद्गलरूपतयाऽवस्थितत्वात्तेषाम् । सर्वेषां हि भावानां पर्यायार्थनयेनाऽ-
नित्यत्वेऽपि द्रव्यार्थदिशेन नित्यत्वाऽनतिलङ्घनात् । ततः प्रदीपादेरेकान्ताऽनित्यत्वमिति प्रलापमात्रम् । तदुक्तं मूलकारैरपि अन्य-
योगव्यवच्छेदद्वित्रिंशिकायां - 'आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु । तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदा-
ज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ (अन्य.पो.व्य.श्लो.५) इति । एतेन भावात्मको दीप आलोकाभावात्मकान्धकारस्वरूपतां प्रतिपद्यत इति
प्रत्युक्तम्, दीपस्याऽन्धकारपरिणामस्याऽपि सर्वथाऽभावात्मकत्वविरहात्, भास्वरपरिणामपरित्यागेऽपि द्रव्यत्वाऽपरित्यागात् ।

परः शङ्कते- अथेति । एवं = प्रदीपपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणामेऽभ्युपगते सति, तमसः द्रव्यत्वं स्यादिति । तत्तत्प-
रिणामानुस्यूतपरिणामित्वस्य द्रव्यत्वव्याप्यत्वादिति भावः । स्याद्वादीष्टापत्तित्वेन तदङ्गीकरोति स्यादेवेति । तस्य द्रव्यत्वमभि-
मतमेवेत्यर्थः । स्याद्वादिप्रत्युत्तराकर्णनाऽनन्तरं परः प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवतिष्ठते - स्यादेव तथापि परमतप्रवेश इति । तमसः

किया गया है, उन काल आदि आठ का स्वरूप 'श्रीपूज्यलेख से ज्ञातव्य है । सप्तभङ्गी के विषय में अधिक तर्क का निरूपण
'सप्तभङ्गीतरङ्गिणी ग्रन्थ से ज्ञातव्य है, जो मैंने (प्रकरणकार महोपाध्यायजी महाराज ने) बनाया है ।

❀ प्रदीपादि भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य ❀

ननु भ. इति । यहाँ यह कहा जाय कि → "घट, पट आदि वस्तु में प्रागुक्त रीति से नित्याऽनित्यत्व का स्वीकार
किया जाय तो भी इससे सब पदार्थ नित्याऽनित्य सिद्ध नहीं होते हैं । इसका कारण यह है कि दीप, बिजली, शब्द आदि
का तो सर्वथा ही नाश होता है । अतः वे एकान्ताऽनित्य माने जाँय यही उचित है, न कि नित्याऽनित्य" ← तो यह
ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि दीप का तैलक्ष्य आदि से सर्वथा नाश नहीं होता है, किन्तु अन्धकाररूप से परिणमन
होता है । वस्तुमात्र का सर्वथा नाश नहीं होता है, किन्तु पर्यायविशेषविशिष्टरूप से नाश होता है, द्रव्यात्मना तो वस्तुमात्र
में ध्रुवत्व = नित्यत्व अबाधित है । अतः प्रदीप आदि भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्यत्वरूप से नित्य है ।

यहाँ यह कहा जाय कि → "प्रदीप आदि का अन्धकाररूप से परिणमन माना जाय तब तो अन्धकार भी द्रव्य बन
जायेगा । आशय यह है कि जैसे 'दूध का परिणाम दही है' ऐसा कहने पर दही द्रव्यस्वरूप सिद्ध होता है, न कि अभावात्मक ।

१. साम्प्रत काल में ये दोनों ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं । संभव है किसी भाण्डागार में सुरक्षित हों ।

उत्पत्तौ प्रदीपादेरवश्यं विपत्तेस्तस्य प्रदीपादेऽव्यवस्यस्यऽभ्युपगमादि'ति चेत् ? न,
भावाऽभावकरम्बितैकवस्तुनः परैरनभ्युपगमात् ।

तेजसोऽतिनिवृत्तिरूपता, स्वीकृता तमसि या कणाशिना ।
द्रव्यतां वयममी समीक्षिणस्तत्र परमवलम्ब्य चक्ष्महे ॥१॥

❀ अथानुपपत्तिः ❀

प्रदीपपरिणामत्वाऽभ्युपगमेऽपि नैयायिकादिमतप्रवेशः स्यादेवेत्यर्थः । अत्रैव हेतुमाह- तमसः उत्पत्तौ प्रदीपादेरवश्यं विपत्तेरिति । अवश्यमन्धकारोत्पत्तिप्रयोज्यप्रदीपानुपलब्धेरिति । 'ततः किम् ?' इत्याशङ्कायां परः प्राह- तस्य = अन्धकारस्य, प्रदीपादि-ध्वंसरूपस्याऽभ्युपगमादिति । स्याद्वादिना त्वयेति शेषः । अयं पराशयः, 'यदुत्पत्तौ कार्यस्याऽवश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः' (प्र.न.त. ३/५७) इति सूत्रेणाऽन्धकारोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य प्रदीपस्य प्रध्वंसाभावः तमः इति सिध्यति । एवं स्याद्वासिद्धान्तेनाऽपि तमसोऽभावरूपता सिद्ध्यति । तस्याऽभावात्मकत्वे सिद्धे ध्रुवो नैयायिकादिमतप्रवेशः स्याद्वादिनः; परेणाऽन्धकारस्य तेजोऽभावरूपताऽङ्गीकारादिति तन्निरासकृते प्रदीपादेरेकान्ताऽनित्यत्वमेव श्रेयः स्याद्वादिनोऽपीतो व्याघ्र इतस्तदी'ति न्यायादिति ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे- नेति । यथा कपालस्य घटध्वंसत्वेन रूपेणाऽभावात्मकत्वेऽपि द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वादिना भावात्मकता-ऽबाधिता तथैव तमसः प्रदीपध्वंसत्वेन रूपेणाऽभावात्मकत्वेऽपि द्रव्यत्वादिना भावात्मकता-ऽबाधितैवेति तमसोऽपि भावाऽभावोभयात्मकत्वमव्याहतम् । न चैवं परैः स्वीक्रियते । अत एव नाऽन्यमतप्रवेशप्रसङ्ग इत्याशयेनाऽऽह- भावाऽभावकरम्बितैक-वस्तुनः = भावानुविद्धाभावलक्षणवस्तुमात्रस्य, परैः = नैयायिक-कणादादिभिः अनभ्युपगमादिति । ततः प्रदीपादेः द्रव्यात्मना स्थिरत्वोपगमेऽपि न परमतप्रवेश इति सिद्धम् ।

ननु तमसस्तेजोऽभावरूपताऽङ्गीकारेणोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अनुचितत्वात्, गौरवात्, प्रमाणाभावात् । तस्य द्रव्यत्वाऽसिद्धौ कुतः तद्व्यापकं नित्यत्वं प्रदीपादेः सिद्धिसौधमध्यास्ते ? इति पराऽऽशङ्कां पद्येनाऽपहस्तयति- तेजस इति । तद्व्याख्यालेशस्त्वेवम् - कणाशिना = कणादेन वैशेषिकदर्शनप्रणेत्रा तमसि = अन्धकारे या तेजसः द्रव्यस्य अतिनिवृत्ति-रूपता = संसर्गाभावात्मकता स्वीकृता तत्र = तमसि द्रव्यतां = द्रव्यान्तरत्वं समीक्षिणः अमी वयं = स्याद्वादिनः पत्रं

वैसे ही 'प्रदीप का परिणाम अन्धकार है' ऐसे कहने-मानने पर अन्धकार भी द्रव्यात्मक हो जायेगा । अतः अन्धकाररूप से दीप का परिणामन मानना युक्तिसह नहीं है' <— तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि स्याद्वादियों ने अन्धकार को तेजाऽभावात्मक नहीं माना है, किन्तु द्रव्यात्मक भावस्वरूप माना है । अतः अन्धकार में द्रव्यत्व का आपादन वस्तुतः अनिष्ट आपत्तिरूप नहीं है, किन्तु इष्टापत्तिस्वरूप ही है । यहाँ यह कहा जाय कि —> "अन्धकार को द्रव्यस्वरूप मानने पर भी नैयायिक आदि मनीषियों के मत में स्याद्वादी का प्रवेश हो जायेगा । इसका कारण यह है कि 'पूर्व में (प्रथम कारिका की व्याख्या के प्रारंभिक ध्वंसस्वरूपविचार के अवसर पर) स्याद्वादी की ओर से यह कहा गया था कि - 'जिसकी उत्पत्ति से 'जिसकी अवश्य अनुपलब्धि प्रयोज्य हो वह उसका ध्वंस है, जैसे कपाल की उत्पत्ति से घट की अवश्य अनुपलब्धि प्रयोज्य होने से कपालोत्पाद ही घटध्वंस है' । वैसे यहाँ अन्धकार की उत्पत्ति होने पर प्रदीप का अवश्य विनाश होता है । अर्थात् प्रदीप की अनुपलब्धि अन्धकारोत्पाद से प्रयोज्य होती है । अतः अन्धकार प्रदीपध्वंसस्वरूप ही सिद्ध होगा । ध्वंस अभाव का ही एक प्रभेद होने से अन्धकार अभावात्मक सिद्ध होता है' <— तो यह मुनासिब नहीं है । इसका कारण यह है कि अन्धकार प्रदीपध्वंसस्वरूप से अभावात्मक होने पर भी द्रव्यत्वरूप से भावात्मक है । यह ठीक उस तरह संगत हो सकता है, जैसे कि कपाल घटध्वंसस्वरूप से अभावात्मक होने पर भी द्रव्यत्व-मृत्वरूप से भावात्मक भी है । इस तरह अन्धकार को भावाऽभावोभयात्मक मानने से नैयायिक आदि परवादी के मत में प्रवेश की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वे वस्तु को भाव-अभाव उभयात्मक नहीं मानते हैं । अतः प्रदीप को भास्वर पर्यायरूप से अनित्य एवं द्रव्यत्वरूप से नित्य मानना ही संगत प्रतीत होता है ।

❀ अन्धकार अभावरूप नहीं है - स्याद्वादी ❀

तेजसा. इति । यहाँ महामहोपाध्यायजी का कहना है कि कणाद ने जिस अन्धकार को अत्यन्ताभावस्वरूप माना है,

तत्र तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानम् । न च तदेवाऽसिद्धम्; 'तमो नीलमि'तिप्रतीतेः
सार्वजनीनत्वात् । न च सा भ्रमः, बाधकाभावात् । न च उद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शव्याप्यम्,

✽ नयलता ✽

= प्रमाणं अवलम्ब्य = आश्रित्य चक्ष्महे = तन्महे । पत्रलक्षणं तु 'प्रसिद्धावयवं वाक्यं, स्वेष्टस्याऽर्थस्य साधकम् । साधु
गूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम् ॥' इति परीक्षकाः समामनन्ति । यथा परैः तमसः तेजोऽभावरूपतासाधनार्थं पञ्चावयविवाक्यमुपदर्शयते
तथैवाऽस्माभिरपि तस्य द्रव्यत्वसिद्धिकृते पञ्चावयविपरार्थानुमानमुपन्यस्यते इति भावः । एतेन प्रमाणाभावान्न तमसो द्रव्यान्तर-
त्वमिति प्रत्युक्तम् ।

'मानाधीना मेयसिद्धिः न तु वचनमात्रादिति' न्यायेन तमोद्रव्यत्वसाधकं प्रमाणमेवाविष्करोति- तत्रेति । रूपवत्त्व-
मेवेति । तथा च तमो द्रव्यं रूपवत्त्वादित्यनुमानं तमसो द्रव्यत्वे प्रमाणमिति सूचितम् । प्रकृते एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थो
बोध्यः । ततः कर्माद्याश्रयत्वादेरपि तत्त्वे न श्रुतिः । अत्र स्वरूपासिद्धिरङ्गाण्यनेदमित्यनुमुपदर्शयति । न चेति । तदेव =
रूपवत्त्वमेव, असिद्धं = हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन पक्षाऽवृत्तिः । तन्निरासे हेतुमाह- 'तमो नीलमि'ति प्रतीतेरिति । इदञ्चोपलक्षणं
'तमश्चलती'त्यादिप्रतीतेः । तदुक्तं मीमांसकैरपि - 'तमः खलु चलं नीलं पराऽपरविभागवत् । प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यात् नवभ्यो
भेत्तुमर्हति ॥ () इति । न च सा = 'तमो नीलं' इति प्रतीतिः, भ्रमः = तदभावयति तत्प्रकारकत्वाऽवगाहिनी 'नीलं
नभ' इतिवत् । अत्र हेतुमाह- बाधकाभावादिति । अयं भावः 'इदं रजतमि'ति भ्रमानन्तरं 'नेदं रजतमि'ति बाधनिश्चया-
देव पूर्वतनप्रतीतिर्भ्रमत्वं कल्पयते न तूत्तरकाले बाधनिश्चयाऽभावे, अन्यथा घटादिविषयकप्रतीतीनामपि भ्रमत्वकल्पनाऽऽपत्त्या
शून्यवादप्रवेशाप्रसङ्गात् । प्रकृते च 'तमो न नीलमि'ति उत्तरकाले बाधज्ञानाभावान्नैव प्रतीतिर्भ्रान्तत्वम् ।

परकीयबाधाशङ्कामपहस्तयितुमुपदर्शयति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । उद्भूतरूपं उद्भूतस्पर्शव्याप्यमिति ।
अन्वयश्चाऽस्याऽग्रे- 'तथा च तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक' इत्यत्र । अयं नैयायिकाद्याशयः - पृथ्व्यादौ
उद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वं निश्चितम् । ततश्च यदि 'तमो नीलमि'ति प्रतीत्या तमसि उद्भूतरूपमङ्गीक्रियेत तदा तत्र
तद्रूपव्यापक उद्भूतस्पर्शोऽपि स्यात् । न च तत्रोद्भूतस्पर्शस्पर्शान्नप्रत्यक्षमनुभूयते । तथा च व्यापकीभूतोद्भूतस्पर्शविरहादेव तत्रो-
द्भूतरूपाभावः सिध्यति । अनुद्भूतरूपञ्च नोपगन्तुमर्हति प्रमाणविरहात् । विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वात्तत्र रूपत्वा-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसिद्धिः । अतः 'तमो नीलमि'ति प्रतीतेः 'नीलं नभ' इतिप्रतीतिवद् भ्रमत्वमेवास्थेयमिति स्थितम् ।

ननुद्भूतरूपं नोद्भूतस्पर्शव्याप्यम्, इन्द्रनीलमणेः तैजसत्वेन तत्प्रभायाः स्वभावतः शुभ्रत्वात्, तत्र नीलिमाप्रतीत्युप-
पत्तये इन्द्रनीले उद्भूतस्पर्शशून्यनीलभागानुस्यूत्या आवश्यकत्वात्, तत्रैवोद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वात् । अतः तमस्युद्भूत-

उसी अन्धकार में द्रव्यत्व का समीक्षण करने वाले हम प्रमाण (= पत्र) का अवलम्बन कर के बोलते हैं । पञ्चावयवी (प्रतिज्ञा,
हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन से घटित) वाक्य पत्र कहा जाता है । मतलब कि अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि हम
यूँही नहीं करते हैं, किन्तु प्रमाण के बल से करते हैं । वह प्रमाण प्रस्तुत में अनुमान है । जैसे 'अन्धकार द्रव्यस्वरूप
है, क्योंकि वह (नील) रूप का आश्रय है । जो रूप का आश्रय होता है, वह द्रव्यस्वरूप होता है, जैसे घट । अन्धकार
में रूपात्मक हेतु की असिद्धि नहीं है, क्योंकि 'तमो नीलं' = 'अन्धकार नील होता है' इस सार्वजनिक प्रतीति से अन्धकार
में रूप सिद्ध है । अन्धकार में नीलत्व (= नील रूप) की प्रतीति भ्रमात्मक नहीं है, क्योंकि अन्यविध प्रतीति से उसका
बाध नहीं होता है ।

✽ उद्भूतरूपव्याप्य उद्भूतस्पर्श की अवधकार में आपत्ति ✽

न चोद्. इति । यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि → "उद्भूत रूप उद्भूत स्पर्श का व्याप्य है । अतः अन्धकार
में उद्भूत रूप मानने पर उसमें उद्भूत स्पर्श की भी आपत्ति होगी । इसलिये यह आपत्ति ही अन्धकार के नीलरूपवान होने
में बाधक है । अतएव 'नीलं तमः' इस प्रतीति को भ्रमात्मक मानना आवश्यक है । इस स्थिति में अन्धकार में द्रव्यत्व
की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि रूपवत्त्वस्वरूप हेतु स्वरूपाऽसिद्ध है । अतः लाघव तर्क के सहकार से अन्धकार को तेजोऽभावस्वरूप
मानना उचित है ।

इन्द्र. इति । यदि यह कहें कि - 'इन्द्रनील मणि की प्रभा तैजस द्रव्य होने से स्वभावतः शुभ्र है, किन्तु उसमें
नीलिमा की प्रतीति होती है । उसके अनुरोध से उस प्रभा में उद्भूत स्पर्श से शून्य किसी नील द्रव्य की अनुस्यूति मानना
आवश्यक है । उस नील द्रव्य में उद्भूत रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी है, क्योंकि उस द्रव्य के उद्भूत स्पर्श का भान नहीं

इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणारोपेणैव तत्प्रभायां नीलधीनिर्वाहाद् गौरवाद्वा कल्प्यत इति न तत्र व्यभिचारः; कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारः, तथापि स्मर्यमाणारोपेणैव बहिःपीतधीनिर्वाहात्,

❀ जयलता ❀

रूपसत्त्वेऽपि नोद्भूतस्पर्शापादनसम्भवः, आपादकविरहादिति स्याद्वाद्याशङ्कामपाकर्तुं पर आह- इन्द्रनीलप्रभासहचरितनील-भागस्त्विति । अस्य 'न कल्प्यत' इत्यनेनाऽन्वयः । तदकल्पने हेतुमाह- स्मर्यमाणारोपेणैवेति । दूरस्थनीलद्रव्यसमवेतस्य स्मर्यमाणस्य नीलरूपस्य आरोपेण । एवकारेण तत्सहचरितनीलांशव्यवच्छेदः कृतः । तत्प्रभायां = इन्द्रनीलप्रभायां नील-धीनिर्वाहात् = नीलिमाप्रतीत्युपपत्तिसम्भवात् । ततः किमित्याह- गौरवादिति । इन्द्रनीलप्रभायां तत्सहचरितनीलभागाऽ-कल्पनेऽपि गत्यन्तरेण तत्तत्प्रतीतिसम्भवे सहचरितनील-तत्कल्प्यत्वना गौरव्यस्तत्त्वादित्यर्थः । इति = इन्द्रनीलमणिप्रभासह-चरितनीलभागाऽकल्पनाहेतोः, न तत्र = नीलभागे उद्भूतरूपस्य व्यभिचारः = उद्भूतस्पर्शव्यभिचारः । ततोऽन्धकारस्योद्-भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शवत्त्वाभावस्य बाधकत्वमनिराकार्यमिति पराशयः ।

नन्वेवमपि नोद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शाभाववदवृत्तिः, स्फटिकभाण्डस्य तैजसत्वेन स्वभावतः शुभ्रत्वेऽपि तदन्तःकुङ्कुमादिपूरण-दशायां तद्वहिःपीतिमोपलब्धन्यथानुपपत्तिमिया तद्वहिःपीतिमाश्रयानुद्भूतस्पर्शवद्भागकल्पनाया अवश्याश्रयणीयत्वे अनुद्भूतस्पर्श-श्रयतादृशापीतद्रव्ये उद्भूतरूपस्य व्यभिचारित्वात् । न च तादृशापीतद्रव्यस्योद्भूतस्पर्शवत्त्वादेव न व्यभिचार इत्युद्गीरणीयम्, तत्स्पर्शाऽस्पर्शानान्यथानुपपत्तेरित्याशङ्कामपाचिकीर्णः पर आह- कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे = केशरादिनिभृतस्फटिकपात्रे, बहिरारोप्यमाणपीताश्रये = बहिर्भागे आरोप्यमाणस्य पीतरूपस्य अधिकरणे, अपि उद्भूतरूपस्य न व्यभिचारः = न उद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वम् । एकान्तवादी अत्र हेतुमाह- तत्रापीति । बहिरारोप्यमाणपीतत्वाधिकरणे, किमुत इन्द्रनीलप्रभा-सहचरितनीलभागे इत्यपिशब्दार्थः । स्मर्यमाणारोपेणैव = स्मर्यमाणस्य दूरस्थपीतद्रव्यसमवेतोद्भूतरूपस्य आरोपेणैव, बहिः-पीतधीनिर्वाहात् = कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डबहिःपीतरूपवत्त्वानुद्भिसम्भवात्, तादृशस्फटिकभाण्डबहिर्भागेऽनुद्भूतरूपाश्रयपीत-द्रव्याऽकल्पनात्, स्मर्यमाणपीतरूपाश्रयीभूतदूरस्थद्रव्ये तूद्भूतस्पर्शस्याऽबाधात् नोद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमित्यन्धकारे उद्भूतरूपोपगमे उद्भूतस्पर्शप्रसङ्गस्तत्र वज्रलेपायित एवेति पराशयः ।

ननु भवतु स्मर्यमाणरूपारोपेणैव स्फटिकभाण्डे पीतरूपवत्ताधीः परं तत्र गन्धोपलम्भः न स्मर्यमाणगन्धारोपेण भवितु-मर्हति । अतो गन्धाश्रयद्रव्यसन्निधानेनाऽवश्यं कुङ्कुमपूरितस्फटिकभाण्डे भवितव्यम् । प्रतीयमानगन्धाश्रयसन्निधानस्य तत्राऽवश्य-वत्त्वत्वे तूपलभ्यमानपीतरूपाश्रयत्वेनाऽपि लाघवात् गन्धाश्रयेणैव भवितव्यम्, सति सम्भवे त्यागानौचित्यात्, गौरवात् । न च तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति शङ्कनीयम्, प्रमाणप्रवृत्तिसमये एव तदुपस्थितेः, लघुगत्यन्तरस्य सत्त्वात्, । अतो

होता है और उद्भूत नीलरूप का भान होता है । अतएव उद्भूत रूप को उद्भूत स्पर्श का व्याप्य नहीं माना जा सकता' - तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि दूरस्थ उद्भूतस्पर्शवान् नीलद्रव्य के नील रूप का स्मरण मान कर उसके आरोप से भी इन्द्रनील की प्रभा में नीलिमा की प्रतीति का निर्वाह किया जा सकता है । अतः प्रभा में उद्भूतस्पर्शशून्य नीलद्रव्य की अनुस्यूति की कल्पना गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है ।

कुङ्कु. इति । यहाँ स्याद्वादी यदि यह कहे कि - 'स्फटिक मणि से निर्मित शुक्ल भाण्ड में कुङ्कुम भर देने पर भाण्ड के बहिरंग में पीत वर्ण की प्रतीति होती है । उसकी उपपत्ति के लिए भाण्ड के ऊपरी भाग में किसी ऐसे पीत द्रव्य का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जिसमें उद्भूत स्पर्श न हो और जिसके सन्निधान से शुभ्र भाण्ड के बाहर पीतिमा की प्रतीति हो सके । उस पीत द्रव्य में उद्भूत रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी है, क्योंकि उसके स्पर्श का भान नहीं होता है । केवल स्फटिक के स्पर्श का ही ज्ञान होता है । अतः अन्यकार में उत्कट रूप के सबब उत्कट स्पर्श की आपत्ति नहीं दी जा सकती' - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्फटिक भाण्ड कुङ्कुम से पूरित होने की दशा में भाण्ड के बाहर जो पीतिमा प्रतीत होती है, उसका निर्वाह भी किसी दूरस्थ उद्भूतस्पर्शयुक्त पीतद्रव्य में समवेत पीत रूप का स्मरण मान कर उसके आरोप द्वारा सम्पन्न हो सकता है । अतः स्फटिक भाण्ड के बाहरी भाग में किसी पीतद्रव्य के सन्निधान की कल्पना अनावश्यक है । अतः उद्भूत रूप में उत्कट स्पर्श की व्याप्ति (= व्याप्यता) ज्यों की त्यों बनी रहती है, जिसके बल पर अन्यकार में उत्कट नील रूप का अंगीकार करने पर उद्भूत स्पर्श की आपत्ति वज्रलेप होती है ।

बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैवोपपत्तेः, तथा च तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक इति तात्पर्यम्, तादृशव्याप्तौ मानाभावात्,

✽ जयलता ✽

नोद्भूतरूपश्रोत्रियस्य व्यभिचारित्वचाण्डालस्पर्शकलङ्कितत्वं क्षालयितुं शक्यं परैः । अत एवान्धकारे उद्भूतरूपाङ्गीकारेऽपि नोद्भूतस्पर्शस्य तत्रावकाश इति सिद्धं तमसो द्रव्यत्वमिति स्याद्वाद्याशङ्कयां पर आह- बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु = कुङ्कुमादिपूरित-स्फटिकभाण्डबहिर्भागे गन्धोपलम्भस्य तुर्विशेषार्थे । तदेवाह - वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैव = वायूपनीतानुत्कटरूप-शालिद्रव्यांशविशेषेणैव, उपपत्तेः । एवकारेण स्फटिकभाण्डबहिर्भागेऽनुद्भूतस्पर्शाश्रयद्रव्यांशव्यवच्छेदः कृतः । अयमेकान्तवादि-नोऽभिप्रायः स्फटिकभाण्डबहिर्भागे यो गन्ध उपलभ्यते तन्निर्वाहार्थं नेदमावश्यकं यदुत स्फटिकभाण्डबहिर्भागाऽवच्छेदेन गन्धा-श्रयद्रव्यांशेन भवितव्यम्, तत्र भागान्तर-तत्सम्बन्धादिकल्पनागौरवात्, लघुगत्यन्तरस्य सत्त्वात् । तथाहि शक्यत इदं कल्पयितुं यद् वायूपनीतगन्धाश्रयद्रव्यांशेनैवोपगधिना तत्र गन्धोपलब्धिः । न चैवं गन्धाश्रयसमवेतरूपोपलब्धिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वं स्यादिति वक्तव्यम्, तस्यानुद्भूतरूपाश्रयत्वेनाऽपि तद्वारणसम्भवात्, कल्पनाया दृष्टानुसारितयैव प्रवृत्तेर्न्याय्यत्वात् । अत एव प्रतीयमान-पीतरूपस्याऽऽरोपमाणत्वमपि घटाकोटिसण्टङ्कमाटीकते । अनेनोद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमपि प्रत्युक्तम्, स्फटिकभाण्डस्य पीतरूपाश्रयभागाऽसंबलित्वात्, स्मर्यमाणदूरस्थद्रव्यवृत्तिपीतरूपस्योद्भूतस्पर्शाश्रयवृत्तित्वात् ।

ततः किं ? इत्याशङ्कयामाह- तथा चेति । उद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावीयाधिकरणताश्रयनिरूपितवृत्तित्वशून्यत्वादित्यर्थः । तमस उद्भूतरूपवत्त्वे अभ्युपगम्यमाने, उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक इति । उद्भूतरूपस्योद्भूत-स्पर्शव्याप्यत्वात् तमसि उद्भूतरूपस्य सत्त्वे तद्व्यापक उद्भूतस्पर्शोऽपि तत्र स्यादेव । न च सोऽस्ति, उपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानत्वात् । ततो व्यापकाभावादेव तत्र व्याप्याभावः सिध्यति । अत एव 'तमो नीलमि'ति प्रतीतेरपि भ्रान्तत्वं सुवचम् । एवञ्च रूपवत्त्वहेतोः स्वरूपासिद्धिकलङ्कितत्वेन न ततः तमसि द्रव्यत्वसिद्धिरिति तमोऽभाववादिनोऽभिप्रायः ।

तमोद्रव्यत्वदर्शनी स्याद्वादी दर्शितदीर्घशङ्कामपाकरोति - तादृशव्याप्ताविति । उद्भूतरूपनिष्ठायामनुद्भूतस्पर्शाभाववदवृत्ति-त्वलक्षणायां व्याप्तौ, मानाभावात् = विपक्षबाधकतर्कविरहात् । 'अस्तु तमस्युद्भूतरूपं माऽस्तुद्भूतस्पर्शः' इत्यत्र बाधकयुक्ति-विरहान्नोपदर्शितव्याप्तिः स्वीकर्तुमर्हति, 'मानाधीना मेयसिद्धिरिति वचनात्; अन्यथा वहेरपि धूमव्याप्यत्वप्रसङ्गात् ।

ननु वहेः धूमाभाववदयोगोलकवृत्तित्वेन तद्व्यभिचारित्वादस्तु वहेः धूमव्याप्यत्वे मानाभावः परन्तु प्रकृते तूद्भूतरूपस्य नोद्भूतस्पर्शाभाववदवृत्तित्वं क्वापि दृष्टम् । अतः तादृशव्याप्तौ बाधाभाव एव मानं, किं मानान्तरगवेषणगौरवेण ? इति पराऽऽशङ्कयां

बहिर्गन्धो. इति । यदि स्याद्वादी की ओर से यह कहा जाय कि - 'स्फटिक भाण्ड के बाहर पीतिमा के साथ गन्ध की भी उपलब्धि होती है । पीतिमा की प्रतीति का निर्वाह तो दूरस्थ द्रव्य के स्मर्यमाण पीत रूप के आरोप से किया जा सकता है, मगर गन्ध की उपलब्धि तो गन्धवान् द्रव्य के सन्निधान के बिना नहीं हो सकती है । गन्धबुद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति से गन्धवान् द्रव्य सन्निहित मानना आवश्यक है । तो फिर प्रतीयमान पीत रूप भी लाघव से उसीका रूप माना जायेगा, क्योंकि अनारोपित का भान हो सके वहाँ भी आरोप की कल्पना करना गौरवग्रस्त है । अतएव उद्भूत रूप में उत्कट स्पर्श का व्यभिचार अपरिहार्य है, क्योंकि अन्धकार में स्फटिक भाण्ड की भाँति दूरस्थ द्रव्य के स्मर्यमाण रूप का आरोप नहीं किया जा सकता । अतएव अन्धकार में उद्भूत नील रूप होने पर भी उत्कट स्पर्श का आपादन नहीं किया जा सकता है' - तो यह भी अयुक्त है । इसका कारण यह है कि कुङ्कुमपूरित स्फटिकभाण्ड में गन्ध की उपलब्धि वायु द्वारा आकृष्ट अनुद्भूत-रूपवान् द्रव्य के गन्ध से भी सम्भव होने से उक्त रीति से व्यभिचार की शंका अनुचित है । मतलब कि जिस द्रव्य की गन्ध उपलब्ध होती है, वह उत्कट रूप से शून्य होने की वजह, प्रतीयमान रूप को आरोपित मानना आवश्यक है । फलतः उद्भूत रूप में उत्कट स्पर्श की व्याप्ति निर्बाध होने के सबब अन्धकार में उद्भूत स्पर्श की आपत्ति उसके 'उद्भूतनीलरूपवान् होने में बाधक हो सकती है । अतः 'नीलं तमः' यह प्रतीति भ्रमात्मक सिद्ध हो सकती है । इस तरह अन्धकार में रूपवत्त्व हेतु स्वरूपाऽसिद्ध होने से अन्धकार को द्रव्यान्तरस्वरूप नहीं माना जा सकता, बल्कि उसे आलोकाभावात्मक मानना ही उचित है । इसके फलरूप में नैयायिक आदि मनीषियों का जय और स्याद्वादी का पराजय सिद्ध हो जायेगा" <-

॥ उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है - स्याद्वादी ॥

तादृश. इति । मगर विचार करने पर यह शङ्कित आपत्ति निराधार हो जाती है, क्योंकि उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श की

प्रभायां व्यभिचाराच्च ।

न च उद्भूतनीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यम्; न च धूमे व्यभिचारः, तत्राप्युद्भूत-

❀ गत्यलता ❀

स्याद्वादी हेत्वन्तरं ग्रहं- प्रभायां व्यभिचाराच्चेति । प्रभाया उद्भूतरूपवत्त्वेऽप्युद्भूतस्पर्शविरहेण हेतोर्व्यभिचारित्वादित्यर्थः । एतेनोद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शव्याप्यं, तस्य उद्भूतस्पर्शाभाववृत्तित्वस्य क्वाप्यदृष्टत्वादिति प्रत्युक्तम् । अत एव 'नीलं तम' इत्यादि-प्रतीतिभ्रान्तत्वमपि प्रत्याख्यातम् । इत्थञ्च साधूक्तम् - 'तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानमि' (द्रश्यता ३०२ तमे पृष्ठे) ति ।

यत्तु → 'इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणारोपेणैव तत्प्रभायां नीलधीनिर्वाहाद् गौरवान्न कल्पते' <- (द्रश्यता ३०३ तमे पृष्ठे) इति तदप्यसत्, अनुभवाननुसारित्वात् । न हि तत्र दूरस्थनीलद्रव्यरूपस्मरणाऽऽरोपाऽनुभवोऽस्ति, इन्द्रनीलप्रभाया दृग्बिषयत्वे सत्येवाऽऽबालाङ्गनानां नीलत्वप्रतीतेरुदयात् । एतेन 'कुङ्कुमादिपूरितभाण्डे स्मर्यमाणारोपेणैव बहिः-पीतधीनिर्वाहादि' (द्रश्यता ३०३ तमे पृष्ठे) ति प्रत्युक्तम्, मानाभावात् । यदपि → 'बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूप-भागान्तरेणैवोपपत्तेः <- (द्रश्यता ३०४ तमे पृष्ठे) इत्युक्तं, तदपि न चारु, गन्धद्रव्यस्य वाय्वाकृष्टत्वानुद्भूतरूपवत्त्वकल्पनायां मानाभावेन गौरवात् । स्थिते चैवमुद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वे न तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावी बाधक इति सिद्ध-मन्धकारस्य द्रव्यत्वमिति स्याद्वादिनीऽभिप्रायः ।

वस्तुतस्तु इन्द्रनीलमण्यादेः पृथ्वीत्वमेव न तु तैजसत्वम्, → 'फलहमगिरयगविहुम' <- (जी.वि.शो.३) इति जीवविचारवचनात् । अत एव न तत्राऽऽरोपितनीलादिभागकल्पनाया आवश्यकत्वमिति ।

ननु प्रभायां व्यभिचारात् मास्तुद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वम्, उद्भूतनीलरूपस्य तु तत्त्वमबाधितमेव । अतः तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वमव्याहतम् । अत एव 'नीलं तम' इति प्रतीतिभ्रान्तत्वमनपायम्, व्यापकाभावेन व्याप्याभावनिश्रयादिति न तमसो द्रव्यत्वमिति नैयायिकाद्यभिप्रायमपाकर्तुं तदाशङ्कां स्याद्वाद्याविष्करोति - न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । उद्भूतनीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यमिति । एवकारेण उद्भूतरूपवत्त्वं व्यवच्छिन्नम् । प्रयोगश्चात्रैवम् - तमो नीलरूपवन्न, उद्भूतस्पर्शशून्यत्वात्, गुणवत् । अत एव 'नीलं तम' इति प्रतीतिः भ्रमात्मिका, तदभाववति तदवगाहित्वात्, 'पीतः शङ्ख' इति प्रतीतिवत् । न च तस्या नीलत्वांशे भ्रमात्मकत्वेऽपि रूपत्वांशेऽभ्रमत्वात् रूपवत्त्वहेतोस्त-मसि द्रव्यत्वमबाधितमिति वाच्यम्, नीलरूपस्याऽसत्त्वेन नीलेतररूपस्य चाऽसंभवेन यावद्रूपविशेषाभावकूटस्य रूपसामान्या-भावसाधकत्वात् । अतस्तमो न द्रव्यमिति स्थितम् ।

ननु उद्भूतरूपवदुद्भूतनीलरूपमपि नोद्भूतस्पर्शव्याप्यम्, उद्भूतस्पर्शशून्यधूमवृत्तित्वात् । अतो नाऽन्धकारस्य उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वमित्याशङ्कां निराकर्तुं पर आह- न च धूमे व्यभिचार इति । वक्तव्यमिति शेषः । तन्निरासे परः हेतुमुपदर्शयति-तत्रापीति । धूमेऽपीति । उद्भूतस्पर्शसत्त्वादिति । धूमस्योद्भूतरूपाश्रयत्वेनोद्भूतनीलरूपस्य नोद्भूतस्पर्शव्यभि-

व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत उक्त व्याप्ति को विघटित करने वाला प्रभा के उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार विद्यमान है । प्रदीप आदि की प्रभा में उद्भूत रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श नहीं होता है । दूरस्थ द्रव्य के स्मर्यमाण रूप के आरोप की कल्पना गौरवग्रस्त एवं अप्रामाणिक होने से त्याज्य है । अतः अन्धकार में उद्भूत रूप की वजह उद्भूत स्पर्श का आपादन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श की आपादकता ही नहीं है । अत एव 'नीलं तमः' यह प्रतीति भ्रमात्मक सिद्ध नहीं की जा सकती । इसलिए रूपवत्त्व हेतु से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध है ।

❀ उद्भूत नीलरूप भी उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है - स्याद्वादी ❀

न चो. इति । यदि एकान्तवादी की ओर से यह कहा जाय कि → 'प्रभा में व्यभिचार होने से यदि उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति नहीं है, तो मत हो, पर उद्भूत नील रूप में तो उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति निर्बाध ही है । अतः अन्धकार में उद्भूत नील रूप रहने की वजह उद्भूत स्पर्श की आपत्ति तो अपरिहार्य है । इस व्याप्ति में यह शङ्का की जाय कि - 'धूम में उद्भूत नील रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श की उपलब्धि नहीं होने से उद्भूत स्पर्श का अभाव सिद्ध होता है । उद्भूत स्पर्श से शून्य धूम में उद्भूत नील रूप रह जाने से उद्भूत नील रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी सिद्ध होता है, जिससे तादृश व्याप्ति बाधित होती है । अतः अन्धकार में उद्भूत नील रूप से उत्कट स्पर्श का आपादन नहीं किया जा सकता' - तो यह व्यर्थ है, क्योंकि चक्षु के साथ धूम का सम्बन्ध होने पर चक्षु से अश्रुपात होने के कारण धूम में उद्भूत स्पर्श

स्पर्शसत्त्वात्, अत एव तत्सम्बन्धाच्चक्षुषि जलनिपात इति वाच्याम्, चक्षुर्धूमसंयोगेनैव जल-
निपातजनकत्वात्, उद्भूतस्पर्शस्य धूमेऽसिद्धेः, नीलवसरेणौ व्यभिचाराच्च ।

न च पाटितपटसूक्ष्मावयववत्तत्राऽप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानम्; अनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूप-

❀ गंथलता ❀

चारित्वम् । अत्रापि हेतुमाह - अत एवेति । धूमस्योद्भूतस्पर्शवत्त्वादेवेति । तत्सम्बन्धात् = धूमसंयोगात्, चक्षुषि जलनिपातः
= अश्रुपतनम् । यदि धूम उद्भूतस्पर्शवान् न स्यात्, तदाऽनुद्भूतस्पर्शाधिकरणप्रमाणसंयोगवत् तत्सम्बन्धात् नैवजलनिपतनं
न स्यात् । न चैवमस्ति । अतो धूमस्योद्भूतस्पर्शवत्त्वमभ्युपेयम् । अतो न धूमे उद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमिति
परेषामाशयः ।

स्याद्वादी तन्निराकरोति - चक्षुर्धूमसंयोगत्वेनैव जलनिपातजनकत्वादिति । जलनिपातनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतायाः
चक्षुर्धूमसंयोगत्वावच्छिन्नत्वादित्यर्थः । एवकारेण चक्षुरुद्भूतस्पर्शाश्रयसंयोगत्वस्य जलनिपातकारणतावच्छेदकत्वं व्यवच्छिन्नम् ।
अयं स्याद्वादिनोऽभिप्रायः चक्षुर्धूमसंयोगो न चक्षुरुद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यसंयोगत्वेनाश्रुपातजनकः; चक्षुरुद्भूतस्पर्शाश्रयद्रव्यान्तरसंयोगत्वा-
वच्छिन्नादपि जलनिपातप्रसङ्गात् । न चैवमस्ति । अतः चक्षुर्धूमसंयोगत्वेनैव तत्त्वमुपगन्तव्यम् । अतो न जलनिपातकारणता-
वच्छेदकघटकतया धूमे उद्भूतस्पर्शसिद्धिः । अनेन तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक इति प्रत्याख्यातम्,
धूमे उद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वात् । अन्यत्रापि व्यभिचारमुपदर्शयति स्याद्वादी- नीलवसरेणौ व्यभिचाराच्चेति ।
नीलरूपाश्रये द्रव्यणुकत्रयात्मके पटाद्यवयवे उद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वाच्चेत्यर्थः । नीलवसरेणावुद्भूतनीलरूपस्य सत्त्वेऽपि
उद्भूतस्पर्शविरहात्तस्य तत्र व्यभिचारः । न च तथोद्भूतनीलरूपमेव नास्तीति न व्यभिचार इति वक्तव्यम्, तच्चाश्रुषानुपपत्ति-
प्रसङ्गात् । अतः तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वमिति भावः ।

ननु नीलवसरेणावप्युद्भूतस्पर्शोऽस्त्येव, अन्यथा तज्जन्यचतुरणुकादावुद्भूतस्पर्शानुत्पत्तिप्रसङ्गात् कदापि नीलद्रव्यस्य स्पर्शनत्वं
घटकोटिमञ्चेतेति नैयायिकाद्याशङ्कामपाकर्तुं दर्शयति - न च पाटितपटसूक्ष्मावयववत्तत्राऽप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानमिति । वाच्य-
मिति शेषः । प्रयोगस्त्वेवम् - नीलद्रव्यवसरेणुः उद्भूतस्पर्शवान् स्वसमवेतद्रव्यसमवेतोद्भूतस्पर्शजनकत्वात्, पाटितपटसूक्ष्मावयववत्,
यद्वा नीलवसरेणुस्पर्शः उद्भूतः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवेतोद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणत्वात्, पाटितपटसूक्ष्मावयवस्पर्शवत् ।
हेतुतावच्छेदकं तु उद्भूतस्पर्शासमवायिकारणतात्वमेव । अनुद्भूतस्पर्शस्योद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणत्वाऽसम्भवात् चतुरणुकसमवे-

का होना अनिवार्य होने से उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार असिद्ध है । इस प्रकार जब उद्भूत नील रूप में
उत्कट स्पर्श की व्याप्ति निर्बाध है, तब अन्यकार में यदि उद्भूत नील रूप माना जायगा तो उसमें उद्भूत स्पर्श की भी आपत्ति
होगी । अतः उसमें उद्भूत नील रूप नहीं माना जा सकता और नीलेतर रूप उसमें प्रमाण के अभाव से मान्य नहीं हो
सकता । इस तरह रूपविशेषाऽभावकूट से अन्यकार में रूपसामान्याभाव की सिद्धि होती है । अब अन्यकार में द्रव्यत्व की
सिद्धि कैसे होगी ? क्योंकि द्रव्यत्वव्याप्य रूप का उसमें अभाव रहता है । फलतः अन्यकार में द्रव्यत्व का अनुमान दुर्घट
है” — तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि चक्षु-धूमसंयोग को अश्रुपात का जनक मान लेने से धूम में उद्भूत स्पर्श
मानना आवश्यक नहीं है । मतलब कि चक्षुर्धूमसंयोगत्वरूप से अश्रुपात की जनकता लाघव सहकार से मानी जा सकती है,
न कि चक्षु-उद्भूतरूपविशिष्टसंयोगत्वेन । अतः धूम में उद्भूत स्पर्श की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतएव धूम के उद्भूत नील
रूप में उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार दुर्निवार है । इसलिए उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति न होने से उद्भूत नील
रूप से उद्भूत स्पर्श की आपत्ति का कोई भय नहीं है । इस तरह कोई बाधक न होने से अन्यकार में उद्भूत नील रूप सिद्ध
है और इसलिये रूप से अन्यकार में द्रव्यत्व का अनुमान करने में कोई बाधा नहीं हो सकती । दूसरी बात यह है कि नीली
द्रव्य के वसरेणु में भी उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार अपरिहार्य है, क्योंकि नील वसरेणु में उद्भूत नील रूप होने
पर भी उद्भूत स्पर्श उपलब्ध नहीं होता है । अतः उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति अप्रामाणिक है ।

❀ नील वसरेणु में व्यभिचारापत्ति के उद्घाटन का प्रयत्न ❀

न च पाटि, इति । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि —> “किसी पट को फाड़ने पर जो उसके सूक्ष्म अवयव
निकलने हैं, उनका स्पर्श उद्भूत होता है, क्योंकि यदि वह उद्भूत न होगा तो उससे पट में उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति न
होगी और न उसके सम्बन्ध से अश्रुपात होगा । तब पट के उन सूक्ष्म अवयवों के दृष्टान्त से नीली द्रव्य के वसरेणु में

जनकताया इवाऽनुद्भूतस्पर्शस्याऽपि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवात् दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तेः ।

जन्याऽनुद्भूतरूपं प्रत्यनुद्भूतैतररूपाभावस्य कारणत्वपक्षे तप्ततैलस्थादनुद्भूतरूपाद् वह्नेः उद्भूतरूपभागान्तराऽऽकर्षणेनोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारात् अत्र दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तिरिति चेत् ?

॥ जयलला ॥

तोद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणीभूतस्य नीलवसरेणुस्पर्शस्योद्भूतत्वमेवेति नीलवसरेणौ नोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमिति तमसो नीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव व्यापकाभावत्वेन रूपेण बाधक इत्येकान्तवादिशङ्काशयः ।

स्याद्वादी तन्निराकरणे हेतुमाह - अनुद्भूतरूपस्य = त्वन्भते तप्ततैलस्थवक्ष्यवयवाऽनुद्भूतरूपस्य, उद्भूतरूपजनकतायाः = दहनोद्भूतरूपाऽसमवायिकारणतायाः इव अनुद्भूतस्पर्शस्यापि = नीलवसरेणुसमवेतानुद्भूतस्पर्शस्यापि निमित्तभेदसंसर्गेण = अदृष्टादिनिमित्तविशेषसम्बन्धवशेन उद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवात् = चतुरणुकसमवेतोद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणत्वसम्भवात् दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तेः = पाटितपटसूक्ष्मावयवोदाहरणे विप्रतिपत्तेः । प्रयोगस्त्वेवम् - नीलवसरेणुवनुद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणक-स्पर्शः उद्भूतः अदृष्टादिनिमित्तविशेषसमवहित्वात्, अतितप्ततैलान्तःपाटितदहनावयवानुद्भूतरूपाऽसमवायिकारणकरूपविशेषवत् । एतेन यदि तमो द्रव्यं, रूपवद्द्रव्यस्य स्पर्शाऽव्यभिचारात् स्पर्शवद्द्रव्यस्य महतः प्रतिधातधर्मत्वात् तमसि सञ्चरतः प्रतिबन्धः स्यात्, महान्धकारे च भूगोलकस्येव तदवयवभूतानि खण्डाऽवयविद्रव्याणि प्रतीयेरन्निति प्रत्युक्तम्, यथा प्रदीपाग्निरित्येवैरदृष्ट-वशादनुद्भूतस्पर्शमनिविडावयवमप्रतीयमानखण्डाऽवयविद्रव्यप्रविभागमप्रतिघातिप्रभामण्डलमारभ्यते तद्वदेव तमःपरमाणुभिरपि तमो-द्रव्यारम्भसम्भवात् ।

एकदेशीयः परः शङ्कते जन्याऽनुद्भूतरूपमिति । 'इति चेदि'ति पर्यन्तः शङ्काग्रन्थः । जन्याऽनुद्भूतरूपं प्रति अनुद्भूते-तररूपाभावस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणत्वपक्षे तप्ततैलस्थात् अनुद्भूतरूपात् = अनुत्कटरूपाश्रयात् वह्नेः अनुद्भूतरूपोत्पत्तिः न सम्भविनी, तस्य उद्भूतरूपाश्रयदहनभागान्तरसंवलितत्वात्, उद्भूतरूपस्य प्रतिबन्धकत्वात् । रूपसामान्यसामग्रीसत्त्वात्, अनुद्भूतरूपप्रतिबन्धकसत्त्वाच्च तत्रोद्भूतरूपोत्पत्तिः । एवमप्यनुद्भूतरूपादुद्भूतरूपोत्पादो दुर्निवार इत्यत आह - उद्भूतरूपभागान्त-राकर्षणेनैवोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारादिति । एवकारेणाऽतितप्ततैलस्थदहनावयवसमवेतानुद्भूतरूपव्यवच्छेदः कृतः । अत्र = उद्भूतस्पर्शस्याऽनुद्भूतस्पर्शजन्यत्वे, दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तिः = तप्ततैलस्थदहनावयवसमवेतानुद्भूतरूपजन्योद्भूतरूपनिदर्शनविप्रतिपत्तिरित्यर्थः ।

भी उद्भूत स्पर्श का अनुमान हो जायेगा । अतः नील द्रव्य के वसरेणु में भी उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार नहीं हो सकता" <- किन्तु यह नामुनासिब होने का कारण यह है कि फाड़े हुए नील पट के सूक्ष्म अवयव में भी उद्भूत स्पर्श के होने में प्रमाण न होने से सम्प्रतिपन्न = स्वीकृत नहीं है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि - > "पट के सूक्ष्म अवयवों में उद्भूत स्पर्श न मानने पर पट = अवयवी में उद्भूत स्पर्श ही नहीं हो सकेगा" <- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे उद्भूत रूप की उत्पत्ति अनुद्भूत रूप से होती है, ठीक वैसे ही अनुद्भूत स्पर्श से अदृष्ट आदि निमित्तविशेष के सहयोग से उद्भूत स्पर्श की भी उत्पत्ति हो सकती है । पट के सूक्ष्म अवयव के सम्बन्ध से चक्षु से अश्रुपात की उत्पत्ति भी अश्रुनिपात के प्रति चक्षु और फाड़ हुए पट के सूक्ष्मावयव के संयोग को कारण मान लेने से सम्भव हो सकती है । अतः पट के सूक्ष्म अवयवों में उद्भूत स्पर्श की कल्पना अप्रामाणिक एवं गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है । इस प्रकार उद्भूत रूप पट के सूक्ष्म अवयवों में भी उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी सिद्ध होता है ।

अथवा 'न च पाटित...' से 'दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तेः' पर्यन्त ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि - पट के सूक्ष्म अवयवों का दृष्टान्त नीलद्रव्य के वसरेणु में उद्भूत स्पर्श की अनुमिति के अनुकूल दृष्टान्त के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुद्भूत रूप में उद्भूत रूप की जनकता के समान निमित्तविशेष के सहयोग से अनुद्भूत स्पर्श में उद्भूत स्पर्श की जनकता संभव होने से यह अनुमान कि -> "नील द्रव्य का वसरेणु उद्भूतस्पर्शवान है, क्योंकि उद्भूतस्पर्शवान् चतुरणुक आदि का जनक है, जैसे पाटित पट का सूक्ष्म अवयव, अथवा 'नीलद्रव्य के वसरेणु का स्पर्श उद्भूत है, क्योंकि वह चतुरणुक में उद्भूत स्पर्श का जनक है, जैसे पाटित पट के सूक्ष्मावयव का स्पर्श" <- निराधार है ।

॥ अतरेणु में उद्भूत स्पर्श नामुनासिब - स्याद्वादी ॥

जन्यानु. इति । यदि नैयायिक-वैशेषिक मनीषियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि - "स्याद्वादी का यह

न, तथापि त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पर्शनप्रसङ्गात् ।

❀ गयलता ❀

एतेन नीलत्रसरेण्वनुद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणकस्पर्श उद्भूतः अदृष्टादिनिमित्तविशेषसमबहितत्वात्, अतितप्ततैलान्तःपातिदहनाऽवयवाऽनुद्भूतरूपाऽसमवायिकारणरूपविशेषवदिति पराकृतम् । इत्यञ्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वेन तमसि प्रकटस्पर्शाभाव एवोद्भूतनीलरूपवत्त्वे बाधक इति न तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति नैयायिकैकदेशीयाशयः ।

इदन्त्वत्राऽवधेयम् - न्यायसिद्धान्तनये नियतारम्भवादस्वीकारात् समवायेन कार्यसमवेतगुणं प्रति कारणसमवेतसदृशगुणस्य स्वसमवायिसमवायसम्बन्धलक्षणया कारणैकार्थप्रत्यासत्त्याऽसमवायिकारणत्वम्, यथा घटनीलरूपं प्रति कपालनीलरूपस्य । अत एव तन्मते जन्यसमवेतोद्भूतगुणं प्रति स्वसमवायिसमवायेनोद्भूतगुणस्यैव कारणत्वम्, जन्यसमवेताऽनुद्भूतगुणं प्रति त्वनुद्भूतगुणस्य । न्यायिकदेशिनये तूद्भूतगुणं प्रत्युद्भूतगुणस्यैव स्वसमवायिसमवायसंसर्गेण कारणत्वेऽपि जन्याऽनुद्भूतगुणं प्रति नाऽनुद्भूतगुणस्य कारणत्वं किन्तुऽनुद्भूतगुणाऽभावस्यैव प्रतिबन्धकाभावविधया कारणत्वम् । एवमेव जन्याऽनुद्भूतस्पर्शं प्रति स्वाश्रयसमवायेनोद्भूतस्पर्शाऽभावस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणत्वम् । तथा जन्याऽनुद्भूतरूपं प्रत्युद्भूतरूपाऽभावस्य कारणत्वम् । न चोद्भूतरूपाभावस्यैवाऽनुद्भूतरूपत्वं लाघवादिति वाच्यम्, नीरूपे आत्मादाबुद्भूतरूपाऽभावस्य सत्त्वेऽयनुद्भूतरूपविरहेण तयोरसमनैयत्यात् । घटं प्रति तन्तुभिन्नस्य कपालस्य कारणत्वे यथा तन्तोरकारणत्वं तथैव जन्याऽनुद्भूतरूपं प्रत्यनुद्भूतरूपभिन्नस्योद्भूतरूपाऽभावस्य कारणत्वेऽनुद्भूतरूपस्याऽन्यथासिद्धत्वमिति । न च विनिगमकाभावेनाऽनुद्भूतेतररूपाभाववत् अनुद्भूतरूपस्याऽपि जन्याऽनुद्भूतरूपं प्रति कारणत्वमनिराकार्यमिति वाच्यम् अनुद्भूतरूपं प्रति प्रतिबन्धकाऽभावविधया अनुद्भूतेतररूपाभावकारणताया उभयमतसिद्धत्वात्, अनुद्भूतरूपकारणताया उभयमताऽसिद्धत्वेनाऽक्लृप्तत्वात् । उद्भूतरूपाभावस्यैवाऽनुद्भूतरूपजनकत्वेनाऽनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूपजनकत्वदृष्टान्तविप्रतिपत्तेः, तप्ततैले उद्भूतरूपाश्रयज्वालालक्षणाऽनलस्य तप्ततैलस्थाऽनुद्भूतरूपाश्रयबहुचवयवैरुद्भूतरूपविशिष्टदहनाऽवयवसहकारिभिर्जन्यत्वेऽपि यथा घटरूपाऽसमवायिकारणत्वं कपालस्थस्य रूपस्यैव न तु गन्धादेः तथैव प्रकृते ज्वालोद्भूतरूपाऽसमवायिकारणत्वमुद्भूतरूपस्यैव न त्वनुद्भूतरूपस्येति फक्किकार्थः ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । तथापि = उद्भूतस्पर्शस्य कदाप्यनुद्भूतस्पर्शजन्यत्वाऽनुपगमेऽपि, त्रसरेणोः = नीलचतुरणुकसमवायिकारणीभूतत्रसरेणोः, उद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पर्शनप्रसङ्गात् = तादृशनीलत्रसरेणुसमवेतोद्भूतस्पर्शविषयक-

कथन युक्त नहीं है कि - 'अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति होती है, वैसे अनुद्भूत स्पर्श से उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति हो सकती है' - इसका कारण यह है कि अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति ही हमें अस्वीकार्य है । वास्तविकता तो यह है कि जन्य अनुद्भूत रूप के प्रति अनुद्भूतेतर (= उद्भूत) रूप का अभाव कारण है, जो अनुद्भूतरूपस्वरूप नहीं है । जैसे नील रूप के प्रति नीलेतररूपाभाव प्रतिबन्धकाभावविधया कारण है, ठीक वैसे ही अनुद्भूत रूप के प्रति अनुद्भूतेतररूपाभाव प्रतिबन्धकाभावविधया कारण होता है । अत्यन्त गरम तेल आदि में जो अग्नि रहती है, वह अनुद्भूतरूपविशिष्ट होती है; मगर उस गरम तेल आदि में भीतर उद्भूतरूपवाले अनलावयव रहते हैं । उद्भूतरूप अनुद्भूत रूप की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होने की वजह अतितप्त तेल में अनुद्भूतरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वहाँ रूप सामान्य की सामग्री उपस्थित है और अनुद्भूत रूप का प्रतिबन्धक भी विद्यमान है । अतः पारिशेष न्याय से उत्कटरूपवाले सूक्ष्म दहनावयव से अतितप्त तेल में ज्वाला के रूप में उत्कट रूपविशिष्ट अग्नि की उत्पत्ति हो सकती है । अतः अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति का दृष्टान्त हमें मान्य नहीं है । तप्त तेल में अनुद्भूत रूप वाले दहनावयव होने पर भी ज्वालास्वरूप अग्नि के उद्भूत रूप की उत्पत्ति अन्य दहनावयव के उत्कट रूप से ही होती है । प्रदर्शित दृष्टान्त असंगत होने से उस पर अवलंबित दार्ष्टान्तिक भी असंगत ही है । अतः अनुद्भूत स्पर्श से उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति की कल्पना अप्रामाणिक है । अतः आप स्याद्वादी ने जो कहा था कि - पाटित पट के सूक्ष्म अवयव (त्रसरेणु) में उद्भूत रूप न होने पर भी तत्स्थित अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति हो सकती है - यह ठीक नहीं है । उद्भूत रूप से ही उद्भूत रूप की उत्पत्ति मुमकिन होने से चतुरणुक आदि में उत्कट रूप के जनक त्रसरेणु के स्पर्श को उत्कट मानना आवश्यक है । इस स्थिति में तो नीलद्रव्य के त्रसरेणु में उत्कट नील रूप उत्कट स्पर्श का व्यभिचारी नहीं होगा, क्योंकि दोनों ही उसमें रहते हैं । अतः उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति अबाधित है । अतएव अन्यकार में उद्भूत नील रूप की सत्ता को मान्यता प्रदान करने पर उसमें उद्भूत स्पर्श की आपत्ति अपरिहार्य ही बनी रहती है" <

न, तथापि, इति । मगर विचार करने पर नैयायिकादि की ओर से किया गया यह आपादन निराधार है । इसका कारण यह है कि त्रसरेणु में उद्भूत स्पर्श होने पर उसके स्पर्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । त्रसरेणु तीन द्रव्यणुक से निर्मित

‘द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शजनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाऽभावाभावं दोष’ इति चेत् ? न, तादृशप्रकर्षस्यैकत्वेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् ।

❀ नयलता ❀

स्पर्शनप्रत्यक्षोदयाऽऽपत्तेः । तस्योद्भूतत्वेन योग्यत्वादयस्यमुपलब्धिः स्यात् । न चैवमस्ति । प्रमाणाऽविषयस्याऽप्यभ्युपगमेऽति-प्रसङ्गात् । इत्यञ्च नीलवसरेणुस्पर्शाऽस्पर्शनाऽन्यधानुपपत्त्या तत्रोद्भूतस्पर्शाऽभावसिद्धेः पारिशेषन्यायात् अनुद्भूतस्पर्शपरि-कल्पनम् । वसरेणुस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वेऽपि तज्जन्यचतुरणुकस्पर्शस्योद्भूतत्वेनोद्भूतस्पर्शस्याऽनुद्भूतस्पर्शजन्यत्वमव्याहतम् । अनेन —> ‘अदृश्यस्य दृश्याऽनुपादानत्वात्, अन्यथा चक्षुरुष्मादिसन्ततेः कदाचित् दृश्यत्वप्रसङ्गात्’ <— (मुक्ता. ३७ पृ. २४५) इति मुक्तावलीकारवचनं प्रतिक्षिप्तम्, तेजोलेइयादिलब्धिमतः चक्षुरुष्मादिसन्ततेर्दृश्यत्वाऽभ्युपगमेनेष्टापत्तेः नव्यनैयायिकैरपि चक्षुरादि-ष्वनुद्भूतस्पर्शनभ्युपगमाच्च । एतेन ‘तैलान्तर्गतैरदृश्यदहनावयवैरेव स्थूलदहनोत्पत्तिस्वीकारं स्थूलदहनेऽप्यनुद्भूतरूपापत्त्या तत्प्रत्य-क्षस्य दुरुपपादत्वाऽऽपातादि’ (मु. म. पृ. २८६) इति मुक्तावलीमञ्जूषाकारवचनमपि निराकृतम् । एवञ्च नीलवसरेणानुद्भूत-नीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारकं तन्मसो नीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाऽभावः बाधक इति समाधानाशयः ।

ननु नीलवसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वेऽपि स्पर्शनकारणीभूतमहत्त्वविशेषविरहान्न तत्स्पर्शस्पर्शनप्रसङ्ग इत्याशयेन गौतमीयादिः शङ्कते - द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाऽभावात् = द्रव्यान्यत्वे सति यो द्रव्यसमवेतः तदोचरस्पर्शनप्रत्यक्षस्य कारणतावच्छेदकीभूतो यः प्रकर्षः तद्विशिष्टमहत्त्वस्य नीलवसरेणौ विरहात्, नाऽयं = न वसरेणु-समवेतस्पर्शस्पर्शनप्रसङ्गलक्षणः दोषः । अयं भावः वसरेणुस्पर्शः द्रव्यान्यो द्रव्यसमवेतश्च । द्रव्यान्यत्वविशिष्टद्रव्यसमवेतस्पर्शन-प्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्य कारणत्वम् । न च महत्त्वस्य वसरेणुसमवेतत्वेन तत्स्पर्शस्पर्शनं दुर्निवारम्, तदुक्तं मुक्तावलीप्रभाकृता ‘वसरेणुमहत्त्वस्य नित्यत्वस्वीकारादि’ (मु. प्र. पृ. २९४) इति वक्तव्यम्, महत्त्वस्य तत्र समवेतत्वेऽपि द्रव्याऽन्यत्वविशिष्टद्रव्यसम-वेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकीभूतप्रकर्षशून्यत्वेन तत्स्पर्शस्पर्शनाऽनापत्तेः । अत एवोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वाऽबाधेन तमसो उद्भूतनीलरूपवत्त्वे तत्स्पर्शनं स्याद्वादिनये दुर्निवारम् । न चैवं भवति । अतो ‘नीलं तम’ इति प्रतीतिभ्रान्तत्वाद् रूपवत्त्वस्य स्वरूपाऽसिद्धिग्रस्तत्वम् । अतो न तमसो द्रव्यत्वं सङ्गतिमङ्गतीति नैयायिकाद्यभिप्रायः ।

स्याद्वादी तन्निराकरोति- नेति । तादृशप्रकर्षस्य = द्रव्याऽन्यत्वविशिष्टद्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षस्य, एकत्वेऽपि = एकत्वसंख्यायामपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् । तादृशप्रकर्षः किं महत्त्वे यदुत एकत्वे ?

होता है, जिसका हमें स्पर्श हो सकता है । अतः यदि उसमें उद्भूत स्पर्श होगा, तब तो उसका स्पर्शन प्रत्यक्ष अवश्य होगा, क्योंकि उद्भूत स्पर्श स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होता है । मगर वसरेणु के स्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष तो नैयायिक आदि को भी अमान्य है एवं अनुभवविरुद्ध है । अतः वसरेणु में उद्भूत स्पर्श नहीं माना जा सकता । अतः नीलद्रव्य के वसरेणु के उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श का व्यवहार दुर्निवार है । इसलिए उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति न होने से उद्भूत नील रूप से उद्भूत स्पर्श की आपत्ति का कोई भय नहीं है । अतः बाधक न होने से अन्धकार में नील रूप सिद्ध होता है और इसलिये रूप से अन्धकार में द्रव्यत्व की अनुमिति करने में कोई बाधा नहीं है । अतः अन्धकार द्रव्यात्मक सिद्ध होता है, न कि आलोकात्यन्ताभावस्वरूप ।

❀ महत्त्वविशेष के अभाव से वसरेणुस्पर्शप्रत्यक्षविरह अनुपपन्न - स्याद्वादी ❀

द्रव्यान्य. इति । यदि नैयायिक आदि मनीषियों की ओर से यह कहा जाय कि —> “वसरेणु में उद्भूत स्पर्श होने पर भी विजातीय महत्त्व न होने की वजह वसरेणु के स्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है । आशय यह है कि जो द्रव्य से भिन्न होता है एवं द्रव्य में समवेत होता है, उसका स्पर्शन प्रत्यक्ष होने में महत्त्वविशेष कारण होता है और कारणतावच्छेदक धर्म प्रकर्ष होता है । वसरेणु में महत्त्व होने पर भी तादृश प्रकर्षविशिष्ट महत्त्व न होने की वजह वसरेणुसमवेतस्पर्शविषयक स्पर्शन की आपत्ति नहीं दी जा सकती । कारणतावच्छेदकधर्मविशिष्ट कारण के न रहने पर कार्य का आपादन नहीं किया जा सकता । इस तरह नील वसरेणु का स्पर्श उद्भूत होने पर भी वसरेणुस्पर्शप्रत्यक्ष का आपादन अयुक्त होने से उत्कट नील रूप उद्भूत स्पर्श का अव्यभिचारी सिद्ध होता है । अतएव अन्धकार में उद्भूत नील रूप मानने पर उद्भूतस्पर्शाऽभाव बाधक बनेगा । इसलिए अन्धकार को द्रव्य नहीं माना जा सकता” <— तो यह नैयायिकवचन नामुनासिद्ध है । इसका कारण यह है कि तादृश कारणतावच्छेदक धर्म के आशय के रूप में महत्त्व का अंगीकार किया जाय या एकत्व संख्या का ?

अथ एकत्वे तादृशजातिकल्पने स्वतन्त्रमतसिद्धद्रव्यचाक्षुषजनकताऽवच्छेदकीभूतैकत्व-
निष्ठजात्या साङ्ख्यमेव विनिगमकमिति चेत् ?

❀ जयलता ❀

इत्यत्रैकतरपक्षातिरिक्तविरहात् न विजातीयमहत्त्वस्य अद्रव्यद्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणत्वं सिद्धयति, येन तद्विरहेण नीलवसरेणु-
स्पर्शस्पर्शनमुपपद्येतेति लाघवात् नीलवसरेणुस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वमेव कल्पनीयम् । एवञ्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्त्यसिद्धेर्न
तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शभाव बाधकः । अत एव 'नीलं तम' इति प्रतीतिर्भ्रमत्वमायपाकृतम् । ततश्च रूपवत्त्वाद्धेतोः
तमसो द्रव्यत्वं निरपायमेवेति स्याद्वाद्याशयः ।

एकान्तवादी शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । एकत्वे तादृशजातिकल्पने = एकत्ववृत्ति-द्रव्याऽन्यत्वविशिष्ट-
द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकजात्यङ्गीकारे, स्वतन्त्रमतसिद्ध-द्रव्यचाक्षुषजनकताऽवच्छेदकीभूतैकत्वनिष्ठजात्या = नैयायि-
कैकदेशमतप्रसिद्धद्रव्यविषयकचाक्षुषप्रत्यक्षकारणतावच्छेदकीभूतघटादिस्थैकत्ववृत्तिजात्या, समं साङ्ख्यमेव द्रव्याऽन्यद्रव्यसमवेत-
स्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्याः महत्त्ववृत्तित्वे विनिगमकमिति । अयं अथाशयः स्वतन्त्रमते द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक-
जातिः द्रव्यगतैकत्वे वर्तते यथा प्रभा-वसरेण्वादिगोचरचाक्षुषप्रत्यक्षनिष्ठजन्यतानिरूपिताया जनकताया अवच्छेदकीभूता जातिः
प्रभा-वसरेण्वादिनिष्ठैकत्वे वर्तते । न च तत्र द्रव्येतर-द्रव्यसमवेतविषयक स्पर्शनप्रत्यक्षनिष्ठकार्यतानिरूपितायाः कारणताया
अवच्छेदिका प्रकृष्टत्वजातिः वर्तते; प्रभा-वसरेण्वादिसमवेतस्पर्शोऽनित्यप्रत्यक्षगोचरत्वविरहात् । वायु-निदाघोष्मादिनिष्ठैकत्वे
द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनप्रत्यक्षनिरूपितकारणताया अवच्छेदकीभूता प्रकृष्टत्वजातिः वर्तते न तु द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकी-
भूता जातिः; वायु-निदाघोष्मादिस्पर्शस्य प्रत्यक्षविषयत्वेऽपि व्याप्यदेः चाक्षुषाऽविषयत्वात् । परस्परव्यधिकरणीभूते तादृशजाती
घटादिनिष्ठैकत्वे समानाधिकरणे; घटस्य चाक्षुषगोचरत्वात् तत्स्पर्शस्य च स्पर्शनविषयत्वात् । अद्रव्य-द्रव्यसमवेतगोचरस्पर्शन-
कारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजात्या एकत्वसंख्यानिष्ठत्वाऽङ्गीकारे द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजात्या एकत्ववृत्त्या सह साङ्ख्यस्य
सुरगुरुणाऽपि निवारयितुमशक्यत्वेन तादृशप्रकृष्टत्वजात्या महत्त्ववृत्तित्वमेवोपगन्तुमर्हति । तथा च न सङ्करकलुषिततालेशोऽपि,
द्रव्यगोचरचाक्षुषप्रत्यक्षकारणतावच्छेदकजात्या एकत्वनिष्ठत्वेन, अद्रव्य-द्रव्यसमवेतगुण-जाति-कर्म-विशेषविषयकस्पर्शनप्रत्यक्षनिष्ठ-

इस समस्या का कोई समाधान नहीं है । कारणतावच्छेदक धर्म का आश्रय ही जब अनिश्चित है, तब कारण कैसे निश्चित
हो सकेगा ? और कारण अनिश्चित होने पर 'विजातीय महत्त्व का अभाव होने से नील वसरेणु के उद्भूत स्पर्श का प्रत्यक्ष
नहीं होता है' यह कैसे कहा जा सकता है ? मतलब कि - 'गुणस्पर्शन प्रत्यक्ष में विजातीय महत्त्व कारण है, वसरेणु
में उसका अभाव होने से उसके स्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है' - इसके स्थान में विनिगमनाविरह के सबब यह
भी कहा जा सकता है कि- 'स्पर्शन प्रत्यक्ष में विजातीय एकत्व कारण है, उनका अभाव होने से वसरेणु के स्पर्श का
स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है' । अतः इन कल्पनाओं की अपेक्षा यही मानना उचित है कि वसरेणु का स्पर्श अनुद्भूत होता
है और उस अनुद्भूत स्पर्श से भी निमित्तविशेष के सहयोग से चतुरणुक आदि में उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति होती है । अतः
उद्भूत नील रूप वसरेणु में उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी सिद्ध होता है । अतएव उद्भूतस्पर्शाऽभाव भी उद्भूतनीलरूपाऽभाव का
व्याप्य (या साधक) नहीं हो सकता । इसलिए अन्यकार में 'नीलं तमः' इस प्रतीति से उद्भूत नील रूप का अंगीकार करने
में कोई दोष नहीं है । इसलिए 'रूपवत्त्व' हेतु अन्यकार में द्रव्यत्व का साधक हो सकता है । अतः अन्यकार को द्रव्यात्मक
मानना ही सुसंगत है ।

❀ स्याद्वादी मत में सांख्य - नैयायिक एकदेशीय ❀

नैयायिकदेशीय :- अथे, इति । द्रव्येतर ऐसे द्रव्यसमवेत की स्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्षजाति को एकत्ववृत्ति मानने
पर सांख्य दोष प्रसक्त होने से उसे महत्त्वगत मानना ही उचित है । वह सांख्य दोष इस तरह समझा जा सकता है ।
हमारे (= नैयायिक एकदेशीय के) मत से वायु के स्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष होता है । द्रव्यान्य द्रव्यसमवेत के स्पर्शन प्रत्यक्ष
की कारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व (= प्रकर्ष) जाति को एकत्वसंख्यावृत्ति मानने पर वायुनिष्ठ एकत्व में तादृश जाति रहेगी ।
मगर वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने से वहाँ (= वायुगत एकत्वसंख्या में) द्रव्यचाक्षुषजनकता वच्छेदक जाति नहीं रहती
है । पाटितपटसूक्ष्म अवयव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से पाटितपटसूक्ष्माऽवयवगत एकत्व में चाक्षुष प्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदक
जाति रहती है, मगर पाटित पट के सूक्ष्म अवयव के स्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष न होने से द्रव्यान्य ऐसे द्रव्यसमवेत के स्पर्शन
प्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदक जाति पाटितपटसूक्ष्माऽवयवगत एकत्व में नहीं रहती है । इस तरह द्रव्याऽन्यद्रव्यसमवेतस्पर्शनकारण-

तथापि सा जातिर्महत्त्वे कल्प्यताम्, इयं त्वेकत्वे इत्यत्रैव विनिगमकमन्वेषणीयम् ।

❀ जयलता ❀

कार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजात्याश्च महत्त्वनिष्ठत्वेन व्याधकरणत्वात् । इत्यत्र नीलवसरेणोरुद्धूतस्पर्शवत्त्वेऽपि तादृशप्रकृष्टत्वविशिष्टमहत्त्वविरहान्न तत्स्पर्शस्पर्शनप्रसङ्गः । अत एवोद्धूतनीलरूपस्योद्धूतस्पर्शव्याप्यत्वमव्याहृतम् । ततश्च सुष्ठुक्तं 'तमस उद्धूतरूपवत्त्वे उद्धूतस्पर्शाऽभाव एव बाधक' इति (दृश्यतां ३०४ तमे पुटे) स्थितम् ।

अत्र स्याद्वादी प्राह- तथापीति । द्रव्येतर-द्रव्यसमवेतगोचरस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या एकत्ववृत्तित्वोपगमे नैयायिकैकदेशीयमतानुसारेणैकत्ववृत्त्या द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकीभूतजात्या समं तत्साङ्कर्यस्य बाधकत्वेऽपीति । सा = द्रव्य-गोचरचाक्षुषनिरूपितकारणताया अवच्छेदकीभूता, जातिः महत्त्वे = महत्त्ववृत्तिः कल्प्यतां = स्वीक्रियतां, इयं = द्रव्येतर-द्रव्य-समवेतगुणादिगोचरस्पर्शनकारणतावच्छेदकीभूता प्रकृष्टत्वजातिः, तुः विशेषार्थे । तदेवाऽऽह- एकत्वे = एकत्ववृत्तिः इत्यत्रैव विनिगमकं = नियामकं अन्वेषणीयं = मार्गणीयम् । यथा नैयायिकैकदेशीयमतानुसारेणैकत्वसंख्यावृत्त्या द्रव्यचाक्षुष-कारणतावच्छेदकजात्या समं साङ्कर्यस्य निराकरणकृते नैयायिकसिद्धान्तिना द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतगुणादिस्पर्शनकारणतावच्छेदक-प्रकृष्टत्वजात्या महत्त्ववृत्तित्वमुपकल्प्यते तथैव स्याद्वादिनाऽपि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या एक-त्ववृत्तित्वाऽङ्गीकारे साङ्कर्यपरिहारकृते द्रव्यगोचरचाक्षुषसाक्षात्कारनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताया अवच्छेदकीभूतायाः जात्या महत्त्व-वृत्तित्वं कल्पयितुं नाऽशक्यम् । एतेन द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजातिरेकत्वे एव न तु महत्त्वे, द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शन-कारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातिश्च महत्त्वे एव न त्वेकत्वे इति प्रत्युक्तम्, द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकजातिः महत्त्वे एव न त्वेकत्वे, द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकर्षजातिश्चैकत्ववृत्तिरेव न तु महत्त्ववृत्तिरित्यस्याऽपि विनिगमकाभावेन सुवचत्वात् । न चैवमपि सङ्क्रोऽपरिहार्य इति वक्तव्यम्, तयोः व्यधिकरणत्वात् । अत एव नीलवसरेणोरुद्धूतस्पर्शवत्त्वेऽपि द्रव्याऽन्य-द्रव्य-समवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातिविशिष्टमहत्त्वशून्यत्वाच्च तत्स्पर्शविषयकस्पर्शनप्रसङ्ग इत्यपि प्रत्युक्तम्, नीलवसरेणु-समवेतैकत्वस्य द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणताश्रयत्वसम्भवात् । न च तस्य तत्कारणत्वेऽपि द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेत-

तावच्छेदक जाति एवं द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति व्यधिकरण हैं, भिन्न भिन्न एकत्वसंख्या में रहती है । परस्पर असमानाधिकरण ये दो जाति घटगत एकत्वसंख्या में रहती है, क्योंकि घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष भी होता है एवं घट के स्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष भी होता है । यही सांकर्य है, क्योंकि असमानाधिकरण जाति का एक धर्मी (= घटगत एकत्व संख्या) में समावेश होता है । इस सांकर्य दोष का निराकरण तब ही हो सकता है, यदि द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पर्शनजनकतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को महत्त्वगत मानी जाय, न कि एकत्वगत । ऐसा होने पर सांकर्य दोष की संभावना नहीं है । इसका कारण यह है कि (नैयायिक एकदेशीय मतानुसार) द्रव्यविषयकचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति द्रव्यगत एकत्वसंख्या में रहती है और द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक जाति द्रव्यगत महत्त्व में रहती है । मतलब कि घटचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति घटगत एकत्व संख्या में रहती है और घटसमवेतस्पर्शविषयकस्पर्शनकारणतावच्छेदक जाति घटगत महत्त्व में रहती है । दोनों व्यधिकरण ही हैं, समानाधिकरण (= एकाधिकरणवृत्ति) नहीं है । इस तरह द्रव्याऽन्यद्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक जाति को महत्त्ववृत्ति मानने में सांकर्य दोष अप्रसक्त है, जब कि एकत्ववृत्ति मानने में सांकर्य दोष प्रसक्त है । अतः तादृश प्रकृष्टत्व जाति की एकत्वगत मान्यता का सांकर्य ही विनिगमक (= बाधक) है, एवं महत्त्वगत मान्यता में सांकर्याऽभाव ही विनिगमक (= साधक) है । उद्धूतस्पर्शाश्रय नीलवसरेणु में तादृश प्रकर्ष (= प्रकृष्टत्व) जाति नहीं होने से नीलवसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष का आपादन नहीं किया जा सकता । अतः उद्धूतनीलरूपाश्रय वसरेणु में भी उद्धूत नीलरूप उद्धूत स्पर्श का व्यभिचारी नहीं है । अतः अन्धकार में उद्धूत नील रूप मानने में उद्धूतस्पर्शाऽभाव (= व्यापकाऽभाव) ही बाधक है । व्यापकाभाव से व्याप्याऽभाव की सिद्धि होती है । निष्कर्ष :- अन्धकार द्रव्य नहीं है ।

❀ जैयार्थेक मत में विनिगमकाभाव दोष ❀

अनेकान्तवादी :- तथापि, इति । उस्ताद ! आपकी इस रामकहानी का मूलधार है, द्रव्यविषयक चाक्षुषकारणतावच्छेदक जाति को एकत्वगत मानना । मगर द्रव्यविषयकचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति को महत्त्वगत एवं द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणता-वच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को एकत्ववृत्ति क्यों न मानी जाय ? इस विषय का विनिगमक = निर्णायक कौन होगा ? यही अभी तक खोज का विषय है । मतलब यह है कि घटगत एकत्व में द्रव्यविषयकचाक्षुषकारणतावच्छेदकजाति के साथ द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति के सांकर्य का निवारण करने के लिए जैसे स्वतंत्र (= नैयायिक एकदेशीय)

अथ द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यैव द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शन-
जनकतावच्छेदकजातिरभ्युपेयताम्,

❀ अथ ॥ ❀

स्पर्शनकारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजातिशून्यत्वान्न नीलवसरेणुस्पर्शस्पर्शनप्रसङ्ग इत्यरेकर्णीयम्, नीलवसरेणुसमवेतैकत्वे घटादि-
समवेतैकत्ववैजात्यकल्पने मानाभावात् । द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वविशिष्टैकत्वस्य घटवत् नालवग्रेणा-
वपि सम्भवे बाधकाऽभावात् नीलवसरेणोरुद्धूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पर्शनस्य वज्रलेपायमानत्वात् । न चैवमस्ति । एतेन नील-
वसरेणोरुद्धूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पर्शनाऽभाव एव बाधक इति प्रदर्शितम् । अत एवोद्धूतनील-रूपस्योद्धूतस्पर्शव्य-यत्वमपि
निराकृतम् । अतो न तमस उद्धूतनीलरूपवत्त्वे उद्धूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वम् । अत एव तमसो द्रव्यत्वं रूपवत्त्वाद्धेतोरव्याहन-
मिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

एकान्तवादी पुनः प्रत्यवतिप्रते - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजाति-
व्याप्यैव = नैयायिकैकदेशमतसिद्धा या द्रव्यविषयकचाक्षुषनिष्ठजन्यतानिरूपिताया जनकताया अवच्छेदकीभूता एकत्वसंख्यानिष्ठा
जातिः तदभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वशून्या एव, एवकारेण व्यापकव्यवच्छेदः कृतः । द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनक-
तावच्छेदकजातिः प्रकृष्टत्वविशेषलक्षणा अभ्युपेयतामिति । अयं पराशयः द्रव्यचाक्षुषं कार्यं तन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणताया
अवच्छेदकीभूता जातिः एकत्वे वर्तते । द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजातिव्यवच्छेदकत्वस्य नीलवसरेणो वर्तमानत्वात् विषय-
तासम्बन्धेन नीलवसरेणुचाक्षुषमपि तत्र जायत एव । परं स्याद्वादिना यदुक्तं द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदक-
प्रकृष्टत्वजात्या एकत्ववृत्तित्वसम्भवे बाधकाभावात् नीलवसरेणुस्पर्शस्पर्शनप्रसङ्गो दुर्निवार इति, तन्न सम्यक्, नीलवसरेणु-

मत के अनुसार द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजाति को एकत्वगत एवं द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति
को महत्त्वगत मानी जाती है, वैसे सांकर्य दोष का निराकरण करने के लिए द्रव्यगोचरचाक्षुषकारणतावच्छेदक जाति को
महत्त्वगत एवं द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को एकत्वसंख्यागत मानी जा सकती है, क्योंकि
इन दोनों पक्ष में न तो कोई प्रमाण साधक है और न तो बाधक । अर्थात् घटद्रव्यविषयक चाक्षुष की कारणतावच्छेदक
जाति घटगत महत्त्व में रहती है एवं घटसमवेतस्पर्शविषयक स्पर्शन की कारणतावच्छेदक प्रकर्ष जाति घटगत एकत्व में रहती
है - ऐसा मानने से सांकर्य दोष निराकृत हो जाता है । अतः द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्ष जाति को
एकत्वगत मानने में सांकर्य दोष की संभावना नहीं रहती है । जैसी एकत्वसंख्या घट में रहती है, तादृश ही एकत्वसंख्या
पाटित नील पट के वसरेणु में भी रहती है; न कि विजातीय । अतः जैसे घटगत एकत्वसंख्या द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतविषयक-
स्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्ष जाति का आश्रय है, ठीक वैसे ही नील वसरेणु में समवेत एकत्व संख्या भी तादृश प्रकर्ष
का आश्रय बनेगी । अतएव घट के स्पर्श के स्पर्शन प्रत्यक्ष की भाँति नीलवसरेणुस्पर्श के स्पर्शन की आपत्ति वज्रलेपायमान
बनी रही है । मतलब की नीलवसरेणु में उद्धूत नील रूप का व्यापक उद्धूत स्पर्श एवं अद्रव्यस्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्ष
जाति दोनों रहने से नीलवसरेणुस्पर्श का स्पर्शन अवश्य होना चाहिए । मगर तादृश स्पर्शन नहीं होता है । इसलिए विषय-
विधया कारणीभूत उद्धूत स्पर्श का नील वसरेणु में अभाव मानना ही उचित है । ऐसा होने पर तो उत्कट नील रूप उत्कट
स्पर्श का व्यभिचारी हो जायेगा, क्योंकि उत्कट स्पर्श से शून्य वसरेणु में भी उत्कट नील रूप रहता है । उद्धूत नील रूप
में उत्कट स्पर्श की व्याप्ति न होने की वजह अन्धकार में उद्धूत नील रूप के स्वीकार में उत्कटस्पर्शाऽभाव बाधक नहीं हो
सकता है, क्योंकि उत्कट स्पर्श तो उत्कट नील रूप का व्यापक ही नहीं है । अव्यापक के अभाव से व्याप्याऽभाव की
सिद्धि नहीं की जा सकती । अतएव 'नीलं तमः' यह प्रतीति भी प्रामितिस्वरूप सिद्ध होती है । इसलिए रूपवत्त्व हेतु के
द्वारा अन्धकार में द्रव्यत्वसिद्धि निर्वाध है । निष्कर्ष :- अन्धकार द्रव्यात्मक है ।

❀ द्रव्यचाक्षुषापात्ते का निराकरण - नैयायिक की ओर से ❀

एकान्तवादी :- अथ, इति । जनाव ! हम यह मान लेते हैं कि - द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व
जाति एकत्वसंख्या में रहती है । इससे आपके वचन का हम स्वागत करते हैं । मगर साध ही हम यह भी मानते हैं कि
द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पर्शनजनकतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति की, जो एकत्वसंख्या में रहती
है, व्याप्य है और द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति उसकी व्यापक है । इसलिए वसरेणुस्पर्श के स्पर्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति
नहीं दी जा सकती, क्योंकि वसरेणुवृत्ति एकत्व संख्या में द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक जाति होने पर भी द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेत-

वायोरचाक्षुषत्वं तु विषयविधया वायोश्चाक्षुषाऽहेतुत्वादिति चेत् ? तर्हि एवमेव बुद्धिस्पर्शाऽ-

॥ गयलल ॥

समवेतकत्वे द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतजातिसत्त्वेऽपि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातेरसत्त्वात्, तस्याः तद्व्याप्यत्वात् । न हि व्यापकसत्त्वेन व्याप्यप्रसञ्जनमर्हति, अन्यथाऽयोगोलके धूमापादनमपि सम्यक् स्यात् । इत्थञ्च स्याद्वादिवचनानुसारेण द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या एकत्ववृत्तित्योपगमेऽपि उद्भूतस्पर्शाश्रयनील-त्रसरेणुसमवेतस्पर्शस्पर्शनं नापाद्यतामर्हति, नीलत्रसरेणौ द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वविशिष्टैकत्वलक्षण-स्याऽऽपादकस्य विरहात् । ततश्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वमबाधितमेवेति तात्पर्यम् ।

ननु द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या द्रव्यगोचरचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्ववृत्तिजातिव्याप्यत्व-मङ्गीकारं नार्हति, वायोः चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्, नैयायिकेकदेशीयस्य तत्र मते वायुस्पर्शस्पर्शनस्य सिद्धत्वेन द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवे-तस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातेर्वायुसमवेतैकत्वनिष्ठत्वात् तद्व्यापकीभूतद्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमस्याऽऽवश्यक-त्वात् । न हि व्याप्यसत्त्वे व्यापकाभावः कल्पनामर्हति । न च वायुचाक्षुषं भवति । अत एव द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शन-कारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजात्या द्रव्यचाक्षुषसाक्षात्कारकारणतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्वमपि न युक्तमिति शङ्कायां पर आह- वायोरचाक्षुषत्वमिति । वायुगोचरचाक्षुषाभाव इति । विषयविधया = विषयत्वेन रूपेण, वायोः चाक्षुषाऽहेतुत्वा-दिति । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यविषयकचाक्षुषं प्रति तादात्म्येन विषयविधया पृथ्वी-जल-तेजसामेव हेतुत्वेन वायोः द्रव्यविषयक-चाक्षुषजनकतावच्छेदकजातिविशिष्टैकत्वान्प्रत्यक्षेऽपि विषयविधया तादात्म्येन चाक्षुषाऽकारणत्वान्न तत्र (= वायौ) विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषप्रत्यक्षं जायते । अतो वायोरचाक्षुषत्वेऽपि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकप्रकृष्टजातेः द्रव्यचाक्षुषजनकता-वच्छेदकैकत्वसमवेतजातिव्याप्यत्वाऽङ्गीकारे बाधकं नास्तीति नैयायिकेकदेशीयस्य वायुस्पर्शस्पर्शनवादिनोऽभिप्रायः ।

स्याद्वाद्याह- तर्हीति । विषयविधया वायोश्चाक्षुषाऽहेतुत्वाभ्युपगमेन द्रव्यविषयकचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतजातिविशिष्ट-कत्ववत्त्वेऽपि विषयतासम्बन्धेन वायौ द्रव्यचाक्षुषानुत्पादोपपादने इति । एवमेव = द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणता-वच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजातिविशिष्टैकत्वस्य सामानाधिकरण्येन नीलत्रसरेणुसमवेतस्पर्शनिष्ठत्वेऽपि विषयविधया तादात्म्येन नीलत्रस-

स्पर्शनजनकतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति का हम स्वीकार नहीं करते है । यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ व्यापक हो, वहाँ व्याप्य भी अवश्य हो । नियम तो ऐसा है कि जहाँ व्याप्य हो, वहाँ व्यापक अवश्य हो । प्रस्तुत में द्रव्यचाक्षुषजनकता-वच्छेदक जाति व्यापक है, न कि व्याप्य । अतः नीलत्रसरेणुनिष्ठ एकत्व में द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति रहने पर द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पर्शनजनकतावच्छेदक जाति का आपादन नहीं किया जा सकता । इसलिए नील त्रसरेणु में उद्भूत स्पर्श को मानने पर भी उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति का अवकाश नहीं है । अतः उद्भूत नील रूप का व्यापक उद्भूत स्पर्श है - ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है ।

वायो. इति । यहाँ यह शंका हो कि → “द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदक जाति की व्यापक मानी जाय, तब तो वायु का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने लगेगा । इसका कारण यह है कि आपके मत के अनुसार वायु का स्पर्श स्पर्शन प्रत्यक्ष का विषय बनता है । इसलिए वायुगत एकत्व में आप द्रव्यान्य-द्रव्यस्पर्शनजनकता-वच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को मानते हैं । व्याप्य के अधिकरण में व्यापक का होना अनिवार्य है । इसलिए वायुगत एकत्व में तादृश प्रकृष्टत्व जाति की व्यापक द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति भी सिद्ध हो जायेगी । जहाँ जहाँ व्याप्य होता है वहाँ वहाँ व्यापक होता ही है, यह सभी को गान्य है । द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति होने पर तो वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना आवश्यक है” ← तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि वायु द्रव्यचाक्षुष का कारण ही नहीं है । आशय यह है कि विषयतासम्बन्ध से द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य विषयविधया कारण होता है । जैसे घटविषयक प्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से घट में रहता है और तादात्म्य सम्बन्ध से घट भी वहाँ रहता है, जो विषयविधया स्वविषयक प्रत्यक्ष का कारण है । सामान्यतः यह कार्य-कारणभाव माना गया है । मगर वायु का कभी भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसलिए विषयतासम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति विषयविधया तादात्म्य सम्बन्ध से वायु को कारण नहीं माना जा सकता । पृथ्वी, जल और तेजस द्रव्य को ही द्रव्यचाक्षुष के प्रति विषयविधया कारण माना गया है । इसलिए वायुगत एकत्व में द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति होने पर भी वायुविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष की विषयता सम्बन्ध से वायु में उत्पत्ति होने की कोई संभावना नहीं है ।

अनेकान्तवादी :- तर्हि. इति । उस्ताद ! आप द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पर्शनजनकतावच्छेदक जाति को द्रव्यचाक्षुष-

स्पर्शनिष्ठस्याऽप्युपपत्तेः द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेर्द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेत-
स्पर्शजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाभावः, विषयस्य तत्तद्व्यक्तित्वे कारण-
तायां मानाभावश्च ।

❀ जयलता ❀

रेणुनिष्ठस्पर्शस्य स्पर्शनाऽहेतुत्वाऽभ्युपगमेनैव त्रुटिस्पर्शाऽस्पर्शनिष्ठस्याऽप्युपपत्तेः = विषयतासम्बन्धेन नीलत्रसरेणुस्पर्शे स्पर्शनि-
प्रत्यक्षानुत्पादस्यापि सम्भवात् । त्रसरेणुसमवेतस्पर्शाऽस्पर्शनिष्ठकृते चैवं द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजाते-
द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्ववृत्तिजातिव्याप्यत्वाऽभ्युपगमोऽपि नातिप्रयोजनः, द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदकप्रकृष्ट-
त्वजातेर्द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्यापकत्वाऽभ्युपगमेऽपि क्षतिविरहादित्याशयेन स्याद्वाद्याह- द्रव्यचाक्षुषजनकताव-
च्छेदकैकत्वनिष्ठजातेः द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाभाव इति । द्रव्यचाक्षुषजनकता-
वच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेः द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतजनकतावच्छेदकजातिव्यापकत्वमेव, न तु तद्व्याप्यत्वमित्यत्राऽनुकूलतर्कविरह इत्यर्थः ।

नन्वस्तु द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकजातेः द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्वं किं नश्छिन्नं ?
नीलत्रसरेणुसमवेतैकत्वे द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजातिव्यापकद्रव्यान्वद्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातेः सत्त्वेऽपि
विषयविधया तादात्म्येन वायोश्चाक्षुषाऽहेतुत्ववत् नीलत्रसरेणुसमवेतस्पर्शस्याऽपि तथैव स्पर्शनाऽहेतुत्वादिति नैयायिकैकदेशीय-
शङ्कायां स्याद्वाद्याह-विषयस्येति । विषयस्य स्वविषयकप्रत्यक्षे विषयत्वेनैव कारणत्वं न तु तत्तद्व्यक्तित्वेन, गौरवात्, प्रमाणा-
भावात् । यथा विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन विषयः कारणमिति सामान्यकारणकार्यभावबलेन विषयतासम्बन्धेन
नीलत्रसरेणुस्पर्शस्पर्शनिं प्रति तादात्म्येन तत्स्पर्शकारणताया अनपह्नवनीयत्वात् स्वसाक्षात्कारं प्रति घटस्येव । यद्वा स्वविषय-
प्रतियोगिकसमवायेन द्रव्यसमवेतसाक्षात्कारं प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य कारणत्वमते घटनीलरूपस्पर्श-घटत्वादिसाक्षात्कारं प्रति
तादात्म्येन घटस्येव नीलत्रसरेणुस्पर्शस्पर्शनिं प्रति नीलत्रसरेणोः कारणत्वस्याऽबाधितत्वात् । न च तादृशः सामान्यकार्यकारणभाव
एवाऽसम्मतः, तत्तत्कार्यकारणभावस्यैवाऽभ्युपगमात्, स्वप्रतियोगिकसमवायेन घटस्पर्शस्पर्शनिं प्रति तादात्म्येन घटस्य कारण-
त्वोपगमेऽपि नीलत्रुटिस्पर्शस्पर्शनिं प्रति तादात्म्येन त्रसरेणोः कारणत्वस्याऽनङ्गीकारात्, आपादकविरहेण नीलत्रुटिस्पर्श-

जनकतावच्छेदकजाति की व्याप्य मान कर भी विषयविधया वायु को द्रव्यचाक्षुष का अहेतु मान कर वायुचाक्षुष का निराकरण
करते हैं, तब तो द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति को द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदक जाति की व्याप्य मानने
पर भी त्रसरेणुस्पर्श या त्रसरेणु को विषयविधया द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनि का अकारण मान कर त्रसरेणुस्पर्श के स्पर्शनि प्रत्यक्ष
के प्रसंग का निराकरण किया जा सकता है । मतलब यह है कि त्रसरेणुस्पर्श के स्पर्शनि के अभाव की उपपत्ति करने के
लिए नैयायिक मनीषियों की ओर से जो कहा गया था कि - 'द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदक जाति द्रव्यचाक्षुषजनकता-
वच्छेदक जाति की व्याप्य ही है, न कि व्यापक' - वह संगत नहीं है, क्योंकि द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतजनकतावच्छेदक जाति
को व्यापक एवं द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति को व्याप्य मानने पर भी त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शनि प्रत्यक्ष के अभाव की
उपपत्ति ठीक उसी तरह की जा सकती है जैसे वायु के चाक्षुष के अभाव की उपपत्ति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह
तो नहीं कहा जा सकता है कि - 'द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदक जाति व्याप्य ही है और द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक
जाति उसकी व्यापक है'; क्योंकि नैयायिक के इस कथन में कोई युक्ति नहीं होने से यह भी कहा जा सकता है कि -
'द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदक जाति व्यापक ही है और द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति व्याप्य ही है' ।

❀ व्यतिरेकतत्त्वत्वे विषय प्रत्यक्ष का कारण नहीं है - स्याद्वादी ❀

विष. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "चलो मान लिया, द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनि-
जनकतावच्छेदक जाति, जो एकत्वसंख्यागत है, व्यापक ही है और द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति उसकी व्याप्य ही है ।
मगर फिर भी नीलत्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शनि की आपत्ति नहीं दी जा सकती । इसका कारण यह है कि नीलत्रसरेणुगत
एकत्व में द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति होने की वजह उसकी व्यापक द्रव्यान्व-द्रव्यसमवेतस्पर्शनिजनकतावच्छेदक जाति होने
पर भी, चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति वायु की भाँति, स्पर्शनि प्रत्यक्ष के प्रति त्रसरेणु अकारण है, ऐसा कहा जा सकता है"
← तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि कोई भी विषय प्रत्यक्ष के प्रति तत् तत् व्यक्तित्वरूप से कारण नहीं
है, किन्तु विषयत्वरूप से ही कारण है । वैयक्तिकरूप से विषय को प्रत्यक्षकारण मानने पर कारणतावच्छेदक धर्म अनेक

यत्तु -> महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः कारणत्वाऽकल्पनलाघवात् त्वक्संयुक्तत्वाच्चवत्समवायत्वेन
द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनं प्रति प्रत्यासत्तित्वाच्च त्रुटिस्पर्शस्पर्शनमिति <-

❀ जयलला ❀

स्पर्शनस्याऽनापाद्यत्वादिति वक्तव्यम्, तत्तद्व्यक्तित्वेन प्रत्यक्षकारणतोपगमेऽनन्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवात् । न च तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति वाच्यम्, प्रमाणवृत्तिपूर्वमेव तादृशगौरवस्योपस्थितेः तादृशकार्यकारणभावबाहुल्यकल्पने मग्नाभावात्, सामान्यकार्यकारणभावकल्पने लाघवात् । ततश्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वापगमे द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदिकाया एकत्व-वृत्तिजातेः द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातिव्याप्यत्वे बाधकामावेन नीलवसरेणुस्पर्शस्पर्शनस्य सुसगु-णाऽप्यपाकर्तुमशक्यत्वात् । न च तत्स्पर्शनं भवति । अत एव नीलवृष्टेः उद्भूतस्पर्शाऽभावस्याऽवश्यमुपगन्तव्यत्वे उत्कटनीलरूपस्य नोद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वं, येन तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वं उत्कटस्पर्शाभावस्य बाधकत्वं स्यात् । अनेन 'नीलं तमः' इति प्रतीतिः प्रामाणिकत्वमावेदितम् । ततः सुष्ठुक्तं 'तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानमि' (दृश्यतां ३०२ तमे पुटे) ति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

अथ यस्य द्रव्यस्य स्पर्शनं भवति तत्रैव समवेतस्य स्पर्शस्य स्पर्शनं भवति, यथा 'घटं स्पृशामी'तिप्रतीत्या स्पर्शनविषयीभूतघटे समवेतस्य स्पर्शस्य स्पर्शनम् । इत्थञ्च स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धेन स्पर्शनविशिष्टे समवेतस्य स्पर्शस्य स्पर्शनविषयत्वसिद्धेः त्वगिन्द्रियं न स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन स्पर्शनकारणं किन्तु विषयतया स्वसंयुक्तस्पर्शन-विशिष्टानुयोगिकसमवायसंसर्गेणैव । युक्तश्चेतत् महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः स्पर्शप्रत्यक्षकारणत्वाऽकल्पनेन लाघवात्, दर्शितप्रत्यासत्त्या एवाऽतिप्रसङ्गभङ्गकत्वादित्यभिप्रायकं नैयायिकदेशीयान्तरमतमावेदयति निराकर्तुं प्रकरणकारः -> यच्चिति । 'तत्रे'त्यनेनाऽ-स्याऽन्वयः । त्वक्संयुक्तत्वाच्चवत्समवायत्वेनेति । त्वाच्चप्रत्यक्षनिरूपितविषयतासंसर्गेण त्वक्संयुक्तत्वाच्चप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिक-समवायत्वेन, अनेन 'त्वक्संयुक्तसमवायत्वेने'त्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनं = द्रव्यान्यत्वे सति यो द्रव्यसमवेतः स्पर्शादिः तद्विषयः स्पर्शः त्वगिन्द्रियजन्यस्पर्शस्पर्शनं प्रति प्रत्यासत्तित्वात् = समवायस्य संसर्गत्वोपगमात् न त्रुटि-स्पर्शस्पर्शनं = द्रव्यान्यत्वे सति वसरेणुसमवेतो यः स्पर्शः तद्विषयकस्पर्शनप्रत्यक्षापत्तिः । वसरेणुसमवेतस्पर्शप्रतियोगिकसम-वायस्य स्पर्शनिन्द्रियसंयुक्तसमवायत्वेऽपि वसरेणोः स्पर्शनाऽविषयत्वात् त्वगिन्द्रियसंयुक्तत्वाच्चप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्वविरहेण

प्रसक्त बनने से कार्यकारणभाव में गौरव होता है । जैसे घटप्रत्यक्ष के प्रति घट में घटत्वेन कारणता, पटप्रत्यक्ष के प्रति पट में पटत्वेन कारणता इत्यादि का अंगीकार कर्तव्य बनने से कार्यकारणभाव में बाहुल्य आता है । जब कि विषयत्वरूप से विषय को प्रत्यक्षकारण मानने पर, चाहे घटप्रत्यक्ष हो या पटविषयक प्रत्यक्ष हो, घट या पट में विषयत्वरूप से ही प्रत्यक्षकारणता का अङ्गीकार होता है; जिसके फलस्वरूप कार्य-कारणभाव में गौरव की प्रसक्ति नहीं रहती है । इसलिए गौरव दोष की वजह वैयक्तिकरूप से विषय में प्रत्यक्ष की कारणता अप्रामाणिक है । व्यक्तिगतरूप से विषय को प्रत्यक्षकारण मानने में कोई प्रमाण न होने की वजह यह नहीं कहा जा सकता कि "चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति वायु अकारण है तथा स्पर्शन प्रत्यक्ष के प्रति वसरेणु या वसरेणुस्पर्श अकारण है" अतः वसरेणुगत एकत्व में द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक जाति रहने से जैसे नील वसरेणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, ठीक वैसे ही उसकी व्यापक द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदक जाति के उसीमें रहने से नीलवसरेणुस्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष होने की आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहेगी । इसका निराकरण तब ही हो सकता है, यदि उत्कट नील रूप को उत्कट स्पर्श का व्याप्य न माना जाय । इस परिस्थिति में अन्यकार में रूपवत्ता के प्रति स्पर्शाभाव बाधक नहीं हो सकता । निष्कर्ष अन्यकार द्रव्यात्मक है ।

❀ स्पर्शनिन्द्रिय में स्वसंयुक्तत्वाच्चवत्समवाय से कारणता - नैयायिकदेशीय ❀

यत्तु. इति । अन्य नैयायिक भनीपियों वसरेणुस्पर्श के अस्पर्शन का निर्वाह करने के लिए इस व्यवस्था का स्वीकार करते हैं कि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पर्शन के प्रति स्वसंयुक्तत्वाच्चप्रत्यक्षविशिष्टसमवाय सम्बन्ध से त्वगिन्द्रिय कारण है । इन विद्वानों का आशय यह है कि जिस द्रव्य का स्पर्शन प्रत्यक्ष होता है, उसीमें समवेत स्पर्शादि का स्पर्शन प्रत्यक्ष होता है । जिस द्रव्य में महत्त्व और उद्भूत स्पर्श रहता है, उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, न कि अन्य द्रव्य का । अतः स्पर्शनप्रत्यक्षमात्र के प्रति महत्त्व और उद्भूत स्पर्श को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है । जैसे महत्परिमाण एवं उद्भूतस्पर्श से युक्त होने से घट का स्पर्शन प्रत्यक्ष होता है । महत्परिमाण से शून्य परिमाण का या उद्भूतस्पर्शशून्य प्रभा-आकाशादि का स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसलिए महत्त्व और उद्भूतस्पर्श में द्रव्यविषयक स्पर्शनप्रत्यक्ष की कारणता माननी अनिवार्य है । मगर स्पर्श

तथा, आश्रयत्वाचस्य नियमतः पूर्वमभावेन त्वाचवत्त्वस्य विशेषणत्वाऽऽयोगात्,

❀ जयलता ❀

त्रुटिसमवेतस्पर्शगोचरस्पर्शनजनकतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वाऽयोगात्, कारणतावच्छेदकसंसर्गेण त्वगिन्द्रियस्य द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेत-स्पर्शनकारणस्य त्रुटिस्पर्शोऽविद्यमानत्वेनाऽऽपादकविरहात् न विषयतासम्बन्धेन त्रुटिस्पर्शे स्पर्शनप्रसङ्ग इति नोद्भूतनीलरूप-स्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वे व्यभिचारो, येन तमस उद्भूतरूपवत्त्वे स्पर्शाभावस्य बाधकत्वं न स्यादिति नैयायिकैकदेशीयान्तराभिप्रायः ।

ननु स्पर्शनेन्द्रियसंयुक्तानुयोगिकत्वमिव विषयतासम्बन्धेन त्वाचप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्वं किं समवायस्य विशेषणं यदुतोपलक्षणं ? इति कल्पनायुगली मञ्जुकलमरालविहङ्गमयुगलीय विमलीभावं कलयन्ति कं लयन्ति तीव्रं प्रगुणयत्येव गुणज्ञगणचित्ताङ्गणेष्वित्याशयेन प्रकरणकृत्तन्निराकुर्वन्नाह- तन्नेति । प्रथमकल्पनायामाह- आश्रयत्वाचस्य = द्रव्यान्यत्वे सति यो द्रव्यसमवेतः तदधिकरणविषयकस्पर्शनप्रत्यक्षस्य नियमतः पूर्वमभावेन = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनमाऽव्यवहित-पूर्वक्षणाऽव्यापकत्वेन, त्वाचवत्त्वस्य = स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासंसर्गेण स्पर्शनप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्वस्य विशेषण-त्वाऽयोगात् = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकसंसर्गविशेषणत्वाऽसम्भवात्, व्यावृत्तिबुद्धिसमये विशेष्यसम्बद्धस्यैव व्यावर्तकस्य विशेषणत्वोक्तेः । तन्मते वायोरस्पर्शनत्वेऽपि वायुस्पर्शस्पर्शनस्य जायमानत्वाच्चो न स्वसंयुक्तत्वाचवत्त्वसमवायेन हेतुत्वं किन्तु स्वसंयुक्तसमवायेनैव । तथा च त्रुटिस्पर्शस्पर्शनस्य दुर्निवारत्वमित्याशयः ।

के स्पर्शन प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व और उद्भूतस्पर्श को कारण मानना अनावश्यक है । फिर भी त्रसरेणु, परमाणु, प्रभा आदि द्रव्य के स्पर्श के स्पर्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसके निवारणार्थ हम त्वगिन्द्रिय को द्रव्येतर-द्रव्यसमवेत स्पर्शादि के स्पर्शन प्रत्यक्ष के प्रति स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से कारण नहीं मानते हैं, किन्तु स्वसंयुक्तत्वाचप्रत्यक्षविशिष्टसमवाय सम्बन्ध से कारण मानते हैं । स्वपद से त्वगिन्द्रिय का ग्रहण अभिप्रेत है । उससे संयुक्त त्रसरेणु, परमाणु, प्रभा आदि द्रव्य हैं । उनमें यद्यपि स्पर्श गुण का समवाय रहता है, मगर त्रसरेणु, परमाणु आदि द्रव्य स्पर्शन प्रत्यक्ष (= त्वाच) का अविषय होने से विषयता सम्बन्ध से त्वाचविशिष्ट नहीं बनते हैं । इसलिए त्रसरेणु, परमाणु आदि के स्पर्श में जो समवाय रहता है, वह स्पर्शनेन्द्रियसंयुक्त-त्वाचविशिष्ट-द्रव्यानुयोगिक नहीं है । अतएव त्वगिन्द्रिय स्वसंयुक्तत्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से त्रसरेणु, परमाणु आदि के स्पर्श में नहीं रहती है । कार्यतावच्छेदकीभूत विषयतासम्बन्ध से त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शन प्रत्यक्षात्मक कार्य के अधिकरणविधया अभिमत त्रसरेणुस्पर्श में कारणतावच्छेदकीभूत स्वसंयुक्तत्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से स्पर्शनेन्द्रियात्मक कारण नहीं रहने से त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती । कार्याधिकरणविधया अभिमत पदार्थ में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से सभी कारण के रहने पर ही कार्योंत्पत्ति का आपादन किया जा सकता है । क्या तादात्म्य सम्बन्ध से तंतुशून्य कपाल में पटोत्पत्ति का आपादन किया जा सकता है ? यहाँ यह शंका करना कि —> 'स्वसंयुक्तसमवाय की अपेक्षा स्वसंयुक्तत्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतगोचर स्पर्शन प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानने में गौरव है' <— भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि स्वसंयुक्त-त्वाचविशिष्ट-द्रव्यानुयोगिक समवाय को तादृशकारणता-अवच्छेदक सम्बन्ध मानने पर महत्त्व और उद्भूत स्पर्श में द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पर्शनप्रत्यक्ष की कारणता की कल्पना अनावश्यक बन जाने से कारणशरीर में लाघव होता है, कारणतावच्छेदक-धर्मदेह में लाघव होता है । निष्कर्ष :- त्रसरेणुस्पर्श के अस्पर्शन का निर्वाह होने से उद्भूत नील रूप में उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति अबाधित है ।

❀ त्वाचप्रत्यक्ष में समवाय की विशेषणता या उपलक्षणता नामुनाकिन - स्यात्वादी ❀

तत्र, इति । उपर्युक्त विद्वानों के मत का प्रतिकार करते हुए प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते हैं, नैयायिक मनीषियों का यह कथन कि - 'स्पर्शनेन्द्रिय स्वसंयुक्तत्वाचविशिष्ट समवाय सम्बन्ध से द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष का कारण है' <— असंगत है । इसका कारण यह है कि त्वाच प्रत्यक्ष दर्शित सम्बन्ध का न तो विशेषण हो सकता है और न तो उपलक्षण । व्यावर्तक धर्म या तो विशेषण होता है, या तो उपलक्षण । सामान्यतः विशेष्य की अन्य से व्यावृत्ति करने के समय जो नियमतः विशेष्य में विद्यमान रहता हो वह विशेषण कहा जा सकता है । जैसे 'दण्डी पुरुषः' यहाँ अदण्डी से विवक्षित पुरुष की व्यावृत्ति = व्यवच्छेद करने के समय पर दण्ड पुरुष में अवश्य रहने से वह पुरुष का विशेषण होता है । अतः प्रस्तुत में त्वाच प्रत्यक्ष को समवाय का विशेषण मानने का मतलब यह होता है कि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शादिविषयक स्पर्शन प्रत्यक्षात्मक कार्य का जन्म होने की पूर्व क्षण में द्रव्यस्पर्श में स्वसंयुक्त-त्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से

उपलक्षणत्वे घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पर्शनापत्तेः ।

* गलतम् *

द्वितीयकल्पनायामाह- उपलक्षणत्व इति । घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पर्शनापत्तेरिति । तदानीं घटादिसमवेत-स्पर्शादिस्पर्शनप्रसङ्गात्, आदिशब्देन घटत्व-द्रव्यत्वादेर्ग्रहणम् । व्यावृत्तिधीक्षणे विशेष्याऽसम्बद्धस्य व्यावर्तकस्योपलक्षणत्वोक्तेः घटादेर्विषयतासम्बन्धेन यदाकदाचित्त्वाचसम्बद्धत्वात् त्वाचविशिष्टानुयोगिकत्वस्य द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पर्शनकारणतावच्छेदकीभूत-सम्बन्धोपलक्षणत्वसम्भवेन घटाद्युत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन घटादिस्पर्शवेतस्पर्शादिस्पर्शनं निर्णयम्, तदानीं त्वचो घटादि-संयुक्तत्वदशायां घटादिस्पर्शो स्वसंयुक्तत्वाचवत्समवायेन त्वगिन्द्रियस्य सत्त्वात् । न च कार्योत्पादाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्याधिकरणे विषयत्वेन कारणस्य स्पर्शस्याऽविद्यमानत्वात्, उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन द्रव्याणां निर्गुणत्वादिति वाच्यम्, विषयस्य कार्यसहभावेन हेतुत्वात् । तस्य विशेषणत्वे उपलक्षणत्वे वा वायोस्त्वाचत्वेन तद्वृत्तिस्पर्शत्वाचानु-पपत्तिरप्यत्राऽनुसन्धेया ।

इदन्त्ववधेयम् - विशिष्टज्ञानप्रकारीभूतो धर्मो द्विविधो व्यावर्तकोऽव्यावर्तकश्च । तत्राऽव्यावर्तकः प्रमेयत्वादिलक्षण उप-रञ्जक इति गीयते । तत्त्वञ्च व्यावृत्तिबुद्धिजनकतानवच्छेदकवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वम् । भवति हि प्रमेयत्वादिवैशिष्ट्यं तथा, व्यति-रेकविशेषणवैशिष्ट्यवद्विशेष्यज्ञानत्वस्यैवाऽतद्व्यावृत्तिबोधजनकतावच्छेदकत्वात् । अतादृशो व्यावर्तकः । स च विशेषणोपलक्षणभेदाद् द्विविध इति शास्त्रमर्यादा । तत्र व्यावृत्तिबुद्धिजनकज्ञानप्रकारत्वे सति सद् विशेषणम्, असदुपलक्षणं यथा 'दण्डी पुरुषः' 'कुरुणा क्षेत्रमित्येके । व्यावृत्तिबोधसमये व्यावर्तकं सद् विशेषणमसदुपलक्षणमित्यपरे । व्यावर्तकत्वे सति क्रियान्वयि विशेषण-मन्यदुपलक्षणमितीतरे । व्यावर्तकं साक्षात् सम्बद्धं नीलादि विशेषणं परम्परासम्बद्धं काकाद्युपलक्षणमिति शिवादित्यमिश्राः ।

चिन्तामणिकृतस्तु "प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणं तदन्यव्यावर्तकमुपलक्षणं व्यावृत्त्यु-ल्लेखादनन्तरमेव विशेषणत्वबुद्धिः । तदाहुराचार्याः "सदसद्वा समानाधिकरणं व्यवच्छेदकं विशेषणं व्यधिकरणमुपलक्षणमि"ति । अस्यार्थः, स्वाधिकरणमात्रवृत्तिव्यावृत्तिबोधकत्वं स्वावच्छिन्नाधिकरणताकव्यावृत्तिबोधकत्वं स्वानधिकरणाऽधिकरणकव्यावृत्त्य-बोधकत्वे सति व्यावृत्तिबोधकत्वं वेति । उपलक्षणन्तु स्वानधिकरणेऽपि व्यावृत्तिं बोधयति । अथवा विवक्षितान्वयप्रतियोगिता-वच्छेदकं विशेषणं, 'दण्डिनमानये'त्यादौ दण्डस्तथा । तदनवच्छेदकमुपलक्षणं 'काकेन देवदत्तस्य गृहा' इत्यादौ काको न गृहस्य देवदत्तान्वयप्रतियोगितावच्छेदकः, तद्विरुद्धशायामपि देवदत्तान्वयाऽवगमात्, किन्तु गृहविशेष एव उपलक्षणपरिचितः । अत एवाऽन्वयाऽप्रतियोगित्वेऽपि नोपलक्षणवैयर्थ्यम् । यद्वा यदन्विततया ज्ञात एव विशेष्ये तात्पर्यविषयेतराऽन्वयधीस्तद्व्यवच्छे-दकं विशेषणं, अनेवम्भूतं तदुपलक्षणं, उपलक्षणानवच्छिन्नेऽप्युपलक्ष्ये तात्पर्यविषयीभूतान्वयबोधात् । अयमेव कार्यान्वयि विशेषणं तदनन्वयुपलक्षणमित्यस्याऽर्थः, न तु तात्पर्यविषयीभूतविशेष्याऽन्वयबोधविषयत्वं विशिष्टज्ञानविषयत्वं वा, प्रतियोग्यभावबुद्धि-विषय इति मते तदभावात् । यद्वा विशेष्यान्वयिना यस्याऽवश्यमन्वयस्तदवच्छेदकं विशेषणं तदन्यदुपलक्षणमिति तत्रोपलक्ष्य-विशेष्यमात्रान्वयात् यद्व्यावर्तकं विशेष्यान्वयिन्यन्वीयते तद्विशेषणं तदन्यदुपलक्षणमिति वा । यद्वा तात्पर्यविषयान्वयप्रतियोगी

त्वगिन्द्रिय (= स्पर्शनेन्द्रिय) रहने से तादृश स्पर्श के आश्रयीभूत द्रव्य में विषयता सम्बन्ध से स्पर्शन प्रत्यक्ष (= त्वाच) नियमतः रहता है, अर्थात् स्पर्शविषयक स्पर्शनप्रत्यक्षस्वरूप कार्य के जन्म की पूर्व क्षण में स्पर्श के अधिकरणीभूत द्रव्य का अवश्य स्पर्शन प्रत्यक्ष होता है तब ही त्रसरेणु-परमाणु आदि में रहनेवाले स्पर्श के समवाय से घटादिस्पर्शसमवाय की व्यावृत्ति करने वाला त्वाच प्रत्यक्ष कारणतावच्छेदकीभूत समवायसम्बन्ध का विशेषण बन सकता है । मगर ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्पर्श का प्रत्यक्ष होने की पूर्व क्षण में स्पर्शाश्रयीभूत द्रव्य का अवश्य स्पर्शन प्रत्यक्ष हो ऐसी कोई ईश्वराज्ञा नहीं है । नैयायिक-मतानुसार वायु का स्पर्शन प्रत्यक्ष न होने पर भी वायुस्पर्शविषयक स्पर्शन साक्षात्कार होता है । वायुस्पर्शस्पर्शन से वायु का नैयायिक मनीषी अनुमान करते हैं । इसलिए 'वायुस्पर्श का स्पर्शन नहीं होता है' - ऐसा नैयायिक की ओर से नहीं कहा जा सकता । अन्यत्र भी, घटादिस्पर्शविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष की अव्यवहित पूर्व क्षण में घटादि का स्पर्शन प्रत्यक्ष अवश्य होता है - ऐसा सार्वलौकिक अनुभव भी नहीं है । इसलिए द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेत(स्पर्श)विषयक-स्पर्शनप्रत्यक्षकारणता-वच्छेदक-प्रत्यासत्तिस्वरूप समवाय का त्वाचवत्त्व (= स्पर्शनप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्व) विशेषण नहीं हो सकता है ।

उपलक्षण. इति । एवं त्वाचवत्त्व को तादृश समवाय का उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब घटादिजन्माऽ-व्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन घटादिस्पर्शविषयकस्पर्शनप्रत्यक्षोदय की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । आशय यह है कि व्यावृत्तिसमय

कालभेदेनैकस्यामेव उत्पत्त्यावच्छेदकत्वाच्चानां सम्भवेन तत्त्वाचप्रवेशाऽपेक्षया महत्त्वोद्भूतरूप-
योरेव प्रत्यासत्तिमध्ये प्रवेशस्य त्रुटिस्पर्शोद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वात् ।

❀ अयत्नता ❀

उद्देश्यान्वयप्रतियोगी वा धर्मो विशेषणं तदन्यदुपलक्षणं'' (त.चिं.प्र.खं.पृ.८३४) इति वदन्ति ।

विशेषणमुपलक्षणं च ज्ञानविशेषमादाय धर्मिविशेषमादाय च निरूप्यत इति न सर्वत्राऽनुगतमस्ति, किन्तु तत्तद्व्यवहारानुरोधेन विषयताविशेषरूपं तदुभयलक्षणमवमन्तव्यम् । अवधारणाख्यविषयतावद् विशेषणं तदितरचोपलक्षणमिति तु स्याद्वादिनः समाकलितसर्वतन्त्ररहस्याः ।

साम्प्रतं प्रकृतं प्रक्रियते - कालभेदेन = भिन्नकालावच्छेदेन एकस्यामेव घटादिलक्षणायां व्यक्तौ अनन्तत्वाचानां = अनन्तानां त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाणां सम्भवेन तावत्त्वाचप्रवेशाऽपेक्षया = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकसम्बन्ध-कुक्षी अनन्तस्पर्शननिवेशाऽपेक्षया महत्त्वोद्भूतरूपयोरेव प्रत्यासत्तिमध्ये = तादृशकारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरे, प्रवेशस्य उचितत्वादित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । त्वाचोपलक्षणत्वाऽभ्युपगमे विशेष्यसम्बन्धाऽसम्बद्धानां सर्वेषामेव त्वाचप्रत्यक्षाणां विनिगमनाविरहेण सम्बन्धशरीरे अवश्यनिवेश्यत्वेनाऽनन्तत्वाचप्रवेशप्रसङ्गः, एकस्मिन्नपि घटादिस्तुनि काल-देश-पुरुषादिभेदेनाऽनन्तत्वाचानां विषय-तासम्बन्धेन जायमानत्वात् । तथा च महद्गौरवमापतितं कथं अपसारणीयम् ? अतो लाघवात् तादृशजनकतावच्छेदकसम्बन्धकुक्षी महत्त्वोद्भूतरूपनिवेशः समीचीनः । एतेन विषयतया द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनं प्रति त्वगिन्द्रियस्य स्वसंयुक्तत्वाचविशिष्टा-नुयोगिकसमवायेन कारणत्वमिति निरस्तम्, उपलक्षणीभूतानन्तत्वाचघटितसमवायापेक्षया स्वसंयुक्तमहत्त्वोद्भूतरूपवदनुयोगिकसम-वायस्यैव तथात्वोचित्यात् । महत्त्वपदेनात्र प्रकृष्टमहत्त्वं बोध्यं, तेन न द्व्यणुकस्पर्शनप्रसङ्गः ।

अथ त्वाचं विहाय प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतरूपयोः प्रत्यासत्तिघटकत्वेनोपादाने त्रुटिस्पर्शस्पर्शनं दुर्निवारं, त्रुटी प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतरूपयोः सत्त्वेन त्रुटिस्पर्शं स्वसंयुक्तमहत्त्वोद्भूतरूपवदनुयोगिकसमवायेन त्वगिन्द्रियस्य सत्त्वादिति नैयायिकाशङ्कयामाह त्रुटिस्पर्शोऽ-नुद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वादिति । त्रसरेणुस्पर्शाऽस्पर्शननिर्वाहकृते तदनुत्कटत्वकल्पनोचिता, न तु त्वक्संयुक्तत्वाचवदनु-

में विशेष्य से असम्बद्ध रह कर भी जो विशेष्य की अन्य से व्यावृत्ति (= व्यवच्छेद) करता है, वह उपलक्षण कहा जाता है । जैसे काक से उपलक्षित (= परिचित) देवदत्तगृह का, काकानुपस्थिति होने पर भी, अन्य गृह से व्यवच्छेद होने से काक देवदत्तगृह का उपलक्षण बनता है । देवदत्तगृह में सर्वदा या व्यावृत्ति काल में काक का होना अनिवार्य नहीं है । इस तरह त्वाचप्रत्यक्षानुयोगिकत्व को समवाय का उपलक्षण मानने का मतलब यह है कि स्पर्शविषयक प्रत्यक्ष की पूर्व क्षण में स्पर्शाश्रय का अवश्य त्वाच प्रत्यक्ष हो यह जरूरी नहीं है । किसी काल में घटादि का स्पर्शन प्रत्यक्ष होना चाहिए - इतना ही आवश्यक है । घटादि पदार्थ में उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन गुणमात्र का अभाव होता है । द्रव्योत्पत्ति के अनन्तर क्षण में द्रव्य में गुणोत्पत्ति होती है - यह नैयायिक सिद्धान्त है । इसके अनुसार घटोत्पादद्वितीयक्षणावच्छेदेन घट में उद्भूत स्पर्श गुण की उत्पत्ति होगी । त्वाचवत्त्व समवाय का विशेषण नहीं, बल्कि उपलक्षण होने की वजह द्वितीय क्षण में घटस्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि त्वगिन्द्रिय स्वसंयुक्तत्वाचवदनुयोगिक समवाय सम्बन्ध से तब घटस्पर्श में रहती है । किसी न किसी काल में घट का स्पर्शन प्रत्यक्ष होने वाला है । इसलिए घटस्पर्शप्रतियोगिक समवाय का त्वाचप्रत्यक्षाश्रय (= घट) अनुयोगिकत्व विशेषण बन सकता है । इस तरह घटोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में घटस्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा । मगर द्रव्योत्पत्ति की द्वितीय क्षण में द्रव्य इन्द्रियसंयुक्त होने पर भी द्रव्यसमवेत गुण-कर्म का साक्षात्कार नैयायिकमतानुसार नहीं होता है । इसलिए कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में उपलक्षणविधया भी त्वाचवत्त्व का प्रवेश नहीं हो सकता है । जो न उपलक्षण हो और न तो विशेषण हो वह धर्म व्यावर्तक नहीं बन सकता है । इसलिए स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही स्पर्शनेन्द्रिय को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पर्शन का कारण मानना संगत प्रतीत होता है ।

❀ उपलक्षणविधया त्वाचप्रत्यक्षा का सम्बन्धव्याख्या में प्रवेश गौरवग्रहण - स्याद्वादी ❀

कालभे. इति । दूसरी बात यह है कि त्वाचवत्त्व को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पर्शन के कारणतावच्छेदक सम्बन्ध का उपलक्षण मानने पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक-एक द्रव्य में भिन्न-भिन्न-कालावच्छेदेन एवं एक काल में भी पुरुषभेद से अनन्त स्पर्शन प्रत्यक्ष विषयता सम्बन्ध से रहने से किस स्पर्शन का सम्बन्धशरीर में प्रवेश किया जाय ? विनिगमक के अभाव से तादृश अनन्त त्वाच प्रत्यक्ष का सम्बन्धशरीर में निवेश करना होगा । यह तो बहुत बड़ा गौरव है । इसकी अपेक्षा उचित तो यह है कि सम्बन्ध के अंश में महत्त्व और उद्भूत स्पर्श का ही निवेश किया जाय ? अनन्त त्वाच प्रत्यक्ष

केचित्तु → व्यासज्यवृत्तिगुणाऽस्पर्शननिर्वाहाय प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः प्रत्यासत्त्य-

नयलता

योगिकसमवायस्य तादृशप्रत्यासत्तित्वकल्पना । अनेनोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वकल्पनाऽपि प्रत्युक्ता, नीलवसरेणौ व्यभिचारात् । अत एव तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक इत्यपि निराकृतम् । इत्थञ्च 'नीलं तम' इति प्रतीतिः प्रमात्वेन रूपवत्त्वात्तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

अथ द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शनं प्रति स्वसंयुक्त-प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शवदनुयोगिकसमवायेन स्पर्शनेन्द्रियस्य कारणत्वे घटाकाशसंयोग-द्वित्वादिव्यासज्यवृत्तिगुणस्पर्शनप्रसङ्गः । न च तद्भवति । अतो नोक्तप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयो-निवेशः समीचीनः । व्यासज्यवृत्तिगुणस्पर्शनवारणाय व्यासज्यवृत्तिगुणत्वाच्च प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन लौकिकविषयत्वा-वच्छिन्नत्वाच्चाभावस्य प्रतिबन्धकत्वमावश्यकम् । तस्य च प्रतिबन्धतावच्छेदकं न व्यासज्यवृत्तिगुणत्वाच्चत्वं, गुणादित्वाच्च प्रति प्रकृष्टमहत्त्ववदुद्भूतस्पर्शवत्समवायस्यातिरिक्तकारणत्वकल्पनापत्तेः । अपि तु निखिलगुण-कर्मत्वाच्चसाधारणं द्रव्यान्य-सत्त्वाच्चत्वमेव तत्प्रतिबन्धतावच्छेदकम् । एवञ्च घटाद्यैकैकप्रतियोगिकत्वक्संयोगदशायां न घटपटवृत्तिव्यासज्यवृत्तिसंयोग-द्वित्वयोः स्पर्शनप्रसङ्गः, लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाच्चाभावलक्षणप्रतिबन्धकस्य स्वसंयुक्तपटसमवेतसंयोगद्वित्वयोः सत्त्वात् । अत्र त्वक्संयोगस्य कार्यता-वच्छेदकः सम्बन्धो न विषयत्वमात्रम्, 'चैत्रस्याऽयं पुत्र' इत्यादिस्पर्शने चैत्राद्यं व्यभिचारात्, किन्तु लौकिकत्वाभिधानो विषयताविशेषः इत्याद्याशयवतां मतं प्रकरणकारः प्रदर्शयति- केचित्त्विति । व्यासज्यवृत्तिगुणाऽस्पर्शननिर्वाहाय = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतसंयोग-द्वित्वादिगोचराऽस्पर्शनोपपत्तये । अस्यानुपदं 'प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः प्रत्यासत्त्यघटकत्वेन' इत्यादन्वयः ।

की अपेक्षा इन दोनों का प्रवेश करने में लाघव है । द्रव्य में महत्त्व और उद्भूत रूप अनन्त नहीं होते हैं । नैयायिक की ओर से यहाँ यह शंका की जाय कि → 'विषयतासम्बन्ध से द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक त्वाच्च प्रत्यक्ष के प्रति स्वसंयुक्त-महत्त्वोद्भूतस्पर्शाश्रयानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से त्वगिन्द्रिय को कारण मानने पर वसरेणुस्पर्श के स्पर्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योंकि त्व (स्पर्शनेन्द्रिय) संयुक्त वसरेणु में महत्त्व और उद्भूतस्पर्श होने से स्पर्शनेन्द्रिय स्वसंयुक्त-महत्त्वोद्भूतस्पर्शाश्रयानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से वसरेणुस्पर्श में रहती है' ← तो यह असंगत है, क्योंकि वसरेणुस्पर्श के स्पर्शन प्रत्यक्ष के अभाव की उपपत्ति तो वसरेणुस्पर्श को अनुद्भूत मानने पर भी हो सकती है । मतलब कि वसरेणु में महत्त्व होने पर भी उद्भूत स्पर्श नहीं होने से वसरेणुस्पर्श में स्वसंयुक्त-महत्त्वोद्भूतस्पर्शाश्रयानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से स्पर्शनेन्द्रिय नहीं रहती है । कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण की कार्याधिकरणत्वेन अभिमत में अनुपस्थिति होने से कार्योत्पत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता । इस तरह वृटिस्पर्श के अस्पर्शन की उपपत्ति हो सकती है । मगर इस परिस्थिति में उद्भूत नील रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी हो जायेगा, क्योंकि नील वृटि में उद्भूत नीलरूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श नहीं रहता है । उद्भूत स्पर्श उद्भूत नील रूप का अव्यापक होने से अन्धकार को नीलरूपवान् मानने में उद्भूतस्पर्शाभाव बाधक नहीं हो सकेगा । अतः रूपवत्त्व हेतु से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध है - यहाँ प्रकरणकार का यह तात्पर्य ध्वनित होता है ।

आश्रयत्पार्थनाभाव गुणादिस्पर्शन में प्रातिबन्धक - नैयायिकैकदेशीमत

केचित्तु, इति । अन्य नैयायिक विद्वानों की यह राय है कि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष के प्रति स्पर्शनेन्द्रिय को स्वसंयुक्त-प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से कारण मानने पर घट-पट परस्परसंयुक्त होने की दशा में केवल घट के साथ स्पर्शनेन्द्रिय का संयोग होने पर भी घट-पटसंयोग का स्पर्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि संयोग व्यासज्यवृत्ति गुण होने से घट और पट दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहने की वजह स्पर्शनेन्द्रिय स्वसंयुक्त एवं प्रकृष्टमहत्त्व और उद्भूत स्पर्श वाले घट में समवेत घटपटसंयोग गुण में स्वसंयुक्त-प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शवदनुयोगिक समवाय सम्बन्ध से रहती है । इसलिए विषयतासम्बन्ध से घटपटसंयोग में स्पर्शन प्रत्यक्ष उत्पन्न होना चाहिए, अर्थात् घटपटसंयोगविषयक स्पर्शन साक्षात्कार होना चाहिए । मगर इकीकत यह है कि घट-पटसंयोग का स्पर्शन साक्षात्कार केवल घट के साथ स्पर्शनेन्द्रिय का संयोग होने पर नहीं होता है, किन्तु घट-पटोभय के साथ स्पर्शन इन्द्रिय का संयोग होने पर ही होता है । संयोग, द्वित्व आदि व्यासज्यवृत्ति गुण के एक आश्रय के साथ स्पर्शनेन्द्रिय का संयोग होने की अवस्था में उन व्यासज्यवृत्ति (अनेकवृत्ति) गुण के स्पर्शन साक्षात्कार का निवारण कारणतावच्छेदक सम्बन्ध की कुक्षि में प्रकृष्ट महत्त्व और उद्भूत स्पर्श का निवेश करने पर भी नामुमकिन होने से द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतगुणादिगोचरसाक्षात्कारकारणतावच्छेदक सम्बन्ध के शरीर में उन दोनों का निवेश करना अनावश्यक है । इसका निराकरण करने के लिए निम्नोक्त प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार करना आवश्यक है । वह इस तरह - द्रव्यान्य

घटकत्वेन लाघवाद् द्रव्यान्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रत्येव लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकता कल्प्यते । वायोरस्पर्शनित्वं तु न यौक्तिकमिति न तद्वृत्तिस्पर्शस्पर्शनानुपपत्तिः । तथा च त्रसरेणोरस्पर्शनित्वाच्च तद्वृत्तिस्पर्शदिस्पर्शनप्रसङ्ग इति, <-

❀ जयलता ❀

यथा चैतत्तत्त्वं तथा भावितमेवैतद्वतरणिकायामिति न पुनः प्रतन्यते । लाघवादिर्न । द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पर्शनकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तौ तयोरप्रवेशप्रयुक्तलाघवादिति । 'तर्हि घटाद्यैकैकत्वकसंयोगदशायां कथं न घटपटयोः संयोगस्य द्वित्वादेश्च स्पर्शनं ?' इत्याशङ्कयामाह- द्रव्यान्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रत्येवेति । एवकारेण व्यासज्यवृत्तिगुणत्वावच्छिन्नप्रतीत्यस्य व्यवच्छेदः कृतः, एतन्निषेधहेतुस्तु प्रकृतमतांशद्वारे विभावितत्वाच्चिन्नं । लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकतेति । तथाहि - 'घटं स्पृशामी'त्यत्र लौकिकविषयतया त्वाचप्रत्यक्षं घटे वर्तते, लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनदभावश्च पटे वर्तते, तत्समवेतस्तु घटसंयोगादिः, तस्य द्विष्टत्वम् । लौकिकविषयतासंसर्गेण त्वाचं स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन घटस्पर्श-कर्मादौ वर्तते । अतः तद्गोचरं स्पर्शनं जायते, तदभावस्तु घटपटसंयोगादौ पटस्पर्शादौ च वर्तते येन तत्स्पर्शनं घटत्वकसंयोगदशायां नोपजायते । अत एव तत्प्रतिबन्धकत्वं कल्पनामर्हत्येव । 'तर्हि वायुस्पर्शस्पर्शनं कथं स्यात् ? वायोरस्पर्शत्वेन तादृशत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन वायुस्पर्शं वर्तमानत्वादि'त्याशङ्कयामाहुः - वायोरस्पर्शनित्वं = स्पर्शनप्रत्यक्षाविषयत्वं तु न यौक्तिकमिति । 'वायुं स्पृशामी'त्यबाधितानुभवबलाद् वातस्य लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाश्रयत्वसिद्ध्या वायुस्पर्शं तादृशत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसंसर्गेणाऽवर्तमानत्वात् न तद्वृत्तिस्पर्शस्पर्शनानुपपत्तिः = वायुसमवेतस्पर्शस्पर्शनानुपपत्तिः । दर्शितप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावफलमुपदर्शयन्ति - तथा चेति । विषयतासम्बन्धावच्छिन्न-द्रव्यान्यसत्त्वावच्छिन्नप्रतिबन्धतानिरूपितस्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्न-लौकिकविषयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाचाभावनिष्ठप्रतिबन्धकताऽभ्युपगमप्रकारेण च । त्रसरेणोः अस्पर्शनत्वात् = त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वात्, न तद्वृत्तिस्पर्शदिस्पर्शनप्रसङ्गः त्रसरेणुसमवेतस्पर्श-संयोगादिस्पर्शनानुपपत्तिः, कार्याधिकरणत्वेनाऽभिमतं त्रसरेणुस्पर्शं प्रतिबन्धकस्य सत्त्वात्, प्रतिबन्धकाभावस्याऽपि कारणत्वेनाऽऽपादकविरहाच्चैव तदापादयितुमर्हतीति नोद्धूतनीलरूपस्योद्धूतस्पर्शव्याप्यत्व अभिचारः । अत एव 'नीलं तम' इति प्रतीतेः भ्रमत्वं तमस उद्धूतनीलरूपवन्ने चोद्धूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वं व्यवतिष्ठेति । ततश्च तमसो न द्रव्यत्वसिद्धिः कल्पकोटिभिरपि स्वात्मलामक्षमेति फक्किकार्थः ।

सत् पदार्थ के स्पर्शन साक्षात्कार के प्रति लौकिकविषयतावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पर्शनप्रत्यक्षाभाव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से प्रतिबन्धक है । आशय यह है कि द्रव्य से भिन्न गुण, क्रिया आदि का स्पर्शन प्रत्यक्ष करना हो तब उस गुण, क्रियादि के आश्रय का स्पर्शन प्रत्यक्ष होना आवश्यक है । यदि गुणादि के आश्रय का स्पर्शन प्रत्यक्ष न हो, तो गुणादि का स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि आश्रयविषयकस्पर्शनाऽभाव उसमें आश्रित (रहनेवाले) स्पर्शादि गुणादि के स्पर्शन में प्रतिबन्धक है । प्रतिबन्ध और प्रतिबन्धक समानाधिकरण यानी एकाधिकरण में रहने वाले हो तभी उन दोनों के बीच प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव हो सकता है । क्या चन्द्रकान्त मणि जलहृद में होने पर अन्यत्र अग्नि से दाह नहीं होता है ? यहाँ प्रतिबन्ध है द्रव्यभिन्नसद्विषयक घटपटसंयोगविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष, जो कि विषयतासम्बन्ध (कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध) से द्रव्येतर सत् घटपटसंयोगादि में रहता है । अतः प्रतिबन्धकीभूत लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्पर्शनप्रत्यक्षाभाव भी वहाँ रहना चाहिए । वह तब हो सकता है यदि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध को प्रतिबन्धकतावच्छेदक माना जाय, क्योंकि स्व = स्पर्शनाभाव, उमका स्वरूपसम्बन्ध से आश्रय है पटद्रव्य, (क्योंकि घट-पटसंयुक्त होने की दशा में घट के साथ त्वगिन्द्रियसंयोग होने पर घट द्रव्य का ही स्पर्शन होता है, न कि पट द्रव्य का) और उस पट द्रव्य में समवेत पटस्पर्श, घटपटसंयोग आदि गुण बगैरह । अतः घटपटसंयोग स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकस्पर्शनाभाव (= प्रतिबन्धक) का आश्रय एवं विषयतासम्बन्ध से द्रव्यान्यसद्गोचरस्पर्शन के अधिकरणविधया अभिमत होने से केवल घट के साथ त्वगिन्द्रिय का संयोग होने की दशा में घटपटसंयोग आदि व्यासज्यवृत्ति गुण का स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव भी कारण है, जो यहाँ अविद्यमान है । इस प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव को मान्य करने पर कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में प्रकृष्ट महत्त्व और उद्धूतस्पर्श का प्रवेश अनावश्यक होने से लाघव भी है ।

वायोर, इति । मगर यहाँ यह शङ्का हो कि -> 'लौकिक स्पर्शनाभाव को स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से द्रव्येतर-सद्विषयक स्पर्शन का प्रतिबन्धक मानने पर वायुगतस्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? क्योंकि वायु का स्पर्शन प्रत्यक्ष न होने

तत्र, लाघवाद् वायोः स्पर्शनत्वस्य साम्प्रदायिकत्वाच्च समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शा-
भावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वं

✽ नव्यता ✽

प्रकरणकारः केचित्तुमते प्रत्याचष्टे- तत्रेति । लाघवादिति । लौकिकविषयतावच्छिन्नत्वाचाभावस्य प्रतिबन्धकत्वे उप-
नीतमानप्रयोज्यविषयत्वभिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्न-त्वगिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावत्वस्य
प्रतिबन्धकता-वच्छेदकत्वं स्यात् । तदपेक्षया समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावत्वस्य तत्त्वे
लाघवं स्यात् । अतः लौकिकविषयतावच्छिन्नत्वाचाभावापेक्षया समवायावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाभावस्य प्रतिबन्धकत्वे लाघवादिति
भावः ।

किञ्च, द्रव्यान्य-द्रव्यवृत्तिगोचरस्पर्शनं प्रति लौकिकविषयतावच्छिन्नत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वेन सम्बन्धेन प्रतिबन्ध-
कत्वे वायुस्पर्शस्पर्शनं न स्यात्, नव्यनैयायिकमते वायोः स्पर्शनत्वेऽपि जरन्नेयायिकसम्प्रदाये वायुस्पर्शनत्वस्याऽसिद्धत्वेन
वायुस्पर्शे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकस्य सत्त्वादित्याशयेन प्रकरणकारः हेत्वन्तरं प्राह- वायोरिति । स्पर्शनत्वस्य
= स्पर्शनिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारप्रयोज्यविषयत्वस्य साम्प्रदायिकत्वाच्चेति । नव्यनैयायिकसम्प्रदायेऽस्मत्सम्प्रदाये च वायोः स्पर्शनत्वे
सिद्धेऽपि प्राचीननैयायिकसम्प्रदाये तदसिद्धत्वेन वायुस्पर्शनत्वस्य नानासम्प्रदायविप्रतिपत्तिकवलितत्वाच्चेत्यर्थः । ततो लौकिक-
विषयतावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाचाभावस्य तादृशप्रतिबन्धकत्वस्वीकारे तु प्राचीननैयायिकमतानुरोधेन वायुस्पर्शस्पर्शनं नैवोप-
पद्येत । विप्रतिपत्तिं विनैव वायुस्पर्शस्पर्शनोपपत्तये अपि लौकिकविषयतावच्छिन्नस्पर्शनाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं न युक्तमित्याह-
समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाभावस्यैव = समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव । एवकारेण
लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पर्शनाभावस्य व्यवच्छेदः कृतः । द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं = द्रव्यान्यद्
यद् द्रव्ये सत् = वृत्ति तद्विषयकत्वाचत्वलक्षणप्रतिबन्धतावच्छेदकावच्छिन्नं, प्रति प्रतिबन्धकत्वं कल्पयित्वेति । इत्थञ्च

से वायुगत स्पर्श में स्व (स्पर्शनाभाव) आश्रय (वायु) समवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्पर्शनाभाव
रहता है । प्रतिबन्धक होने से वायुस्पर्शविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध हो जायेगा, अनुत्पन्न ही रहेगा” <— तो यह ठीक
नहीं है, क्योंकि वायु का स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है-यह बात अप्रामाणिक है । ‘शीतं वायुं स्पृशामि’ इत्यादि अनुभव बर्फीले
देश या काल में सुप्रसिद्ध ही है । इसलिए वायुस्पर्श में स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक
स्पर्शनाऽभाव नहीं रहता है । वायुस्पर्श में प्रतिबन्धकाभावस्वरूप कारण होने से वायुस्पर्शविषयक स्पर्शन की उत्पत्ति होने में
कोई अनुपपत्ति नहीं है । एवं त्रुटिस्पर्श के स्पर्शन की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि त्रुटि (= त्रसरेणु) का स्पर्शन
प्रत्यक्ष न होने से यह स्पर्शनाऽभाव का आश्रय बन जाने की वजह स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से लौकिकस्पर्शनसाक्षात्काराभावात्मक
प्रतिबन्धक त्रुटिस्पर्श में रहता है । इसलिए नील त्रुटि में उद्भूत स्पर्श होने पर भी त्रुटिस्पर्शस्पर्शन का आपादन नहीं किया
जा सकता । उद्भूत नील रूप तो उद्भूत स्पर्श का व्याप्य होने से अन्यकार को उद्भूतनीलरूपवान् मानने में उद्भूतस्पर्शाभाव बाधक
हो सकता है । अतएव ‘नीलं तमः’ यह प्रतीति भी भ्रम है । इसलिए रूपवत्त्व हेतु से अन्यकार में द्रव्यत्व की सिद्धि नासुमकिन
है । स्वरूपासिद्ध हेतु स्वाभीष्ट साध्य की सिद्धि करने में सदा असमर्थ ही रहता है ।

✽ उद्भूतस्पर्शाभाव ही गुणादिस्पर्शन का प्रतिबन्धक - स्यात्वादी ✽

तत्र, इति । उपर्युक्त अन्य नैयायिकमत के प्रतिकारार्थ व्याख्याकार श्रीमद्जी महोपाध्याय महाराजा कहते हैं कि -
यह मत अनुपादेय है । इसका कारण यह है कि लौकिकविषयतावच्छिन्नत्वाचाभाव का मतलब है उपनीतज्ञानाऽप्रयोज्यविषयता-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वगिन्द्रियजन्यसाक्षात्काराभाव । इसकी अपेक्षा समवायावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाऽभाव लघु है । अतः समवाया-
वच्छिन्नप्रतियोगिताक उद्भूतस्पर्शाभाव को ही द्रव्येतरद्रव्यवृत्तिविषयकत्वाचसाक्षात्कार का प्रतिबन्धक मानना उचित है । प्रतिबन्धक-
तावच्छेदकसम्बन्ध है स्वाश्रयसमवेतत्व । स्वपद से समवायावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शाभाव का ग्रहण अभिप्रेत है । उसका आश्रय प्रभा
आदि द्रव्य होते हैं, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से उद्भूतस्पर्श प्रभा आदि में नहीं रहने से समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक
उद्भूतस्पर्शाभाव का वह आश्रय होता है । उसमें जो गुणादि समवेत है उसमें स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से दर्शित उद्भूतस्पर्शाभाव
रहता है, जो द्रव्येतर-द्रव्यवृत्तिगुणादिविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक है । अतएव प्रभा आदि द्रव्य के स्पर्श आदि का
स्पर्शन साक्षात्कार नहीं हो सकता है । दूसरी बात यह है कि उक्त लघु प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव का अंगीकार करने पर
वायुस्पर्श का स्पर्शन साक्षात्कार भी उपपन्न हो सकता है, क्योंकि वायु में उद्भूत स्पर्श रहता ही है । वायुविषयक स्पर्शन

कल्पयित्वा त्रुटिस्पर्शोऽनुद्भूतत्वकल्पनस्यैवौचित्यात् । न चाऽवयव्युद्भूतस्पर्श प्रति अवयवोद्भूतस्पर्शस्यैव हेतुत्वात्कथं चतुरणुकोद्भूतस्पर्शारम्भकस्य त्रुटिस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वमिति वाच्यम्

❀ अथ लक्षणम् ❀

घटाकाशसंयोगादिव्यासज्यवृत्तिगुणस्पर्शनप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः, घटसंयोगाश्रयाकाशस्य समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकोद्भूतस्पर्शाभावाश्रयत्वेन तादृशसंयोगादौ स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकस्य सत्त्वात् । न च तथापि घटाद्येकैकप्रतियोगिकत्वकसंयोगदशायां घटपटसंयोगादिस्पर्शनं दुर्वारमिति वाच्यम्, संयोगाद्याश्रयत्वावच्छेदेन त्वक्संयोगस्य द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति नियामकत्वाऽभ्युपगमात् । तादृशनियमस्य फलबलकल्पत्वान्न गौरवमिति तात्पर्यम् ।

‘तथापि त्रुटिस्पर्शस्पर्शनं दुर्निवारं स्यात्, त्रुटौ उद्भूतस्पर्शस्य सत्त्वेन तत्र समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकोद्भूतस्पर्शाभावस्य प्रतिबन्धकस्य विरहादि’त्याशङ्कायां प्रकरणकारः प्राह- त्रुटिस्पर्शोऽनुद्भूतत्वकल्पनस्यैवौचित्यादिति । तथा च प्रतिबन्धकीभूतस्य समवायावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाभावस्य सत्त्वान्न त्वगिन्द्रियसंयुक्तत्रुटिस्पर्शं विषयतासम्बन्धेन द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नोत्पत्तिः । एवञ्च नीलवसरेणानुद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वान्न तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वं येन ‘नीलं तम’ इति प्रतीतिः भ्रमत्वं स्यात् । ततश्च रूपवत्त्वस्य स्वरूपासिद्धिकलङ्कपङ्कशालितत्वेन तमोद्रव्यत्वसिद्धिरित्याशयः ।

वस्तुतस्तु घटप्रभासंयोगादौ द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचप्रतिबध्यतावच्छेदक-पराभिमत-जातिस्थानीयत्वगऽग्राह्यतास्वभावादेव न स्पर्शनत्वमिति न द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोद्भूतस्पर्शाभावरस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनाऽऽवश्यकी । अत एव समवायानभ्युपगमे स्याद्वादिना कथमेतादृशप्रतिबन्धककल्पना कर्तुं युज्यत इत्युक्तावपि न क्षतिः इति ध्येयम् ।

अथ वसरेणोरनुद्भूतस्पर्शवत्त्वे चतुरणुकस्पर्शं उद्भूतत्वं न स्यादिति शङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते - न चेति । ‘वाच्यमि’त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । अवयव्युद्भूतस्पर्श प्रति अवयवोद्भूतस्पर्शस्यैव, एवकारेण अदृष्टादिनिमित्तविशेषव्यवच्छेदः कृतः । हेतुत्वात् = असमवायिकारणत्वात् । ततश्चावयव्युद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिताऽसमवायिकारणता अवयवोद्भूतस्पर्शत्वनिरूपितेति फलितोऽर्थः । कथं चतुरणुकोद्भूतस्पर्शारम्भकस्य त्रुटिस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वमिति । ‘स्यादि’ति शेषः । तथाहि चतुर्भिः वसरेणुभिरेकश्चतुरणुक आरभ्यते । तस्य तत्समवेतस्पर्शस्य च स्पर्शनत्वाच्चतुरणुकस्पर्शस्योद्भूतत्वं निर्विवादसिद्धम् । तदसमवायिकारणत्वं त्रुटिस्पर्शं तदेव स्यात् यदि त्रुटिस्पर्श उद्भूतः स्यात्, समवायेन अवयव्युद्भूतस्पर्श प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवो-

साक्षात्कार तो साम्प्रदायिक है । उसके विषय में भिन्न भिन्न सम्प्रदाय में विवाद है कि वह होता है या नहीं ? इसलिए उसकी ओर दृष्टि केन्द्रित किये बिना भी हमारा प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव संगत हो सकता है । इसलिए उपर्युक्त दो हेतु के कारण हमारा अभिमत प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव समीचीन है । यहाँ यह शंका करना कि → “यदि द्रव्यान्य-द्रव्यवृत्तिविषयक स्पर्शन साक्षात्कार के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक उद्भूतस्पर्शाभाव को प्रतिबन्धक माना जाय और उसके अभाव को कारण माना जाय तब तो वसरेणुविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष होने की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहेगी, क्योंकि वसरेणु में उद्भूत स्पर्श रहने की वजह समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक उद्भूतस्पर्शाभाव उसमें नहीं रहने से स्वाश्रय-समवेतत्व सम्बन्ध से वह वसरेणुवृत्ति गुणादि में भी नहीं रहता है । प्रतिबन्धक न रहने से त्वगिन्द्रियसंयोग जब वसरेणु के साथ होगा तब उसका स्पर्शन प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है । मगर वसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शन साक्षात्कार होता नहीं है । इसलिए दर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव अमान्य है” ←

❀ उद्भूतनीलरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है - स्यात्वादी ❀

त्रुटिस्प. इति । भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि जब लाघव तर्कादि के सहकार से सामान्यतः दर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव निश्चित होने पर उसे अमान्य करना नामुनासिव है । हाँ, वसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शन साक्षात्कार की आपत्ति का निराकरण जरूर करना चाहिए । इसका अपाकरण करने के लिए यह माना जा सकता है कि वसरेणु का स्पर्श अनुद्भूत है । वसरेणु में स्पर्श के होने पर भी उद्भूत स्पर्श का अभाव, जो गुणादिस्पर्शन प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक है, होने से वसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शन साक्षात्कार का उदय नहीं होता है - यही कल्पना समुचित है, न कि लौकिक-विषयता-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्पर्शनाभाव में तादृश प्रतिबन्धकता की कल्पना । इस तरह नील वसरेणु में उद्भूत नीलरूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी होने से अन्धकार में नीलरूपवत्ता का बाधक उद्भूतस्पर्शाभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि उद्भूत स्पर्श

उद्भूतस्पर्शत्वस्याऽर्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

उद्भूतस्पर्शस्याऽसमवायिकारणत्वात्, यथा घटोद्भूतस्पर्शं प्रति कपालोद्भूतस्पर्शस्य । ततश्च चतुरणुकोद्भूतस्पर्शान्यथानुपपत्त्या वृद्धि-
स्पर्शस्योद्भूतत्वं सिध्यतीति नोद्भूतनीलरूपं उद्भूतस्पर्शव्यभिचारि । इत्थं 'नीलं तम' इति प्रतीत्या भ्रमत्वसिद्धेः रूपान्तरस्य
च तत्राऽसत्त्वात् विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वेन न तमसो रूपवत्त्वं, येन तद्रव्यत्वसिद्धिमनोरथः पूर्वेति-शङ्काग्रन्थाशयः ।

प्रकरणकारस्तां प्रत्याख्याति - उद्भूतस्पर्शत्वस्येति । 'कार्यतानवच्छेदकत्वादि'त्यत्राऽन्वयोऽस्य । तत्र हेतुमाह - अर्थ-
समाजसिद्धत्वेनेति । अर्थसमाजसिद्धत्वं नाम सामग्रीद्वयप्रयोज्यं, अर्थः = सामग्री, समाजः = तत्समुदायः, तत्सिद्धं =
तत्प्रयोज्यमिति तदर्थात् । यद्वा अर्थानां = कारणान्तराणां समाजः = समुदायः, तत्सिद्धं = तत्प्रयोज्यधर्मघटितमिति ।
भवति च नीलघटत्वं विशेषण-विशेष्यांशप्रयोजकसामग्रीद्वयप्रयोज्यमिति तथा । घटत्वस्यैव कपालादिजन्यतावच्छेदकत्वाद्
घटीयनीलरूपत्वस्यैव च कपालनीलजन्यतावच्छेदकत्वात्नीलघटत्वस्याऽर्थसमाजसिद्धत्वं प्रतीयत एव । अत एव न तस्य कार्यता-
वच्छेदकत्वमभियुक्तानां सम्मतम् । प्रकृते चोद्भूतस्पर्शत्वमपि विशेषण-विशेष्यांशप्रयोजकसामग्रीद्वयप्रयोज्यमिति तथा । अत एव
न तस्याऽपि अवयवोद्भूतस्पर्शकार्यतावच्छेदकत्वं सण्डङ्कोटीरतामदाव्यते, अन्यथा नीलघटत्वस्यापि नीलेतरकपालकार्यता-
वच्छेदकत्वमापद्येत । न च तथापि घटवृत्तिनीलत्व-घटत्वयोः कपालसमवेतनीलरूप-कपालनिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वमिवावयवि-
स्पर्शोद्भूतत्वत्स्पर्शत्वयोरवयवस्पर्शोद्भूतत्व-स्पर्शकार्यतावच्छेदकत्वसम्भवेन चतुरणुकस्पर्शोद्भूतत्वाभावात् तस्यैव त्रसरेणुस्पर्शोद्भूतत्वकल्प-
नाया आवश्यकत्वेनोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वात् 'नीलं तमः' इति प्रतीतेः भ्रमत्वसिद्ध्या न रूपवत्त्वात्तमसो
द्रव्यत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, नियतारम्भवादस्य साङ्ख्यवार्तायां निरस्तत्वात् । एतेनाऽवयवोद्भूतस्पर्शं प्रत्यवयवोद्भूतस्पर्शस्यैव
हेतुत्वमिति प्रत्युक्तम्, अदृष्टादिनिमित्तविशेषादपि अवयवस्पर्शोद्भूतत्वसम्भवादिति सङ्क्षेपः ।

उद्भूत नील रूप का व्यापक ही नहीं है । अव्यापक के अभाव से व्याप्याभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है । यहाँ यह
शंका हो कि → "त्रसरेणु के स्पर्श को अनुद्भूत मानने पर चतुरणुक (चार त्र्यणुक से निष्पन्न द्रव्य) में उद्भूत स्पर्श असमवायिकारण
है । त्रसरेणु चतुरणुक का अवयव है । अतः यदि उसमें उद्भूत स्पर्श नहीं होगा तो उसके कार्य चतुरणुक में उद्भूत स्पर्श
का जन्म नहीं हो सकेगा । कार्य और कारण के धर्म में साजात्य होता है, वैजात्य नहीं । यही नैयायिक मनीषियों के
अभीष्ट नियतारम्भवाद का मर्म है । तंतु में नील रूप होने पर पट में क्या शुक्ल रूप जन्म मुमकिन है ? चतुरणुक द्रव्य
में तो उद्भूत स्पर्श ही होता है, अन्यथा न तो चतुरणुक का स्पर्शन प्रत्यक्ष होगा और न तो चतुरणुकस्पर्श का । मगर
चतुरणुक एवं उसके स्पर्श का स्पर्शन साक्षात्कार होता है । इसलिए चतुरणुक के स्पर्श को उद्भूत मानना अनिवार्य है ।
वह तभी मुमकिन है यदि चतुरणुक एवं उसके स्पर्श के आरम्भक त्रसरेणु के स्पर्श को उद्भूत माना जाय । इसलिए त्रसरेणुसमवेत
स्पर्श को उद्भूत ही मानना उचित है, न कि अनुद्भूत । इस परिस्थिति में आपसे दर्शित प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार
करने पर पुनः त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पर्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति वज्रलेप हो जायेगी" ← तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवसमवेत
उद्भूत स्पर्श का कार्यतावच्छेदक उद्भूत-स्पर्शत्व नहीं है किन्तु स्पर्शत्व ही है, क्योंकि उद्भूतस्पर्शत्व तो अर्थसमाजसिद्ध है ।
जब दो पृथक् पृथक् सामग्री से दो पृथक् पृथक् कार्य का जन्म होता है तब वह कार्य अर्थसमाजसिद्ध कहा जाता है, जैसे
कपालादि से घट का एवं कपालनीलरूप से घटनीलरूप का जन्म होने पर नील घट अर्थसमाज(अनेक सामग्री) से सिद्ध
= जन्य बनता है । इस परिस्थिति में नीलघटत्व न तो कपाल का कार्यतावच्छेदक बन सकता है और न तो कपालनीलरूप
का । ठीक इसी तरह स्पर्श अपनी सामग्री से उत्पन्न होता है और उसमें उद्भूतता अन्य सामग्री से । अतः उद्भूतस्पर्श अर्थसमाजसिद्ध
कहा जाता है । अतएव उद्भूतस्पर्शत्व भी नीलघटत्व की भाँति अवयवस्पर्श या अवयवस्पर्शोद्भूतता का कार्यतावच्छेदक नहीं
हो सकता है । तब 'अवयवी के उद्भूत स्पर्श का अवयवोद्भूतस्पर्श कारण है यानी अवयवीउद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित
कारणता का आश्रय अवयवसमवेत उद्भूतस्पर्श है' यह कैसे कहा जा सकता है ? दूसरी बात यह है कि नियतारम्भवाद में
कोई प्रमाण न होने से वह भी हमें असामान्य है । इस बात का विस्तार से अन्यत्र निरूपण किया गया है । इसलिए त्रसरेणु
के अनुद्भूत स्पर्श से भी अदृष्टादि निमित्तविशेष के साभिध्य से चतुरणुक में उद्भूत स्पर्श का जन्म हो सकता है । इसलिए
त्रसरेणु के स्पर्श को अनुद्भूत मानने में कोई बाध नहीं है । अतः उद्भूत नील रूप को उद्भूत स्पर्श का व्याप्य नहीं माना
जा सकता, क्योंकि नीलीद्रव्य के त्रसरेणु में उद्भूत नील रूप भी उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी है । इसलिए अन्धकार में रूपवत्त्व
हेतु से द्रव्यत्वसिद्धि निराबाध है । अन्धकार में नील रूप रहता ही है ।

‘इदानीं मे शरीरं शीतलीभूतमि’ति प्रतीत्या तमसः उद्भूतस्पर्शवत्त्वमप्यानुभविकमिति तु वृद्धः । तेषामयमाशयः, यथाहि उद्भूतशीतस्पर्शवत् एव जलस्य संयोगाद् देहे शैत्यं प्रतीयते तथा तमसोऽप्युद्भूतशीतस्पर्शवत्त्व एव तत्संयोगाच्छरीरे शैत्यप्रतीतिरुपपत्तिमती, तादृशस्यैव तस्य परम्परासम्बन्धेन शैत्यप्रतीतिजनकत्वात् तत्परिणामकत्वाद्वा ।

ननु तर्हि तमसि तत्प्रतीतिः कुतो न भवतीति चेत् ? योग्यतामेवेदं परिपुच्छ । ‘जील-

❀ जयलाल ❀

साम्प्रतं प्राचीनजैनाचार्याणां मतं प्रदर्शयति- ‘इदानीमि’ति । धनतरान्धकारकाले इति । उद्भूतस्पर्शवत्त्वमपीति । अपि- शब्देनोद्भूतनीलरूपवत्त्वसमुच्चयः कृतः । आनुभविकं = सार्वजनीनानुभवसिद्धम् । वृद्धाः = श्रीवादिदेव-रत्नप्रभादिपूर्वाचार्याः, मीमान्सितवन्त इति शेषः । तेषां = श्रुतवृद्धस्याद्रादिपूर्वाचार्याणाम् । तत्संयोगात् = तमःसंयोगात् । अनेन शरीरे शैत्यस्य प्रतीयमानत्वात् शीतस्पर्शः शरीरस्यैव न तु तमस इति प्रत्युक्तम्, ‘जलसंयोगाच्छरीरे शैत्यप्रतीतिः शीतस्पर्शो देहस्यैव न तु जलस्येत्यस्याऽपि विवक्तुं शक्यत्वात् । न चोद्भूतशीतस्पर्शवत्ता एव जलेन स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन शरीरस्पर्शे शीतत्वप्रतीति- र्जन्यत इति बाध्यम्, उद्भूतशीतस्पर्शवत्तैव तमसा स्वसंयुक्तसमवेतत्वसंसर्गेण शरीरस्पर्शे शीतत्वप्रतीतिर्जन्यत इत्यस्याऽपि सुवचत्वादित्याशयेन प्रकरणकारः ग्राह- तादृशस्यैवेति । उद्भूतशीतस्पर्शवत् एवेति, एवकारेणाऽनुद्भूतशीतस्पर्शवत्तः स्पर्शशून्यस्य वा व्यवच्छेदः कृतः । तस्य = तमसः । परम्परासम्बन्धेनेति । स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन, स्वपदेन तमोग्रहणं, तत्संयुक्तः देहः, तत्समवेतश्च देहस्पर्शः । तादृशतमश्च स्वसंयुक्तसमवेतत्वसंबन्धेन तत्र वर्तते इति तत्र शीतत्वप्रकारकप्रतीतिः विषयता- सम्बन्धेनोपजायते इति भावः । इदञ्च परमताभ्युपगमेनोक्तम् । वस्तुतस्तु स्वमते यथोद्भूतरक्तरूपवज्जपाकुसुमेन स्वसन्निहितस्फटिके रक्तिमापरिणामो जन्यते तथैवोद्भूतशीतस्पर्शवदन्धकारेण स्वसम्बद्धशरीरे शैत्यपरिणाम उत्पाद्यत इत्याशयेनाऽऽह- तत्परिणाम- कत्वाद्धेति । शैत्यपरिणामकत्वाद्धेति । नतो देहस्पर्शे शीतत्वेन परिणामयतीति तमस उद्भूतशीतस्पर्शवत्त्वसिद्धिः । न हि नीलोत्पलं स्वसमीपस्थस्फटिकरूपं कदापि रक्तत्वेन परिणामयति ।

नैयायिक शङ्कते - नन्विति । तर्हीति । तमस उद्भूतशीतस्पर्शवत्त्वेऽभ्युपगम्यमाने । तमसि तत्प्रतीतिः = शैत्यधीः,

❀-अन्धकार शीतस्पर्शवाला है - प्राचीन जैनाचार्य ❀

इदानीं, इति । प्रकरणकार महोपाध्यायजी ने यहाँ तक ‘उद्भूत नील रूप उद्भूतस्पर्श का अव्याप्य होने से अन्धकार में उद्भूतस्पर्शाभाव से उद्भूतनीलरूपाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है’ ऐसा अपनी प्रतिभा से प्रतिपादन कर के अब पूर्व जैनाचार्य के मत को बताते हैं । पूवाचार्यों का यह कथन है कि —> ‘गाढ़ अन्धकार के समय रात्रि में “अभी मेरा शरीर शीतल हो गया है” ऐसा सभी लोगों का अनुभव है । इस अनुभव से अन्धकार में उद्भूत स्पर्श भी सिद्ध होता है । इसलिए “अन्धकार में उद्भूत स्पर्श न होने से उद्भूत नील रूप भी नहीं रहता है” ऐसा नहीं कहा जा सकता’ <— । ऐसा प्रतिपादन करने वाले ज्ञानवृद्ध जैनाचार्यों का अभिप्राय यह है कि - जैसे जल में उद्भूत शीत स्पर्श होने पर ही जलसंपर्क से अपने शरीर में शीतलता का भान हो सकता है । ठीक वैसे ही अन्धकार में उद्भूत शीत स्पर्श होने पर ही उसके संयोग से अपने शरीर में शैत्य की प्रतीति हो सकती है । उद्भूत शीतस्पर्शवाले जल से जब शरीर संयुक्त होता है तब शरीर में रहे हुए शीतत्व का ज्ञान होता है । अर्थात् उद्भूतशीतस्पर्शविशिष्ट ही जल स्वसंयुक्त(शरीर)समवेतत्वसम्बन्ध से शरीरस्पर्श में शीतत्व- प्रकारक ज्ञान का जनक होता है । ठीक उसी तरह उद्भूत शीत स्पर्श से विशिष्ट ही अन्धकार स्व(अन्धकार)संयुक्त(शरीर)समवेतत्वसम्बन्ध से, जो प्रकरणस्थ परम्परासम्बन्धशब्द से बताया गया है, शरीरस्पर्श में शीतत्वविशेषणक प्रतीति का जनक हो सकता है । अग्नि आदि में शीत स्पर्श नहीं होने से परम्परासम्बन्ध से भी अग्नि शरीरस्पर्श में शीतत्व की प्रतीति का जनक नहीं होता है । इसी तरह यदि अन्धकार में उद्भूत शीत स्पर्श न हो तो कभी भी वह परम्परासम्बन्ध से शरीरस्पर्श का शीतत्वरूप से भान नहीं करा सकता । मगर तादृश प्रतीति को अन्धकार उत्पन्न करता है । अतएव वह उद्भूत शीतस्पर्शवाला है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जैसे शीतस्पर्श वाला ही जल शरीरस्पर्श का शीतत्वेन परिणमन कर के ‘शरीरस्पर्श शीत है’ इस प्रतीति का जनक है । ठीक उसी प्रकार उद्भूत शीतस्पर्श वाला ही अन्धकार शरीरस्पर्श का शीतत्वेन परिणमन करा कर शरीरस्पर्श का शीतत्वेन भान कराता है - यह भी माना जा सकता है । अन्धकार में यदि उद्भूत शीत स्पर्श न हो तब वह शरीरस्पर्श का शीतत्वेन रूपांतर कैसे कर सकता ? अतः अन्धकार में उद्भूत शीतस्पर्श का स्वीकार आवश्यक है ।’

ननु, इति । यहाँ यह प्रश्न हो कि —> “यदि अन्धकार में उद्भूत शीत स्पर्श है, तो अन्धकार में शीत स्पर्श का

रूपवतस्तस्य शीतस्पर्शवत्त्वं कथं सङ्गच्छते' इति चेत् ? 'शक्तिर्वैचित्र्यवशादेवेति' ब्रूमः ।
अथ आलोकाभावेनैव तमोव्यवहारोपपत्तेर्न तस्य द्रव्यत्वकल्पनमिति चेत् ?

❀ अथल.॥ ❀

कुतः कारणात् न भवति ? यथोद्भूतशीतस्पर्शजलसंयोगाच्छरीरं इव जलेऽपि शैत्यं प्रतीयते तथोद्भूतशीतस्पर्शाश्रयाऽन्ध-
कारसन्निकर्षाच्छरीरे इवाऽन्धकारं शैत्यं कुतो नाऽवसीयते ? इति शङ्काशयः । प्रकरणकृत्समाधत्ते- योग्यतामेवेदं परिपृच्छेति ।
अन्धकारोद्भूतशीतस्पर्शनिष्ठयोग्यतां विषयविधया शीतत्वप्रकारकस्पर्शनिधीजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूपां एवेदं त्वं पृच्छ 'कुतस्त्व
भवति ! योग्यते ! शरीरविशेष्यक-शीतस्पर्शप्रकारकं स्पर्शनं प्रयोजयसि, न तु तमोविशेष्यक-शीतस्पर्शप्रकारकत्वाच्च ? यद्वा
स्वस्पर्शनिष्ठेन्द्रियनिष्ठयोग्यतां करणविधया स्पर्शनिजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वलक्षणामेवेदं त्वं पर्यनुयुङ्क्ष्व यदुत - 'अम्बे ! योग्यते !
कुतः भवत्या देहधर्मिक-शीतस्पर्शनिधौ संपाद्यते न पुनः तमोधर्मिकशीतस्पर्शस्पर्शनं ? अहं न पर्यनुयोज्यः किन्तु योग्यता
त्वया पर्यनुयोज्येत्येवकारार्थः । योग्यताविरहादेव तमोवृत्तित्वेन शीतस्पर्शस्पर्शनं न भवति, योग्यतावैचित्र्यात् । दृष्टं ह्ययस्यात्र-
भेदेनैव समर्थस्याऽपि पारदस्याऽलावुपात्रभेदेऽयोग्यत्वमिति तात्पर्यम् ।

वस्तुतस्तु जले हरितकषादिनाऽभिव्यज्यमानो रसो यथा परमतेऽनुभूयते तथैव ममापि तमसि पवनाभिव्यज्यमानः
शीतस्पर्शोऽनुभूयते एव । एतेन स स्पर्शः पवनगत एव न तु तमोवृत्तिरिति प्रत्याख्यातम्, त्वन्मते वाते शीतस्पर्श-
विरहेणाऽपसिद्धान्तापाताच्च ।

पर्यनुङ्क्ते पुनर्नैयायिकः नीलरूपवतः इति । स्याद्वादिसिद्धान्तानुसारेणेति गम्यते । तस्य = तमसः शीतस्पर्शवत्त्वं
कथं सङ्गच्छते ? शीतस्पर्शस्य जलमात्रवृत्तित्वात्तमसो जलत्वं स्यात् । परन्तु तदा तस्य नीलरूपवत्त्वं न स्यात्, नीलरूपस्य
शीतस्पर्शशून्यपृथिवीमात्रवृत्तित्वात् । तस्य नीलरूपवत्त्वे तु पृथ्वीत्वं स्यात् । अत एव न तस्य शीतस्पर्शवत्त्वं स्यात् नीलरूपस्य
शीतस्पर्शभावव्याप्यत्वादिति । एतेन तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वकल्पनाऽपि प्रत्याख्यातेति प्रश्नार्थः । प्रकरणकृदुत्तरयति- शक्ति-
वैचित्र्यवशादेवेति । यथा पृथ्वीत्वाऽविशेषेऽपि मार्तण्डादावैव लोहलेख्यत्वं न तु वज्रे तथैव नीलरूपवत्त्वाऽविशेषेऽपि तमस्ये-
वोद्भूतशीतस्पर्शवत्त्वं न तु नीलप्रस्तरादां, शक्तीनां वैचित्र्यात् । एतेन नीलरूपस्य शीतस्पर्शभावव्याप्यत्वमपि प्रत्युक्तम्,
बाधात्, अन्यथा 'वज्रं लोहलेख्यं पृथ्वीत्वाद् घटवदि' त्यस्याऽपि प्रसङ्गादिति । अत एव तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव
एव बाधक इत्यपि निरस्तम्, उद्भूतशीतस्पर्शस्य सत्त्वादिति प्राचां जैनाचार्याणामभिप्रायः ।

अनु तमो न द्रव्यान्तरं किन्त्वालोकाभाव एवेत्याशयवतां नैयायिकानां मतं खण्डयितुमुपक्रमते - अथेति । आलोकाभावे-
नैवेति । एवकारेणाऽतिरिक्तद्रव्यव्यवच्छेदः कृतः । तमोव्यवहारोपपत्तेरिति । 'इदं तम' इतिशब्दप्रयोगलक्षणव्यवहारसम्भवात् ।

भान क्यों नहीं होता ? जैसे जलसंयोग से शरीर की भाँति जल में भी शीत स्पर्श का स्पर्शन होता है ठीक वैसे ही
अन्धकारसन्निधान से शरीर की भाँति अन्धकार में भी शीत स्पर्श का स्पर्शन प्रत्यक्ष होना चाहिए । मगर वह नहीं होता
है । ऐसा क्यों ?" <— तो यह प्रश्न हमसे मत पूछो, योग्यता को ही पूछो । मतलब यह है कि प्रतिवादी में या उसकी
स्पर्शेन्द्रिय में अन्धकारशीतस्पर्शविषयक स्पर्शन की योग्यता - सामर्थ्य होने पर जरूर उसे अन्धकार में भी शरीर की भाँति
शीत स्पर्श का भान होता । मगर तादृश योग्यता उसमें न होने से अन्धकारवृत्तित्वेन शीत स्पर्श का भान नहीं होता है
किन्तु शरीरवृत्तित्वेन भान होता है । यहाँ यह शंका करना कि —> "अन्धकार में उद्भूत नील रूप का स्वीकार करने पर
उसमें शीत स्पर्श कैसे रहेगा ? क्योंकि नील रूप केवल पृथ्वी द्रव्य में रहता है और शीत स्पर्श केवल जल में रहता
है । अतः अन्धकार में नील रूप को भान्य करने पर शीत स्पर्श कैसे रहेगा ?" <— भी अनुचित है । इसका कारण
यह है कि भिन्न भिन्न द्रव्य में गुणादिजनक शक्ति में विचित्रता होती है । अतः नीलरूपशून्य जल में केवल शीत स्पर्श
एवं शीतस्पर्शशून्य पृथ्वी में नील रूप होने पर भी अन्धकार द्रव्य में शक्तिविशेष होने की वजह उद्भूत शीत स्पर्श और नील
रूप भी रह सकते हैं । इसमें कोई विरोध नहीं है । अतएव अन्धकार द्रव्य ही है ।

❀ अन्धकार आलोकाभावात्मक नहीं है - दयादादी ❀

अथालो. इति । अन्धकार को नैयायिक मनीषी लोग आलोकाभावस्वरूप मानते हैं । उनका यह कथन है कि —>
"यह अन्धकार है" इस प्रतीति का विषय ९ द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्य मानने में गौरव है । इसकी अपेक्षा आलोकाभाव

‘विपरीतमेव किं न रोचयेः’ ? ‘आलोकस्य चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन नैवमि’ति चेत् ?
न, चक्षुरप्राप्यकारितावादिनामस्माकं तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषकारणत्वस्यैवेष्ट-

✽ अथानुवाक्यम् ✽

व्यवहारश्चोपलक्षणं तादृशज्ञानस्य । यथा घटाभावाभावस्य घटसमनियतत्वेन घटेनैव घटाभावाभावव्यवहारोपपत्तेः घटाभावाभावस्य न घटातिरिक्तत्वं तथैव तमस आलोकाभावसमनियतत्वेन तेनैव तमोव्यवहारोपपत्तौ तस्य नालोकाभावव्यतिरिक्तत्वं, गौरवादिति नैयायिकाशयः । तदपाकरणाय प्रकरणकृत् प्रतिबन्धा ग्राह- विपरीतमेव = ‘तमोऽभावेनैवाऽऽलोकव्यवहारोपपत्तेर्नालोकस्य द्रव्यत्वकल्पनमि’त्येव, किं न रोचयेः ? ‘घटो नास्ती’ति प्रतीत्या यथा घटाभावोऽवश्यकलुप्तः तथा ‘तेजो नास्ती’ति धिया तेजोऽभावोऽप्यवश्यकलुप्तत्वेनोपपादनीयः येन तमसः तदात्मकत्वं स्यात् । तच्च न सम्भवति, तेजोलक्षणाऽतिरिक्तद्रव्यं माना-भावात्, तमोद्रव्याऽभावस्यैव तेजस्त्वसम्भवात्, तमोद्रव्याभावेनैवाऽऽलोकव्यवहारोपपत्तेः, तस्याऽऽलोकसमनियतत्वादित्येव किन्न स्यात् ? इति प्रतिबन्धाशयः । एतेन ‘अन्धकाराभाव एव तेजः किन्न स्यादिति तु न सम्यक्, उष्णस्पर्शाभास्वरूपबुद्धेरनु-पपत्तेः’ (मु.दि.पृ.९३) इति महादेवभट्टवचनमपि प्रत्याख्यातम्, ‘आलोकाभाव एव तमः किन्न स्यादिति तु न सम्यक्, तमस्युद्भूतशीतस्पर्श-नीलरूप-कर्म-विभागादिबुद्धेरनुपपत्तेः’ इत्यस्याऽऽपि जागरूकत्वात् । एतेनोष्णस्पर्शान्यधानुपपत्त्या तेजसो-भावरूपत्वमावश्यकमिति (मु.प्र.पृ.९३) नृसिंहशास्त्रिवचनं प्रतिबन्धाकलितमिति दर्शितम् ।

नैयायिकः साम्प्रतमालोकस्य तमोऽभावात्मकत्वे बाधकमाह- आलोकस्येति । चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन = चक्षु-रिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारजनकसंयोगाधिकरणत्वेन नैवं = नालोकस्य तमोऽभावात्मकत्वकल्पनं, संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्यमात्रवृत्ति-त्वात्, तदाश्रयस्य द्रव्यत्वौचित्यात् । एकावच्छेदेनाऽऽलोकवति अपरभागावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाच्चाक्षुषपत्तेर्निराकरणाय चक्षुः-संयोगावच्छेदकावच्छिन्नाऽऽलोकसंयोगस्य हेतुत्वाऽभ्युपगमेन तदाश्रयस्याऽऽलोकस्य द्रव्यत्वमावश्यकमिति नैयायिकाभिप्रायः ।

मो ! नैयायिक ! यदि चक्षुः प्राप्यकारि स्यात्तदा तु चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगत्वेन चाक्षुषहेतुत्वं सम्पनीययेत । परं तदेव नास्ति । अतो न तदाश्रयत्वेनालोकस्य द्रव्यत्वमुपपद्येत । अस्तु वा ‘तुष्यतु’ इति न्यायेन चक्षुषः प्राप्यकारित्वं तथापि न तादृशालोकसंयोगत्वेन चाक्षुषकारणताऽवच्छेत्तुमर्हति, आलोकसंयोगं विनाऽपि मन्दान्धकारदशायां शुक्लबलाकादिचाक्षुषोपलम्भेन व्यतिरेकव्यभिचारात् । तदनुरोधेन तमःसंयुक्तविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति तमःसंयुक्तविषयक-ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यताविशेषस्य कारणताऽस्माकमभिमतमिति न चाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वेना-ऽऽलोकसंयोगकल्पना युक्तिमती, येन तदाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्वं सिध्येतेत्याशयेन प्रकरणकारः दर्शितनैयायिकमतं निरा-करोति - नेति । चक्षुरप्राप्यकारितावादिनामिति । एतद्विशेषणोपादानेन चक्षुःसंयोगस्य चाक्षुषकारणताशरीरबहिर्भावः कृतः । तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति = तमःसंयुक्तद्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति । अनेनाऽऽलोकसंयोगस्य चाक्षुषकारणता प्रति-

को उसका विषय मानने में लाघव है, क्योंकि आलोकाभाव उभयमतसिद्ध है, जब कि अन्धकार नामक नवीन द्रव्य वादी-प्रतिवादीउभय के मत में सिद्ध नहीं है । जहाँ जहाँ प्रकाशाभाव होता है, वहाँ वहाँ अन्धकार का व्यवहार होता है और जहाँ जहाँ अन्धकार का व्यवहार होता है, वहाँ वहाँ प्रकाशाभाव अवश्य रहता है । समनियत होने की वजह अन्धकारत्वप्रकारक प्रतीति के विशेष्यविधया आलोकाभाव (=प्रकाशाभाव) का अंगीकार करना ही उचित है, न कि अतिरिक्त द्रव्य का— ।” मगर यह नैयायिकमान्यता ठीक नहीं है । क्योंकि इसके खिलाफ में यह भी कहा जा सकता है कि— “प्रकाश अन्धकाराभाव-स्वरूप ही है, न कि अतिरिक्त द्रव्य, चूँकि जहाँ जहाँ प्रकाश का व्यवहार होता है, वहाँ वहाँ अन्धकारद्रव्याभाव रहता है और जहाँ जहाँ अन्धकारद्रव्याभाव रहता है, वहाँ वहाँ ही प्रकाश का व्यवहार होता है । इसलिए ‘यह प्रकाश है’ इस व्यवहार के विषयरूप में अतिरिक्त प्रकाश का स्वीकार करने की अपेक्षा अन्धकाराभाव का ही स्वीकार क्यों न किया जाय” ? अतः अन्धकार को प्रकाशाभावस्वरूप मानना या प्रकाश को अन्धकाराभावस्वरूप मानना ? इस विषय में कोई नियामक नहीं है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> “अन्धकार प्रकाशाभावस्वरूप माना जा सकता है, क्योंकि इस पक्ष में कोई बाधक नहीं है । मगर प्रकाश को अन्धकाराभावस्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि आलोक (= प्रकाश) तो चाक्षुषप्रत्यक्षजनक आलोकसंयोग का आश्रय है । आलोक का द्रव्य के साथ संयोग द्रव्यादिविषयक चाक्षुष साक्षात्कार का जनक है, जो आलोकवृत्ति हो कर ही चाक्षुष प्रतीति को उत्पन्न करता है, अन्यथा अन्धकारस्थित द्रव्य का भी चक्षुरिन्द्रिय-संयोग से साक्षात्कार होने लगेगा । संयोग तो गुण है । गुण का आश्रय द्रव्य ही होता है । अतः आलोक (= प्रकाश)

त्वात् । न च तादृशयोग्यतां विनाऽपि किञ्चिदंशेन तमःसंयुक्तद्रव्यग्रहाद् व्यभिचार इति वाच्यम्, तमःसंयुक्तांशग्रहे तादृशयोग्यताया अवस्थापेक्षणात्,

✽ जरातता ✽

क्षिप्ता, तं विनैव मन्दान्धकारस्थितद्रव्यचाक्षुषोदयात् । गाढान्धकारावस्थितद्रव्यगोचरज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविरहादेव नाऽस्माकं तच्चाक्षुषमिति नाऽन्वयव्यभिचारः । शेषश्चैतत्प्रस्तावे भावितमेव ।

ननु माऽस्त्वन्वयव्यभिचारः, व्यतिरेकव्यभिचारस्तु कथं पराकार्यः ? , एकावच्छेदेनालोकावति अपरभागावच्छेदेन तमोवति द्रव्ये आलोकावच्छेदकावच्छेदेन चाक्षुषोदयात् । न च तत्रालोकावच्छेदेन तच्चाक्षुषोदये आलोकसंयोगस्यैव हेतुत्वस्वीकारान्न व्यभिचार इति वाच्यम्, मन्दतमःसंयोगावच्छेदकावच्छेदेन तच्चाक्षुषोदयस्याऽप्यानुभविकत्वात्, निरवच्छिन्नतमःसंयुक्तद्रव्यविषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यताविरहेऽपि तादृशतमःसंयुक्तचाक्षुषोदयेन व्यतिरेकव्यभिचारो दुरुद्धरः इति शङ्कां निरसितुमुपक्रमते- न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तादृशयोग्यतां = आलोकसंयोगानाश्रय-निरवच्छिन्नतमःसंयोगाश्रयाऽन्यतर-विषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यतां विनाऽपि किञ्चिदंशेन तमःसंयुक्तद्रव्यग्रहात् अमुकावच्छेदकावच्छिन्नतमःसंयोगाश्रयद्रव्यविषयकचाक्षुषोदयात्, व्यभिचारः = व्यतिरेकव्यभिचारः । अतः तादृशयोग्यताविशेषस्य न तमःसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वं भवितुमर्हतीति शङ्काशयः ।

प्रकरणकारो व्यतिरेकव्यभिचारमपाकरोति - तमःसंयुक्तांशग्रहे इति । तमःसंयोगावच्छेदकावच्छेदेन द्रव्यचाक्षुषोदये सति । तादृशयोग्यतायाः = तमःसंयुक्तांशविषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमस्वरूपयोग्यतायाः अवस्थापेक्षणात् । न हि कथं तमःसंयुक्तगोचरचाक्षुषं प्रति कारणविधया तमःसंयोगावच्छेदकीभूतांशविषयकं निरवच्छिन्नतमःसंयुक्तद्रव्यविषयकं वा ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमं योग्यताशब्देन प्रतिपादयामः येन व्यतिरेकव्यभिचारः प्रतिष्ठां लभेत किन्तु चाक्षुषविषयविषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमं योग्यताशब्देनाऽभिदधामः । स च मन्दान्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छेदेन द्रव्यचाक्षुषोदयदशायामप्यस्त्येवेति न व्यभिचारः । न होकावच्छेदेनालोकसंयोगवतो द्रव्यस्य मन्दान्धकारसंयोगावच्छेदकविषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविरहे मन्दतमःसंयोगावच्छेदकांशगोचरलौकिकचाक्षुषं भवितुमर्हति ।

भी चाक्षुषजनक संयोग (गुण) का आश्रय होने से द्रव्यात्मक ही है, न कि अन्धकाराभावस्वरूप । इसलिए आलोक को द्रव्यात्मक एवं अन्धकार को आलोकाभावस्वरूप मानना मुनासिब है” <— तो यह भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि नैयायिकसम्प्रदाय में चक्षु को प्राप्यकारी मानी जाती है, न कि जैनमत में । हम चक्षु को अप्राप्यकारी ही मानते हैं । इस विषय का विवेचन पूर्व^१ में किया गया है । चक्षु अप्राप्यकारी होने से चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न आलोकसंयोग को चाक्षुषप्रत्यक्ष का कारण नहीं मानते हैं । दूसरी बात यह है कि प्रकाश न होने पर भी मन्द अन्धकार में अवस्थित द्रव्य का चाक्षुष होता है । इसलिए आलोकसंयोग को स्वतन्त्ररूप से भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण नहीं माना जा सकता । अन्धकारस्थित द्रव्य के चाक्षुष के प्रति तो योग्यताविशेष को ही कारण माना जा सकता है । जब कि तमःसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुषमात्र के प्रति आलोकसंयोग की कारणता नाशित है । तब चाक्षुषत्वावच्छेदेन (= सभी चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति आलोकसंयोग को कैसे कारण कहा जा सकता है ? जिसकी वजह उसका आश्रय होने के सबब प्रकाश में द्रव्यत्व की सिद्धि नैयायिक महाशय की ओर से हो सके । मन्द अन्धकारस्थित द्रव्य का चाक्षुष भी अनुभवसिद्ध होने से यही मानना उचित है कि तमःसंयुक्तद्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छेदेन योग्यताविशेष ही कारण है ।

☞ योग्यताविशेष चाक्षुष का अव्याभिचारो कारण है - व्याख्यादी ☞

न च तादृ. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह शंका की जाय कि → “तमःसंयुक्त द्रव्यविषयक चाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब व्यतिरेक व्यभिचार उपस्थित होता है । वह इस तरह, जब द्रव्य के एक भाग में आलोकसंयोग होता है और अन्य भाग में अन्धकारसंयोग होता है तब उस द्रव्य का चाक्षुष साक्षात्कार होता है । मगर उसके प्रति आलोकसंयोग को ही कारण माना जा सकता है, न कि योग्यताविशेष को, क्योंकि सर्वथा मन्द अन्धकार में अवस्थित द्रव्य के चाक्षुष की जैसी योग्यता होती है, वैसी योग्यता तो अमुक भाग में प्रकाश से एवं अन्य भाग में अन्धकार से संयुक्त द्रव्य के चाक्षुषस्थल में नहीं हो सकती है । तादृश योग्यताविशेष के अभाव में भी अमुक

अंशांशिनोः कथञ्चिद्भेदस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्र हि 'मूलांश-

❀ जयतता ❀

नन्वेवमपि व्यभिचारो दुर्निवारः, मन्दतमः संयोगावच्छेदकांशविषयकयोग्यतादशायां चक्षुषा तदंशग्रहे तदभिन्नत्वेनावयवि-
नोऽपि ग्रहादित्याशङ्कान्नाह- अंशांशिनोरिति । अवयवाऽवयविनोः, कथञ्चिद्भेदस्य च = स्यादभिन्नत्वस्य, हि प्रत्यक्षसिद्धत्वा-
दिति । तदेव दर्शयति- मूल इति । अयं स्याद्वादिनोऽभिप्रायः, यत्रैकस्यैव घटस्यार्द्धं मन्दतमसि अर्द्धश्चालोके तत्र मन्दतमोऽ-
वच्छेदेन न घटद्रव्यस्य चाक्षुषं किन्तु तमःसंयोगावच्छेदकांशस्यैव चाक्षुषम् । यदि च तत्र घटभानमानुभविकं तदा तत्
स्मृत्यनुमानादिरूपमवगन्तव्यम् । अत एवाऽऽलोकवच्छेदेन रक्तरूपवति तमोऽवच्छेदेन इयामरूपवति पटे आलोकाभिमुख-
चक्षुर्दशायां 'रक्तोऽयमि'त्यस्य देशापेक्षया प्रामाण्योपपत्तेः, अन्यथा यावदवयवचक्षुःसन्निकर्षस्य कुत्राऽप्यसम्भवेन अनेक-
तत्संयोगस्य चाऽतिप्रसङ्गकत्वेन न कदाऽपि रूपनिश्चयो भवेत् । द्विहस्तादिमात्रे पटेऽनावृतैकहस्तावच्छेदेन महत्त्वग्रहोऽपि
देशापेक्षयैव प्रमाणम् । अत एव आवरणाऽपगमे स्कन्धापेक्षया परिमाणे द्विहस्तत्वग्रहेऽपि तावदवच्छेदेन हस्तत्वग्रहस्य नाऽ-
प्रामाण्यम्, देशस्कन्धभेदेनोभयोपपत्तेः । यदि चावयवद्वारा सर्वत्रैवावयविनः प्रत्यक्षं भवत्येवेत्यङ्गीक्रियेत, तदा निखातघटनुष्णदेश-
दर्शने 'किमयं घट आहोस्वित् शराव उदस्वित् कपालं यदुत कपालिका वा ?' इति संशयो न स्यात् । अतो यद्देशाभिमुखं
चक्षुः तदंशस्यैव चाक्षुषमुपगन्तव्यम् । ततश्च मन्दतमःसंयुक्तावयवविषयकयोग्यताविरहसमकालीन-मन्दतमःसंयोगावच्छेद-
कांशविषयक-योग्यतादशायां चक्षुषाऽंशग्रहेऽप्यंशिनोऽग्रहादेव न व्यतिरेकव्यभिचारावकाशः । इदञ्च भेदनयपुरस्कारेणोक्तं द्रष्टव्यम् ।
तेन नैकान्तवादप्रवेश इति ध्येयम् ।

अथवा प्रस्तुतशङ्का-समाधानवार्तासङ्गतिरेवं कार्या । तत्राऽयं नैयायिकाशयः योग्यताविशेषस्य तमःसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषकारणता
न युक्ता, एकावच्छेदेनालोकवतोऽपरावच्छेदेन च तमःसंयोगवतो द्रव्यस्य तमःसंयुक्तत्वेऽपि आलोकाभिमुखचक्षुषा ग्रहात्,
आलोकेनैव तदुपपत्ती तत्र योग्यताविशेषकारणत्वस्य कल्पयितुमशक्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारात् । अत्रेदं स्याद्वादादिसमाधानं,
एवं, तमःसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषोदयस्य चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगेनोपपादनेऽपि एकावच्छेदेनालोकवतोऽपरावच्छेदेन तमः-
संयोगवतो द्रव्यस्य तमःसंयुक्तगंशे चाक्षुषस्य चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगेनोपपादयितुमशक्यत्वात्, तथाऽरमदमि-
मतयोग्यताविशेषस्यैवाऽवस्थाश्रयणीयत्वात्, तमःसंयुक्तांशगोचरचाक्षुषत्वस्यैव योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदकत्वेन व्यतिरेकव्यभिचाराऽ-
योगात् । न चाऽवयवाऽवयवितादात्म्यपक्षे तमःसंयुक्तचाक्षुषे दर्शितालोकसंयोगस्य कारणता तमःसंयुक्तांशचाक्षुषे च तस्याऽ-
कारणता कथं स्यादिति वक्तव्यम्, देश-स्कंधयोः कथञ्चिद्भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन सर्वथातादात्म्यस्य बाधात् । दृष्टो हि 'मूले
वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्र 'मूलांशवृक्षः कपिसंयोगी'त्याकारिका प्रमा । न हि तत्राऽभेदवादिनाऽपि वृक्षे कपिसंयोगाऽपृथग्भावभानं
वक्तुं युज्यते, अन्यथा तदानीं 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी'त्यस्याऽपि प्रामाण्यं स्यात् । न चैवमस्ति, मूले एव कपि-
संयोगतादात्म्यसत्त्वात्, न तु शाखायाम् । ततश्च तमःसंयुक्तांशचाक्षुषे योग्यताविशेषस्य न व्यभिचारित्वमिति फलितम् ।

ननु स एव नयनाभिमुखभागे एकत्र पटाद्यावृतो द्रव्यांशो यदा नयनपराङ्मुखभागे तमःसंयोगवान् नयनाभिमुखाना-
वृतभागे चालोकसंयोगवान् तदा तच्चाक्षुषं प्रति तु आलोकसंयोगावच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य चक्षुःसंयोगस्यैव हेतुत्वं युक्तं न तु

अंश में तमःसंयुक्त द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से व्यतिरेक व्यभिचार अनिराकार्य है" <— तो यह ठीक नहीं है । इसका
कारण यह है कि तमःसंयुक्त अंश के चाक्षुष के लिए तो योग्यताविशेष की अपेक्षा जरूर रहती है । अमुक भाग में आलोक
एवं अमुक भाग में अन्धकार से संयुक्त द्रव्य के आलोकवाले भाग का चाक्षुष भले आलोकसंयोग से ही जाये मगर आलोकसंयोगशून्य
अन्धकारवाले भाग के चाक्षुष के लिए तो योग्यताविशेष को ही कारण माना जा सकता है । अतः व्यतिरेक व्यभिचार निरवकाश
है । यहाँ यह प्रश्न करना कि —> 'एक ही द्रव्य के चाक्षुष में आलोक की कारणता एवं अकारणता कैसे हो सकती है ?'
<— नामुनासिब है, क्योंकि अवयव और अवयवी में कथञ्चिद्भेद प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है । अतः आलोकवाले भाग के चाक्षुष
के प्रति आलोक की कारणता एवं आलोकशून्य भाग के चाक्षुष के प्रति आलोक की अकारणता हो सकती है । अतः तमःसंयुक्त
अंश के चाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष की कारणता अबाधित है । अंश-अंशी में भेद प्रत्यक्षसिद्ध है इसका यह दृष्टान्त है कि
'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इस वाक्य से 'मूलांशवृक्ष कपिसंयोग वाला है' ऐसा प्रमात्मक शाब्दबोध होता है, क्योंकि मूलावयव
में ही कपिसंयोग का अपृथग्भाव है, न कि संपूर्ण वृक्षात्मक अवयवी में । इसलिए मूल (= जड़) एवं वृक्ष में कथञ्चिद्भेद
मानना आवश्यक है । इस परिस्थिति में तमःसंयुक्त द्रव्यांश के प्रति योग्यताविशेष को कारण मानना मुनासिब ही है ।

वृक्षः कपिसंयोगी'त्येव प्रमीयते, तदंश एव कपिसंयोगाऽवच्छिन्नभावात् । न च तस्मिन्नेवांशे नयनपराङ्मुखतमःशालिन्यपि प्रत्यक्षोदयात् आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्यैव द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्वमुचितमिति वाच्यम्, धूकादिचाक्षुषानुरोधेन चक्षुरुन्मुखतमःसंयोगवच्चाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषहेतुत्वस्यैवाऽवश्याऽऽश्रयणीयत्वात् ।

आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमस्त्विति नाऽभिधानीयम्, आलोकजन्यता-वच्छेदकनियतरूपाऽपरिचयात्,

❀ जयलता ❀

योग्यताविशेषस्येति नैयायिकशङ्कां पराकर्तुमुपक्रमते- न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तस्मिन्नेवांशे = तमःसंयुक्त-द्रव्यांशे, प्रत्यक्षोदयात् = चाक्षुषसाक्षात्कारोत्पत्तेः । आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्यैवेति । आलोकसंयोगस्याऽवच्छेदको यो भागः तदवच्छिन्नस्य = तन्नियन्त्रितस्य चक्षुःसंयोगस्य । एकभागे आलोकसंयोगस्याऽपरभागे च चक्षुःसंयोगस्य सत्त्वे चाक्षुषं न भवतीत्यतः 'आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्ने'ति चक्षुःसंयोगविशेषणमुपादत्तम् । एवकारेण च योग्यताविशेषस्य व्यवच्छेदः कृतः । द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्वं = द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यत्वनिरूपितकारणत्वम् । तन्निरासे प्रकरणकृद्धेतुमुपदर्शयति - धूकादि-चाक्षुषानुरोधेनेति । आदिपदेन मार्जारादिग्रहणम् । अयं समाधानाशयः, अन्यतमःसंयोगाश्रयाभूतद्रव्यचाक्षुषं कौशिकादीनां भवत्येव । न च तत्रालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगो वर्तते । अतः तत्र स्थले योग्यताविशेषस्यैव कारणतोपगन्तव्या परैरपि । अनेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य कारणत्वं प्रत्युक्तम्, व्यतिरेकव्यभि-चारात्, आलोकसंयोगस्याऽन्यथासिद्धत्वापत्तेः, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन चक्षुःसंयोगविरहाच्च ।

ननु भवतु योग्यताविशेषस्याऽऽलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रति हेतुत्वं न तु द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति, कस्यचित् चाक्षुष-स्याऽऽलोकसंयोगजन्यत्वात् । अतोऽपि तदाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्वं सेत्स्यतीति नैयायिकाशङ्कायां प्रकरणकार आह-आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषमिति । आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नमिति । तस्य = योग्यताविशेषस्य, हेतुत्वं = कारणत्वं, अस्त्विति न अभिधानीयं = नैव वाच्यम् । अत्र हेतुमाह- आलोकजन्यतावच्छेदकनियतरूपाऽपरिचयादिति । आलोकाऽ-जन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषस्य हेतुत्वमित्यङ्गीकारे 'आलोकजन्यद्रव्यचाक्षुषेतरद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति तद्धेतुत्वमि'ति लभ्यते । आलोकजन्यद्रव्यचाक्षुषस्य प्रसिद्धौ तदितरद्रव्यचाक्षुषत्वस्य योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदकत्वं स्यात्, नाऽन्यथा, यदकाऽ-प्रसिद्धौ धदिताऽप्रसिद्धेः । न च यदादिद्रव्यचाक्षुषत्वस्य तथात्वमस्त्विति वाच्यम्, अन्यतमस्यपि देवतायाः तच्चाक्षुषोदयात् । न चालोकजन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रसिद्धमिति वाच्यम्, आलोकजन्यतावच्छेदकनियतधर्माऽप्रसिद्धेः । न च देवतेतरसमवेतद्रव्य-

न च त. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "तमःसंयुक्त जिस द्रव्यांश का योग्यताविशेषजन्य चाक्षुष बताया गया है, वही द्रव्यांश जब चक्षु के पराङ्मुख भाग में ही अन्धकारसंयोगवाला और चक्षु के सन्मुख भाग में आलोकसंयोग वाला होता है, तभी भी उसका चाक्षुष होता है । उसके प्रति तो आलोकसंयोगावच्छेदक भाग से अवच्छिन्न (= नियन्त्रित) चक्षुसंयोग को ही कारण मानना उचित है, न कि योग्यता को । इसलिए द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोक-संयोगावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसंयोग को ही कारण मानना उचित है" ← तो यह नैयायिककथन असंगत है । इसका कारण यह है कि द्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्न (= सभी द्रव्यचाक्षुष) के प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसंयोग को कारण मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार उपस्थित होता है । वह इस तरह - उलू पक्षी, बिल्ली आदि की चक्षु के अभिमुख अन्धकार होता है तभी भी उन्हें द्रव्यचाक्षुष होता है । तब आप नैयायिक महाशय का अभिमत उलूचक्षुसंयोग आलोकसंयोगावच्छेदक भाग से अवच्छिन्न = नियन्त्रित नहीं है, फिर भी द्रव्यचाक्षुष होता है । यहाँ तो योग्यताविशेष को ही कारण मानना होगा । इसलिए द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न के प्रति आलोकसंयोगावच्छिन्नचक्षुःसंयोग को कारण नहीं माना जा सकता, जिसके फलरूप में कारणतावच्छेदक आलोकसंयोग के आश्रय होने से आलोक में द्रव्यत्व सिद्ध हो सके ।

❀ द्रव्यचाक्षुषमात्र का योग्यताविशेष कारण है - श्यात्वादी ❀

आलोकाऽज. इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "उलू आदि का द्रव्यचाक्षुषसाक्षात्कार आलोकाऽ-जन्य होने पर भी सब द्रव्यचाक्षुष को योग्यताविशेषजन्य कहना उचित नहीं है । उलू आदि के चाक्षुष के अनुरोध से यह कहना ठीक है कि आलोकाऽजन्य द्रव्यचाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष कारण है, जिससे अर्थतः यह सिद्ध हो जायेगा कि उससे भिन्न द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग कारण है । इस तरह उसके आश्रयरूप में आलोक में द्रव्यत्व की सिद्धि हो

**आलोकजन्यत्वाऽज्ञाने तदऽजन्यत्वाऽज्ञानात् । 'आलोकाऽसंयुक्तचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमि'-
त्यपि न वक्तुं युक्तम्, महदुद्भूताऽनभिभूतरूपवत्तन्निवेशे गौरवात् ।**

❀ गायलता ❀

चाक्षुषत्वमेवाऽऽलोकजन्यतावच्छेदकमिति वाच्यम्, पूकादिसमवेते द्रव्यचाक्षुषे व्यभिचारात् । न च पक्षिदेवतेतरसमवेतद्रव्य-
चाक्षुषत्वमस्तु तथेति वक्तव्यम्, बिडालसमवेते द्रव्यचाक्षुषे व्यतिरेकव्यभिचारात् । न च पशुपक्षिदेवतेतरसमवेतद्रव्यचाक्षुषत्वे
तत्त्वं वक्तुं युज्यते, गौरवात्, अज्जनादिसंस्कृतचाक्षुषां चौरादीनां द्रव्यचाक्षुषे व्यभिचाराच्च । एतेन मनुष्यसमवेतद्रव्यचाक्षुषत्व-
स्याऽप्यालोकजन्यतावच्छेदकत्वं प्रत्युक्तम् । तत्कार्यतावच्छेदकाऽप्रसिद्धौ तदवच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया आश्रयत्वमा-
लोकस्य कथं संभवेत् ? येनाऽऽलोकजन्यचाक्षुषं सिध्येत्, आलोकनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकाश्रयाऽप्रसिद्धौ च कथमा-
लोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषं सिद्धिसिधमारोहेत् ? अप्रसिद्धनिषेधाऽयोगादित्याशयेनाऽऽह- आलोकजन्यत्वाऽज्ञाने इति । तदजन्य-
त्वाऽज्ञानात् = आलोकाऽजन्यत्वाऽप्रसिद्धेः । एतेन योग्यताविशेषाऽजन्यचाक्षुषत्वमालोकजन्यतावच्छेदकमिति निरस्तम्, ज्ञप्ती
परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

नन्वस्त्यालोकाऽसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वस्यैव योग्यताविशेषजन्यतावच्छेदकत्वमिति नैयायिकाशङ्कयामाह- आलोकाऽसंयुक्त-
चाक्षुषं प्रतीति । आलोकसंयोगशून्यद्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति । तस्य = योग्यताविशेषस्य, हेतुत्वं = निमित्त-
कारणत्वं, इत्यपि, किमुताऽऽलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रतीत्यपिशब्दार्थः, न वक्तुं युक्तम् । आलोकपरमाणुसंयुक्तघटादिद्रव्यस्य
मन्दतमसि चाक्षुषोदयेनाऽऽलोकाऽसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वस्य योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदकत्वाऽसम्भवात् । न च महदाऽऽलोकाऽ-
संयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति योग्यताविशेषस्य कारणतेति वक्तव्यम्, त्वदभिमतमहदनुद्भूतचक्षूरदिमसंयुक्तघटादि-
द्रव्यस्य मन्दतमसि चाक्षुषोदयेन महदालोकाऽसंयुक्तचाक्षुषत्वस्याऽप्यतिरिक्तवृत्तित्वात् । न च महदुद्भूतालोकाऽसंयुक्तचाक्षुष-
त्वस्य तथात्वं श्रद्धेयम्, मन्दतमसि महदुद्भूतरूपवदालोकलक्षणसुवर्णद्रव्यचाक्षुषस्यापि योग्यताविशेषजन्यत्वेन तदोपतादवस्थ्यात् ।
न च महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽसंयुक्तचाक्षुषत्वस्यैव तत्त्वम् । सुवर्णरूपस्याऽभिभूतत्वेन सुवर्णगगनसंयोगस्याऽतथात्वात्
दोषः । ततश्च योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदकघटकीभूततादृशालोकसंयोगाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्वं सेत्स्यतीति वाच्यम्, कार्यताऽ-
वच्छेदककोटेरतिगुरुत्वापत्तेरित्याशयेनाऽऽह- महदुद्भूतानभिभूतरूपवत्तन्निवेशे इति । महत्परिमाणोद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकस्य
योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदककोटी निवेशे । गौरवात् = अप्रामाणिकमहागौरवात् । ततश्च द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति योग्यता-
विशेषस्य कारणता स्वीकर्तव्या । अतो नालोकसंयोगाऽऽश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्वं सिध्येत् ।

सकती है" <- तो यह उचित नहीं है । इसका कारण यह है कि योग्यताविशेष को आलोकाऽजन्य द्रव्यचाक्षुष का कारण
कहने का मतलब यह होता है कि वह आलोकजन्य द्रव्यचाक्षुष से भिन्न द्रव्यचाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण है । इसलिए जब
तक आलोकजन्यत्व का किसी द्रव्यचाक्षुष में भान नहीं होगा तब तक एक भी द्रव्यचाक्षुष-में आलोकाऽजन्यत्व (=आलोकजन्यभेद)
का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञान अभावज्ञान में कारण होता है । तथा द्रव्यचाक्षुष में आलोकजन्यत्व
का निश्चय तब हो सकता है, यदि द्रव्यचाक्षुषवृत्तित्वेन आलोकजन्यतावच्छेदक नियत धर्म का बोध है । अवच्छेदक का ज्ञान
न होने पर तदवच्छिन्न का ज्ञान नहीं हो सकता है । शाखा का ज्ञान न होने पर शाखावच्छिन्नत्वरूप से कपिसंयोग का
अवबोध नहीं होता है । मगर आलोकजन्यतावच्छेदक नियत धर्म अप्रसिद्ध है । कौन कौन द्रव्यचाक्षुष साक्षात्कार आलोक
से ही जन्य है, न कि योग्यताविशेष से ? यह अभी तक अनिश्चित है । अतः आलोकाजन्य चाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष
को कारण नहीं माना जा सकता ।

आलोकासं. इति । यहाँ यह नैयायिककथन हो कि -> "आलोकाऽसंयुक्त द्रव्य के चाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष
को और आलोकसंयुक्त द्रव्य के चाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग को कारण मानने में कोई बाध नहीं है । इस तरह भी
आलोक में द्रव्यत्व की सिद्धि हो सकती है । इसलिए आलोकाऽसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्व ही योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदक हो सकता
है" <- तो यह नामुनासिद्ध है । इसका कारण यह है कि योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदक धर्म के घटकविधया जिस आलोक
का प्रवेश किया गया है, वह आलोकसामान्य न हो कर आलोकविशेष है । आलोकविशेष का मतलब है महत्परिमाण एवं
उद्भूत अनभिभूत रूपवाला आलोक, क्योंकि मन्द अन्धकार में आलोकपरमाणु, नैयायिकसंमत नयनरश्मिस्वरूप आलोक एवं
सुवर्णात्मक आलोक के संयोग वाले घटादि द्रव्य का योग्यताविशेष से चाक्षुष साक्षात्कार होता है । अतः योग्यताविशेषकार्यता-

योग्यताविशेषश्च 'तदंशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम' इति न विशेषपदार्थाऽनिरुक्तिः । परेण तु चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुष-त्वावच्छिन्नं प्रति कारणता वक्तव्या । सा च न सम्भवति,

❀ मरुतः ❀

वस्तुत आलोकाजनरसायनादीनां ज्ञानावरणक्षयोपशमे एवोपक्षीणत्वाद्व्यचाक्षुषं प्रति न कारणत्वम्, निरूपयिष्य-माणाऽन्यथासिद्धिग्रस्तत्वात् । यद्यपि तदंशविषयकस्याऽऽलोकाद्युद्बोध्याज्ञानावरणक्षयोपशमस्य तदंशविषयकक्षयोपशमिकज्ञानं प्रत्येव कारणत्वं तथापि चक्षुरादिविशेषसामग्रीसहकारेण तदंशविषयकचाक्षुषादिसाक्षात्कारोत्पत्तिर्न विरुद्धेत्यादिकं विभावनीयं सुधीभिः समयानुसारेण ।

ननु स्याद्वादिनये योग्यताविशेषस्य कारणमपि विशेषपदार्थाऽपरिचयादसम्भवदुक्तिकमित्याशङ्कयां प्राह- योग्यताविशेष-श्रेति । 'तदंशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम' इति । केवलानां चाक्षुषविरहात् 'क्षयोपशम' इत्युक्तम् । बहलतमे तमसि घूकादीनां घटादिचाक्षुषोदयात् अन्येषाञ्च तदनुदयात् प्रकृते 'विषयग्रहणपरिणामरूपभावेन्द्रियग्राह्यतापरिणामो विषयनिष्ठो योग्यताविशेष' इत्यनुक्त्वा 'विषयांशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमो योग्यताविशेष' इत्युक्तम् । योग्यताविशेषस्य विषयनिष्ठत्वे तु तत्तत्पुरुषीय-त्वनिवेशावश्यकत्वेन गौरवतादवस्थ्यात् ।

परेण = नैयायिकेन तु चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेनेति । चक्षुःसंयोगस्य योऽवच्छेदकः तदवच्छिन्नो यो महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगः तत्त्वेनेति । द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं = लौकिकद्रव्यचाक्षुष-मात्रं प्रति कारणता = निमित्तकारणता वक्तव्या । अन्यथा चक्षुःसंयोगावच्छेदकानवच्छिन्न-महत्परिमाणशून्यानुद्भूताभिभूता-लोकसंयोगादपि नयनपराङ्मुखादिद्रव्यचाक्षुषापत्तेः । यद्यपि योग्यताविशेषाऽपेक्षया दर्शितकार्यकारणभावे गौरवं स्फुटमेव । न च फलमुखत्वेन तस्याऽदोषत्वमिति वाच्यम्, लघुगत्यन्तरस्योपस्थितौ प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्धयसिद्धिभ्यां व्याघातेन फल-

अवच्छेदक धर्म महत्परिमाणोद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगशून्यद्रव्यचाक्षुषत्व होगा, जो अत्यंत गुरु (बड़ा) धर्म होने से गौरवदोषा-वह है । इसकी अपेक्षा उचित यही है कि सभी द्रव्यचाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष को कारण माना जाय, जिसका कार्यतावच्छेदकधर्म द्रव्यचाक्षुषत्व होगा, जो अत्यंत लघु है । इसलिए द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन योग्यताविशेष को कारण मानना ही ठीक है । अतः आलोक में द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

❀ योग्यताविशेष का निर्वचन ❀

योग्य. इति । यहाँ यह कहना कि —> 'योग्यताविशेष में विशेष पदार्थ की व्याख्या नामुमकिन होने से द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न के प्रति योग्यताविशेष को कारण नहीं माना जा सकता है' <— असंगत है, क्योंकि योग्यताविशेष का अर्थ है उस अंश में ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम । तदंशविषयक ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर तदंश का चक्षु के सहकार से चाक्षुष साक्षात्कार होता है और उसके अभाव में चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसलिए द्रव्यचाक्षुष के प्रति उक्तस्वरूप योग्यताविशेष को कारण कहने में कोई दोष नहीं है । वस्तुतः तदंशविषयक ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम तदंशविषयक केवल चाक्षुष का कारण नहीं है किन्तु तदंशविषयक मत्यादि ज्ञान का कारण है । फिर भी नेत्रादि इन्द्रियविशेष के सहकार से वह चाक्षुषादि ज्ञानविशेष का जनक होता है ।

❀ आलोकसंयोगकारणतापक्ष में विज्ञेयमत्तावेरह ❀

परेण. इति । स्याद्वादी के मतानुसार द्रव्यचाक्षुष का कारणतावच्छेदक धर्म तदंशविषयक ज्ञानावरणक्षयोपशमत्व होता है, जो लघुभूत है । जब कि नैयायिक को द्रव्यचाक्षुष के कारणतावच्छेदकधर्मविधया चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूता-नभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्व का अंगीकार करना पड़ेगा, जो अत्यंतगुरुभूत है । जिस भाग में चक्षुसंयोग हो उसी भाग में जब महत् परिमाण एवं उद्भूत और अनभिभूत रूप के अधिकरणीभूत आलोक का संयोग होता है, तभी उस भाग का चाक्षुष होता है - ऐसी नैयायिक विद्वानों की मान्यता है । मगर यह कारणता नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि द्रव्यचाक्षुष के प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न महदुद्भूतानभिभूतरूपाश्रयालोकसंयोग को कारण मानना या महदुद्भूतानभिभूतरूपाश्रयालोक-संयोगावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसंयोग को कारण मानना ? इस विषय में कोई निर्णायक युक्ति नहीं है । अतः द्रव्यचाक्षुषकारणता-

आलोकसंयोगस्याऽप्यवच्छेदकत्वसम्भवे विनिगमनाविरहात् । एतेन → स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धेनाऽप्यालोकसंयोगस्य कारणत्वं ← प्रत्युक्तम्, चक्षुःसंयोगस्यापि स्वावच्छेदकावच्छिन्नाऽऽलोकसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे विनिगमकाऽभावात् ।

❀ नयलता ❀

मुखत्वाऽयोगात्, तथापि तादृशकारणताया असम्भवे हेत्वन्तरमाह- आलोकसंयोगस्याऽऽपीति । अवच्छेदकत्वसम्भवे = चक्षुःसंयोगावच्छेदकघटकत्वकल्पने विनिगमनाविरहादिति । द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगः कारणं यदुत महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-चक्षुःसंयोगः ? इत्यत्रैक-तरपक्षपातियुक्तिविरहात् द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकघटकविधया चक्षुःसंयोग इव तादृशालोकसंयोगोऽपि कल्पयितुं शक्यत इति द्वितीयमपि तादृशकारणतावच्छेदकघटकं स्यादित्युभयोरतिगुरुभूतयोः तद्वद्विषयोः कारणताकल्पनापत्तिः । चक्षुःसंयोग-तादृशालोकसंयोगयोः स्वातन्त्र्येण हेतुत्वं तु एकावच्छेदेन तादृशालोकसंयोगवतो द्रव्यस्याऽपरभागावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाच्चाक्षुषापत्तेः ।

एतेनेति । विनिगमनाविरहेणेति । अस्याऽग्रे 'प्रत्युक्तमि'त्यनेनाऽन्वयः । स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धे-नेति । स्वपदेनाऽऽलोकसंयोगस्य ग्रहणम् । आलोकसंयोगस्य = महत्परिमाणोद्धूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगस्य कारणत्वं = द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वम् । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति महदुद्धूतानभिभूतालोकसंयोगः स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धेन कारणम्, यथा नयनाभिमुखालोकसंयोगाश्रयद्रव्ये चक्षुःसंयोग-तादृशालोकसंयोग-योरवच्छेदकव्यतादशायां तादृशालोकसंयोगः स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धेन यत्र द्रव्यांशे वर्तते तत्रैव विषयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुषं जायते । यदा त्वेकभागावच्छेदेन तादृशालोकसंयोगोऽपरभागावच्छेदेन च चक्षुःसंयोगः तदा तदवच्छेदकभेदान्तादृशालोकसंयोगः स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगेन न कुत्राऽपि वर्तते, तादृशचक्षुःसंयोगस्यालोकसंयोगावच्छेदकानवच्छिन्नत्वादिति केषाञ्चिन्नैयायिकानां मतम् ।

प्रकरणकारः तन्निरासे हेतुं कण्ठत आह - चक्षुःसंयोगस्याऽपि स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे = द्रव्यचाक्षुषकारणत्वसम्भवे, विनिगमकाऽभावादिति । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति किं महदुद्धूतानभिभूतालोकसंयोगः स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धेन कारणं यदुत चक्षुःसंयोगः स्वावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्धूतानभिभूतालोकसंयोगसम्बन्धेन कारणं ? इत्यत्रैकतरसाधकबाधकयुक्तिविरहान्नैकस्यैव द्रव्यचाक्षुषकारणत्वं वक्तुं युज्यते । न हि चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगसम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुषकारणत्वे किमपि बाधकमस्ति, तयोरवच्छेदकाभिन्नत्वे एव चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगसम्बन्धेनाश्रये विषयतासम्बन्धेन द्रव्यलौकिकचाक्षुषस्य जायमानत्वात् । परो विनिगमक-

अवच्छेदकशरीर के घटकविधया चक्षुःसंयोग की भाँति तादृशालोकसंयोग का भी निवेश मुमकिन होने से निश्चित रूप से एक का ग्रहण नहीं हो सकता है और दोनों का ग्रहण करने में अत्यंत गौरव है । इसलिए द्रव्यचाक्षुष के प्रति दर्शित आलोकसंयोग को कारण नहीं माना जा सकता ।

एतेन, इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → “द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग ही कारण है और कारणतावच्छेदक सम्बन्ध है स्वावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुःसंयोग । स्वपद से द्रव्यचाक्षुषकारणीभूत आलोकसंयोग का ग्रहण अभिमत है । वह द्रव्य के जिस भाग में रहता है, वह भाग आलोकसंयोग का अवच्छेदक होता है, उसी भाग में यदि चक्षुःसंयोग रहता हो तब वह आलोकसंयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्न-चक्षुःसंयोग सम्बन्ध से उसी भाग में रहता है और विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष भी वहीं रहता है । भिन्न भिन्न भागावच्छेदेन आलोकसंयोग और चक्षुःसंयोग द्रव्य में रहने पर चक्षुःसंयोग आलोकसंयोगावच्छेदक भाग से अवच्छिन्न नहीं होता है । अतएव तब द्रव्यचाक्षुष के उदय का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में द्रव्य में आलोकसंयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुःसंयोग सम्बन्ध से नहीं रहता है” ← तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि अब भी विनिगमनाविरह दोष से नैयायिक मुक्त नहीं हो सकता । नैयायिक के उपर्युक्त कथन के खिलाफ में यह भी कहा जा सकता है कि विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष का चक्षुःसंयोग ही स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगसम्बन्ध से कारण है । यह कथन अयुक्त है और नैयायिककथन युक्तिसंगत है - इस विषय में कोई साधक-बाधक तर्क नहीं है । इसलिए आलोकसंयोग-कारणता विनिगमनाविरहग्रस्त होगी । इस परिस्थिति में या तो दोनों में कारणता माननी पड़ेगी या

अथ चक्षुःसंयोगस्यैव निरुक्तसम्बन्धेन तथात्वमस्तु, महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक-
संयोगत्वस्य चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वस्य वाऽपेक्षया चक्षुःसंयोगत्वस्य कारण-
तावच्छेदकत्वे लाघवादिति चेत् ? न, सम्बन्धविधया तत्प्रवेशे तवाऽपि साम्यात् । सम्बन्ध-

❀ नयलता ❀

मुपदर्शयति - अथेति । चक्षुःसंयोगस्यैवेति । एवकारेणालोकसंयोगव्यवच्छेदः कृतः । निरुक्तसम्बन्धेन = स्वावच्छेद-
कावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतालोकसंयोगसंसर्गेण, तथात्वं = द्रव्यचाक्षुषहेतुत्वं, अस्तु । ननु महदुद्भूतानभिभूतालोकसंयोगस्य
एव स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसंसर्गेण द्रव्यचाक्षुषहेतुत्वं किं बाधकमस्ति, येन भवदुपदर्शितकार्यकारणभावः स्वात्मप्रतिष्ठां
लभेत ? इत्याशङ्कायां पर आह - महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वस्येति । अस्याऽपि 'कारणतावच्छेदकत्वे' इत्यत्राऽ-
न्वयः । नैयायिकः प्रतिवादिमते संभवलघुकारणतावच्छेदकमाह - चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वस्य वेति । महत्परि-
माणोद्भूतरूपाश्रयस्यैव परमते चाक्षुषत्वसम्भवात् तत्स्थाने 'चाक्षुषे'त्युक्तम् । शेषं पूर्ववत् । चक्षुःसंयोगत्वस्य कारणतावच्छेद-
कत्वे = द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकत्वे लाघवादिति । कारणतावच्छेदकधर्मशरीरलाघवादिति । आलोकसंयोगस्य निरुक्त-
संसर्गेण तत्कारणत्वे महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वं चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वं वा तत्कारणतावच्छेदकं स्यात् ।
चक्षुःसंयोगस्य निरुक्तसंसर्गेण तथात्वे तु चक्षुःसंयोगत्वमेव तत्कारणतावच्छेदकं स्यात् । तत्र चक्षुःसंयोगत्वस्यैव लघुत्वाच्चक्षुः-
संयोगस्यैव निरुक्तसम्बन्धेन तद्धेतुत्वं कल्पयितुमुचितमिति अधाशयः ।

आलोककारणतावादी तन्निराकुरुते - नेति । सम्बन्धविधया = कारणतावच्छेदकसंसर्गरूपेण, तत्प्रवेशे = महदुद्भूतान-
भिभूतरूपवदालोकसंयोगत्व-चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वाऽन्यतरनिवेशे, तत्र नैयायिकस्य अपि साम्यात् = तुल्यगीर-
वात् । चक्षुःसंयोगस्य तद्धेतुत्वे तूपदर्शितगुस्तरधर्मघटितद्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धे यादृशं गौरवं तादृशमेव गौरवं महदु-
द्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगस्य तत्कारणत्वे मम द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्म इति तुल्यगीरवमुभयपक्षे ।

ननु कारणतावच्छेदकधर्मशरीरगौरवमेव दूषणं न तु कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरगौरवमित्याशङ्कायां स्याद्वाद्याह- सम्बन्ध-

दोनों में अकारणता । दोनों में कारणता मानने में तो भारी गौरव है और एक को भी कारण न मानने पर आलोक में
इव्यत्व की सिद्धि न हो सकेगी ।

❀ धर्मगौरव की भाँति सम्बन्धगौरव भी दोष - स्याद्वादी ❀

अथ च. इति । यदि यहाँ नैयायिक की ओर से ऐसा कहा जाय कि → “विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति
स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोग सम्बन्ध से आलोकसंयोग का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि गाद अन्धकारस्थित द्रव्य
के साथ आलोकपरमाणु का, चक्षुरभिस्वरूप आलोक को एवं सुवर्णात्मक आलोक का संयोग होने पर भी उस द्रव्य का
चाक्षुष नहीं होने से द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक धर्म आलोकसंयोगत्व नहीं हो सकता किन्तु महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्व
हो सकता है अथवा चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्व । महत्परिमाण एवं उद्भूत रूपवाले द्रव्य का ही चाक्षुष साक्षात्कार
होने से वह चाक्षुष भी कहा जा सकता है । मगर यह कारणतावच्छेदक धर्म अत्यन्त गुरु है । इसकी अपेक्षा चक्षुसंयोग
को ही दर्शितसम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष का कारण मानना उचित है, क्योंकि तब कारणतावच्छेदक धर्म चक्षुसंयोगत्व ही होता
है, जो अत्यन्त लघु है । अतः आलोकसंयोग को द्रव्यचाक्षुष का कारण मानने की अपेक्षा चक्षुसंयोग को ही उसका कारण
मानना उचित है” ← तो यह भी असंगत है । इसका कारण यह है कि आलोकसंयोग को स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसंयोगसम्बन्ध
से द्रव्यचाक्षुष का कारण मानने पर हमारे मत में जैसे कारणतावच्छेदक धर्म के शरीर में गौरव है, ठीक वैसे ही आप
नैयायिक महाशय को चक्षुसंयोग को स्वावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकसंयोगसम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष का कारण
मानने की वजह कारणतावच्छेदकसम्बन्ध के शरीर में गौरव होता है । हमारे अभीष्ट कारणतावच्छेदकधर्म का आप नैयायिक
विद्वान् कारणतावच्छेदकसम्बन्ध के घटक रूप में स्वीकार करते हैं । अतः द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मशरीर में जो हमारे मत
में गौरव प्रसक्त होता है, वही गौरव आप नैयायिक मनीषी के पक्ष में द्रव्यविषयकचाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरांश में
है । अतः आपके अभिमत कार्य-कारणभाव की अपेक्षा हमारे अभीष्ट कार्य-कारणभाव के अंगीकार में ज्यादा गौरव नहीं
है, तुल्य गौरव है । यहाँ यह भी नहीं कहना चाहिए कि → “कारणतावच्छेदक धर्म के शरीर में जो गौरव है, वही
दोषात्मक है, न कि कारणतावच्छेदक सम्बन्ध के शरीर में प्रविष्ट गौरव भी । इसलिए विषयतासम्बन्ध से द्रव्यविषयक चाक्षुष
साक्षात्कार के प्रति चक्षुसंयोग को कारण मानने पर कारणतावच्छेदक सम्बन्ध के शरीर में जो गौरव प्रसक्त होता है वह

गौरवाऽदोषत्वप्रवादस्य निर्युक्तिकत्वात् । विजातीयालोकसंयोगत्वेनैव तद्धेतुत्वमित्यतः ।

अथ द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतादिसम्बन्धभेदेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोग-तत्संयुक्तसमवायादेर्नानाहेतुताकल्पने गौरवात्,

❀ नयलता ❀

गौरवाऽदोषत्वप्रवादस्य = 'सम्बन्धगौरवस्य निर्दोषत्वामे'ति प्रवादस्य, निर्युक्तिकत्वात् = अप्रामाणिकत्वात् । अतः कारणतावच्छेदकधर्मशरीरगौरववत् कारणतावच्छेदकसम्बन्धदेहगौरवस्याऽपि दुष्टत्वमेव । विनिगमकाऽभावादुभयोः सदोषत्वं निर्दोषत्वं वा स्यात्, न त्वेकतरस्येति निरुक्तसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगवत् प्रदर्शितसंसर्गेण महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगस्याऽपि तद्धेतुत्वे विनिगमनाविरहस्य वज्रलोपायमानत्वेनोभयोः गुरुतरसम्बन्धधर्मवदितकारणत्वप्राप्तावप्रामाणिकमहद्गौरवमिति तात्पर्यम् ।

यदि च साम्प्रदायिकप्रवादप्रवाहपतितः परः सम्बन्धगौरवाऽदोषत्वकदाग्रहं नैव परित्यजेत्तदा स्वपक्षेऽपि आलोक-कारणतावादिनो द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मशरीरलाघवमुपदर्शयन्ति - विजातीयाऽलोकसंयोगत्वेनैवेति । एवकारेण महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वस्य चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वस्य च गुरुतरधर्मस्य व्यवच्छेदः कृतः । तद्धेतुत्वं = द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वम् ।

उपदर्शितचक्षुःसंयोगकारणतावादिमतमुन्मूलयितुमालोकसंयोगकारणतावादी उपक्रमते - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतादिसम्बन्धभेदेनेति । आदिशब्देन द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्तिलौकिकविषयता-द्रव्यवृत्त्यभावविशेषणताख्यलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतवृत्त्यभावविशेषणताभिधानलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्त्यभावविशेषणतात्मकलौकिकविषयतानां ग्रहणमभिप्रेतम् । चाक्षुषत्वावच्छिन्नं = लौकिकचाक्षुषसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रति, आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोग-तत्संयुक्तसमवायादेरिति । आदिपदेन तत्संयुक्तसमवेतसमवाय-तत्संयुक्तविशेषणता-तत्संयुक्तसमवेतविशेषणता-तत्संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतानां परिग्रहः कार्यः । नानाहेतुताकल्पने गौरवादिति । चक्षुःसंयोगस्य चाक्षुषकारणतोषगमे षट्कार्यकारणभावस्वीकारगौरवम् । तथाहि - (१) द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य समवायेन हेतुत्वं यथा घटचाक्षुषं प्रति तादृशचक्षुःसंयोगस्य । अत्र चाक्षुष-निष्ठकार्यतावच्छेदकसम्बन्धविधया द्रव्यवृत्तिविषयतोपादाने 'चैत्रस्यायं पुत्र' इत्यादिचाक्षुषे चैत्राद्यंशे व्यभिचारः स्यादित्यतो

दोषरूप नहीं है । जब कि आलोक-संयोगकारणतावाद में कारणतावच्छेदकधर्म के शरीर में गौरव प्राप्त होने से वह सदोष है । इसलिए आलोकसंयोग को द्रव्यचाक्षुष का कारण नहीं माना जा सकता" <- यह नैयायिककथन इसलिये नामुनासिव है, कि 'सम्बन्धशरीर में गौरव निर्दोष है' यह प्रवाद निर्युक्तिक होने से हमें स्वीकार्य नहीं है । जैसे अवच्छेदकधर्मशरीर में प्रविष्ट गौरव दोषात्मक माना जाता है, ठीक उसी तरह अवच्छेदकसम्बन्धशरीरगत गौरव को भी सदोष मानना ही संगत प्रतीत होता है । अतः चक्षुःसंयोगकारणतावादी के मत में कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरगत गौरव में निर्दोषता की घोषणा करना नितांत अयोग्य है । अतः दोनों पक्ष में गौरव समान ही है ।

विजातीयं इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि आलोककारणतावादी की ओर से महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोक-संयोगत्व या चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्व की अपेक्षा लघुभूत विजातीयालोकसंयोगत्व का द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मविधया स्वीकार किया जा सकता है । ऐसा मानने पर कारणतावच्छेदकधर्मशरीर में गौरव का अवकाश नहीं है । अतः विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति चक्षुःसंयोग की भाँति आलोकसंयोग को कारण मानने में कारणतावच्छेदकधर्मशरीर में भी गौरव का अवकाश न होने से विनिगमनाविरह दोष वज्रलोप बनता है । इसी दोष की वजह दर्शित सम्बन्ध से चक्षुःसंयोग को द्रव्यचाक्षुषकारण नहीं माना जा सकता, यह फलित होता है ।

❀ विषयानिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुःसंयोगकारणता में गौरव - आत्मनिष्ठप्रत्यासत्तिवादी ❀

पूर्वपक्ष :- अथ द्रव्य. इति । यहाँ आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से आलोकसंयोग को विजातीय चाक्षुष का कारण मानने वाले विद्वान लोग विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुःसंयोग को चाक्षुष का कारण मानने वाले मनीषियों के पक्ष में दोष का उद्घावन करते हुए कहते हैं कि -> "चक्षुःसंयोग को विषय में रख कर चाक्षुष का कारण मानने पर अनेक कार्य-कारणभाव की कल्पना आवश्यक बनने से कार्यकारणभावबाहुल्य होता है, जो दोषस्वरूप माना जाता है । वह इस तरह-द्रव्यनिष्ठलौकिक विषयता सम्बन्ध से चाक्षुष के प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोग को कारण मानना होगा, जैसे घटविषयक

लाघवात् समवायेन तमस्तद्व्याप्यभिन्नीयलौकिकविषयितावच्छाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य

ॐ नयलता ॐ

लौकिकत्वाख्यविषयताविशेषोपादानम् । एवमग्रेऽपि स्वयमेव भावनीयम् । (२) द्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुष-
त्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयसमवायस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुःसंयोगस्य स्वाश्रयसमवायेन
हेतुत्वं यथा घटरूपचाक्षुषं प्रति दर्शितव्यरूपम् । (३) द्रव्यसमवेतसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतासंसर्गेण चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति
आलोक-संयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयसंयोगेण समवायस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुःसंयोगस्य स्वाश्रयसमवेतसमवायेन
हेतुत्वं यथा घटरूपसमवेतरूपत्वचाक्षुषं प्रति व्यावर्णितलक्षणस्य । (४) द्रव्यवृत्त्यभावनिष्ठविशेषणतात्मकलौकिकविषयतासम्बन्धेन
चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयविशेषणताया हेतुत्वं यथा भूतलवृत्तिघटाभावचाक्षुषं प्रति
तस्याः । (५) द्रव्यसमवेतवृत्त्यभावनिष्ठविशेषणतास्वरूपलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदका-
वच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयसमवेतविशेषणत्वस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुःसंयोगस्य स्वाश्रयसमवेतविशेषणतासम्बन्धेन कारणत्वं
यथा घटनीलवृत्तिरूपाभावचाक्षुषं प्रति निरूपितहेतोः । (६) द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्त्यभावनिष्ठविशेषणतालक्षणलौकिकविषयतासंसर्गेण
चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयसमवेतसमवेतविशेषणत्वस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुः-
संयोगस्य स्वाश्रयसमवेतसमवेतविशेषणतासम्बन्धेन हेतुत्वं यथा रूपत्ववृत्तिरूपाभावचाक्षुषं प्रति व्याख्यातकारणस्य । कार्यता-
वच्छेदकारणतावच्छेदकधर्मसम्बन्धान्यतमभेदेऽपि कार्यकारणभावो भिद्यते, घटकभेदे तद्वदितभेदात् । ततश्च विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या
चक्षुःसंयोगकारणतावादिनये प्रदर्शितषट्कार्यकारणभावाऽङ्गीकारस्याऽऽवश्यकत्वान्महद्वीरवम् ।

साम्प्रतमात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगकारणतावादी स्वपक्षे लाघवमाविष्करोति - लाघवादिति । विषयनिष्ठप्रत्या-
सत्त्या चक्षुःसंयोगकारणतापक्षाऽपेक्षया लाघवादिति । समवायेनेति । अनेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः प्रदर्शितः । तमस्तद्-
व्याप्यभिन्नीयलौकिकविषयितावच्छाक्षुषं = तमस्तद्व्याप्यभिन्ननिरूपितलौकिकविषयिताश्रयचाक्षुषलक्षणं कार्यं प्रति आलोकसंयोग-

लौकिकचाक्षुष द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से घट में रहता है और उसी घट के एक ही भाग में आलोकसंयोग एवं
चक्षुसंयोग रहने पर आलोकसंयोग के अवच्छेदक भाग से अवच्छिन्न चक्षुसंयोग भी घट में रहता है । कार्य और कारण
इस तरह विषयनिष्ठ सम्बन्ध से समानाधिकरण बनने से उन दोनों के बीच कार्य-कारणभाव संगत हो सकता है । मगर
घटनीलरूपविषयक चाक्षुष की उपपत्ति प्रदर्शित कार्य-कारणभाव से नहीं हो सकती है, क्योंकि उक्त चाक्षुष का विषय घटनीलरूप
है, जो गुण है न कि द्रव्य । अतः द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से वह चाक्षुष घटनीलरूप में न रह सकेगा (उत्पन्न
नहीं हो सकेगा) । अतः यहाँ कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता न हो कर द्रव्यसमवेतनिष्ठ लौकिक विषयता
होगा, क्योंकि घटनीलरूप घट द्रव्य में समवेत होने से द्रव्यसमवेतनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से घटनीलरूपचाक्षुष घटनीलरूप
में रह सकता है । वहाँ चक्षुःसंयोग नहीं रह सकता, क्योंकि घटनीलरूप गुण है और चक्षुसंयोग भी गुण है तथा गुण
में गुण नहीं रहता है । इसलिए आलोक-संयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसंयोगाश्रयसमवाय को ही घटनीलरूपचाक्षुष का कारण
मानना होगा । तादृश चक्षुसंयोग का आश्रय नील घट है, जिसका समवाय घटनीलरूप में रहता है । इसलिए द्रव्यसमवेतनिष्ठ
लौकिकविषयता सम्बन्ध से चाक्षुष के प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसंयोगाश्रयसमवाय को कारण मानना होगा । यह
दूसरा कार्य-कारणभाव हुआ । इस तरह अन्य कार्यकारणभाव का स्वीकार रूपत्वादिविषयक चाक्षुष के अनुरोध से करना पड़ेगा ।
अतः विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चाक्षुष प्रत्यक्ष के कारणविभूया चक्षुःसंयोगादि की कल्पना गौरवदोषग्रस्त है ।

- आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से आलोकसंयोग में कारणताकल्पना लघु है -

लाघवा. इति । विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग में कारणता की कल्पना की अपेक्षा आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से आलोकसंयोग
में कारणता की कल्पना करने में लाघव है । आत्मा में समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार रहता है, क्योंकि वह गुण है ।
अतः कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय है । चाक्षुषात्मक कार्य आत्मा में रहता है । इसलिए उसके कारण आलोकसंयोग का
भी आत्मा में रहना आवश्यक है, क्योंकि कार्य और कारण समानाधिकरण होने पर ही उन दोनों में कार्य-कारणभाव हो
सकता है । आलोकसंयोग और चक्षुसंयोग एक भाग में रहने पर ही चाक्षुष साक्षात्कार का उदय होता है । तथा उस चक्षुसंयोग
के आश्रय चक्षु से मन का संयोग होता है और मन का विजातीय संयोग आत्मा के साथ होता है । अतः आलोकसंयोग
स्व(=आलोकसंयोग)अवच्छेदक(विषयभाग)अवच्छिन्नचक्षुसंयोगाश्रय(चक्षु) संयुक्तमनप्रतियोगिक-आत्मानुयोगिक-विजातीय-
संयोगसम्बन्ध से आत्मा में रहता है । यद्यपि ज्ञानमात्र के प्रति आत्ममनसंयोग कारण है । फिर भी चाक्षुषजनक आत्ममनःसंयोग
स्पर्शनादिजनक आत्ममनःसंयोग से विजातीय = भिन्नजातिवाला होता है । इसलिए कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में तादृशसंयोग

स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनैव कारणता कल्प्यते । चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे तु स्फुटमेव गौरवम्, सम्बन्धगौरव-

✽ जयलता ✽

स्येति । 'कारणते'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । आत्मनिष्ठप्रत्यासत्तिवादी स्वपक्षे कारणतावच्छेदकसम्बन्धमाह - स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनैवेति । स्वपदेन आलोकसंयोगस्य ग्रहणम् । तदवच्छेदको यो विषयांशः तदवच्छिन्नः संयोगः = चक्षुःसंयोगः, तदाश्रयीभूतेन चक्षुषा संयुक्तं मनः तत्प्रतियोगिक आत्मानुयोगिकः यो विजातीयसंयोगः तत्सम्बन्धेनैवेत्यर्थः । तेन सम्बन्धेन आलोकसंयोग आत्मनि वर्तते तत्रैव च समवायसम्बन्धेन दर्शितचाक्षुषं वर्तते । अन्धकारप्रत्यक्षे तमोव्याप्यालोकसंयोगाभावचाक्षुषे च नालोकसंयोगापेक्षेति आलोकसंयोगकार्यघटकभेदकोटी तदन्वयविषयनिवेशः । न च कारणतावच्छेदकसम्बन्धो विजातीयत्वेन किमर्थं विशेषित इति वाच्यम्, रासनादिसाक्षात्कारजनकमनःसंयोगव्यवच्छेदकृते तस्याऽवश्यकत्वात् । यद्यपि प्रतिक्षणमात्मनःसंयोगो भिद्यते, मनसः चंचलत्वात् तथापि चाक्षुषजनकतावच्छेदकजातिविशेषसत्त्वान्न व्यतिरेकव्यभिचारः । एवञ्चात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्यैकान्धकारणत्वेन लाघवमवस्यक्षे विनिगमकमिति भावः ।

ननु भवतु ममाऽपि चक्षुःसंयोगस्याऽऽत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या कारणत्वमिति चक्षुःसंयोगकारणतावाद्यादृक्का मनसिकृत्य आलोकसंयोगकारणतावाद्याह - चक्षुःसंयोगस्येति । स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनेति । स्वपदेनाऽत्र चक्षुःसंयोगस्य ग्रहणम् । चक्षुःसंयोगस्याऽवच्छेदको यो विषयवृत्तिः भागः तदवच्छिन्नो य आलोकसंयोगः तदवच्छेदकः पुनः स एव विषयांशः तदवच्छिन्नोऽपि पुनः स एव चक्षुःसंयोगः, तद्वत् यच्चक्षुः तत्संयुक्तं यन्मनः तत्प्रतियोगिक आत्मानुयोगिको यो विजातीयः = रासनादिसाक्षात्कारजनकतावच्छेदकजनशून्यः संयोगः स आत्मनि वर्तते । अतः तेन सम्बन्धेन चक्षुःसंयोगोऽप्यात्मन्येव वर्तते । एवञ्चाऽऽत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या चक्षुःसंयोगस्य तथात्वे = तमस्तद्व्याप्यभिन्ननिरूपितलीकिकविषयितावचाक्षुषकारणत्वे, तु स्फुटमेव = स्पष्टमेव गौरवं = कारणतावच्छेदक-

न कह कर 'तादृशविजातीयसंयोग' ऐसा कहा है । यहाँ यह भी ध्यान में रहे कि आलोकसंयोग चाक्षुषमात्र का जनक नहीं होता है, क्योंकि अन्धकार = प्रकाशाभाव एवं उसके व्याप्य प्रकाशसंयोगाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष आलोकसंयोग के बिना ही होता है । इसलिए आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म भी चाक्षुषत्व न हो कर अन्धकार-तद्व्याप्यभिन्नपदार्थनिरूपितलीकिकविषयितावचाक्षुषत्व ही होगा । यहाँ अनेक कार्य-कारणभाव की कल्पना अनावश्यक है, क्योंकि चाहे घटचाक्षुष हो, चाहे घटनीलरूपविषयक चाक्षुष हो, चाहे घटनीलरूपत्वविषयक चाक्षुष हो, चाहे घटाभावविषयक चाक्षुष हो, चाहे घटनीलरूपवृत्तिपीतरूपाभावविषयक चाक्षुष हो, चाहे नीलरूपत्वजातिवृत्तिरूपाभावविषयक चाक्षुष हो, वे सभी समवाय सम्बन्ध से आत्मा में ही रहते हैं । अतः आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति (=सम्बन्ध) से आलोकसंयोग में कारणता का स्वीकार करने में अनेककार्य-कारणभावकल्पनाऽनावश्यकता-प्रयुक्त लाघव है । यह लाघव ही विनिगमक होने से 'चाक्षुष का कारण चक्षुसंयोग है या आलोकसंयोग ?' इत्याकारक विनिगमनाविरह का अवकाश नहीं है । इसलिए आलोकसंयोग को ही उसका कारण मानना उचित है - यह फलित होता है ।

✽ चक्षुसंयोग को आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण मानने में गौरव ✽

चक्षुःसं. इति । यदि यहाँ चक्षुसंयोगकारणतावादी की ओर से कहा जाय कि —> "यदि विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को चाक्षुष साक्षात्कार का कारण मानने में दोष है तब उसे आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण मानो । जैसे आलोकसंयोग को आप आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण मानते हैं, ठीक उसी तरह चक्षुसंयोग को भी आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चाक्षुष साक्षात्कार का कारण माना जा सकता है । अतः विनिगमनाविरह दोष पुनः प्रसक्त होगा" <- तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को चाक्षुष साक्षात्कार का कारण मानने का मतलब यह होता है कि चक्षुसंयोग आत्मा में रह कर के आत्मा में समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष को उत्पन्न करता है । मगर चक्षुसंयोग केवल स्वाश्रय-संयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोग सम्बन्ध से आत्मा में रह कर चाक्षुष को उत्पन्न नहीं कर सकता है, क्योंकि तब तो गाढ़ अन्धकार में अवस्थित घटादि द्रव्य के साथ चक्षुसंयोग होने पर भी घटादि का चाक्षुष होने लगेगा, क्योंकि तब भी चक्षुसंयोग स्व(= चक्षुसंयोग)आश्रय (= चक्षु)संयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग वाले आत्मा में तादृश सम्बन्ध से रहता है । इसका निवारण करने के लिए यही कहना होगा कि चक्षुसंयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्त-

वाऽदोषत्ववादिनाऽपि सम्भवति लघुसम्बन्धे गुरुसम्बन्धाऽकल्पनादिति चेत् ? न, तथापि

❀ गयलता ❀

सम्बन्धशरीरगौरवम् । स्वाश्रयसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगस्य चाक्षुषकारणत्वे तु बहलतमे तमसि घटचक्षुःसन्निकर्षदशायां तच्चाक्षुषापत्तिरिति दर्शितगुरुसम्बन्धस्यैव कारणतावच्छेदकत्वं वाच्यमिति गौरवमेवेति भावः ।

ननु चक्षुःसंयोगकारणतावादिनो मम मते सम्बन्धगौरवस्य दोषत्वं नाऽङ्गीक्रियते किन्तु धर्मगौरवस्यैवेति न तादृश-चाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरगौरवं दोष इति पुनर्विनिगमनाविरहो दुरुद्धर इति नालोकसंयोगस्य तत्कारणत्वं सुघटघटा-कोटिसण्डङ्कमार्गीकते इत्याशङ्क्यामालोकसंयोगकारणतावाद्याह - सम्बन्धगौरवाऽदोषत्ववादिनाऽपीति । किं पुनः सम्बन्धगौरव-दोषत्ववादिनेति अपिशब्दार्थः । सम्भवति लघुसम्बन्धे गुरुसम्बन्धाऽकल्पनादिति । आलोकसंयोगस्य लघुसम्बन्धेन तत्कारण-त्वोपपत्ती चक्षुःसंयोगस्य गुरुतरसम्बन्धेन तत्कारणत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् प्रकृते विनिगमनविग्रह दृष्टान्तनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्यैव तद्वेतुत्वकल्पनमुचितमिति तदाश्रयत्वेनालोकस्य द्रव्यत्वसिद्धिरित्यथाशयः ।

स्याद्वादी तन्निराकरोति - नेति । यद्यपि आलोकसंयोगस्य दर्शितसम्बन्धेन चाक्षुषकारणत्वे उद्योतस्थपुरुषस्य बहलान्ध-कारस्थवस्तुचाक्षुषसाक्षात्कारोदयापत्तिर्द्वारा, आलोकसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीय-संयोगसम्बन्धेनाऽत्मनि सत्त्वात् । न च स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नचक्षुःसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धे-नाऽलोकसंयोगस्य तद्वेतुत्वमिति वाच्यम्, गौरवात्, अन्धकारस्थपुरुषस्याऽऽलोकस्थवस्तुचाक्षुषानुदयप्रसङ्गाच्च तथापि स्फुटत्वा-

मनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोग सम्बन्ध से आत्मा में रह कर समवाय सम्बन्ध से आत्मा में चाक्षुष उत्पन्न करता है । गाढ़ अन्यकार में अवस्थित घटादि में जो चक्षुसंयोग है उसके अवच्छेदक घटादिद्रव्यावयव से अवच्छिन्न आलोकसंयोग ही नहीं होने से उससे घटित सम्बन्ध से चक्षुसंयोग भी आत्मा में नहीं रहता है । मगर जब घट के नयनाभिमुख भाग में आलोकसंयोग रहता है तभी चक्षुसंयोग दर्शित सम्बन्ध से आत्मा में रह सकता है, क्योंकि स्व = चक्षुसंयोग, उसके अवच्छेदक घटावयव से अवच्छिन्न = नियन्त्रित है आलोक संयोग, उसके अवच्छेदकीभूत उसी घटावयव से अवच्छिन्न है वही चक्षुसंयोग, जो ग्रन्थस्थ द्वितीय स्वपद से अभिमत है । तादृश चक्षुसंयोगवाली चक्षु है और उससे संयुक्त है मन, जिसका विजातीय संयोग आत्मा में रहता है । अतः दर्शित सम्बन्ध से चक्षुसंयोग आत्मा में रह सकता है, जो उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से घटगोचर चाक्षुष को उत्पन्न करता है । इस तरह चक्षुसंयोग और चाक्षुष में सामानाधिकरण्य एवं कार्यकारणभाव की उपपत्ति करनी होगी । अब महाशय ! चक्षुसंयोगकारणतावादी ! देखिये, आपके मत में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध हुआ स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगा-वच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुसंयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग और आलोकसंयोग को कारण मानने वाले हमारे मत में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध हुआ स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगाश्रयचक्षुसंयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग । स्पष्ट ही है कि आत्मनिष्ठप्रत्या-सत्ति से चक्षुसंयोग को चाक्षुष का कारण मानने पर आपके पक्ष में हमारे मत की अपेक्षा गुरुभूत सम्बन्ध है । इसलिए आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को कारण न मान कर आलोकसंयोग को ही कारण मानना उचित है । यहाँ यह कहना अनुचित है कि —> “चक्षुसंयोगकारणतावादी हम सम्बन्ध के गौरव को दोषात्मक नहीं मानते हैं । अतः भले हमारे मत में आपके मत की अपेक्षा सम्बन्धशरीर में गौरव हो, फिर भी आत्मनिष्ठ उक्त प्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को कारण माना जा सकता है” <—। यह अनुचित न होने का कारण यह है कि सम्बन्धशरीरविष्ट गौरव को दूषण नहीं मानने वाले विद्वान भी गुरुभूत सम्बन्ध का स्वीकार तब करते हैं, जब लघुभूत अन्य सम्बन्ध से कार्यकारणभाव आदि की उपपत्ति न हो सके । जब लघु सम्बन्ध उपस्थित हो और उससे कार्यकारणभाव आदि की संगति हो सके तब तो वे भी गुरुभूत सम्बन्ध की विलिष्ट कल्पना को मान्य नहीं करते हैं । प्रस्तुत में आलोकसंयोग को कारण मानने पर लघुभूत कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से चाक्षुषोत्पत्ति का समर्थन मुमकिन होने की वजह उसे छोड़कर गुरुभूत सम्बन्ध को कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मान कर चाक्षुष की कारणता की चक्षुसंयोग में कल्पना करना नितांत अयोग्य है । इसलिए लाघव सहकार से आलोकसंयोग को ही तादृश चाक्षुष साक्षात्कार का कारण मानना मुनासिब है - यह फलित होता है । जब आलोकसंयोग में कारणता सिद्ध हो गई तब तो उसका आश्रय होने की वजह आलोक में द्रव्यत्व की सिद्धि अनायास ही हो जायेगी । अतः आलोक को अन्यकाराऽभावात्मक न मान कर अन्यकार को ही आलोकाभावात्मक मानना ठीक है । यह हम नैयायिक विद्वानों का तात्पर्य है ।” <—

❀ आलोकसंयोगाकारणतापक्ष में विनिगमनाविरह - द्याद्वादी ❀

उत्तरपक्ष :- न, तथा, इति । आत्मनिष्ठप्रत्यासत्तिवादी का उपर्युक्त कथन असंगत है । इसका कारण यह है कि

संयोगस्य सम्बन्धविधया निवेशाऽनिवेशाभ्यां महत्त्वोद्भूतरूपवत्त्वादिविशेषण-विशेष्यभावे च तदोषतादवस्थ्यात् । 'स्वावच्छेदकावच्छिन्ने'त्यादिसम्बन्धेन तत्र तमःसंयोगस्य प्रतिबन्ध-

❀ गद्यलता ❀

देतदोषजालमुपेक्ष्य स्याद्वादी दोषान्तरमाह - तथापीति । आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्य तद्वेतुत्वोपगमेऽपीति । संयोगस्य सम्बन्धविधया = कारणतावच्छेदकसंसर्गरूपेण निवेशाऽनिवेशाभ्यामिति । अस्याऽग्रे 'तदोषतादवस्थ्यादि'त्यनेनाऽन्वयः । आलोकसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तत्कारणत्वं यदुताऽऽलोकस्य स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तद्वेतुत्वं ? इत्यत्र कारणतावच्छेदकसम्बन्धकोटौ संयोगस्य निवेशानिवेशाभ्यां विनिगमनाविरहदोषस्य तदवस्थत्वान्नालोकसंयोगस्याऽपि कारणत्वं सङ्गतिमङ्गति ।

नन्वस्त्वालोकस्यैवोपदर्शितसम्बन्धेन कारणत्वं कारणतावच्छेदकधर्मलाघवात्, सम्बन्धगौरवस्य चाऽदोषत्वात् । एवमप्यालोकस्य द्रव्यत्वसिद्धिरव्याहतेति नैयायिकाशङ्कायां स्याद्वादी गत्यन्तरेण विनिगमनाविरहदोषं दृढयति - महत्त्वोद्भूतरूपवत्त्वादिविशेषण-विशेष्यभावे इति । आदिशब्देनाऽनभिभूतरूपवत्त्वग्रहणम् । तदोषतादवस्थ्यात् = विनिगमनाविरहप्रयुक्तगौरवदोषस्य दुर्वारत्वात् । आलोकस्यैव दर्शितसंसर्गेण कारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदकधर्मत्वमालोकत्वस्य न सम्भवति आलोकपरमाणुनयनरश्मि-सुवर्णसंयुक्तस्य गाढान्धकारस्थद्रव्यस्य चाक्षुषत्वापत्तेः किन्तु महत्परिमाणोद्भूतानभिभूतरूपवदालोकत्वस्यैव तत्त्वं गौतमीयेन वक्तव्यम् । तच्च न सम्भवति, उद्भूतानभिभूतरूप-महत्त्ववदालोकत्वस्याऽनभिभूतोद्भूतरूपमहत्त्ववदालोकत्वस्य महदनभिभूतोद्भूतरूपवदालोकत्वस्य वा कारणतावच्छेदकधर्मत्वे विनिगमनाविरहेण सर्वेषामेव तेषां तत्त्वप्रसङ्गेन महागौरवात् । ततो नालोकस्य कारणता साध्वीति स्याद्वाद्याशयः ।

आलोकस्य कारणत्वोपगमे न केवलं कारणतावच्छेदकधर्म-तत्सम्बन्धशरीरगौरवं किन्तु कार्यतावच्छेदकधर्मदेहगौरवमपि । समवायेन चाक्षुषत्वस्य तत्त्वेऽन्धकारचाक्षुषे व्यभिचारात् । तमोभिन्नचाक्षुषत्वस्य तथात्वे आलोकसंयोगाभावचाक्षुषे व्यभिचारात् । तमस्तद्व्याप्यभिन्नचाक्षुषत्वस्य तथात्वे गौरगात् ।

किञ्च येन सम्बन्धेनालोकसंयोगस्य तत्कारणत्वं तेनैव सम्बन्धेन तमःसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वमपि त्वयाऽवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथा यत्रैकस्यैव पटस्याऽर्द्धं तमसि अर्द्धञ्चालोके तत्र स्थले उभयावच्छेदेन चक्षुःसंयोगे सति नयनाभिमुखाखिलपटचाक्षुषमापद्येत । इत्थञ्च तस्य प्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमस्याऽऽवश्यकत्वे सिद्धे प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वेन तत्र कारणान्तरकल्पनागौरवापत्तिः । वस्तुत एवमवश्यकलृप्तनियतपूर्ववर्तिनः तमःसंयोगाभावादेवं कार्यसम्भवे आलोकसंयोगस्याऽन्यथासिद्धत्वमित्याशयेन स्याद्वाद्याह - 'स्वावच्छेदकावच्छिन्ने'त्यादिसम्बन्धेनेति । स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनेति । स्वपदेन तमःसंयोगस्य ग्रहणम् । शेषं पूर्ववद्भावनीयम् । तत्र = तमस्तद्व्याप्यभित्रीयलौकिकविष-

आलोकसंयोग को स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग संबन्ध से कारण माना जाय या आलोक को स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग सम्बन्ध से कारण माना जाय ? इन दो पक्ष में से एक भी पक्ष की समर्थक युक्ति नहीं है । मतलब कि संयोग का कारणशरीर में प्रवेश किया जाय या कारणतावच्छेदकसम्बन्धदेह में निवेश किया जाय ? इसका निश्चयक तर्क न होने से 'आलोकसंयोग ही दर्शित आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण है' यह नैयायिकप्रतिपादन असंगत है । दूसरी बात यह है कि आलोक को लाघवसहकार से 'स्वसंयोगावच्छेदक...' इत्यादि सम्बन्ध से कारण मान भी लिया जाय तो भी आलोकसामान्य तो कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि आलोकपरमाणु, तप्तजलस्थ आलोक, सुवर्णात्मक आलोक होने पर भी तत्संयुक्त द्रव्य का चाक्षुष नहीं होता है । इसलिए महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक को ही चाक्षुषकारण मानना होगा । मगर यहाँ कारणतावच्छेदक धर्म महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकत्व है या उद्भूताऽनभिभूतरूप-महत्त्ववदालोकत्व है या अनभिभूतोद्भूतरूप-महत्त्ववदालोकत्वादि है ? इस समस्या का कोई समाधान नहीं होने से सभी का चाक्षुषकारणतावच्छेदक-धर्मविधया स्वीकार करना होगा, जिसकी वजह कार्य-कारणभाव में अत्यन्त गौरव होगा । इस तरह आलोकसंयोगकारणतावादी के पक्ष में उपर्युक्त विनिगमनाविरह दोष ज्यों का त्यों बना रहने से आलोकसंयोग को चाक्षुषकारण नहीं माना जा सकता ।

❀ अन्धकार में द्रव्यत्वालोचि ❀

स्वाव. इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि जैसे आलोकसंयोग को स्वावच्छेदकावच्छिन्न संयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनः-

कत्वेतोपपत्तेश्च ।

पेचकादिचाक्षुषे व्यभिचारश्च सर्वत्र साधारणं दूषणम् । न च नरचाक्षुषं प्रत्येव कारणता,

✽ जयलता ✽

यितावचाक्षुषसाक्षात्कारे, तमःसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वेन एव उपपत्तेश्चेति । न च 'तमःसंयोगाभावत्वेन न हेतुताऽपि तु आलोकसंयोगत्वेन, लाघवादिति वाच्यम्, महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वापेक्षया महत्तमःसंयोगाभावत्वस्य लघुत्वात्, परमते महत्त्वोद्धूतत्वादिविशेष्यविशेष्यभावे विनिगमकाभावाच्च । इत्यञ्च नैयायिकमते आलोकद्रव्यत्वसिद्धिः दुर्घटा । मम तु प्रतिबन्धकीभूतसंयोगाश्रयत्वेन तमोद्रव्यत्वसिद्धिः । इत्यञ्च 'अस्तु तमस एव द्रव्यत्वं आलोकव्यवहारस्य तु तमोऽभावेनैवोपपत्तेः' इति स्याद्वादिना पर्यनुयुङ्क्ते सति नैयायिकेन न किमपि विनिगमकमुपदर्शयितुं पार्यते इति प्रकरणकृदाशयः ।

किञ्चालोकं विना पेचकादिचाक्षुषोदयाद् विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या एव चैत्रादिचाक्षुषे तद्वेतुत्वोपगमो न्याय्यो न त्वात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या इत्याशयेन प्रकरणकृदाह - पेचकादिचाक्षुष इति । उलूकादिचाक्षुषसाक्षात्कार इति । तदुक्तं मूलकाररेव अभिधानचिन्तामणी 'घूँके निशाटः काकारिः कौशिकोलूकपेचकाः' (अभि.चि.श्लो. १३२४) इति । व्यभिचारः = व्यतिरेक-व्यभिचारः सर्वत्र = आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्य चक्षुःसंयोगस्य तमःसंयोगाभावस्य वा तद्वेतुत्वोपगमे साधारणं दूषणम् । स्यावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनाऽऽलोकसंयोगस्य तमःसंयोगाभावस्य च तथा स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगस्य पेचकादावसत्त्वेऽपि तत्र समवायेन घटादिचाक्षुषोदयाद् व्यतिरेकव्यभिचारः ।

दर्शितव्यतिरेकव्यभिचारश्चाऽऽत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्य तमःसंयोगाभावस्य तद्वेतुत्वेऽन्वयव्यभिचारस्योपलक्षणम्, आलोकस्थगुरुषस्याऽन्धकारस्थद्रव्यचाक्षुषानुदयादिति ।

नन्वस्त्वालोकसंयोगादेः नरचाक्षुषत्ववाच्छिन्नं प्रत्येव हेतुतेति न पेचकादिचाक्षुषे व्यतिरेकव्यभिचारः, तस्य तत्कार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वादिति पराभिप्रायं दूषयितुमुपक्रमते - न चेति । नरचाक्षुषं = नरसमवेतचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव आलोक-

प्रतियोगिक विजातीय संयोग सम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार का कारण माना जाता है, ठीक उसी तरह अन्यकारसंयोग को उसी सम्बन्ध से चाक्षुष का प्रतिबन्धक भी मानना आवश्यक है, क्योंकि अन्यकारसंयुक्त द्रव्य के जिस भाग में अन्यकारसंयोग हो उसी भाग में चक्षुसंयोग होने पर उस द्रव्य का चाक्षुष नहीं होता है । आत्मा में तब समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष नहीं होता है । इसलिए अन्यकारसंयोग भी स्व(=अन्यकारसंयोग)अवच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसंयोगाश्रयीभूतचक्षुसंयुक्तमनप्रतियोगिक विजातीय संयोग सम्बन्ध से आत्मा में रहेगा । इस तरह चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से अन्यकारसंयोग को प्रतिबन्धक एवं उसके अभाव को कारण मानना आवश्यक है । अब तो आलोकसंयोग को चाक्षुष का कारण मानने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अन्यकारसंयोगाभावरूप प्रतिबन्धकाभाव से ही चाक्षुषोदय हो सकता है । द्रव्य के साथ चक्षु का संयोग जिस भाग में हो उस भाग में अन्यकाराभाव रहने पर ही आत्मा में दर्शित सम्बन्ध से प्रतिबन्धकाभाव रहता है और तभी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष का उदय भी होता ही है । इस तरह अन्यकारसंयोगाभाव को ही चाक्षुष का कारण माना जा सकता है जिसके फलस्वरूप में प्रतिबन्धकीभूत संयोग का आश्रय होने की वजह अन्यकार में द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध होगी । प्रत्युत आलोकसंयोग में चाक्षुषकारणता असिद्ध रहने से आलोक में द्रव्यत्व की सिद्धि नैयायिक के लिए दुर्घट बनती है ।

☐ आलोकसंयोगकारणतापक्ष में व्यभिचार ☐

पेचका. इति । दूसरी बात यह है कि आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चाहे आलोक को या आलोकसंयोग को या चक्षुसंयोग को या अन्यकारसंयोगाभाव को चाक्षुषसाक्षात्कार का कारण माना जाय, मगर उलू आदि के चाक्षुष प्रत्यक्ष में व्यतिरेक व्यभिचार तो आवश्यक रहेगा ही, क्योंकि आलोकादि के विरह में भी गह्र अन्यकार में घटादि का साक्षात्कार उन्हें होता है । कारणाभाव में भी कार्योत्पाद होने से प्राप्त व्यभिचार दोष आलोक, आलोकसंयोगादि में कारणता का निश्चय नहीं होने देगा, क्योंकि व्यभिचार दोष कार्य-कारणभाव का विघटक है । इस व्यभिचार दोष का निवारण करने के लिए नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'आलोकसंयोगादि का कार्यतावच्छेदक धर्म चाक्षुषत्व नहीं है किन्तु मनुष्यचाक्षुषत्व है । अर्थात् आलोकसंयोग आदि का कार्य सब चाक्षुष साक्षात्कार नहीं है किन्तु मनुष्यवृत्ति चाक्षुष ही है । उलू, बिही आदि का चाक्षुष मनुष्यवृत्ति नहीं है । इसलिए उसकी उत्पत्ति आलोकसंयोग आदि के बिना हो तो भी व्यभिचार दोष नहीं होगा । जो कार्य अपना

अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तत्स्करादीनां चाक्षुषे तथापि व्यभिचारात् । न च स्वाभाविकनर-
चाक्षुषत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वाज्ज्ञायं दोष इति वाच्यम्, स्वाभाविकत्वस्याऽऽलोकसहकृत-
चक्षुर्जन्यत्वरूपस्याऽऽलोककारणतापरिचयं विनाऽपरिचयात्, अन्यस्य दुर्वचत्वात् ।

❀ जयलता ❀

संयोगादेः कारणता । तत्र दोषमाह - अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामिति । आदिपदेन रसायनगुटिकादिग्रहणम् । तत्स्करादीना-
मिति । आदिपदेन 'योग्यादिग्रहणम् । चाक्षुषे तथापि = नरचाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितालोकसंयोगादिनिष्ठकारणत्वोपग-
मेऽपि, व्यभिचारात् = व्यतिरेकव्यभिचारात्, अञ्जनादिसंस्कृतनेत्राणां निशायां भ्रमतां आलोकसंयोगादिकमृतेऽपि चाक्षुषोदयात् ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । स्वाभाविकनरचाक्षुषत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वात् = आलोकसंयोगादिनिरूपित-
कार्यतावच्छेदकत्वात्, न अयं दोषः = आलोकसंयोगाद्यजन्याऽऽञ्जनादिसंस्कारजन्यनरचाक्षुषोदये व्यभिचारदोषः, तस्याऽस्वा-
भाविकत्वादिति नैयायिकाशयः । स्याद्वादी तन्निरासे हेतुमाह - स्वाभाविकत्वस्येति । आलोकसंयोगादिकार्यतावच्छेदकधर्मघट-
कीभूतस्य स्वाभाविकत्वस्येति । आलोकसहकृतचक्षुर्जन्यत्वरूपस्य = आलोकसहकारिकारणकनेत्रजन्यत्वलक्षणस्य आलोककार-
णतापरिचयं = आलोकनिष्ठकारणताबोधं, विना अपरिचयात् = अज्ञानात् । नैयायिक आलोककारणत्वसिद्धये प्रवृत्तः ।
न चाऽद्यावधि तत्कारणता सिद्धा । असिद्धेनाऽसिद्धसाधने तून्मत्तत्वप्रसङ्गात् आलोकसहकारिकारणकचक्षुर्जन्यत्वविशिष्टनरचाक्षु-
षत्वस्याऽऽलोकजन्यतावच्छेदकत्वं सम्भवतीति व्यतिरेकव्यभिचारो दुर्वार एव । 'अस्तु स्वाभाविकत्वमालोकसहकृतचक्षुर्जन्य-
त्वविलक्षणमन्यदेवे'ति नैयायिकाभिप्रायं खण्डयितुं स्याद्वाद्याह - अन्यस्य = आलोकसहकृतचक्षुर्जन्यत्वव्यतिरिक्तस्य दुर्वचत्वात्
= दुर्व्याख्यानत्वात् । न च स्वाभाविकत्वं जातिरूपमेवेति वाच्यम्, सादृक्यात्, अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामेकदैवालोक-
संयोग-तच्छून्यद्रव्याणां चाक्षुषोदयात्, तस्याऽऽलोकस्थद्रव्यांशे स्वाभाविकत्वात् तमस्थद्रव्यांशे चाऽस्वाभाविकत्वात् । न च

नहीं है, उसकी उत्पत्ति अपने बिना हो तो दोष नहीं कहा जाता । इसलिए नरचाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग की कारणता
का विघटन नहीं हो सकता" <- तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि आलोकसंयोग को नरचाक्षुष का कारण
मानने पर भी व्यतिरेक व्यभिचार दोष तो ज्यों का त्यों बना रहता है, क्योंकि अञ्जनादि के योग से आँख में संस्कारविशेष
का आधान कर के चौर, संन्यासी आदि मनुष्य अमायास्या की रात्रि में भी, बिना आलोकसंयोग के, घटादि का चाक्षुष
साक्षात्कार करते हैं । उनके चाक्षुष में आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक नरचाक्षुषत्व धर्म है, फिर भी उनके चाक्षुष साक्षात्कार
की उत्पत्ति, बिना किसी आलोकसंयोग के, होने से व्यतिरेक व्यभिचार दुर्निवार है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा
जाय कि -> "अञ्जनादि के सहकार से चौर, संन्यासी आदि मनुष्य को जो चाक्षुष होता है वह स्वाभाविक नहीं है, अस्वाभाविक
है । अञ्जनादि के बिना तो वे भी ग्राह अन्यकार में अवस्थित पदार्थ को नहीं देख सकते हैं । अञ्जनादि न हो तब आलोकसंयोग
होने पर ही उन्हें चाक्षुष साक्षात्कार होता है । इसलिए आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक नरचाक्षुषत्व नहीं, किन्तु स्वाभाविकनरचाक्षुषत्व
ही है । अब कहाँ है अवकाश व्यतिरेकव्यभिचार को ? स्वाभाविक नरवृत्ति चाक्षुष साक्षात्कार आलोकसंयोग के बिना हो
ही नहीं सकता" <- तो यह भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक स्वाभाविकनरचाक्षुषत्व
है, ऐसा कहने का मतलब यह है कि स्वाभाविकत्वविशिष्टनरचाक्षुषत्व उसका कार्यतावच्छेदक है । मगर यहाँ प्रश्न यह उपस्थित
होता है कि 'कार्यतावच्छेदकधर्म की कुक्षि में निविष्ट स्वाभाविकत्व क्या है ?'

❀ परमत में स्वाभाविकत्व का निर्वृत्तज दुःशाप्य ❀

आलोक. इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> "स्वाभाविकत्व का अर्थ है आलोकसहकृतचक्षुर्जन्यत्व ।
अर्थात् चाक्षुषोत्पत्ति के लिए जिसका सहकारी (कारण) आलोक है ऐसी चक्षु से जन्य चाक्षुष साक्षात्कार में रहने वाला
धर्म ही स्वाभाविकत्व है, जो आलोकसंयोगजन्यतावच्छेदकधर्मशरीर में प्रविष्ट है" <- तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण
यह है कि नैयायिक महाशय आलोकसंयोग में स्वाभाविक नरचाक्षुष की कारणता को सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं,
मगर अभी तक उसकी सिद्धि नहीं हुई है । उसकी सिद्धि करने के लिए उसी तर्क, अनुमान, व्याप्ति आदि का सहारा
लिया जा सकता है, जिसके शरीर में एक भी असिद्ध पदार्थ का निवेश न हो । यहाँ अभी तक आलोक में चाक्षुषकारणता
या चाक्षुष में आलोकजन्यता असिद्ध = अपरिचित = अज्ञात है, फिर भी नैयायिक विद्वान आलोकसंयोग के कार्यतावच्छेदक

१. यहाँ योगी पद से अचौरसंन्यासी आदि का ग्रहण अभिमत है, न कि केवलज्ञानी आदि का । २. देखिये, 'अचौर नगरा वागे' पुस्तक ।

अथ अज्जनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदिति चेत् ? न, आदिपदार्थाननुगमेन कार्यतावच्छेद-
काननुगमात् । 'आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदिति चेत् ? न, आलोकेतरस्याऽज्जना-
दैव्यभिचारेण चाक्षुषाऽजनकत्वेन चक्षुरसंस्कारकत्वात् ।

ॐ नयतु ॐ

तादृशचाक्षुषस्य विजातीयत्वान्नायं दोष इति वक्तव्यम्, तस्य तथात्वे मानाभावात्, 'पश्यामी'त्यनुव्यवसायानुपपत्तेः गौरवाच्च ।

साम्प्रतं परो गत्यन्तरेण स्वाभाविकत्वं निरूपयति - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । अज्जनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्य-
त्वं तत् = आलोककार्यतावच्छेदकधर्मघटकीभूतं स्वाभाविकत्वम् । स्याद्वादी तन्निराकुरुते - नेति । आदिपदार्थाननुगमेन
= अजनपदोत्तरादिपदार्थेष्वनुगतधर्मविरहेण, कार्यतावच्छेदकाननुगमात् = आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदकधर्मस्य तद्व्यटितस्याऽननु-
गमात्, नियतधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया आलोकसंयोगेऽसम्भवान्नैतादृशः कार्यकारणभावो घटामञ्जरीति स्याद्वादि-
नोऽभिप्रायः । पर आह - आलोकेतरासंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं = आलोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यत्वं तत् = आलोकसंयोगकार्यता-
वच्छेदकधर्मघटकीभूतं स्वाभाविकत्वम् । आलोकेतरत्वेनाऽज्जनादीनामनुगमान्न तदननुगमप्रयुक्तकार्यतावच्छेदकधर्माननुगमो न वा
व्यतिरेकव्यभिचारवकाशः, अज्जनादिसहकृतचक्षुषां चौरादीनां चाक्षुषे आलोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यनरसमवेतचाक्षुषत्वलक्षणस्य
कार्यतावच्छेदकस्य विरहादिति नैयायिकाशयः ।

नन्वालोकेतराऽसहकृतत्वं चक्षुषः किं स्वस्वरूपविशेषणं यदुत व्यावर्तकविशेषणं ? इति विकल्पयुगलीसमवतेतीयते । तत्र
नाद्यः क्षोदक्षमः, तस्य कार्यतावच्छेदकधर्मघटकत्वाऽयोगात्, व्यर्थगौरवात् व्यतिरेकव्यभिचारस्य तदवस्थित्वाच्च । नापि द्वितीयः
समीचीनः, आलोकेतरस्याऽज्जनादेः चाक्षुषं प्रति चक्षुःसहकारिकारणत्वविरहात्, अज्जनादिकमृतेऽपि चाक्षुषस्य जायमानत्वेन
व्यतिरेकव्यभिचारादित्याशयेन स्याद्वादी तन्निराकुरुते - नेति । व्यभिचारेण = व्यतिरेकव्यभिचारेण चाक्षुषत्वावच्छिन्नाऽ-
व्यवहितनियतपूर्ववर्तित्वाभावेनेति यावत् । चाक्षुषाऽजनकत्वेन = चाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वासम्भवेन, चक्षुर-
संस्कारत्वात् = चक्षुःसहकारिकारणत्वाऽयोगात् । घटं प्रति यथा दण्डस्य कुलालसहकारित्वं भवति तथा चाक्षुषं प्रति नाज्जना-

धर्म के घटकीभूत स्वाभाविकत्व के घटकविधया आलोकसहकारित्व = आलोककारणत्व = आलोकनिष्ठ चाक्षुषसहकारिकारणत्व
का ग्रहण करते हैं । यह कैसे संगत हो सकता है ? अभी तक स्वाभाविकत्व भी असिद्ध है और आलोकवृत्ति चाक्षुषसहकारिकारणता
भी असिद्ध है । तब असिद्ध से असिद्ध की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? तथा आलोकसहकृतचक्षुर्जन्यत्व से अतिरिक्त अन्यस्वरूप
भी स्वाभाविकत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ का निरूपण करना नैयायिक मनीषी के लिए
लोहे के चने चबाना जैसा मुश्किल है ।

अथा, इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → “स्वाभाविकत्वपद का अर्थ है अज्जनादि से असंस्कृत
चक्षु से जन्यत्व । अज्जनादि पदार्थ तो प्रसिद्ध है । अतः उसका स्वाभाविकत्व के घटकविधया निवेश हो सकता है । अज्जनादि
के सहकार से चौरादि को जो चाक्षुष साक्षात्कार, आलोकसंयोग के विना होता है, वह अज्जनादिसंस्कृतचक्षुर्जन्यनरचाक्षुष होने
से अज्जनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वविशिष्टनरचाक्षुषत्वस्वरूप आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदक धर्म से रहित होने से उसकी उत्पत्ति, विना
आलोकसंयोग के, हो तो भी व्यतिरेक व्यभिचार दोष का अवकाश नहीं है, क्योंकि वह आलोकसंयोग का कार्य ही नहीं
है” ← तो यह भी गलत है । इसका कारण यह है चक्षु में संस्कारविशेष का आधान केवल अंजन से ही नहीं होता
है, किन्तु रसायन, गुटिका, मणि आदि से भी होता है । वे कितने हैं ? यह अनिश्चित है । अतः ‘अज्जनादि’ पद में
जो आदिशब्द है, उसका अर्थ अननुगत होने से उससे घटित आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदक धर्म भी अननुगत बन जायेगा ।
तब तो अनेक कार्य-कारणभाव का स्वीकार आवश्यक बनने पर महगौरव होगा या तो व्यभिचार होगा । इसलिए आलोकसंयोग
का कार्यतावच्छेदक धर्म अज्जनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वविशिष्टनरवृत्तिचाक्षुषसाक्षात्कारत्व नहीं हो सकता है । कार्यतावच्छेदक धर्म
अनिश्चित होने पर उससे अवच्छिन्न = नियन्त्रित कार्यता भी अप्रसिद्ध बनेगी । जब कि तादृश कार्यता अप्रसिद्ध है, तब
उससे निरूपित कारणता भी आलोकसंयोग में कैसे रहेगी, जिसके फलस्वरूप में आलोकसंयोग को कारण माना जा सके ।

॥ आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं स्वाभाविकत्ववत्त्वं नही है - स्याद्वादी ॥

आलोकेत. इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → “आलोककार्यतावच्छेदकघटकीभूत स्वाभाविकत्व
का अर्थ है आलोकेतर से असंस्कृत = असहकृत चक्षु से जन्यत्व । अतः कार्यतावच्छेदक होगा आलोकेतराऽसहकृतचक्षु-

अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषं प्रत्यञ्जनादीनां जनकत्वे चाऽऽलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वमात्रस्य कार्यतावच्छेदकत्वौचित्यात् । एवमपि सिद्धं नः समीहितमिति चेत् ? न, तदपेक्षया लाघवेन

❀ नयलता ❀

देशक्षुःसहकारित्वं, येन तदव्यवच्छेदकृते आलोकेतराऽसहकृतत्वं चक्षुषो व्यावर्तकविशेषणविधया उपादेयं स्यात् । ततो नालोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यत्वलक्षणस्वाभाविकत्वविशिष्टनरसमवेतचाक्षुषत्वमालोकसंयोगस्य कार्यतावच्छेदकं भवितुमर्हतीति प्रकरण-कृदाशयः ।

ननु तृणारणिमणिन्यायेनाऽऽलोकसंयोगस्यैवाऽऽलोकेतरस्याऽञ्जनादेरपि स्वाऽव्यवहितोत्तरचाक्षुषं प्रति यद्वा स्वाऽभावाऽकालीनचाक्षुषं प्रति जनकत्वे व्यतिरेकव्यभिचाराऽयोगात्, तस्य तं प्रति चक्षुःसहकारिकारणत्वसम्भवादालोकेतरासहकृतत्वस्य चक्षुर्व्यावर्तकविशेषणत्वं सम्भवत्येव । ततश्चालोकसंयोगस्याऽऽलोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यनरचाक्षुषकारणत्वे नास्ति बाधकं किञ्चिदित्यालोकेतराऽसहकृतनयनजन्यनरचाक्षुषत्वस्यैवाऽऽलोकसंयोगनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वमभ्युपेयमिति नैयायिकाऽऽशङ्कयां स्याद्वादी प्राह - अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषं प्रतीति । अञ्जनाद्यभावकालीनचाक्षुषेतरचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रतीति । अञ्जनादीनामिति आदिशब्देन रसायनचूर्णलेपौषध्यादिग्रहणम् । जनकत्वे च = त्वया जनकत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु, तदपेक्षया आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वमात्रस्येति । मात्रपदेन आलोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यनरचाक्षुषत्वस्य व्यवच्छेदःकृतः, तदपेक्षया गुरुत्वात् । कार्यतावच्छेदकत्वौचित्यादिति । आलोकसंयोगनिष्ठकारणतानिरूपिताया कार्यताया अवच्छेदकत्वस्य युक्तत्वात्, अञ्जनादेरञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वमालोकसंयोगस्य चालोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यनरचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वमिति द्विविधकार्य-कारणभावकल्पनाऽपेक्षया आलोकसंयोगस्याऽऽलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव कारणत्वकल्पनेऽतिलाघवादिति । पेचकादीनां तादृशचौराणाञ्च बहुलतमे तमसि जायमानस्य घटादिचाक्षुषस्याऽऽलोकाभावसमकालीनत्वेनाऽऽलोकसंयोगकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वान्नैव व्यभिचारगन्धलेशोऽपीति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

परः लब्धावसरः साम्प्रतमिष्टापत्तित्वेन दर्शितफल-फलवद्भावमभ्युपैति - 'एवमपीति । आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वस्यैवाऽऽलोकसंयोगजन्यतावच्छेदकत्वाऽभ्युपगमेऽपीति । सिद्धं नः = अस्माकं नैयायिकानां समीहितम्, आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषकारणीभूतसंयोगाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्वसिद्ध्या तमसो लाघवेन तदभावात्मकत्वोपपत्तेरिति नैयायिकाभिप्रायः । निर्भाग्यशेखरमनोरथवदयमधुना विशरारुतामाकलयतीत्याशयेन स्याद्वाद्याह - नेति । आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वं न युक्तमित्यर्थः । तदपाकरणे हेतुमाह - तदपेक्षयेति । आलोकाभावकालीनेतरकालिकचाक्षुषत्व-

जन्यनरचाक्षुषसाक्षात्कारत्व । यहाँ आलोकेतरपद से अंजन, रसायन आदि सब का ग्रहण हो सकता है । आलोकेतरत्व धर्म उन सब में अनुगत होने से कार्यतावच्छेदक धर्म अनुगत होने का दोष अभी असंभव है । आलोकेतर से असहकृत यानी आलोकेतर अंजनादि जिसका सहकारी कारण नहीं है ऐसी चक्षु से जो नरवृत्तिचाक्षुष साक्षात्कार होता है, उसके प्रति तो आलोकसंयोग, अवश्य कारण होने से अंजनसंस्कृतचक्षुवाले चौर आदि के चाक्षुष में व्यतिरेक व्यभिचार का भी उद्भावन नामुमकिन है, क्योंकि आलोकसंयोग के बिना उत्पन्न होने वाले उस चाक्षुष में उक्त कार्यतावच्छेदक धर्म नहीं है । इसलिए आलोकेतरासहकृतचक्षुर्जन्यत्व को स्वाभाविकत्वपद का अर्थ माना जा सकता है" <- तो यह भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि चक्षु का कभी भी आलोकेतर (अंजनादि) सहकारी हो तब उसका व्यवच्छेद करने के लिए आलोकेतर से असहकृतत्व को चक्षु का विशेषण बनाना उचित है । मगर चाक्षुष साक्षात्कार के लिए आलोकेतर अंजनादि चक्षु का सहकारी कारण ही नहीं है, क्योंकि जब जब चाक्षुष साक्षात्कार होता है, उसके अव्यवहित पूर्व क्षण में अवश्य सर्वत्र आलोकेतर अंजनादि हो - ऐसा नहीं है । आलोकेतर अंजनादि के बिना भी बहुत से चाक्षुष उत्पन्न होते हैं । इसलिए वे चाक्षुष के व्यभिचारी हैं । अतः जैसे 'दण्ड घटोत्पत्ति के लिए कुम्हार का सहकारी कारण है' - यह कहा जाता है वैसे 'आलोकेतर अंजनादि चाक्षुषोदय के लिए चक्षु का सहकारी कारण है' - यह नहीं कहा जा सकता । इसलिए आलोकेतराऽसहकृतत्व चक्षु का व्यावर्तक विशेषण नहीं बन सकता । जो व्यावर्तक न हो उसका स्वरूपविशेषणविधया कार्यतावच्छेदकधर्मकोटि में निवेश करने में गौरव है । तथा तादृश प्रवेश करने पर भी व्यतिरेक व्यभिचार तो ज्यों का त्यों ही बना रहता है, क्योंकि स्वरूपविशेषण तो चक्षु में सदा होता ही है ।

ॐ कार्यतावच्छेदकधर्मलाघव से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि - एयाद्वादी ॐ

अंजना. इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> "अंजनादि भले सब चाक्षुष का सहकारी कारण न हो, मगर अंजनादि का अभाव होने पर न होने वाले चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति तो वह चक्षु का सहकारी हो सकता है । इसलिए अंजनादि को अंजनाद्यभावाऽकालीन चाक्षुष के प्रति कारण माना जा सकता है । अतः अंजनादि भी अंजनादि

तमःसंयुक्ताऽन्यचाक्षुषत्वस्यैव तत्त्वौचित्येन तमसो द्रव्यत्वसिद्धेः ।

कौचेतु - फलबलात्तत्रालोकविशेषः कल्प्यते ।

✽ जयलता ✽

पर्यवसितस्य आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वस्य अपेक्षया, लाघवेन = कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरलाघवेन, तमःसंयुक्ताऽन्यचाक्षुषत्वस्यैव तत्त्वौचित्येन = आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वौचित्येन, तमसो द्रव्यत्वसिद्धेरिति । आलोकाभावाकालीनचाक्षुषत्वस्याऽभावद्रव्यगर्भितत्वेनैकाभावघटितस्य तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्वस्य तदपेक्षया लघुत्वात् कार्यतावच्छेदकत्वमुचितम् । ततश्चालोकसंयोगकार्यतावच्छेदकघटकीभूतसंयोगाऽऽश्रयत्वेनान्धकारस्य द्रव्यत्वसिद्धिः तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषकारणताश्रयत्वेन चालोकस्य द्रव्यत्वसिद्धिः । तेन नान्धकारस्याऽलोकाभावात्मकत्वं न वाऽपसिद्धान्त इति स्याद्वादिनो गूढाभिप्रायः ।

एकदेशिमत् दर्शयतिकेचित्त्विति । 'व्याकोपापत्तेरिति'त्यन्तमयं पूर्वपक्षः । फलबलात् = चाक्षुषसाक्षात्कारलक्षण-फलोदयाऽन्यथाऽनुपपत्त्या, तत्र = पेचकादिचाक्षुषस्थले, आलोकविशेषः = महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽपेक्षया विजातीय आलोकः, कल्प्यते = अनुमीयते । प्रयोगाश्चैवम् - कौशिकादिचाक्षुषमालोकजन्यं चाक्षुषत्वात् महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽभावाऽकालीनचाक्षुषत्वम् । पक्षतावच्छेद-कञ्च कौशिकादिचाक्षुषत्वम्, तेन न हेतुपक्षतावच्छेदकार्यैरेक्यम् । गाढतमःस्थपेचकादि-

के अभाव के काल से इतर काल = अंजनादिकाल में होने वाले चाक्षुष के प्रति चक्षु का सहकारी हो सकता है । अंधेरी रात में यदि चौर आदि की आंख का सहकारी अंजनादि हो तभी उन्हें, आलोकसंयोग के बिना, गाढ़ अन्धकार में स्थित घटादि का चाक्षुष हो सकता है । अतः आलोकसंयोग को आलोकेतराऽसहकृतचक्षुजन्य नरसमवेत चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति कारण माना जा सकता है" <— तो यह नैयायिकोक्ति समीचीन नहीं है । इसका कारण यह है कि अंजनादि को अंजनाद्यभावाऽसमकालीन चाक्षुष का कारण मानना और आलोकेतराऽसहकृतचक्षुजन्य नरवृत्ति चाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग को कारण मानना आवश्यक बन जाने से द्विविध कार्य-कारणभाव का स्वीकार करना पड़ता है, जो गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है । इसकी अपेक्षा अच्छा तो यह है कि आलोकसंयोग को आलोकाऽभावाऽकालीन चाक्षुष के प्रति ही कारण माना जाय । ऐसा मानने पर कार्यतावच्छेदक धर्म आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्व ही होगा । इस तरह कार्य-कारणभाव में भी लाघव होता है । उद्भू, बिह्री, अंजनादिसंस्कृतचक्षु वाले चौर आदि का जो चाक्षुष साक्षात्कार है, वह आलोकाभावकालीन होने से आलोक-संयोगकार्यतावच्छेदक धर्म से शून्य है । इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार को भी अवकाश नहीं रहता है । अतः यही मानना उचित है - यह हम स्याद्वादियों का अभिप्राय है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "आप स्याद्वादी को यदि यह उचित है, तो हम भी इस कार्यकारणभाव का सहर्ष स्वीकार करते हैं, क्योंकि इस तरह भी आलोकसंयोग में कारणता सिद्ध होने से आलोकसंयोग के आश्रय में द्रव्यत्व की सिद्धि होने से हमारा इष्ट फल सिद्ध हो जायेगा कि - 'आलोक द्रव्यात्मक है और अन्धकार आलोकाऽभावस्वरूप है' । अतः तादृश कार्य-कारणभाव को हम मान्य करते हैं" <— तो यह नैयायिक कथन असंगत है । इसका कारण यह है कि आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्व को आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म मानने की अपेक्षा तमःसंयुक्ताऽन्यचाक्षुषत्व को ही उसका कार्यतावच्छेदक मानने में लाघव है, क्योंकि आलोकाभावाकालीनचाक्षुषत्व का अर्थ है आलोकाभावकालीनत्वाभाववचाक्षुषत्व जिसमें दो अभाव का प्रवेश होता है जब कि तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्व में एक ही अभाव का निवेश होता है । लघुभूत धर्म संभव हो तो गुरु धर्म में अवच्छेदकत्व नहीं माना जा सकता । इसलिए लाघव-सहकार से आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्व सिद्ध होता है । कार्यतावच्छेदक धर्म में तमःसंयोग का घटकविधया समावेश किया गया है । उसका आश्रय होने से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध होने से अन्धकार को आलोकाभावात्मक नहीं माना जा सकता । इस तरह कारण का आश्रय होने से आलोक भी द्रव्यात्मक है एवं कार्यता-अवच्छेदकघटकीभूत संयोग का आश्रय होने की वजह अन्धकार भी द्रव्यस्वरूप ही है - यह सिद्ध होता है, ऐसा स्याद्वादी का तात्पर्य है ।

✽ उद्भू आदि का चाक्षुष आलोकविशेषमन्य - नैयायिकदेशीमत ✽

पूर्वपक्ष :- केचि० इति । यहाँ अन्य नैयायिक विद्वानों का यह अभिप्राय है कि उद्भू, बिह्री आदि का चाक्षुष तभी उत्पन्न हो सकता है, यदि वहाँ कोई न कोई आलोक विद्यमान हो । अतः उद्भू आदि के चाक्षुष साक्षात्कार स्वरूप फल की अन्यथा अनुपपत्ति से वहाँ आलोक की सिद्धि होती है । मगर गाढ़ अन्धकार में रहने वाले उस आलोक का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसलिए वह आलोक हमारी चक्षु से अग्राह्य है - ऐसा सिद्ध होता है । इस तरह अन्धकार में भी उत्पन्न

'व्याभिचारग्रहे सत्त्वालोकस्य कारणताग्रहस्यैवाऽनुपपत्तेः कथमेवमिति चेत् ? न, तदवच्छेदेन व्यभिचारग्रहस्यैव तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहप्रतिबन्धकत्वात् । अत्र चाऽऽलोकत्व-सामानाधिकरण्येनैव तद्ग्रहात् तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहस्य निरपायत्वात्, अन्यथा

❀ जयति ❀

चक्षुः आलोकसंयुक्तं चाक्षुषजनकबहिरिन्द्रियत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् । जनकत्वश्चाऽत्रोपधायकत्वस्वरूपं ग्राह्यं, तेन न व्यभिचारः । ग्राह्यतमः संयुक्तद्रव्यं आलोकसंयुक्तं, द्रव्यत्वे सति चाक्षुषविषयत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् । पेचकादिचाक्षुषजनकालोकः विजातीय-त्वादस्मदादिभिर्न गृह्यत इति न बाधः न वा गौरवम्, फलाभिमुखत्वादिति नैयायिकैकदेशीयाऽभिप्रायः ।

मूलशैथिल्यमत्र कश्चिच्छङ्कते - व्यभिचारग्रहे = व्यतिरेकव्यभिचारग्रहे, सति आलोकस्य कारणताग्रहस्य = चाक्षुषकारणत्वज्ञानस्य एव अनुपपत्तेः = अघटमानत्वात्, कथं एवं = दूकादिचाक्षुषस्य विजातीयालोकजन्यत्वकल्पनं यदा-मश्चेत् ? आलोकस्य चाक्षुषकारणत्वनिश्चयपूर्वमेव क्रीशिकादिचाक्षुषे व्यतिरेकव्यभिचारज्ञानाच्चाऽऽलोके चाक्षुषकारणतानिश्चयः सम्भवति, व्यभिचारग्रहस्य कारणत्वनिश्चयप्रतिबन्धकत्वादिति न तत्र विजातीयालोकसिद्धिरिति शङ्काशयः । विजातीयाऽऽलोक-वादिनः तामपाकुर्वन्ति-नेति । तदवच्छेदेनेति । व्यवहितैवकारस्याऽत्राऽन्वयात् कारणतावच्छेदकावच्छेदेनैवेत्यर्थः । व्यभिचार-ग्रहस्य = अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारज्ञानस्य, तत्सामानाधिकरण्येन = कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन, कारणताग्रहप्रतिबन्ध-कत्वात् = कारणतानिश्चयविघटकत्वादिति । यथा पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेत्वसिद्धिग्रहः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन पक्षतावच्छेदक-सामानाधिकरण्येन च साध्यसिद्धिप्रतिबन्धकः, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन हेत्वसिद्धिग्रहस्तु पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनैव साध्य-सिद्धिप्रतिबन्धको न तु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यनिश्चयं प्रति तथैव कारणतावच्छेदकावच्छेदेन व्यभिचारज्ञानं कारणतावच्छेदकावच्छेदेन कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन च कारणताग्रहप्रतिबन्धकं कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन व्यभिचारग्रहस्तु कारणतावच्छेदकावच्छेदेनैव कारणताग्रहं प्रति प्रतिबन्धको न तु कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन कारणताग्रहं प्रति । पेचकादिचाक्षुषं तु महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकविरहे जायते न त्वालोकसामान्यविरहे । अतो व्यतिरेकव्यभिचारग्रहः प्रकृते आलोकत्वसामानाधिकरण्येनैव न तु तदवच्छेदेनेति तस्यालोकत्वावच्छेदेनैव चाक्षुषकारणताग्रहप्रतिबन्धकत्वं न त्वालोकत्व-सामानाधिकरण्येनेत्याशयेन वदन्ति - अत्र चेति । पेचकादिचाक्षुषस्थले त्विति । आलोकत्वसामानाधिकरण्येनैवेति । एवकारे-णा'ऽऽलोकत्वावच्छेदेने'त्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । तद्ग्रहात् = अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचारग्रहात्, तत्सामानाधिकरण्येन = आलोकत्वसामानाधिकरण्येन, कारणताग्रहस्य = चाक्षुषकारणताज्ञानस्य, निरपायत्वात् = अप्रतिबन्धकत्वात् । यत्किञ्चिदा-

होने वाले उद्भू आदि के चाक्षुषात्मक फल के बल से वहाँ आलोकविशेष की सिद्धि होती है । यहाँ यह शंका हो कि → "यदि आलोक में चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति कारणता का ज्ञान हो तभी तो उद्भू चाक्षुषोदय से उसके कारणविध्या अन्धकार में आलोकविशेष की सिद्धि हो सकती है । मगर आलोक में चाक्षुषकारणता का निश्चय ही नहीं हो सकता, क्योंकि आलोक में चाक्षुषकारणता के निश्चय के पूर्व काल में ही व्यभिचार का ज्ञान रहता है, जो कि कारणतानिश्चय का प्रतिबन्धक है । उद्भू, बिछी आदि के चाक्षुष की अन्धकार में उत्पत्ति होने से आलोक में चाक्षुषकार्य के प्रति व्यतिरेक व्यभिचार का ग्रह पूर्वोपस्थित होने से आलोक में चाक्षुषकारणता का निश्चय ही नहीं हो सकता । इस स्थिति में उद्भूचाक्षुषात्मक फल की अन्यथा अनुपपत्ति से वहाँ आलोकविशेष की सिद्धि कैसे हो सकती है ?" ← तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि यहाँ जो व्यतिरेक व्यभिचार प्रदर्शित किया गया है, वह आलोकत्वसामानाधिकरण्यरूप से बताया गया है, न कि आलोकत्वावच्छेदेन । मतलब कि उद्भूचाक्षुषस्थल में सभी आलोक का अभाव नहीं है किन्तु आलोकविशेष = महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक का अभाव है । यत्किञ्चित् आलोक का अभाव होने से उस आलोक में भले चाक्षुषकारणता का व्यभिचार हो, मगर उस आलोक से भिन्न आलोक में तो चाक्षुषकारणता का भान हो सकता ही है । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से व्यभिचार ज्ञान कारणतावच्छेदका-वच्छेदेन कारणताज्ञान का प्रतिबन्धक = विरोधी होता है, न कि कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से कारणताज्ञान का भी । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से कारणताग्रह का प्रतिबन्ध तभी हो सकता है, यदि कारणतावच्छेदकावच्छेदेन व्यभिचारज्ञान हो । प्रस्तुत में तो कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से = आलोकत्वसामानाधिकरण्य से यानी यत्किञ्चित् आलोक में व्यभिचार का ज्ञान है, क्योंकि उद्भूचाक्षुष आलोकत्वावच्छिन्न = यायत् आलोक के अभाव में उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु यत्किञ्चित् आलोक = महदुद्भूतानभिभूतरूपवाले आलोक का अभाव होने पर उत्पन्न होता है । इस स्थिति में आलोकत्वावच्छेदेन = सभी आलोक में चाक्षुषकारणता का निश्चय नहीं हो सकता है, किन्तु आलोकत्वसामानाधिकरण्येन = आलोकविशेष में तो चाक्षुषकारणता

क्वचित्प्रथममतिप्रसक्तेनाऽपि धर्मेण कारणताग्रहोत्तरं पश्चादनुगतावच्छेदकधर्मकल्पना-
सिद्धान्तव्याकोपापत्तेरिति । तन्न, तदाऽऽलोकेनाऽन्येषामपि चाक्षुषापत्तेर्दुर्वारित्वात् । पेचका-

❀ जयलता ❀

लोकेऽन्यव्यतिरेकव्यभिचारग्रहस्य तदितरालोके चाक्षुषकारणताग्रहविरोधित्वं नास्ति विशेष्यतावच्छेदकमेदेनाऽसमानाऽऽकारक-
त्वात् । ततश्चालोकत्वसामानाधिकरण्येन चाक्षुषकारणत्वग्रहः सम्भवत्येव ।

विपक्षबाधमुपदर्शयन्ति - अन्यथेति । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन व्यभिचारग्रहस्य कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन
कारणत्वग्रहाऽप्रतिबन्धकत्वानभ्युपगमे इति । क्वचित् = शीतस्पर्शादिकारणतास्थले, प्रथमं अतिप्रसक्ते = जलत्वादधर्मेण,
अपि कारणताग्रहोत्तरं = शीतस्पर्शादिजनकताज्ञानोत्तरं, पश्चात् जलादिपरमाणोः शीतस्पर्शाधिकारणत्वेन व्यभिचारग्रहे सति,
अनुगतावच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धान्तव्याकोपापत्तेः = शीतस्पर्शादिकारणत्वान्यूनानतिरिक्तानुगतजन्यजलत्वादिलक्षणाऽवच्छेदक-
धर्मकल्पनासिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात् । तथाहि शीतस्पर्शत्वावच्छिन्नं प्रति जलस्य हेतुत्वज्ञाने शीतस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-
कारणता जलत्वावच्छिन्नेति सामान्यतो कारणताज्ञानमुपजायते । परं 'जलीयपरमाणोः शीतस्पर्शस्य नित्यत्वेन जलत्वं कारण-
तातिरिक्तवृत्तिः' इति व्यभिचारज्ञाने सञ्जातेऽनतिप्रसक्तजन्यजलत्वस्य शीतस्पर्शकारणतावच्छेदकत्वं कल्प्यते इति न्यायविदः ।
यदि कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन व्यभिचारज्ञानं तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहप्रतिबन्धकं स्यात्तदोक्तरीत्या जलत्व-
सामानाधिकरण्येन शीतस्पर्शकारणत्वग्रहो नैव स्यात् । न चैवमस्तीति तत्सामानाधिकरण्येन व्यभिचारज्ञानस्य न तत्सामानाधि-
करण्येन कारणताग्रहविरोधित्वमभ्युपेयम् । ततश्चालोकत्वसामानाधिकरण्येन चाक्षुषकारणताव्यभिचारज्ञानस्य तत्सामानाधिकरण्येन
तत्कारणताग्रहाऽप्रतिबन्धकत्वेनोपदर्शितरीत्या पेचकादिचाक्षुषस्थले आलोकविशेषसिद्धिरप्रत्यूहेति केचित्तुमताशयः ।

प्रवरणकृत्तत्रिराकुरुते - तन्नेति । तदालोकेन = पेचकादिनयनसंसृष्टालोकविशेषेण, अन्येषां = पेचकादिभिन्नानां अपि
तदानीं चाक्षुषापत्तेः दुर्वारित्वात्, कारणतावच्छेदकावच्छिन्नोपस्थितौ तदितरसकलकारणसमवधाने कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वात् ।

का निश्चय हो सकता है । इसलिए आलोक में सामानाधिकरण्य से चाक्षुषकारणताज्ञान का सामानाधिकरण्य से व्यभिचारज्ञान
प्रतिबन्धक = विरोधी नहीं हो सकता । इसलिए सामानाधिकरण्य से आलोक में चाक्षुष-कारणता का ज्ञान हो सकता है ।
यदि कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से यानी यत्किंचित् कारण में व्यभिचारज्ञान को कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से भी
कारणताज्ञान का प्रतिबन्धक माना जाय तब तो कभी कभी अतिप्रसक्त = कारणताऽतिरिक्तवृत्ति धर्म से सामान्यतः कारणताज्ञान
के बाद अनुगत = कारणताऽनतिरिक्तवृत्ति धर्म में कारणतावच्छेदकत्व का एवं उससे अवच्छिन्न = नियन्त्रित कारणता का
ज्ञान करने का जो नैयायिकसिद्धान्त है, उसका भंग होने की आपत्ति आयेगी । आशय यह है कि 'शीतस्पर्श के प्रति जल
कारण है' यानी 'शीतस्पर्शत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक जलत्व है और तादृश कारणता जलत्वावच्छिन्न
है' ऐसा सामान्यतः कार्यकारणभाव का ज्ञान होने के पश्चात् कारणतातिरिक्तवृत्ति होने से जलत्व का त्याग किया जाता है
और जन्यजलत्व का शीतस्पर्शकारणतावच्छेदकधर्मविधया ग्रहण किया जाता है । जलत्व तो जलीय परमाणु में भी रहता है
मगर जलपरमाणु का शीतस्पर्श नित्य होने से जलीय परमाणु में शीत स्पर्श की कारणता नहीं रहती है और जलत्व जाति
रहती है । जलत्व धर्म शीतस्पर्शकारणता से शून्य जलपरमाणु में रहने से वह शीतस्पर्शकारणताऽतिरिक्तवृत्ति होने से वह कारणता-
वच्छेदक धर्म नहीं बन सकता । यह व्यभिचारज्ञान जलत्वावच्छेदेन शीतस्पर्श-कारणताज्ञान का विरोधी होता है, मगर जलत्व-
सामानाधिकरण्येन शीतस्पर्शकारणताज्ञान का विरोधी नहीं है । अतएव बाद में शीतस्पर्शकारणताऽनतिरिक्तवृत्ति जन्यजलत्व यानी
अनित्य जल से निरूपित वृत्तिता से विशिष्ट जलत्व को शीतस्पर्शकारणतावच्छेदक बनाया जाता है । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य
से व्यभिचारज्ञान यदि कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से कारणताज्ञान का प्रतिबन्धक होना तब जलत्वसामानाधिकरण्येन =
जलीयपरमाणु में शीतस्पर्शजनकता का व्यभिचारज्ञान होने से जलत्वसामानाधिकरण्येन = जन्यजल में शीतस्पर्शकारणताज्ञान
कैसे हो सकता ? मगर जन्यजलत्व को शीतस्पर्शकारणतावच्छेदक तो सभी नैयायिक विद्वान मानते ही हैं । इसलिए आलोकत्वसामा-
नाधिकरण्य से व्यभिचारज्ञान भी आलोकत्वसामानाधिकरण्य से चाक्षुषकारणताज्ञान का प्रतिबन्धक = विरोधी नहीं हो सकता
है । इसलिए आलोक में चाक्षुषकारणता का ज्ञान हो सकता है । जिस आलोक में व्यभिचारज्ञान हुआ है उससे भिन्न आलोक
में उलू आदि के चाक्षुष की कारणता सिद्ध होने से महद्ब्रूतानभिभूतरूपवदालोक से इतर आलोक की सिद्धि होती है ।

॥ उलूचाक्षुष में विजातीय आलोक की कारणता अप्रमाण - दयादादी ॥

उत्तरपक्ष :- तन्न = इति । उलू आदि के चाक्षुष के प्रति विजातीय आलोक को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं

दिनयनगोलकसंसृष्टाऽऽलोकस्य पेचकादिमात्रचाक्षुषं प्रति नानाकारणताकल्पने च महद्-
गौरवादिति दिक् ।

उच्छृङ्खलारतु → आलोककालीनचाक्षुषजनकविजातीयचक्षुर्मनोयोगाऽभावादेव तमसि
न घटादिचाक्षुषोदय इति न तत्राऽऽलोकस्य कारणता ।

✽ जयलता ✽

न च तदालोकस्य पेचकादिचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वान्नान्येषां तदानीं चाक्षुषापादनमर्हति, अन्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकस्य कारणत्वादिति वाच्यम्, नानाकार्यकारणभावकल्पनाया गुरुत्वेनाऽप्रामाणिकत्वादित्याशयेनाऽऽह-
पेचकादिनयनगोलकसंसृष्टालोकस्य = आलोकविशेषस्य, पेचकादिमात्रचाक्षुषं प्रति = पेचकादिभिन्नचाक्षुषेतरत्वे सति पेचकादिचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति, कारणत्वं पेचकादिभिन्नचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति च महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकस्य कारणत्वमित्येवं नानाकारणताकल्पने महद्गौरवादिति । किञ्च पेचकादिचाक्षुषं प्रति महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया आवश्यकत्वेन तदभावेनैव पेचकादिचाक्षुषोपपत्ती विजातीयालोककल्पनाया अनुत्थानपराहतत्वात्, सौरालोकेन विजातीयालोकाऽ-
भिभवकल्पनायां त्वप्रामाणिकगौरवात् । एतेन पेचकादीनां बाह्यालोकनिरपेक्षं चक्षुर्ग्राहकमित्यसिद्धमेव । तत्र तेजोऽन्तरस्य विद्यमानत्वात् । अत एव ते दिवा न पश्यन्ति; तस्य सौरालोकेनाऽभिभूतत्वात्, तेषां तत्सहकृतचक्षुर्ग्राहित्वनियमात्' (न्या. सि. दी. प्र. ९.१) इति न्यायसिद्धान्तदीपकृतः शशधरशर्मणो वचनं प्रत्युक्तम्, अनभिभूततेजोऽन्तरस्य पेचकाद्यन्यचाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पने पेचकादिचाक्षुषं प्रति कारणत्वकल्पने चाऽऽदिपदार्थाननुगमेन तदुपहितप्रतिबन्धकतावच्छेदककार्यतावच्छेदक-
धर्माननुगमाच्चेत्यादिसूचनार्थं दिगित्युक्तमिति विभावनीयं सुधीभिः ।

उच्छृङ्खलास्त्विति । अस्य चा'ऽऽहुरि'त्यनेनाऽन्वयः । आलोककालीनचाक्षुषजनकविजातीयचक्षुर्मनोयोगाऽभावा-
देवेति । आलोकसमकालीनं यच्चाक्षुषं तस्य जनको यो विजातीयः चक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगः तस्याऽभावादेवेत्यर्थः । स्पर्श-
नादिजनकस्य चक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगस्याऽपाकरणाय 'विजातीये'त्युक्तम् । तमसि न घटादिचाक्षुषोदयः इति न तत्र =
आलोककालिकचाक्षुषे आलोकस्य कारणतेति । आलोककालीनचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वं विजातीयचक्षुःप्रतियोगि-
कमनःसंयोगस्यैव न त्वालोकस्य । न च वैपरीत्यमेव किमिति न रोचयेरिति वाच्यम्, आलोकस्य कारणत्वकल्पनेऽपि विजा-
तीयचक्षुर्मनःसंयोगस्याऽवश्यकल्पनीयत्वात्, आलोकस्य तत्संपादने एवोपक्षीणत्वेनाऽन्यथासिद्धत्वाच्च । एतेन दिवा जायमानं

है, यह स्याद्वादी का कथन है । इसका कारण यह है कि गाढ़ अन्धकार में आलोकविशेष से जैसे उलू, बिल्ली आदि को घटादिविषयक चाक्षुष साक्षात्कार होता है, ठीक उसी तरह उसी आलोक से हमें भी अन्धकार में बिना अंजनादिसंस्कार के घटादिविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए - यह आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी है । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता है कि → "उलू आदि के नयनगोलक से संयुक्त आलोकविशेष उलू आदि के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति ही कारण है, न कि मनुष्यवृत्ति चाक्षुष के प्रति । इसलिए उलू आदि के चाक्षुष के जनक आलोकविशेष से हमें अन्धकार में घटादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता" ← । यह नैयायिककथन इसलिए अयुक्त है कि उलू आदि के चाक्षुष के प्रति विजातीय आलोक को कारण और महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक को प्रतिबन्धक मानना एवं नरवृत्ति चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक को कारण और अनभिभूत विजातीय आलोक को प्रतिबन्धक मानना इत्यादि कल्पना करने में अनेक कार्यकारणभाव के स्वीकार का महागौरव होता है, जो कि अप्रामाणिक होने से मान्य नहीं किया जा सकता । इसलिए पुनः उलूचाक्षुषजनक आलोकविशेष से अन्धकार में हमें घटादिविषयक चाक्षुष साक्षात्कार होने की आपत्ति ज्यों कि त्यों बनी रहती है । अतएव विजातीय आलोक में उलू आदि के चाक्षुष की कारणता मान्य नहीं हो सकती । अतः आलोक में चाक्षुषकारणता का व्यभिचार बज्रलेप बना रहता है ।

✽ विजातीयचक्षुर्मनोयोगा चाक्षुषजनक - उत्खल्यलमत ✽

उच्छृ. इति । यहाँ अन्य स्वतन्त्र विद्वानों का यह कथन है कि चाक्षुष साक्षात्कार के दो प्रकार होते हैं (१) आलोककालीन = आलोककाल में उत्पन्न होने वाला एवं (२) आलोकाऽकालीन = आलोककाल से भिन्न काल में होने वाला । आलोककालीन चाक्षुष का कारण विजातीय चक्षुर्मनःसंयोग है । जब अन्धकार होता है तब आलोककालीनचाक्षुषजनक विजातीय चक्षुर्मनसंयोग नहीं होता है । इसलिए अन्धकार में हमें घटादि का चाक्षुष साक्षात्कार नहीं होता है । अन्धकार में चाक्षुष की अनुत्पत्ति का

न च तथापि तमसि घटादीनामालोकाऽकालीनचाक्षुषापत्तिः; पेचकादीनामिष्टत्वात् । न चाऽ-
स्मदादिघटचक्षुःसंयोगादपि तदापत्तिः; आलोकाभावकालीनचाक्षुषं प्रति अपि विजातीयचक्षुर्म-
नोयोगस्य पृथक्कारणत्वादित्याहुः <- ।

॥ गत्यलं ॥

चाक्षुषं प्रत्यालोकस्य कारणत्वं विजातीयचक्षुःमनःसंयोगस्य वा ? इत्यत्र विनिगमकाभाव इति प्रत्युक्तम्, कारणतावच्छेदक-
सम्बन्धगौरवाच्च । अत एव पेचकादिचाक्षुषं आलोकव्यभिचारप्रदर्शनेऽपि न क्षतिः, आलोककारणत्वाऽनभ्युपगमेनाऽ-
नुक्तोपालम्भसमत्वात् ।

ननु भा भवतु तमसि घटादीनामालोककालीनचाक्षुषं परं तदऽसमकालीनचाक्षुषे किं नाम बाधकं तदानीं ? त्वया
आलोककारणत्वाऽनभ्युपगमेन तदभावादाऽऽलोकाऽकालीनघटादिचाक्षुषनिराकरणस्य कर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमन्ते
- न चेति । तथापि = आलोककालीनचाक्षुषत्वस्य चक्षुर्मनोविजातीयसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वाऽभ्युपगमेऽपि, तमसि घटादीनां
आलोकाऽकालीनचाक्षुषापत्तिः, आलोककालीनचाक्षुषजनकचक्षुःप्रतियोगिकमनोविजातीयसंयोगाऽभावेनाऽऽलोकाऽकालीनचाक्षुष-
निराकरणाऽयोगादिति शङ्काशयः । तदापाकरणे हेतुमुपदर्शयन्ति - पेचकादीनामिष्टत्वादिति । तमसि पेचकादीनामालोकाऽ-
कालीनस्य घटादिचाक्षुषस्य जायमानत्वेनेष्टापत्तेः । तर्हि पेचकादीनामिवाऽस्मदादीनामपि तमसि आलोकाऽकालीनचाक्षुषोत्पत्ति-
र्दुर्वरिति शङ्काऽपाकरणाय वदन्ति - न चेति । अस्मदादिघटचक्षुःसंयोगादपि तदापत्तिः = आलोकाऽकालीनचाक्षुषापत्तिः ।
तन्निरासे हेतुमाविष्कुर्वन्ति - आलोकाभावकालीनचाक्षुषं प्रत्यपीति । किमुताऽलोककालीनचाक्षुषं प्रतीत्यपिशब्दार्थः । विजा-
तीयचक्षुर्मनोयोगस्य = चक्षुःप्रतियोगिकमनोविजातीयसंयोगस्य, पृथक्कारणत्वात् = स्वतन्त्रकारणत्वात् । आलोकाऽका-
लीनचाक्षुषजनकतावच्छेदिका या जातिः पेचकादिचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगे एव वर्तते तद्विना जातिरालोककालीनचाक्षुष-
जनकतावच्छेदिका याऽस्मदादिचक्षुर्मनःसंयोगे एव विद्यते । अस्मदादिचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगे आलोकाऽकालीनचाक्षुष-
जनकतावच्छेदकजातिविरहादेवास्मदादीनामाऽऽलोकाऽकालीनचाक्षुषस्य घटादिगोचरस्य तदानीं प्रसङ्गो नास्ति । एतेनाऽऽलोको
यदि चाक्षुषकारणं न स्यात्तदा तद्विरहेऽप्यस्मदादीनां घटादिचाक्षुषं जायेतेति प्रत्युक्तम्, अस्मदादीनामालोकाऽकालीन-
चाक्षुषकारणतावच्छेदकावच्छिन्नशून्यत्वात् । इत्थञ्च न तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति भावः ।

आहुरित्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्विजञ्चेदम्, एवं हि विजातीयचक्षुर्मनःसंयोगस्याऽप्यालोक-
कालीनचाक्षुषकारणत्वं विधीयते, कारणतावच्छेदकसम्बन्धलाघवेन विजातीयमनआत्मसंयोगस्य तत्कारणत्वीचित्यात्, चक्षुर्मनो-
विजातीयसंयोगस्य तत्सम्पादने एवोपक्षीणत्वेनाऽन्यथासिद्धत्वाच्चेत्यस्याऽपि जागरूकत्वात् । एतेन 'दिवा जायमानस्य चाक्षुषस्य
किं विजातीयचक्षुर्मनोयोगजन्यत्वं यदुत विजातीयमनआत्मसंयोगजन्यत्वं ? इत्यत्र विनिगमनाविरह' इत्यपि प्रत्युक्तम् । न चैवं
तस्य मानसत्वं स्यान्न तु चाक्षुषत्वमिति वाच्यम्, चक्षुषो मनःप्रतियोगिकात्मसंयोगवैजात्यप्रयोजकत्वेनाऽपि तदुपपत्तेः ।
आलोकादेरिव विजातीयनेत्रमनःसंयोगस्याऽपि क्षयोपशमोद्बोधे एव चरितार्थत्वेन तदुद्बोधक्षयोपशमरूपयोग्यताया एवाऽनुगततया
तद्वेतुत्वीचित्यात् । एतेन यद्यप्यालोकसंयोगस्य चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्य चाक्षुषहेतुत्वे विडालादिचाक्षुषे व्यभिचारः;
मानुषीयद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वोक्तावप्यजनादिना तमसि पश्यतां चाक्षुषे व्यभिचारः तथापि येषां न कदाऽप्यजना-

निर्वाह विजातीय चक्षुप्रतियोगिक मनसंयोग के विरह से ही मुमकिन होने से आलोकाभाव से उसका निर्वाह करना नामुनासिब
है । इसलिए आलोक में आलोककालीन चाक्षुष की कारणता की कल्पना करना असंगत है । यहाँ यह शंका कि -> "अन्धकार-
कालावच्छेदेन आलोककालीनचाक्षुषजनक विजातीय नयनमनसंयोग न होने से आलोककालीन चाक्षुष साक्षात्कार का उदय नहीं
होता है, यह तो ठीक है । मगर उस काल में आलोकाऽकालीन चाक्षुष का उदय क्यों नहीं होता है ? उसके जन्म में कोई
बाधक तो नहीं है" <- करना ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि उलू, बिल्ली आदि को अन्धकार में आलोकाऽकालीन
चाक्षुष होता ही है, यह हमें इष्ट है । जो अभीष्ट है, उसका आपादन करने में क्या बुद्धिमत्ता है ? यहाँ यह प्रश्न करना कि
-> "यदि उलू को अन्धकार में घटादिविषयक आलोकभिन्नकालीन चाक्षुष होता है तब हमको चक्षुसन्निकर्ष से क्यों घटादि
का आलोकेतरकालीन चाक्षुष अन्धकार में नहीं होता है ? उलू आदि की भाँति हमको भी अन्धकार में आलोकाकालीन घटादिविषयक
चाक्षुष होना चाहिए" <- ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि आलोकाऽभावकालीन चाक्षुष के प्रति भी विजातीय चक्षुमनसंयोग,
जो कि आलोककालीनचाक्षुषजनक विजातीय नयनमनसंयोग की अपेक्षा विजातीय है, पृथक् = स्वतन्त्र कारण है । आलोकाऽकालीन
चाक्षुष का जनक नयनप्रतियोगिक विजातीय मनसंयोग उलू आदि के पास होने से उन्हें आलोकाभावकालीन घटादिचाक्षुष होता

यदि पुनरन्धकारेऽपि घटादेः कालिकेनाऽऽलोकविशिष्टत्वात् तद्देशावच्छेदेनाऽऽलोक-
विशिष्टत्वस्य तथात्वे गौरवं, कार्यतावच्छेदकाऽननुगमो विनिगमनाविरहश्चेति विभाव्यते

✽ नयलता ✽

दिना प्रत्यक्षं तत्पुरुषीयद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव निरुक्तालोकसंयोगस्य हेतुत्वं, येषां तु कदाचिदअनादिनाऽपि प्रत्यक्षं
तत्पुरुषीयद्रव्यचाक्षुषे तत्पुरुषीयाऽअनसंयोगाऽभावविशिष्टालोकसंयोगाभावाभावत्वेन हेतुत्वं, बिडालादिचाक्षुषे तु बिडालादि-
चाक्षुःसंयोगत्वेनैवेति न दोषः इति मथुरानाथप्रभृतीनां वचनं प्रत्युक्तम्, महागौरवाच्च । अत एव विषयस्य प्रत्यक्षकारणत्वमिति
नैयायिकप्रवादोऽपि प्रत्याख्यातः, अतीताऽनागतविषयके सर्वज्ञसाक्षात्कारे व्यभिचारात्, जन्यप्रत्यक्षत्वस्य तत्कार्यतावच्छेद-
कत्वेऽप्यतीताऽनागतगोचरे योगिप्रत्यक्षे व्यभिचारात्, जन्यलौकिकप्रत्यक्षत्वस्य तत्त्वेऽपि भ्रमे व्यभिचारात्, कार्यतावच्छेदककोटौ
तद्वद्विशेष्यकतत्प्रकारकत्वलक्षणप्रमात्वस्य निवेशे तु महागौरवादिति विषयाद्युद्बोधक्षयोपशमस्यैव तत्त्वोचित्यादिति कृतं प्रसङ्गेन ।

प्रकरणकारः कण्ठत उच्छृङ्खलमतं दूषयति - यदीति । अन्धकारेऽपि = अन्धकारसंयुक्तत्वेऽपि घटादेः कालिकेन
= अत्र स्वसंयुक्तसंयोगलक्षणकालिकसम्बन्धेन, आलोकविशिष्टत्वात् विजातीयचक्षुर्मनःसंयोगाद् घटादिचाक्षुषमापद्येतेति शेषः ।
यदा घटादिः गुहायां निहितः तदाऽपि स आलोककालीन एव, तदानीमन्यत्र सत आलोकस्य स्वसंयुक्तकालसंयोगसम्बन्धेन
घटादौ सत्त्वात् । अतः तमस्यपि विजातीयचक्षुर्मनोयोगादालोककालीनघटविषयकचाक्षुषापत्तिर्दुर्वारा उच्छृङ्खलमते । यदि च
परैः 'आलोककालीनचाक्षुषं नाम न कालिकेनाऽऽलोकविशिष्टविषयकचाक्षुषं किन्तु विषयदेशावच्छेदेनाऽऽलोकविशिष्टविषयक-
चाक्षुषम् । तत्प्रत्येव विजातीयचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगस्य हेतुत्वम् । विषयदेशावच्छेदविषयसमवायी ग्राह्यः । यदाऽन्यदेशा-
वच्छेदेनाऽऽलोकसंयोगो न तु कपालावच्छेदेन तदा घटस्य न स्वदेशकपालावच्छेदेनाऽऽलोकविशिष्टत्वं, 'इदानीमिह कपाले
नाऽऽलोकः' इति प्रतीतिः । अतो न तदानीं विजातीयचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगादालोककालीनचाक्षुषाऽपत्तिः, घटस्य कपाला-
वच्छिन्नालोकविशिष्टत्वशून्यत्वेनाऽऽलोककालीनत्वादि'त्युच्येतेति मनसिकृत्याऽऽह - तद्देशावच्छेदेनेति । विषयसमवायिदेशा-
वच्छेदेनेति । आलोकविशिष्टत्वस्य तथात्वे = चक्षुःप्रतियोगिकविजातीयमनःसंयोगकार्यतावच्छेदकघटकत्वे गौरवं = कार्यता-
वच्छेदकशरीरगौरवं, विषयदेशावच्छिन्नालोकविशिष्ट(घटादि)विषयकचाक्षुषत्वस्य गुरुतरशरीरत्वं स्पष्टमेव । यदि च परैः 'कार्य-
कारणभावनिश्रयाऽनन्तरमुपस्थितत्वेन तस्य फलमुखत्वान्न दोषत्वमिति' प्रणिगद्येतेति चेतसिकृत्य दोषान्तरमाविर्भावयति -
कार्यतावच्छेदकाननुगम इति । कार्यतावच्छेदकधर्मघटकीभूतकपाल-तन्त्वादितद्देशाऽननुगमेन चक्षुःप्रतियोगिकमनोविजातीय-
संयोगकार्यतावच्छेदकधर्माननुगम इत्यर्थः । यदि च परैः 'विषयसमवायित्वेनानुगतधर्मेण कपाल-तन्त्वादीनामनुगमसम्भवाच्च
कार्यतावच्छेदकधर्माननुगम' इति प्रोच्येतेति लक्ष्यीकृत्य दोषान्तरमाविष्करोति - विनिगमनाविरहश्चेति । विजातीयचक्षुर्मनः-

हे और हमारे पास उसका विरह होने से हमें आलोककालीन घटादिचाक्षुष नहीं होता है, न कि आलोक का विरह होने
से । निष्कर्ष : चाक्षुष का जनक आलोक नहीं है, किन्तु नयनप्रतियोगिक विजातीय मनसंयोग है ।

ॐ आलोककालीन चाक्षुष को कार्य मानने पर दोषपरम्परा ॐ

यदि. इति । यदि यहाँ यह कहा जाय कि → "आलोककालीनद्रव्यविषयक चाक्षुष के प्रति विजातीय चक्षुमनोयोग
को कारण माना जाय तब तो अभावस्या की रात्रि में गाढ़ अन्धकार में स्थित घटादि का हमें चाक्षुष होने लगेगा, क्योंकि
घट अनित्य होने से कालिक सम्बन्ध से आलोकविशिष्ट = आलोककालीन है । अतएव तब उसका चाक्षुष आलोककालीन
द्रव्यविषयक कहा जा सकता है और आलोककालीन द्रव्यविषयक चाक्षुष का जनक विजातीय नयनमनसंयोग हमारे पास होने
में कोई बाध भी नहीं है । यद्यपि यहाँ इस आपत्ति के परिहारार्थ यह कहा जा सकता है कि - 'विजातीय नयनमनसंयोग
के कार्यस्वरूप आलोककालीन चाक्षुष का अर्थ कालिकसम्बन्ध से आलोकविशिष्टद्रव्यविषयक चाक्षुष नहीं है, किन्तु विषयदेशावच्छेदेन
आलोकविशिष्टद्रव्यगोचर चाक्षुष है । जब घट अन्धकार से आवृत होता है तब कालिकसम्बन्ध से घट में आलोक होने पर
भी घटदेश = घटसमवायी कपाल के अवच्छेद से (= कपालावच्छेदेन) घट में आलोक नहीं रहने से घट स्वदेशावच्छेदेन
आलोकविशिष्ट = आलोककालीन नहीं है । अतएव उस काल में उसका चाक्षुष आलोककालीनद्रव्यविषयक नहीं कहा जा
सकता । विवक्षित विजातीय नयनमनसंयोग के कार्यतावच्छेदक से शून्य होने की वजह तब हमें घट का चाक्षुष नहीं हो
सकता है । अतः अन्धकारस्थ घट के चाक्षुष की आपत्ति विजातीयनयनमनसंयोगकारणतापक्ष में नहीं दी जा सकती' - तथापि
यह कथन इसलिए असंगत बनता है कि ऐसा मानने में गौरव है, क्योंकि कार्यतावच्छेदककोटि में विषयदेश = विषयसमवायी

तदाऽस्तु लाघवात् तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रत्येव विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य हेतुत्वम् । न च तमःकालीनचक्षुःसंयोगादेवोऽऽलोकसमवहितादघटादिचाक्षुषोदयदर्शनात् चक्षुर्मनोयोगस्याऽऽलोकस्यैव सम्भवात्कथमेवं ? इति तात्पर्यम्, मनसः त्वरितगतित्वेनाऽऽलोकसमवधानदशायां

❀ नयतता ❀

संयोगकार्यतावच्छेदकं विषयसमवायिदेशावच्छिन्नालोकविशिष्टविषयविषयकलौकिकचाक्षुषत्वं वदुत विषयविशिष्टविषयसमवायिदेशावच्छिन्नालोकविषयकलौकिकचाक्षुषत्वं ? इत्यत्र विनिगमनाऽभावः । ततश्च नोपदर्शितोच्छृङ्खलमतं श्रद्धेयमिति विभाव्यते, तदाऽस्तु लाघवात् = कार्यतावच्छेदकधर्मलाघवात्, तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रत्येव विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य हेतुत्वमिति । पेशकादीनां विजातीयचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगेनैव रात्रौ तमःसंयुक्तघटादिचाक्षुषमस्मदादीनाञ्च तद्विरहेण न तदानीं तमःसंयुक्तघटादिगोचरचाक्षुषम् । इत्यञ्च तमःसंयुक्तचाक्षुषत्वस्यैव विजातीयचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वं घटामश्नतीति कार्यतावच्छेदकघटकसंयोगाश्रयत्वेन तमसो द्रव्यत्वं सेत्स्यतीति भावः ।

ननु तमःसंयोगविशिष्टस्यैव द्रव्यस्य पश्चादालोकसंयोगदशायां चाक्षुषमुपजायते । तच्च कथं घटते ? पूर्वोत्तरकालीनस्यैकपुरुषीयचक्षुःप्रतियोगिकविजातीयमनःसंयोगस्याऽभिन्नत्वात् । अतो न तमःसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषं प्रति विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य कारणत्वं घटामश्नतीत्याशङ्कामपनोदयितुमुपदर्शयति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तमःकालीनचक्षुःसंयोगात् = विषयदेशावच्छिन्नतमःसंयोगाश्रयघटादिगोचरचक्षुःसंयोगात् एव आलोकसमवहितात् = आलोकसंयोगाऽवच्छेदकावच्छिन्नात् घटादिचाक्षुषोदयदर्शनात्, चक्षुर्मनोयोगस्य = चक्षुःप्रतियोगिकविजातीयमनःसंयोगस्य, अपि एकस्यैव = अभिन्नस्यैव, सम्भवात् कथं एवं = विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य तमःसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषजनकत्वं ? आलोकसमवधानाऽसमवधानकालीनविषयपुरुषचक्षुरादेर्मेदाभावेन चक्षुःप्रतियोगिकविजातीयमनःसंयोगस्याऽयमभिन्नत्वादालोकसमवधानदशाभिमिवाऽऽलोकाऽसमवधानदशायांमपि घटादिचाक्षुषमस्मदादीनां स्यात् न स्याद्वाऽऽलोकसमवधानकालेऽपि तदिति शङ्काशयः ।

तद्व्यपेक्षे प्रकरणकृद्भेदतुमावेदयति - मनसः त्वरितगतित्वेनेति । मनसः चञ्चलत्वेनेति । आलोकसमवधानदशायां

का निवेश अधिक है । दूसरी बात यह है कि विषयदेश भिन्न भिन्न होते हैं, जैसे घट का देश है कपाल, पट का देश है तन्तु । घटादि विषय का देश = समवायी अननुगत होने से उससे घटित कार्यतावच्छेदक धर्म भी अननुगत बनता है । कार्यतावच्छेदक धर्म अननुगत होने से विजातीय नयनमनसंयोग को आलोककालीन चाक्षुष साक्षात्कार का कारण नहीं माना जा सकता । तीसरा दोष यह है कि विजातीय नयनमनसंयोग के कार्यतावच्छेदकधर्मरूप से विषयदेशावच्छिन्नाऽऽलोकविशिष्टविषयविषयकचाक्षुषत्व का स्वीकार करना या विषयविशिष्टविषयदेशावच्छिन्नाऽऽलोकविषयकचाक्षुषत्व का ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है, क्योंकि घटसंयुक्तनयनप्रतियोगिक विजातीय मनोयोग के कार्यरूप में कपालावच्छिन्नाऽऽलोकविशिष्टघटचाक्षुष की भाँति घटविशिष्ट-कपालावच्छिन्नालोकविषयक चाक्षुष का भी स्वीकार किया जा सकता है । इन तीन दोष की वजह चक्षुःप्रतियोगिक विजातीय मनसंयोग को आलोककालीनद्रव्यविषयक चाक्षुष का कारण नहीं माना जा सकता” <-

❀ अलोककालीनद्रव्यविषयक चाक्षुष भी विजातीयसंयोग का कार्य है - स्याद्वादी ❀

तदा. इति । तब उचित यही है कि चक्षुःप्रतियोगिक विजातीयमनसंयोग को आलोककालीनद्रव्यविषयक = विषयदेशावच्छिन्नालोकविशिष्टविषयविषयक चाक्षुष का कारण न मान कर अन्यकारसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष का ही कारण माना जाय, क्योंकि यहाँ कार्यतावच्छेदक धर्म का शरीर लघु होता है । उड़ू, बिल्ली आदि को अन्यकारस्थित द्रव्य का चाक्षुष होने का कारण विजातीय नयनमनसंयोग ही है । यहाँ यह शंका हो कि —> “एक ही घट जब अन्यकारकालीन = अन्यकारसंयुक्त होता है तब हमें उसका चाक्षुष नहीं होता है और जब उसी घट के पास दीपक लाया जाता है तब हमें उसी घट का चाक्षुष होता है । यहाँ अन्यकार और प्रकाश के काल में घट, पुरुष, नयन, नयनसंयोग में कोई भेद नहीं होने से पूर्वोत्तरकालीन नयनमनसंयोगविशेष भी अभिन्न = एक ही होता है, यह तर्कसिद्ध होता है । आलोक यदि चाक्षुष का कारण ही नहीं है और विजातीय नयनमनसंयोग पूर्वोत्तरकाल में एक ही है तब पूर्वकालावच्छेदेन (=अन्यकार काल में) घट का चाक्षुष क्यों नहीं होता है ? और पश्चात् आलोककाल में उसी घट का चाक्षुष क्यों होता है ? या तो पूर्व काल में भी घट का चाक्षुष होना चाहिए या तो पश्चात् भी घट का चाक्षुष नहीं होना चाहिए, क्योंकि नयनमनसंयोगविशेष तो एक ही है” <- तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि मन चंचल है, अस्थिर है, शीघ्र गति वाला है । इसी वजह

चक्षुर्मनोयोगस्य भिन्नस्यैव कल्पनादिति तमसो द्रव्यत्वं निराबाधम् ।

एतेन द्रव्यचाक्षुषसामान्यं प्रत्यालोकसंयोगहेतुतायाः क्लृप्तत्वादात्मकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसः कथं द्रव्यत्वमित्यपि दूरापास्ताम् ।

तौतातिकैकदेशेनस्तु → द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वेऽपि तामसेन्द्रियेणैव

❀ जयलता ❀

चक्षुर्मनोयोगस्य = चक्षुःप्रतियोगिकमनोविजातीयसंयोगस्य, भिन्नस्यैव = आलोकाऽसमवधानकालिकचक्षुःप्रतियोगिकमनो-विजातीयसंयोगाऽपेक्षया विलक्षणस्यैव, कल्पनात् न पश्चादिव पूर्वं घटादिचाक्षुषप्रसङ्गो न वा पूर्वमिव पश्चाद् घटादिचाक्षुषाऽ-नापत्तिः । अतो न प्रदर्शितहेतु-हेतुमद्भावे व्यभिचार इति = हेतोः विजातीयचक्षुर्मनोयोगकार्यतावच्छेदकघटकीभूतसंयोगाश्रय-त्वेन तमसो द्रव्यत्वं निराबाधमिति ।

एतेनेति । आलोकस्य द्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्नकारणत्वाऽसम्भवेनेति । अस्य दूरापास्तमित्यनेनाऽन्वयः । द्रव्य-चाक्षुषसामान्यं प्रति = द्रव्यविषयकलौकिकचाक्षुषत्वाऽवच्छिन्नं प्रति, आलोकसंयोगहेतुतायाः = चक्षुःसंयोगाऽवच्छेदका-वच्छिन्नाऽऽलोकसंयोगकारणतायाः, क्लृप्तत्वात् = आवश्यकत्वात्, आलोकं विना एव वीक्ष्यमाणस्य = दृश्यमानस्य, तमसः कथं द्रव्यत्वं ? यदि हि तमो द्रव्यं स्यात्तर्हि चक्षुःसंयोगाऽवच्छेदकावच्छिन्नाऽऽलोकसंयोगेनैव तच्चाक्षुषं स्यात्, द्रव्यलौकिक-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति तस्य हेतुत्वाऽवधारणात् । न न तमःचाक्षुषं तेन भवति । अत एव न तस्य द्रव्यत्वमिति नैयायि-काशयः । घटचरविलुप्तिते वेश्मनि यामिकजागरणतुल्यमिदम् । व्यावर्णितरीत्या द्रव्यलौकिकचाक्षुषत्वस्याऽऽलोकसंयोगकार्यत्वा-वच्छेदकत्वाऽसम्भवादेवेदं प्रच्यवत इति स्पष्टम् । एतेन तमसो द्रव्यत्वे आलोकनिरपेक्षेण चक्षुरिन्द्रियेण ग्रहो न स्यात्, द्रव्य-लौकिकचाक्षुषे आलोकसापेक्षचक्षुरिन्द्रियस्य कारणत्वादित्यपि प्रत्याख्यातम् । आलोकचाक्षुषे व्यभिचाराच्च । ततश्च विजातीय-चक्षुर्मनोयोगकार्यतावच्छेदकघटकीभूतसंयोगाश्रयत्वेन तमसो द्रव्यत्वमेवेति निष्कर्षः । विजातीयचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगश्च स्वमते क्षयोपशमविशेषस्थानीययोग्यतात्मको बोध्यः । तेन नाऽपसिद्धान्तप्रसङ्ग इति विभावनीयं सुधीभिः ।

तौतातिकैकदेशेनस्त्विति । बाल्यवयसि तुतातिकपदेनाऽभिधीयमानस्य मीमांसकधुर्यस्य कुमारिलभट्टस्याऽनुयायिनः

आलोकविरहकाल में जो नयनप्रतियोगिक मनसंयोग होता है वह आलोकसमवधानकाल में नष्ट होता है और उससे विजातीय नयनप्रतियोगिक मनसंयोग उत्पन्न होता है । अन्धकार होने पर हमारे पास अन्धकारस्थ घट के चाक्षुष का जनक नयनमनसंयोग-विशेष नहीं होने के सबब हमें उसका चाक्षुष नहीं होता है और उलू, बिल्ली आदि के पास अन्धकारसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष का जनक नयनमनसंयोगविशेष होने से उन्हें तब उसका चाक्षुष होता है । आलोक के सान्निध्य और असान्निध्य काल में हमारा नयनसंयोग अलग अलग होने की वजह अन्धकारकाल में हमें घट का चाक्षुष नहीं होता है और प्रकाशकालावच्छेदेन घट का चाक्षुष साक्षात्कार होता है । अतः नयनमनसंयोगविशेष को अन्धकारसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष का कारण मानना युक्तिसंगत ही है । उसका कार्यताऽवच्छेदक धर्म है अन्धकारसंयोगविशिष्टविषयकलौकिकचाक्षुषत्व, जिसके घटकीभूत संयोग का आश्रय होने की वजह अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि होती है, क्योंकि संयोग गुण है, जो केवल द्रव्य में ही रहता है । अतः आलोक को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण नहीं माना जा सकता ।

एतेन, इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन कि → “द्रव्यविषयक चाक्षुषसामान्य यानी सब द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग में कारणता सिद्ध होने से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अन्धकार का चाक्षुष तो विना आलोकसंयोग के ही होता है । यदि अन्धकार द्रव्य होता, तब तो घटादि की भाँति उसके चाक्षुष की उत्पत्ति विना आलोकसंयोग के नहीं हो सकती । मगर होती तो है । इसलिए अन्धकार को द्रव्यस्वरूप न मान कर आलोकाऽभावस्वरूप ही मानना संगत है” ← इसलिए निराकृत हो जाता है कि आलोकसंयोग में द्रव्यविषयकलौकिकचाक्षुषत्वावच्छिन्न के प्रति कारणता ही नामुमकिन है, जिसका हमने अभी तक विस्तार से निरूपण किया है । आलोकसंयोग में द्रव्यचाक्षुषमात्र के प्रति कारणता असिद्ध होने से अन्धकार का, विना आलोकसंयोग के, चाक्षुष होने से उसमें द्रव्यत्व का बाध नहीं हो सकता । अतः अन्धकार द्रव्यात्मक है, यही मानना संगत है ।

❀ तामसेन्द्रियकल्पना - तौतातिकदेशीयमत ❀

पूर्वपक्ष :- तौता, इति । द्रव्यचाक्षुषमात्र के प्रति आलोकसंयोग की कारणता निश्चत ही है, फिर भी अन्धकारसाक्षात्कार

तमोग्राहसम्भवाद्भाऽनुपपत्तिः । न च निमीलितनयनस्यापि तद्ग्राह्यऽपत्तिः; चक्षुःश्रवःश्रोत्रवत्
तस्य चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् । न चेन्द्रियान्तराऽग्राह्यस्वग्राह्यगुणाभावात् तादृशेन्द्रियाऽ-

❀ जयलता ❀

तौतातिकपदेनोच्यन्ते । कुमारिलभट्टसिद्धान्तैकदेशाश्रयत्वे सति स्वतन्त्रार्थप्रतिपादकाः तौतगतिर्निकदेशिन इति गीयन्ते । तुः नैया-
धिकाद्यपेक्षया विशेषबोधकः । विशेषश्चायं - द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽपि तामसेन्द्रियेण चक्षुरादि-
पञ्चेन्द्रियव्यतिरिक्तेन एव तमोग्राहसम्भवात् = तमोद्रव्यप्रत्यक्षसम्भवात् नाऽनुपपत्तिः । एतेन द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य
हेतुत्वे आलोकसंयोगमृते दृश्यमानस्य तमसः कथं द्रव्यत्वमिति प्रत्युक्तम्, तमसः चक्षुःग्राह्यत्वेनाऽचाक्षुषत्वात् । चक्षुषस्तमोऽग्राहकत्वे
पिहितनयनस्यापि पुरुषस्य तमःसाक्षात्कारः स्यादित्याशङ्कां निराकुर्वन्ति - न चेति । तद्ग्राह्यपत्तिः = तमःप्रत्यक्षप्रसङ्गः ।
प्रकृतापादनस्याऽपाकरणे ते हेतुमुपदर्शयन्ति - चक्षुःश्रवःश्रोत्रवत् = भुजङ्गमश्रोत्रमिव, 'चक्षुषी एव श्रवसी यस्य स सर्पः'
चक्षुःश्रवःपदेन प्रतिपाद्यते । वासुकिश्रोत्रं यथा नेत्रगोलकान्तर्वर्त्ति तथा तामसेन्द्रियमपि नयनगोलकाधिष्ठितमित्यर्थः । तस्य
= तामसरस्य, चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् = अक्षिगोलकेऽवस्थितत्वात् । यथा भोगी नेत्रे निमील्य न किञ्चिदपि पश्यति शृणोति
वा तदीयश्रोत्रनयनेन्द्रिययोः चक्षुर्गोलकस्थत्वेन चक्षुःपिधानदशायां तयोः स्वविषयाऽसन्निकृष्टत्वात् तथैव वयमपि नयने पिधाय
न घटादिकं चक्षुरिन्द्रियेण तमो वा तामसेन्द्रियेण विज्ञातुं शक्नुमः, अस्मदीयचक्षुःतामसेन्द्रिययोः नेत्रगोलकवर्तितया नयन-
निर्मालनावस्थायां तमसः स्वविषयासन्निकृष्टत्वादिति न निमीलितनयनीयतमःप्रत्यक्षप्रसङ्गावकाश इति तेषामाशयः ।

ननु तामसस्येन्द्रियत्वसिद्धौ तमसस्तद्ग्राह्यत्वं सिध्यति । न च तस्येन्द्रियत्वं सम्भवति, तमसि चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यत्वे
सति तमसग्राह्यगुणस्याऽभावात् । यथा पृथिव्यां चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यस्य घ्राणग्राह्यस्य गन्धगुणस्य सत्त्वाद् घ्राणस्य चक्षुरा-
दीन्द्रियाऽतिरिक्तेन्द्रियत्वं सिध्यति तथा नाऽत्र वक्तुं शक्यते इति न तामसस्य चक्षुराद्यतिरिक्तेन्द्रियत्वसिद्धिरिति शङ्काम-
पहस्तपितुमुपक्रमन्ते - न चेति । इन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणाभावात् = तमसि तामसेतरचक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्य-तामसग्राह्य-
गुणस्य विरहात्, तादृशेन्द्रियाऽसिद्धिः = चक्षुराद्यतिरिक्तेन्द्रियत्वेन तामसरस्य न सिद्धिः । इन्द्रियान्तरत्वव्यवस्थापकगुणविर-
हाच्च तामसेन्द्रियसिद्धिरिति शङ्काशयः ।

में व्यभिचार नहीं है, क्योंकि अन्धकार का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु तामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है । अन्धकार-
साक्षात्कार में चाक्षुषत्वस्वरूप कार्यताबन्धेदक धर्म नहीं होने से उसका जन्म, बिना आलोकसंयोग के, होने पर भी व्यतिरेक
व्यभिचार नहीं कहा जा सकता । अन्धकार का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से नहीं होता है किन्तु तामस नाम की छद्मी इन्द्रिय
से होता है । यहाँ यह शंका करना कि → “अन्धकार के साक्षात्कार के प्रति यदि चक्षु इन्द्रिय कारण नहीं है, किन्तु
तामस इन्द्रिय ही कारण है, तब तो जैसे आँखें मूँद कर श्रवणेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है, ठीक वैसे ही अन्धकार
का भी तामस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने लगेगा” ← नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि सर्पकर्ण की भाँति तामसेन्द्रिय
भी चक्षुर्गोलक में अधिष्ठित होती है । आशय यह है कि नाग की श्रवणेन्द्रिय आँख में ही होती है । इसलिए जब वह
आँखें बंद करता है, तब उसकी कर्णेन्द्रिय का शब्द से सन्निकर्ष नहीं होने से वह शब्द को नहीं सुन सकता है। ठीक
इसी तरह हमारी तामस इन्द्रिय भी नेत्रगोलक में ही अधिष्ठित होती (= रहती) है । इसलिए जब हम आँखें बंद करते
हैं, तब हमारी तामस इन्द्रिय का अन्धकार द्रव्य के साथ संयोग नहीं होने से उस समय अन्धकार का प्रत्यक्ष हमें नहीं
होता है । यहाँ यह शंका हो कि → “तामस नाम की अतिरिक्त इन्द्रिय की कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि अन्धकार
द्रव्य को कोई भी गुण ऐसा नहीं है, जो तामस इन्द्रिय से ग्राह्य हो और उससे भिन्न इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं हो । इन्द्रियत्व
का व्यवस्थापक असाधारण गुण होता है, जो भिन्न इन्द्रिय से अग्राह्य हो एवं अपने से ग्राह्य हो । जैसे कि पृथ्वी में
गन्ध गुण ऐसा है, जो घ्राण से ही ग्राह्य है एवं उससे अतिरिक्त चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है । इसलिए चक्षु
आदि से नाक को भिन्न इन्द्रिय मानी जाती है । मगर अन्धकार में कोई भी ऐसा गुण नहीं है, जो तामस से भिन्न इन्द्रिय
से अग्राह्य एवं तामस से ही ग्राह्य हो । इसलिए तामस में चक्षु आदि से अतिरिक्त इन्द्रियत्व ही नहीं माना जा सकता ।
तब तो अन्धकार का चाक्षुष ही मानना पड़ेगा, जिससे आलोकसंयोगनिष्ठ कारणता में व्यभिचार प्रसक्त होगा” ←

❀ इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्व ही मिश्रेन्द्रियत्व का व्यवस्थापक ❀

लाघवा. इति । तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणग्राहकत्व को अतिरिक्त इन्द्रियत्व

सिद्धिः; लाघवादिन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमात्रस्यैव भिन्नेन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वात्, तादृशस्य तमःसंयोगस्यापि सहकारित्वात् । न च तमसि तमःसंयोगाऽसम्भवः, गगनतमःसंयोगस्य तत्राऽपि सत्त्वात् ।

नन्वेवमपि किञ्चिदवच्छेदेन तमःसंयोगवति भित्त्यादावालोकसंयुक्ते तामसेन्द्रियेण प्रतीतिः

❀ जयलता ❀

तामपाकुर्वन्ति-लाघवादिति । इन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणस्येन्द्रियान्तरत्वव्यवस्थापकत्वाऽभ्युपगमाऽपेक्षया लाघवादिति । इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमात्रस्यैव भिन्नेन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वादिति । चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यस्य गन्धस्य ग्राहकत्वेनैव घ्राणस्य चक्षुराद्यतिरिक्तेन्द्रियत्वसिद्धिः न त्विन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणग्राहकत्वेन, गौरवात् । तादृशस्य = इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वस्य च प्रकृते = तमोग्रहस्थले, तामसे = तामसपदप्रतिपाद्ये एव सत्त्वात्, न तु चक्षुषि, तस्याऽऽलोकसंयोगसहकृतस्यैव द्रव्य-ग्राहकत्वात्, तमसस्त्वालोकसंयोगमृते एव ग्रहात् । तमसः चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यत्वेन तद्ग्राहकस्य तामसस्याऽतिरिक्तेन्द्रियत्व-सिद्धिरिति तेषामशयः ।

न च पेचकादीनां रात्राविव दिवाऽपि घटादिग्रहापत्तिः = घटादिसाक्षात्कारप्रसङ्गः, तदीयनयनगोलकाधिष्ठित-तामसेन्द्रियसन्निकृष्टत्वाद्घटादीनामिति शङ्काशयः । तद्युक्तत्वमाविर्भावयन्ति - तामसेन्द्रिये द्रव्यसाक्षात्कारं प्रति तमःसंयोग-स्याऽपि सहकारित्वात्, दिवा तमोद्रव्यसंयोगस्य घटादी विरहात् न पेचकादीनां तामसेन्द्रियेण घटादिग्रहप्रसङ्गः । न हि सामग्रीविरहे कार्योत्पाद आपादयितुमर्हतीति तेषामभिप्रायः ।

ननु संयोगसम्बन्धेन तमसः तामसेन्द्रियसहकारित्वोपगमे तमोग्रहो न स्यात्, तेन सम्बन्धेन तमसः तमस्यसत्त्वादिति शङ्कामपाकुर्वन्ति - न चेति । गगनतमःसंयोगस्य = गगनप्रतियोगिकतमःसंयोगस्य तत्राऽपि = तमस्यपि सत्त्वात् । अनेन तमसि तमोऽन्तराऽसत्त्वाद् व्यतिरेकव्यभिचार इति प्रत्युक्तम्, चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नगगनतमःसंयोगसम्बन्धेन तमसः तमोवृत्तित्वात् ।

अन्वयव्यभिचारं कश्चिच्छङ्कते - नन्विति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । एवमपि = तमसः गगनतमःसंयोगवत्त्वेन तमोग्रहे व्यतिरेकव्यभिचारनिराकरणद्वारा तमःसंयोगस्य तमःसंयुक्तद्रव्यग्रहं प्रति तामसेन्द्रियसहकारित्वप्रतिपादनेऽपि किञ्चिद-वच्छेदेन तमःसंयोगवति = परभागावच्छिन्नतमःसंयोगविशिष्टे, भित्त्यादौ, आलोकसंयुक्ते = अपरभागावच्छिन्नालोकसंयोग-

का व्यवस्थापक मानने में गौरव है । इसकी अपेक्षा इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्व को ही भिन्नेन्द्रियत्व का व्यवस्थापक मानना उचित है, क्योंकि इसमें लाघव है । चक्षु आदि इन्द्रिय से अग्राह्य यानी चक्षु आदि इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष के अविषय गन्ध का नाक से ग्रहण यानी प्रत्यक्ष होने से ही नाक में चक्षु आदि की अपेक्षा अतिरिक्त इन्द्रियत्व की सिद्धि होती है । यह तो तामस में भी अवाधित है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रिय से अग्राह्य अन्धकार का ग्राहकत्व = ज्ञानजनकत्व तामस में रहता ही है । इसलिए तामस में अतिरिक्त इन्द्रियत्व की सिद्धि निराबाध है । यहाँ यह शंका करना कि → “यदि तामस इन्द्रिय से ही उलू आदि को रात को घट आदि का साक्षात्कार होता है, तब तो उलू आदि को दिन में भी तामस इन्द्रिय से घटादि का साक्षात्कार होना चाहिए, क्योंकि उनकी तामसेन्द्रिय का घटादि के साथ सन्निकर्ष दिन में भी अवाधित है” ← तो यह नामुनासिब है, क्योंकि तामस इन्द्रिय से जन्य साक्षात्कार में अन्धकारसंयोग भी सहकारिकारण है । दिन में अंधकारसंयोगस्वरूप सहकारिकारण के विरह से उलू आदि को तामसेन्द्रियसंयुक्त घटादि का साक्षात्कार नहीं होता है । यहाँ यह शंका हो कि → “यदि तामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में अन्धकारसंयोग भी सहकारिकारण है, ऐसा मानने पर तो अन्धकार कभी भी तामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार का विषय नहीं बन सकेगा, क्योंकि घट में जैसे संयोग संबंध से अन्धकार रहता है वैसे अन्धकार में दूसरा अन्धकार संयोगसम्बन्ध से नहीं रहता है, जिससे उसमें अन्धकारसंयोगात्मक सहकारिकारण रह सके । अन्धकार में अन्धकारसंयोग नामुमकिन होने से उसका साक्षात्कार तामसेन्द्रिय से नहीं हो सकेगा” ← तो यह नामुनासिब है, क्योंकि अन्धकार में भी आकाश-अन्धकारसंयोगात्मक अन्धकारसंयोग रहता ही है । इस तरह सहकारिकारण के रहने से अन्धकार का तामस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो सकता है ।

॥ अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्ना तामससंयोग कारण ॥

नन्वे. इति । यहाँ यह शंका हो कि → “तामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में अन्धकारसंयोग सहकारी कारण है, यह नहीं

स्यादिति चेत् ? तर्हि तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्यैव तमःसंयुक्तद्रव्य-
ग्राहकत्वमस्तु । विनिगमनाविरहस्तु परस्याऽपि तुल्यः । चन्द्रिकायां पेचकादेस्तु चाक्षुष-

❀ अथ तत्ता ❀

व्रति सति तमःसंयुक्तमित्यादेरालोकसंयुक्तभागस्य तामसेन्द्रियेण प्रतीतिः स्यात्, भित्त्यादेः तमःसंयुक्तत्वात् । न चैवं तद्ग्रहो
भवतीति दुर्निवारोऽन्वयव्यभिचार इत्येकं सीव्यतोऽपरप्रच्युतिरिति शङ्काशयः ।

तामसेन्द्रियवादिनोऽत्र प्रतिविदधते - तर्हीति । तमःसंयुक्तमित्यादेरालोकसंयुक्तभागस्य तामसेन्द्रियेणाऽग्रहे सतीत्यर्थः ।
तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्यैवेति । तमःसंयोगस्य यो विषयदेशोऽवच्छेदकः तदवच्छिन्नस्य तामसेन्द्रिय-
संयोगस्येति, एवकारेण तमःसंयोगसहकृततामसस्य व्यवच्छेदः कृतः । तमःसंयुक्तद्रव्यग्राहकत्वं = तमःसंयुक्तद्रव्यविषयक-
प्रत्यक्षजनकत्वं अस्तु । न च तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्य हेतुत्वं यदुत तामससंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-
तमःसंयोगस्येत्यत्र विनिगमकाऽभावाच्चैतादृशकार्यकारणभावसम्भवः इति वाच्यम्, तत्र नैयायिकस्याऽपि 'चाक्षुःसंयोगावच्छेद-
कावच्छिन्नालोकसंयोगस्य आलोकसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषजनकत्वं यदुताऽऽलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचाक्षुःसंयोगस्य ?' इत्यत्र विनि-
गमनाविरहस्य तुल्यत्वादित्याशयेन गदन्ति-विनिगमनाविरहस्त्विति । कारणविनिगमकाभावस्त्वित्यर्थः, परस्यापि = नैयायिक-
स्यापि, तुल्यः = समः । अत एव तेन नैतादृशः पर्यनुयोगः कर्तुं युज्यते । तदुक्तं श्लोकवार्तिके 'यच्चोभयोः समो दोषः,
परिहारस्तयोः समः । नैकः पर्यनुयोज्यः स्यात्तादृगर्थविचारणे' ॥ () इति । एतेनाऽऽलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन
चाक्षुष एवालोकसंयुक्तचाक्षुषकारणत्वं लाघवादिति नैयायिकवचनं प्रत्याख्यातम्, 'तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन
तामसस्यैव तमःसंयुक्तद्रव्यग्राहकत्वं लाघवादि'त्यस्याऽपि सुवचत्वात् । न चैवमपि तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन
तामसस्य हेतुत्वं यद्वा तामससंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन हेतुत्वम् ? इत्यत्र विनिगमनाविरह इति वक्तव्यम्, आलोक-
संयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन चाक्षुषो हेतुत्वमाहोस्वित् चाक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेनाऽलोकस्य ? इत्यत्र
नैयायिकस्यापि विनिगमकस्याऽन्वेषणीयत्वादिति तेषामभिप्रायः ।

ननु तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामससंयोगस्य न तमःसंयुक्तद्रव्यविषयकतामसग्रहजनकत्वं सम्भवति, राकायां सर्वतः
चन्द्रिकाप्रसारे सति घटादेः तमोऽसंयुक्तत्वेन तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामससंयोगशून्यत्वेऽपि पेचकादेः ततामससाक्षात्कारोदयेन

माना जा सकता, क्योंकि भित्ति आदि के पश्चात् भाग में अन्धकार संयोग होने पर आलोकसंयुक्त पुरोवर्ती भाग का तामस
इन्द्रिय से साक्षात्कार होने की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । मगर वस्तुस्थिति यह है कि तब अन्धकारसंयुक्त भित्ति
के आलोकसंयुक्त भाग का प्रत्यक्ष चाक्षुष (= चाक्षुजन्य) ही होता है, न कि तामसेन्द्रियजन्य । इसलिए अन्धकारसंयोग तामस
का सहकारी कारण नहीं माना जा सकता है" - तो यह नामुनासिब है, क्योंकि इसके परिहारार्थ यह कहा जा सकता
है कि तामसीय साक्षात्कार के प्रति अन्धकारसंयोग और तामसेन्द्रियसंयोग को स्वतंत्रकारण नहीं है किन्तु अन्धकारसंयोग
के अवच्छेदक विषयदेश से अवच्छिन्न = नियन्त्रित तामसेन्द्रियसंयोग ही कारण है । भित्ति के केवल पश्चात् भाग में अन्धकारसंयोग
होने पर तामसेन्द्रियसंयोग अन्धकारसंयोगावच्छेदक पश्चात् भाग से अवच्छिन्न नहीं होता है । विशेष्य होने पर भी अन्धकारसंयोगा-
वच्छेदकावच्छिन्नत्वात्मक विशेषण का विरह होने से विशिष्टकारण का अभाव सिद्ध होता है । अतएव भित्ति के पुरोवर्ती आलोक-
संयुक्त भाग का होने वाला साक्षात्कार तामसीय (= तामसेन्द्रियजन्य) नहीं होगा, किन्तु चाक्षुष (= चाक्षुजन्य) ही होगा ।
यहाँ यह नैयायिककथन हो कि → "तामसीय प्रत्यक्ष के प्रति अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामसेन्द्रियसंयोग को कारण
माना जाय या तामसेन्द्रियसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नान्धकारसंयोग को कारण माना जाय ? इस समस्या का समाधान कुमारिलभट्टानुयायी
के एकदेशीय विद्वानों की ओर से नहीं किया जा सकता है" ← तो यह नामुनासिब है, क्योंकि आप नैयायिक महाशय
को भी "आलोकसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न चाक्षुसंयोग माना जाय या चाक्षुसंयोगा-
वच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोग ?" इस प्रश्न का प्रत्युत्तर देना ही पड़ेगा । यह विनिगमनाविरह दोष नैयायिकमत में भी अप्रतिकार्य
होने से उपर्युक्त दोष का उद्भावन उसकी ओर से नहीं किया जा सकता । उक्त समस्या के बारे में तो नैयायिक और
मीमांसक को 'तेरी भी चुप और मेरी भी चुप' यही उचित है ।

❀ चौदहवीं में उल्लूचाक्षुष का स्वीकार ❀

चंद्रि. इति । यहाँ यह शंका हो कि → 'अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामसेन्द्रियसंयोग को तामसीय प्रत्यक्ष का

मेवाऽभ्युपेयम् । न च दिवाऽपि तदग्रहाऽऽपत्तिः, फलबलात् सौरालोकस्य तत्प्रतिबन्धकत्व-
कल्पनादित्याहुः ।

तत्तुच्छम् - 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतेर्निरालम्बनत्वापत्तेः ।

अथ 'पश्यामी'ति विषयता न्यायनये चक्षुःसन्निकर्ष-दोषविशेषयोरिव तामसेन्द्रियसन्नि-

❀ जयलता ❀

व्यतिरेकव्यभिचारादित्याशङ्कायां तथाहुः - चन्द्रिकायामिति । पेचकादेस्तु चाक्षुषमेवाऽभ्युपेयमिति । एवकारेण तामस-
साक्षात्कारव्यवच्छेदः कृतः । तदानीं, पेचकादेः तामसेन्द्रियजन्यसाक्षात्काराऽनभ्युपगमादेव न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश इति
भावः । 'तर्हि सकायामिव दिवाऽपि पेचकादेः घटादिचाक्षुषापत्तिः स्यादिति' शङ्कामपनोदयन्ति - न चेति । तदपाकरणे
हेतुमावेदयन्ति - फलबलादिति । दिवा पेचकादेः तच्चाक्षुषानुदयाऽन्यधानुपपत्तेः सौरालोकस्य तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनादिति ।
पेचकादिचाक्षुषप्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमादिति । चन्द्रालोके सत्यपि पेचकादीनां चाक्षुषोदयान्न तस्य तच्चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वं
परं सौराऽऽलोके सति तेषां तदनुदयात् सौरालोकस्य तच्चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वमुन्नीयते । इत्थञ्च तमसि जायमानं साक्षा-
त्कारं प्रति तामसेन्द्रियस्य तमःसंयोगवच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन कारणत्वं फलितमिति तौतातिकैकदेशीयाभिप्रायः ।

ननु 'पश्यामी'तिज्ञाननिरूपितविषयता चक्षुःसन्निकर्षेण नियम्या यथा 'शुक्तिं पश्यामी'त्यादौ प्रमायां, यद्वा दोषविशेषेण
नियम्या यथा 'रजतं पश्यामी'त्यादौ भ्रमे । यदि च तमसः तामसेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारविषयत्वमुपेयेत तर्हि तस्य चाक्षुषत्वं
न स्यात् । न स्याच्च 'तमः पश्यामी'ति प्रतीतेः प्रमात्वम्, 'रजतं पश्यामी'त्यादिज्ञानवत् निरालम्बनत्वादित्याशयेन प्रकरणकारः
तौतातिकैकदेशिमतं दूषयति - तत्तुच्छमिति । 'तमः पश्यामी'ति प्रतीतेः निरालम्बनत्वापत्तेः = निर्विषयत्वप्रसङ्गात् ।
न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्, सार्वजनीनत्वेन तस्या भ्रमत्वाऽयोगात्, बाधकाऽभावाच्च । अत एवातिरिक्ततामसेन्द्रियकल्पनाऽपि
प्रत्याख्याता, गौरवात्, मानाभावाच्चेति स्याद्वाचाशयः ।

अतिरिक्ततामसेन्द्रियवादिनः साम्प्रतं स्वपक्षं साधयन्ति - अथेति । 'पश्यामी'ति विषयता = 'पश्यामी'तिप्रतीति-
निरूपितविषयता, न्यायनये चक्षुःसन्निकर्ष-दोषविशेषयोरिव तामसेन्द्रियसन्निकर्षस्यापि नियम्या, तन्मत इति शेषः । 'शुक्तिं

कारण मानने पर उलू को पूनम की रात में चारों ओर चाँदनी होने पर घटादि का तामसीय साक्षात्कार कैसे हो सकेगा ?
मगर उलू को चाँदनी में घटादि का साक्षात्कार तो होता ही है । इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार होगा" <- तो यह ठीक
नहीं है; क्योंकि उलू आदि को चाँदनी में घटादि का जो साक्षात्कार होता है, वह तामसीय नहीं होता है किन्तु चाक्षुष
होता है । यदि तामसीय प्रत्यक्ष माना जाय तो कारण के बिना कार्य उत्पन्न होने से व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश होता ।
मगर तब हम तामसीय प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हैं । इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं
है । यहाँ यह शंका हो कि -> "उलू आदि को रात में चन्द्रालोक (= चाँदनी) होने पर भी यदि घटादि का चाक्षुष साक्षात्कार
होता है, तब तो दिन में सौरालोक (= सूर्यप्रकाश) होने पर भी घटादि का चाक्षुष होने लगेगा" <- तो वह ठीक नहीं
है; क्योंकि दिन में उलू आदि को घटादि का चाक्षुष साक्षात्कार नहीं होता है, यह तो सर्वजनविदित होने से उसके बल
से सूर्यप्रकाश को उलू आदि को होनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक मानते हैं । यदि सूर्यप्रकाश उलूचाक्षुष का प्रतिबन्धक
नहीं होता, तब तो चन्द्रालोक की भाँति सूर्यालोक होने पर भी घटादि का उलू आदि को चाक्षुष होता । मगर होता नहीं
है । इसलिए सूर्यप्रकाश को उसका प्रतिबन्धक मानना ही उचित है । मगर अँधेरी रात में उलू आदि को जो घटादि का
प्रत्यक्ष होता है, वह तो तामसीय (= तामसेन्द्रियजन्य) ही होता है, न कि चाक्षुष । इस तरह हमें भी अन्यकार द्रव्य का
प्रत्यक्ष होता है, वह तामसीय ही होता है, न कि चाक्षुष । अतः तामस इन्द्रिय की कल्पना तर्कसंगत ही है ।

❀ तामसेन्द्रियकल्पना अप्रामाणिक - स्यादती ❀

उत्तरपक्ष :- तत्तुच्छम्. इति । प्रकरणकार तौतातिकैकदेशीयमत का खण्डन करते हैं कि - अन्यकार का तामसेन्द्रियजन्य
साक्षात्कार मानना असंगत है, क्योंकि तब 'तमः पश्यामि' यानी 'अन्यकार को मैं देखता हूँ' यह प्रतीति निरालम्बन होने
की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । आशय यह है कि 'पश्यामि' यह प्रतीति चक्षु इन्द्रिय के कार्यत्व की शापक है,
न कि तामस इन्द्रिय के कार्यत्व की । मगर आप मीमांसकदेशीय महाशय उक्त प्रतीति को चाक्षुष नहीं मानते हैं, जो कि
मुमकिन है और तामसजन्य मानते हैं, जो कि प्रतीति के आधार पर नामुमकिन है । फलतः उक्त प्रतीति निरालम्बन हो
जायेगी यानी भ्रमात्मक हो जायेगी । यहाँ तामसेन्द्रियवादी की ओर से यह कहा जाय कि -> "न्यायमतानुसार 'पश्यामि'

कर्षस्याऽपि नियम्या, अव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटौ दानेन व्यभिचाराऽप्रचारा-
दिति चेत् ? न, स्फुटगौरवात्; तथापि तामसेन्द्रियेण तमस इव घटादीनामपि पेचकादीना-

❀ अयत्नता ❀

'पश्यामी'तिप्रतीतिनिरूपितशुक्तिनिष्ठविषयताया नियामकत्वं चक्षुःसन्निकर्षस्य 'रजतं पश्यामी'तिप्रतीतिनिष्ठप्रकारितारव्यविषयिता-
निरूपितप्रकारताभिधानविषयतायाश्च नियामकत्वं चाकचिक्यादिदोषविशेषस्येति यथा गौतमीयदर्शने प्रसिद्धं तथा 'पश्यामी'ति-
प्रतीतिनिरूपितविषयताया नियामकत्वं तामसेन्द्रियसन्निकर्षस्याऽपीति मम मतेऽभ्युपगमम् । अत एव 'तमः पश्यामी'ति प्रती-
तेरप्रमात्वं प्रत्याख्यातम्; तमोनिष्ठविषयतायाः तामसेन्द्रियसन्निकर्षनियम्यत्वात् । इत्थञ्च चक्षुःसन्निकर्षजन्यज्ञानविषयकानुव्यव-
साय इव तामससन्निकर्षजन्यव्यवसायज्ञानविषयकानुव्यवसायेऽपि 'पश्यामी'तिविषयिताया निराबाधत्वं प्रदर्शितम् । न चैवमपि
व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्निवारत्वं, 'घटं पश्यामी'त्यस्याः तामसेन्द्रियसन्निकर्षमृते जायमानत्वात् 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतेः चक्षुः-
सन्निकर्षमन्तरैवोपजायमानत्वादिति वाच्यम्, तामसेन्द्रियसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तामससन्निकर्षस्य
चक्षुःसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति च चक्षुःसन्निकर्षस्य कारणत्वमित्यभ्युपगमेन तदऽयोगादित्याशयेन
तामसेन्द्रियवादिनो वदन्ति - अव्यवहितोत्तरत्वस्येति । तत्तदव्यवहितोत्तरत्वस्य तत्तदभावाऽकालीनत्वस्येति यावत् । कार्यता-
वच्छेदककोटौ = तत्तत्कार्यतावच्छेदककोटौ, दानेन = निवेशेन, व्यभिचाराऽप्रचारात् = व्यतिरेकव्यभिचाराऽसम्भवात् ।
तामससन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्वशून्यायाः 'घटं पश्यामी'तिप्रतीतेः तामससन्निकर्षाऽकार्यत्वेन चक्षुःसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्व-
विकलायाः 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतेश्च चक्षुःसन्निकर्षाऽकार्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारो दूरापास्त इति तामसेन्द्रियवाद्यभिप्रायः ।

प्रकरणकारः समाधत्ते - नेति । स्फुटगौरवादिति । नानाकार्यकारणभावकल्पनागौरवात्, कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरगौर-
वाच्चेत्यर्थः । यदि च परे फलाभिमुखत्वेन तददोषत्वं सोल्लङ्घ्यं वंद्युः तदा ग्रीढवादेन प्रकरणकृदाह - तथापीति ।

= 'मैं देखता हूँ' ऐसी प्रतीति से निरूपित विषयता जैसे चक्षुसन्निकर्ष एवं दोषविशेष से नियम्य है ठीक वैसे ही हमारे
मत में तामसेन्द्रियसन्निकर्ष से भी नियम्य है । मतलब यह है कि 'शुक्तिं पश्यामि' यानी 'मैं शीप को देखता हूँ' इत्याकारक
प्रतीति से निरूपित शुक्तिनिष्ठ विषयता शुक्ति के साथ चक्षुसन्निकर्ष से नियम्य है, चक्षुसम्बन्ध उसका नियामक है । यह
हुई प्रमात्मक चाक्षुष साक्षात्कार की विषयता की बात । मगर कभी कभी भ्रमात्मक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, जैसे उसी शीप
में चाकचिक्य (= चमक) आदि दोषविशेष की वजह 'रजतं पश्यामि' = 'मैं चाँदी को देखता हूँ' ऐसी प्रतीति । इस
प्रतीति की विषयता का नियामक चक्षुसन्निकर्ष नहीं है, क्योंकि दुकान में रही हुई चाँदी के साथ तब पुरुष की चक्षु इन्द्रिय
का सन्निकर्ष नहीं है । उक्त विषयता का नियामक है उपर्युक्त दोषविशेष । इस तरह न्यायमतानुसार 'पश्यामि' इत्याकारक
प्रतीति से निरूपित विषयता का नियामक चक्षुसन्निकर्ष या दोषविशेष है । मगर हमारे मतानुसार तामसेन्द्रियसन्निकर्ष भी
उक्त विषयता का नियामक है । अतः 'तमः पश्यामि' यानी 'मैं अन्यकार को देखता हूँ' इस प्रतीति से निरूपित विषयता
निरालम्बन होने की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि अन्धकार में उक्त विषयता का नियामक तामसेन्द्रियसंयोग रहता ही है ।
यद्यपि चक्षुसन्निकर्ष एवं तामससन्निकर्ष को उक्त विषयता का नियामक मानने पर व्यतिरेकव्यभिचार प्रसक्त होता है, क्योंकि
'घटं पश्यामि' इस प्रतीति से निरूपित विषयता तामसेन्द्रियसंयोग के बिना एवं 'तमः पश्यामि' इस साक्षात्कार से निरूपित
विषयता चक्षुसंसर्ग के बिना ही उत्पन्न होती है । बिना कारण के कार्य का होना ही व्यतिरेक व्यभिचार है तथापि कार्यतावच्छेदक-
धर्मशरीर में अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करने पर उसका निराकरण हो सकता है । मतलब कि चक्षुसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तर-
प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुसन्निकर्ष कारण है एवं तामससन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीन प्रत्यक्ष के प्रति तामसेन्द्रियसन्निकर्ष कारण है,
ऐसा मानने पर उक्त व्यभिचार दोष का निवारण हो सकता है, क्योंकि 'घटं पश्यामि' यह प्रतीति चक्षुसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीन
है, जिसका कारण तामससन्निकर्ष नहीं है किन्तु चक्षुसन्निकर्ष है, जो कार्यपूर्वक्षण में विद्यमान है । एवं 'तमः पश्यामि'
यह साक्षात्कार तामसेन्द्रियसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालिक है, जिसका कारण चक्षुसन्निकर्ष नहीं है किन्तु तामसेन्द्रियसन्निकर्ष है,
जो कार्योत्पादपूर्वक्षण में उपस्थित है । इस तरह 'तमः पश्यामि' इस प्रत्यक्ष के भ्रमत्व की आपत्ति नहीं है" <-

❀ तामसेन्द्रियवादिमत में दोषद्वय - ह्यात्वादी ❀

न. स्फु. इति । मगर तामसेन्द्रियवादी का उक्त प्रतिपादन इसलिए मान्य नहीं हो सकता है कि उस पक्ष में दो
कार्य-कारणभाव के अंगीकार का एवं कार्यतावच्छेदकधर्मशरीर में तदव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करने का महागौरव है । दूसरा

मिव मानवानामपि प्रतीत्यापत्तेश्च ।

अथ(न च?) विषयतया नरतामसेन्द्रियजन्यज्ञानं प्रति तादात्म्येन तमसः तमस्त्वादेश्च हेतुत्वमिति घटादेस्तादात्म्येन तद्वहेतुत्वाच्चाऽयं दोषः, अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां तु बहलतमे तमसि घटादीनां न तामसेन्द्रियजन्यं ज्ञानं किन्तु चाक्षुषमेव । न चालोकं

❀ जयलता ❀

चक्षुःसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीनप्रत्यक्षं प्रति चक्षुःसन्निकर्षस्य तामससन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालिकप्रत्यक्षं प्रति च तामससन्निकर्षस्य हेतुत्वमिति गुरुतरकार्यतावच्छेदकधर्मघटितकार्यकारणभावद्वयाऽङ्गीकारेऽपीत्यर्थः । तामसेन्द्रियेणेति । यथा पेचकादीनां तामसेन्द्रियेण रात्रौ तमस इव घटादीनामपि प्रत्यक्षं भवति तथा मनुष्याणामपि तेन तमस इव घटादीनामपि साक्षात्कारः स्यात्, तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसन्निकर्षस्याऽवधात् । न च मनुष्यतामसेन्द्रियसंयोग तमस्येव न तु घटादाविति वक्तुं शक्यते, अर्धजरतीयप्रसङ्गात्, पेचकादीनामपि तद्वदेव तामसेन्द्रियेण रात्रौ घटादिसाक्षात्कारप्रसङ्गाच्चेति स्याद्वाद्याशयः ।

परे एतदोषपरिजिहीर्षया वदन्ति - अथेति । विषयतयेति । अनेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः प्रदर्शितः । नरतामसेन्द्रियजन्यज्ञानं = मानवीयतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं, प्रति तादात्म्येन तमसः समवायेन तमस्त्वादेश्च हेतुत्वमिति हेतोः घटादेः तादात्म्येन घटत्वादेश्च समवायेन तव = विषयतासम्बन्धेन नरतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षे, अहेतुत्वात् नाऽयं दोषः = न मनुष्याणां तामसेन्द्रियेण घटादिसाक्षात्कारप्रसङ्गः । तमसि तादात्म्येन तमसः समवायेन तमस्त्वस्य च सत्त्वात् तत्र विषयतासम्बन्धेन नरतामसजन्यसाक्षात्कारो भवितुमर्हति परं घटादौ तादात्म्येन तमसः समवायेन तमस्त्वस्य चाऽसत्त्वान्न तत्र विषयतासम्बन्धेन नरतामसजन्यप्रत्यक्षमुत्पत्तुमर्हतीति तामसेन्द्रियवाद्यभिप्रायः ।

नन्वेवमञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां रात्रौ तामसेन्द्रियेण घटादिप्रत्यक्षं कथं स्यात् विषयतासम्बन्धेन साक्षात्काराऽधिकरणे घटादौ तादात्म्येन तमसः समवायेन तमस्त्वस्य च विरहादित्याशङ्कामपनोदयन्ति तामसेन्द्रियवादिनः - अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामिति । घटादीनां न तामसेन्द्रियजन्यं ज्ञानं = प्रत्यक्षं किन्तु चाक्षुषं = चक्षुरिन्द्रियसंयोगजन्यं एव । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-तमस्त्वावच्छिन्नकारणतया समवायावच्छिन्न-तमस्त्वत्वावच्छिन्नकारणतया निरूपितायाः कार्यताया अवच्छेदकत्वस्य तामसीय-प्रत्यक्षत्वस्य अञ्जनादिसंस्कृतनेत्राणां घटादिचाक्षुषे विरहान्न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश इति तेषामाशयः । न चेति । वाच्यमित्य-

दोष यह है कि 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से 'चक्षुसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तर प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुसन्निकर्ष कारण है एवं तामससन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीन प्रत्यक्ष के प्रति तामसेन्द्रियसन्निकर्ष कारण है' इस तरह गुरुतर दो कार्यकारणभाव को मान्य किया जाय तो भी यह आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है कि जैसे जहू आदि को रात में अन्धकार का एवं घटादि का तामसीय साक्षात्कार होता है वैसे मनुष्य को भी रात में अन्धकारसंयुक्त घटादि का तामस इन्द्रिय से साक्षात्कार होना चाहिए । 'मनुष्य के पास तामसेन्द्रिय नहीं है' ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तामसेन्द्रियवादी के मतानुसार मनुष्य को अन्धकार का तामस इन्द्रिय से ही साक्षात्कार होता है । अतएव अन्धकार की भाँति घटादि का भी तामस इन्द्रिय से मनुष्य को साक्षात्कार होना चाहिए ।

≡ मनुष्यतामसीय प्रत्यक्ष में अन्धकारहेतुता - पूर्वपक्ष ≡

पूर्वपक्ष :- अथ विष. इति । मनुष्य को तामस इन्द्रिय से घटादि का साक्षात्कार नहीं होता है, इसके अनुरोध से हम तामसेन्द्रियवादी इस तरह कार्य-कारणभाव का स्वीकार करते हैं कि विषयतासम्बन्ध से मानवीयतामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार एवं समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व कारण है । मनुष्य को अन्धकार का प्रत्यक्ष तामस इन्द्रिय से हो सकता है, क्योंकि विषयतासम्बन्धात्मक कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से अन्धकारप्रत्यक्ष के, जो मनुष्यतामसेन्द्रियजन्यत्वरूप से अभिमत है, आश्रय अन्धकार में तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार एवं समवायसम्बन्ध से अन्धकारत्व रहते हैं । कार्याधिकरणविधया अभिमत में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कारणसामग्री के रहने पर कार्योत्पाद होना न्याय्य है । मगर मनुष्य को अन्धकार में घटादि का तामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार नहीं हो सकता, क्योंकि विषयतासम्बन्ध से कार्याधिकरणविधया अभिमत घटादि में न तो तादात्म्यसम्बन्ध से अन्धकार रहता है और न तो समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व रहता है । कारण का अभाव होने पर कार्यजन्य का आपादन कैसे किया जा सकता है ? आपादक के विरह में आपादन नहीं किया जा सकता । यहाँ यह शंका हो कि → "यदि विषयता सम्बन्ध से मानवीयतामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार

विना कथं तदानीं तेषां तच्चाक्षुषमिति वाच्यम्, आलोकस्येवाऽञ्जनादेरपि चाक्षुषजनने चक्षुषः पृथक्सहकारित्वात् ।

अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष एवाऽऽलोकाऽजन्यचाक्षुषे हेतुत्वात् अञ्जनादेर्हेतुतावच्छेदकत्वे-

❀ गत्यलता ❀

नेनाऽन्वयः । आलोकं विना कथं तदानीं = बहलतमतमः काले, तेषां = अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां, तच्चाक्षुषं = घटादिचाक्षुषं ? द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वात् तदा घटादिचाक्षुषं तेषां भवितुमर्हतीति शङ्काशयः । तदपाकरणे परे हेतुमुद्योतयन्ति - आलोकस्येवेति । अञ्जनादेरपि चाक्षुषजनने चक्षुषः पृथक्सहकारित्वादिति । यथाऽऽलोककालीन-चाक्षुषं प्रति आलोकस्य तत्सहकारिकारणत्वं तथाऽञ्जनादिकालीनचाक्षुषं प्रति अञ्जनादेः तत्सहकारिकारणत्वम् । अत एवाऽ-अनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां बहलतमे तमसि घटादिचाक्षुषोदयेऽपि न व्यतिरेकव्यभिचारः, आलोकस्याऽञ्जनादिकालीनचाक्षुषं प्रत्यहेतुत्वादिति तौतातिकेकदेशीयाभिप्रायः ।

अत्रैव केषाञ्चिन्मतमपहस्तयितुमुपदर्शयन्ति - अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष एवेति । एवकारेण चाक्षुषेऽञ्जनादेः चक्षुःसहकारि-कारणत्वव्यवच्छेदः कृतः । आलोकाऽजन्यचाक्षुषे हेतुत्वादिति । आलोकाऽकालीनचाक्षुषोदये कारणत्वादिति । अञ्जनादेः हेतुतावच्छेदकत्वमेवेति । चक्षुषोऽञ्जनादेश्च पृथक् चाक्षुषकारणत्वमिति नाऽङ्गीक्रियते किन्तु अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषः एव चाक्षुषकारणत्वं, अञ्जनादिकं तु कारणतावच्छेदककोटौ प्रविष्टमिति घटं प्रति दण्डत्वादिरिव तस्याऽन्यधासिद्धत्वमिति बहलतमे तमसि अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां घटादिचाक्षुषोदयेऽपि न कश्चिदोषः, तस्याऽऽलोकाऽजन्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारनिरा-सादिति भावः । 'केचिदि'ति । आहुरिति गम्यते ।

एवं समवायसम्बन्ध से अन्धकारत्व जाति को कारण माना जाय तब अञ्जनादि से संस्कृत नेत्र वाले चीर आदि मनुष्य को रात में घटादि का तामस इन्द्रिय से साक्षात्कार कैसे हो सकेगा ? क्योंकि विषयता सम्बन्ध से कार्याधिकरणविधया अभिमत घटादि में न तो तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार रहता है और न तो समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व जाति रहती है । अन्धकार से घटादि अभिन्न नहीं है किन्तु भिन्न है- यह तो सर्वजनविदित है । वस्तुस्थिति तो यह है कि अञ्जनादिसंस्कृत चक्षु वाले चीर आदि मनुष्य को अन्धकार में भी घटादि का साक्षात्कार होता है । कारण के बिना ही इस तरह कार्योत्पत्ति होने से व्यतिरेक व्यभिचार दुर्निवार होगा" <-

❀ अञ्जनादेस्तस्यैव कारणत्वे लता में घटादि का चाक्षुष ही होता है - पूर्वपक्ष ग्राही ❀

अञ्जना. इति । तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि अन्धकार में अञ्जनादिसंस्कारयुक्त चक्षु से चीर आदि को घटादि का चाक्षुष साक्षात्कार ही होता है, न कि तामसीय साक्षात्कार । यदि तब तामसेन्द्रियसन्निकर्षजन्य साक्षात्कार का स्वीकार किया जाय तो व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश होता । मगर अन्धकार में अञ्जनादि के सहयोग से चीर आदि को घटादि का चाक्षुष ही होता है । इस तरह कारण के विरह में तामसीय साक्षात्कार की उत्पत्ति अमान्य होने से व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है । अतः विषयतासम्बन्ध से नरतामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार एवं समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व को कारण मानने में कोई दोष नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि -> "अंधेरी रात में चीर आदि को घटादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति आलोक चक्षु का सहकारी कारण है । अतः उसके विरह में चाक्षुषात्मक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती" <- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे आलोक चाक्षुषप्रत्यक्षोदय के लिए चक्षु का सहकारी कारण है वैसे अञ्जनादि भी स्वतंत्र सहकारी कारण है । मतलब यह है आलोककालीन चाक्षुष के प्रति आलोक एवं अंजनकालीन चाक्षुष के प्रति अंजन चक्षु का सहकारी कारण है । इसलिए अञ्जनादि के सहकार से चीर आदि को अञ्जनादिकालीन घटादिचाक्षुष गाढ़ अन्धकार में होने पर व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है ।

❀ अञ्जनादे में चाक्षुषकारणतावच्छेदकत्वमत का निराकरण ❀

अंज. इति । अमुक विद्वान् मनीषियों का यह कथन है कि -> "अञ्जनादि चाक्षुष के स्वतंत्र सहकारी कारण नहीं है, किन्तु कारणतावच्छेदक है । वह इस तरह - 'आलोकाऽकालीन यानी आलोकाऽजन्य चाक्षुष के प्रति अञ्जनादिसंस्कृत

मेवेति केचित् । तत्र, अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषं प्रति स्वसंस्कृतचक्षुःसंयोगसम्बन्धेनाञ्जनादेर्हेतुत्वस्योचित्यादित्यपरे । तथा च न तत्र व्यभिचार इति चेत् ? न, एवं सति नानाकार्यकारणभावकल्पने महागौरवात् ।

✽ जयलता ✽

तत्रेति । 'अपरे' इत्यनेनाऽस्याऽन्वयः । दर्शितकेचिन्मताऽयुक्तत्वे हेतुमाविष्कुर्वन्ति - अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषं = अञ्जनाद्यव्यवहितोत्तरकालीनचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वसंयुक्तचक्षुःसंयोगसम्बन्धेनेति । स्वपदेनाऽञ्जनादेः ग्रहणम् । तत्संयुक्तस्य चक्षुषः संयोगो यस्मिन् घटादिविषयदेशे तत्रोक्तसम्बन्धेनाऽञ्जनादेः सत्त्वं तत्रैव च विषयतासम्बन्धेन घटादिचाक्षुषस्याऽञ्जनाद्यव्यवहितोत्तरकालीनस्याऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुः 'समवेतस्य सत्त्वमिति कार्यकारणसामानाधिकरण्योपपत्तिः । अञ्जनादेर्हेतुत्वस्योचित्यादिति । कारणतावच्छेदकधर्मलाघवादीचित्यं भावनीयम्, अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष्वाऽपेक्षयाऽञ्जनत्वादेर्लाघवादिति । 'अपरे' इत्यनेन स्वाऽस्वरसोद्भावनं कृतम्, धर्मगौरवस्यैव सम्बन्धगौरवस्याऽपि सदोषत्वात्, चक्षुषः कारणतावच्छेदककोटिप्रविष्टत्वेनाऽन्यथासिद्ध्यापत्तेः, विनिगमनाविरहाच्च ।

तथा चेति । आलोकस्यैवाऽञ्जनादेरपि चाक्षुषजनने चक्षुषः पृथक् सहकारित्वाऽभ्युपगमाच्चेति । चक्षुश्चेन नरतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन तमसः समवायेन तमस्त्वादेश्च हेतुत्वाऽभ्युपगमोऽत्र समुचीयते । न तत्र व्यभिचारः इति । अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां मनुष्यतस्करादीनां बहलतमेऽपि तमसि घटादीनां चाक्षुषे न व्यतिरेकव्यभिचारो न वाऽस्मदीयतामसेन्द्रियेणाऽन्धकारस्थघटादिप्रत्यक्षेऽन्वयव्यभिचार इति तामसेन्द्रियवादिनोऽभिप्रायः ।

प्रकरणकारः तामसेन्द्रियवादिमतं निरस्यति - नेति । एवं सतीति । अतिरिक्ततामसेन्द्रियाऽभ्युपगमे सतीति । नानाकार्यकारणभावकल्पने महागौरवादिति । चक्षुःसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीनप्रत्यक्षं प्रति चक्षुःसन्निकर्षस्य कारणत्वं, तामसेन्द्रियसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालिकप्रत्यक्षं प्रति तामससन्निकर्षस्य कारणत्वं, विषयतासम्बन्धेन नरतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन तमसः समवायेन तमस्त्वादेश्च कारणत्वं, आलोकाऽभावाऽकालीनचाक्षुषोदये आलोकस्याऽञ्जनाद्यभावाऽकालिकचाक्षुषोदये चाऽञ्जनादेः चक्षुःसहकारिकारणत्वं, तमःसंयुक्तद्रव्यप्रत्यक्षं प्रति च तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामससंयोगस्य कारणत्वमित्याद्यनेकविधकार्यकारणकल्पने महागौरवादित्यर्थः । न च तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति वाच्यम्, तामसेन्द्रियकल्पनाऽविनाभाविनः तस्य पूर्वमेवोपस्थितेः फलमुखत्वाऽयोगात् ।

किञ्च, मित्यादेः पुरोवर्त्येकभागावच्छेदेनाऽऽलोकसंयोगवतोऽपरपुरोवर्तिभागावच्छेदेन च तमःसंयोगवतः चक्षुःतामसेन्द्रियसंयोगाभ्यां युगपद्ग्रहणाऽनुपपत्तिः, बहिरिन्द्रियद्वयजन्यलौकिकसाक्षात्कारविषयताया युगपद् बहिरिन्द्रियद्वयजन्यत्वाऽयोगात् । न च क्रमिकत्वमेव तज्ज्ञानयोः, यौगपद्यप्रत्ययस्य शतपत्रशतपत्रीवेधव्यतिकरेण भ्रमत्वादिति वक्तव्यम्, तमःसंयोगावच्छेदका-

चक्षु ही कारण है' ऐसा कार्य-कारणभाव मानने पर अञ्जनादि कारणतावच्छेदक धर्म के घटक होने से कारणतावच्छेदक ही बनेगे, न कि कारण । अतः अञ्जनादिसंस्कृत आँख से चौर आदि को अन्धकार में आलोकाऽकालिक घटादिविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सकता है ।" <- मगर अन्य विद्वानों का उक्त मत के प्रतिवाद में यह कहना है कि -> "आलोकाऽकालीन द्रव्यचाक्षुष के प्रति अञ्जनादिसंस्कृत चक्षु को कारण मानने पर कारणतावच्छेदक धर्म अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष्व होगा जो गुरुतर है । इसकी अपेक्षा अञ्जनाद्यभावाऽकालीन चाक्षुष के प्रति स्वसंस्कृतचक्षुसंयोग सम्बन्ध से अञ्जनादि को ही हेतु मानना उचित है, क्योंकि तब कारणतावच्छेदक धर्म अंजनत्व आदि बनेगा जो अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष्व की अपेक्षा लघुतर है" <- । उक्त मत-मतान्तर के बारे में अधिक चर्चा करना हम तामसेन्द्रियवादी को यहाँ उचित नहीं लगता है । मगर हमारा आशय यह है 'अञ्जनादि भी आलोक की भाँति चाक्षुष के प्रति चक्षु का सहकारी कारण है एवं नरतामसेन्द्रियजन्यसाक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार तथा समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व जाति कारण है' ऐसा मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार दोष का अवकाश नहीं है ।

ॐ तामसेन्द्रियपक्ष में महागौरव - उत्तरपक्ष ॐ

उत्तरपक्ष :- नेव. इति । तामसेन्द्रियवादी का उक्त कथन मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक कार्य-कारणभाव के अंगीकार का महागौरव होता है । वह इस तरह - (१) अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामसेन्द्रियसंयोग

१. अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुःपदेनाऽत्र बहुव्रीहिसमासाश्रयणानादृशतस्करादिग्रहणमभिमतमिति ध्येयम् ।

वस्तुतः सामान्यत एका चाक्षुषजननी योग्यताऽपरा च तमःसंयुक्तचाक्षुषजननी । तत्र पेचकादीनां दिवा न चाक्षुषं मानवानाञ्च नक्तं न घटादिचाक्षुषमित्यत्र स्वभाव एव शरणम् । न चैवं स्वभाववादिमतप्रवेशः, समवायाऽभ्युपगमे तदऽप्रवेशात् ।

❀ नयलता ❀

वच्छिन्नतामससंयोगस्याऽऽलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य चैकदा सत्त्वे बाधकाभावात् आलोकसंयुक्तभित्तिप्रत्यक्षस्य तमःसंयुक्तभित्तिनुव्यवसायसमये विनष्टत्वेन 'आलोकतमःसंयुक्तां भित्तिं पश्यामी'त्यनुव्यवसायाऽनुपपत्तेश्च । न च क्रमिक-ज्ञानाऽऽहितसंस्काराभ्यां जनितायां समूहालम्बनस्मृतावेवाऽनुभवत्वारोपात्तधानुव्यवसायो यथा पञ्चावधानस्थल इति वाच्यम्, उपेक्षात्मकतज्ज्ञानतस्तादृशस्मृत्यसम्भवात्, तत्र लौकिकसन्निकर्षजन्यज्ञानस्यैव विषयतया 'साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायजनकत्वाच्च । न च भिन्नाऽधिष्ठानयोरिन्द्रिययोरेव युगपज्ज्ञानाऽजनकत्वान्नायं दोष इति शङ्कनीयम्, चक्षुःश्रवसोऽपि युगपच्चाक्षुष-श्रावणयोः प्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, सर्वत्रैव तथा वक्तुं शक्यत्वेन मनोच्छेदापत्तेः ।

किञ्च, तमःसंयुक्तद्रव्यग्राहकत्वं तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्य यदुत तामसेन्द्रियसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतमःसंयोगस्य ? इत्यत्र विनिगमकाऽभावः परस्याऽपरिहार्य एव । न च तदाऽपि आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य आलोकसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषकारणत्वमाहोस्यित् चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगस्य ? इत्यत्र साम्यमित्युद्गिरणीयम्, मन्मते चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन योग्यताया एव तन्नियामकत्वात् । इत्यमेव मन्दतमे तमसि घटादिचाक्षुषमभ्युपगच्छत इत्याशयेन प्रकरणकृदाऽऽह - वस्तुतः इति । सामान्यत एका चाक्षुषजननी योग्यतेति । योग्यतायाः चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वमित्यर्थः । अपरा च योग्यता तमःसंयुक्तचाक्षुषजननीति । योग्यताविशेषस्य च तमःसंयुक्तद्रव्यगोचरचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वमित्यर्थः । अत एव निर्मलचक्षुषां मन्दतमःसंयुक्तघटादिचाक्षुषं योग्यताविशेषाज्जायते । सामान्ययोग्यतातश्च तमोऽसंयुक्त-घटादिचाक्षुषमुपजायते ।

ननु योग्यताविशेषात्येवकादीनां तमसि घटादीनां यथा चाक्षुषमुपजायते तथा दिवाऽपि कथं तन्न भवति, विशेषस्य सामान्याऽधिनाभावित्वादित्याशङ्क्यामाह - तत्रेति । पेचकादीनां दिवा न चाक्षुषं मानवानाञ्च नक्तं न घटादिचाक्षुषमित्यत्र स्वभाव एव शरणमिति । स्वभावस्य चाऽपर्यनुयोज्यत्वात् । अत एव पेचकादीनां कुतोऽयमेव स्वभावो यदुत तेषां रात्रावेव घटादिचाक्षुषमुपजायते न तु दिने तथा मानवानां कस्माद्धेतोरेवं स्वभावो यद् दिवैव तेषां घटादिचाक्षुषोत्पादो न तु निशायां ? इति प्रत्युक्तम् । तदुक्तं 'कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं' () इत्यादि । 'तर्हि भक्तामेकान्तस्वभाववादिमत-प्रवेशो दुर्निवार' इति पराऽऽशङ्कामपनोदयति - न चेति । एवं = स्वभावाश्रयणेनोक्तपर्यनुयोगपरिहारे, स्वभाववादिमत-प्रवेशः = एकान्तस्वभाववादिमताऽऽपातः । तदपाकरणे हेतुमाह - समवायाऽभ्युपगमे इति । स्वभावेतरकर्म-काल-पुरुषकारादिकारणकलापाऽभ्युपगमे इति । तदऽप्रवेशात् = एकान्तस्वभाववादिमताऽप्रवेशात् । पञ्चकारणसमुदायाऽङ्गीकारेण

को अन्धकारसंयुक्तद्रव्यविषयक प्रत्यक्ष का कारण मानना (२) नरतामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्य संबन्ध से अन्धकार और समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व को कारण मानना (३) आलोककालीन चाक्षुष के प्रति आलोक को चक्षुसहकारी कारण मानना (४) अंजनादि के अव्यवहित उत्तर काल में होने वाले प्रत्यक्ष (चाक्षुष) के प्रति अंजनादि को चक्षुसहकारी कारण मानना... इत्यादि अनेकविध कार्य-कारणभाव तामसेन्द्रिय की कल्पना करने पर मान्य करने पड़ेंगे, जिसमें महागौरव स्पष्ट ही है । वस्तुस्थिति तो यह है कि दो प्रकार की योग्यता ही दो प्रकार के चाक्षुष की जनक होती है । एक सामान्य योग्यता ऐसी है जो कि चाक्षुषसामान्य का कारण है । अर्थात् कारणतावच्छेदक योग्यतात्व एवं कार्यतावच्छेदक चाक्षुषत्व बनता है । तथा दूसरी विशेष योग्यता वह है जो कि अन्धकारसंयुक्त द्रव्य के चाक्षुष साक्षात्कार की जनक है । यहाँ कारणतावच्छेदक धर्म विजातीययोग्यतात्व और कार्यतावच्छेदक धर्म अन्धकारसंयुक्तचाक्षुषत्व है । उलू आदि में विशेष योग्यता होने से उन्हें गाढ अन्धकारस्थित घटादि का चाक्षुष होता है और विजातीय योग्यता का विरह होने से हमें अमावास्या रात्रि के घने अन्धकार में घटादि का चाक्षुष नहीं होता है । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उलू आदि को रात को घटादि का चाक्षुष होने पर भी दिन में उसका चाक्षुष नहीं होता है तथा मानव को दिन में घटादि का चाक्षुष होता है मगर रात में गाढान्धकारस्थ घटादि का चाक्षुष नहीं होता है - इस विषय में स्वभाव ही कारण है । एक पौधे पर पैदा होने पर भी काँटे तीक्ष्ण क्यों होते हैं और गुलाब का फूल कोमल क्यों होता है ? इसका समाधान स्वभावविशेष को छोड़ कर अन्य क्या हो सकता है ? यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि → "स्वभाव का आलम्बन लेने पर तो एकान्तस्वभाववादी के मत में अनेकान्तवादी

बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वमेव मानसे तु विशेष्यत्वमपीत्यादौ परेणापि स्वभावस्याऽवश्यमाश्रितत्वात् ।

❀ नयलता ❀

स्याद्वाऽन्तर्निष्ठात्, यदचित् कदाचित् कस्यचित्प्राधान्यं तदितरेषां प्राधान्यमित्यन्यदेतत् । नैतावतैवैकान्तवादाऽभ्युपगमः, तदितरसापेक्षत्वेनैकान्तवादप्रच्यवादित्याशयः । स्वभावाश्रयणं न केवलमस्माकं स्याद्वादिनामेव किन्तु परस्याऽपीति दृढयति - बहिरिन्द्रियजन्यज्ञान इति । बहिर्भूतं मनोभिन्नत्वमिति मनोभिन्नेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारे इत्यर्थः । उपनीतस्येति । ज्ञानलक्षणसन्निकर्षणोपस्थापितस्येति । पद्मभिरामशास्त्री तु 'उपनीतः = ज्ञानलक्षणाश्रयः तन्निष्ठं भानं = उपनीतभानम् । भानशब्दश्च विषयतापरः, 'अयं घटः' इति ज्ञाने 'घटो भाति' 'घटो भासते' इत्यादौ भाति-भासतिभ्यां विषयताया एव प्रत्यायनात् । एवञ्च ज्ञानलक्षणजन्यतावच्छेदकीभूताऽलौकिकविषयताविशेषस्य उपनीतभानमिति सञ्ज्ञा' (मु.मञ्जू. पृ. २३९.) इत्युक्तवान् । विशेषणत्वमेवेति । एवकारेण विशेष्यत्वव्यवच्छेदः कृतः । यथा 'सुरभि चन्दनमि'ति बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने चन्दनविशेषणविधयैव ज्ञानलक्षणसन्निकर्षणोपस्थापितस्य सौरभस्य भानं भवति । न च सौरभस्योपनीतत्वमेव कथमिति वक्तव्यम्, सौरभेण सह चक्षुषो लौकिकसन्निकर्षाऽभावेन सौरभत्वप्रकारतानिरूपितसौरभत्वाश्रयकिञ्चिन्निष्ठलौकिकविशेष्यताशालिचाक्षुषाऽप्रसिद्धया तादृश-चाक्षुषजनकसामग्र्याः सुतरामप्रसिद्धत्वेन तत्समानकालीनसामान्यप्रत्यासत्तेरभावात् सौरभे मानसान्यप्रत्यक्षनिरूपितविषयत्वासम्भवात् । यद्यपि सामान्यलक्षणयाऽपि प्रत्यासत्त्या सौरभभानं सम्भवति तथापि सौरभत्वजातिभानं ज्ञानलक्षणयैवेति भावनीयम् ।

मानसे त्विति । 'उपनीतस्ये'त्यत्राऽप्यनुवर्तते तुर्विशेषणार्थः । तदेवाऽऽह- विशेष्यत्वमपीति । अपिना विशेषणत्वं समुचीयते । तथाहि 'ज्ञातो घटः' इति मानसप्रत्यक्षे उपनीतभानविषयस्य ज्ञानस्य विशेषणविधया घटस्य च विशेष्यविधया भानं, 'ज्ञानविषयो घटः' इति तदर्थात् । 'मयि घटज्ञानं' इति आत्मप्रकारक-घटविषयकज्ञानविशेष्यकमानसे उपनीतस्य ज्ञानस्य विशेष्यविधया घटस्य च तद्विशेषणविधया भानं भवति । 'घटज्ञानवानहमि'ति मानसे उपनीतभानगोचरस्य ज्ञानस्य विशेषण-विधया घटस्य च विशेषणतावच्छेदकविधया भानं भवति । बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने तूपनीतस्य न कदापि विशेष्यविधया भानमित्यत्र परेण = एकान्तवादिना, अपि स्वभावस्याऽवश्यमाश्रितत्वादिति । एतेन स्वभावस्य हेतुत्वे न किञ्चिदपि दुर्वचमिति 'स्वभावादेव पेचकादीनां दिवा न चाक्षुषं मानवानां च नक्तं ने'त्यसम्यगुत्तर इति प्रत्युक्तम्, 'स्वभावादेव बहिरिन्द्रियजन्य-ज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वमेव मानसे तु विशेष्यत्वमपी'त्यत्राऽपि प्रकृतपर्यनुयोगस्य समत्वादिति यत्किञ्चिदेतत् ।

का प्रवेश हो जायेगा" <- क्योंकि हम स्वभाव को कारण मानने पर भी अदृष्ट (= पुण्य-पाप कर्म), काल आदि अन्य कारण का अपलाप नहीं करते हैं । पाँच कारण के समुदाय (= समवाय) का अभ्युपगम करने से न तो स्वभाववादी के एकान्तमत में प्रवेश होगा और न तो अनेकान्तवाद का त्याग होगा । समझे !!

॥ परमत में भी स्वभाव का आश्रय अनिवार्य - स्याद्वादी ॥

बहिरि. इति । यहाँ यह कहना कि -> "किसी प्रश्न के प्रत्युत्तर में स्वभाव का आलम्बन करने में कोई तर्क नहीं होने से 'उलू आदि को स्वभावविशेष की वजह दिन में घटादिचाक्षुष नहीं होता है और स्वभावविशेष की वजह मनुष्य को रात में गाढान्धकारस्थ घटादि का चाक्षुष नहीं होता है' यह कथन स्वीकार्य नहीं हो सकता" <- ठीक नहीं है, क्योंकि एकान्तवादी को भी स्थलविशेष में स्वभाव का आश्रय लेना ही पड़ता है । वह इस तरह 'बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में उपनीत = ज्ञानलक्षणसन्निकर्षभास्य का विशेषणविधया ही भान होता है जब कि मानस साक्षात्कार में उपनीत का विशेषणविधया और विशेष्यविधया भी भान होता है' इस एकान्तवादी की मान्यता - सिद्धान्त में स्वभाव का ही आश्रय लिया गया है, क्योंकि बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में उपनीत का विशेष्यविधया भान क्यों नहीं होता है ? तथा अभ्यन्तर इन्द्रिय = मन में जन्य ज्ञान में उपनीत का विशेषणविधया ही भान क्यों नहीं होता है ? इस प्रश्न के समाधान में एकान्तवादी को यही कहना पड़ेगा कि 'इस विषय में स्वभावविशेष ही कारण है' । 'सुरभि चन्दनं' इस चाक्षुष प्रत्यक्ष में सुरभि ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से उपनीत है, जो विशेष्यभूत चन्दन के विशेषणरूप में ही भासित है, न कि विशेष्यरूप में । मानस प्रत्यक्ष की तो बात ही अलग है । 'मया ज्ञातो घटः' यहाँ उपनीत घट का ज्ञान के विशेष्यरूप में भान होता है, क्योंकि 'मत्समवेतज्ञानविषयो घटः' ऐसा उक्त प्रतीति का विशेषण होता है । इसलिए इस मानस साक्षात्कार में उपनीत घट का विशेष्यविधया भान होता है । तथा 'मयि घटज्ञानं' इस मानस साक्षात्कार में ज्ञान विशेष्य है और उसके विशेषणविधया उपनीत घट का भान होता है । एवं 'घटज्ञानवान् अहं' इस मानस साक्षात्कार में ज्ञान का विशेषण उपनीत घट है और 'अहं' का विशेषण घटज्ञान

सर्वज्ञानस्वभावस्य चात्मनः तत्तद्देश-तत्काल-तत्तद्विषयाद्याश्रित्य विचित्रज्ञानावरण-
क्षयोपशमवशाद् विचित्रज्ञानोत्पत्तौ को वा विस्मयः स्याद्वादास्वादसुन्दरधीयाम् ?

ज्ञानस्वभावत्वमेवात्मनः कथमिति चेत् ? द्रव्यत्वेन गुणस्वभावत्वसिद्धौ पारिशेष्या-
दिति ब्रूमः ।

॥ गयलल ॥

ननु सुहृद्भावेन वयमावृच्छामो यदुत पेचकादीनां कुतोऽयमेव स्वभावो यद् दिवा ते न पश्यन्ति ? मानवानाञ्च कुतोऽयं स्वभावो वक्ते नक्तं न पश्यन्ति ? नश्चेतश्चमत्कारकारीदं सर्वमिति पराऽऽशङ्कायां प्रकरणकारः ग्राह - सर्वज्ञानस्वभावस्य चाऽऽत्मन इति । सर्वं ज्ञातुं स्वभावो यस्य स तथा. तस्य आत्मन इति । 'आत्मनः सर्वज्ञानस्वभावत्वे कुतः सर्वेषामात्मनां सर्वदा सर्ववस्तुगोचरज्ञानं न प्रादुर्भवती'त्याशङ्कायामाह - तत्तद्देशेति । पेचकादीनां भवप्रत्ययिकोऽयं ज्ञानावरणकर्मक्षयो-
पशमः वन्महिम्ना ते दिवा न पश्यन्ति किन्तु निशायामेव । प्राकृतमानवानां चैवंविधो ज्ञानावरणक्षयोपशमो यद्वशात्सामान्यतः ते बहुलतमे तमसि घटादिकं न प्रेक्षन्ते । अञ्जनादिद्रव्यविशेषमासाद्य गुर्वनुग्रह-शक्तिपातादिकं वा प्राप्य तथाविधः क्षयोप-
शमस्तेषामेवोपजायते यद्वलादन्धतमस्यपि घटादिकं निहितनिध्यादिकञ्च तेऽवलोकन्तेऽञ्जनाद्यपनयने तु नेति । दृश्यते हि साम्प्रतं मन्दतमनयना अपि पुरुषा बहिर्गोलकान्तर्गोलकाचनिर्मितयन्त्रविशेषाऽऽहितक्षयोपशमपाटवेन सूक्ष्माक्षरादिकमीक्षमाणाः । ज्ञाना-
वरणक्षयोपशमवैचित्र्यप्रयुक्तज्ञानवैचित्र्यज्ञातवर्ता को वा विस्मयः स्याद्वादास्वादसुन्दरधीयां ? एकान्तवादविषयविषयानविगलित-
बुद्धीनामप्राप्तसर्वज्ञप्रवचनानामेव तत्राश्चर्यं न त्वनेकान्तवादमीमांसासांलमतीनामस्माकमिति भावः ।

परः शङ्कते - ज्ञानस्वभावत्वमेवात्मनः कथं सिद्धं ? तद्वसिद्धौ च सर्वज्ञानस्वभावस्याऽत्मनः' इत्यादिकं भवदुक्तं सर्वमेव वन्ध्यास्तनन्धयशृङ्गारसहोदरमाभासीति शङ्काशयः । तत्र समाधानं - द्रव्यत्वेन गुणस्वभावत्वसिद्धाविति । 'गुणपर्या-
यवद् द्रव्यं' (तत्त्वा. ५/३७) इति सूत्रेण द्रव्यत्वावच्छेदेन गुणपर्यायस्वभावत्वस्य साधनात् आत्मनो द्रव्यत्वान्तद्व्यापकगुणस्व-
भावत्वं निरावाधम् । 'तथापि ज्ञानस्वभावत्वसिद्धिः कथं स्यात्' ? इत्याशङ्कायामाह - पारिशेष्यादिति । प्रसक्तप्रतिषेधे
शिष्यभागसम्प्रत्ययः = पारिशेषन्यायः, तस्मादित्यर्थः । आत्मनो वर्णगन्धरसादिगुणस्वभावत्वं न सम्भवति, तस्याऽमूर्तत्वाद-

हे । उक्त प्रत्यक्ष में एकान्तवादी का यही मन्तव्य है कि - 'बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में उपनीत का विशेषणविधया ही भान होता है एवं मानस प्रत्यक्ष में उपनीत का विशेषणविधया और विशेष्यविधया भान होता है, इस विषय में स्वभाव ही शरण है । इस तरह स्याद्वादी की ओर से भी यह कहा जाना उचित ही है कि स्वभावविशेष की वजह वज्रू आदि को दिन में घटादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है और मनुष्य को भी स्वभावविशेष के सबब ही घटादि का रात के अन्धकार में चाक्षुष नहीं होता है । वस्तुतः आत्मा का स्वभाव सब चीज को जानने का है मगर देशविशेष, कालविशेष, विषयविशेष आदि की अपेक्षा जीव का संसारी अवस्था में ज्ञानावरणकर्मविषयक क्षयोपशम विचित्र = भिन्न भिन्न होता है । ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम में विचित्रता होने से उससे नियम्य ज्ञान भी विभिन्न प्रकार के होते हैं । वज्रू आदि भव की अपेक्षा, अंजनादि द्रव्य की अपेक्षा ऐसा ज्ञानावरणक्षयोपशम होता है कि रात के गाढ अन्धकार में रही हुई चीज का ज्ञान (चाक्षुष) हो सकता है । तथाविध क्षयोपशम के विरह में आम जनता को गाढ अन्धकार में रही हुई चीज का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । इस विषय में स्याद्वाद का गहन अभ्यास करने वाले को आश्चर्य क्या ? अतः ज्ञानावरणक्षयोपशमात्मक योग्यताविशेष को ही चाक्षुषादि प्रत्यक्ष का नियामक मानना सुसंगत है ।

॥ ज्ञान आत्मस्वभाव है - स्याद्वादी ॥

ज्ञानस्व. इति । यहाँ यह शंका हो कि → "ज्ञानस्वभाववाली आत्मा कैसे हो सकती है ? यह जब तक सिद्ध न हो तब तक ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम के वैचित्र्य से ज्ञानवैचित्र्य का समर्थन नहीं हो सकेगा" ← तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यमात्र गुणस्वभाववाला होता है, द्रव्यत्वावच्छेदेन गुणस्वभावत्व सिद्ध है । अतः आत्मा भी द्रव्य होने से गुणस्वभाववाली सिद्ध होती है । वर्णगन्धादि तो आत्मगुण नहीं होने से आत्मा वर्ण-गन्धादिगुणस्वभाववाली नहीं हो सकती । एवं इच्छा, द्वेष आदि गुण भी मोक्षावस्था में नहीं होने से इच्छादिस्वभाववाली आत्मा नहीं हो सकती । इसलिए पारिशेष न्याय से ज्ञानगुण ही आत्मस्वभाव हो सकता है । इसलिए ज्ञानस्वभाववाली आत्मा होने में कोई दोष नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि → "आत्मा ज्ञानस्वभाव-
वाली है, तो फिर 'ज्ञान उत्पन्न हुआ' इत्यादि व्यवहार कैसे हो सकेगा ?" ← तो यह नामुनासिब है, क्योंकि ज्ञान आत्म-

**ज्ञानोत्पत्तिव्यवहारः पुनरावरणविनाशमादाविर्भावनिबन्धनः; भानुप्रकाशोत्पत्तिव्यवहार-
वत् । न चाऽऽविर्भावस्य सदसद्विकल्पो स्याद्वादितां दोषाय; रूपभेदेनैव सदसत्त्वाऽभ्युपग-
मादित्येव विस्तरः ।**

यत् → तमसो द्रव्यत्वसिद्धौ तद्ग्रहार्थं तामसेन्द्रियसिद्धिः, तत्सिद्धौ चालोकनिरपेक्षचक्षु-

❀ नयलता ❀

पौद्गलिकत्वाच्च, औपाधिकानां तु तेषामुपाधिविलये मोक्षावस्थायामननुत्तेस्तत्त्वभावत्वाऽयोगात् । अत एवच्छाद्वेषादिगुण-
स्वभावत्वमपि नाऽऽत्मनः सम्भवति, अदृष्टस्य तु पौद्गलिकत्वस्य पूर्वमेव साधनेन गुणत्वाऽयोगाच्चेति प्रसक्तप्रतिषेधादात्मनः
ज्ञानात्मगुणस्वभावत्वं सिध्यतीत्याशयः ।

ननु ज्ञानस्वभावत्वं चेदात्मनः तदा 'आत्मनि ज्ञानमुत्पन्नं विनष्टमि'त्यादिव्यवहारो न स्यात् । न हि जलपरमाणोः
शीतस्पर्शस्वभावत्वे तत्र तदुत्पत्तिविनाशव्यवहारः सम्भवति, सर्वदा तत्र तत्सत्त्वादित्याशङ्क्यामाह - ज्ञानोत्पत्तिव्यवहार इति ।
'आत्मनि ज्ञानमुत्पन्नं' इति शब्दप्रयोगः इति । आवरणविनाशमात् = ज्ञानावरणकर्मविलयात् आविर्भावनिबन्धनः = अभि-
व्यक्तिनिमित्तकः भानुप्रकाशोत्पत्तिव्यवहारवदिति । यथा सवितुः प्रकाशस्वभावत्वेऽपि घनाघनाम्बुवाहच्छन्नदशायां सूर्यप्रकाशो
नोपलभ्यते किन्तु तद्विलयावस्थायामेव । व्यवहरन्ति च लोका अपि तदानीं यदुत 'सूर्यप्रकाश उत्पन्नोऽधुने'ति । पुनश्च
वारिवाहाऽऽवरणकाले 'सूर्यप्रकाशो विनष्ट' इति व्यवहारोऽपि दृष्टचर एव । तथैव प्रकृते आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽपि घन-
ज्ञानावरणकर्मच्छन्नावस्थायां 'मूढोऽयं न वेत्ति किञ्चन' इति व्यवहारः तद्विगमे पुनः 'ज्ञानमुत्पन्नं' तदागमे च 'ज्ञानं विनष्टमि'ति
व्यवहार इति आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽपि ज्ञानावरणविलयादिनिमित्तकज्ञानाविर्भावादिनिमित्तकत्वेनाऽपि ज्ञानोत्पत्तिविनाश-
व्यवहारोपपत्तेरिति तात्पर्यम् ।

ननु ज्ञानस्वभावत्वेऽपि तदाविर्भावे तदुत्पत्तिव्यवहारः तदावरणे च तद्विनाशव्यवहारो न पुनः सर्वथा तदुत्पत्त्यादि-
व्यवहारः इति स्याद्वाच्यभ्युपगमो न युक्तः, तदाविर्भावस्याऽपि सदसद्विकल्पग्रस्तत्वात् । आविर्भावस्य पूर्वं सत्त्वे पूर्वमपि ज्ञानो-
पलब्धिप्रसङ्गात् पूर्वमसत्त्वे च पश्चादयसत्त्वापत्तेरिति शङ्कामपनोदयति - न चेति । तदपाकरणे हेतुमाह - रूपभेदेनैव
सदसत्त्वाऽभ्युपगमादिति । ज्ञानाऽऽविर्भावस्य पूर्वं द्रव्यत्वेन सत्त्वात् पर्यायत्वेन चाऽसत्त्वाच्च दोषः । सदसत्कार्यवादसमर्थक-
पूर्वोक्तयुक्त्यनुसारं भावनीयमिदम् ।

यत्त्विति । 'तद्दूरव्यवधानमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तद्ग्रहार्थं = तमोद्रव्यज्ञानकृते इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वेन ताम-
सेन्द्रियसिद्धिः । तमोद्रव्यत्वसिद्धिश्च कुतः ? इत्यावेदयति तत्सिद्धौ = तामसेन्द्रियसिद्धौ सत्यां च आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्य-

स्वभाव होने पर भी ज्ञानावरण के विलय से ज्ञान का आविर्भाव होता है, उस निमित्त से 'ज्ञानं उत्पन्न' यह व्यवहार हो सकता
है । यह ठीक उसी तरह संगत होता है जैसे सूर्यप्रकाशोत्पत्ति का व्यवहार । सूर्य प्रकाशस्वभाववाला होता है फिर भी जब
वातावरण में बादल छा जाते हैं तब सूर्यप्रकाश नहीं दिखता है, बादलस्वरूप आवरण दूर होने के बाद 'सूर्यप्रकाश उत्पन्न हुआ'
यह व्यवहार सूर्यप्रकाश के आविर्भावस्वरूप निमित्त से होता है । इसी तरह ज्ञानोत्पत्तिव्यवहार भी ज्ञानाविर्भावनिमित्तक हो सकता
है । यहाँ यह शंका करना कि → "ज्ञानाविर्भाव ज्ञानावरणविलय के पूर्व में विद्यमान है या अविद्यमान ? यदि विद्यमान है,
तब तो पूर्व में उसका अनुभव होना चाहिए । यदि पूर्व में वह अविद्यमान है, तो पश्चात् कैसे विद्यमान हो सकेगा ? इसलिए
ज्ञानावरणविलय से ज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिए, न कि आविर्भाव" ← स्याद्वादिमत में संगत नहीं है; क्योंकि ज्ञानाविर्भाव
भी द्रव्यत्वरूप से पूर्व में विद्यमान है, पर्यायरूप से अविद्यमान है । ज्ञानावरणविलय के पश्चात् पर्यायात्मना ज्ञानाविर्भाव विद्यमान
होता है । इसलिए पश्चात् ज्ञान का साक्षात्कार होगा, पूर्व में नहीं । इस विषय का विस्तार से निरूपण प्रकरणकार ने अन्यत्र
किया है, इसलिए विशेष जिज्ञासु अन्य ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हैं ।

ॐ तामसेन्द्रियकल्पना में अन्योन्याश्रय दोष का निराकरण ॐ

यत्तु त. इति । यहाँ प्रकरणकार अन्य विद्वानों के वक्तव्य को खण्डनार्थ बताते हैं । उन मनीषियों का यह कथन
है कि → "अन्धकार जब द्रव्यात्मक सिद्ध हो जाय तब अन्धकारद्रव्यज्ञानार्थ तामसेन्द्रिय की सिद्धि होगी । मगर तामसेन्द्रिय
की सिद्धि होने पर ही आलोकनिरपेक्ष चक्षु से ग्राह्यत्व अन्धकार में माना जा सकता है, जिसके फलस्वरूप में अन्धकार
में द्रव्यत्व की सिद्धि होगी । इस तरह अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि तामस इन्द्रिय की सिद्धि से होगी और तामसेन्द्रिय
की सिद्धि से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि हो सकेगी । इसलिए अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा" ←

ग्रहित्वस्य बाधकस्याऽभावात् तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति कस्यचिदभिधानं
← तदुत्पत्त्यध्यातम्, पेचकादीनां घटादिग्रहार्थमेव साध्यमानस्य तस्य तद्ग्राहकत्वेन सिद्धेः ।
प्राभाकरास्तु आलोकज्ञानाभाव एव तमः । अत एव आलोकवद्गर्भगृहं प्रविशतस्तमोधीः ।

❀ जयलता ❀

त्वस्य = महदुद्भूतानभिभूत-रूपवदालोकनिरपेक्षचक्षुर्गोलकाधिष्ठितेन्द्रियजन्यज्ञाननिरूपितलौकिकविषयत्वस्य. बाधकस्याऽभावात् तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति ज्ञप्तौ अन्योन्याश्रय इति । तदश्रद्धेयत्वमादिष्करोति - पेचकादीनां नक्तं घटादिग्रहार्थमेवेति । एवकारेण 'तमोग्रहार्थ'मित्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । तस्य = तामसेन्द्रियस्य, पेचकादीनां तद्ग्राहकत्वेन = अन्धकारस्थितघटादि-ज्ञानजनकत्वेन, धर्मिग्राहकप्रमाणेन सिद्धेः । नक्तं पेचकादीनां घटादिग्रहान्यधानुपपत्तेः तामसेन्द्रियसिद्धिसम्भवादित्याशयः । इदञ्च परमताभ्युपगमेनोक्तमिति द्रष्टव्यम् । स्वमते तु पूर्वोक्तरीत्या भवप्रत्ययिकज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषलक्षणयोग्यताबलादेव तदुपपत्तेर्न तामसेन्द्रियसिद्धिरिति श्रेयम् ।

प्राभाकरा इति । मीमांसकधुर्यकुमारिलभट्टशिष्य-गुर्वपराभिधान-प्रभाकरमिश्रानुयायिन इति । आलोकज्ञानाभावः = आलोकचाक्षुषाभावः एव तमः । एवकारेण आलोकाभावो द्रव्यं वा न तम इति दर्शितम् । उपलब्धियोग्यालोकाचाक्षुषाभावे सति तमोऽभावाऽप्रतीतिः तमोव्यवहाराच्च तमस उपलब्धियोग्यालोकाचाक्षुषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमेव, लाघवेन समनियतयोरैक्यादिति । जात्यन्ध-निमीलितनयनपुरुषादेरालोकाचाक्षुषाभावेऽतिव्याप्तिवारणार्थं 'उपलब्धियोग्ये'ति विशेषणमिति तेषामाशयः । अत एवेति । तमस आवश्यकाऽऽलोकाऽभावाऽनात्मकत्वादेव । सौरालोकवशात् आलोकवद्गृहं = महदनभिभूतो-द्भूतरूपवता सौरालोकापेक्षया मन्देनाऽलोकेन युक्तं गृहं, प्रविशतः पुरुषादेः क्षणमेकं 'अत्राऽन्धकार' इत्याकारिका तमोधीः उपपद्यते । तमस आवश्यकाऽऽलोकाभावात्मकत्वे तु कथं तादृशप्रतीतिरुपपद्येत ? अतः तमस उपलब्धियोग्याऽऽलोकाचाक्षुषा-भावात्मकत्वमेव युक्तम् । न चैवं सति 'नीलं तम' इति प्रतीतिः कथं सङ्गच्छते ? इति वक्तव्यम्, स्मृतनीलिम्ना सममु-पलब्धियोग्यालोकादर्शनाभावस्याऽसंसर्गाऽग्रहादेव तदुपपत्तेः । अत एव सौरालोकोपेतबहिर्देशालोकवद्गर्भगृहं विशतः पुरुषादेः प्रथममालोकाऽग्रहे 'नीलं तम' इति धीः । तदुक्तं 'अप्रतीतावेव प्रतीतिभ्रमो मन्दानां' () इति तेषामाशयः ।

मगर यह कथन अयुक्त है, क्योंकि तामसेन्द्रिय की सिद्धि के लिए कुमारिलभट्टानुयायी के एकदेशीय की ओर से यह कहा जा सकता है कि तामस इन्द्रिय की सिद्धि अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि पर निर्भर नहीं है, किन्तु उलू आदि को रात्रि में घटादि के साक्षात्कार की अन्यथा अनुपपत्ति पर अवलम्बित है । अन्धकारस्थ घटादि के उलूचाक्षुष के लिए सिद्ध की जाने वाली तामसेन्द्रिय की उसके ग्राहक (= ज्ञान-जनक) रूप में ही सिद्धि हो सकती है । अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि पर तामस इन्द्रिय की सिद्धि आधार नहीं रखती है, जिसके फलस्वरूप में अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो सके ।

❀ आलोकज्ञानाभाव ही अन्धकार है - प्रभाकरमत ❀

प्राभा, इति । मीमांसक के तीन भेद हैं (१) कुमारिलभट्ट के अनुयायी (२) कुमारिलभट्टशिष्य प्रभाकरमिश्र के अनुयायी (३) मुरारिमिश्र के अनुयायी । कुमारिलभट्टानुयायी के एकदेशीय विद्वानों के मत का निरूपण एवं निराकरण कर के प्रकरणकार अब प्रभाकरमिश्र के अनुयायी के मत के खण्डनार्थ पहले उसके मत का प्रतिपादन करते हैं ।

प्रभाकर के अनुयायियों का कहना है कि → "आलोकज्ञान का अभाव ही अन्धकार है । इसका आशय यह है कि जिस स्थान में मनुष्य को आलोक नहीं दीखता, वहाँ वह अन्धकार का व्यवहार करता है, इससे सिद्ध होता है कि आलोकदर्शनाभाव ही अन्धकार है । जब विशेष्यता-सम्बन्ध से या प्रकारतासम्बन्ध से तत्देश में आलोकदर्शन का अभाव होता है, तभी वहाँ अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार होता है । जब मनुष्य बाहर के प्रबल आलोक से गृह के भीतर प्रवेश करता है तो सदसा उसे वहाँ स्थित आलोक का दर्शन (चाक्षुष प्रत्यक्ष) नहीं होता और वह झट से बोल पड़ता है 'अत्र अन्धकारः' = 'यहाँ अन्धेरा है' । इस व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि आलोकदर्शनाभाव ही अन्धकार है, अन्यथा यदि आलोकाभाव तम होता तो आलोक तो वहाँ है ही, फिर आलोकाभावस्वरूप अन्धकार का चाक्षुष एवं व्यवहार कैसे हो सकता ? इस प्रकार आलोकज्ञानाभाव को अन्धकार मानने में युक्ति की अनुकूलता को देख कर प्रभाकरानुयायी कहते हैं कि अन्धकार दूसरा कुछ नहीं है, मगर आलोकदर्शनाभाव है । यह मीमांसक अग्रणी प्रभाकर के अनुयायियों का मन्तव्य है ।

तत्तुच्छम्, एवं सति 'अन्धकारवानहमि'ति प्रतीत्यापत्तेः । न च सम्बन्धविशेषेणालोक-
ज्ञानाभाववत्येव तमःप्रतीतिनियमाऽऽत्तं दोषः, तथा सति 'आलोकज्ञानाभाववानहमि'ति

❀ जयलता ❀

प्रकरणकारः प्राभाकरमतमपाकरोति - तत्तुच्छमिति । एवं सति = तमस आलोकदर्शनाभावात्मकत्वे सति, 'अन्धकार-
वानहमि'ति प्रतीत्यापत्तेः ज्ञानत्वावच्छिन्नस्याऽऽत्मवृत्तित्वेनालोकज्ञानाभावलक्षणान्धकारस्याऽऽत्मवृत्तित्वस्य न्याय्यत्वात् ।
'अन्धकारवद्भूतलमि'त्यादिप्रतीतेरप्रामाण्यं प्रसज्येते'त्यायुपलक्षणादत्र दोषत्वेन लभ्यते ।

नन्दस्माभिर्न समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकालोकदर्शनाभावस्य तमस्त्वमङ्गीक्रियते येन तद्वत्त्यात्मनि तमःप्रतीतिः
प्रसज्येत किन्तु स्वनिरूपितालोकनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-स्वनिरूपितालोकनिष्ठविशेष्यतानिरूपिताऽऽधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्न-
प्रकारताऽन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकचाक्षुषाभावस्यैव तमस्त्वमभ्युपगम्यते । प्रथमसम्बन्धेन 'आलोकवान् देशः' इति
प्रतीतिः द्वितीयसम्बन्धेन च 'देशे आलोक' इति दर्शनं देशे वर्तते । यत्र तु तदन्यतरसम्बन्धेन तादृशचाक्षुषप्रतीतिर्नैव वर्तते
तत्रैव तमःप्रतीतिर्भवतीति नियमः । आत्मनि तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभावो न तूपदर्शितसम्ब-
न्धावच्छिन्न इति 'अन्धकारवानहमि'ति प्रतीतेर्नावकाश इति प्राभाकराशयं दूषयति - न चेति । तदयुक्तत्वमेव द्योतयति -
तथा सतीति । 'दर्शितान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकालोकदर्शनाभाववत्येवाऽन्धकारप्रतीतिव्यवहारौ भवत' इति नियमाऽ-
ङ्गीकारे सति, 'आलोकज्ञानाभाववानहमि'ति प्रतीतेः इति । अपिशब्दस्त्वत्र गहांयां बोध्यः । विलयापत्तेः = कदाऽप्य-

❀ प्रभाकरमतानेकं दल ❀

तत्तुच्छं इति । प्रकरणकार का कहना है कि प्रभाकरमिश्र के अनुयायियों का मत विचार करने पर अयुक्त प्रतीति
होता है, क्योंकि अन्धकार को आलोकज्ञानाभावात्मक मानने पर 'अन्धकारवानहं' = 'मैं अन्धकारवाला हूँ' इस प्रतीति की
आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । आलोकज्ञान का आश्रय आत्मा होने से आत्मा में ही आलोकज्ञानाभावात्मक अन्धकार
की प्रतीति होनी चाहिए, न कि भूतलादि बहिर्देश में । मगर अन्धकार की प्रतीति आत्मा में नहीं होती है किन्तु बाह्य
देश में होती है । इसलिए अन्धकार को आलोकदर्शनाऽभावस्वरूप नहीं माना जा सकता । यहाँ प्रभाकरानुयायी की ओर
से यह कहा जाय कि → "आलोकज्ञान आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने की वजह वहाँ रहने वाला आलोकज्ञानाभाव
भी समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक ही होगा, न कि अन्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक । मगर हम जिस आलोकज्ञानाभाव
को अन्धकारात्मक मानते हैं, वह समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं है, किन्तु अन्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता
का निरूपक है, जो कि बहिर्देश में ही रहता है, न कि आत्मा में । वह सम्बन्ध है स्वनिरूपितालोकनिष्ठप्रकारतानिरूपित
विशेष्यता एवं स्वनिरूपितआलोकनिष्ठविशेष्यतानिरूपित आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता । इन दोनों सम्बन्ध से ज्ञान का न
होना ही अन्धकार है, अर्थात् उक्त विशेष्यता-उक्त प्रकारता-एतदन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुषाभाव = अन्धकार ।
जिस देश में 'आलोकवान् अयं देशः' इस प्रकार आलोक का चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा, उस देश में उक्त विशेष्यतासम्बन्ध से
यह चाक्षुष रहेगा, क्योंकि उक्त चाक्षुष में आलोक प्रकार और देश विशेष्य है । अतः उक्त विशेष्यतासम्बन्ध में 'स्व'शब्द
से उक्त चाक्षुष को लेने पर वह स्वनिरूपितआलोकनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यता सम्बन्ध से देश में रहेगा और जब देश
में 'अत्र देशे आलोकः' इस प्रकार आलोकचाक्षुष होगा तब वह उक्त प्रकारतासम्बन्ध से देश में रहेगा, क्योंकि इस चाक्षुष
में आलोक विशेष्य है और देश उसमें आधेयतासम्बन्ध से प्रकार है । अतः उक्त प्रकारतासम्बन्ध में 'स्व'पद से इस चाक्षुष
को लेने पर वह देश में उक्त प्रकारतासम्बन्ध से रहेगा । जिस देश में जब उक्त चाक्षुष में से कोई भी आलोकचाक्षुष नहीं
रहेगा, वैसी ही स्थिति में वहाँ ही अन्धकारप्रतीति एवं अन्धकारव्यवहार होगा । इसलिए आत्मा में अन्धकार की प्रतीति
का प्रसंग नहीं होगा" ←

❀ 'आलोकज्ञानाभाववान् अहं' - प्रतीति की प्रभाकरमत में अनुपपत्ति ❀

तथा स. इति । तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दर्शित प्रकारतादि सम्बन्ध से आलोकज्ञानाऽभाव के अधिकरण
में ही अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार को अंगीकार करने पर 'आलोकज्ञानाऽभाववान् अहं' इस प्रतीति का विलय होने
की आपत्ति होगी, क्योंकि तादृश प्रकारतादिसम्बन्ध से आलोकज्ञानाभाव बहिर्देश में रहता है, न कि आत्मा में । तथा अन्धकार
और आलोकज्ञानाभाव दोनों एक = अभिन्न ही है । इसलिए अन्धकारात्मक आलोकदर्शनाभाव की प्रतीति आत्मा में कैसे
हो सकती है ? ऐसा कहने से ही यह कथन कि → "विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभाव ही अन्धकार

प्रतीतेरपि विलयापत्तेः । न ह्यालोकज्ञानाऽभावत्वं तमस्त्वादिदानीमतिरिच्यते । एतेन विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽपि तस्य तमस्त्वं प्रत्याख्यातम् ।

किंचैवं तमसश्चाक्षुषत्वं न स्यात्, ज्ञानाभावस्य मानसत्वात् । तथा च 'तमः पश्यामी'ति प्रतीतिः कथमुपपादनीया ? एतेन तदंशेऽलौकिकचाक्षुषमपि प्रत्युक्तम्, बाह्येन्द्रिय-

❀ मयलता ❀

सम्भवप्रसङ्गात् । अत्रैव हेतुमाह - न हीति । आलोकज्ञानाभावत्वं तमस्त्वात् इदानीं = दर्शितनियमाऽङ्गीकारकाले, अतिरिच्यते । उक्तान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नालोकदर्शनत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वलक्षणतमसत्ववदाश्रयत्वं नाऽऽत्मनः किन्तु भूतलादेरेवेति न कदापि आलोकदर्शनाभाववानहमिति प्रतीतिः स्यात् ।

एतेनेति । 'आलोकदर्शनाभाववानहमिति प्रतीत्युच्छेदकप्रसङ्गेनेति । 'प्रत्याख्यातमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य = स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य, अपिशब्देन प्रकारतादिस्वरूपविषयताविशेषसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसमुच्चयः कृतः, तस्य = आलोकदर्शनाभावस्य, तमस्त्वमिति । स्वपदनालोकदर्शनस्य ग्रहणम् । तच्च स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धेन भूतलादौ वर्तते 'आलोकवद्भूतलमि'त्यादिप्रतीतिबलात् । तच्छून्ये च 'तमोवद्गुहादिकमि'ति व्यवहारात् स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभाव एव तम इति प्राभाकराशयः । एवं सति 'आलोकदर्शनाभाववानहमिति प्रतीतिर्न स्यात् । गुहादेरेव विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकालोकदर्शनाभावत्वलक्षणतमस्त्ववदाश्रयत्वादिति भावः ।

दोषान्तरसमुच्चयार्थमाह - किञ्चेति । एवं = तमस आलोकचाक्षुषज्ञानाभावात्मकत्वाऽभ्युपगमे सति, तमसः चाक्षुषत्वं न स्यात्, ज्ञानस्य मानसत्वेन ज्ञानाभावस्य मानसत्वादिति । यो यदिन्द्रियेण गृह्यते तदभावस्तद्रता जातिरपि तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते इति नियमेनाऽऽलोकज्ञानस्य मनोग्राह्यत्वेन तदभावस्याऽपि मनोग्राह्यत्वमेव स्यात्, न तु चक्षुर्ग्राह्यत्वम् । 'इष्टमेवेदमि'त्याऽऽशङ्कतायां प्रकरणकृदाह - तथा चेति । आलोकज्ञानाऽभावलक्षणस्य तमसो मानसत्वेऽभ्युपगम्यमाने 'तमः पश्यामी'ति प्रतीतिः कथं प्रमात्वेन उपपादनीया ? न च तस्याः प्रमात्वमपह्नोतुमुचितम्, तस्याः सार्वजनीनत्वात्, बाधकाऽभावात् । एतेन तमस आलोककालाऽभावात्मकत्वमपि प्रत्युक्तम्, कालस्याऽतीन्द्रियत्वेन तदभावस्वरूपस्य तमसोऽप्रत्यक्षत्वापत्तेः ।

एतेनेति । अस्य 'प्रत्युक्तमि'त्यनेनाऽन्वयः । तदंशे = तमोऽंशे, अलौकिकचाक्षुषं = ज्ञानलक्षणसन्निकर्षप्रयोज्यविषयतावचाक्षुषम् । यथा 'सुरभि चन्दनमि'ति प्रतीतिः सौरभांशेऽलौकिकचाक्षुषं चन्दनांशे च लौकिकचाक्षुषं तथैव 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतिः तमोऽंशेऽलौकिकचाक्षुषं 'पश्यामी'त्यंशे लौकिकचाक्षुषं 'पश्यामी'तिविषयतायाः चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्षनियम्यत्वादिति भावः । तदपाकरणे प्रकरणकारो हेतुमाह - बाह्येन्द्रियज्ञाने = मनोभिन्नेन्द्रियजन्यज्ञाने, उपनीतस्य = ज्ञानलक्षणसन्निकर्षो-

हे" <- भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि विषयतासम्बन्ध से आलोकदर्शन बहिर्देश में रहने से विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभाव भी बहिर्देश में ही रहने की वजह आत्मा में आलोकज्ञानाभाव की = 'आलोकदर्शनाभाववानह' इस प्रतीति का उच्छेद हो जायेगा ।

❀ 'तमः पश्यामि' इत्यादि प्रतीति की प्रमाकलमत में अनुपपत्ते ❀

किंच. इति । दूसरी बात यह है कि अन्धकार को आलोकदर्शनाभावात्मक मानने पर 'तमः पश्यामि' = 'मैं अन्धकार को देखता हूँ' इस प्रतीति की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि अन्धकार आलोकचाक्षुषाभावात्मक है और आलोकचाक्षुषप्रत्यक्ष मनोग्राह्य होने से उसका अभावस्वरूप अन्धकार भी मनोग्राह्य ही होगा, न कि चक्षुर्ग्राह्य । जब कि 'तमः पश्यामि' यह प्रतीति चक्षु इन्द्रियजन्य है, न कि मनोजन्य । मतलब कि 'तमः पश्यामि' इस प्रतीति से अन्धकार चक्षुर्ग्राह्यत्वेन सिद्ध होने से उसे आलोकज्ञानाभावस्वरूप नहीं माना जा सकता । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि -> "अन्धकार को मैं देखता हूँ - यह प्रतीति अन्धकारांश में अलौकिक चाक्षुषात्मक है यानी ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से जन्य है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि आलोकदर्शनाभाव का ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से भान हो सकता है" <- यह कथन इसलिए अयुक्त है कि 'ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से उपस्थापित का बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में विशेषणविधया ही भान होता है, न कि विशेष्यविधया भी' इस नियम के बल से अन्धकार का विशेषणविधया ही अलौकिक चाक्षुष में भान हो सकता है । जैसे चन्दन को देख कर सौरभ का स्मरण होने पर 'सुरभि चन्दन' ऐसे बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में उपनीत = ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से उपस्थापित सौरभ का चन्दन

ज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वेनैव भाननियमात् 'नीलं तम' इति प्रतीत्यनापत्तेश्चेति किम-
धिकमन्दविवादक्षोदेन ।

प्रगल्भस्तु प्रकाशकरूपाभाव एव तमः, प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्य तथात्वे

✽ जयलता ✽

पस्थापितस्य, विशेषणत्वेनैव भाननियमादिति । एवकारेण विशेष्यत्वेन तद्भानप्रतिक्षेपः कृतः । 'तमः पश्यामी'ति बहि-
रिन्द्रियजन्यज्ञाने आलोकज्ञानाऽभावलक्षणस्य तमसो विशेष्यत्वेनैव भासनात् तदंशेऽलौकिकचाक्षुषत्वं सम्भवतीति भावः । तत
एव दोषान्तरमाह - 'नीलं तम' इति प्रतीत्यनापत्तेश्चेति । आलोकज्ञानाभावस्य नीरूपत्वेन तत्स्वरूपे तमसि नीलत्वभानाऽ-
नुपपत्तेः । एतेन 'नीलं तम' इति धीस्तु स्मृतनीलिम्ना समालोकज्ञानाभावस्याऽसंसर्गाऽग्रहादित्यपि प्रत्याख्यातम्, तथाननु-
भवात्, अप्रामाणिकगौरवात्, अस्खलद्भूतेश्च तस्या 'इदं रजतमि'त्यादिप्रतीतिवदसंसर्गाऽग्रहेणोपपादनाऽसम्भवात् । सौरालोकाद्
मध्यंदिने आलोकवद्गर्भगृहं प्रविशतः तमःप्रत्ययश्च भ्रम एव, आलोकज्ञानप्रतिबन्धकदोषस्य तत्र स्वीकारावश्यकत्वादिति दिक् ।

मीमांसाकुतूहले तु कमलाकरभट्टेन प्रभाकरमतमनोदयता 'सौरालोकेऽपि तदप्रतिसन्धाने तमस्त्वापत्तिः, तमसि
आलोकस्मरणे तदभावापत्तेश्च' (मी.कु.) इत्याद्युक्तम् ।

वस्तुतस्तु क्षयोपशमविशेषस्यैव चाक्षुषविषयतानियामकत्वं चक्षुरादेस्तु तत्रैवोपक्षीणत्वाच्चाक्षुषं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । इत्थ-
मेव जात्यन्धानामपि चाक्षुषमुपपद्यते । तदुक्तं व्यवहारसूत्रभाष्ये 'जो जाणइ य जचंधो वन्ने रूवे विकप्पसो । न ते बाव-
रिते तस्य विन्नाणं तं तु चिद्धइ ॥ (व्य.उ.१०, भा.गा.६६) इति । अत्र मलयगिरिसूरिवृत्तिश्चैवं - 'यो नाम जात्यन्धः
स्पष्टचक्षुर्वर्णान् रूपाणि च विकल्पशोऽनेकप्रकारं जानाति तस्य नेत्रेऽप्यावृते तत् विज्ञानं तिष्ठति अन्धीभूतोपि वर्णविशेषान्
रूपविशेषांश्च स्पर्शतो जानातीत्यर्थः' (व्य.सू.उ.२०, भा.गा.६६ वृ.) । इत्थमेव 'स्वप्ने रथादयो मया दृष्टा' इत्यादिप्रतीतेर्मु-
ख्यार्थत्वमायुष्यदृष्टा इति विभावनीयं कोविदेः ।

प्रगल्भ इति । तत्त्वचिन्तामणिव्याख्याकारविशेषः । तुः पूर्वोपदर्शितमतापेक्षया विशेषणे । तदेवाऽऽह - प्रकाशकरूपाऽ-
भाव एव तमः । एवकारेण प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभाव-मदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावाऽऽलोकज्ञानाभावाऽऽलोक-
कालविशेषाभावाऽतिरिक्तद्रव्यादेर्व्यवच्छेदः कृतः । तदेव लेशतो दर्शयति - प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्य = प्रौढ-

के विशेषणरूप में ही भान होता है, न कि विशेष्यरूप से । ठीक वैसे ही आलोकदर्शनाभावस्वरूप अन्धकार का उपनीतभान
मानने पर उसका चाक्षुषजन्य ज्ञान में विशेषणविधया ही भान होना चाहिए मगर 'तमः पश्यामि' इस चाक्षुष प्रतीति
में तमस्त्व के विशेष्यरूप में ही अन्धकार का भान होता है । इसलिए उक्त प्रतीति को अन्धकारांश में अलौकिक नहीं
मानी जा सकती । इसी तरह 'नीलं तमः' यह चाक्षुष प्रतीति भी अन्धकार को आलोकज्ञानाभावात्मक मानने पर प्रभाकर
मत में अनुपपन्न ही रहेगी, क्योंकि नील रूप कभी अभाव में नहीं होता है । अभाव तो नीरूप होता है । अतः नील
रूप के विशेष्यरूप में अन्धकार का प्रामाणिक चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रभाकरमत में अनुपपन्न ही रहेगा । इस तरह अन्धकार को
आलोकदर्शनाभावात्मक मानने पर अनेक दोषों की परम्परा प्राप्त होने से प्रभाकरमत मान्य नहीं हो सकता । मंद व्यक्ति
के साथ बहुत विवाद के परिश्रम से क्या फायदा ?

✽ प्रकाशकरूपाभाव ही अन्धकार - प्रगल्भ ✽

प्रगल्भ इति । यहाँ प्रकरणकार श्रीमद्जी तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थ के व्याख्याकार नव्यनैयायिक प्रगल्भ के मत का निरूपण
करते हैं । प्रगल्भ का कहना है कि अन्धकार और कुछ नहीं है, मगर प्रकाशकरूपाभाव ही अन्धकार है । जहाँ जहाँ प्रकाशक
रूप का अभाव होता है वहाँ वहाँ अन्धकार का व्यवहार होता है, न कि अन्यत्र । अतः लाघवसहकार से अन्धकार को
प्रकाशक-रूपाभावस्वरूप ही मानना उचित है । प्रौढ प्रकाशक यावत्तेजद्रव्य के संसर्गाभाव को तो अन्धकार नहीं माना जा
सकता । इसका कारण यह है कि प्रौढप्रकाशक यावत्तेजद्रव्य में चन्द्र, तारा, नक्षत्र आदि की प्रभा का भी समावेश होता
है । मगर चन्द्रादि की प्रभा तो अतीन्द्रिय है, क्योंकि उसमें उद्भूत रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श नहीं होता है । चन्द्रादि
की प्रभा के स्पर्श का हमें कोई अनुभव नहीं होता है, तब उसे उद्भूत कैसे माना जाय ? बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में केवल
उद्भूत रूप नियामक नहीं है, किन्तु उद्भूत स्पर्श भी नियामक है । जैसे जहाँ उद्भूत रूप नहीं होता है, उसका साक्षात्कार
नहीं होता है । ठीक वैसे ही जिसमें उद्भूत स्पर्श नहीं होता है उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता है । अतः उद्भूत रूप को

तमसोऽतीन्द्रियत्वापत्तेः, अतीन्द्रियचन्द्रादिप्रभाप्रतियोगिकत्वात् विनिगमनाविरहेणोद्भूतरूप-
वत्त्वस्यैवोद्भूतरूपवत्त्वस्याऽपि प्रत्यक्षतायां तन्वत्त्वात् तस्याऽतीन्द्रियत्वादिति । स पुनर-
प्रगल्भः, योग्यताविशेषस्यैव प्रत्यक्षप्रयोजकत्वात् ।

ॐ अथलता ॐ

प्रकाशकतेजस्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकसंसर्गाभावस्य, तथात्वे = तमस्त्वे, तमसोऽतीन्द्रियत्वापत्तेः । तत्र हेतुमाह - अतीन्द्रिय-
चन्द्रादिप्रभाप्रतियोगिकत्वादिति । बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षाऽगोचरचन्द्र-तारक-ग्रहादिप्रभानिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्वात्,
अतीन्द्रियप्रतियोगिकत्वेन प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावलक्षणस्य तमसोऽतीन्द्रियत्वस्य न्याय्यत्वात् । प्रतियोगिनः चन्द्रादि-
प्रभालक्षणस्य कथमतीन्द्रियत्वं उद्भूतरूपवत्त्वस्य तत्राऽबाधात् ? इत्याशङ्कानिराकरणायाऽऽह-विनिगमनाविरहेण = विनिगम-
काभावेन उद्भूतरूपवत्त्वस्यैवोद्भूतरूपवत्त्वस्याऽपि प्रत्यक्षतायां = बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षतायां तन्वत्त्वात् = नियामक-
त्वात्, उद्भूतरूपवत्त्वस्यैवोद्भूतरूपवत्त्वस्याऽपि प्रत्यक्षतायां = चन्द्रप्रभादेः, अतीन्द्रियत्वात् = प्रत्यक्षत्वाऽसम्भवात् । चन्द्रप्रभादेः प्रौढप्रकाशकयावदन्तर्गत-
व्येन तत्प्रतियोगिकसंसर्गाभावलक्षणस्य तमसोऽप्यतीन्द्रियत्वस्य वज्रलेपायित्वम् । न च तमसोऽतीन्द्रियत्वम्, 'तमः साक्षात्क-
रोमी'ति प्रतीतेः सर्वानुभवसिद्धत्वात् । अत एव तमसो न प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावत्वात्मकत्वं किन्तु प्रकाशक-
रूपाभावत्वमेव । युक्तश्चेतत्, प्रकाशकरूपे सति तत्र तमोऽज्ञानात्, प्रकाशकरूपाभावे सति च तदाश्रये तमोव्यवहारात्तयोः
समनैयत्येनैक्यादिति प्रगल्भाभिप्रायः ।

प्रकरणकारः तन्मतमपाकर्तुमुपक्रमते - स = प्रगल्भः, पुनः अप्रगल्भः = अप्रवीणमतिः । स न यथा नाम तथा
गुण इत्यर्थः तदेव भावयति - योग्यताविशेषस्य = तदंशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणस्य आत्मनिष्ठस्य प्राग्व्यावर्णितस्व-
रूपस्य, एव प्रत्यक्षप्रयोजकत्वात् = साक्षात्कारविषयतानियामकत्वात् । एवकारेण विषयनिष्ठोद्भूतरूपस्पर्शोभयव्यवच्छेदः
कृतः । चन्द्रादिप्रभाप्रत्यक्षेऽस्मदादियोग्यताविशेषस्याऽपेक्षितत्वात्, तस्य चाऽस्मदादिष्वबाधान्न चन्द्रादिप्रभाया अतीन्द्रियत्वं वक्तुं
युज्यते । अत एव प्रगल्भं प्रत्यस्माभिः 'प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्य तमस्त्वमि'त्युक्तौ न तेन किञ्चिद्वक्तुं पार्यते ।
इदञ्च 'प्रौढिवादेन ज्ञेयम्, स्वमते तमसो द्रव्यत्वादिति ध्येयम् ।

ननु योग्यताविशेषस्य द्रव्यप्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वाभिधानं तु स्वगृहे एव प्रणिगद्यमानं शोभते न तु विद्वत्सभायामिति

ही प्रत्यक्षविषयता का नियामक माना जाय, न कि उद्भूत स्पर्श को - इस विषय में कोई विनिगमक यानी एकतरपक्षपाती
अनुकूल तर्क ही नहीं होने से दोनों को प्रत्यक्षविषयता का प्रयोजक मानना चाहिए । चन्द्रादि की प्रभा में उद्भूत रूप नहीं
होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । चन्द्रादि की प्रभा में उद्भूत रूप नहीं होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।
चन्द्रादि की प्रभा अतीन्द्रिय होने की वजह उसके अभावस्वरूप अन्धकार के भी अतीन्द्रिय होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि
जिस अभाव का प्रतियोगी अतीन्द्रिय होता है, वह अभाव भी अतीन्द्रिय ही होता है, जैसे पिशाचाऽभाव । अतः प्रौढप्रकाशक
यावत्तेजद्रव्य के संसर्गाभाव को अन्धकाररूप मानने में तम अतीन्द्रिय होने की समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहती है । अतः
प्रकाशकरूपाभाव को ही अन्धकारस्वरूप मानना तर्कसंगत है ।

ॐ प्रागल्भमतीनेराकरण ॐ

स पुन. इति । प्रकरणकार कहते हैं कि प्रगल्भ निपुणमतिवाला नहीं है । इसका कारण यह है कि प्रौढप्रकाशक यावत्तेजद्रव्य
के संसर्गाभाव को अन्धकार नहीं मानने में उसने जो युक्ति दिखाई थी कि → 'प्रत्यक्षविषयता में उद्भूत स्पर्श भी विनिगमकाभाव
से नियामक होने से उससे शून्य चन्द्रादिप्रभा अतीन्द्रिय बनती है । अतएव तदभावात्मक अन्धकार अतीन्द्रिय बनेगा' ←
यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि प्रत्यक्षविषयता में योग्यताविशेष ही प्रयोजक है । योग्यताविशेष होने की वजह
ही चैत्रादि को चन्द्रादि की प्रभा का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधक नहीं है । अतएव चन्द्रादि की प्रभा को अतीन्द्रिय नहीं
मानी जा सकती । चन्द्रादि की प्रभा का साक्षात्कार अनेक आदमी को होता ही है । अतः अन्धकार अतीन्द्रियप्रतियोगिक
प्रौढप्रकाशकयावत्तेजद्रव्यसंसर्गाभावात्मक होने की और उसीकी वजह अन्धकार के अतीन्द्रियत्व = अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति
को अवकाश नहीं है । दूसरी बात यह है कि प्रगल्भ को भी द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूत रूप को ही हेतु मानना उचित
है । जिस द्रव्य में उद्भूत रूप होता है, उसका चाक्षुष होता है, जैसे घट का । जिस द्रव्य में उद्भूत रूप नहीं होता है

किञ्च, परेणाऽपि द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपस्य हेतुत्वं वाच्यम् । न च तत्र (तत्र च न ?) उद्भूतस्पर्शवत्त्वस्याऽपि तथात्वे विनिगमकाभावः; वायोश्चाक्षुषत्वापत्तेरेव विनिगमकत्वात् । न च बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रत्येवोद्भूतरूपस्पर्शोभयत्वेन हेतुताऽस्तु, द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्युद्भूतरूपस्य द्रव्यस्पर्शनत्वावच्छिन्नं प्रत्युद्भूतस्पर्शस्य च

❀ जयलता ❀

पराशङ्क्यामाह - किञ्चेति । परेणाऽपि = प्रगल्भेनापि, द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं = द्रव्यविषयकलौकिकचाक्षुषमात्रं, प्रति उद्भूतरूपस्य हेतुत्वं वाच्यम् । तथा च न चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्याऽतीन्द्रियत्वम्, तस्योद्भूतरूपवत्त्वात् । अत एव प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्य नातीन्द्रियत्वप्रसङ्गः, येन प्रकाशकरूपाभावस्यैव तमस्त्वाऽभ्युपगमः चारुतामन्वत् । पराशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते - न चेति । तत्र = द्रव्यगोचरलौकिकचाक्षुषत्वावच्छिन्ने, उद्भूतरूपवत् उद्भूतस्पर्शवत्त्वस्याऽपि तथात्वे = कारणत्वे, विनिगमकाभावः । द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवत्त्वस्य हेतुत्वमाहोस्वित् उद्भूतस्पर्शवत्त्वस्य ? इत्यत्रैकतरपक्षपातियुक्तिविरहेण मयोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्यैव तथात्वमुपेयते त्वयोद्भूतरूपवत्त्वस्यैव । तथा च चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्य न चाक्षुषत्वम्, उद्भूतस्पर्शशून्यत्वात्तस्येति प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्यैव तमस्त्वे तमसोऽतीन्द्रियत्वस्य दुर्धारत्वमिति शङ्काशयः । तस्या अयुक्तत्वमादिष्करोति प्रकरणकृत् - वायोश्चाक्षुषत्वापत्तेरेव विनिगमकत्वादिति । यदि चोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्यैव द्रव्यचाक्षुषकारणत्वं स्यात्तर्हि वायोऽुद्भूतस्पर्शवत्त्वेन चाक्षुषत्वं स्यात् । न च तथा, तस्मान्नोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्य द्रव्यलौकिकचाक्षुषहेतुत्वमिति समाधानाशयः ।

न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं = बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यगोचरलौकिकप्रत्यक्षमात्रं, प्रत्येव उद्भूतरूप-स्पर्शोभयत्वेनेति । एवकारो घण्टालोलान्धायेनाऽभिसम्बध्यते, 'उद्भूते'त्याद्यदीपकन्यायेनाऽग्रे स्पर्शेनाऽपि साकमन्वीयते । हेतुताऽस्त्विति । लाघवादिति गम्यते । चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्योद्भूतरूपवत्त्वेऽयुद्भूतस्पर्शशून्यत्वेन 'एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ती'ति न्यायादुद्भूतरूपस्पर्शोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्वान्न प्रत्यक्षत्वम् । अतः प्रौढप्रकाशकयावत्तेजोद्रव्यसंसर्गाभावस्य तमस्त्वे तमसोऽतीन्द्रियत्वापत्त्या प्रकाशकरूपाभावस्यैव तमस्त्वमभ्युपगन्तुमर्हतीति प्रगल्भाभिप्राय उन्नीयते । पूर्वोक्तैवकारफलं दर्शयति - द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं = विषयतासम्बन्धेन द्रव्यविषयकलौकिकचाक्षुषमात्रं प्रति समवायेन उद्भूतरूपस्य द्रव्यस्पर्शनत्वावच्छिन्नं = विषयतासम्बन्धेन द्रव्यविषयकलौकिकस्पर्शमात्रं प्रति समवायेन उद्भूतस्पर्शस्य च इति हेतुताद्वय-

उसका चाक्षुष नहीं होता है जैसे जलस्थ तेजद्रव्य, चक्षुरग्नि आदि का । चन्द्रादि की प्रभा में उद्भूत रूप तो स्वानुभवसिद्ध ही होने से चन्द्रादि की प्रभा का चाक्षुष होने में नैयायिकमतानुसार भी कोई बाधक नहीं है । अतएव चन्द्रादि की प्रभा को अतीन्द्रिय द्रव्य नहीं कहा जा सकता । इस तरह परमतानुसार भी चन्द्रादिप्रभाद्रव्य चाक्षुषयोग्य होने से प्रौढप्रकाशकयावत्तेजो-द्रव्यसंसर्गाभाव को अतीन्द्रिय नहीं कहा जा सकता । यहाँ यह शंका करना कि —> “द्रव्यविषयक चाक्षुष के प्रति द्रव्यसम्बन्धेन उद्भूत रूप को हेतु मानना या उद्भूत स्पर्श को ? इस विषय में कोई नियामक = विनिगमक नहीं होने से उद्भूत स्पर्श को ही द्रव्यचाक्षुष का कारण माना जा सकता है । चन्द्रादि की प्रभा में, जो द्रव्यात्मक है, उद्भूत स्पर्श न होने से उसका चाक्षुष नहीं हो सकता है । अतएव अन्यकार को प्रौढप्रकाशक यावत्तेजोद्रव्य के संसर्गाभावात्मक मानने पर अन्यकार में अतीन्द्रियत्व की आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है” <— ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यचाक्षुष में उद्भूत स्पर्श को कारण मानने पर वायु का चाक्षुष होने की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है, क्योंकि वायु में उद्भूत स्पर्श तो रहता ही है । मगर वायु द्रव्य का कभी भी चाक्षुष नहीं होता है । इससे ही निश्चय होता है कि द्रव्यविषयक लौकिक चाक्षुष में उद्भूत स्पर्श कारण नहीं है, किन्तु उद्भूत रूप ही कारण है । उद्भूत रूप तो चन्द्रादि की प्रभा में अवागिन होने से उसका चाक्षुष हो सकता ही है । अतः उक्तस्वरूप अन्यकार के अतीन्द्रियत्व होने की समस्या का अवकाश नहीं है ।

❀ उद्भूतरूप-स्पर्शोभय में बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष की कारणता नामुमकिन ❀

न च बहि. इति । यदि प्रगल्भ की ओर से यह कहा जाय कि —> “बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत रूप एवं उद्भूत स्पर्श उभय को ही हेतु मानना उचित है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक कार्यकारणभाव की ही कल्पना करनी पड़ती है । जब कि द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न = यावत् द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूत रूप को कारण मानने पर द्रव्यस्पर्शनत्वावच्छिन्न = यावत् द्रव्यविषयक स्पर्शनेन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति उद्भूत स्पर्श को कारण मानना पड़ेगा । इस तरह दो कार्य-कारणभाव

हेतुताद्वयकल्पने गौरवादिति वाच्यम्, उभयत्वस्यैकविशिष्टाऽपरतया विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात् ।

❀ जयलता ❀

कल्पने गौरवादिति । पृथक्कार्यकारणभावद्वयकल्पनागौरवस्य पूर्वमेवोपस्थितेर्द्रव्यलौकिकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेनोद्भूत-
रूपस्य न हेतुत्वं सम्भवति येन चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्याऽतीन्द्रियत्वं न स्यात् ।
ततः प्रकाशकरूपाभावस्यैव तमस्त्वमभ्युपगन्तुमर्हतीति प्रगल्भतात्पर्यम् ।

तद्व्यपोहाय प्रकरणकारो यत्ते - उभयत्वस्येति । एकविशिष्टापरतया विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादिति ।
उद्भूतरूपस्पर्शोभयस्य बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकद्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वे कारणतावच्छेदकीभूतोभयत्वं किं प्रकृते
उद्भूतरूपविशिष्टोद्भूतस्पर्शत्वरूपं यदुतोद्भूतस्पर्शविशिष्टोद्भूतरूपत्वरूपं ? इत्यत्र विनिगमकाभावाद् द्वयोः कारणतावच्छेदकत्वकल्पना-
गौरवस्याऽधिकदोषत्वात् । न च पूर्वं 'अविशिष्टयोरपि गोत्वाऽश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वात्' (दृश्यतां ९० तमे
पृष्ठे प्रथम खण्डे) इत्युक्तं साम्प्रतश्चोभयत्वमेकविशिष्टाऽपरत्वलक्षणमुक्तमिति कथं न पूर्वापरविरोध इति वक्तव्यम्, प्रगल्भमते
उभयत्वस्यैकविशिष्टाऽपरत्वात्मकत्वेन प्रकृते तत्पुरतः तथाकथने दोषाभावात् ।

वस्तुतस्तु उभयत्वं न सर्वथाऽतिरिक्तम्, अविशिष्टयोरपि एकज्ञानविषयत्वादिसम्बन्धेन वैशिष्ट्यस्य सम्भवात् । एतेन
'उभयत्वं हि न विशिष्टत्वादनतिरिक्तं न वा तदवच्छिन्नाभावरतदवच्छिन्नाभावात्, वैशिष्ट्यविरहेऽपि घटत्व-पटत्वयोरुभयत्वस्य
उभयत्वेन तदभावस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात्' (सि.दी. पृ.८४) इति सिद्धान्तलक्षणदीधितिकारवचनमपि प्रत्याख्यातम् ।

अभ्युपगमवादेन उभयत्वस्याऽतिरिक्तत्वाऽङ्गीकारेऽपि प्रकृते उद्भूतरूपस्पर्शोभयस्य बहिरिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारे चाक्षुषे
स्पर्शने च प्रत्येकं हेतुता पर्यवस्यतीति प्रगल्भमते गौरवमनिवारितमेवेति द्रव्यचाक्षुषे उद्भूतरूपस्य द्रव्य-स्पर्शने चोद्भूतस्पर्श-
स्यैव हेतुत्वाऽभ्युपगम उचितः । एतेन चासुर्यदि बहिरिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारविषयत्वं स्पर्शनसाक्षात्कारगोचरद्रव्यं वा स्यात्,
उद्भूतरूपः स्यात्, तादृशसाक्षात्कारविषयद्रव्यस्योद्भूतरूपजनकत्वनियमादिति प्रत्युक्तम्, द्रव्यस्य रूपवत्समवेतत्वेनैव रूपजनक-
त्वात् न तु तादृशसाक्षात्कारविषयद्रव्यत्वेन, कारणतावच्छेदकधर्मगौरवात्, तस्य रूपजननोत्तरकालीनत्वाच्च । अत एव स्पर्शनत्वे
उद्भूतस्पर्शवदुद्भूतरूपमपि तन्त्रं उद्भूतरूपवत्त्वे चाक्षुषत्ववत् स्पर्शनत्वदर्शनादिति पराकृतम्, उद्भूतरूपवत्त्वे सत्यपि प्रभाया
अस्पर्शनत्वेनोद्भूतस्पर्शस्याऽऽवश्यकत्वे उद्भूतरूपस्याऽन्यथासिद्धत्वात् । न हि उद्भूतस्पर्शे सत्युद्भूतरूपाभावात् द्रव्ये स्पर्शन-
त्वाऽभावो दृष्टचरः ।

यत्तु नव्यमतं दर्शयता गङ्गेशेन 'द्रव्यस्य स्पर्शनत्वे उद्भूतस्पर्शमात्रं न तन्त्रं, निदाशोष्मणि वायूपनीतशीतोष्णद्रव्ये
च प्रत्यक्षत्वेन तद्रतसङ्ख्या-परिमाण-संयोग-विभाग-कर्मणां प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, योग्यव्यक्तिवृत्तित्वेन तेषां योग्यतया द्रव्य-
ग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वाऽवधारणात् । न चोष्मादिजातीये दोषाभावेऽपि घटादाविव करपरामर्शे कदाचित् केनाऽपि सङ्ख्या गृह्यते ।
तथोद्भूतरूपवत्त्वमात्रस्य तथात्वे चान्द्राद्युद्योतस्य नयनगतपित्तद्रव्यस्य च प्रत्यक्षत्वे तद्रतसङ्ख्याग्रहोऽपि स्यात् । न च घटा-
दाविव निपुणं निभालयन्तोऽपि तद्रतसङ्ख्याद्वित्वादि हस्तवितस्त्यादिपरिमाणं कर्म वा वीक्षामहे इत्येकैकव्यभिचाराद्विनिगम-
काभावादुभयमपि बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षत्वे प्रयोजकमिति वायुरप्रत्यक्ष' (त.चिं.प्र.ख. पृ.७३८) इत्युक्तं तत्तु जयदेवभिधेयैव
तत्त्वचिन्तामण्यालोके उभयप्रयोजकतागौरवदोषेण दूषितम् ।

वस्तुतस्तु 'वातं स्पृशामी'त्याद्यबाधितानुभवबलाद्वायोः स्पर्शनत्वमेव । न च दोषाऽभावे सति द्रव्यग्रहे तद्रतसङ्ख्या-
दिग्रहनिषमाद् वायौ सर्वथा तद्ग्रहात्र स प्रत्यक्ष इति वाच्यम्, यतो न तावदयं व्यक्तौ नियमः, पृष्ठलम्नवस्त्रादेः सङ्ख्या-
परिमाणाऽग्रहेऽपि त्वचा तद्ग्रहात् । नाऽपि तज्जातीयं, फूत्कारादौ सङ्ख्या-परिमाणादीनां वाय्वभिधातस्य च शरीरे प्रत्यक्ष-

की कल्पना करनी पड़ेगी, जो कि गौरवग्रस्त होने से उपादेय नहीं हो सकती । अतः लाघवसङ्कार से द्रव्यचाक्षुषमात्र, जो
बहिरिन्द्रियजन्य हो, उसके प्रति उद्भूतरूप-स्पर्शोभय को ही कारण मानना उचित है । चन्द्रादि की प्रभा में उद्भूत रूप होने
पर भी उद्भूत स्पर्श नहीं होने की वजह 'एकसत्त्वेऽपि उभयं नास्ति' न्याय से उभयाऽभाव सिद्ध होता है । कारण के अभाव
से चन्द्रादि की प्रभा का बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । अतएव उसमें अतीन्द्रियत्व की सिद्धि से प्रौढप्रकाशक
यावत्तेजोद्रव्य के संसर्गाभावात्मक अन्धकार के अतीन्द्रियत्व का प्रसङ्ग ज्यों का त्यों बना रहता है" —> तो यह भी ठीक
नहीं है । इसका कारण यह है कि उभयत्व एकविशिष्टाऽपरत्वस्वरूप है, न कि प्रत्येक से अतिरिक्तरूप । अतएव विशेषणविशेष्यभाव

किञ्च प्रकाशकरूपाभावस्य तमस्तु पृथिव्यादौ सदा तमोव्यवहारापत्तिः, समवायेन

❀ गयलता ❀

त्वात् । यद्वा मास्तु वायूष्मादेः त्वचसाक्षात्कारः मास्तु च संख्या-परिमाणादिसाधारणव्यासज्यवृत्तिगुणत्वावच्छिन्नं प्रति आश्रयत्वाच्चाभावस्य प्रतिबन्धकतया वाय्वादिवृत्तिसङ्ख्यागुणस्यापि त्वचादिसाक्षात्कारः परन्तु वाय्वादिवृत्तिक्रियायाः वाय्वादि-घटितसन्निकर्षेण वाय्वादिवृत्तिवानुल्लेख-द्रव्यत्वादिज्ञातेष्व त्वचसाक्षात्कारस्तु गीमांसकाभिमतो दुर्वार एव, द्रव्यान्य-द्रव्य-समवेतत्वावच्छिन्नं प्रति त्वक्संयुक्तप्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शवत्समवायत्वेनैव प्रत्यासत्तित्वात् । त्वक्संयुक्तप्रकृष्टमहत्त्वोद्-भूतरूपस्पर्शवत्समवायत्वेन प्रत्यासत्तित्वे गौरवात्, वायूष्मादिस्पर्शत्वाचे व्यभिचाराच्चेति भावनीयम् ।

नव्यास्तु 'बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं कारणं, प्रमाणाऽभावात्किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पर्शने च स्पर्शः कारणं, अन्वयव्यतिरेकात् । 'बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने किं कारणं ?' इति चेत्, न किञ्चिदपि, आत्माऽवृत्ति-शब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु । 'रूपस्य कारणत्वे लाघवमि'ति चेत् ? न, वायोस्त्वगिन्द्रियेणाऽग्रहणप्रसङ्गात् । इष्टापत्तिरिति चेत् ? तर्हि उद्भूतस्पर्शस्यैव तथात्वं किं न स्यात् ? प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तेः सम्भवात् । न च 'प्रभां' पश्यामी'त्यनुव्यवसायस्यैव प्रभाप्रत्यक्षत्वे प्रमाणत्वान्नैवमिति वक्तव्यम्, 'वायुं स्पृशामी'त्यनुव्यवसायस्याऽपि वायुस्पर्शानुसंधाने बद्धकक्षत्वात् । प्रभावत् वायोरप्येकत्वं गृह्यत एव, क्वचित् सङ्ख्यापरिमाणाद्यग्रहो सजातीयसंवलनादिस्वरूपदोषादित्याहुः ।

यत्तु दिनकरेण 'प्रभाया अप्रत्यक्षे त्विष्टापत्तिरित्येव किं न स्यादिति तदपि न 'उपरिदेशो विहङ्गम' इत्यत्र प्रभामण्डलस्यैवोपरिदेशतया तत्प्रत्यक्षं विनोपरिदेशे विहङ्गम इति प्रत्यक्षानुपपत्तेः' (मु.दि. पृ. ४२५) इत्युक्तं तन्न मनोरमम्, शाब्दबोधे प्रथमान्तपदोपस्थाप्यस्यैव मुख्यविशेष्यतया भाननियमेन उपरिदेशस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तस्य विहङ्गमविशेषणतयोप-नीतभानसम्भवादनुपपत्त्यभावात् ।

यदपि रामरुद्रीये 'उपनीतं विशेषणतयैव भासत इति नियमादुपरिदेशस्याऽप्रत्यक्षत्वे तस्य प्रत्यक्षे मुख्यविशेष्यतया भानानुपपत्तिः, वायोरप्रत्यक्षत्वे तु न काचिदनुपपत्तिरस्ति' (मु.रा. पृ. ४२५) इत्युक्तं तदपि न चारु, 'शीतं वायुं स्पृशामी'त्यबाधितानुव्यवसायानुपपत्तेरेव वायोः स्पर्शानत्वे प्रमाणत्वात् । एतेन शरीरवायुसंयोगानन्तरं 'शीतो वायुर्वाती'त्यादि-वायुमुख्यविशेष्यकलौकिकसाक्षात्कारो न स्पर्शनः परन्तु मानस एवेत्यपि निरस्तम्, 'वायोः शीतं स्पर्शं स्पृशामि', 'वायुं स्पृशामी'त्याद्यनुव्यवसायानुपपत्तेः । न चाऽसौ भ्रमः, तदनन्तरं बाधविरहात् । 'इदं रजतमि'ति भ्रमानन्तरं 'नेदं रजतमि'ति बाधनिश्चयादेव पूर्वतनप्रतीतिः भ्रमत्वं कल्प्यते न तूत्तरकाले बाधनिश्चयाऽभावे, अन्यथा घटादिविषयकप्रतीतीनामपि भ्रमत्वकल्पना-पत्त्या शून्यवादिमतप्रवेशापातादिति दिक् ।

प्रकरणकारः प्रगल्भमते दोषान्तरमाविष्करोति - किञ्चेति । समवायेन तदभावस्य = समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-

में विनिगमनाविरह दोष उपस्थित होता है । अर्थात् बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष के कारणीभूत उभय को उद्भूतरूपविशिष्ट उद्भूतस्पर्शात्मक मानना या उद्भूतस्पर्शविशिष्ट उद्भूतरूपात्मक मानना ? इस विषय में कोई एकतरपक्षपाती युक्ति नहीं होने से उद्भूतरूपविशिष्टोद्भूतस्पर्शत्व और उद्भूतस्पर्शविशिष्टोद्भूतरूपत्व दोनों का बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यगोचर लौकिकज्ञान के कारणता-बच्छेदकधर्मविधया स्वीकार करने की अस्पत्ति उपस्थित होने से प्रगल्भ के मत में ही हमारे पक्ष की अपेक्षा महागीरव दोष अनिवार्य होगा । अतः बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत रूप एवं उद्भूत स्पर्श उभय को कारण नहीं माना जा सकता, किन्तु द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूत रूप को एवं द्रव्यस्पर्शन प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत स्पर्श को ही कारण मानना उचित प्रतीत होता है । अतः चन्द्रादि की प्रभा का चाक्षुष होने में कोई दोष-बाध नहीं है, क्योंकि उसमें उद्भूत रूप रहता है । अतः प्रौढप्रकाशय पावनेजोद्रव्य के संसर्गाभावात्मक अन्धकार के अतीन्द्रियत्व के प्रसंग को अवकाश नहीं है । इसलिए 'प्रकाशकरूपाभाव ही अन्धकार है' इस प्रगल्भवचन को मान्य नहीं किया जा सकता ।

❀ प्रगल्भमत में पृथ्वी आदि में सदा अवकाशव्यवहार की आपत्ति ❀

किञ्च. इति । दूसरी बात यह है कि अन्धकार को प्रकाशकरूपाऽभावात्मक मानने पर पृथ्वी आदि द्रव्य में सदा, चाहे दिन हो या रात, अन्धकारव्यवहार की आपत्ति आवेगी, क्योंकि पृथ्वी का रूप प्रकाशक नहीं होने से समवाय सम्बन्ध से प्रकाशक रूप का अभाव सदा रहता है । समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितत्त्व प्रकाशकरूपाभाव होने से मध्याह्न काल में भी

तदभावस्य तत्र सार्वदिकत्वात् । 'स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन तदभावस्यैव तमस्त्वमिति नायं दोष' इति चेत् ? न, तस्य वृत्त्यनियामकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावस्यैवाऽसिद्धेः ।

❀ अयत्नता ❀

योगिताकप्रकाशकरूपाभावस्य, तत्र = पृथिव्यादौ, सार्वदिकत्वात् = सर्वदा वर्तमानत्वात् । ततश्च मध्याह्नकाले सूर्यप्रकाश-संयुक्तेऽपि पृथिव्यादौ समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकाशकरूपाभावस्य सत्त्वेन तमोव्यवहारप्रसङ्ग इत्यर्थः । परः शङ्कते - स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन तदभावस्यैव = स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकाशकरूपाभावस्यैव, तमस्त्वमिति । एवकारेण समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तस्य व्यवच्छेदः कृतः । स्वपदेन प्रकाशकरूपस्य ग्रहणम् । तदाश्रयेण सूर्य-प्रकाशादिद्रव्येण संयुक्ते पृथिव्यादौ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन प्रकाशकरूपस्य वर्तमानत्वेन तदा न तमोव्यवहारः संभवतीति हेतोः नायं दोषः = न पृथिव्यादौ सदा तमोव्यवहारप्रसङ्गः, आलोकसंयुक्तत्वदशायां पृथिव्यादौ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकाशकरूपाभावस्य विरहात् । प्रकरणकारः तदपाकरोति - नेति । तस्य = स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धस्य, वृत्त्यनियामकत्वेन = आधाराधेयभावाऽनियामकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावस्य = स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य, एव असिद्धेरिति । अयोगव्यवच्छेदेऽयमेवकारः । वृत्तिनियामकसम्बन्धस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वं न सम्भवति । न हि स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन नीलपृथिव्यादौ प्रकाशकरूपाधारता प्रतीयते । स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वेन प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् तदवच्छिन्नप्रतियोगित्वाऽसम्भवात् तादृशप्रतियोगित्वनिरूपकप्रकाशकरूपाभावस्याऽप्यप्रसिद्धेः न तमसः तदात्मकत्वं सम्भवति, अन्यथा तमसो बन्ध्यापुत्रत्वाऽऽत्मकत्वमपि स्यात्, अविशेषात् ।

ननु स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वेन माऽस्तु प्रतियोगितावच्छेदकत्वं प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकत्वं तु सम्भवत्येव । अतः स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकतानिरूपकतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकस्य प्रकाशकरूपवच्छेदस्य तमस्त्वे न कश्चिदोषः । प्रकाशकरूपवत्सौरालोकादिसंयुक्ते पृथिव्यादौ स्वाश्रयसंयोगेन प्रकाशकरूपवत्प्रतियोगिकभेदस्याऽसत्त्वान्न तदा तत्र तमोव्यवहारप्रसङ्गः । न च वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्ववत् प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकत्वमेव किं न स्यादिति वक्तव्यम्, 'चैत्रो न पचती'त्यादौ 'अनुकूलत्वसम्बन्धेन पाकविशिष्टकृत्यभाववा-श्वैत्र' इत्यन्वयबोधस्यानुमविकतया निरुक्ताभावीयकृतिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितपाकनिष्ठावच्छेदकताया वृत्त्यनियामकानुकूलत्वसम्ब-

'अन्धकारवती पृथिवी' 'अन्धकारवत् जलं' इत्यादि शब्दव्यवहार एवं प्रतीति को मान्य करने की आपत्ति प्रगल्भमत में अनिवार्य बनेगी । यदि उक्त आपत्ति के निराकरणार्थ प्रगल्भ की ओर से यह कहा जाय कि —> "समवाय सम्बन्ध से प्रकाशक रूप का जहाँ अभाव हो वहाँ अन्धकारव्यवहार नहीं होगा, क्योंकि हम समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाभाव को अन्धकारात्मक नहीं मानते हैं, किन्तु स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाऽभाव को ही अन्धकारस्वरूप मानते हैं । जब मध्याह्न काल होता है तब पृथ्वी आदि में सूर्यप्रकाश का संयोग रहता है, जिसका रूप प्रकाशक = भास्वर होता है । स्व = प्रकाशक रूप, उसके आश्रय सूर्यप्रकाशादिव्य (= सौरालोक) का संयोग पृथ्वी आदि में मध्याह्न काल में रहने से स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से तब पृथ्वी में प्रकाशक रूप ही रहेगा, न कि प्रकाशक रूप का अभाव, क्योंकि प्रतियोगी अपने अत्यन्ताभाव का विरोधी होता है । जब रात का समय होगा और पृथ्वी आदि दीपक आदि की प्रभा एवं प्रकाश से शून्य होगी तब प्रकाशकरूप स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से पृथ्वी आदि में नहीं रहेगा, क्योंकि तब पृथ्वी प्रकाशकरूपवाले द्रव्य से संयुक्त नहीं है । उस काल में पृथ्वी आदि में स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाऽभाव रहने से 'अन्धकार-वती पृथिवी' इत्यादि प्रतीति एवं व्यवहार निराधाररूप से हो सकेगा । अतः स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाभाव को अन्धकारात्मक मानने में कोई दोष नहीं है" <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध वृत्त्यनियामक होने से प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकता है । जिस सम्बन्ध से आधाराधेयभाव की प्रतीति हो उस सम्बन्ध को वृत्तिनियामक कहा जाता है, जैसे कि समवाय । जिस सम्बन्ध से आधाराधेयभाव की प्रतीति न हो वह वृत्ति-अनियामक कहा जाता है, जैसे स्वसमवेतत्वसंसर्ग । वह प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकता है । प्रस्तुत में स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध वृत्ति-अनियामक है, क्योंकि उस सम्बन्ध से आधार-आधेयभाव का भान नहीं होता है । अतः स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाभाव ही अप्रसिद्ध है, तब उसे अन्धकारात्मक कैसे माना जा सकता ? इसलिए स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक प्रकाशकरूपाभाव की कल्पना केवल कल्पना ही है ।

तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकतद्वद्भेदस्य तथात्वे तु निशीथिन्यामपि भूतलादी तमोव्यवहारानुपपत्तिः, अन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वादिति दिक् ।

❀ मथ्यता ❀

न्धावच्छिन्नतायां विवादाऽभावेन वृत्त्यनियामकसम्बन्धावच्छिन्नाऽपि प्रतियोगिताऽवच्छेदकता सर्वसम्मतैव । तदुक्तं सिद्धान्त-
लक्षणदीपितिजागदीश्यां “वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽभावेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकतापटकसम्बन्धत्वं
सर्वसम्मतमेव, ‘चैत्रो न पचती’त्यादौ वृत्त्यनियामकाऽनुकूलत्वसम्बन्धेन पाकविशिष्टायाः कृतेरभावस्य चैत्रादावन्वयदर्शनात्”
(सि.ल.जा. पृ.२२९) इति । तथा च प्रकृताऽभावीयप्रकाशकरूपवन्निष्ठप्रतियोगितानिरूपितप्रकाशकरूपनिष्ठावच्छेदकताया
वृत्त्यनियामकस्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नतायां विप्रतिपत्त्यसम्भवादित्याशङ्कानिराकरणकृते प्रकरणकृदाह - तत्सम्बन्धावच्छिन्न-
प्रतियोगितावच्छेदकताकतद्वद्भेदस्य = स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकाशकरूपनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकताकप्रकाशकरूपवत्प्रति-
योगिकभेदस्य, तथात्वे = तमस्त्वेऽभ्युपगम्यमाने इति शेषः । अत्र प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धः स्वाश्रयसंयोगः प्रति-
योगितावच्छेदकधर्मः प्रकाशकरूपं प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धश्च तादात्म्यसंसर्गः सौरालोकादिशून्य एव देशे स्वाश्रयसंयोगसम्ब-
न्धेन प्रकाशकरूपविशिष्टस्य भेदो वर्तत इति तत्रैव तमसः प्रतीतिर्व्यवहारश्चेति प्रकाशकरूपवद्भेदलक्षणतमोवाद्यभिप्रायः ।

प्रकरणकारः तदपाकरणे हेतुमाह - त्विति । पूर्वाऽपेक्षया विशेषद्योतनार्थः । तमेवाऽऽह-निशीथिन्यामपि भूतलादौ
तमोव्यवहारानुपपत्तिः । कुतः ? इत्याह - अन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वादिति । दिवा भूतलादौ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन
प्रकाशकरूपाश्रयस्य भेदः स्वरूपेण न वर्तत इत्यत एव तदानीं तत्र न तमसो ज्ञानं व्यवहारश्च । प्रकाशकरूपवत्प्रतियोगिकभेदस्य
भूतलादौ सौरालोकादिसंयुक्तत्वदशायामवर्तमानत्वात् निशायामपि स तत्र भवितुमर्हति, भेदस्य व्याप्यवृत्तित्वेन स्वाऽभावा-
धिकरणेऽवर्त्तमानत्वात् । न च काले देशस्येव देशेऽपि कालस्याऽवच्छेदकत्वसम्भवादालोककालीने भूतलादौ तादृशभेदस्याऽ-
सत्त्वेऽपि आलोकशून्यकालावच्छेदेन निरुक्तभेदसत्त्वे बाधकाभावेन न नक्तं तत्र तमोव्यवहारानुपपत्तिरिति वाच्यम्, अत्यन्ता-
भावस्थले एव देशे कालस्य काले च देशस्याऽवच्छेदकत्वसम्भवात्, न त्वन्योन्याभावस्थले । यद्वा भवतु पाकानन्तरं रक्ततादशायां
‘इदानीं नाऽयं श्याम’ इत्यनुभवबलेन पाकानन्तरकालस्याऽन्योन्याभावस्थलेऽपि देशावच्छेदकत्वं तथापि आलोकभिन्नकाला-
वच्छेदेन निरुक्तभेदस्य तमस्त्वं न सम्भवि, निशीथिन्यामाप्यन्यदेशावच्छेदेनाऽऽलोकसम्भवात् । तद्देशावच्छिन्नालोकभिन्न-

❀ स्वाश्रयसंयोग को भेदप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकत्वसम्बन्ध मानने में दोष - त्याग्यता ❀

तत्सं० इति । यदि प्रगल्भ की ओर से यह कहा जाय कि → “स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध वृत्ति-अनियामक होने से
प्रतियोगितावच्छेदक मत हो, मगर प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक तो बन सकता है । ऐसा मानना तो नैयायिकमत में प्रसिद्ध
ही है । अतः स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से प्रकाशकरूपवान् के भेद को ही अन्धकारात्मक माना जा सकता है । मतलब यह
है कि प्रकाशक-रूपवत्प्रतियोगिक भेद ही अन्धकार है । यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य है एवं प्रतियोगितावच्छेदक-
तावच्छेदकसम्बन्ध है स्वाश्रयसंयोग । प्रतियोगितावच्छेदकधर्म है प्रकाशक रूप । प्रकाशक रूप स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से सूर्यप्रकाशादि-
संयुक्त भूतलादि में रहता है, क्योंकि वक्त सम्बन्ध में स्वपद से प्रकाशक रूप को लेने पर उसका आश्रय सूर्यप्रकाशादिस्वरूप
द्रव्य है, जो भूतलादि से संयुक्त है । अतः तादृश भूतलादि द्रव्य स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से प्रकाशकरूपविशिष्ट बनेंगे । उसका
भेद सूर्यप्रकाशादि से असंयुक्त देश में रहेगा । अन्धकार तादृश भेदात्मक ही है, क्योंकि तादृश भेद जहाँ जहाँ रहेगा, वहाँ
वहाँ अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार होता है । अतः स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकता एवं तादात्म्यसम्बन्धा-
वच्छिन्नप्रतियोगिता के निरूपक प्रकाशकरूपविशिष्टप्रतियोगिक भेद को ही अन्धकार मानना तर्कसंगत है’ ← तो यह ठीक
नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भेद व्याप्यवृत्ति होने से रात्रि में भी भूतलादि में अन्धकारव्यवहार की अनुपपत्ति होगी,
क्योंकि अन्योन्याभाव व्याप्यवृत्ति है । आशय यह है कि जिस अधिकरण में अन्योन्याभाव का अभाव रहता हो वहाँ अन्योन्याभाव
नहीं रहता है तथा जहाँ अन्योन्याभाव का अभाव रहता हो वहाँ अन्योन्याभाव नहीं रहता है तथा जहाँ अन्योन्याभाव रहता
है वहाँ उसका अभाव नहीं रहता है । दिन में भूतल में सौरालोकसंयोग होने पर वहाँ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से प्रकाशक रूप
से विशिष्ट का तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद नहीं रहता है, क्योंकि स्व = प्रकाशक रूप के आश्रय सूर्यप्रकाश
का संयोग तब भूतल में होने से स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से तब वह प्रकाशकरूपविशिष्ट है । अपने में अपना भेद नहीं रहता
है । अतएव तब भूतलादि में अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार नहीं होता है । जब यह सिद्ध हो गया कि भूतलादि में
तादृश भेद नहीं रहता है, यानी तादृशभेद का अभाव रहता है, तब रात में भी तादृशभेद भूतलादि में नहीं रह सकता,

किञ्च तमसोऽभावत्वे विधिमुखेन प्रत्ययः कथमुपपत्नीपद्यताम् ? 'ध्वंसादाविव क्वाचित्कनञ्प्रयोगं विनाऽपि तदुपपत्तौ किं विस्मयोत्कन्धरतयेति चेत् ? तथापि 'घटस्य ध्वंस' इतिवत् 'आलोकस्य तमः' इति प्रत्ययापत्त्या किं न बिभ्रेषि ? 'आलोकाभाव एव

जयलता

कालावच्छेदेन देशे स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकप्रकाशरूपवत्प्रतियोगिकभेदस्य तमस्त्वे गौरवात् । न च तद्देशावच्छेदेन काले तादृशभेदस्यैव तमस्त्वमस्त्विति वाच्यम्, देशस्यैव तमोऽधिकरणत्वेन प्रतीतेरवच्छेदकत्वाऽसम्भवात्, तादृशप्रणालीमविदुषोऽपि तमःप्रत्ययाच्चेत्यादिसूचनार्थं दिगित्युक्त्वम् ।

अन्धकारस्याऽभावत्वपक्षे दोषान्तरं समुचिनोति - किञ्चेति । तमसः = तमःपदवाच्यस्य, अभावत्वे = महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्वाचदालोकप्रतियोगिकाभावत्वे, तादृशकतिपयालोकप्रतियोगिकसंसर्गाभावत्वे आलोकदर्शनाभावत्वे प्रकाशकरूपान्त्याभावत्वे प्रकाशकरूपवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावत्वे कालविशेषाभावत्वे वा, विधिमुखेन = 'अत्र तमोऽस्ती'त्येवंविधान्वयरूपेण प्रत्ययः = ज्ञानं कथं उपपत्नीपद्यतां = सङ्गच्छतांतरां ? अभावस्य तु निषेधमुखेन भानं भवति 'घटो नास्ती'त्यादिवत् । तमसस्तु न निषेधमुखेन भानं भवति किन्तु विधिमुखेनैवेति न तस्याऽभावत्वं सङ्गतिमङ्गतीति भावः । परः समाधत्ते - ध्वंसादाविवेति । क्वाचित्कनञ्प्रयोगमिति । कादाचित्कनञ्प्रयोगमित्यपि पाठः । 'कपाले घटस्य ध्वंसोऽस्ति', 'भूतले घटाभावो वर्तते' इत्यादौ ध्वंसादेरपि नञ्प्रयोगं विनाऽपि भानं भवति, सर्वत्राऽभावस्थले नञ्प्रयोगाऽवश्यम्भावाऽनियमात् । तथैव अत्रापि = आलोकाभावाद्यात्मकतमःस्थलेऽपि, तदुपपत्तौ = नञ्प्रयोगमृते 'तमोऽस्ती'त्येवंविधिमुखभानसम्भवे किं विस्मयोत्कन्धरतया ? तमसोऽभावत्वे नैव विधिमुखप्रत्ययदर्शनेनाश्चर्यं कार्यमिति पराभिप्रायः । स्याद्वाद्याह - तथापीति । तमोविधानमुखप्रतीत्युपपादनेऽपि, 'कपाले घटस्य ध्वंस' इतिवत्, उपलक्षणात् 'घटस्याऽभावोऽस्ती'तिवत्, 'आलोकस्य तमः' इति प्रत्ययापत्त्या = तादृशप्रत्ययप्रयोगयोः प्रामाण्यप्रसङ्गेन, किं न बिभ्रेषि ? तयोः प्रमाणत्वं दुर्निवारमिति भावः । परः प्रत्युत्तरयति-आलोकाभावे एवेति । एवकारेण प्रतियोगिविनिर्मुक्ताभावस्य व्यवच्छेदः कृतः । तमः-पदेनैवाऽभावप्रतियोगिविधया आलोकभानसम्भवान्न 'आलोकस्य तमः' इति प्रतीतिः प्रयोगो वेति पराशयः ।

क्योंकि भेद और भेदाभाव एक अधिकरण में नहीं रहते हैं । अन्धकार तो तादृश प्रकाशरूपविशिष्टप्रतियोगिक भेदस्वरूप ही होने से उसके विरह से रात में भी आलोकाऽसंपुक्त भूतलादि में अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार नहीं हो सकता । यह तो दिग्दर्शनमात्र है । इस विषय में अधिक भी विचार किया जा सकता है, इसकी सूचना देने के लिए श्रीमद्जी ने 'दिक्' पद का प्रयोग किया है । विशेषजिज्ञासु यहाँ जयलता टीका को देख सकते हैं ।

अन्धकार को अभावात्मक मानने में दोषपरम्परा

किञ्च० इति । प्रगल्भमत का निराकरण कर के प्रकरणकार श्रीमद्जी अन्धकार को अभावात्मक मानने वाले नैयायिकादि विद्वानों के मत की पुनः समालोचना करते हैं कि - यदि अन्धकार अभावात्मक ही है, न कि भावस्वरूप तो फिर 'अन्धकार की विधिमुख से प्रतीति कैसे उपपन्न हो सकेगी ? अभाव का तो निषेधमुख से ज्ञान होना चाहिए । मतलब कि घटाभाव का 'घटो नास्ति' इस रूप से निषेधमुखी ज्ञान होता है वैसे अन्धकार का भी निषेधमुख से ज्ञान होना चाहिए । मगर 'तमः अस्ति' ऐसा विधिमुख से अन्धकार का ज्ञान होता है । अन्धकार को अभावस्वरूप मानने पर उक्त विधिमुख ज्ञान कैसे संगत होगा ? यह समस्या है । यहाँ यह कहा जाय कि —> 'ध्वंस अभावात्मक होता है फिर भी जैसे 'घटस्य ध्वंसोऽस्ति' ऐसा उसका विधिमुख ज्ञान होता है ठीक वैसे ही अन्धकार अभावात्मक होने पर भी 'तमोऽस्ति' ऐसा विधिमुख भान हो सकता है । इस विषय में विस्मय से अपने को उत्कण्ठित बनाना ठीक नहीं है' <— तो यह नैयायिकादिकथन इसलिए अयुक्त है कि जैसे 'घटस्य ध्वंसः कपालेऽस्ति' ऐसा ज्ञान होता है वैसे ही 'आलोकस्य तमः' यानी 'आलोक का अन्धकार' ऐसा ज्ञान होने पर नैयायिकादि को डरना नहीं चाहिए । मतलब कि दोनों प्रतीति प्रमात्मक हो जायेगी । मगर नैयायिकादि विद्वानों को भी 'आलोकस्य तमः' ऐसी प्रतीति नहीं होती है । अतः ध्वंस की भाँति अन्धकार को अभावस्वरूप नहीं माना जा सकता । यहाँ नैयायिकादि का यह कथन कि —> "तमःशब्द से ही आलोक की प्राप्ति हो जाने से पुनः 'आलोकस्य' ऐसा अधिक कहना जरूरी नहीं है । पुनरुक्ति दोष प्राप्त होने से 'आलोकस्य तमः' ऐसा शब्दप्रयोग होने का हमें खौफ नहीं है" <— भी अयुक्त है, क्योंकि फिर भी 'करिकलभ' इत्यादि शब्दप्रयोग की भाँति 'आलोकस्य तमः' यह आपत्ति

सङ्केतितस्तमःशब्द इति न तदापत्या बिभ्रेमी'ति चेत् ?' तथापि 'करिकलभे'त्यादिवत् किं न तथा प्रयुहक्षे ? 'अप्रयोगादेव न प्रयुज' इति चेत् ? तथापि 'आलोके नालोक' इतिवत् 'आलोकेऽन्धकारः' इत्यपि किं न व्यवहरसि ?

अपि चाऽन्धतमसावतसत्त्वाद्युत्कर्षापकर्षदर्शनादपि तस्य द्रव्यत्वम् । महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावत्वकतिपयतदभावत्वयोरज्ञानेऽपि तद्रव्यवहारात् ।

❀ गयलता ❀

स्याद्वाधाह - तथापीति । तमस आलोकाभावे सङ्केतकरणेऽपि । 'करिकलभे'त्यादिवदिति । कलभशब्दस्य करि-संताने एव सङ्केतितत्वेन कलभपदेनैव करिज्ञानसम्भवेऽपि 'करिकलभे'त्यादिप्रयोगः दृश्यत एव । तद्वदेव किं न तथा 'आलोकतमः' इत्यपि प्रयुहक्षे ? 'करिणः कलभे'त्यादिवत् 'आलोकस्य तम' इत्यस्याऽयुपलक्षणम् । परो वदति - अप्रयोगादेव न प्रयुज इति । लोके 'आलोकतम' इत्याद्यप्रयोगादेव तथाऽहं न प्रयोगं कुर्वे, 'करिकलभे'त्यादिप्रयोगस्य लोके दर्शनात्तथाविधप्रयोगं करोमि, विचित्रत्वात् लौकिकप्रयोगाणामिति पराभिप्रायः । प्रकरणकृदभ्युपगम्य दोषान्तरमाह - तथापीति । तमःपदस्यालोकाभावे सङ्केतितत्वेऽपि । 'आलोके नालोक' इतिवत् 'आलोके अन्धकार' इत्यपि किं न व्यवहरसि ? सप्तम्यन्तालोकपदसमिव्याहृतेन नञा अत्यन्ताभावस्यैव बोधनात् 'नालोक' इत्यनेनालोकात्यन्ताभावस्यैव ग्रहात् तमसश्च तद्रूपत्वात् तत्स्थानेऽन्धकारपदप्रयोगस्य न्याय्यत्वादिति प्रकरणकृदभिप्रायः ।

तमसोऽभावत्वे उत्कर्षापकर्षाऽसम्भवादन्यतमसावतमसादिविशेषो न स्यादित्यतोऽपि तस्य द्रव्यत्वं युक्तमित्याह अपि चेति । अन्यतमसावतमसत्त्वाद्युत्कर्षापकर्षदर्शनादपि तस्य = तमसः द्रव्यत्वम् । उत्कर्षापकर्षौ नाऽभावे सम्भवतः किन्तु भाव एव । दृश्येते च अन्धकारेऽन्धतमस्त्वावतमसत्वलक्षणावुत्कर्षापकर्षौ । तदन्यथानुपपत्त्या तमसो भावत्वं सिध्यति । ननु महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावोऽन्धतमसं कतिपयतदभावश्चाऽवतमसम् । इत्थञ्च तमसोऽभावत्वेऽपि महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावत्वेन अन्यतमसत्वप्रकारकप्रतीतिः कतिपयतदभावत्वेन चाऽवतमसत्वप्रकारकप्रतीतिः सम्भव इति पराऽऽशङ्कायामाह - महदिति । अज्ञानेऽपि = एतावदुपलक्षणाज्ञानेऽपि, तद्रव्यवहारात् = अन्यतमसावतमसव्यवहारात् । व्यवहारं

अनिवार्य है । आशय यह है कि कलभशब्द का संकेत संस्कृतभाषा में हाथी के बच्चे में होता है । कलभ कहने से ही 'करि = हाथी का बच्चा' ऐसा ज्ञान होता है । फिर भी 'करिकलभ' ऐसा शब्दप्रयोग शतशः दिखाई देता है । कलभशब्द से ही 'करि' का ज्ञान मुमकिन एवं आवश्यक होने पर भी 'करि' शब्द का कलभशब्द के आगे प्रयोग किया जाता है । ठीक वैसे ही आलोकाभाव में तम शब्द का संकेत होने पर भी 'आलोकस्य तमः' ऐसे वाक्यप्रयोग की आपत्ति होगी । अर्थात् 'करिकलभ' यह प्रयोग प्रामाणिक है ठीक वैसे ही 'आलोकस्य तमः' यह वाक्यप्रयोग भी प्रामाणिक हो जायेगा । तो फिर नैयायिकादि विद्वान् 'आलोकस्य तमः' ऐसा प्रयोग क्यों नहीं करते हैं ? इस समस्या का कोई समाधान नैयायिकादि के पास नहीं है । यहाँ नैयायिकादि की ओर से यह कहा जाय कि → 'आलोकस्य तमः-ऐसा लोक में प्रयोग नहीं होता है । इसलिए हम वैसा वाक्यप्रयोग नहीं करते हैं । 'करिकलभ' इत्यादि प्रयोग लोक में होता है । इसलिए हम तथाविध वाक्यप्रयोग करते हैं' ← तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि तुम्हारे मत में अन्धकार आलोकाभावात्मक होने से जहाँ आलोकाभाव का प्रयोग होता है वहाँ अन्धकारपद का प्रयोग होना अनिवार्य होने से 'आलोके नालोकः' इस प्रयोग के स्थान में 'आलोकेऽन्धकार' इस वाक्यप्रयोग की आपत्ति तो दुवार होगी । 'आलोक में आलोक नहीं है' ऐसा वाक्यप्रयोग तो लोक में सदस्यशः होता है, जिसमें 'आलोक नहीं है' का अर्थ आलोकात्यन्ताभाव होता है, जो अन्धकार है, ऐसा नैयायिकादि को अभिमत है । अतः उसके स्थान में अन्धकारपद का प्रयोग होना चाहिए । अतः 'आलोके अन्धकारः' = 'आलोक में अन्धकार है' यह प्रयोग भी नैयायिकादि के मत में प्रामाणिक हो जायेगा ।

॥ अभावात्मक अन्धकार में तात्तम्य की अमूपपत्ति ॥

अपि च. इति । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अन्धकार यदि आलोकाभावस्वरूप ही है तो फिर 'यहाँ गाढ़ अन्धकार है', 'वहाँ मंद अन्धकार है' ऐसे उत्कर्ष, अपकर्ष का अन्धकार में भान कैसे होगा ? अभाव में उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं होता है । 'यहाँ गाढ़ घटाभाव है वहाँ मन्द घटाभाव है' इत्यादि प्रतीति या प्रयोग लोक में या शास्त्र में अप्रसिद्ध हैं । अतः गाढ़ अन्धकार का अर्थ गाढ़ आलोकाभाव इत्यादि नहीं हो सकता है । उत्कर्ष या अपकर्ष भाव पदार्थ

वस्तुतः कतिपय-तदभावो नाऽवतमसं, दिवा प्रकृष्टालोकेऽपि तत्सत्त्वात् । न च छायायाऽतिव्याप्तिवारणाय स्वन्यूनसङ्ख्यबाह्यालोकसंवलने सतीति विशेषणावश्यकत्वात्,

जयलता

व्यवहर्तव्यज्ञानस्य कारणत्वात्, घटकाज्ञाने च घटितानवबोधात् निरुक्तघटकाज्ञानवतोऽन्धतमसत्वादिधीर्न स्यात् न स्याच्चान्ध-
तमसादिपदप्रयोगः । दृश्येते चैतादृशघटकाऽप्रतिसन्धानेऽपि अन्धतमसत्वादिप्रतिसन्धानं तथाव्यवहारश्चेति घटत्ववदन्धतमसत्वादेः
जातित्वमेव न्याय्यमिति भावः । एतेन अभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिज्ञानापेक्षायां विना प्रतियोगिज्ञानं जायमानं तमस्त्वप्रकारकं
तमःप्रत्यक्षं तमसो भावत्वमेव साधयतीत्यपि दर्शितम् । अत एव आलोकं जानतामेव नाःप्रत्यक्षस्वीकारः । तदाहुराचार्याः
किरणावल्यां 'गिरिदरीविधरवर्तिनो यदि योगिनो न ते तिमिरावलोकिनः, तिमिरावलोकित्वं नूनं स्मृतालोकाः' (पृ. ३२)
इति प्रत्युक्तम्, तेजसोऽप्रतिसन्धानेऽपि तमोऽनुभवस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न चैवं तमसो भावत्वसाधनेऽपि द्रव्यत्वं कुतः ?
इति वाच्यम्, नीलरूपाद्याश्रयत्वेन तस्य द्रव्यत्वसिद्धेः । 'इदं नीलमि'त्यादिधियां भ्रमत्वं, तत्र 'नेदं नीलमि'त्यादिसाक्षात्कारे
वस्तुस्वरूपस्याऽदृष्टविशेषस्य वा दोषस्य वा प्रतिबन्धकत्वं, तत्राऽप्यप्रामाण्यज्ञानाऽभावविशिष्टतेजोऽभावत्वप्रकारकज्ञानादीना-
मुत्तेजकत्वमित्यादिकलानेऽतिगौरवात् ।

वस्तुतः इति । कतिपयतदभावः = कतिपयमहदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽभावः नावतमसम् । कस्मात् ? इत्याह
- दिवा प्रकृष्टालोकेऽपि भूतलादी तत्सत्त्वात् = देशान्तरवर्ति-कालान्तरीय-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावस्य विद्यमानत्वात्,
तदानीमवतमसप्रतीतिप्रयोगौ प्रसज्येतमिति भावः । न ह्येकत्रैकदा यावदुक्तालोकसम्भवो घटाकोटिमाटीकते । अतः कति-
पयतादृशालोकाभावस्य नावतमसत्वं युक्तमिति स्याद्वाद्याशयः ।

परशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते - न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । अवतमसभिन्नायां छायायां कतिपयमहदुद्भू-
तानभिभूतरूपवदालोकाभावत्वयुक्तायां अतिव्याप्तिवारणाय = अवतमसलक्षणप्रवेशनिराकरणकृते, 'स्वन्यूनसङ्ख्यबाह्यालोक-
संवलने सती'ति विशेषणावश्यकत्वादिति । संवलनं नाम एकदेशकालयोरस्तित्वम्, ततश्च स्वसमानदेशत्व-स्वसमान-
कालीनत्वोभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वा न्यूनसङ्ख्यकनिरुक्ताऽऽलोकविशिष्टत्वे सति कतिपयमहदुद्भूतानभि-
भूतरूपवदालोकाभावोऽवतमसमिति तल्लक्षणं पर्यवसितम् । स्वपदेन निरुक्तालोकाभावरय ग्रहणम् । छायायास्तु स्वसमान-
देशत्व-स्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यकाऽऽलोकविशिष्टत्वात्त्रातिव्याप्तिः । निरुक्तो-

में ही होता है न कि अभाव पदार्थ में । अन्धकार में प्रसिद्ध अबाधित उत्कर्ष, अपकर्ष की प्रतीति की अन्यथा अनुपपत्ति
से अन्धकार भावात्मक-द्रव्यात्मक सिद्ध होता है । अन्धकार में नील रूपादि की प्रतीति तो सर्वजनविदित ही है । दूसरी
बात यह भी ध्यातव्य है कि अन्धकार के स्वरूप से नैयायिक विद्वानों में भी मत-मतान्तर है । कोई नैयायिक अन्धकार
को महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावदालोक के अभावस्वरूप मानते हैं तो कोई महदुद्भूतानभिभूतरूपवत् कतिपय आलोक के अभाव
को ही अन्धकार मानते हैं । मगर इसमें से एक भी मत श्रद्धेय नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि अभाव
की ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान एवं तादृश अभावत्व का ज्ञान कारण होता है । प्रतियोगी घट एवं विशेषण घटाभावत्व
के ज्ञान के बिना घटाभाव का ज्ञान नहीं होता है । इसी तरह अन्धकार का ज्ञान भी महदुद्भूतानभिभूतरूपवत् यावत् आलोक
एवं तादृशालोकप्रतियोगिकाभावत्व के ज्ञान के बिना या तादृश कतिपय आलोक एवं तादृशकतिपय आलोकप्रतियोगिकाभावत्व
के ज्ञान के बिना नहीं होना चाहिए । तथा तादृश ज्ञान के विरह में अन्धकारव्यवहार भी नहीं होना चाहिए । मगर तथाविध
प्रतियोगी एवं तथाविध अभावत्व के ज्ञान के बिना भी अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार होता है । इसलिए अन्धकार को
तादृशालोकाभावात्मक नहीं माना जा सकता । घटक के ज्ञान के बिना घटित का ज्ञान नहीं हो सकता है, विशेषण के
ज्ञान के बिना विशिष्ट का बोध नहीं होता है - यह सर्वमान्य सिद्धान्त है ।

(*) कतिपय आलोकविशेष का अभाव अन्धकार नहीं हो सकता (*)

वस्तुतः इति । वस्तुस्थिति यह है कि महत्परिमाणयुक्त एवं उद्भूत अनभिभूतरूपवाले कतिपय आलोक का अभाव अवतमस
= मन्द अन्धकार नहीं हो सकता है, क्योंकि दिन में प्रकृष्ट आलोक होने पर भी कतिपय तादृश आलोक का अभाव होने
से मध्याह्न काल में भी अवतमस की प्रतीति एवं व्यवहार के प्रामाण्य की आपत्ति होगी । सारे जहाँ के सभी प्रकृष्ट आलोक
एक काल में और एक देश में नहीं होते हैं । अन्यत्र एवं अन्यदा तादृश आलोक की विद्यमानता होती ही है । अतः

तदानीं च बाह्यालोकस्य स्वाधिकसङ्ख्यत्वाभातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, तदिनातिरिक्तानन्तदिन-
वृत्तिबाह्यालोकाभावानामेवाऽधिकत्वात् ।

अथ लता

भयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यकाऽऽलोकविशिष्टत्वाभातिव्याप्तिः । निरुक्तोभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यकाऽऽलोकविशिष्टत्वे सति निरुक्तालोकाभावस्यैव छायालक्षणत्वमामनन्ति नैयायिकप्रवराः । 'तथापि दिवा प्रकृष्टालोके सत्यपि कतिपयोक्तालोकाभावस्य सत्त्वेन कथं न तदानीमवतमसप्रतीतिप्रयोगौ' ? इत्याशङ्काम-
पनोदितुमाह - तदानीञ्चेति । दिनसमये चेति । बाह्यालोकस्य स्वाधिकसङ्ख्यत्वात् = कतिपयमहदुद्भूतानभिभूतरूप-
वदालोकाभावस्य स्वसमानदेशत्वस्यसमानकालत्वाभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्याविशिष्टत्वात् न
दोषः दिवा अवतमसप्रतीतिप्रयोगप्रामाण्यप्रसङ्गलक्षणः । इत्थञ्चैकपरिष्कारेण दोषद्वयव्याहतिरिति पराभिप्रायः ।

प्रकरणकृत्तत्रिरासे हेतुमुपदर्शयति - तदिनातिरिक्तानन्तदिनवृत्तिबाह्यालोकाभावानामेवेति । अवतमसप्रतीतिप्रयोग-
प्रामाण्यापादनं यस्मिन् दिने क्रियते तस्मात् दिनात्, अतिरिक्तेषु अनन्तदिनेषु वृत्तीनां बाह्यालोकानामिति । एवकारो
बाह्यालोकलक्षणान्ययोगव्यवच्छेदार्थः । अधिकत्वात् = स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यत्वात् । तदिवसे
निरुक्तोभयसम्बन्धेन बाह्यालोकविशिष्टकतिपयनिरुक्तालोकाभावसङ्ख्यापेक्षया संवलितबाह्यालोकानां न्यूनसङ्ख्यत्वेन निरुक्तो-
भयसम्बन्धेन न्यूनसङ्ख्यकालोकविशिष्टस्य कतिपयनिरुक्तालोकाभावस्य दिवा भूतलादावक्षतत्वात् तदानीमवतमसप्रतीति-
प्रयोगप्रामाण्यप्रसङ्गो दुर्निवार एवेति स्याद्वाच्यभिप्रायः ।

किञ्चैतादृशरूपाऽप्रतिसन्धानेऽप्यवतमसत्वानुभवान्न तस्यैतादृशाभावत्वम्, अभावज्ञाने स्वप्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रति-
योगिज्ञानस्य हेतुत्वात् । एतेन रूपत्वग्राहकतेजःसंवलितस्तदवान्तरविशेषग्राहकयावत्तेजःसंसर्गाभावोऽवतमसम्, रूपत्वावान्तर-
जातिग्राहकतेजःसंवलितः प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावश्छाया, यावदालोकाभावश्चाऽन्धतमसमित्यपि प्रत्युक्तम्, ज्ञानगर्भत-
याऽवतमसादीनामचाक्षुषत्वप्रसङ्गात्, तादृशजात्यसिद्ध्या तलज्ज्ञानविशेषपरिचायितजातिविशेषविशिष्टाऽऽलोकनिवेशाऽसम्भवाच्चेति
भायनीयं सुधीभिः ।

विवक्षित देश में विवक्षित काल में अन्यत्र स्थित कतिपय प्रकृष्ट आलोक का अभाव सुवच है ।

यदि नैयायिकादि मनीषियों की ओर से यह कहा जाय कि → 'महत्त्व एवं उद्भूत तथा अनभिभूत रूप जिस तेजों में होता है, उनमें से कतिपय तेज के अभाव को अवतमस मानने पर छाया में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए उक्त अभाव में उस अभाव से अथवा उसके प्रतियोगी से अल्पसङ्ख्यक बाह्यालोक के संवलन का निवेश करना होगा । संवलन का अर्थ है एक देश और एक वाय में अस्तित्व । इस संवलन का निवेश करने पर अवतमस का लक्षण यह बनेगा कि स्व की अपेक्षा या स्वप्रतियोगी की अपेक्षा अल्पसङ्ख्यक बाह्यालोक से स्वसमानदेशत्व और स्वसमानकालत्व उभयसम्बन्ध से विशिष्ट जो कतिपय उक्त आलोक का अभाव है यह अवतमस है । अवतमस का यह लक्षण होने पर छाया में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त प्रकार के कतिपय आलोक के जितने अभाव के रहने पर छाया का व्यवहार होता है, उन अभावों से या उनके प्रतियोगियों से न्यूनसंख्यक बाह्यालोक का संवलन छाया में नहीं होता किन्तु अधिकसङ्ख्यक बाह्यालोक का संवलन होता है । अवतमस का यह लक्षण निष्पन्न होने पर दिन में प्रकृष्ट आलोक के समय अवतमस की प्रतीति एवं उसके व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उस समय उक्त प्रकार के आलोक का जितना अभाव होता है उससे अथवा उसके प्रतियोगी से अधिकसङ्ख्यक बाह्यालोक दिन के प्रकृष्ट आलोक के समय रहता है । अतएव उक्त समय में विद्यमान उक्त प्रकार के आलोकाभावों में उसकी अपेक्षा अथवा उसके प्रतियोगी की अपेक्षा न्यूनसंख्यक बाह्यालोक का संवलन नहीं रहता है' ←

तदिन. इति । तो यह कथन भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि जिस दिन प्रकृष्ट आलोक के समय अवतमस का आपादन करना है उस दिन केवल उस दिन के ही कतिपय तादृश बाह्यालोकों का अभाव नहीं है, किन्तु उस दिन से भिन्न अन्य अनन्त दिनों के बाह्य आलोकों का भी अभाव है । अतः उस दिन जितने बाह्य आलोक का संवलन उस अभाव में है उनकी संख्या उन अभावों अथवा उनके प्रतियोगियों से न्यून ही है । अतः अवतमस का प्रस्तुत लक्षण स्वीकार करने पर भी दिन में प्रकृष्ट आलोक के समय अवतमस की प्रतीति एवं व्यवहार (= शब्दप्रयोग) की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता ।

अथ यदा यत्र प्रागुक्तयावत्तेजःसंसर्गाभावो निरवच्छिन्नस्तदा तत्रान्धतमसं यदा तु यत्राऽयं सावच्छिन्नः तदा तत्राऽवतमसमिति चेत् ? न, घटादेरिवान्धतमसावतमसयोस्वच्छेदकानुपरागेणैव प्रतीतेरिति दिक् ।

एतेन तमसो द्रव्यत्वेऽनन्तसंयोगादिकल्पनमपि पराकृतम्, तस्य फलमुखत्वात् ।

ॐ गयलता ॐ

परः शङ्कते-अथेति । यदा = यत्कालावच्छेदेन, यत्र = यदेशे, प्रागुक्तयावत्तेजःसंसर्गाभावः = महदुद्धूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजःसंसर्गाभावः, निरवच्छिन्नः = निरवच्छिन्नैदिकीकाधिकरणताकः, तदा = तत्कालावच्छेदेन, तत्र = तदेशे अन्धतमसं विद्यते प्रतीयते व्यवहियते च । यदा = यत्कालावच्छेदेन, तुर्विशेषणे, यत्र देशे अयं यावन्महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकसंसर्गाभावः सावच्छिन्नः = सावच्छिन्नैदिकीकाधिकरणताकः, तदा = तत्कालावच्छेदेन, तत्र देशे, अवतमसं विद्यते प्रतीयते व्यवहियते च । समनियतत्वेन लाघवादान्धतमसं निरवच्छिन्नतादृशाभावात्मकमवतमसञ्च सावच्छिन्नतादृशाभावस्वरूपमिति न तयोः द्रव्यत्वकल्पना युक्तिमतीत्यथाशयः ।

प्रकरणकृत्तमपाकरोति - नेति । घटादेरिव अन्धतमसावतमसयोः अवच्छेदकानुपरागेणैव प्रतीतेरिति । कपिसंयोगाभावस्य वृक्षादौ सावच्छिन्नत्वं हृदादौ च निरवच्छिन्नत्वं यथा प्रतीयेते तथा यदि तमस क्वचिन्निरवच्छिन्नत्वं क्वचिच्च सावच्छिन्नत्वं प्रतीयेत तर्हि निरवच्छिन्नतादृशाभावंस्याऽन्धतमसत्वं सावच्छिन्नस्य च तस्यावतमसत्वं वक्तुं सम्भवेत् । न चैवमस्ति । घटादेरिव निरवच्छिन्नतत्प्रतीतेः । अन्धकाराभावपक्षस्याऽवटमानत्वात्तमसो द्रव्यत्वमेव युक्तमित्याशयः ।

एतेनेति । तमसो द्रव्यत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वेनेति । अस्य पराकृतमित्यनेनाऽन्वयः । अनन्तसंयोगादिकल्पनमपीति । गगनादिपरमाण्वाद्यनन्तद्रव्यप्रतियोगिकानन्तसंयोग-विभागैकत्वपरिमाणादिकल्पनाप्रयुक्तगौरवमपीत्यर्थः । अपिशब्देन तत्कारणादिकल्पनागौरवं समुचितम् । तस्य = तादृशगौरवस्य, फलमुखत्वादिति । प्रमाणेन तमसो द्रव्यत्वसिद्ध्यनन्तरमुपस्थितत्वात् । प्रमाणप्रवृत्तिपूर्वं तस्यानुपस्थितत्वेनाऽदोषत्वम्, प्रमाणप्रवृत्त्यनन्तरं सतोऽपि तस्य प्रमाणाऽपेक्षया दुर्बलत्वाच्च प्रमाणविषटकत्वम् ।

॥ अन्धतमसादे की निरवच्छिन्न ही प्रतीते - त्यादादी ॥

अथ यदा. इति । नैयायिकादि की ओर से यह कहा जाय कि —> “जिस काल और जिस देश में प्रकृष्ट यावत् आलोक का अभाव निरवच्छिन्न होता है, उस काल में और उस देश में अन्धतमस होता है । जब विवक्षित देश के अमुक भाग में आलोक रहता है, तब तादृश अभाव निरवच्छिन्न नहीं होता है । अतः तब उस देश में अन्धतमस का व्यवहार या प्रतीति नहीं हो सकती । जब निरवच्छिन्न उक्त अभाव होता है, तभी उस देश में गाढ़ अन्धकार की प्रतीति एवं प्रयोग हो सकते हैं । जिस काल और देश में प्रकृष्ट यावदालोक का अभाव सावच्छिन्न होता है, वही उस काल और देश में अवतमस होता है । देश के अमुक भाग में कतिपय आलोक होने पर प्रकृष्ट आलोक का अभाव वहाँ सावच्छिन्न होने से तब उस देश में अवतमस की यानी मन्द अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार हो सकते हैं । अतः अन्धतमसत्व और अवतमसत्व को जातिविशेषात्मक एवं उसके आश्रय को द्रव्यात्मक नहीं मानना चाहिए” <— तो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि जैसे घटादि पदार्थ की प्रतीति निरवच्छिन्न होती है, ठीक वैसे ही अन्धकारमात्र की प्रतीति निरवच्छिन्न ही होती है । यदि कपिसंयोगादि की भाँति अन्धकार की सावच्छिन्न प्रतीति कभी भी होती, तब तो सावच्छिन्न-निरवच्छिन्न ऐसा भेद करना संगत होता मगर अन्धकार की सर्वदा निरवच्छिन्न ही प्रतीति होने से अन्धतमस को तादृश निरवच्छिन्न अभाव मानना एवं अवतमस को सावच्छिन्न तादृशाभावस्वरूप मानना असंगत है । अतः अन्धकार को द्रव्यस्वरूप मानना ही युक्तिसंगत भी है ।

* अन्धकार में द्रव्यत्वबाधक का निराकरण *

एतेन तम. इति । अन्धकार को अभावस्वरूप मानने वाले विद्वान का यह आक्षेप है कि —> “अभाव को द्रव्यात्मक मानने पर उसमें अनन्त द्रव्य (आत्मादि) के संयोग की कल्पना का गौरव होगा” <— मगर यह कथन अयुक्त है, क्योंकि यह गौरव फलमुख होने से दोषरूप नहीं है । फलमुख गौरव का मतलब यह है कि कार्य-कारणभाव, पदार्थ आदि की प्रमाण से सिद्ध होने के बाद उपस्थित होने वाला गौरव । प्रमाण, तर्क आदि के सहकार से वस्तुस्थिति का निर्णय होने के बाद उपस्थित गौरव प्रमाण का विरोध नहीं कर सकता । अतः वह दोषात्मक नहीं है । अन्धकार को द्रव्य मानने से

इत्थञ्च 'तमश्चलती'त्यादिप्रत्यक्षमपि निराबाधम् । न च स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधाना-
नुपपत्तिः पद्मरागप्रभायामेवाश्रयचलनानुविधानदर्शनात् । पद्मरागचलनं विनाऽपि कुड्या-
वरणविगमादिनापि तत्प्रभाचलनमुपलब्धमिति चेत् ? तर्हि, स्थिरेऽपि स्तम्भादौ प्राक् पश्चा-
दीपसम्बन्धादिना तमश्चलनोपलम्भः किं काकेन भक्षितः ? तमसः प्रागभावत्वे उत्पत्ति-

❀ अथ चला ❀

इदमेव फलमुखगौरवस्याऽदुष्टत्वे बीजम्, अन्यथा लाघवस्यैव सर्वत्राऽदरे शून्यवादप्रवेशापातादिति बहुशः पूर्वमुक्तम् ।

तमोद्रव्यत्वस्यापि प्रत्यक्षमपि प्रवरणवत् उपदर्शयति - इत्थञ्चेति । तमसो द्रव्यत्वेन चेति । 'तमश्चलती'त्यादिप्रत्यक्षमपि निराबाधम्, आदिशब्देन 'नीलं तमः' 'घटसंयुक्तं तम' इत्यादिप्रत्यक्षग्रहणम् । अपिशब्देन तमस्त्वजातिसाधकानुमानादि-
समुच्चयः कृतः ।

ननु तमसो द्रव्यत्वे तस्य स्वाभाविकी गतिः स्यात्, घटादिगतिवत् । न चैवमस्ति, पटादिगत्यनुसारित्वात् तमोगतेः ।
यथा नौयानारूढपुरुषोपलब्धवृक्षादिगतिः औपाधिकी नौयानगता वृक्षादावारोप्यते तथा पटादिगतगतिः तमस्यारोप्यते न तु
वस्तुगत्या सा तमोगता, स्वाभाविकगतेः परद्रव्यगत्यनुकरणाऽदर्शनात् । ततः 'तमश्चलती'त्यादि प्रत्यक्षं न तमसो द्रव्यत्व-
साधकमित्याशङ्कां निराकरोति - न चेति । तन्निरासे हेतुमाह - पद्मरागप्रभायामेवेति । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदे आश्रय-
चलनानुविधानदर्शनात् = स्वाश्रयपद्मरागगत्यनुकरणोपलब्धेः । पद्मरागप्रभाया रूपादिमत्त्वेन परैः द्रव्यत्वमेवाऽङ्गीक्रियते ।
दृश्यते च तद्गतेः स्वाश्रयगत्यनुकारित्वम् । तद्वदेव तमसो नीलरूपादिमत्त्वेन द्रव्यत्वेऽपि स्वाश्रयपटादिगत्यनुसारिगतिमत्त्वमपि
सम्भवत्येव । एतेन 'तमश्चलती'त्यादिप्रत्यक्षं भ्रमः परगत्यनुविहितगतिविषयकत्वात् नौयानगतपुरुषीयवृक्षचलनप्रतीतिवदिति
प्रत्युक्तम्, 'प्रभा चलती'त्यादिप्रतीतिरपि भ्रमत्वापत्तेः ।

परः शङ्कते - पद्मरागचलनं विनाऽपि कुड्यावरणविगमादिनाऽपि तत्प्रभाचलनं = पद्मरागप्रभाचलनं, उपलब्धं =
प्रतीतम् । स्वाश्रयगतिमृतेऽपि पद्मरागप्रभागतिदर्शनात् तत्प्रभाया द्रव्यत्वं युक्तम् । न चैवं तमसि सम्भवतीति न तस्य
द्रव्यत्वमिति शङ्काशयः । अत्र प्रतिबन्धा प्रकरणकार उत्तरयति - तर्हीति । अन्धकाराश्रये स्थिरेऽपि स्तम्भादौ प्राक्पश्चा-
दीपसम्बन्धादिना तमश्चलनोपलम्भ इति । प्रभावत् तमसोऽपि स्वाश्रयचलनमृते चलनोपलम्भान्न द्रव्यत्वबाध इति भावः ।

किञ्च महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकप्रतियोगिकस्य प्रागभावस्य तमस्त्वं यदुत प्रध्वंसाभावस्याऽत्यन्ताभावस्याऽन्योन्या-

ही 'अन्धकार चलता है' इत्यादि प्रतीति की उत्पत्ति हो सकती है । अभाव में चलन क्रिया कैसे हो सकती है ? यहाँ
यह शङ्का नहीं करना चाहिए कि → "अन्धकार की गति स्वाभाविक नहीं है, किन्तु औपाधिक है । घटादि द्रव्य को
चलाने पर ही अन्धकार में गति का भान होने से वह गति स्वाभाविक नहीं है । अन्यगत गति का भान अन्धकार में
होने से अन्धकार में द्रव्यत्व नहीं माना जा सकता" ← यह इसलिए अयुक्त है कि पद्मराग मणि की प्रभा में, जो नैयायिकादि
को भी द्रव्यरूप से मान्य है, भी अन्य गत गति का अनुविधान प्रसिद्ध है । पद्मराग मणि को गतिमान करने पर उसकी
प्रभा में गति प्रतीत होती है । स्वाश्रय की गति का अनुकरण प्रभाद्रव्य करता है, फिर भी वह द्रव्यात्मक ही है । ठीक
इसी तरह अन्धकार भी स्वाश्रय की गति का अनुकरण करने पर भी द्रव्यात्मक सिद्ध हो सकता है । यहाँ यह कहना कि
→ 'अन्धकार की गति एवं पद्मरागप्रभा की गति में बहुत फर्क है । पद्मरागमणिप्रभा के आश्रय पद्मराग मणि को चलित
किये बिना भित्ति आदि के दूर होने से भी प्रभाद्रव्य में गति की उपलब्धि = प्रतीति होती है । मतलब की आश्रय में गति
न होने पर भी प्रभा में गति क्रिया उपलब्ध होने से प्रभा को द्रव्य मानने में कोई दोष नहीं है । मगर अन्धकार की
बात ऐसी नहीं है । अन्धकार के आश्रय में गति होने पर ही अन्धकार में गति क्रिया उपलब्ध होती है । घटादि द्रव्य
को चलाने पर ही 'अन्धकारः चलति' ऐसी प्रतीति होती है । अतः अन्धकार को द्रव्य नहीं माना जा सकता" ← भी
ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धकार के आश्रय स्तम्भादि स्थिर होने पर भी दीपक को आगे-पीछे करने पर अन्धकार में गति
का भान होता है । आश्रय की गति के बिना भी प्रभा की भाँति अन्धकार में गति का भान समान होने से प्रभा की
भाँति अन्धकार को द्रव्यात्मक मानने में कोई दोष नहीं है ।

□ अन्धकार को अभावस्वरूप मानने में दोष □

तमसः प्रा. इति । दूसरी बात यह है कि अन्धकार को अभावस्वरूप मानने वाले अन्धकार को किस अभावस्वरूप

प्रत्ययः, इतराभावत्वे विनाशप्रत्ययश्च न स्यातामित्याहः । न च राशिष्विव किञ्चित्समुदायिसम्भवव्यतिरेकप्रयुक्तावेव तमःसम्भवव्यतिरेकौ प्रतीयेते इति वाच्यम्, तथा सति 'राशिर्न नष्ट' इतिवत् 'तमो न नष्टमि'ति प्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः ।

❀ नैवली ❀

भावस्य वा तत्त्वमिति विकल्पचतुष्टयं साम्परायिकचतुष्कवदुपतिष्ठते । तत्र आद्ये आह - तमसः प्रागभावत्वे - निरुक्ता-लोकप्रतियोगिकप्रागभावस्वरूपत्वे, उत्पत्तिप्रत्ययः = 'तम उत्पन्नमि'त्याकारकाऽवबोधः न सम्भवेत्, प्रागभावस्याऽनादित्वेनोत्पादाऽप्रतियोगिकत्वात् । शेषविकल्पत्रिके आह - इतराभावत्वे = निरुक्तप्रागभावभिन्नाऽभावात्मकत्वे, विनाशप्रत्ययश्च = 'तमो विनष्टमि'त्याकारकबोधश्च न सम्भवेत्, प्रागभावभिन्नाभावत्वस्याऽविनाशित्वव्याप्यत्वात् । यावदभावविशेषाणां तमस्त्वेनाऽघटमानत्वान्न तमसोऽभावात्मकत्वं युक्तम् विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वादिति भावः ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । राशिष्विव किञ्चित्समुदायिसम्भवव्यतिरेकप्रयुक्तावेवेति । एवकारेण 'समुदायसम्भवव्यतिरेकप्रयुक्ता'वित्यस्य प्रतिषेधः कृतः । यथा धान्यादिराशौ नवीनधान्यादिसमागमे 'महानयं धान्यराशिरुत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिः समुदायिसम्भवप्रयुक्ता न तु समुदायसम्भवप्रयुक्ता, पूर्वतनधान्यादिविलये 'महानयं धान्यराशिर्विनष्ट' इत्यादिप्रतीतिः समुदायिव्यतिरेकप्रयुक्ता न तु समुदायविलयप्रयुक्ता, तथैव आलोकसंसर्गाभावसमुदायात्मके तमस्यपि यत्किञ्चित्समुदायिसम्भवे 'अन्धकार उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिः आलोकध्वंसोत्पत्तिप्रयुक्ता न त्वालोकसंसर्गाभावसमुदायोत्पत्तिप्रयुक्ता, यत्किञ्चित्समुदायिव्यतिरेके 'अन्धकारो विनष्ट' इत्यादिप्रतीतिः निरुक्तालोकप्रागभावध्वंसप्रयुक्ता न त्वेतादृशालोकसंसर्गाभावकूटविनाशप्रयुक्ता । समुदायिसम्भवव्यतिरेकावेव राशाविव तमस्यारोप्यत इति शङ्काशयः ।

प्रकरणकारः तदपाकरणकृते दोषमाविष्करोति - तथा सतीति । राशाविव तमसि उत्पादविनाशप्रतीतेः यत्किञ्चित्समुदायिसम्भवव्यतिरेकावगाहित्वाऽभ्युपगमे सति, 'राशिर्न नष्ट' इति प्रतीतिः यथा प्रमात्वं तद्वदेव प्रदीपाऽनयनदशायां 'तमो न नष्टमि'तिप्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः, राशिबत् प्रकृष्टालोकसंसर्गाभावसमुदायस्याऽविनष्टत्वात्, तादृशसमुदायघटकीभूतनिरुक्तालोकात्यन्ताभावस्य नित्यत्वेन नाशाऽयोगात् । इदञ्चोपलक्षणं यत्किञ्चित्समुदायिसम्भवे 'राशिर्नोत्पन्न' इतिवत् 'अन्धकारो नोत्पन्न' इति प्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः, निरुक्तालोकसंसर्गाभावसमुदायस्याऽनुत्पन्नत्वात्, तत्समुदायिनिरुक्तालोकात्यन्ताभावस्य

मानेंगे ? यदि आलोकप्रागभाव को अन्धकार मानेंगे तो 'अन्धकारः उत्पन्नः' = 'अन्धकार उत्पन्न हुआ' यह प्रतीति नहीं हो सकेगी; क्योंकि प्रागभाव अनादि होने से उत्पन्न नहीं होता है । यदि अन्धकार को आलोकध्वंसाभावात्मक, आलोकात्यन्ताभावरूप या आलोकान्योन्याभावस्वरूप माना जायेगा तो 'अन्धकारो विनष्ट' ऐसी अन्धकार में विनाशावगाही प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि ध्वंस, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव अविनाशी होते हैं । यावत् विशेष में बाध होने से अन्धकार को अभावस्वरूप नहीं माना जा सकता, किन्तु द्रव्यात्मक ही माना जा सकता है - ऐसा भी अनेक विद्वान् कहते हैं ।

❀ आलोकसंसर्गाभावसमूह भी अन्धकार नहीं है - व्याख्याती ❀

न च राशिः इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि --> "आलोक का केवल अत्यन्ताभाव ही अन्धकार नहीं है, किन्तु आलोक के संसर्गाभाव का समुदाय अन्धकार है । इस समुदाय में आलोक का ध्वंस और आलोक का प्रागभाव भी प्रविष्ट हैं । इस समुदाय के घटक (= समुदायी) आलोकध्वंस उत्पत्ति होने पर समुदाय की उत्पत्ति की एवं आलोकप्रागभाव का नाश होने पर समुदाय के नाश की प्रतीति ठीक उसी प्रकार उपपन्न हो सकती है, जैसे राशि के कुछ अंश = घटक = समुदायी का आगमन या उत्पाद होने पर या नाश (व्यतिरेक) होने पर राशि की उत्पत्ति या नाश की प्रतीति होती है । मतलब की समुदायी की उत्पत्ति और नाश ही समुदाय के उत्पाद और नाश का प्रयोजक है । समुदायी के उत्पाद और नाश का ही समुदायजन्मनाशविषयक प्रतीति अवगाहन करती है" <- किन्तु विचार करने पर यह समुचित नहीं प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि राशि की जैसे न तो उत्पत्ति होती है, न तो विनाश एवं तादृशसंसर्गाभावसमुदाय की भी न तो उत्पत्ति होती है, न तो विनाश । इसलिए धान्यराशि के किसी अवयव का नाश होने पर भी 'धान्यराशिः न नष्टः' ऐसी प्रतीति प्रामाणिक मानी जाती है, ठीक वैसे ही निरुक्तसंसर्गाभावसमूह के घटक तादृशप्रागभाव का विनाश होने पर भी 'तमो न नष्ट' यह प्रतीति भी प्रामाणिक हो जायेगी । मगर वस्तुस्थिति यह है कि प्रदीप आदि के आगमन से आलोकप्रागभाव का नाश होने पर अन्धकार में नाश की ही स्वाभाविक प्रतीति होती है । इसका कोई बाधज्ञान पश्चात्

स्यादेतत् - तमसो जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्वं स्यात्, स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वादिति चेत् ? मैवम्, तत्र स्पर्शवत्त्वस्येष्टत्वात् ।

वस्तुतस्तेन रूपेणाऽनारम्भकत्वम्, स्पर्शवत्त्वादेर्विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविर-

❀ नयलता ❀

नित्यत्वेनोत्पत्त्ययोगात् । एतेन 'आलोकसंसर्गाभावसमुदाय एवान्धकारः, तत्र राशिष्विव किञ्चित्समुदायिव्यतिरेकप्रयुक्त एव विनाशः, एवमुत्पत्तिप्रत्ययोऽप्यूहः' (न्या.सि.दी.पृ.) इति शशधरशर्मणो वचनं प्रतिक्षिप्तम्, राशिषु बहुत्वविशेषनाशोत्पादाभ्यां तदाश्रयनाशोत्पादप्रतीत्युपपत्तावपि अभावस्याऽद्रव्यत्वेन आलोकसंसर्गाभावसमुदाये तदसम्भवात्, समूहविलक्षणमहर्देकोत्पादविनाशानुभवाच्चेति ।

किञ्च, आलोकसंसर्गाभावसमूहलक्षणस्याऽन्धकारस्यैकत्र प्रतीतिर्न स्यात्, प्राचां मते प्रागभावप्रध्वंसयोरत्यन्ताभावविरोधित्वात् । न च तन्नियमे मानाभावादेकत्र तमःप्रतीतौ विरोधाभाव इति वाच्यम्, तथापि भूतलादौ तमःप्रतीतेरनुपपत्तेः, आलोक-प्रागभावप्रध्वंसयोः स्वप्रतियोग्यवयववृत्तित्वनियमादिति दिक् ।

ननु तमो नित्यद्रव्यं यदुताऽनित्यद्रव्यं ? इति विकल्पयुगली समुपतिष्ठते । नाद्यः चारुः, तमस्युत्पादविनाशप्रतीत्यनुपपत्तेः । द्वितीये आह-स्यादेतदिति । स्पर्शवदवयवारभ्यत्वं = स्पर्शवद्विरवयवैर्जन्यत्वं स्यात् । कस्माद्धेतोः ? इत्याशङ्काया-माह - स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्वस्य = स्पर्शवदनन्त्याऽवयविभिन्नत्वे सति स्पर्शवदवयवित्वस्य, द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वात् = जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात् । घटादेः स्पर्शवदद्रव्यत्वेऽपि जन्यद्रव्यानारम्भकत्वात् स्पर्शवदनन्त्याऽवयविभिन्नत्वविशेषणोपादानम्, व्यापकधर्मस्य व्याप्यधर्मेणाऽन्वयासिद्धेः, अन्यथाऽकारणेऽपि स्वरूपयोग्यत्वकल्पनापत्तेः । ततश्च तमसो जन्यद्रव्यत्वाऽभ्युपगमे तत्समवायिकारणीभूताऽवयवेषु स्पर्शवत्त्वकल्पनापत्तिरिति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत्तत्रिराकरोति - मैवमिति । तत्र = तमोद्रव्यसमवायिकारणीभूताऽवयवेषु, स्पर्शवत्त्वस्य इष्टत्वात् । ततश्च मिष्टमिष्टं वैद्योपदिष्टञ्चेति न्यायापातः ।

इदञ्च स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्वस्य जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वमभ्युपगम्योक्त-मित्याह - वस्तुत इति । तेन = स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वेन रूपेण अनारम्भकत्वं = जन्यद्रव्यसमवायिकारणतानवच्छेदकत्वम् । अत्र हेतुद्वयमाचष्टे - स्पर्शवत्त्वादेः विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहादिति । स्पर्शवत्त्वे सत्यनन्त्याऽवयवित्वं जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकमाहोस्वित्

नहीं होने से वह प्रतीति प्रामाणिक ही है । मगर उक्त रीति से तब 'तमो न नष्ट' यह प्रतीति भी प्रामाणिक होने लगेगी । अतः अन्धकार को आलोकसंसर्गाभावसमुदायात्मक नहीं माना जा सकता - यह फलित होता है ।

❀ अन्धकारावयव स्पर्शयुक्त ही है - स्यादादी ❀

स्यादेतत्, इति । यहाँ अमुक नैयायिक विद्वानों का यह आक्षेप है कि → "अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर स्पर्शवदवयव से आरभ्यत्व भी उसमें मानना होगा, क्योंकि स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व द्रव्यारम्भकता का अवच्छेदक है । मतलब यह है कि जन्य द्रव्य का समवायिकारण स्पर्शविशिष्ट अनन्त्य अवयवी द्रव्य है । अन्त्य घटादि अवयवी किसी द्रव्य का समवायिकारण नहीं होने से प्रकृत में उसके व्यवच्छेदार्थ अवयवी का अनन्त्य विशेषण लगाया गया है । जन्य द्रव्य का समवायिकारणता-वच्छेदक धर्म है स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व । अतः अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर उसे स्पर्शविशिष्ट अनन्त्य अवयवी द्रव्य से आरभ्य मानना होगा । अतएव अन्धकार के समवायिकारणीभूत अवयवों में स्पर्शवत्त्व भी मानना होगा" ← किन्तु यह भी अयुक्त है, क्योंकि अन्धकारस्वरूप जन्य अनन्त्य अवयवी द्रव्य के समवायी कारण अवयव में स्पर्शवत्त्व हमें अभिमत होने से अन्धकार में स्पर्शवदवयवजन्यत्व का आशयन इष्टापत्तिस्वरूप ही है । अन्धकार एवं उसके अवयव जैनदर्शन में पौद्गलिक माने गये हैं एवं पुद्गलमात्र में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श आदि गुण सर्वदा रहते ही हैं ।

❀ स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व अन्धकारसमवायिकारणतावच्छेदक नहीं हो सकता - स्यादादी ❀

वस्तुतः इति । वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तो स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वरूप से जन्य द्रव्य समवायिकारणता ही नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि स्पर्शवत्त्वादि जैसे विशेषण हो सकता है ठीक वैसे ही विशेष्य भी बन सकता है । मतलब कि जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक स्पर्शवत्त्वे सति अनन्त्य अवयवित्व है या अनन्त्य अवयवित्वे सति स्पर्शवत्त्व है ? इस

हात्, अनन्त्याऽवयवित्वस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितस्य कारणतानवच्छेदकत्वाच्च ।

अथ द्रव्याऽसमवायिकारणं द्रव्यं अनन्त्याऽवयवित्वेदश्चाऽभावत्वेन प्रतीयमानत्वादति-
रिक्त एव, न तु द्रव्यसमवायिकारणत्वमेव । स एव चाऽत्र कारणतावच्छेदक इति चेत् ?
न, द्रव्यसमवायिकारणतापरिचयं विनाऽनेनाऽपि रूपेण कारणताया दुर्ग्रहत्वात् ।

❀ नयलता ❀

अनन्त्याऽवयवित्वे सति स्पर्शवत्त्वं ? इत्यत्र विनिगमकाभावात् । आदिपदेन अनन्त्याऽवयविभिन्नत्वे सति स्पर्शवदवयवित्वमुतत् स्पर्शवदवयवित्वे सति अनन्त्यावयविभिन्नत्वं तथा ? इत्यस्य ग्रहणम् । कारण-तावच्छेदकधर्मविनिगमकाभावात्तादृशकार्य-कारणभावाऽसम्भव इति भावः ।

अस्तु तर्हि अनन्त्यावयवित्वस्यैव जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वमित्याशङ्कायां सत्यां हेत्यन्तरमाह - अनन्त्या-
वयवित्वस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितस्य कारणतानवच्छेदकत्वाच्चेति । समवायिकारणतावच्छेदकत्वाऽसम्भवाच्चेत्यर्थः ।
अयमभिप्रायः अनन्त्यावयवित्व-द्रव्यसमवायिकारणत्वयोः समनयत्येनैकत्वम् । अत एव जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धा-
वच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाऽनन्त्यावयवित्वावच्छिन्नसमवायिकारणताकल्पनभयुक्तम्, दर्शितसमवायिकारणता-
वच्छेदक-समवायिकारणतयोरैक्येन ज्ञातौ आत्माश्रयप्रसङ्गात्, अवच्छेद्यावच्छेदकयोर्भिन्नत्वनियमात्, अप्रसिद्धेनाऽप्रसिद्धज्ञापनाऽ-
योगात् । अत एव मुक्तावलीकृतां कार्यं विहाय संयोगस्य समवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धिकल्पान्तरानुसरण-
मप्युपपद्यते इति विभावनीयं न्यायविद्धिः ।

ननु द्रव्यसमवायिकारणीभूतस्य द्रव्यस्य भावत्वेन प्रतीतिर्भवति, अनन्त्यावयवित्वस्य तु अनन्त्यावयविभिन्नत्वपर्यव-
सितस्याऽभावत्वेन प्रतीतिर्भवति । समनयत्येऽपि विरुद्धधर्माध्यासान्त्योरतिरिक्तत्वमेव । अतः समवायिकारणत्वाननन्त्यावय-
वित्वयोर्नाऽभेदः । न च समनयतयोरैक्यमिति नियमोऽपि प्रामाणिकः, अप्रयोजकत्वात् । घट-तदभावाभावयोरप्यतिरिक्तत्व-
स्यैव मयाऽभ्युपगमात् । एतेन द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदककोटौ समवायिकारणतात्मकस्याऽनन्त्याऽवयवित्वस्य प्रवेशादात्माश्रय
इत्यपि प्रत्युक्तम्, द्रव्यसमवायिकारणतातिरिक्तस्यैवाऽनन्त्यावयवित्वस्य तत्कुक्षौ प्रवेशादित्याशयेन नव्यनैयायिकः शङ्कते -
अथेति । स एव = द्रव्यसमवायिकारणतातिरिक्तः अनन्त्यावयविभेद एव, च अत्र = जन्यद्रव्यस्य स्पर्शवदनन्त्यावयव्यारभ्यत्वस्थले,
कारणतावच्छेदकः = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकः । शेषश्चाऽवतरणिकायामेव भावितम् ।

प्रकरणकारः तन्निराकुरुते - नेति । द्रव्यसमवायिकारणतापरिचयं = जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्न-
कार्यतानिरूपितसमवायिकारणतास्वरूपाऽवबोधः, विना अनेन = अनन्त्यावयविभिन्नत्वावच्छिन्नत्वेन, अपि रूपेण कारणतायाः
= प्रकृते द्रव्यसमवायिकारणताया, दुर्ग्रहत्वात् = दुर्ज्ञेयत्वात् । अस्तु द्रव्यसमवायिकारणताया अनन्त्यावयविभेदातिरिक्तत्वं
तथापि तत्स्वरूपानवबोधेऽनन्त्यावयविभेदः किंस्वरूपायाः कारणताया अवच्छेदकः स्यात् ? न च तत्स्वरूपमद्यावधि नव्येन

विषय में विनिगमनाविरह = एकतरपक्षपातियुक्तिविरह होने से स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व को जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक नहीं
माना जा सकता । दूसरी बात यह है कि अनन्त्य अवयवी का मतलब है समवायी कारण । अतः अनन्त्य अवयवित्व भी
समवायिकारणतावच्छेदकस्वरूप फलित होगा । इस स्थिति में जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न जन्यद्रव्यनिष्ठ कार्यता
से निरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न समवायिकारणता के अवच्छेदकविध्या अनन्त्य अवयवित्व का स्वीकार नहीं हो सकता,
क्योंकि समवायिकारणता अनन्त्यावयवित्वस्वरूप होने से अनन्त्यावयवित्व ही अनन्त्यावयवित्व का अवच्छेदक बनेगा, जिससे
ज्ञप्ति में स्पष्टरूप से आत्माश्रय दोष प्राप्त है । अवच्छेदक धर्म कारणता का परिचायक = ज्ञापक होता है, कारणता उससे
परिचायित = ज्ञापित होती है । इसलिए अवच्छेदक धर्म अवच्छेद्य कारणता से भिन्न एवं प्रसिद्ध होना चाहिए । मगर यहाँ
समवायिकारणतावच्छेदक और समवायिकारणता एक बन जाने से आत्माश्रय दोष प्रसक्त होता है । अतएव अनन्त्यावयवित्व
जन्यद्रव्यनिरूपित समवायिकारणता का अवच्छेदक नहीं बन सकता है ।

॥ नातिविशेष को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जानना उचित ॥

अथ. इति । यहाँ नव्यनैयायिक मनीषिओं का यह कथन है कि —> 'द्रव्य के समवायिकारणीभूत द्रव्य अनन्त्य अवयवी
और उसके भेद से अतिरिक्त ही है । यद्यपि जहाँ जहाँ द्रव्यसमवायिकारणता रहती है वहाँ वहाँ अनन्त्याऽवयवित्व = अनन्त्याऽ-
वयविभेद रहता है फिर भी द्रव्यसमवायिकारणता की भावत्वेन प्रतीति होती है और अनन्त्यावयविभेद की अभावत्वेन प्रतीति
होती है । विरुद्ध धर्म का अध्यास होने से वे दोनों परस्पर भिन्न हैं । द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक अनन्त्यावय-

किञ्च, नव्यनैयायिकेन चक्षुरादीन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपेयः । स तु तमस्यापि संभवतीति नानुपपत्तिः । न च द्रव्यारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्यैव तत्राऽनुद्भूतस्पर्शोऽभ्युपगम्यतामिति वाच्याम्, अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य लघुभूतैकजातिविशेषकल्पनाया एवोचितत्वात् ।

❀ जयलता ❀

निरूपितम् । अतः तयोर्भिन्नत्वाऽभ्युपगमेऽपि न परस्य निस्तार इति स्याद्वाच्यमिष्टायः ।

प्रकरणकारः तमोद्रव्यत्वसाधनार्थमाचष्टे - किञ्चेति । नव्यनैयायिकेन चक्षुरादीन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता त्वया जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेन = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकधर्मविधया, अभ्युपेयः । यद्यपि चक्षुराद्यवयवेषु प्राचीननैयायिकमते उद्भूतस्पर्शो नास्ति परन्त्वनुद्भूतस्पर्शोऽस्ति तथापि नव्यनैयायिकमतेऽनुद्भूतस्पर्शोऽपि तत्र नास्ति, प्रमाणाभावात् । प्रकृते चाऽथवादी नव्यनैयायिक एव । तन्मतेऽपि स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्यैव द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वम् । चक्षुराद्यवयवैः चक्षुरादीन्द्रियं जन्यते, न च तन्मते तत्र स्पर्शोऽस्ति । अतः दर्शितकारणतायां व्यतिरेकव्यभिचारो लब्धावकाशो दुर्निवारः । तदपाकरणाय चक्षुराद्यवयवसाधारणो जातिविशेष एव द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकधर्मविधया नव्येन स्वीकर्तुमुचितः । स = द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषः, तु तमसि अवयवभूते अपि सम्भवति, तमःसाधारणतादृशजातिविशेषकल्पनात् इति = हेतोः तमोऽवयवेषु तमसि वा स्पर्शविरहेऽपि नानुपपत्तिः = न तमसो द्रव्यत्वक्षतिः ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । द्रव्यारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्यैव तत्र = चक्षुरादीन्द्रियावयवेषु, अनुद्भूतस्पर्शः अभ्युपगम्यताम् । स्पर्शवद्द्रव्यस्यैव द्रव्यारम्भकत्वदर्शनाच्चक्षुरादीन्द्रियारम्भकेषु तदवयवेषु स्पर्शोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः । स चोद्भूतो न सम्भवति, तदाश्रयस्पर्शानापत्तेः, द्रव्यस्पर्शनं प्रति उद्भूतस्पर्शस्यैव कारणत्वात् । अतः पारिशेषन्यायेन चक्षुरादीन्द्रियावयवस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वं कल्प्यते । यदि च तत्राऽनुद्भूतस्पर्शोऽपि न स्यात्, गगनादिवत् द्रव्यारम्भकत्वमपि न स्यात् । अतो द्रव्यारम्भकत्वेन अन्ततो गत्वानुद्भूतः स्पर्शः कल्पनीय एवेति शङ्काशयः । प्रकरणकृत्तन्निराकरोति - अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनां = अनन्तेषु चक्षुराद्यवयवेषु पृथक्पृथगनन्तानां अनुद्भूतस्पर्शानां कल्पनां, अपेक्ष्य लघुभूतैकजातिविशेषकल्पनायाः = लघुभूतस्यैकस्य द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वेन जातिविशेषस्य कल्पनाया, एवोचितत्वात् । चक्षुराद्यवयवेषूक्तजातिविशेषकल्पनयैव द्रव्यारम्भकत्वोपपत्तावनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति जातिविशेषस्यैव तमश्चक्षुराद्यवयवसाधा-

विभेद ही है, जो उससे अतिरिक्त है । अतएव उसको अवच्छेदक मानने में ज्ञप्ति में आत्माश्रय दोष का अवकाश नहीं है" <- मगर यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि द्रव्यसमवायिकारणता और अन्त्याऽवयविभेद को परस्पर से अतिरिक्त मानने पर द्रव्यसमवायिकारणता के स्वरूप का ज्ञान न होने से अन्त्यावयविभेद किंस्वरूप द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक बनेगा ? अतः उक्त रूप से द्रव्यसमवायिकारणता का ज्ञान मुश्किल है । इसके अतिरिक्त बात यह है कि प्रतिवादी नव्यनैयायिक चक्षु आदि इन्द्रिय के अवयवों में अनुद्भूत स्पर्श का भी अंगीकार नहीं करते हैं फिर भी उनसे चक्षु आदि इन्द्रिय का आरम्भ होता है । अतः स्पर्शवद् अनन्त्य अवयवी में स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व नहीं होने से उसे द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानना संगत नहीं है, किन्तु जातिविशेष को ही द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक मानना युक्त है । चक्षु आदि इन्द्रिय के अवयवों में स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्व न होने पर भी जातिविशेष होने से उक्त कार्य-कारणभाव में व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं होगा । अतः नव्य नैयायिक को भी जातिविशेष को ही द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक मानना युक्त है । वह जातिविशेष जैसे चक्षु आदि इन्द्रिय के अवयवों में रहता है ठीक वैसे ही अन्धकार के अवयव में भी रहता है । अतः अन्धकार के अवयवों से अन्धकार की उत्पत्ति हो सकती है । अतः अन्धकार एवं अन्धकार के अवयवों में स्पर्श को न मानने पर भी अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने में कोई दोष संभवित नहीं है, क्योंकि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष से युक्त अन्धकारावयव से वह जन्य है । यहाँ यह शंका हो कि -> 'चक्षु आदि के अवयवों में या अन्धकार के अवयवों में उद्भूत स्पर्श न होने पर भी अनुद्भूत स्पर्श का अंगीकार करना ही युक्त है, अन्यथा उनमें द्रव्यारम्भकत्व = द्रव्यसमवायिकारणत्व ही अनुपपन्न होगा; क्योंकि घटादि के अवयवों में स्पर्श होने पर ही उनसे घटादि का आरम्भ होता है, यह देखा गया है । अतः चक्षु और अन्धकार के अवयवों में अनुद्भूत स्पर्श का स्वीकार करना ही होगा' <- तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्त अवयवों में अनन्त पृथक् पृथक् अनुद्भूत स्पर्श की कल्पना करने में गौरव है । इसकी अपेक्षा एक जातिविशेष की कल्पना करना ही उचित है, क्योंकि इस कल्पना में लाघव है ।

तादृशजातेरन्त्याऽवयविन्याऽभ्युपगमाच्च जलत्वादिना साङ्कर्यम् । न तैतं घटादीनाम-
प्यारम्भकत्वं स्यात्, घटत्वादिना घटादेर्द्रव्यं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् ।

❀ जलता ❀

रणस्य द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वं युक्तमिति समाधानाशयः ।

ननु जातिविशेषस्यैव द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वे जलत्वादिना साङ्कर्यं दुर्निवारम् । तथाहि कपाले तादृशजाति-
विशेषोऽस्ति जलत्वं च नास्ति, अन्त्यावयविनि जले जलत्वमस्ति तादृशजातिविशेषश्च नास्ति, तस्य द्रव्यानारम्भकत्वात् ।
परस्परव्यधिकरणयोः जलत्व-जातिविशेषयोरनन्त्यावयविनि जले समावेशजलत्वादिना समं निरुक्तजातिविशेषस्य सङ्कर-
प्रसङ्गेन जातिविशेषस्य न द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वं किन्तु स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्यैव तत्त्वं कल्पयितुमुचितमित्या-
शङ्कादूरीकरणकृते आह - तादृशजातेरिति । द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक-जातिविशेषस्य, अन्त्याऽवयविनि जलादौ अपि
अभ्युपगमात्, अपिशब्देनाऽनन्त्याऽवयविसमुच्चयः कृतः । न जलत्वादिना साङ्कर्यम् । आदिपदेन पृथिवीत्वादिग्रहः ।
जलत्वादिना जातिविशेषस्य वैयधिकरण्याऽसिद्धेर्न परस्पराऽसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशलक्षणसङ्करावकाशः, अन्त्याऽ-
वयविनि अनन्त्याऽवयविनि च जलादौ तादृशजातेः सत्त्वाऽभ्युपगमादिति भावः ।

ननु घटादावन्त्यावयविन्यपि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमे तु घटादेरपि द्रव्यारम्भकत्वं प्रसज्येत, तस्य
द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वत्वात् । न च तस्य द्रव्यारम्भकत्वं कस्यचिदप्यभिमतम् । न च महापटस्याऽन्त्यावयविनः खण्ड-
पटारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्याऽन्त्याऽवयविन्यपि तादृशजात्यङ्गीकार उचित इति वाच्यम्, खण्डपटस्य महापटध्वंसजन्यत्वेन
महापटोपादानोपादेयत्वाऽभ्युपगमात् । अतो नाऽन्त्याऽवयविनि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमः प्रामाणिकः । एतेन
जलत्वादिना साङ्कर्यनिवारणकृतेऽन्त्याऽवयविनि तादृशजात्यङ्गीकारो न्याय्य इत्यपि प्रत्याख्यातम्, न हि प्रयोजनक्षतिभयेन
सामग्री कार्यं नाऽर्जयतीति उभयतः पाशरज्जुन्यायापात इत्याशङ्कानिराकरणायोपक्रमते - न चेति । एवं = अन्त्याऽवय-
विन्यपि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमे सति, घटादीनामप्यारम्भकत्वं स्यात् = प्रसज्येत । तदयुक्तत्वमाविष्करोति
- घटत्वादिना रूपेण घटादेः अन्त्याऽवयविनः द्रव्यं प्रति प्रतिबन्धकत्वादिति । समवायेन द्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति
तादात्म्येनाऽन्त्याऽवयविनः प्रतिबन्धकत्वमिति नियमोऽस्माभिरङ्गीक्रियते । घटादिष्वन्त्याऽवयविषु द्रव्यसमवायिकारणता-
वच्छेदकजातेः सत्त्वेऽपि समवायेन द्रव्यं प्रति तादात्म्येन तेषामेव प्रतिबन्धकत्वान्न घटादिषु समवायेन द्रव्यमुपजायते, प्रति-

❀ द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जाति में सांकर्य का निराकरण ❀

तादृश. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> “जातिविशेष को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानने पर जलत्व आदि
जाति के साथ सांकर्य होगा । वह इस तरह - अन्त्य अवयवी जल में जलत्व जाति है, मगर उपर्युक्त जातिविशेष नहीं
है । कपाल में जातिविशेष है, मगर जलत्व जाति नहीं है । परस्पर व्यधिकरण जलत्व जाति एवं द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक
जातिविशेष दोनों ही अनन्त्य जल द्रव्य में विद्यमान है, क्योंकि वह जल है एवं अन्त्य अवयवी जल का समवायिकारण है ।
परस्पर व्यधिकरण धर्म का एक धर्मी में समावेश होना ही सांकर्य है, जो कि जातिबाधक है । उक्त सांकर्य दोष के कारण
ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकविधया जातिविशेष का स्वीकार नहीं किया जा सकता’ <— तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि
अन्त्य अवयवी में भी द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष का हम अंगीकार करते हैं । मतलब यह है कि जलत्व एवं
उक्त जातिविशेष को परस्पर व्यधिकरण सिद्ध करने के लिए जो कहा गया था कि —> ‘अन्त्य अवयवी जल में जलत्व जाति
है, मगर द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष नहीं है’ <— वही असंगत है, क्योंकि उसमें दोनों ही जाति रहती हैं ।
अतः परस्परव्यधिकरण धर्म का एक धर्मी में समावेशस्वरूप सांकर्य दोष नामुमकिन है । यहाँ यह शंका हो कि —> ‘अन्त्य
अवयवी में द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष का स्वीकार करने पर तो घटात्मक अन्त्य अवयवी से भी अन्य द्रव्य की
उत्पत्ति होने लगेगी, क्योंकि उसमें द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष विद्यमान है । अतः कपाल की भाँति घट में
भी द्रव्यारम्भकत्व की आपत्ति होगी’ <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट आदि अन्त्य अवयवी में द्रव्यसमवायिकारणता-
वच्छेदक जातिविशेष होने पर भी घटत्वादि धर्म नवीन द्रव्य की उत्पत्ति की प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक होने से उसके आश्रय
घटादि से नूतन द्रव्य की आरम्भकता = समवायिकारणता की आपत्ति नहीं दी जा सकती । नवीन द्रव्य की उत्पत्ति के
प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से घट आदि द्रव्य को घटत्वादिरूप से प्रतिबन्धक मानने से ही घटादि अन्त्य अवयवी द्रव्य से नवीन

एतेन 'द्रव्यत्वं कार्याऽकार्यवृत्ति न कार्यतावच्छेदकं, जन्यद्रव्यत्वस्य जन्यमात्रवृत्तित्वेऽपि तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकजातेरनङ्गीकारः, जलत्वादिना साङ्कर्यादि'ति तर्ह्यमाहोक्तिः

❀ जलत्वादि ❀

बन्धकाभावस्याऽपि कारणत्वेन सामग्रीवैकल्यात् । न च गौरवम्, फलाभिमुखत्वात् । अतो घटादिषु द्रव्यसमवायिकारणता-वच्छेदकजात्यभ्युपगमेऽपि न दोष इति समाधानाभिप्रायः ।

नव्यन्यायप्रस्थापकगङ्गेशपुत्रवर्धमानमतनिराकरणार्थमुपक्रमते - एतेनेति । समवायेन द्रव्यं प्रति तादात्म्येनाऽन्त्याऽवयविनः प्रतिबन्धकत्वकल्पनेनेति । अस्य चांपास्ते'त्यनेनाऽन्वयः । द्रव्यत्वं कार्याऽकार्यवृत्ति न कार्यतावच्छेदकमिति । एनेन समवायेन द्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणमिति कार्यकारणभावात् तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकारणतानिरूपिता या समवायसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा कार्यता सा किञ्चिद्भर्मावच्छिन्ना कार्यतात्वादित्यनुमानेन कार्यतावच्छेदकधर्मविधया द्रव्यत्वजातिसिद्धिरिति प्रत्याख्यातम्, द्रव्यनिष्ठकार्यतावच्छेदकत्वं द्रव्यत्वस्य न सम्भवति, अन्यूनानतिप्रसक्तधर्मस्यैवाऽवच्छेदकत्वनियमेन द्रव्यत्वस्य नित्यानित्यवृत्तितया कार्यताऽतिरिक्तवृत्तित्वात् । एवञ्च द्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यत्वाऽप्रसिद्ध्या पक्षसिद्धेर्नोक्तानुमानसम्भवः । यद्यपि द्रव्यत्वस्यातिप्रसक्तत्वोपपादनायाऽकार्यवृत्तीत्येव वक्तुमुचितं तथापि तस्य कार्यतावैयधिकरण्यप्रयुक्तावच्छेदकत्वाभावाऽऽशङ्कानिराकरणाय 'कार्याऽकार्यवृत्ति'त्युक्तमिति ध्येयम् ।

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वस्याऽतिप्रसक्तत्वेऽपि जन्यद्रव्यत्वस्यानतिप्रसक्ततया तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यताया अवच्छेदकत्वमित्याशङ्कायां वर्धमान आह - जन्यद्रव्यत्वस्येति । सामान्यधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टद्रव्यत्वस्य, जन्यमात्रवृत्तित्वेऽपि = जन्यद्रव्यवृत्तित्वे सत्यजन्यद्रव्याऽवृत्तित्वेन कार्यतानतिरिक्तवृत्तित्वेऽपि, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकजातेः = जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकजातेः अनङ्गीकारः, कुतः ? इत्याह - जलत्वादिना साङ्कर्यादिति । जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्ननिरूपितकारणताया अवच्छेदकत्वं द्रव्यत्वेऽसम्भवि, तस्याऽन्त्यावयविन्यपि वृत्तेः अन्त्याऽवयविनि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताया असम्भवेन द्रव्यत्वस्य कारणताऽति-

द्रव्य की उत्पत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता । प्रतिबन्धक होने पर कार्य का जन्म कैसे हो सकता है ?

❀ वर्धमान उपाध्याय के मत का निराकरण ❀

एतेन द्रव्य, इति । नव्यन्याय के प्रस्थापक गङ्गेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान उपाध्याय का यह कथन है कि —> 'द्रव्यत्व जाति कार्य और अकार्य में यानी नित्य और अनित्य में वृत्ति होने से अनन्त्य अवयवी द्रव्य की कार्यतावच्छेदक नहीं बन सकती है । अवच्छेदक धर्म वह हो सकता है, जो अवच्छेद्य से अन्यून और अनतिरिक्त वृत्ति हो । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न समवायिकारणता से, जो अनन्त्य अवयवी में वृत्ति (= रहती) है, निरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न कार्यता के आश्रयीभूत घटादि में एवं तादृश कार्यता के अनाश्रय गगनादि में भी द्रव्यत्व जाति रहती है । तादृश कार्यता से अतिरिक्तवृत्ति (= अधिकदेशवृत्ति) होने से द्रव्यत्व जाति तादृश कार्यता की अवच्छेदक नहीं बन सकती । अगर जन्यत्वविशिष्टद्रव्यत्व को तादृश कार्यता का नियामक माना जाय तो भी जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न = सब जन्य द्रव्य की कारणता की अवच्छेदक जाति कोई भी नहीं हो सकती, क्योंकि उस जाति का जलत्व आदि जाति के साथ सांकर्य प्रसक्त होता है । आशय यह है कि जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता के अवच्छेदकविधया द्रव्यत्व जाति का अंगीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि द्रव्यत्व अन्त्य अवयवी घटादि में भी रहता है, फिर भी वे समवाय सम्बन्ध से किसी द्रव्य का आश्रय नहीं बनते हैं, अन्य द्रव्य की समवाय सम्बन्ध से उनमें उत्पत्ति नहीं होती है । इस तरह द्रव्यत्व तादृश कारणता को छोड़ कर भी घटादि में रहने से जन्यद्रव्यनिष्ठ कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता है । अतः अन्त्य अवयवी में न रहनेवाली जाति को ही तादृश कारणता का अवच्छेदक मानना होगा । मगर ऐसा होने पर जलत्वादि के साथ सांकर्य होगा । वह इस तरह-कपाल आदि द्रव्य घटादि का आरंभक होने से उसमें तादृश कारणतावच्छेदक जाति रहेगी, मगर वहाँ जलत्व जाति नहीं रहती है । अन्त्य जल अवयवी में जलत्व जाति रहती है, मगर उक्त कारणतावच्छेदक जाति नहीं रहती है । जलत्व जाति से व्यधिकरण उक्त कारणतावच्छेदक जातिविशेष अनन्त्य अवयवी जल द्रव्य में जलत्व की समानाधिकरण है, क्योंकि अनन्त्य जल अवयवी अन्त्य जल अवयवी द्रव्य का आरम्भक होने से तादृश कारणतावच्छेदक जातिविशेष का आश्रय होता है और वहाँ जलत्व जाति भी रहती ही है । इस तरह परस्पर व्यधिकरण धर्म का एक धर्मी में समावेश होने से सांकर्य दोष प्रसक्त होता है । अतः अन्त्य अवयवी से व्यावृत्त जातिविशेष

अपास्ता ।

मूर्तत्वेनैव द्रव्यारम्भकत्वं, न च मनसोऽपि मूर्तत्वात् तदारम्भकत्वापत्तिः, मनोऽन्य-
मूर्तत्वेनैव तथात्वादित्येके ।

❀ जयलला ❀

रिक्तवृत्तित्वात् । एतेन → 'जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्व-
जातिसिद्धेः' ← (मुक्ता. ३२० पृ.) इति मुक्तावलीकारवचनं प्रतिक्षिप्तम् । यत्तु मुक्तावलीमयूखे सूर्यनारायणेन
“सर्वस्मिन्नपि जले जलान्तरसंयोगेन बृहज्जलजननयोग्यतासत्त्वात् जलस्याऽन्त्याऽवयवित्वानुपगमेनाऽदोषादि” (मु. मयू. पृ. १०४)
त्युक्तम् तदसत्, जलस्यान्त्याऽवयवित्वानुपगमे शरीरलक्षणस्य जलीयशरीरेऽव्याप्त्यापत्तेः । ततश्च जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्ननिरूपित-
जनकतावच्छेदकत्वमन्त्यावयविव्यावृत्तजातेरेवोपगन्तव्यम् । तथा च जलत्वादिना साङ्कर्यं दुर्निवारम् । तथाहि घटारम्भकत्वात्
कपाले जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकत्वेन सिद्धा निरुक्तजातिः वर्तते, जलत्वञ्च नास्ति । अन्त्याऽवयविनि
जले जलत्वमस्ति, निरुक्तजातिर्नास्ति । अनन्त्यावयविनि जले जलत्वं दर्शितजातिश्च वर्तते इति परस्परात्यन्ताभावसमानाधि-
करणयोरेकत्र समावेशलक्षणं साङ्कर्यं दुर्वारमिति वर्धमानाशयः ।

प्रागुक्तयुक्त्याऽयमपि न समीचीनः । जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकजातेरन्त्यावयविन्यपि स्वीकारेण
जलत्वादिना साङ्कर्यप्रच्यवात् । न चैवमन्त्यावयविन्यपि समवायेन द्रव्यान्तरापत्तिरिति वाच्यम्, समवायेन द्रव्यं प्रति
तादात्म्येनाऽन्त्याऽवयविनः प्रतिबन्धकत्वाऽङ्गीकारेण तदवोगात् । ततश्च जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्ननिरूपितकारणतावच्छेदकं द्रव्यत्व-
मेवेत्याशयः ।

अत्रैव साम्प्रतमेकेषां मतमावेदयति प्रकरणकारः - मूर्तत्वेनेवेति । एनकारेण द्रव्यत्वव्यवच्छेदः कृतः । द्रव्यारम्भकत्वं
= द्रव्यसमवायिकारणत्वम् । द्रव्यसमवायिकारणताया मूर्तत्वावच्छिन्नत्वे मनस्यपि समवायेन द्रव्यान्तरमुत्पद्येत, तत्र मूर्तत्वस्य
वृत्तित्वादित्याशङ्कानिराकरणाय वदन्ति - न चेति । तदारम्भकत्वापत्तिः = द्रव्यान्तरसमवायिकारणत्वप्रसङ्गः । तदपाकरणाय
व्याचक्षते - मनोऽन्यमूर्तत्वेनैव तथात्वात् = द्रव्यारम्भकत्वात् । मनोभिन्नत्वे सति मूर्तत्वस्य द्रव्यसमवायिकारणताव-
च्छेदकत्वम् । मनसि विशेष्यसत्त्वेऽपि विशेषणविरहेण विशिष्टकारणत्वावच्छेदकाऽसत्त्वान्न तत्र समवायेन द्रव्यान्तरप्रसङ्गः ।
द्रव्यत्वं तु व्यापकत्वाच्च द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकम्, अनतिरिक्तवृत्तित्वात्, अन्यथाऽकारणेऽपि स्वरूपयोग्यत्वकल्पनापत्ते-
रिति तदाशयः ।

को, सांकर्य के सबब, जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न की कारणता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता और द्रव्यत्व जाति अतिरिक्त
वृत्ति होने से कारणतावच्छेदक नहीं हो सकती है' ←

किन्तु अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत ! हमने अभी ही बता दिया है कि तादृश जातिविशेष
अन्त्य अवयवी में रहने पर भी समवाय सम्बन्ध से द्रव्य के जन्म के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्त्य अवयवी प्रतिबन्धक
होता है । अन्त्य जल, घट आदि अवयवी में जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न की कारणतावच्छेदक जाति का अंगीकार करने से ही 'पूर्वोक्त
रीति से सांकर्य का वारण मुमकिन है तथा उक्त प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव का अंगीकार करने से ही अन्त्य अवयवी में समवाय
सम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का वारण भी हो सकता है । अतः द्रव्यत्व को जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न का कारणतावच्छेदक
मानने में कोई दोष नहीं है ।

❀ मनोभिन्नमूर्तत्व द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक है - अनुक्त विद्वानों का मत ❀

मूर्त. इति । यहाँ अमुक्त विद्वानों का यह कथन है कि द्रव्यारम्भकत्वावच्छेदक = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक धर्म
मूर्तत्व धर्म ही है । कपाल, तन्तु आदि में मूर्तत्व धर्म होने की वजह ही वे घट, पट आदि के समवायिकारण हो सकते
हैं । यहाँ यह कहना कि → 'मूर्तत्व तो मन में भी रहता है । अतः कपालादि की भाँति मन में भी समवाय सम्बन्ध
से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होनी चाहिए' ← ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक धर्म केवल मूर्तत्व नहीं है,
किन्तु मनोभिन्नमूर्तत्व है । मन मूर्त जरूर है, मगर मनोभिन्न नहीं है । अपने से कोई भी पदार्थ भिन्न नहीं होता है ।
मन में मनोभिन्नत्व नहीं होने से मनोभिन्नत्वविशिष्टमूर्तत्व भी नहीं रहता है । विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव होने से मन

मूर्तत्वेनैव तथात्वम् । मनसि द्रव्यानुत्पत्तिस्तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराऽभावादित्यापरे ।

यत्तु - द्रव्यारम्भकतावच्छेदकतया पृथिव्यादिचतुर्वैव भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते ।

❀ गयलता ❀

एके इत्येवं वदता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्वैजश्चेदम् - मनोभिन्नत्वविशिष्टमूर्तत्वं तथा यदुत मूर्तत्व-विशिष्टमनोभिन्नत्वम् ? इत्यत्र विनिगमनाविरहात् । घटादावपि समवायेन द्रव्यान्तरप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । अन्त्यावयवि-भिन्नत्वविशेषणोपादाने विशिष्यविशेषणभावे विनिगमकाभावात् महागौरवाच्चेति भावनीयम् ।

द्रव्यसमवायिकारणत्वस्थल एवापरेषां मतं व्याकरोति - मूर्तत्वेनैवेति । एवकारेण द्रव्यत्व-मनोभिन्नमूर्तत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः । तथात्वं = द्रव्यसमवायिकारणत्वम् । तर्हि मनसि व्यभिचारः किं पाणिपिधेयः ? इत्याशङ्क्यामाह - मनसीति । मूर्तत्ववति । द्रव्यानुत्पत्तिः तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराभावादिति । जन्यद्रव्याऽसमवायिकारणीभूतविलक्षणसंयोगविरहात् मनसि न समवायेन द्रव्यमुत्पद्यते, सामग्रीवैकल्ये कार्योत्पादापादनाऽयोगात् । ततश्च न गौरवादिदोषावकाशः । युक्तञ्चेतत् - सम्भवति क्लृप्ताऽगुरुधर्मविशेषे सामान्यधर्मस्य कारणताद्यनवच्छेदकत्वात्, अन्यथा द्रव्यत्वमपि घटत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकं प्रसज्येतेत्यपरेषामभिप्रायः ।

‘अपरे’ इत्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्वैजश्चैवम्, मनसि विजातीयसंयोगलक्षणहेत्वन्तरविरहे मानाभावात्, यत्क्रियया घटे आरम्भको मनसि चानारम्भकः संयोगो जनितः तत्क्रियाजन्यतावच्छेदाय तत्रोक्तवैजात्यस्याऽऽवश्य-कत्वात् । न च मनोऽन्यमूर्तत्वेनैव तथात्वमिति वक्तव्यम्, गौरवात् । एवञ्च तादृशजातिकल्पने, विजातीयसंयोगकल्पने नोदन-त्वादीनां तद्वैजात्यव्याप्यत्वकल्पने तदवच्छिन्नकारणताकल्पने च महागौरवात् वरमतिशय एवाऽनतिप्रसक्तः द्रव्यजनकः कल्प्यत इति । मनसि सर्वदा विजातीयसंयोगविरहे च नित्यत्वे सति स्वरूपयोग्यस्य फलावश्यम्भावा इति नैयायिकराद्धान्तभङ्गस्तु परस्याधिकदोष इति दिक् ।

अत्रैव कस्यचिन्मतभगाकर्तुमायेदयति - यत्त्विति । तदपमतमित्यनेनाऽस्यान्वयः । द्रव्यारम्भकतावच्छेदकतया = द्रव्य-समवायिकारणतावच्छेदकतया, पृथिव्यादिचतुर्वैव = पृथिवीजलतेजोवायुषु, एवपदेनाकाशप्रभृतिव्यवच्छेदः कृतः, भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते = अनुमीयते । प्रयोगस्त्वेवम्, पृथिव्यादिचतुष्कनिष्ठा समवायसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् कपालनिष्ठघटकारणतावत् । तादृशकारणताया गगनाद्य-

में समवाय सम्बन्ध से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति हो सकती नहीं है । कारणतावच्छेदक धर्म से शून्य से कार्योत्पाद का आपादन कैसे हो सकता है ?

❀ मूर्तत्व ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक - अपरमत ❀

मूर्तत्वेनैव तथा. इति । प्रकरणकार यहाँ अपर विद्वानों के अभिप्राय को बताते हैं कि → ‘मूर्तत्व ही द्रव्यसमवायिकारण-तावच्छेदक धर्म है, न कि मनोभिन्नमूर्तत्व, क्योंकि वैसा मानने में गौरव है । यहाँ यह शंका करना कि → “मूर्तत्व को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानने पर मन में भी समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की उत्पत्ति होने की आपत्ति होगी, क्योंकि मन में मूर्तत्व रहता है” ← ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि मन में द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मूर्तत्व होने पर भी विजातीयसंयोगात्मक अन्य हेतु न होने की वजह ही मन में समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है । एक कारण से ही कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु सामग्री से ही कार्य का उत्पाद होता है । अतः मूर्तत्व को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानने में कोई दोष नहीं है ।

❀ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक भूतत्वजाति नहीं हो सकती ❀

यत्तु. इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि → ‘द्रव्यारम्भकतावच्छेदक न तो द्रव्यत्व है, न तो मूर्तत्व किन्तु भूतत्व है । इसका कारण यह है भूतत्व जाति की सिद्धि ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकविधया होती है । द्रव्य का समवायिकारण पृथ्वी, जल, तेज और वायु होता है । अतः भूतत्व जाति भी इन चारों में ही रहेगी, न कि अन्य में । भूतपद का शक्यतावच्छेदक भी भूतत्व जाति ही है । जहाँ जहाँ भूतत्व जाति रहती है, उसमें ही भूतपद का प्रयोग होता

स एव च भूतपदशक्यतावच्छेदकः । आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भावत एव इति तमोऽवयवानां न द्रव्यारम्भकत्वमिति मतं तदपगतम्, तमःसाधारणस्यापि तस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्, मनसोऽनतिरिक्तत्वनये भूत-मूर्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेश्च ।

॥ जयलला ॥

वृत्तितया गगनादिव्यावृत्ता भूतत्वजातिः तादृशकारणतावच्छेदकतया सिध्यति । स = भूतत्वाख्यो जातिविशेषः, एव च भूतपद-शक्यतावच्छेदकः = भूतपदनिरूपितशक्तिविषयताया अवच्छेदकः भूतपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति यावत् ।

नन्वेवं सति गगने भूतपदप्रयोगस्योन्मत्तप्रलापत्वं प्रसज्येत यतो भूतत्वलक्षणं भूतपदप्रवृत्तिनिमित्तं नास्ति भूतपदश्च तत्र व्यवहियत इत्याशङ्क्यायामावक्षते - आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भावतः = गौण इति । पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वेव भूतपदप्रयोगः मुख्यः, गगने तुपचरितः, चित्रगते गवि गोपदप्रयोगवत् । एतेन गगने भूतपदप्रयोगविषयतया भूतत्वसिद्धिः प्रत्युक्ता, माणवकेऽपि सिंहत्वसिद्धिप्रसङ्गात् । इति = भूतत्वजातेः पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वेव वृत्तित्वात्, तमोऽवयवानां पृथिव्यादिचतुष्क-बहिर्भूतानां न द्रव्यारम्भकत्वं = तमोद्रव्यसमवायिकारणत्वम् । यद्यपि एतन्मते तमसोऽद्रव्यत्वेन तमोऽवयवानामप्यसिद्धिः तथापि अभ्युपगमवादेन तमोऽवयवानङ्गीकृत्य तमसो द्रव्यत्वप्रतिषेधार्थमिदमुक्तमिति द्रष्टव्यम्, परप्रसिद्धानुवादेन प्रसङ्गा-पादनस्य प्रसिद्धत्वात् ।

तदपगतमिति । तदेव समर्थयति - तमःसाधारणस्यापि = पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वेव तमस्यप्यनुगतस्य, तस्य = भूतत्वाभिधानस्य जातिविशेषस्य, कल्पयितुं = अनुमातुं, शक्यत्वात् । प्रयोगस्त्वेवम् - समवायसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठ-कार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना पृथिवीजलतेजोवायुतमोवृत्तिः समवायिकारणता किञ्चिद्भर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् कपालनिष्ठघटकारणतावत् । दर्शितानुमानेन तमस्यपि भूतत्वजातिसिद्धौ तमोऽवयवानां तमोद्रव्यारम्भकत्वं सुघटमिति भावः ।

यत्तुक्तं - 'पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वेव भूतत्वाख्यो जातिविशेष' इति तत्राऽऽह - मनसोऽनतिरिक्तत्वनये = जीवानामणु-त्वमेव मनश्च न ततो भिन्नमिति तन्मते भूतमूर्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेरिति । तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थक्यनात् भूतमूर्त-पदयोः पर्यायत्वप्रसङ्गः । आकाशे भूतत्वजात्यनङ्गीकारात् मनसश्चातिरिक्तस्य विरहात् भूतमूर्तपदाभ्यां पृथिव्यादिचतुष्कस्यैव प्रतिपादनात् तत्पर्यायत्वं दुर्वारमित्यर्थः । नव्यनैयायिकैरपि अतिरिक्तं मनः नाऽभ्युपगम्यते, भातिका एव परमाणवो मनान्ति अनन्तधर्मिणाभतिरिक्तायाश्च जातेः कल्पनापेक्षया क्लृप्तानामेव धर्मिणां ताद्रूप्येण हेतुत्वस्य युक्तत्वात्, सुषुप्ती ज्ञाना-नुत्पत्तिनियमस्त्वदृष्टोपग्रहादिति तेषामभिप्रायात् । एतेन साध्यादिमतेऽस्तु मनसोऽनतिरिक्तत्वम्, नैयायिकमते तु तस्या-तिरिक्तत्वाभ्युपगमान्न भूतमूर्तपदयोः पर्यायत्वापत्तिरिति प्रत्याख्यातम् । भूतमूर्तपदाऽपर्यायत्वोपपत्तयेऽपि मनसोऽनतिरिक्त-त्वमतानुरोधेन गगने भूतत्वमुपगन्तव्यम् । एवञ्च पृथिवीजलतेजोवायुकाशतमोद्रव्येषु भूतत्वं कल्पनामर्हति, सङ्कोचे माना-भावादित्यभिप्रायः ।

है । यद्यपि आकाश में भी भूतपद का प्रयोग होता है तथापि वह प्रयोग मुख्य नहीं है । आकाश में होने वाला भूतपद का प्रयोग गौण है । अतः आकाश में भूतत्व का व्यवहार भूतत्व जाति का साधक नहीं है । अन्धकार तो पृथ्वी आदि चतुष्टय से बहिर्भूत है । अतः वह भूतत्वजाति से शून्य होता है । अतएव अन्धकार अवयवों से अन्धकार द्रव्य का आरम्भ नहीं हो सकता । द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जाति से रहित में समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः अन्धकार को द्रव्यात्मक नहीं माना जा सकता' <— किन्तु यह कथन भी अविचारितरमणीय है, क्योंकि तर्कशस्त्र चलने पर वह धराशायी हो जाता है । वह इस तरह द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकविधया पृथ्वी आदि चार में साधारण = अनुगत भूतत्व जाति की कल्पना करने की अपेक्षा अन्धकार में भी साधारण = अनुगत भूतत्व जाति की कल्पना क्यों नहीं करते ? अन्धकार की वादवाकी करने की क्या जरूरत ? पृथ्वी आदि की भाँति अन्धकार में साधारण भूतत्व जाति की कल्पना करने से ही अन्धकार के अवयवों में अन्धकारात्मक द्रव्य की समवायिकारणता की उपपत्ति हो सकती है । अतः अन्धकार को द्रव्य मानने में कोई दोष नहीं है । दूसरी बात यह है कि जो दार्शनिक मन को अतिरिक्त नहीं मानते हैं, किन्तु आत्मा को ही अणु मान कर मन को अणु आत्मास्वरूप मानते हैं, उनके मतानुसार भूतपद और मूर्तपद पर्यायवाचक बन जायेंगे, क्योंकि आप पृथ्वी आदि चार को ही भूत मानते हैं और मन नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु को वे दार्शनिक नहीं मानते हैं । अतः भूतपद एवं मूर्तपद का वाच्यार्थ पृथ्वी आदि द्रव्यचतुष्क ही बनेगा । अतः भूतपद और मूर्तपद का प्रवृत्तिनिमित्त

आकाशे वेदादिप्रयुक्तभूतपदस्य मुख्यत्वाय बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणजातीयगुणवत्त्वस्य गुरोरपि भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वात्, अन्यथा पशुपदादेरपि गोत्वादिविशिष्ट एव शक्त्यापत्तेः ।

❀ जयलता ❀

यत्कृतम् - 'आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भावत एवे'ति तत्राऽऽह - आकाशे इति । सप्तम्यर्थो विषयत्वम् । वेदादि-प्रयुक्तभूतपदस्येति । वेदादौ प्रयुक्तस्य आकाशविषयकस्य भूतपदस्येति भावः । मुख्यत्वाय = प्रधानत्वोपपत्तिकृते, बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणजातीयगुणवत्त्वस्य = मनोभिन्नेन्द्रियेण ग्राह्यो यो विशेषगुणः तत्सजातीयगुणवत्त्वस्य, गुरोः अपि भूतपद-शक्यतावच्छेदकत्वात् = भूतपदनिरूपितशक्तिविषयताया अवच्छेदकत्वात् । अयमत्राभिसन्धिः भूतत्वं जातिः न सम्भवति मूर्तत्वेन समं साङ्कर्यात्, भूतत्वं विहाय मनसि वर्तमानस्य मूर्तत्वस्य मूर्तत्वं विहाय गगने वर्तमानस्य भूतत्वस्य च पृथिव्यादिषु सत्त्वेन परस्परव्यधिकरणयोरेकत्र समावेशात् । किन्तु बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणसजातीयगुणवत्त्वमेव भूतत्वम्, आत्मन्यतिव्याप्ति-वारणाय 'बहिरिन्द्रिये'ति । बहिरिन्द्रियग्राह्यस्य संयोगादिगुणस्य मनआदावपि सत्त्वात् 'विशेषे'त्युक्तम् । 'बहिरिन्द्रियग्राह्य-विशेषगुणवत्त्वे'त्युक्तावननुगमदोषः इति 'जातीयगुणे'त्युपादानम् । सजात्यञ्च तादृशविशेषगुणत्वेन बोध्यम् । तेन नात्मादावति-व्याप्तिः । यद्यप्युत्पत्तिनावच्छेदेन घटादौ सृष्टिप्राक्कालावच्छेदेन गगने च तादृशगुणवत्त्वं नास्ति तथापि समवायेन तादृश-गुणसम्बन्धित्वमित्यत्र तात्पर्यान्नाऽव्याप्तिः । न च समवायेन स्पर्शसम्बन्धित्वमेव भूतत्वमस्तु, लायवात्, गगने तूषचारेणैव भूतपदप्रयोगादिति वाच्यम्, वेदादावपि गगनविषयकभूतपदोपलम्भात्, वेदादौ लक्षणाया अनङ्गीकारात्तन्मुख्यत्वोपपत्तये तत्राऽपि भूतत्वस्यावश्यकत्वात्, गौरवस्य फलाभिसृगल्लेगाऽदोषात् ।

मुक्तावलीकारस्तु —> "पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वम् । तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् । अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम् । तेन 'ज्ञातो घट' इति प्रत्यक्षे ज्ञानस्याऽप्युपनीतमानविषयत्वात्तद्वति आत्मनि नाति-व्याप्तिः । न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादावव्याप्तिः, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्, महत्त्वलक्षणकारणान्तराऽसन्निधानाच्च न प्रत्यक्षत्वम् । अथवा आत्माऽवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम्' <— (मुक्ता. पृ. २४१, का. २६) इत्याह । अत्र कल्पान्तर-प्रदर्शनप्रयोजनं तु —> 'चक्षुरिन्द्रियादिगतरूपादिविशेषगुणानामनुद्भूतत्वेन बहिरिन्द्रियग्राह्याऽयोग्यचक्षुरादावव्याप्तेर्लाघवाच्च' <— (मु. दिन. पृ. २४१) इति महादेवः प्राह ।

नृसिंहशास्त्री तु —> 'समवायेन शब्दस्पर्शान्यतरसम्बन्धित्वं समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन शब्दस्पर्शान्यतर-सम्बन्धित्वं, एतदन्यतरत्वं पृथिव्यादिगगनान्तान्यतमत्वरूपं वा भूतत्वं' <— (मुक्ता.प्र. पृ. १०८) इत्याचष्टे ।

ननु दर्शितभूतत्वस्य गुरुत्वान्न भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वं सम्भवतीत्याशङ्कयामाह - अन्यथेति । गुरोः शक्यतान-वच्छेदकत्वे, पशुपदादेरपि गोत्वादिविशिष्ट एव शक्त्यापत्तेः = शक्तताप्रसङ्गात् । एवकारेण 'लोमवल्लाङ्गूलवति' इत्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । अयं भावः पशुत्वं न जातिः उच्चैःश्रवत्वादिना साङ्कर्यात् किन्तु लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वलक्षणः सखण्डोपा-

एक ही बनेगा । जिन पदों का प्रवृत्तिनिमित्त एक ही होता है, वे पद पर्यायवाचक कहलाते हैं । इसलिए अभिन्न पदप्रवृत्तिनिमित्त वाले भूतपद और मूर्तपद में पर्यायत्व की आपत्ति आयेगी ।

❀ गुरुधर्म भी शक्यतावच्छेदक हो सकता है - व्याख्यातृ ❀

आकाशे. इति । पृथ्वी आदि चार चें भूतत्व जाति मानने वाले विद्वानों ने जो कहा था कि —> 'आकाश में भूतत्व जाति नहीं रहती है । इसलिए आकाश में होने वाला भूतपद का प्रयोग गौण है' <— वह भी युक्त नहीं है । इसका कारण यह है कि वे विद्वान् वेदादि को प्रमाण मानते हैं । तथा वेदादि में तो अनेक बाद आकाशात्मक अभिधेय में भूतपद का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । वेदादि में आकाश में जो भूत पद का प्रयोग किया गया है, उसे गौण तो नहीं माना जा सकता । अतः उसके मुख्यत्व की उपपत्ति के लिए आकाश में भी भूतत्व का अङ्गीकार करना उचित है । भूतपद के शक्यतावच्छेदकस्वरूप भूतत्व को जातिस्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब मूर्तत्व जाति के साथ सांकर्य प्रसक्त है । किन्तु भूतत्व अखण्ड उपाधिस्वरूप है जिसका बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुण के सजातीय गुणवत्त्वरूप निर्वचन हो सकता है । पृथ्वी आदि में बहिरिन्द्रिय घ्राण आदि से ग्राह्य गन्धादि विशेषगुण के सजातीय विशेष गुण गन्धादि रहने से उनमें तादृशगुणवत्त्वस्वरूप भूतत्व रहता है । यहाँ भूतत्व का जो निर्वचन किया गया है, वह अन्धकार में भी अबाधित है, क्योंकि उसमें नील रूप आदि विशेषगुण रहते हैं, जो बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुण नील रूपादि के सजातीय है । अतः भूतत्व को

स्वतन्त्रास्तु एकत्वनिष्ठ एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषः कल्प्यते । स चाऽ-
न्त्याऽवयव्येकत्वव्यतिरेक एवेति

॥ गयलता ॥

धरेव । तदेव च पशुपदशक्यतावच्छेदकम् । यदि च गुरुधर्मस्य शक्यतावच्छेदकत्वं नोपेयते तदा लोमवल्लाङ्गूलवति पशु-
पदशक्तिः न स्यात् किन्तु लाघवेन गोत्वादिविशिष्ट एव । न चैवमस्तीति गुरोरपि शक्यतावच्छेदकत्वमभ्युपेयमेव । ततो गुरो-
रपि व्यावर्णितस्वरूपस्य भूतत्वस्य भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वमुपगन्तव्यम् । तस्य च तमोऽवयवेष्वपि सत्त्वात् तेषां द्रव्या-
रम्भकत्वानुपपत्तिः । न चैवं गुरोरवच्छेदकत्वप्रवादो व्याहन्येतेति वाच्यम्, पशुपदाद्यनुरोधात् नैयायिकैरपि शक्यतावच्छेद-
काद्यतिरेकस्थल एव तादृशनियमस्योपगमादिति दिक् ।

स्वतन्त्रास्त्विति । आहुरित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । एकत्वनिष्ठः = एकत्वसङ्ख्यासमवेतः, एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदक-
जातिविशेषः = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतः एकत्वत्वविशेषलक्षणो जातिविशेषः, कल्प्यते = अनुमीयते । 'या या
कारणता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ने'ति आसिबलेन समवायसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यमावृत्तिकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धा-
वच्छिन्नकारणतावच्छेदकविधया एकत्ववृत्तिः एकत्वत्वविशेषोऽनुमीयते । सिद्धो धर्म एको नित्यश्चेदसति बाधके तदा लाघवमिति
न्यायेन स च जातिस्वरूप एव सिध्यति । न चैकत्वत्वविशेषस्त्वेकत्वसङ्ख्यायां वर्तते समवायेन घटादि द्रव्यं तु कपालादौ
वर्तते इति वैयधिकरण्यात्कथं कार्यकारणभावः सम्भवेत् ? इति वक्तव्यम्, जातिविशेषस्य समवायेनैकत्ववृत्तित्वेऽपि स्वसम-
वायिसमवायसम्बन्धेन कपालादौ वर्तमानत्वात् । तस्यैवाऽत्र द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन विवक्षितत्वात् ।
एतेनैकत्वसमवेतस्यैकत्वत्वविशेषस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वे एकत्वसङ्ख्यायां द्रव्यसमवायिकारणत्वं प्रसज्येतेति मुग्धाशङ्का
परिहृता, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः ।

नन्वेवं घटादेरपि द्रव्यारम्भकत्वं प्रसज्येत, स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेनैकत्वत्वविशेषस्य तत्र वर्तमानत्वात् । एतेनाऽन्त्या-
वयविनो द्रव्यारम्भकत्वस्य कुत्राऽऽद्यदृष्टचरत्वान्न तदापादनं सम्भवतीति प्रत्युक्तम्, सत्यां सामग्र्यां कार्योत्पादस्याऽवश्यभाव-
नियमात् । एतेनाऽन्त्याऽवयविनो द्रव्यानारम्भकत्वानियमानेतत्प्रसङ्ग इत्यपि प्रत्याख्यातम्, प्रयोजनक्षतेरकिञ्चित्करत्वात् । न
हि प्रयोजनक्षतिभिर्या सामग्री कार्यं नार्जयतीत्याशङ्कायामाचक्षते - स चेति । द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक एकत्वसमवेतो
जातिविशेषश्चेति । अन्त्यावयव्येकत्वव्यतिरेक एवेति । अन्त्यावयविसमवेतैकत्वसङ्ख्याव्यावृत्तः तदसमवेत इति यावत् ।
एकत्वत्वविशेषस्याऽन्त्यावयविसमवेतैकत्वसङ्ख्यायामसमवेतत्वादेव स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन नाऽन्त्यावयविवृत्तित्वं सम्भवति ।

द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने पर भी अन्यकार के अवयवों से अन्यकार का आरम्भ हो सकता है । यहाँ यह कहना कि
→ 'भूतत्व को बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणसजातीयगुणवत्त्वस्वरूप मानने पर भूतपद का वह शक्यतावच्छेदक नहीं बन सकता,
क्योंकि लघुधर्म ही शक्यतावच्छेदक होता है' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि गुरु धर्म भी शक्यतावच्छेदक हो सकता
है, अन्यथा पशुपद का शक्यतावच्छेदक लोमवल्लाङ्गूलवत्त्व कैसे हो सकेगा ? क्योंकि वह भी गोत्वादि की अपेक्षा गुरुभूत है।
लघुभूत धर्म को ही शक्यतावच्छेदक मानने पर तो पशुपद की भी शक्ति गोत्वादि से विशिष्ट में ही सिद्ध हो जायेगी और
तब पशुपद का शक्यतावच्छेदक गोत्वादि होने लगेगा । मगर ऐसा नहीं है । लोमवल्लाङ्गूलवत्त्व गुरुधर्म होने पर भी पशुपद
का शक्यतावच्छेदक होता है, वैसे ही बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणसजातीयगुणवत्त्व गुरु धर्म होने पर भी भूतपद का शक्यतावच्छेदक
हो सकता है । निष्कर्षः- अन्यकार को जन्य द्रव्य माना जा सकता है ।

॥ एकत्ववृत्ति जातिविशेष द्रव्यारम्भकतावच्छेदक - एतद्व्यतिरेक ॥

स्वत. इति । अमुक स्वतन्त्र विद्वानों का यह कथन है कि → 'द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति न तो द्रव्यत्व है, न
तो भूतत्वादि है, किन्तु एकत्वसंख्या में रहने वाली जाति विशेष ही द्रव्यारम्भकतावच्छेदक है । कपालगत एकत्व में तादृश
जातिविशेष होने से घट का आरम्भक कपाल होता है । यद्यपि तादृश जाति समवाय सम्बन्ध से कपाल में नहीं अपितु
कपालगत एकत्व संख्या में रहती है । कारणतावच्छेदक धर्म तो कारण में रहना चाहिए । अतः आपाततः तादृश जाति
को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक नहीं मानी जा सकती तथापि स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से तादृश जाति कपाल में भी रह सकती है,
क्योंकि स्व = एकत्वगत तादृशजाति, के आश्रय एकत्व संख्या का समवाय कपाल में रहता है । अतः स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध
से तादृश जाति को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने में कोई दोष नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि → 'घटादि अन्य अवयवी
में भी एकत्व संख्या रहने से तादृश एकत्वगत जाति स्वाश्रयसमवायसम्बन्धरूप समवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध से

न तत्तदन्त्यावयवित्वेनाऽनन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवमित्याहुः ।

तत्र, तादृशजातेर्जन्यैकत्वत्वेन समं साङ्कर्यादित्यपरे ।

❀ जयलता ❀

एतेन घटादेर्द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, समवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गेण समवायिकारणतावच्छेदकाभाववत्तो द्रव्यारम्भाऽयोगात् । एकत्वत्वविशेषस्याऽन्त्यावयवैकत्वसमवेतत्वोपगमे तु घटादीनामनारम्भकत्वरक्षणाय तत्तदन्त्यावयवित्वेन द्रव्यप्रतिबन्धकत्वकल्पनावयवकत्वेनाऽनन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावप्रसङ्गात् । एतादृशगौरवस्य पूर्वमेवोपस्थितत्वेन न तत्र जातिविशेषः कल्प्यते इति न गौरवमित्याशयमाविष्कुर्वन्ति - इति = उक्तहेतोः, न तत्तदन्त्यावयवित्वेन अनन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धक-भावकल्पनागौरवमिति । घटे समवायेन द्रव्यं प्रति तादात्म्येन घटस्य प्रतिबन्धकत्वं, पटे समवायेन द्रव्यं प्रति तादात्म्येन पटस्य प्रतिबन्धकत्वमित्याद्यनन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवं घटादिसमवेतैकत्वे एकत्वत्वविशेषस्याऽनभ्युपगमेनैव परिहृतम् । न चान्त्यावयविसमवेतैकत्वव्यावृत्तिरेकत्वत्वविशेषे कथं सिद्धा ? इति नाश्रयम्, धर्मिग्राहकप्रमाणादेव तल्लाभात्, 'समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाऽनन्त्यावयविवृत्तिकारणता किञ्चिद्भर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' 'इत्यनुमानेनैवाऽन्त्यावयविसमवेतैकत्वाऽसमवेतस्यैव तस्य सिद्धेरिति तेषामाशयः ।

अपरे स्वतन्त्रमतमपाकुर्वन्ति - तत्रेति । 'अपरे' इत्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तादृशजातेः = अनन्त्यावयवविमात्रसमवेतैकत्व-संख्यासमवेतैकत्वत्वविशेषरूपाया स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदिकाया जातेः, जन्यैकत्वत्वेन = जन्यैकत्व-सङ्ख्यासमवेतैकत्वत्वसामान्येन, समं साङ्कर्यादिति । तथाहि घटादौ जन्येऽन्त्यावयविति या एकत्वसङ्ख्या साऽपि जन्येति तत्र सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्वजातिर्वर्तते परं द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेषो नास्ति, स्वतन्त्रैः तादृशजाते-रन्त्यावयवैकत्वव्यावृत्तत्वाऽभ्युपगमात् । परमाणोर्द्रव्यारम्भकत्वेन तद्रतैकत्वसङ्ख्यायां द्रव्यारम्भकतावच्छेदकः एकत्वत्वविशेषोऽस्ति परं जन्यैकत्वत्वजातिर्नास्ति; परमाणोरिव तद्रतैकत्वस्यापि नित्यत्वेन सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्वाऽयोगात् । द्वयणु-

घट आदि में रहने से घटादि में भी कपालादि की भाँति समवाय सम्बन्ध से द्रव्य उत्पन्न होगा' <- तो यह असंगत है, क्योंकि द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष अनन्त्य अवयवी में रहनेवाली एकत्व संख्या में ही रहती है, न कि अन्त्य अवयवी में रहनेवाली एकत्व संख्या में । घटगत एकत्वसंख्या में तादृश जातिविशेष समवायसम्बन्ध से नहीं होने से वह स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से घटादि अन्त्य अवयवी में भी नहीं रह सकती । अतः घटादि में समवायसम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होने का अवकाश नहीं है । अन्त्य अवयवी में रहनेवाली एकत्व संख्या में द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती है - यह मानना उचित भी है, क्योंकि ऐसा न मानने पर तत् तत् अन्त्य अवयवी को समवायसम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक मानना होगा । तत् तत् अन्त्य अनंत अवयवित्व को प्रतिबन्धकतावच्छेदक मानने पर अनन्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी होगी, जिसमें अत्यंत गौरव है । इसकी अपेक्षा अन्त्य अवयवी में विद्यमान एकत्व संख्या में द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष को न मानना ही उचित है, क्योंकि ऐसा मानने पर उक्त अनन्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना अनावश्यक बन जाती है । स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष का अन्त्य अवयवी में अभाव होने से ही अन्त्य अवयवी में समवायसम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का अवकाश नहीं है । समवायिकारणतावच्छेदक धर्म से शून्य में समवेत कार्य की उत्पत्ति का अवकाश नहीं है । समवेत ऐसे कार्य की उत्पत्ति समवायिकारणतावच्छेदक धर्म से शून्य में नहीं होती है । अतः अन्त्यावयवगत एकत्व में अवृत्ति (=व्यावृत्त=व्यतिरिक्त) और अनन्त्यावयवगत एकत्व में समवेत जातिविशेष को ही स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानना मुनासिब है ।

❀ एतद्विमत में सांकर्य दोष - अपर विद्वान् ❀

तत्र० इति । उपर्युक्त स्वतन्त्रमत के खिलाफ अन्य नैयायिक मनीषियों का यह कथन है कि -> 'अन्त्यावयवगत एकत्व संख्या से व्यावृत्त और अनन्त्यावयवगत एकत्वसंख्या में समवेत जातिविशेष (=एकत्वत्वविशेष) को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने में सांकर्य दोष उपस्थित होने से उक्त कार्य-कारणभाव को मान्य नहीं किया जा सकता । वह सांकर्य जन्य एकत्वत्वजाति के साथ इस तरह प्रसक्त होता है । जन्यैकत्वत्वजातिपद का अर्थ है केवल जन्य एकत्वसंख्या में रहने वाली एकत्वत्वजातिविशेष । घटगत जन्य एकत्वसंख्या में जन्यैकत्वत्वजाति है, मगर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष नहीं है, क्योंकि घट द्रव्यानारम्भक होने से तद्रत एकत्वसंख्या में द्रव्यारम्भकतावच्छेदकीभूत जातिविशेष का अंगीकार स्वतन्त्रमतानुसार नहीं किया गया है, यह अभी ही उपर्युक्त कथन से स्पष्ट किया गया है । परमाणुगत एकत्वसंख्या नित्य होने से उसमें जन्यैकत्वत्वजाति नहीं रहती

यदि तु 'जन्यैकत्वत्वं तादृशजातिव्याप्यं भिन्नमेवाऽभ्युपेयते । न च तादृशजातेरेव

✽ जयलता ✽

कादिगतैकत्वे तु सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्वं द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेषश्च स्त इति साङ्कर्यम् । यद्यपि सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्वस्य जातित्वं न सम्भवति, विशिष्टस्य जातित्वाऽयोगात् तथापि जन्यैकत्वसङ्ख्यामात्रवृत्तिजातरित्येवं विवक्षायां दोषाभावात् । यतोऽत्र साङ्कर्यम्, अतः अन्त्यावयविसमवेतैकत्वव्यावृत्तैकत्वत्वविशेषस्याऽ-
नन्त्यावयव्यकत्वसमवेतस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वकल्पनं नाहति । तस्यान्त्यावयवविगतैकत्ववृत्तित्वे तु दर्शितानन्तप्रतिबध्य-प्रति-
बन्धकभावात् गौरवमनिवार्यमेवेति व्याघ्रतन्त्रीन्यायावात् इति स्वतन्त्रमतप्रतिक्षेपिनामपरेषामभिप्रायः ।

यदि त्विति । अत्र चाऽग्रे 'इति विभाव्यत' इत्यनेनान्वयः । जन्यैकत्वत्वं = जन्यैकत्वसङ्ख्यामात्रवृत्ति वैजात्यं, तादृशजातिव्याप्यं = द्रव्यारम्भकतावच्छेदकैकत्वत्वविशेषव्याप्यं, भिन्नं = अन्त्यावयवविगतैकत्वनिष्ठैकत्वत्वातिरिक्तं, एव अभ्यु-
पेयते स्वतन्त्रैरिति शेषः । एवञ्च न साङ्कर्यावकाशः । तथाहि घटादिगतैकत्वे द्रव्यारम्भकतावच्छेदकीभूतैकत्वत्वविशेषस्याऽ-
वृत्तित्वेन तदव्याप्यस्य जन्यैकत्वत्वविशेषस्यापि तत्राऽभावः, व्यापकाभावस्य व्याप्याभावसाधकत्वात् । यच्चैकत्वत्वं घटादिगतै-
कत्वे वर्तते तन्नानन्त्यावयवविगतैकत्वे द्रव्यारम्भकतावच्छेदकैकत्वत्वसमवायिनि वर्तते किन्तु तदतिरिक्तैकत्वत्वं द्रव्यसमवायि-
कारणतावच्छेदकैकत्वत्वविशेषव्याप्यमेव वर्तते इति न परस्परव्यधिकरणयोरेकत्र समावेशलक्षणस्य सङ्करस्याऽवकाशः । तत-
श्चानन्त्यावयवविगतैकत्वाऽवृत्त्येकत्वत्वव्यापकोऽन्त्यावयविसमवेतैकत्वाऽसमवेत एकत्वसमवेतो जातिविशेष एकत्वत्वविशेषलक्षणः
स्याथयसमवायसम्बन्धेन द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक इत्यभ्युपगमे दोषलेशाऽवकाशो नास्तीति स्वतन्त्राणामभिप्रायः ।

ननु जन्यैकत्वत्वजात्या सह द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेः साङ्कर्यनिरासकृते भवद्भि जन्यैकत्वत्वजातेः नानात्वमुप-
कल्प्यैकत्वनिष्ठद्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषव्याप्यत्वं तत्राऽङ्गीकृतम् । परं नाऽयमेव पन्था विद्यते साङ्कर्याऽपाकरणकृते;
एकत्वनिष्ठद्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेर्नानात्वमभ्युपगम्य तत्र जन्यैकत्वत्वजातिव्याप्यत्वकल्पनाया अपि साङ्कर्यनिराकरणप्रवण-
त्वादित्याशङ्कापराकरणाद्योपक्रमनो- न चेति । विनिगमकाभाव इत्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तादृशजातेरेव नानात्वेनेति । एकत्व-

है, मगर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेष जाति रहती है, क्योंकि परमाणु द्रव्यणुकद्रव्य का आरम्भक होता है । इस तरह परस्परव्यधिकरण ऐसी जन्यैकत्वत्वजाति एवं द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेष कपालादिगत एकत्वसंख्या में रहती हैं । अतः परस्परव्यधिकरण धर्म का एक धर्मी में समावेश होने से जन्यैकत्वजाति के साथ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष का सांकर्य प्रसक्त होता है । इसलिए अन्त्यावयवविगत एकत्वसंख्या में असमवेत ऐसी द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष का स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतएव उससे घटित कार्यकारणभाव भी, जो स्वतन्त्र विद्वानों की ओर से बताया गया है, मान्य नहीं किया जा सकता । यह अपर विद्वानों का स्वतन्त्र मनीषियों के प्रति आक्षेप है ।

✽ स्वतन्त्रमत का परिष्कार ✽

यदि, इति । उपर्युक्त सांकर्य दोष का निराकरण करने के लिए स्वतन्त्र मनीषियों की ओर से परिष्कार किया जा सकता है कि —> 'द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष की व्याप्य जन्यैकत्वत्वजाति की, जो अन्त्यावयवविगत एकत्वसंख्या में विद्यमान जातिविशेष से भिन्न ही है, कल्पना करने से सांकर्य दोष का अवकाश नहीं है । आशय यह है कि घटादि में रहने वाली एकत्वसंख्या में समवेत जन्यैकत्वत्वजाति कपालादिगत एकत्वसंख्या में नहीं रहती है, किन्तु उससे भिन्न एकत्वत्वजातिविशेष कपालादिगत एकत्व में रहती है, जो कि द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठ जातिविशेष की व्याप्य है । घटादिगत एकत्व में द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष नहीं होने से उसकी व्याप्य कपालादिगतैकत्वसमवेत एकत्वत्वविशेष जाति का न होना सिद्ध होता है, क्योंकि व्यापक का अभाव व्याप्याभाव का व्याप्य होता है । इस तरह कपालगतैकत्व में समवेत एकत्वत्वजातिविशेष घटादिगत एकत्वसंख्या में नहीं रहती है और घटादिसमवेत एकत्वसंख्या में समवेत जन्यैकत्वत्व जाति कपालादिगत एकत्वसंख्या में नहीं रहती है । अतः परस्परव्यधिकरण धर्म का एक धर्मी में समावेश ही असिद्ध होने से जन्यैकत्वत्वजाति के साथ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष के सांकर्य दोष का उद्घावन करना नामुनासिब है । अतः एकत्वनिष्ठ जातिविशेष को स्वाथयसमवायसम्बन्ध से द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने में कोई दोष नहीं है ।

✽ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेष को अनेक भावों में गौरव ✽

न च ता, इति । यहाँ यह शंका हो सकती है —> 'जन्यैकत्वत्व जाति के साथ एकत्वनिष्ठ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक

नानात्वेन तद्व्याप्यत्वे विनिगमकाभावः, यतः तज्जातेनानात्वे व्यभिचारभिया तदवच्छिन्न-
जन्यतावच्छेदिकाऽपि नाना जातिः कल्प्या ।

❀ जयलता ❀

निष्ठाया द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेरेवाऽनेकविधत्वाऽङ्गीकारसम्भवेनेति । एवकारेण जन्यैकत्वत्वजातेनानात्वकल्पनाव्यवच्छेदः
कृतः । तद्व्याप्यत्वे = जन्यैकत्वमात्रवृत्तिजातिव्याप्यत्वाऽभ्युपगमे, विनिगमकाभावः = विनिगमनाविरह इति । तद्व्युक्तत्व-
दर्शनार्थं विनिगमकमावेदयन्ति स्वतन्त्राः यत इति । तज्जातेः = एकत्वनिष्ठद्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेः नानात्वे = अनेक-
विधत्वकल्पने, व्यभिचारभिया = व्यतिरेकव्यभिचारभयेन तदवच्छिन्नजन्यतावच्छेदिका = द्रव्यारम्भतावच्छेदकजातिविशेषा-
वच्छिन्ननिष्ठकारणतानिरूपिताया कार्यताया अवच्छेदिका अपि नाना जातिः कल्प्येति । अयमाशयः द्रव्यारम्भकता-
वच्छेदकजातेनानात्वोपगमे एकैकस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वे व्यतिरेकव्यभिचारात् तत्कूटस्य चैकत्राऽवर्तमानतया कारणता-
वच्छेदकत्वासम्भवात्तृणारणिमणिन्याययेन नाना कार्यतावच्छेदकजातिः कल्पनीया । तथाहि नित्यैकत्ववृत्तिजात्यवच्छिन्ननिरूपित-
कार्यताया अवच्छेदिका द्व्यणुकत्वजातिः, अनित्यैकत्वनिष्ठजात्यवच्छिन्ननिष्ठकारणतानिरूपितकार्यताया अवच्छेदकं त्र्यणुकत्वादि-
घटत्वपटत्वादिपर्यन्तजात्यन्यतमत्वं, त्र्यणुकाद्यन्त्यावयविपर्यन्तवृत्तिवैजात्यं वा । एतेन द्व्यणुकस्याऽनित्यैकत्ववृत्तिजात्यवच्छिन्न-
मृते त्र्यणुकादेर्नित्यैकत्वनिष्ठजात्यवच्छिन्नं विनोत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारो द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेनानात्वकल्पने दुर्वार इति प्र-
त्युक्तम्, नानाकार्यकारणभावाम्भ्युपगमात् ।

न चैकत्वनिष्ठनानाकारणतावच्छेदकजात्यवच्छिन्ननिरूपितकार्यतावच्छेदकनानाजातिकल्पतेऽपि निस्तारः, जलत्वादिना
कार्यतावच्छेदकजातिसाङ्कर्यस्य दुर्वारत्वात् । तथाहि पार्थिवद्व्यणुके नित्यैकत्वगतजात्यवच्छिन्ननिरूपितकार्यतावच्छेदिका द्व्यणु-
कत्वजातिरस्ति परं जलत्वं नास्ति, जलीयत्र्यणुके जलत्वमस्ति परं तादृशद्व्यणुकत्वं नास्ति । जलीयद्व्यणुके च जलत्वं तादृश-
द्व्यणुकत्वञ्च स्त इति परस्परव्यधिकरणयोरेकत्र समावेशात्साङ्कर्यम् । तदपाकरणाय नित्यैकत्ववृत्तिजात्यवच्छिन्नकार्यता-

जाति के सांकर्य का निवारण करने के लिए जन्यैकत्वत्व जाति को अनेकविध मान कर जन्यैकत्वत्वजातिविशेष को द्रव्यारम्भकताव-
च्छेदक जाति का व्याप्य माना गया था, ठीक वैसे ही सांकर्य निवारणार्थं जन्यैकत्वत्वजाति के स्थान में एकत्वनिष्ठ
द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को ही अनेकविध मान कर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष को ही जन्यैकत्वत्वजाति का व्याप्य
माना जा सकता है । इसमें कोई बाध नहीं है । ऐसा मानने पर भी सांकर्य का निराकरण हो सकता है । देखिये, परमाणुगत
एकत्वसंख्या में रहने वाली द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति द्व्यणुकादि अनन्त्य अवयवी में समवेत एकत्वसंख्या में नहीं रहती
है और जो द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष द्व्यणुकादिगत एकत्व संख्या में समवेत है वह अणुगत एकत्वसंख्या में अवर्तमान
है । दोनों अलग अलग हैं । अतः घटादिगत एकत्व संख्या में समवेत जन्यैकत्वत्व जाति के व्यधिकरण परमाणुगत एकत्व
में समवेत द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति का द्व्यणुकादिगत एकत्वसंख्यास्वरूप एक धर्मी में समवेत द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति
का द्व्यणुकादिगत एकत्वसंख्यास्वरूप एक धर्मी में समावेश की सम्भावना नहीं है । अतः उपर्युक्त सांकर्य के निवारणार्थं
जन्यैकत्वत्व को अनेकविध मान कर जन्यैकत्वत्वजातिविशेष को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठ जाति का व्याप्य माना जाय
या द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठ जाति का व्याप्य माना जाय ? दो पक्ष में से एक भी पक्ष में साधक या बाधक युक्ति
न होने से दोनों का स्वीकार करना होगा या एक का भी स्वीकार नहीं हो सकता । इसलिए स्वतन्त्रमतपरिष्कार नामुनासिब
है” <—

यतः, इति । मगर यह कथन भी असंगत है । इसका कारण यह है नित्य एकत्व में रहनेवाली एवं अनन्त्य अवयविगत
अनित्य एकत्व में रहनेवाली दो द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष का स्वीकार करने पर व्यभिचार का प्रसंग होगा । द्व्यणु
की उत्पत्ति अनित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष से अवच्छिन्न के बिना ही होती है, क्योंकि परमाणु गतएकत्व
में अनित्यैकत्ववृत्ति तादृश जातिविशेष नहीं है । एवं त्र्यणुकादि घटादिपर्यन्त द्रव्य की उत्पत्ति नित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकतावच्छेदक
जातिविशेष से अवच्छिन्न के बिना ही होती है, क्योंकि द्व्यणुकादि कपालपर्यन्त में रहने वाली एकत्वसंख्या में नित्यैकत्ववृत्ति
द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष का अभाव होता है । अतः कारणतावच्छेदकावच्छिन्न के बिना ही द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि
की उत्पत्ति होने से व्यतिरेक व्यभिचार दोष होगा । इसका निवारण करने के लिए दोनों द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्ववृत्ति
जातिविशेष से अवच्छिन्न कारण द्रव्य का जन्यतावच्छेदक जाति अलग अलग माननी होगी । वह इस तरह, नित्यैकत्ववृत्ति
द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष से अवच्छिन्न (=विशिष्ट) का कार्यतावच्छेदक द्व्यणुकत्व है और अनित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकता-

सापि च जलत्वादिना सङ्कीर्यमाणा जलत्वादिव्याप्या नाना स्वीकार्येति बहुतरजाति-
कल्पनागौरवम्, एकत्वनिष्ठजातेस्तद्व्याप्यत्वे त्वेकत्वजन्यतावच्छेदकं जातिद्वयमेव स्वी-
क्रियत इति लाघवमिति' विभाव्यते, तदा स्वतन्त्रमतमपि सम्यगिति तु नव्याः ।

॥ नव्याः ॥

वच्छेदकद्वयणुकत्वजातेः नानात्वं जलत्वादिव्याप्यत्वञ्च कल्पनीये । ततश्च न सङ्करप्रसङ्गः, जलत्वं विहाय पार्थिवद्वयणुके वर्तमानस्य द्वयणुकत्वस्य जलीयद्वयणुकेऽवर्तमानत्वात्, जलत्वव्याप्यद्वयणुकत्वस्यैव तत्राऽभ्युपगमात् । एतेन जलीयद्वयणुके पृथिवीत्वं विहाय वर्तमानस्य द्वयणुकत्वस्य पार्थिवद्वयणुके द्वयणुकत्वं विहाय वर्तमानस्य पृथिवीत्वस्य पार्थिवद्वयणुके समावेशात्सङ्कर इत्यपि निरस्तम्, जलीयद्वयणुके पृथिवीत्वाऽभावे सति तद्व्याप्यत्वजात्यस्य द्वयणुकत्वस्याऽसम्भवात्, तदतिरिक्तस्य जलत्वव्याप्यद्वयणुकत्वस्यैव तत्राभ्युपगमात् । परमेतादृशकल्पनायां महागौरवमित्याशयेन व्याचक्षते - साऽपि चेति । द्विविध-जन्यतावच्छेदकजातिरपि च, जलत्वादिना सङ्कीर्यमाणा जलत्वादिव्याप्या नाना प्रत्येकं चतुर्विधा, स्वीकार्येति बहुतर-जातिकल्पनागौरवं = दशविध-जातिकल्पनागौरवम् । तथाहि नित्यैकत्वगतजातेरनित्यैकत्वगतजातेस्तदवच्छिन्नजन्यतावच्छेदि-काया जलत्वादिचतुष्कव्याप्यायाः प्रत्येकं चतुर्विधाया जातेश्च कल्पनमिति द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेर्नानात्वकल्पने दशविधजाति-कल्पनागौरवम् ।

स्वतन्त्रमते तु जन्यैकत्वनिष्ठजातेर्नानात्वं द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वं चेति कल्पनाञ्च दशविधजातिकल्पना-गौरवमित्याशयेन वदन्ति - एकत्वनिष्ठजातेः = जन्यैकत्वनिष्ठैकत्वत्वविषजातेः, तद्व्याप्यत्वे = द्रव्यारम्भकतावच्छेद-कैकविधजातिव्याप्यत्वाङ्गीकारे, तु एकत्वजन्यतावच्छेदकं जातिद्वयं = अनन्त्यावयविगतैकत्वनिष्ठजातिविशेषोऽन्त्यावयविगतैकत्व-निष्ठजातिविशेषश्चेति जातिद्वयं, एव स्वीक्रियते इति दशविधजात्यकल्पनात् लाघवमिति = कारणतावच्छेदकलाघवमिति, विभाव्यते स्वतन्त्रैः तदनुसारिभिर्वा, तदा स्वतन्त्रमतमपि सम्यगिति तु नव्याः प्रवदन्तीति शेषः ।

वच्छेदक जातिविशेष से अवच्छिन्न का जन्यतावच्छेदक त्रयणुकत्व, चतुरणुकत्व आदि से लेकर घटत्व पर्यन्त यानी अन्त्य अवयविगत घटत्व-पटत्वादि जातिपर्यन्त । इस तरह का कार्यकारणभाव मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार का निवारण हो सकता है, क्योंकि द्वयणुकत्वावच्छिन्न के प्रति अनित्यैकत्वगत जातिविशेष से अवच्छिन्न कारण ही नहीं है और त्रयणुकत्वादि घटत्वपटत्वपर्यन्त जाति से अवच्छिन्न के प्रति नित्यैकत्ववृत्ति जातिविशेष से अवच्छिन्न कारण ही नहीं है । अकारण के बिना स्वकारणसन्निधान से कार्य की उत्पत्ति होने पर व्यतिरेक व्यभिचार का उद्भावन नहीं किया जा सकता । मगर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को अनेकविध मानने पर तदवच्छिन्न से निरूपित कार्यता के अवच्छेदकविधया अनेक जाति की कल्पना का गौरव होगा । इतना ही नहीं, जलत्वादि जाति के साथ सांकर्य भी प्रसक्त होगा । वह इस तरह, पार्थिव द्वयणुक में नित्यैकत्वगत जातिविशेष से अवच्छिन्न का कार्यतावच्छेदक द्वयणुकत्व जाति है, मगर जलत्व जाति नहीं है । त्रयणुक जल में जलत्व जाति है मगर तादृश द्वयणुकत्व जाति नहीं है । जब कि जलीय द्वयणुक में जलत्व जाति एवं तादृशा द्वयणुकत्व जाति भी रहती है । अतः जलत्व जाति के साथ नित्यैकत्ववृत्ति जातिविशेष से अवच्छिन्न की कार्यतावच्छेदक द्वयणुकत्व जाति का सांकर्य होगा । अतः इस सांकर्य के निवारणार्थ अनेकविध कारणतावच्छेदक जाति से अवच्छिन्न से निरूपित कार्यता की अनेकविध अवच्छेदक जाति को भी जलत्वादिव्याप्यरूप में अनेकविध माननी होगी । मतलब कि नित्यैकत्वगत कारणतावच्छेदक जाति से अवच्छिन्न की कार्यता का अवच्छेदक द्वयणुकत्व भी जलत्वादि जाति का व्याप्य अनेकविध है । पार्थिव द्वयणुक में जो कार्यतावच्छेदक जाति द्वयणुकत्व है, वह पृथ्वीत्व की व्याप्य है न कि जलत्व की तथा जलीय द्वयणुक में जो कार्यतावच्छेदक द्वयणुकत्व जाति है, वह जलत्व जाति की व्याप्य है न कि पृथ्वीत्व की । अतः उपर्युक्त सांकर्य का अवकाश नहीं होगा । वे परस्पर व्यधिकरण ही होने से एकत्र समाविष्ट नहीं हो सकती । मगर एकत्वनिष्ठ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को अनेकविध मानने पर तदवच्छिन्न की जन्यतावच्छेदक जाति को भी अनेकविध मानना होगा, उनमें से प्रत्येक को जलत्वादि की व्याप्य अलग-अलग माननी होगी । इस तरह अत्यन्त गौरव होता है । जब कि एकत्वनिष्ठ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को एकविध मान कर उसकी व्याप्य जन्यैकत्वत्वजातिविशेष मानने पर एकत्वगतजन्यतावच्छेदक दो जाति की ही कल्पना करनी पड़ती है, अन्त्यावय-विगत एकत्वसंख्या में समवेत जन्यैकत्वत्वजातिविशेष और अनन्त्यावयविगत एकत्व में समवेत जन्यैकत्वत्वजातिविशेष । इस पक्ष में लाघव होने से नित्य और अनित्य एकत्व में समवेत द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष को अनेकविध नहीं मानी जा सकती । अतः जन्यैकत्वत्व को द्विविध मानने में एवं जन्यैकत्वत्वविशेष को, जो अनन्त्यावयविगत एकत्व में समवेत है, ही

एतन्मते विजातीयसंयोगस्यापि जन्यद्रव्यं प्रति पृथक्कारणत्वाऽकल्पनाल्लाघवम् । जन्य-
भावमात्रस्य ससमवायिकारणकत्वनियमस्तु सिद्धः, सिद्धौ वा तत्र द्रव्यत्वेनैव तथात्वमस्ति चेति

✽ जयलता ✽

अत्रैव प्रकरणकारः स्वकीयमांसलमीमांसोन्मेषमाविर्भावयति - एतन्मत इति । स्वतन्त्रमते, विजातीयसंयोगस्यापि =
द्रव्यारम्भकविलक्षणवयवसंयोगस्यापि, जन्यद्रव्यं = जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं, प्रति पृथक्कारणत्वाऽकल्पनात् = अवयववि-
लक्षणसंयोगत्वेन रूपेण कारणत्वस्याऽनभ्युपगमात्, लाघवं = कारणतावच्छेदकधर्मलाघवम् । जन्यद्रव्यं प्रति स्वावयवानां
स्वावयवविजातीयसंयोगस्य च कारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदकं न द्रव्यत्वादि विजातीयसंयोगत्वं वा किन्त्वेकत्वमेव ।
समवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धाः स्वाश्रयसमवायोऽसमवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गश्च स्वाश्रयसामानाधिक-
रण्यं एकत्वत्वस्य तेन सम्बन्धेन यथाक्रमवयवेष्ववयवविजातीयसंयोगे च वर्तमानत्वात् । सामानादिकरण्यमपि समवायेन बोध्यं,
तेन न कोऽप्यतिप्रसङ्गः । समवायिकारणतावच्छेदकसम्बन्धः तादात्म्यसंसर्गोऽसमवायिकारणतावच्छेदकसम्बन्धश्च समवायः,
तेन न देशाऽनियमप्रसङ्गः । तथाहि द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठो जातिविशेषः स्वाश्रयसमवायेन कपालादी वर्तते,
कपालादेः स्वपदप्रतिपाद्यैकत्वत्वाश्रयैकत्वसङ्ख्यासमवायित्वात्, स्वाश्रयसामानाधिकरण्येन च कपालद्वयविलक्षणसंयोगादी वर्तते,
तस्यैकत्वत्वाश्रयैकत्वसङ्ख्याधिकरणकपालादिसमवेतत्वात् । कपालादौ तादात्म्येन कपालादेः समवायेन कपालद्वयसंयोगादेश्च
वर्तमानत्वात् तत्रैव समवायेन घटादेरुत्पत्तिः न त्वन्यत्रेत्येवं जन्यद्रव्यात्पादनियमसम्भवेनैकत्वत्वेन रूपेणैव समवायिकारणत्व-
मसमवायिकारणत्वश्चेति कारणतावच्छेदकधर्मलाघवमिति भावः ।

ननु समवायेन जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवायेनैकत्वत्वविशिष्टस्य तादात्म्येन समवायिकारणत्वं स्वाश्रयसामा-
नाधिकरण्येनैकत्वत्वविशिष्टस्य च समवायेनाऽसमवायिकारणत्वमित्येवंकल्पना न युक्ता, स्वतन्त्रमते तादृशैकत्वत्वस्याऽन्त्यावय-
विसमतेतैकत्वाऽसमवेतत्वाऽभ्युपगमेनाऽन्त्यावयविना घटादेः समवायिकारणत्वाऽसम्भवेन तद्वतगुणादेः ससमवायिकारणकत्वनियमो
व्याहन्येत । न चेदं दृष्टमिष्टं वा, जन्यभावमात्रस्य ससमवायिकारणकत्वनियमात्, अन्यथा घटादेरपि कपालादिकमृते
उत्पत्तिप्रसङ्गादित्याशङ्क्यामाह - जन्यभावमात्रस्य = जन्यत्वे सति भावत्वावच्छिन्नस्य, ससमवायिकारणकत्वनियमस्तु
असिद्धः = विपक्षबाधकतर्कशून्यः अप्रसिद्धोऽनभ्युपगतो वेति । कपालनाशोत्तरं घटनाशात् तदुत्तरं तद्वतगुणादिनाशात् जन्य-
भावस्य समवायिकारणं विना क्षणमेकमवस्थितिप्रसिद्धः, असमवायिकारणनाशस्य हेतुत्वमते च कपालादिनाशोत्तरमसमवायिका-
रणनाशे सत्येव घटादिनाशाऽभ्युपगमेन निरधिकरणस्य घटादेः क्षणद्वयमवस्थितिप्रसिद्धेः तद्वदेव बहुतरक्षणमपि निरधिकरणस्य
जन्यभावस्याऽवस्थाने बाधकाभावान्न तादृशनियमोऽभ्युपेयत इति भावः ।

अभ्युपगम्याऽऽह - सिद्धौ वेति । तत्र = जन्यभावत्वावच्छिन्नस्य ससमवायिकारणकत्वनियमे । द्रव्यत्वेनैवेति । जन्य-
द्रव्यत्वेन, एवकारेण जन्यभावत्वव्यवच्छेदः कृतः । ततश्च जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नस्य तथात्वं = ससमवायिकारणकत्वमित्येव नियमः

द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष का व्याप्य मानने में लाघव ही विनिगमक - पक्षपाती है" <- ऐसा विचारविमर्श करने पर तो स्वतन्त्रमत ही युक्तिसंगत है, ऐसा नव्य नैयायिकों का कथन है ।

✽ एतन्मत में लाघव ✽

एतन्मते, इति । प्रकरणकार स्वतन्त्रमत के प्रति अपने विचार को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि - स्वतन्त्रमत में अवयव-
विजातीयसंयोग की विजातीयसंयोगत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना अनावश्यक है, क्योंकि एकत्वत्वविशेष जाति ही असमवायि-
कारणतावच्छेदक भी हो सकती है । कपालादि अवयव में विजातीयसंयोगस्वरूप द्रव्यासमवायिकारण रहता है और वहाँ एकत्वत्व-
विशेष का आनय एकत्व गुण भी रहता है । अतः विजातीय संयोग में तादृश एकत्वत्वजातिविशेष स्वाश्रयसामानाधिकरण्य-
सम्बन्ध से रह सकती है । स्व = एकत्वत्वविशेष, उसके आश्रय एकत्व गुण का सामानाधिकरण्य विजातीयसंयोग में रहता
है । अतः एकत्वत्वविशेष को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने में लाघव है । यद्यपि अन्त्यावयविगत एकत्वसंख्या में द्रव्यारम्भकता-
वच्छेदक जाति नहीं रहती है । अतः स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से एकत्वत्वविशेष के आश्रय को समवायिकारण मानने पर अन्त्यावयी
घटादि समवायिकारण नहीं बन सकते । अतः घटादिगत गुण, क्रिया में ससमवायिकारणकत्व = समवायिकारणजन्यत्व या
समवायिकारणसहितत्व अनुपपन्न बन जायेगा । नियम तो यह है कि जन्य भावमात्र ससमवायिकारणक ही होता है । इस

न तदनुरोधेन द्रव्यनिष्ठजातिविशेषकल्पनसिति विभाव्यम् ।

❀ गयलता ❀

अस्तु इति हेतोः न तदनुरोधेन = अन्त्यावयविसमवेतगुणाद्यनुरोधेन, द्रव्यनिष्ठजातिविशेषकल्पनं = द्रव्यनिष्ठतया वैजात्यकल्पनम् । जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नस्य ससमवायिकारणकत्वनिषेधाऽभ्युपगमेन घटादिगतगुणाद्यनुरोधेन घटादिवृत्तिवैजात्यं न तत्समवायिकारणतावच्छेदकतया कल्पनीयम् । एतेन घटादिगुणाद्यन्यथानुपपत्त्या घटादेः समवायिकारणत्वसम्पादनाय अन्त्यावयवविगर्तकत्वे एकत्वत्वविशेषजातिः कल्पनीया । तथा च जन्यद्रव्यं प्रति तत्तदन्त्यावयवित्वेनाऽनन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवम् । घटादीं वा वैजात्यकल्पनेऽधिकजातिकल्पनागौरवम् । तदकल्पने तु जन्यभावत्वावच्छिन्नस्य ससमवायिकारणकत्वनिषेधमभङ्ग इति कल्पनाशङ्कवर्षी व्यम्बकनेत्रत्रितयीव त्रौकत इत्यपि पराकृतम्, तत्र जन्यद्रव्यत्वविरहेण ससमवायिकारणकत्वाऽवश्यम्भावाभावात् । यद्वा तत्र = जन्यभावमात्रे, द्रव्यत्वेनैव तथात्वं = समवायिकारणत्वमित्यर्थः । जन्यद्रव्यमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति स्वसमवायिसमवायेन एकत्वत्वविशेषेणाऽन्त्यावयव्येकत्वासमवेतेन समवायिकारणता, जन्यसम्भाववृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वेन समवायिकारणतेत्यङ्गीकारोऽस्तु । एतेन अन्त्यावयविवृत्तिगुणादेराकस्मिकत्वप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः, अन्त्यावयविनि जन्यभावसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वस्य सत्त्वादिति न तदनुरोधेन = अन्त्यावयविगुणाद्यन्यथानुपपत्त्या, द्रव्यनिष्ठजातिविशेषकल्पनमित्येवं व्याख्यान्तरं द्रष्टव्यम् । इत्थञ्च तमोऽवयवेषु यदेकत्वं वर्तते तत्र द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषस्य वर्तमानत्वेन न तमोऽवयवोत्पादानवकाश इति स्वतन्त्रमतानुसारेणाऽपि तमसो द्रव्यत्वं निरावाधमिति प्रकरणकाराशयः ।

वस्तुनस्तु अन्त्यावयव्येकत्वाऽसमवेतस्यैकत्वसमवेतस्य जातिविशेषस्य स्वाश्रयसमवायेन द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वं च युक्तम्, गगनादेरपि द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात्, गगनसमवेतैकत्वे द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषस्य समवेतत्वात् । न च तस्य विमुद्रयैकत्वाऽसमवेतत्वाऽभ्युपगमात् दोष इति वाच्यम्, तथापि मनसो द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात् । न च निरवयवद्रव्यैकत्वे तस्याऽभ्युपगमात् दोष इति वक्तव्यम्, पार्थिवादिपरमाणूनां द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात् । एतेनानन्त्यावयवविगर्तकत्वमात्रवृत्तित्वमपि तस्य प्रत्युक्तम् । न च मनोऽन्यनिरवयवद्रव्यान्त्यावयवविगर्तकत्वाऽसमवेतत्वे सत्यैकत्वसमवेतो यो जातिविशेषः तस्यैव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वमिति वक्तव्यम्, तथापि जन्यगुणादिकं प्रति जन्यभावं प्रति वा पृथक्कारणकल्पनाया आवश्यकत्वेन नानाकार्यकारणभावगौरवस्याऽव्याहतत्वात्, तादृशजातिविशेषकल्पनं पुनरधिकमेवेत्यादिसूचनार्थं 'विभाव्यमि'त्युक्तमिति तु ध्येयम् ।

साम्प्रतमुपांगित्वात् श्रीनयोदयविजयविरचितः अन्धकारभाववादः प्रदर्श्यते । तथाहि —

नियम का भंग ही एकत्वत्वजातिविशेष को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने में बाधक है तथापि तादृश नियम में कोई प्रमाण न होने से वह नियम ही हमें अमान्य है । इसलिए उक्त नियम का भंग अन्त्यावयवविगत एकत्व में अवृत्ति एकत्वत्वविशेष को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने में बाधक नहीं हो सकता । यदि उक्त नियम को मान्य करना हो तो भी जन्यभावमात्र के स्थान में जन्यद्रव्यमात्र को ही ससमवायिकारणक मानना चाहिए । मतलब कि 'जो जो जन्य द्रव्य है, वह वह समवायिकारणयुक्त ही होता है' इत्याकारक नियम को प्रसिद्ध-प्रामाणिक मानना चाहिए । घटादि में रहने वाले जन्य गुण क्रिया तो द्रव्य से भिन्न है । अतः उसे समवायिकारणसहित मानने की कोई आवश्यकता भी नहीं रहती है और उक्त नियम के भंग का भी कोई प्रसंग नहीं है । अथवा जन्यभावमात्र के प्रति द्रव्यत्वरूप से समवायिकारणता का स्वीकार करने पर भी घटादि में उत्पन्न होने वाले गुणादि की उत्पत्ति का निर्वाह हो सकता है, क्योंकि घटादि में द्रव्यत्व रहता ही है । जन्यभावमात्र के प्रति द्रव्यत्वरूप से समवायिकारणता का स्वीकार करने का दूसरा लाभ यह है कि अन्त्य अवयवी द्रव्य में गुण, क्रिया की कारणतावच्छेदक जातिविशेष की कल्पना भी अनावश्यक रहती है । घटादि में उत्पन्न होने वाले गुण, क्रिया के प्रति द्रव्यगत जाति की तत्कारणतावच्छेदकविधया कल्पना का गौरव भी स्वतन्त्र मत में अप्रसक्त है । इसलिए एकत्वसमवेत जातिविशेष को ही द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानना युक्त है, न कि द्रव्यसमवेत जातिविशेष को । ऐसा स्वतन्त्रमतानुसार विचार करने पर अन्धकार द्रव्य की उत्पत्ति का निर्वाह हो सकता है, क्योंकि अन्धकार के अवयव में स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से एवं तादृशावयवसंयोग में स्वाश्रयसामानाधिकरण्यसम्बन्ध से द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष विद्यमान है । अतः स्वतन्त्रमतानुसार अन्धकार को द्रव्य माना जा सकता है ऐसा विभाजन - विमर्श करना चाहिए । निष्कर्ष - अन्धकार द्रव्यात्मक है ।

❀ नवतल्लि ❀

जल्पन्त्यनल्पसंकल्पाः केचित् कर्कशतार्तिकाः । ध्वान्तमत्यन्ताऽसदंशं तेजसामिति निश्चितम् ॥१॥

तत्र तथ्यं ततस्तस्य तथात्वेऽध्यक्षतः सदा । सर्वत्र ग्रहणं नृणां स्यात् त्रैकालिकताऽस्य चत् ॥२॥

यथाऽऽलोकस्य सत्त्वेनान्धकारोऽध्यक्षतो ध्रुवम् । गृह्यते न ततस्तस्मिन् स्यात् त्रैकालिकता मता ॥३॥

तदप्यचारुवचनं यत् तैर्यत्नादुदीरितम् । यतो यो यदभावः स्यात् स तस्मिन् सति नेक्ष्यते ॥४॥

तद् यथैकघटे नाप्यन्यकुम्भानामभावता । प्रत्यक्षा तैजसैकेन स्यात् तथाऽन्यत्विषामसौ ॥५॥

अतस्तरणितेजोऽशैरन्यो (द्) द्योतासदंशता । प्रत्यक्षतस्तमोरूपा नृभिर्नो गृह्यते कथम् ॥६॥

अथैकसूर्यालोकोऽपि विषक्षोऽन्यत्विषां ततः । तमोऽत्यन्ताभावरूपं न स्वाल्लोचनगोचरम् ॥७॥

एवं च ब्रुवतां तेषां कश्चिदेवं वदत्यपि । प्रत्यक्षस्तेजसा नासावन्धकारो गुणाश्रयः ॥८॥

कथं चैवं नैकः कुम्भोऽन्यकुम्भाभाववैर्यभूत् । तथा च स्याद् घटाभावो लक्ष्यस्तेषां न चक्षुषा ॥९॥

अपि चैकार्कालोकांशैराक्रान्ते जगतीतले । तेभ्यो भिन्नस्वभावानामभावस्तेजसां भवेत् ॥१०॥

सोऽस्ति प्रतीतः सर्वेषां प्रत्यक्षाश्चारुवाक्षुषात् । परं सकः समस्तीति तद् वक्तव्यं संयुक्तिभिः ॥११॥

अत्र नु प्रागभावादेः प्रवेशस्य विमर्शनम् । स्वपाकस्पर्शवत् त्याज्यं तद् यन्नाङ्गीकृतानुगम् ॥१२॥

अस्तु वा तत् तथापि स्यात् तस्मात् तेषां हि हितम् । यस्मादत्रैतदनेहो ग्रहणान्यत्यपदोषमम् ॥१३॥

अथाभ्युपगतः पूर्वं सोऽसौ चेदत्र सूत्रितः । अनारतं तमस्तर्हि विशदं स्याद् दिनेज्जिनाम् ॥१४॥

न चाभावेन सर्वासां भासां स्यात् तमसो ग्रहः । इति वाच्यं यतः कृष्णरात्रौ तारकतेजसि ॥१५॥

अन्धकारो दृशा ग्राह्यो पदार्थः पुरुषादिकः । अन्यवासोऽपि भाभां भवेद् दृग्विषयो विशाम् ॥१६॥

तथा च तैरभ्युपेता भावस्याभावरूपता । ततोऽभूदिच्छतां तेषामर्थं मूलव्ययोदयः ॥१७॥

प्रकाशेन प्रभातायां विभायां यथेक्षणात् । ध्वान्तं तनुभूतां ग्राह्यं तथा घस्त्रेऽस्तु तद्ग्रहः ॥१८॥

दिवसे च ध्वचित्तेजोमिश्रितं गृह्यते ततः । प्रत्यक्षेण प्रतीतं तत् तथाभूतं सतामपि ॥१९॥

तस्मात् सर्वत्र यत्र स्याद् द्युतीनामसदंशता । तन्मते तिमिराकारा तत्र तासां कथं न सा ॥२०॥

अपि च कचिदु(द्) द्योतान्यन्ताभावो विभां विना । कृष्णस्तस्यां च दृग्ग्राह्यो कृष्णोऽप्यस्तीति कौतुकम् ॥२१॥

अथात्युत्कटं (१४) — के न तमोऽभावरूपभूत । भवेद् विशां दृशा ग्राह्यमित्यत्रोत्तरमुत्तमम् ॥२२॥

इति चेत् तर्हि नो तस्मिँस्तादृशे रूपवत्तमः । दृग्ग्राह्यमित्यपि व्यक्तुं - वक्तुः का वाक्यवक्रता ॥२३॥

भाभाववत्तमोभावः प्रत्यक्षेण प्रवर्तते । परं चतुर्ध्वभावेषु तैः स्थितिः क्वास्य कल्पिता ॥२४॥

प्रत्यक्षं भ्रान्तमेवेदमिति चेत् तर्हि तैः परैः । अर्चिषां प्रतिषेधेऽपि तत् तथा कथितं न किम् ॥२५॥

किञ्च रूपाधारकाद्य अहीना इह हेतवः । तदा हिताहिता एते पूर्वाचार्यैः प्ररूपिताः ॥२६॥

ज्ञेयास्ते तत्कृतग्रन्थाद्युक्त्याढम्बरबन्धुराः । वक्र(कत्र) - वक्तु - वचोवृक्षव्यूहप्रध्वंससिन्धुराः ॥२७॥

अथालोकं विना नृणां नेत्रेण ग्रहणात् तमः । अभावरूपं विख्यातं ततस्ते हेतवो हताः ॥२८॥

प्रागभावदयोऽभावा भणिता नात्र शोभनाः । भूच्छायेष्वभ्युपेता तदत्यन्ताभावता भवेत् ॥२९॥

उपायोऽयमपि प्रौढः पण्डितपर्षदि । युक्तयुक्तिवियुक्तत्वात् प्रतीपः स्यात् तदीप्सिते ॥३०॥

यतस्तेजसरूपत्वादालोकापेक्षयेश्चणात् । ग्राह्यतास्त्वन्धकाराणामक्षपादादिदर्शने ॥३१॥

तथा चासिद्धविद्धत्वात् तदुक्तो हेतुरातुरः । अतः पूर्वगुरुक्ताः स्युर्हेतवस्तेऽनुपद्रवाः ॥३२॥

हेतावन्यालोकाकूते कथिते विद्युदादिभिः । व्यभिचारो दुःस्वभावो भ्राजते भीषणो भृशम् ॥३३॥

साध्यासाध्य-सधकत्वे स्यादसौ सदृशः सदा । अतः प्रकरणसमदोषदुष्टस्तु तन्मते ॥३४॥

अयं हेतुरित्यकान्तः सकलः शकलीकृतः । कथं करोति संक्रान्तं तत् स्वान्तेषु समीहितम् ॥३५॥

आत्रालोकाभावरूपो दृष्टान्तोऽपि चयः श्रुतः । स तु तेषामपि मते पण्डित्यापोहपोषकः ॥३६॥

अथास्तु हेतुर्व्यतिरेक्यसौ नः पदश्च दृष्टान्ततया पटिष्ठः । तथाऽप्यनैकान्तिकताङ्गनाऽस्य संसर्गरङ्गान्निवृत्तिमेति ॥३७॥

❀ अथलता ❀

द्रव्यं विभाजन्यन्नयनप्रतीतं निरीक्षणीयं किरणेन नृणाम् ।

अस्तीति चेत् तर्हि तमो गुणिव्यप्येवं विकल्पः क्रियते कथं न ॥३८॥

अथ द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणम् । भासंयोगो न च प्रोक्ताद् वैरूप्यं धाम्नि बाधते ॥३९॥

संयोगोऽभ्युदितो विभा-गगनयोः सोऽपि प्रभायां स्थितस्तस्यालोचनगोचरत्वचने स्यात् साधनं भूस्पृशाम् ।

इत्थं यत् कपटात् पटुप्रकटनं तेषां तु तत्प्रोज्झितप्रागल्भ्यप्रतिपादकं किमपरं प्रोक्तं भवेद् भासुरम् ॥४०॥

किमसावशुसंयोगश्च(२अ) क्षुषा गृह्यते न वा । प्रथमोऽपेशलः पक्षोऽप्रतीत्यैव पराहतः ॥४१॥

पुरःस्थो न पुष्टोऽसौ वादृशा नेक्ष्यते विभा । तथा च स्यात् तथा नार्थसार्थग्रहणसंकथा ॥४२॥

अथागृहीतः संयोगः कलशाम्बकयोर्यथा । प्रकाशकः करीरस्य तथाऽत्रापि निरूप्यते ॥४३॥

जैतानां वचनं नेदं मान्यं यत्रैव-कुम्भयोः । संयोगो नाङ्गीकृतो नास्ति तैरध्यक्षविरोधतः ॥४४॥

कश्चित् कुयुक्त्या कथितोऽम्बकस्य सङ्गः स्वकान्तेः कलशेन साकम् ।

तथापि ते दर्शितदोषदीप्तिं कदाप्यपाकर्तुमकोविदाः स्युः ॥४५॥

अपि चालोक-घटयोः संयोगो नादृतो दृशा । कलशस्य व्यञ्जकः स्याद् वैपरीत्यमिति स्थितम् ॥४६॥

रोचिषां चापि नेतेषां भाषया चक्षुषा ग्रहः । तथा च सर्वदा सन्तु ते तमोवाधिताम्बकाः ॥४७॥

अत आलोकसंयोगो दृष्टेर्विषय एव यः । कुम्भार्तिनाक्षुषत्वेऽसौ हेतुः स्यादिति निश्चितम् ॥४८॥

दृग्ग्राह्यतायां न हि हेतुरिच्छेत् संयोग आलोकगतो द्युतेश्चेत् ।

सोऽस्यास्तदा नेत्यपि कोशपानप्रत्यायनीयं पठनं परेषाम् ॥४९॥

प्रपञ्चोऽपचयेनापि त्विषोऽत्यन्तासदंशताम् । ध्वान्ते वक्तुं न शक्ताः स्युः स्वबुद्धिबलिनोऽपि च ॥५०॥

अस्तु वा तैजसाऽत्यन्ताभावता तमसः परम् । नास्याग्निरूपात् तैरुक्ताभेदादनुभवो भवेत् ॥५१॥

अन्यथा तस्य स भवेत् प्रदीपपटलादपि । उभयात्राविशेषेण यतैरु(द्) द्योतता श्रिता ॥५२॥

अथाम्बकमनुद्भूतरूपसंस्पर्गसुन्दरम् । अतस्तैजसाकारमन्धकारप्रकाशकम् ॥५३॥

दीपपेटकमुद्भूतरूपभूषणभासुरम् । भूञ्ज्याऽभिव्यञ्जकं तत्र स्यात् तन्नोक्तदोषता ॥५४॥

इति चेत् तर्हि संतप्ततैल-तोषदुताशनात् । अप्यस्तु ध्वान्तप्रभृतिभावानां प्रतिभासता ॥५५॥

तत्स्वीकृतौ तु तैर्गाढं निर्व्यूढा ग्राहमूढता । तथा च तेन रक्षन्ति दक्षशिक्षां स्वचेतसि ॥५६॥

यथाऽनुद्भूतरूपादये नेत्राग्रावस्ति योग्यता । तप्ततैलादिवह्नौ न सा भूञ्ज्यादिभासने ॥५७॥

तदप्यसज्जतोऽतेजोलक्षणा शूणमीक्षणम् । गृह्णाति योग्यतासङ्गं कथं न तिमिरादिकम् ॥५८॥

अत एव देवसूत्रिप्रमुखैः पूर्वसूरिभिः । विपश्चिद्भिः परेश्वास्मिन् वह्निरूपमशकृतम् ॥५९॥

तमःप्रकाशकान्यथाऽनुपपत्त्यादिहेतुभिः । अपि तैरेव नयने निषिद्धाऽनलरूपता ॥६०॥

अथ रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्य संवकारस्य । व्यञ्जकद्रव्यादम्बक (२ब) भग्निद्रव्यं सतां सिद्धम् ॥६१॥

तदकान्तं हेतुरसौ ततः स्यसाध्यस्य साधको नयनः । अतमोव्यञ्जरूपोपाधि-व्याधिव्यथाव्यग्रः ॥६२॥

वीरैस्तु पूर्वगुरुभिर्विडम्बितो बुद्धिबाणतो बहुधा । हेतुरयं तदुपायो विज्ञेयस्तत्कृतग्रन्थैः ॥६३॥

तथाप्युपायं ग्रन्थस्थं कश्चित् शृण्वन्तु पण्डिताः । गन्धस्यापि व्यञ्जकोऽस्ति दीपो दृष्टान्ततोदितः ॥६४॥

हेतुस्ततोऽसौ संजातः सपक्षेभ्यः पराङ्मुखः । तैजसत्वं कुतो नेत्रे विधातुं धावति ध्रुवम् ॥६५॥

अथ प्रदीपोऽगुवदिर्गन्धसिद्धिनिबन्धनम् । इति चेत् तर्हि लालाऽपि रसोन्तदे पटुर्भवेत् ॥६६॥

तथा च स्याद् रूपादिषु पञ्चस्वित्यादिसाधनात् । रसानायां पयोरूपं कथं वाच्यं विपश्चिताम् ॥६७॥

चक्षुर्न तैजसं तेजोव्यञ्जकेन सुहेतुना । विद्यते नात्र दीपेन व्यभिचारपराभवः ॥६८॥

वेदमरत्नं निजाकारमेकं व्यञ्जयति स्फुटम् । तेजसां व्यञ्जकेनेति तत्त्वं हेतौ तु चिन्तितम् ॥६९॥

तथापि दीपे स्वर्णानां बहूनां व्यञ्जकत्वतः । स एव दर्शितो दोष इत्याकृतकथा वृथा ॥७०॥

सिद्धं स्वर्णं यतोऽतेजो हेतुमिर्द्रवतादिभिः । उपपत्त्या तथा रूपं तच्चोक्तं तर्ककौतुकैः ॥७१॥

❀ जयलता ❀

इति प्रपञ्चतस्तेषां हेतोः कुशलता कथम् । तदेते हस्तविन्यस्ततुण्डास्तिष्ठन्तु चिन्तया ॥७३॥

अथ स्वर्णमरिद्रव्यायोगेऽत्यन्ताग्निसंगमे । नोच्छिद्यमानद्रवताश्रयेण स्यादपार्थिवम् ॥७४॥

पारिशेषात् तु संसिद्धं सुवर्णं तैजसं सताम् । ततस्तेजोव्यञ्जकत्वेहेतुर्वैरी निवारितः ॥७५॥

तदयुक्तं यतो हाहा हेतुनाऽनेन हाटकम् । तन्मतेऽप्यनिग्नरूपं न पानीयपरमाणुवत् ॥७६॥

त्यक्त्वाऽत्र हेतुस्तु विशेषणानि वाच्योऽन्यथा स्यात् तदसिद्धताऽस्य ।

तथा च हेम्नो न हि बन्धुराज्ञो धनञ्जयाभाव उदीरितोऽसौ ॥७७॥

न ताम्ररूप्यत्र सुमुख्यधातो विचक्षणानां व्यभिचारचिन्ता ।

अस्मिन् यतोऽनेन सुहेतुतैवाहुताशनत्वं भवति प्रतीतम् ॥७८॥

यतथ पारिशेष्यादित्यादि गदितं सुन्दरं न तत् । काप्यग्रावनृभूता न कैरपि द्रवता यतः ॥७९॥

अथ रूपोपलम्भेन तस्मिन् साखीकृतेति चेत् । तर्हि तेन तत्र रसो गुणो नाङ्गीकृतः कथम् ॥८०॥

प्रोक्तप्रकारतो हेतुस्तेजोव्यञ्जकलक्षणः । बाधबन्धनसंबन्धवैन्ध्यः स्यात् साध्यसाधकः ॥८१॥

वैरोचनं काञ्चनं चेत् तर्हि तस्य कथं भवेत् । नागकं भूषणं चापि न ह्येतत् तेन तैजसम् ॥८२॥

वर्तन्ते युक्तयो बह्व्योऽम्बकेऽग्नित्वक्षतौ परम् । एतावानेव विस्तारः सूरिणाऽनरिणा कृतः ॥८३॥

ते (३अ) ध्वान्तं दीधितेर्ध्वसं चेदूचुस्तर्हि ते बुधैः । कयाचिदनया रीत्याऽवगन्तव्या तिरस्कृताः ॥८४॥

प्रागभावादिरूपं ते तेजसस्त महत्यपि । वक्तुं व्यक्ता न युक्त्या स्युस्तत्रैतन्मतमुत्तमम् ॥८५॥

स्थित्युत्पत्ति-विपत्तिरूपपट्टतापुष्टं तमः पुद्गलद्रव्यं रूपनिबन्धनादपि बुधैः संस्थापितं पर्वदि ।

नासिद्धादिकदूषणे प्रवणता स्यादस्य तस्मिन्निदं संसिद्धं सुतरां यतो मतिमतां सच्चाक्षुषाऽध्यक्षतः ॥८६॥

अथान्धकारो विविधौविदिग्धैर्युक्त्योक्त आरोपितनीलरूपः ।

तस्मादसिद्धेन विरुद्धमेतन्न साधनं साधयति च साध्यम् ॥८७॥

अत्रेयं प्रतिक्रिया —

अभावे येन केनापि रूपारोपो न चक्षुषा । गृहीतस्तेन निर्बाधं निबन्धनमिदं बभौ ॥८८॥

अथो यथा दर्पणादौ विद्यते वदनभ्रमः । भूलायेऽपि भवेत् पुंसां तथा रूपगुणस्य सः ॥८९॥

रूपभ्रान्तिरन्धकारे तैरुक्ताऽस्मान्निदर्शनात् । परं न सा भासुरेति भासते प्रतिभाभृताम् ॥९०॥

रम्यैः क्रियापरिमाणरूपप्रभृतिहेतुभिः । प्रतिबिम्बं यतो जैनैर्द्रव्यत्वेन विनिश्चितम् ॥९१॥

स्पर्शः सतां तु स्फुरति प्रतीतो रूपादपि ध्वान्तगुणिन्ययोवत् ।

तथापि तस्मिन्नतिवक्रवाक्यैः स्पर्शाऽसदंशं कृदुशो दिशन्ति ॥९२॥

स्पर्शोऽत्र शीतः कथमन्यथा स्युः पान्थाः प्रतप्तास्तपनस्य तापात् ।

वक्तार एवं रजनीतिमिस्त्रे जातानि गात्राण्यथ शीतलानि ॥९३॥

अथान्धकारपटलोपेतेऽपवरकादिके । गेहरत्ने समानीते तमःस्तोमोऽस्ति तत्र न ॥९४॥

पूर्वविद् गृह्यते तत्र कथं शैत्यं त्वचा यतः । सत्ता नैमित्तिकस्यापि न निमित्तासदंशतः ॥९५॥

कार्य-कारणवैशिष्ट्यमुद्दिश्यैतत् प्रकाशितम् । अन्यथा दण्डनाशेऽपि कुम्भस्य स्यादभावता ॥९६॥

तदयुक्तं त्यक्तकृष्णाकारास्तामसपुद्गलाः । तत्र सन्तीति तत्संस्थं शैत्यं संप्राप्यते त्वचा ॥९७॥

यथा क्वचिदमेदस्य भासैर्वा तैस्सहाम्भसः । शैत्यं ग्राह्यं तथाऽत्रापि प्रध्वरा तत्प्ररूपणा ॥९८॥

तथोग्राग्न्यादिसंसर्गाञ्छैत्यं संतमसे स्थितम् । न हि स्यादङ्गिनां ग्राह्यं यथा तत्तोयसंगतम् ॥९९॥

द्रव्ये स्वरूपवैचित्र्यं चिन्त्यमानं विपश्चिताम् । निमित्तानां विचित्रत्वाद् स्याद् व्यमोहनिवृत्तये ॥१००॥

प्रमाणतोऽपि स्फुटरूपताया आपादनादप्रतिषेधसौधे ।

ध्यातोऽन्धकारो विबुधैरधां (३ब) न्धैः सदा स्थितस्त्रासितसाध्वसान्धैः ॥१०१॥

इत्थं तमसो भावत्वेऽनुमानमप्याहुः तमो भावरूपं घनतरनिकरलहरीप्रमुखशब्दैर्व्यप-
दिश्यमानत्वात् आलोकवदि'त्यादि ।

ननु तमसो नीलरूपवत्त्वे पृथिवीत्वमेव स्यान्नातिरेक इति चेत् ? न, रूपपरावृत्ति-

*** जयलला ***

स्थिराज्ञजेनेत्यमथोपादिष्टादस्मात् प्रकारात् परपक्षबाधः ।

बाधं बभूवैव ततः परेषां कथं कृतार्थः स्वमनोरथः स्यात् ? ॥१०२॥

पेशलपदूपत्त्या पुण्याय परे पराकृता इत्थम् । अविगानगुणस्मरणैर्यैः श्वचारुतरचरणैः ॥१०३॥

तार्किकसभासुरेन्द्राः जयन्तु ते विजयदेवमुनिचन्द्राः । बुधक्रद्धिविजयगुरवः श्रीतपगणासाधुसुरतरवः ॥१०४॥

श्रीमण्डपाचलेऽस्मिन् मुदा जिहांगीरसाहिना दत्तम् । महातपेति विशदं विभ्राणं बन्धुरं विरुदम् ॥१०५॥

नन्दान्तरिक्ष-ऋषि-रात्रिपतिप्रमाणे (१७०५) । वर्षे सितरेभ्यतनयेन नयोदयेन ।

युक्तेः पथः कुमतकूटविनाशकोऽयं यो दर्शितो भवतु ध्रुववत् स्थिरः सः ॥१०६॥

इत्थन्धकारभाववादः ॥

प्रत्यक्षेणैव तमसो द्रव्यत्वसिद्धावपि 'प्रत्यक्षेणाऽऽकलितमायर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका' इतिवचनेन प्रमाणसम्प्ल-
ववादिमनोरञ्जनार्थं प्राचां जैनाचार्याणां श्रीरत्नप्रभसूरिप्रभृतीनामनुमानप्रयोगं प्रकरणकार आदर्शयति - इत्थञ्च तमसो भावत्वेऽ-
नुमानमप्याहुरिति । स्पष्टमुक्तानुमानम् । आदिपदेन 'तमो भावरूपं घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटवत्, नाभावरूपं तमः
प्रागभावाद्यस्वभावत्वात्, व्योमवदिति, भावरूपं तमः उत्पत्तिमत्त्वे सत्यनित्यत्वात् घटवदि' (स्या. रत्ना. ५१८) त्यादिनि
स्याद्वादरत्नाकारोक्तानि तत्त्वार्थावस्थाधुक्तानि चानुमानानि ग्राह्याणि ।

शङ्कते - नन्विति । चेदित्यनेनान्वयः । तमसो नीलरूपवत्त्वे = निरुपाधिकनीलरूपाश्रयत्वे, पृथिवीत्वमेव स्यात्,
एवकारफलं कण्ठत आह - नातिरेकः इति । तथाहि न तावन्नीलरूपस्य तमसः तोयादिभावसम्भवः; तोयतेजसोः सितत्वात्
पवनादीनाञ्चाऽरूपत्वात् । ततश्च पारिशेषन्यायेन तमसः पृथिवीत्वमेव स्यात्, न तु पृथिवीतरद्रव्यत्वमिति शङ्काशयः ।

ननु नीलरूपवत्त्वेन तमसः पृथिवीत्वे कदाचित् तत्र घटादाविव रूपपरावृत्तिरपि स्यात्, अन्यता सुवर्णस्यापि पीतरूप-
वत्त्वेन पृथिवीत्वं प्रसज्येत । न च स्वर्णस्य पृथिवीत्वे गन्धवत्त्वप्रसङ्गो बाधक इति वाच्यम्, तमस्यपि तस्य जागरुकत्वादिति
सुवर्णवत् तमस्यपि रूपपरावृत्तिप्रयोजकस्य पृथिवीत्वस्याऽभाव एवोपगन्तव्य इत्याशयेन प्रकरणकारः तन्निराकरोति - नेति ।

*** प्राचीन जैनाचार्य का तमोभावत्वसाधक ***

इत्थं. इति । रत्नप्रभसूरि आदि प्राचीन जैनाचार्यों ने अन्धकार में भावत्व की सिद्धि करने के लिए अनुमानप्रयोग
भी रत्नाकरायतारिका आदि ग्रन्थों में बताये हैं । वह इस तरह - अन्धकार भावात्मक है, क्योंकि घनतर, निकर, लहर
आदि शब्द से वह व्यवहार्य है, जैसे आलोक । आलोक नैयायिकादि मत में भावात्मक ही है तथा जैसे 'यहाँ अत्यन्त आलोक
है, यह आलोक का निकर-समूह है, प्रकाश की लहर' इत्यादि व्यवहार होता है, ठीक वैसे ही 'यहाँ अत्यन्त घना अँधेरा
है, तगो निकरं, तमो लहरी' इत्यादि व्यवहार भी होता है । अतः आलोक की भाँति अन्धकार भी भावात्मक ही है ।
समान व्यवहार होने पर भी एक को भावात्मक मानना और दूसरे को अभावात्मक मानना इसमें कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।
अतः दोनों में भावत्व का अंगीकार करना चाहिए । भावात्व यहाँ द्रव्यत्वरूप में अभीष्ट है । अतः उक्त अनुमान प्रमाण
से अन्धकारात्मक पक्ष में द्रव्यत्वस्वरूप साध्य की सिद्धि हो सकती है ।

अन्धकार पृथ्वी नहीं है

ननु तम. इति । यहाँ यह शंका हो सकती है -> "अन्धकार में नील रूप का स्वीकार करने पर अन्धकार पृथ्वीस्वरूप
ही होगा, क्योंकि पृथ्वी को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में नील रूप नहीं रहता है" <- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि
अन्धकार को पृथ्वी मानने पर पाक से उसमें रूप की परावृत्ति होनी चाहिए । मगर अन्धकार के नील रूप की परावृत्ति
नहीं होती है । अतः रूपपरावृत्तिप्रयोजक पृथ्वीत्व का तम में स्वीकार नहीं किया जा सकता । यह ठीक-उसी तरह उपपन्न
हो सकता है जैसे तेजस द्रव्य में पृथ्वीत्व का अभाव । स्फटिक, मणि आदि द्रव्य के रूप में पाक से भी रूप का परावर्तन

प्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य तेजसीव तमस्यपि तवाऽपि दुर्यहवत्वात् ।

नन्वेवं नीलसमवायिकारणतावच्छेदकपृथिवीत्वाभाववति तमसि नीलमाकस्मिकं स्यादिति चेत् ? न, उभयसाधारणजातिविशेषस्यैव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात्, विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्यैव विजातीयनीलस्यैव पृथिवीत्वं जनकतावच्छेदकमित्यप्याहुः ।

✽ जयलता ✽

तवापि = नैयायिकस्यापि । लघुस्याद्वादरहस्ये चात्र 'दाहप्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य जले इव तमस्यपि तयानपलपनीयत्वान्' (ल.स्या.रह.पृ. १८) इत्येवं पाठः प्रकरणकारेण लिखितः ।

ननु सुवर्णवत्तमसि पृथिवीत्वाभावोपगमे स्वरूपवत् तमोरूपव्याप्याधिकं स्यात् । एतेन कालिन्दीसलिलस्यैव तमसः कालिमा न परोपधानात्, अनुपहितस्य कदाचिदपि स्वाभाविकरूपान्तशालिनः तमसोऽनुपलब्धेः, क्षेत्रसमुद्भूतस्यैव कालिन्दीवारिणः स्वाभाविकस्वच्छधवलस्येति प्रत्युक्तम्, स्वरूपीतरूपस्याऽपि तद्वदेव निरुपाधिकत्वापत्तेः, तमस्यपि शुक्लेतररूपस्याऽऽकस्मिकत्वापत्तेश्चेत्याशयेन कश्चिच्छङ्कते - नन्विति । नीलमाकस्मिकं स्यादिति, नीलत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेन हेतुत्वात्तच्छून्ये तमसि नीलरूपोत्पादात्तदाकस्मिकत्वं प्रसज्येति शङ्काशयः ।

तमपाकुर्वन्ति - नेति । उभयसाधारणजातिविशेषस्यैवेति । पृथिवीतमःसाधारणवैजात्यस्येति । एवकारेण पृथिवीमात्रवृत्तिजातिव्यवच्छेदः कृतः । नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वादिति । समवायसम्बन्धावच्छिन्न-नीलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकधर्मत्वादिति । ततश्च तमोनीलरूपोत्पत्तेः स्वसमवायिकारणतावच्छेदकावच्छिन्नसमवधानकालीनत्वाद्वाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गः, तमस्यपि तत्समवायिकारणतावच्छेदकजातेरङ्गीकारात् । 'तर्हि पृथिवीत्वं कस्य कारणतावच्छेदकं स्यात् ? इत्याशङ्कायां व्याचक्षते - विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्यैवेति । वायुव्यावृत्तानुष्णाशीतस्पर्शस्यैव, विजातीय-नीलस्यैव = तमोव्यावृत्तनीलरूपस्य, एवकारेणोभयसाधारणनीलरूपव्यवच्छेदः कृतः, पृथिवीत्वं जनकतावच्छेदकं = समवायिकारणतावच्छेदकम् । नीलविशेषे एव पृथिवीतमसोः समवायिकारणत्वं, अनुष्णाशीतस्पर्शविशेष इव वायुपृथिव्योः, अन्यथाऽनुष्णाशीतस्पर्शत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेन समवायिकारणत्वादनुष्णाशीतस्पर्शवतो वायोः पृथिवीत्वापत्तेः । आहुरिति । वाचस्पतिमिश्रादय इति शेषः । तदुक्तं न्यायकणिकायां → 'नापि पार्थिवं तमः, तदुष्णानां गन्धादीनामभावात् । 'ननु तथैव गन्धादिव्याप्तं कृष्णमपि रूपं तन्निवृत्तावसदित्युक्तम्' । 'तर्हि पवनेऽनुष्णाशीतस्पर्शोऽसन्नेव ? गन्धादिव्याप्तस्य तस्य पृथिव्यामुपलब्धेः, पवने च तेषामभावात्' । 'पाकजस्य स्पर्शस्य गन्धादिव्याप्तत्वम्, अयन्त्वपाकजः स्पर्शो वायवीय' इति चेत् ? न, इहापि साम्यात् । न हि तमसोऽपि कालिमा पाकजः । प्रत्यक्षबोभयत्राऽपि समानम् । तमःपरमाणवश्च पार्थिवादिपरमाणव इव द्रव्यणुकादिक्रमेण महान्तं तमोऽवयविनं पार्थिवमारभन्ते । तच्च रूपविशेषे सत्यनेकद्रव्यत्वान्महत्त्वाद्वा चाक्षुषमिति न तदुत्पत्त्यनवकलुप्तिः । न च तस्य दिवाऽऽरम्भसम्भवः शशितकविरोधे सति तेजसि । न जातु स्पर्शवद्वेगवन्मुद्रादिधाते परिपंथिनि कुम्भारम्भाय भवन्ति मृदवयवाः बिभ्रति वा कुम्भमारब्धमिति । अत एव हि दिवाऽपि निरस्ततमसि गिरिगुहायामारभन्त एव' (न्या.क.पृ. ५५) इत्यादि ।

नहीं होने से नैयायिक विद्वान उसमें पृथ्वीत्व जाति का अभ्युपगम नहीं करते हैं उसी तरह अन्धकार में भी रूप का परावर्तन नहीं होने से पृथ्वीत्व के अभाव का नैयायिक महाशय अपलाप नहीं कर सकते ।

नन्वेवं. इति । यहाँ यह शंका हो कि → 'अन्धकार में नील रूप का इकार और पृथ्वीत्व जाति का इन्कार करने पर वहाँ नील रूप की उत्पत्ति आकस्मिक हो जायेगी, क्योंकि नीलरूपत्वावच्छिन्न के प्रति पृथ्वीत्व जाति समवायिकारणतावच्छेदक है और अन्धकार में पृथ्वीत्व न होने पर नील रूप की उत्पत्ति का आप स्वीकार करते हैं । स्वसमवायिकारणतावच्छेदक धर्म से शून्य में समवेत कार्य का उत्पन्न होना ही उसकी आकस्मिकता है । वैसा मानने पर तो पृथ्वीत्वशून्य अन्धकार की भाँति जलादि द्रव्य में भी नील रूप की उत्पत्ति होन लगेगी' <— तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि नील रूप का समवायिकारणतावच्छेदक पृथ्वीत्व नहीं है, किन्तु अन्धकार और पृथ्वी उभय में रहनेवाली जातिविशेष ही है । वह जातिविशेष तो अन्धकार में भी रहती है, इसलिए वहाँ नील रूप की उत्पत्ति हो तो भी कोई दोष नहीं है । स्वसमवायिकारणतावच्छेदकावच्छिन्न में ही नील रूप की उत्पत्ति होने से अन्धकारनीलरूप में आकस्मिकता का अवकाश नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि

अवयवनीलादिनैवाऽवयविनीलोपपत्तौ पृथिवीत्वेन न तत्समवायिकारणत्वम्, स्वसमवा-
यिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवनीलादिमति रूपादौ नीलानुत्पत्तिस्तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारण-
तावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति तर्कदेशिनाऽपि स्वीकाराच्च ।

जयलता

यद्योक्तं 'स्वर्णपीतरूपस्यापि तद्वदेव निरुपाधिकत्वापत्तेरिति तत्तथैव, स्वर्णस्य स्वर्ण्ये पृथिवीत्वस्यैवाऽङ्गीकारात् ।
न चैवमत्यन्तानलसंयोगेन तद्रूपपरावृत्तिप्रसङ्गो दुर्निवार इति वाच्यम्, वज्रवत् स्वर्णदिरपि रूपाऽपरावृत्तावपि पृथिवीत्वस्य
प्रतिक्षेपाऽयोगात् । तस्य तैजसत्वे तु कदाचिद् भास्वरशुक्लरूपोपलम्भप्रसङ्गात् । न च तस्य पृथिवीत्वे गन्धवत्त्वप्रसङ्गो बाधकः,
अनुत्कटत्वेनाऽपि तद्रूपपत्तेरिति दिक् ।

युक्त्यन्तरेण तमसः पृथिवीत्वमपाकरोति - अवयवनीलादिनैवेति । एवकारेण पृथिवीत्वविशिष्टावयवनीलादिद्रव्यवच्छेदः
कृतः । अवयविनीलोत्पत्तौ = अवयविनीलाद्युपपत्तिसम्भावनायां, पृथिवीत्वेन रूपेण न तत्समवायिकारणत्वं = अवयवि-
नीलादिसमवायिकारणत्वम् । समवायेनाऽवयविनि नीलादिरूपं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवनीलादेः कारणत्वेना-
वयविनीलोत्पादनिवर्हि तादात्म्येन पृथिवीत्वेन पृथिव्याः समवायिकारणत्वाऽङ्कल्पनात् ।

ननु अवयवनीलरूपं यथा स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयविनि वर्तते तथा स्वस्मिन्नपि वर्तते स्वस्य = अवयवनील-
रूपस्य समवायिनि = अवयवेऽवयविन इव स्वस्याऽपि समवेतत्वाऽविशेषात् । ततश्चाऽवयविनीवाऽवयवनीलरूपेऽपि नील-
रूपोत्पत्तिः प्रसज्येत । तदपाकरणाय समवायेन नीलरूपं प्रति तादात्म्येन पृथिव्याः समवायिकारणत्वस्याऽऽवश्यकत्वादित्या-
शङ्कापराकरणायाऽऽह-स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेने । स्वपदेनाऽवयवनीलादिग्रहणम् । अवयवनीलादिमति रूपादौ = अव-
यवनीलादौ, नीलानुत्पत्तिः = नीलादिरूपाद्यनुत्पादः तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति ।
समवायिसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नसमवायिकारणतावच्छेदकधर्मस्य
द्रव्यत्वस्य विरहादेव, उपपद्य इति शेषः । अवयवनीलरूपस्य स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन स्वस्मिन् सत्त्वेऽपि समवा-
यिकारणतावच्छेदकताच्छेदकीभूतसमवायिसम्बन्धेन जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्ननिरूपितसमवायिकारणतावच्छेदकस्य द्रव्यत्वस्य
विरहादेव तत्र नीलरूपं नोपजायते, समवायेन जन्यभावमात्रं प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य समवायिकारणत्वात् । एतेनाऽ-
वयवनीलादिनैवाऽवयविनीलाद्युत्पत्तिकल्पने जन्यभावमात्रस्य ससमवायिकारणत्वनियमो व्याहृत्येतेत्यपि परास्तम् । तर्कदेशिना
= नैयायिकैकदेशीयेन, अपि स्वीकाराच्चेति । ततश्चाऽन्धकारावयवनीलरूपादेवाऽवयवितमोनीलरूपोत्पादसम्भवे तमसि पृथिवीत्व-

जन्य पृथ्वी और वायु दोनों में अनुष्ण अशीत स्पर्श उत्पन्न होता है फिर भी अनुष्ण अशीत स्पर्श का समवायिकारणतावच्छेदक
न तो पृथ्वीत्व है न तो वायुत्व है, किन्तु विजातीय (=पाकज) अनुष्ण अशीत स्पर्श का ही समवायिकारणतावच्छेदक पृथ्वीत्व
है । ठीक वैसे ही विजातीय नील रूप का ही पृथ्वीत्व समवायिकारणतावच्छेदक है और विजातीय नील रूप का तमस्त्व
समवायिकारणतावच्छेदक है । अतः अन्यकार में तमस्त्वावच्छिन्नकारणनानिरूपित कार्यता वाले विजातीय नील रूप की उत्पत्ति
होने में कोई दोष नहीं है - ऐसा भी अनेक विद्वानों का कथन है ।

ॐ पृथ्वीत्वरूपं ते नीलकारणता अन्धत्ववच्छेदक - नैयायिकैकदेशीय ॐ

अवयवनी. इति । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि अवयवी में नीलरूप की उत्पत्ति अवयव के
नील रूप से ही मुमकिन है, तो फिर पृथ्वीत्वेन रूपेण नीलसमवायिकारणता की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ?
कपाल में नील रूप है वही स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से अवयवी घट में नील रूप को उत्पन्न करेगा । स्व = कपाल-
नीलरूप, उसका समवायी = कपाल, उसमें समवेत है घट । अतः स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से कपालनीलरूप घट में
रहेगा और वहाँ समवाय सम्बन्ध से नील रूप उत्पन्न होगा । इस तरह कार्य-कारणभाव मुमकिन होने से पृथ्वीत्व को नीलरूप-
समवायिकारणतावच्छेदक मानने की कोई जरूरत नहीं है । हाँ यह शंका हो सकती है कि —> 'कपालादि अवयव का नील
रूप जैसे स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से घट में रहता है, ठीक वैसे ही अपने में भी उसी सम्बन्ध से रह सकता है, क्योंकि
स्व = पालादि का नील रूप, उसका समवायी कपालादि, उसमें घट की भाँति कपालादिनीलरूप भी समवेत है । अतः
घट की भाँति कपालादिनीलरूप में भी रूप की उत्पत्ति होने लगेगी । इसके निराकरणार्थ पृथ्वीत्व को नील रूप का समवायिकारण-

१. जन्यसत्तायाः सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टसत्तारूपत्वात्, विशिष्टस्य च जातित्वाऽसम्भवादित्थमुक्तम् ।

एवञ्च 'नात्रालोकः किन्त्वन्धकार' इति व्यवहारोऽपि समर्थितः । न ह्ययं 'नात्र घटः किन्तु तदभाव' इतिवत् समर्थयितुं शक्यते 'नात्रालोकः किन्त्वन्धकारस्तदभावावि'ति व्यवहारान्तरस्यापि दर्शनात् ।

✽ नयलता ✽

कल्पनाया अनावश्यकत्वात्, तमःपरमाणुनीलरूपस्य नित्यत्वादेव न तत्र कारणगवेषणम् । ततश्च तमोद्रव्यस्य नीलरूपवत्त्वेऽपि नैयायिकैकदेशमतानुसारेणाऽपि न पृथिवीत्वप्रसङ्ग इति निष्कर्षः ।

अथ नीलजनकविजातीयतेजःसंयोगस्य जलादावपि सम्भवात् तत्र नीलानुत्पत्तये नीलत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेन समवायिकारणत्वमावश्यकमिति चेत् ? न, तथापि उपस्थितविजातीयनीलत्वावच्छिन्नं प्रत्येव तद्धेतुत्वौचित्यात् । न च विजातीयनीलत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिव्याः समवायिकारणत्वावश्यकत्वे नीलत्वावच्छिन्नं प्रत्येव तद्धेतुत्वमस्त्विति वक्तव्यम्, व्यापकधर्मस्य व्याप्यधर्मेणाऽन्यथासिद्धेः, इतरथाऽनुत्पाद्येऽपि तत्कार्यत्वकल्पनाप्रसङ्गात् । मम तु स्वभावविशेषस्यैव नीलनियामकत्वादिति दिक् ।

एवञ्चेति । तमस आलोकाभावभिन्नत्वे चेति । 'नात्रालोकः किन्त्वन्धकार' इति व्यवहारः = शब्दप्रयोगः अपिशब्देन तादृशबोधः सङ्गृहीतः, समर्थितः स्यात्, अन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गेन तादृशप्रयोगानुपपत्तेः 'नालोक' इत्यनेनैवोक्तस्यान्धकारस्य पुनः 'अन्धकार'पदेन प्रतिपादनात् । न च 'नात्र घटः किन्तु तदभाव' इति व्यवहारवत् 'नात्रालोकः किन्तु तम' इतिव्यवहारस्य विवरणपरतयापपत्तिः सम्भवतीति वक्तव्यम्, तादृशविवरणपरतां विनाऽपि स्वारसिकतादृशप्रयोगदर्शनात् । अत्रैव दोषान्तरमाविष्करोति - न हीति । अग्रे 'समर्थयितुं शक्यते' इत्यनेनाऽस्याऽन्वयः । अयं = 'नात्रालोकः किन्त्वन्धकार' इति व्यवहारः, 'नात्र घटः किन्तु तदभावः' इतिवत् = इतिप्रयोगवत्, विवरणपरतया समर्थयितुं शक्यते । हेतुमाह - 'नात्रालोकः किन्त्वन्धकारस्तदभावावि'ति व्यवहारान्तरस्यापि दर्शनात् । अन्धकारस्याऽऽलोकाभावत्वे 'अन्धकारस्तदभावी' 'आलोकाभावान्धकारौ' इति द्वन्द्वसमासो न स्यात्, भिन्नपदार्थवाचकयोरेवेतरेतरद्वन्द्वसम्भवात्, आलोकाभावान्धकार-

तावच्छेदक मानना जरूरी है' <- तो यह भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि जन्य भावमात्र के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य समवायिकारण है । कपालादि अवयव के नील रूप के जन्यभाव का समवायिकारणतावच्छेदक द्रव्यत्व नहीं होने से उसमें समवाय सम्बन्ध से नीलरूप की उत्पत्ति का अवकाश नहीं है । यह तो नैयायिक एकदेशी विद्वानों को भी मान्य है । अतः इसी रीति से भी अन्धकार को पृथ्वी मानने की आवश्यकता नहीं है । अन्धकार के अवयव के नील रूप से ही अवयवी अन्धकार में नील रूप की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि अवयवी तम में स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से अन्धकारावयवनील रूप रहता है और अवयवी अन्धकार में जन्यभावमात्र का समवायिकारणतावच्छेदक द्रव्यत्व भी रहता है । अतः नील रूप होने से ही अन्धकार अवयविद्रव्य को पृथ्वी मानने की आवश्यकता नहीं है । यह फलित होता है ।

✽ व्यवहारविशेषस्य नो अन्धकार में आलोकाभावविभक्तत्वं की सिद्धिः ✽

पुनश्च इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर 'यहाँ आलोक नहीं है, किन्तु अन्धकार है' यह व्यवहार भी अनुपपन्न हो जायेगा । 'आलोक नहीं है' इससे ही आलोकाभावात्मक अन्धकार की सिद्धि होने से पुनः आगे 'किन्तु अन्धकार है' यह कहने की जरूरत नहीं है, क्योंकि तब पुनरुक्ति दोष प्रसक्त होता है । उक्त व्यवहार से ही आलोकाभाव से भिन्न अन्धकार की सिद्धि होती है । यहाँ यह कहा जाय कि -> 'जैसे लोक में यह व्यवहार होता है कि 'यहाँ घट नहीं है, किन्तु घट का अभाव है' यहाँ पूर्वोक्त अंश में पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि 'घट का अभाव है' यह अंश 'घट नहीं है' इस पूर्व भाग का विवरणपरक है । ठीक वैसे ही 'यहाँ आलोक नहीं है, किन्तु अन्धकार है' इस व्यवहार में भी उत्तर भाग से पूर्व भाग का विवरण अभिप्रेत है । अतः पुनरुक्ति दोष का अवकाश नहीं है' <- तो यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि विवरणपरक मान कर उक्त व्यवहार का समर्थन करने पर भी 'यहाँ आलोक नहीं है, किन्तु अन्धकार और आलोकाभाव है' इस व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकती है । इसका कारण यह है कि 'अन्धकारस्तदभावी' = 'अन्धकारालोकाभावी' इत्याकारक द्वन्द्व समास भिन्न पदार्थ के वाचक अनेक पद में ही हो सकता है । जो पदार्थ अभिन्न होते हैं, उनके वाचक पद में कभी भी इतरेतर द्वन्द्व समास नहीं होता है - किन्तु एकशेष समास होता है अतः अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर 'नात्रालोकः किन्तु आलोकाभावान्धकारौ'

यत्तु अन्धकारस्यालोकाभावत्वे 'अन्धकारे नालोक' इति प्रयोगो न स्यादिति केनचि-
दुक्तं तत्तु मोघम्, 'घटाभावे घटो नास्ती'तिवत् तदुपपत्तेः । एवं सति 'अन्धकारेऽन्धकार'
इति प्रयोगपत्तिस्तु स्यादेव । न ह्यन्धकारत्वमालोकाभावत्वादिदानीमतिरिक्तमायुष्मन्तः
सङ्गिरन्ते ।

❀ नयलता ❀

योरनतिरिक्तत्वे 'आलोकाभावान्धकारौ' इत्यम द्विवचनानुपपत्तेः, अपकृष्टालोकसत्त्वेऽपि च तमोव्यवहारात् । न चात एव
'उत्कृष्टालोकाभावोऽन्धकार इति वाच्यम्, तदुत्कर्षप्रतियोग्यपकर्षशालितयैव तमसि द्रव्यत्वसिद्धेरुक्तत्वात् ।

यत्त्विति । अस्य 'तत्तु मोघमि'त्यनेनाऽन्वयः । अन्धकारस्य = अन्धकारपदप्रतिपाद्यस्य, आलोकाभावत्वे =
महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावत्वाभ्युपगमे, 'अन्धकारे नाऽऽलोक' इति प्रयोगः न स्यात्, आधाराधेयभावस्य भेदव्याप्य-
त्वात्, भेदव्यावृत्तौ तद्व्याप्यस्याऽसम्भवात्, अन्यथा 'विन्ध्याचले विन्ध्याचल' इत्यस्यापि प्रसङ्गात् । ततश्चोपदर्शितप्रसिद्धा-
धाराधेयभावान्यथानुपपत्त्या तमसः तादृशालोकाभावभिन्नत्वमभ्युपेयम् । प्रयोगस्त्वेवम् आलोकाभावान्धकारौ भिन्नौ परस्पराधा-
राधेयभावप्रतीतिविषयत्वात् घटभूतलवदित्याशयः ।

नैयायिकं प्रत्युक्तवचनं न बाधकमित्याशयेन प्रकरणकृदाह - तत्तु मोघमिति । 'घटाभावे घटो नास्ती'तिवत्, तदु-
पपत्तेः = 'अन्धकारे नालोक' इतिप्रयोगनिर्वाहान् । अभावाधिकरणकाभावस्य लाघवाधिकरणात्मकत्वेऽपि यथा 'घटाभावे
घटो नास्ती'तिप्रयोगः तादृशबोधश्चाभ्युपगम्यते तद्वदेवान्धकारस्याऽऽलोकाभावत्वेऽभावाधिकरणकाभावस्य चाधिकरणस्वरूपत्वेऽपि
'अन्धकारे नालोक' इतिव्यवहारः आधाराधेयभावावगाहितादृशबोधश्चोपपत्त्येते इति नैयायिकेन वक्तुं युज्यत इति नायं
पर्यनुयोगार्ह इति भावः ।

तर्हि कीदृशी आपत्तिरालोकाभावान्धकारवादिमते संभवेदित्याशङ्कायां प्रकरणकारः प्राह - एवं सति = अभावाधि-
करणकाभावरस्याऽभावात्मकत्वेऽपि तत्राऽऽधाराधेयभावाभ्युपगमे सति, 'अन्धकारेऽन्धकारः' इतिप्रयोगपत्तिः तु स्यादेव ।
कथं ? इत्याशङ्कयामाह - न हीति । 'अन्धकारे नालोक' इत्यत्रोत्तरभागेन प्रतिपाद्यादालोकाभावादन्यकारस्याऽभिन्नत्वात् परमते
'नालोक' इत्यत्र स्थाने अन्धकारपदनिवेशोऽर्थभेदाभावात् 'अन्धकारेऽन्धकार' इतिपदप्रयोगप्रसङ्गो दुर्वारः इति भावः ।

इस व्यवहार की विवरणपरतया उपपत्ति नहीं हो सकती । अतः उक्त प्रसिद्ध व्यवहार के बल से अन्धकार को आलोकाभाव
से भिन्न मानना आवश्यक है, यह फलित होता है ।

यत्तु, इति । आलोकाभावात्मक अन्धकार का स्वीकार करने वाले नैयायिक आदि मनीषियों के खिलाफ अन्धकार को
द्रव्यात्मक मानने वाले कतिपय विद्वानों का यह आक्षेप है कि —> "अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर 'अन्धकार
में आलोक नहीं है' यह प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि अन्धकारपदका अर्थ आलोकाभाव ही होने से वही आलोकाभाव
= अन्धकार का आदेयविधया भान नहीं हो सकता । अभिन्न पदार्थ में आधार-आधेयभाव की प्रतीति नहीं होती है । अतः
'अन्धकारे नालोकः' इस व्यवहार से अन्धकार और आलोकाभाव में भेद की सिद्धि होती है" <— किन्तु यह आक्षेप निष्फल
है, क्योंकि 'घटाभावे न घटः' इस व्यवहार की भाँति उक्त शब्द व्यवहार का उपपादन हो सकता है । आशय यह है कि
घटाभाव में रहने वाला घटाभाव लाघव सहकार से घटाभावस्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है । फिर भी 'घटाभाव में घट
है या नहीं ?' इस प्रश्न के उत्तररूप में 'घटाभाव में घट नहीं है' ऐसा कहा जाता है । आधार और आधेय में अभेद
होने पर भी यहाँ आधार-आदेयभाव का व्यवहार एवं ज्ञान होता है ठीक वैसे ही अन्धकार और आलोकाभाव में अभेद
होने पर भी 'अन्धकारे न आलोकः' इत्याकारक व्यवहार एवं प्रतीति का समर्थन नैयायिक आदि विद्वानों की ओर से किया
जा सकता है । अतः अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने में उक्त आक्षेप नामुनासिब है । हाँ, नैयायिक आदि के प्रति
यह आपत्ति दी जा सकती है कि —> 'आलोकाभावस्वरूप अन्धकार मानने पर 'अन्धकार में अन्धकार है' यह प्रयोग दुर्वार
होगा, क्योंकि 'घटाभावे घटाभावः' यह प्रयोग नैयायिकमतानुसार आधार-आधेय में अभेद होने पर भी होता है वैसे 'अन्धकारे
अन्धकारः' यह प्रयोग भी होना चाहिए, क्योंकि अन्धकार तो उसके मतानुसार आलोकाभावस्वरूप अनिष्ट आपत्ति का उद्भावन
करना चाहिए । यही परवादी के अप्रामाणिक तत्त्व का खण्डन करने की प्रसिद्ध-प्रामाणिक पद्धति है <—

॥ प.८.अ.८ में 'अन्धकारे नालोकः' प्रतीति के अमत्त्व का प्रसंग ॥

अथैतादृशसमभिव्याहारस्य शाब्दबोधाजनकत्वाभेयमापत्तिः, जायमानप्रतीतेः प्रमात्वं त्वभिमतमेवेति चेत् ? तथापि 'अन्धकारे नान्धकार' इति प्रतीतेर्भ्रमत्वं स्यात् ।

❀ नयलता ❀

परः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनास्यान्वयः । एतादृशसमभिव्याहारस्य = सप्तम्यन्तान्धकारपदाव्यवहितोत्तर-
त्वविशिष्टप्रथमान्तान्धकारपदत्वलक्षणस्य प्रथमान्तान्धकारपदाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टसप्तम्यन्तान्धकारपदत्वस्वरूपस्य समभिव्याहा-
रस्य, शाब्दबोधाऽजनकत्वात् = अव्युत्पन्नत्वात्, न इयमापत्तिः = 'अन्धकारेऽन्धकार' इति व्यवहारपत्तिः । न ह्यव्युत्पन्नं
प्रयुञ्जते प्रामाणिकाः । 'तथापि केनचित्तथाप्रयोगे कृते किं तादृशाराधारधेयभावप्रतीतिर्नैवोपजायते यदुत तादृशप्रतीतेर्जायमान-
त्वेऽप्यप्रमात्वमिति विमलदलसमयिकल्पयुगली समुन्मिलति । आद्ये बाधः, तथाविधव्युत्पत्तिनिकलानां नात्मानां ततो जाय-
मानायाः प्रतीतेरानुभविकत्वात् । नाऽपि द्वितीयः, तदभाववति तत्प्रकारकत्वानवगाहितत्वात्, अन्यथा 'अन्धकारे नालोक'
इतिप्रयोगाज्जायमानप्रतीतेरप्यप्रमात्वप्रसङ्गादित्याशङ्कायां पर आह - जायमानप्रतीतेः = 'अन्धकारेऽन्धकार' इति प्रयो-
गाद्वालानां जायमानायाः प्रतीतेः, प्रमात्वं = तद्वति तत्प्रकारकत्वं, तु अभिमतमेवेति ।

प्रकरणकारोऽभ्युपगम्य दोषान्तरमाह - तथापीति । उपदर्शितसमभिव्याहारस्याऽव्युत्पन्नत्वेऽपि, 'अन्धकारे नान्धकार'
इति प्रतीतेः भ्रमत्वं स्यादिति । 'अन्धकारे नान्धकारः' इति शब्दप्रयोगस्योपदर्शितसमभिव्याहारशून्यत्वेन व्युत्पन्नत्वं, नञ्य-
दोषसन्दानात् । ततश्च 'अन्धकारवृत्तिः अन्धकाराभाव' इतिप्रतीतिर्भवितुमर्हति । यद्यपि संयोगेन जलमिव घटो घटवृत्तिः
सम्भवति परमन्धकारे संयोगेनाऽन्धकारो न वर्तते । अत एव प्रयुञ्जते लौकिका अपि 'अन्धकारे नान्धकारः' । परन्तु नैयायि-
कमते अन्धकारमुद्दिश्याऽन्धकाराभावविधानस्य न प्रमात्वं सम्भवति, अन्धकारस्याऽऽलोकाभावरूपत्वेन तदभावस्याऽऽलो-
कात्मकत्वात्, अभावे च संयोगेन द्रव्यस्याऽसम्भवात् । ततश्चालोकाभावलक्षणेऽन्धकारे आलोकात्मकस्यान्धकाराभावस्या-
वगाहित्वेनोपदर्शितप्रतीतेर्नैयायिकमतानुसारेण तदभाववद्विशेषकतत्प्रकारकत्वादप्रमात्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम् । न चेष्टापत्तिरिति
वाच्यम्, स्वारसिकसार्वलौकिकप्रतीतेर्भ्रमत्वकल्पनाऽयोगात्, अन्यथा शून्यवादि विजयेततराम् ।

किञ्च, आलोकप्रतियोगिकाभावमात्रं न तमोव्यवहारविषयः, एकालोकवत्यायालोकान्तराभावात् । न चालोकसामान्या-
भावः तथा, असम्भवात् । न च महदुद्धूतानाभिभूतरूपवदालोकसामान्याभावस्य तथात्वम्, आलोकवत्यपि सम्बन्धान्तरेण
तदभावात् । न च संयोगसम्बन्धावच्छिन्नतदभावः तथा, आलोकेऽपि तत्सत्त्वात् । न चालोकान्यवृत्तित्वविशिष्टतदभावस्य तत्त्वं,
अन्धकारेऽन्धकारापत्तेः । न चालोकान्यद्रव्यवृत्तित्वविशिष्टः स तथेति वक्तव्यम्, त्वदात्मन्यपि तत्प्रसङ्गात् । एतेन

अथैता. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह बचाव किया जाय कि → "अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर भी 'अन्धकारे अन्धकारः' इत्याकारक वाक्यप्रयोग की आपत्ति हमारे मत में अप्रसक्त है, क्योंकि सप्तमी विभक्ति वाले अन्धकार पद की अव्यवहितोत्तर में प्रथमान्त विभक्ति वाला अन्धकारपदत्व या प्रथमान्त विभक्ति वाले अन्धकारपद की अव्यवहित पूर्व में सप्तमी विभक्ति वाला अन्धकारपदत्व स्वरूप समभिव्यवहार शाब्द बोध का जनक नहीं है । शाब्दबोधाऽजनक समभिव्यवहार से घटित वाक्य का विद्वान लोग प्रयोग नहीं करते हैं । इसलिए 'अन्धकारे अन्धकारः' इत्याकारक वाक्यप्रयोग का आपादन करना असंगत है । हाँ, कोई अज्ञ पुरुष 'अन्धकारे अन्धकारः' इस वाक्य का अनजान में प्रयोग कर बैठे तब उस वाक्य से होने वाला जो शाब्द बोध है, वह तो प्रमात्मक ही है, क्योंकि आलोकाभावरूप अन्धकार में आलोक का अभाव रहता है ही, जो प्रथमान्त अन्धकारपद का यहाँ प्रतिपाद्य है । अन्धकार में विद्यमान आलोकाभाव का अवगाहन करने से उक्त प्रतीति को भ्रम तो कैसे माना जाय ? इसलिए आलोकाभावस्वरूप अन्धकार के स्वीकार में कोई दोष नहीं है" ← तो यह नैयायिककथन भी अयुक्त है, क्योंकि उपदर्शित समभिव्यवहार से घटित वाक्य तो शाब्दबोध का जनक होगा ही, क्योंकि यहाँ सप्तमी विभक्ति वाले अन्धकारपद की अव्यवहित उत्तर में प्रथमान्त अन्धकारपद नहीं है, किन्तु 'न' अव्ययपद है । अतः उपदर्शित शाब्दबोधाऽजनक समभिव्याहार से अपटित होने के सबब 'अन्धकारे नान्धकारः' इस वाक्य को शाब्दबोध का जनक मानना होगा । लोक भी उपर्युक्त वाक्य का बिना किसी हिचकिचाहट के प्रयोग करते हैं । अतएव वह वाक्य प्रमाण भी है । अतः उससे होने वाली शाब्दी प्रतीति भी प्रमात्मक ही है । मगर नैयायिकमतानुसार उस वाक्य से होने वाली प्रतीति भ्रमात्मक हो जायेगी । इसका कारण यह है कि नैयायिकमतानुसार अन्धकार आलोकाभावात्मक है और अभाव में कभी भी संयोग सम्बन्ध से द्रव्य नहीं रहता है । संयोग सम्बन्ध से द्रव्य का अधिकरण द्रव्य ही होता है । उक्त वाक्य के उत्तरार्ध 'नान्धकारः' का अर्थ है आलोकाभाव का अभाव । अभावप्रतियोगिक अभाव प्रथमाभाव के प्रतियागिस्वरूप होने

‘अभावचाक्षुषमात्रं प्रति आलोकाधिकरणसन्निकर्षस्य हेतुत्वादात्तं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसो नाऽभावत्वमिति वचनीयं तु न वचनीयम्, आलोकसत्त्वे प्रतियोगिसत्त्वविराधिन्या आलोकाभावग्राहकानुपलब्धैरवाभावात्, आलोकाधिकरणसन्निकर्षस्य प्रत्युत तद्ग्रहपरिपन्थित्वात् ।

❀ गयलता ❀

‘संयोगाद्यन्यतमसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तादृशालोकाभाव एक एव, अन्धकारत्वञ्च भाववृत्तित्वविशिष्टालोकाभावत्वम्, तेन न ‘अन्धकारेऽन्धकार’ इति प्रयोगापत्तिः, न वा ‘अन्धकारे नान्धकार’ इतिप्रतीतिर्भ्रमत्वम्’ इत्यपि प्रत्युक्तम् । न च कदाचिदालोकसंसर्गवद्वृत्तित्वविशिष्टः स तर्धेति वक्तव्यम्, यत्र कदाप्यालोकसंयोगो नास्ति तत्रापि घोरनरकादौ तच्छ्रवणात्, अवतमसे यावदालोकाभावविरहाच्च । किञ्चेतादृशघटकाप्रतिसन्धानेऽपि तमस्त्वप्रतिसन्धानात् घटत्वयत् जातिरूपमेवैतद् न्याय्यमिति तात्पर्यम् ।

अभावचाक्षुषमात्रं = अभावविषयकचाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकाधिकरणसन्निकर्षस्य = आलोकेन सहाभावाधिकरणसंसर्गास्य, हेतुत्वात्, आलोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसो नाभावत्वमिति । अन्धकारस्यालोकाभावत्वे आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नान्धकाराधिकरणचक्षुःसन्निकर्षमृते तच्चाक्षुषं न स्यात् । न चैवमस्तीति तमसो नालोकाभावात्मकत्वं सम्भवतीति वचनीयं = गर्हणीयं तु न वचनीयं = वक्तव्यम् । अत्र हेतुमाह - आलोकसत्त्वे = अन्धकारप्रतियोगिसत्त्वे, प्रतियोगिसत्त्वविराधिन्या = प्रतियोगिनः सत्त्वं विरोधि यस्याः सा तस्याः, कस्याः ? इत्याह - आलोकाभावग्राहकानुपलब्धेः = आलोकाभावस्वरूपाऽन्धकारविषयकग्रहजनिकाया योग्यानुपलब्धेः, एव अभावात् = विरहात् । प्रतियोगिसत्त्वप्रसन्नप्रसजितप्रतियोगित्वरूपाया योग्यानुपलब्धेः अभावग्राहकत्वात्, प्रतियोगिसत्त्वे तस्या एव विरहान् नालोकसत्त्वेऽन्धकारस्याऽऽलोकाभावात्मकस्य चाक्षुषं सम्भवति, विषयस्यापि स्वगोचरचाक्षुषे हेतुत्वात्, सामान्यसामग्रीसमबहिताया एव विशेषसामग्रीयाः कार्यजनकत्वनियमात् । यदुक्तं ‘अभावचाक्षुषमात्रं प्रत्यालोकाधिकरणसन्निकर्षस्य हेतुत्वादि’ति तत्राह - आलोकाधिकरणसन्निकर्षस्येति । प्रकृते आलोकाभावाधिकरणेन सहालोकसन्निकर्षस्य, प्रत्युत तद्ग्रहपरिपन्थित्वात् = आलोका-

से आलोकाभावाभाव आलोकात्मक फलित होता है । अतः ‘अन्धकारे नान्धकारः’ इस वाक्य से होने वाली प्रतीति का आकार नैयायिक के मतानुसार ‘लोकाभाववृत्तिः आलोकः’ ऐसा होगा । अभाव में संयोगसम्बन्ध से वस्तुतः द्रव्यमात्र नहीं रहता है । अतः आलोकशून्य आलोकाभाव में आलोक का अवगाहन करने से उक्त प्रतीति भ्रमात्मक हो जायेगी । मगर शिष्ट लोक में तादृश प्रतीति का प्रमात्वेन व्यवहार होता है । अतः नैयायिक के मन्थे पर उपर्युक्त प्रतीति के भ्रमत्व का कलंक कथमपि दूर नहीं हो सकेगा ।

❀ आलोकसत्त्वा आलोकाभावज्ञान की विरोधी है ❀

अभावचा. इति । नैयायिक के खिलाफ कतिपय अन्य विद्वानों का यह पर्युपयोग है कि —> “अभावविषयक सभी चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति आलोक और अभावाधिकरण का सन्निकर्ष हेतु है । भूतल में घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष तभी हो सकता है, यदि घटाभावाधिकरणीभूत भूतल के साथ आलोक का सम्बन्ध (संयोग) हो । घने अँधेरे में भूतल में घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । अतः अन्धकार भी यदि अभावात्मक है, तब तो अन्धकार का चाक्षुष प्रत्यक्ष भी आलोकाभावात्मक अन्धकार के अधिकरणीभूत भूतल के साथ आलोक का संसर्ग नहीं होने पर नहीं हो सकता । विना कारण के कार्योत्पाद कैसे मुमकिन हो सकता है ? मगर वस्तुस्थिति यह है कि अन्धकार का जब जब चाक्षुष साक्षात्कार होता है, तब तब अन्धकार के अधिकरण में आलोक का सम्बन्ध नहीं होता है । आलोक के बिना ही अन्धकार का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से अन्धकार को अभावात्मक कैसे माना जा सकता है ?” <— मगर यह प्रश्न नामुनासिब है । इसका कारण यह कि अभाव के ज्ञान की जनक योग्यानुपलब्धि है । योग्यानुपलब्धि का अर्थ यह है कि ‘यदि यहाँ प्रतियोगी होता, तो जरूर उपलब्ध = ज्ञात होता’ ऐसा आरोप जिस प्रतियोगी में मुमकिन हो । जैसे घटाभावचाक्षुष के प्रति योग्यानुपलब्धि कारण है, क्योंकि भूतलादि में आलोकादि होने पर ‘यदि यहाँ घट होता, तो अवश्य उपलब्ध होता’ ऐसा आरोप किया जा सकता है । पिशाच आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के अभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि ‘यदि पिशाच यहाँ होता तो जरूर उपलब्ध होता’ ऐसा आरोप नामुमकिन है । मगर जब घटादि प्रतियोगि विद्यमान होता है, तब योग्यानुपलब्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि तब घटादि का ही चाक्षुष हो जाने से ‘यदि यहाँ घटादि होता तो जरूर उपलब्ध होता’ ऐसा आरोप नहीं किया जा सकता ।

ननु तमसो द्रव्यत्वे प्रौढालोकमध्ये सर्वतो घनतरावरणे सति तमो न स्यात्, तेजोऽव-
यवेन तत्र तमोऽवयवानां प्रागनवस्थानात्, सर्वतस्तेजःसङ्कुले चाऽन्यतोऽप्यागमनासम्भवा-

✽ अयत्नता ✽

भावात्मकान्धकारचाक्षुषविरोधित्वात् । अतो नाभावचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकाधिकरणसन्निकर्षस्य हेतुत्वं किन्तु आलोका-
भावेतराभावचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रतीति फलितार्थः । ततश्चालोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमस आलोकाभावत्वे न किञ्चित् क्षुण्ण-
मिति नैयायिकेन वक्तुं शक्यत एवेति न नैयायिकं प्रत्युपदर्शिताक्षेपः कर्तुं युज्यत इति प्रकरणकृदाशयः ।

वर्धमानोपाध्यायमतं निराकर्तुंमुपदर्शयति - नन्विति । तमसो द्रव्यत्वे = जन्यद्रव्यत्वे अभ्युपगम्यमाने, प्रौढालोकमध्ये
= प्रकृष्टालोकसंयुक्तदेशमध्ये, सर्वतो घनतरावरणे = निबिडपिधाने सति तमो न स्यात्, कुतः ? इत्याह - तेजोऽवयवेन
समं तत्र प्रकृष्टालोकसंयुक्तदेशमध्यभागे तमोऽवयवानां प्रागनवस्थानात्, तेजोऽवयवानां तमोऽवयवानाञ्च परस्परपरिहारविरो-
धान्महदुद्धूतानभिभूतरूपवदालोकदेशे सर्वतः तादृशतेजोऽवयवानां सत्त्वेन तत्रान्धकारावयवानामसम्भवात् तत्र घटादेः पराङ्मु-
खकरणदशायां घटाद्यन्तःतमोऽवयव्यारम्भो नैव भवितुमर्हति । न हि सामग्रीमृते कार्योत्पत्तिः सम्भवति । 'माऽस्तु प्रकृष्टा-
लोकसंयुक्तदेशे प्रागन्धकारावयवानामवस्थानं परं घटादेः पराङ्मुखकरणदशायामन्यतः तमोऽवयवानामागमनं भविष्यति । तैरेव
तदानीमन्धकारावयव्यारम्भो भवतु किं नश्छिन्नं ? इत्याशङ्कायामाह - सर्वतस्तेजःसङ्कुले = सर्वतो महदुद्धूतानभिभूतरूपवत्ते-
जोव्याप्ते च देशमध्ये अन्यतः = अन्यदेशात् अपि आगमनासम्भवात् । सर्वतो जलसङ्कीर्णे देशेऽन्यतः तेजोऽवयवाना-
मिव सर्वतः प्रकृष्टालोकसम्भिन्नं देशेऽन्यस्मान्धकारावयवानामागमनमसम्भवीति न तदानीं तमोऽवयव्यारम्भोऽपि सम्भवी । अतः
तमसो द्रव्यत्वं न कल्पनामर्हतीति वर्धमानस्य तात्पर्यम् ।

प्रस्तुत में आलोकाभाव की ग्राहक (= ज्ञानजनक) योग्यानुपलब्धि भूतलादि में तब हो सकती है यदि भूतलादि में आलोक
की अनुपस्थिति है । वहाँ आलोक की सत्ता होने पर तो आलोकाभाव की ग्राहक योग्यानुपलब्धि ही नामुनकिन हो जायेगी,
क्योंकि आलोकात्मक प्रतियोगी की सत्ता होने पर उसीका चाक्षुष हो जाने से 'यदि यहाँ आलोक होता तो, जरूर उपलब्ध
होता' ऐसा आरोप ही नहीं हो सकता है । आलोक की उपस्थिति आलोकाभावग्राहक योग्यानुपलब्धि की विरोधी = प्रतिबन्धक
है । अतः आलोक का भूतलादि के साथ सम्बन्ध होने पर तो आलोकाभाव का चाक्षुष ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह
आलोकाभावविषयक ज्ञान का विरोधी है । अतः 'आलोक के बिना ही अन्धकार का चाक्षुष होने से उसे आलोकाभावात्मक
कैसे माना जा सकता है ?' यह कथन निर्युक्तिक है । अतः उपर्युक्त पर्यनुयोग आलोकाभावात्मकान्धकारवादी नैयायिक के
मत में बाधक हो सकता है ? यह यहाँ महोपाध्यायजी का तात्पर्य फलित होता है । अन्धकार आलोकाभावात्मक नहीं
है, इस वस्तुस्थिति को अन्य प्रमाण - तर्क आदि से सिद्ध की जा सकती है - यह एक अलग बात है ।

॥ वर्धमान उपाध्याय का मतव्य ॥

ननु तमः इति । नव्य न्याय की नींव डालने वाले गंगेश उपाध्याय के सुपुत्र वर्धमान उपाध्याय अन्धकार को जन्यद्रव्या-
त्मक मानने वाले वादी के खिलाफ यह युक्ति बताते हैं कि —> 'यदि अन्धकार जन्य द्रव्य होता - तब तो मध्याह्न काल
में प्रौढ आलोक वाले देश में घट, शराब आदि निबिड द्रव्य को पराङ्मुख करने के पर उसके भीतर अन्धकार उत्पन्न नहीं
हो सकता, क्योंकि प्रकृष्ट आलोक के अवयव के साथ अन्धकार के अवयव एक देश में नहीं रह सकता हैं । प्रकृष्ट आलोक
जैसे अन्धकार का विरोधी है, ठीक वैसे ही प्रकृष्ट आलोक के अवयव भी अन्धकार के अवयव के विरोधी होते हैं । विरोधी
होने पर अन्धकार अवयव प्रौढ आलोक से व्याप्त देश में नहीं रह सकते हैं । अतएव वहाँ अन्धकार स्वरूप अवयवी
की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है । बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यहाँ यह कथन कि <—
'प्रौढ आलोक के मध्य में निबिड आवरण आने पर अन्धकार के परमाणु अन्य स्थान से वहाँ आकर अन्धकारात्मक अवयवी
का प्रारम्भ करेंगे । अतः पहले से वहाँ अन्धकार के अवयवों की उपस्थिति नहीं होने पर भी पश्चात् अन्य स्थान से आगत
अन्धकार के अवयवों से अवयवस्वरूप अन्धकार का आरम्भ होगा' <— भी इसलिए निराधार है कि भूतलादि अधिकरण
चारों ओर से प्रौढ प्रकाश से व्याप्त होने पर अन्य स्थान से भी वहाँ अन्धकार के अवयवों का आगमन नामुमकिन है ।
प्रबल विरोधी जब तक रहेगा तब तक दुर्बल की उपस्थिति कैसे हो सकती है ? क्या नदी में अग्नि के अवयव का अवस्थान
मुमकिन है ? अतः प्रकृष्ट प्रकाश के मध्य में घटादि निबिड द्रव्य को पराङ्मुख करने पर अन्धकारस्वरूप अवयवी द्रव्य का

दिति चेत् ? मैवं वादीः, घनतरावरणसाचिव्येन तेजःपुद्गलानामेव तत्र तमस्त्वेन परिणमनात् । न हि नियतारम्भवादिनो वयं, येन तेजोऽवयवैस्तिमिरारम्भो न शक्येत वक्तुम् ।

‘नीलरूपं तमः’ इति कन्दलीकारवचनं तु नादरणीयम्, निराश्रयस्य रूपस्यासम्भवात्, तादृशनियताश्रयस्य चानुपलभ्यमानत्वात् ।

❀ जयलता ❀

प्रकरणकृत्तत्वाचष्टे - मैवं वादीरिति । मापदयोगादकारलोपः । यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति नियमात् तेजोऽवयवध्वंसजन्यस्य तमसः तेजोऽवयवोपादेयत्वात् तदा तमोऽवयव्यारम्भाऽसम्भवो नैयायिकनियमानुसारेणाऽपीत्याशयेन प्रकरणकृदाह - घनतरावरणसाचिव्येन = निश्चिद्रपिधानसाहाय्येन, तेजःपुद्गलानामेव = तेजोऽवयव्युपादानानां, एवकारेण तमोऽवयवव्यवच्छेदः कृतः । तत्र = घनतरावरणमध्ये, तमस्त्वेन परिणमनात् । तेजोऽवयवानां कथं तमोऽवयव्यारम्भकत्वं, तमसि तेजस्त्वविरहात्, सजातीयैरेवायव्यैः सजातीयावयव्यारम्भकत्वनियमादित्याशङ्कायामाहम - न हि नियतारम्भवादिनो वयमिति । यदि नियतारम्भवादोऽस्माभिरङ्गीकृतः स्यात्, न स्यात् तदा तेजोऽवयवैरन्धकारारम्भः । न चैवमिति तेजोऽवयवैः प्रागवस्थितैस्तिमिरारम्भो वक्तुं शक्यत एव । न च नियतारम्भवादस्य सर्वथाऽनभ्युपगमे एकान्तवादप्रसङ्ग इति वक्तव्यम्, स्याद्वादभिरस्याभिः पुद्गलत्वेन नियतारम्भवादस्य पुद्गलत्वव्याप्यपृथिवीत्वादिना चानियतारम्भवादस्याऽङ्गीकारात् । पुद्गलत्वव्याप्यजात्या अपि नियतारम्भवादस्य प्रामाणिकत्वे तु निशायां समुद्रे बहवानलारम्भः कथं सङ्गच्छेततराम् । जलावयवैः तिमिरावयवैश्च साकं तेजोऽवयवानां प्रागनवस्थानात्, सर्वतो जलतिमिरसङ्कुले चान्यतोऽपि तेजोऽवयवानामागमनाऽसम्भवात् । तत्राऽदृष्टविशेष-घर्षणादिसाचिव्येन जलावयवैरेव बहवानलारम्भोऽस्माभिरङ्गीकृतोऽपि नैयायिकानुगम्यः । न च जलान्तःपातिभिरनलावयवैरेव तदानीं बहवानलारम्भ इत्युद्धारणीयम्, आलोकान्तःपातिभिः तिमिरावयवैरेव घनतरावरणमध्ये तिमिरारम्भ इत्यस्याऽपि सुवचत्वात् । सत्कार्यवादनिराकरणे नियतारम्भवादस्य निराकृतत्वान्नदानीं तन्निरासेऽस्मदीयत्नः, मृतमारणवन्निरर्थकत्वात् ।

व्योमशिवमतं निराकर्तुमुपक्रमते - ‘नीलरूपं तमः’ इति । आरोपितस्य नीलरूपस्य तन्मते तमस्त्वात् । तदयुक्तत्वमादर्शयति - निराश्रयस्य रूपस्याऽसम्भवादिति । भूतलादावेवालोकाविरहदशायां नीलरूपारोपात् भूतलादेरेव तदाश्रयत्वमस्त्वित्याशङ्कायामाह - तादृशनियताश्रयस्य चानुपलभ्यमानत्वादिति । क्वचिद्भूतले क्वचित्प्रतीते क्वचिच्च गुहायां तत्प्रतीतेः नियताश्रयकत्वं तस्य न सम्भवति । न च पृथिवीत्वेनैव तदनुगमसम्भवान्नैष दोष इति वक्तव्यम्, जलादावपि तमःप्रत्ययात् । न चालोकाभाववत्त्वेनैवारोपितनीलरूपाधिकरणानुगमोऽपि सम्भवति, आलोकपरमाणु-तप्तजल-सुवर्णादावपि तमःप्रतीतेरुदयात् । न च महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकशून्यत्वेन तदधिकरणानुगमोऽस्त्विति वाच्यम्, तथापि तत्र पीतरूपाधारोपप्रसङ्गात्, नीलिद्रव्योपरक्तेषु वस्त्रादिषु तमोव्यवहारप्रसङ्गाच्च । न चारोपे सति हि निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोप इति नियमात्

आरम्भ नामुक्तिकेन है । इसलिए अन्धकार हो द्रव्यात्मक नहीं माना जा सकता है” <—

❀ तेजःपरमाणु से अन्धकारारम्भरूपीकार - वर्धमानमतनिरास ❀

मैवं. इति । प्रकरणकार श्रीमदजी कहते हैं कि वर्धमान उपाध्याय का उपर्युक्त कथन अन्धकारद्रव्यवादी स्याद्वादी के मत में बाधक नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि प्रकृष्ट आलोक से संयुक्त स्थान में घटादि को पराङ्मुख करने पर उसके भीतर आलोकपरमाणु ही अन्धकार के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं । जैसे महापट के अवयव तंतु खण्ड पट के स्वरूप में परिणत होते हैं वैसे प्रकृष्ट आलोक के अवयव का अन्धकारात्मना परिणाम हो सकता है । यहाँ यह शंका करना कि —> “तैजस अवयवों से तो तैजस अवयवी का आरम्भ हो सकता है, अन्धकारात्मक अवयवी का नहीं” <— ठीक नहीं है, क्योंकि हम स्याद्वादी हैं, नियतारम्भवादी नैयायिक नहीं । अतः तैजस परमाणु से तैजस अवयवी का ही आरम्भ हो सकता है- ऐसा एकान्त हमें मान्य नहीं है । जैसे सहकारी विशेष के साक्षिण्य से गोबर से भी बिच्छू आदि की उत्पत्ति होती है, ठीक वैसे ही निविड आवरण के सहकार से तैजस परमाणु से भी तिमिर की उत्पत्ति हो सकती है । अतः अन्धकार को द्रव्य मानने में कोई बाधा नहीं है ।

❀ कन्दलीकारमतखण्डन ❀

नीलरूपं. इति । न्यायकन्दलीकार का मत यह है कि —> ‘अन्धकार दूसरा कुछ नहीं है, किन्तु आरोपित नील रूप

तस्मात्तमसो द्रव्यत्वमेव सकलप्रमाणसिद्धं न्याय्यमित्यधिकमनया दिशा स्वधियाऽभ्यूहनीयम् ।
'यथात्थं भगवन्नि'त्युक्त्या च भगवद्वचनेऽप्रामाण्यशङ्काकलहकलेशाऽसम्पर्कसूचना

❀ जयलता ❀

दोष इति वक्तव्यम्, तथापि 'तमो नीलं न नीलिमे'ति प्रत्ययानुपपत्तेः, 'इह महानन्धकार' इति प्रतीतेर्भ्रमत्वाच्चेति, 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' (अ.को. १/५/१७) इत्यमरकोशवचनेन शुक्लादिपदजन्यशुक्लत्वाद्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकशाब्दबोधे पुल्लिङ्गकशुक्लादिपदशक्तिज्ञानजन्योपस्थितेहेतुत्वेन 'नीलस्तम' इतिप्रयोगप्रसङ्गाच्च । न च नीलस्य तमोविशेषणत्वमेव, अनुक्तलिङ्गविशेषणपदानाञ्च विशेष्यलिङ्गताया औत्सर्गिकत्वाद् नीलपदे क्लीबत्वमिति वाच्यम्, नीलस्य सामान्यतया विशेष्यत्वात्, विशेषणविशेष्यभावे कामचारभिधानस्य परस्परव्यभिचारितदुभयविषयत्वादिति । तस्मात्तमसो द्रव्यत्वमेव सकलप्रमाणसिद्धं न्याय्यमिति ।

→ 'नीलोरोपविशिष्टतेजःसंसर्गाभावस्तम' <— इति शिवादित्यवचनमपि अविचारितरमणीयम्, नीलारोपाद्यग्रहेऽपि तमस्त्वग्रहात्, तादृशतमस्त्वावच्छिन्नधर्मिकनीलारोपाऽयोगाच्च ।

→ तेजःप्रतियोगिकाभावेनैव तमोव्यवहारः, तत्र तत्तेजोज्ञानं प्रतिबन्धकमिति <— शेषानन्तवचनमपि न मनोहारि, स्पष्टगौरवात्, व्यवहर्तव्यज्ञाने सति सत्याञ्चेच्छायां व्यवहारेऽधिकानपेक्षणाच्च ।

→ 'उद्धूतानभिभूतरूपवत्तेजःसामान्याभावो न तमः, तेजोध्वंसप्रागभावाधिकरणे तत्सामान्याभावासत्त्वेन तमःप्रतीत्यनुपपत्तेः, किन्तु तादृशतत्तेजोव्यक्तीनां विशेषाभावसमुदाय एवान्धकारपदार्थ' <— इति पक्षधरमिश्रमतमपि न चारु, प्रकृष्टालोकेऽपि रूपादौ संयोगेनालोकाभावसत्त्वादन्यकारव्यवहारापत्तेः, 'इदं तम' इति प्रतीतावपि तत्र भावत्वाभावत्वसंशयात्, ध्वंसप्रागभावयोः स्वप्रतियोग्यत्यन्ताभावाविरोधित्वे मानाभावाच्च ।

यत्तु 'संयोग-संयुक्तसमवायादिनानासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनानालोकाभावनिष्ठं तमस्त्वमप्यखण्डमेकमेव, तेन न 'प्रकृष्टालोकेऽपि रूपादौ संयोगेनालोकाभावसत्त्वादन्यकारव्यवहारापत्तिः, न वा नानालोकभावेष्वनुगततमोव्यवहारानुपपत्तिः, न वा 'इदं तम' इति प्रतीतावपि तत्र भावाभावत्वसंशयानुपपत्तिः, इदन्त्वावच्छेदेन तमस्त्वग्रहेऽपि आलोकाभावत्वाऽग्रहादि'ति मतं तदपि न रमणीयम्, तथा सति तत्रोत्कर्षायकर्षाऽसम्भवादन्धतमसावतमसादिविशेष प्रत्ययानुपपत्तेः । न च तमस्त्वदन्यतमसत्त्वादेरप्यखण्डोपाधित्वमेवेति वाच्यम् पूर्वोक्तरीत्याऽन्धकारेऽन्धकारापत्तेर्दुर्वारत्वात्, महागौरवकलङ्किततादृशक्लिष्टकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्ततमोद्रव्यकल्पना या एव न्याय्यत्वाच्चेत्याशयेनाह - अधिकमनया दिशा स्वधियाऽभ्यूहनीयमिति । तच्चाऽस्माभिरत्रैव तत्तस्थले लेशतो दर्शितमेवेति तमोद्रव्यत्ववादः ।

एतद्वचःप्रकाशाद् ध्वान्तेऽभावत्वभ्रमः तमः । विलीयतां परेषां तु स्यां कृतार्थस्तदा ह्यहम् ॥१॥

'यथात्थे'त्यादिकं स्पष्टम् ।

ही अन्धकार है' <— किन्तु यह मन्तव्य भी अनादरणीय है, क्योंकि निराश्रय रूप न्यायमत में असम्भवित है । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि <→ 'भूतल में नील रूप का आरोप होने से भूतल ही आरोपित नील रूप का आधार है', <— क्योंकि आरोपित नील रूप का आश्रय निश्चित नहीं है । कभी भूतल में तो कभी पर्वत में तो कभी गुफा में नील रूप का भान होने से नील रूप का नियत आश्रय अनुपलभ्यमान है । अतः भूतल आदि को ही नील रूप का आश्रय नहीं माना जा सकता है । किन्तु स्वाभाविक नील रूप के आश्रय के स्वरूप में ही अन्धकार द्रव्य का स्वीकार करना उचित है, जो प्रकृष्ट आलोक की विद्यमानता में नहीं रहता है । सकल प्रमाण से अन्धकार में द्रव्यत्व ही सिद्ध होता है । अतः अन्धकार द्रव्यात्मक मानना ही न्याय्य है । इस सम्बन्ध में अधिक विचार भी किया जा सकता है । यहाँ जो कुछ बताया गया है, वह तो दिग्दर्शनमात्र है । इसी दिशा में अपनी बुद्धि से वाचकवर्ग स्वयं विचार करें - इस बात की सूचना देकर प्रकरणकार महामहोपाध्यायजी महाराज अन्धकारवाद को समाप्त करते हैं ।

❀ रागद्वेषद्वय के बिना सत्यवचन असंभावित ❀

यथात्म. इति । कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की पाँचवीं कारिका के उत्तरार्थ में कहा है कि - 'हे भगवंत ! आपने जैसा कहा है वैसा मानने पर कोई भी दोष प्रसक्त नहीं है' । इस

स्वस्याऽसाधारणी भक्तिरतिशयेन तत्रभवद्भिः । राग-द्वेषाद्यविद्याबन्धकीसम्पर्ककलहकि-
तानांपरेषां वचसि प्रामाण्याऽभ्युपगमो हि महामोहगहनविजृम्भितम्, राग-द्वेषाभावं विना-
ऽवितथवचनस्य कार्यस्याऽसम्भवात् ।

ननु वेदकर्तुरेव पुरुषधौरेयस्य वचः प्रमाणं, तस्यैव सर्वज्ञत्वात् । मैवम्, तत्प्रणेतरि
भवदभिमतं भवानीपतावेव मानाऽभावात् । न च 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वादि'त्यनुमानमेव

॥ गत्यलता ॥

ईरोडमण्डनं श्रीवासूपूज्यस्वामिनं नत्वा । भवानीपतिकर्तृत्वे मानाभावः समर्थ्यते ॥१॥

धुणाक्षरन्यायेनैकान्तवादिवचने क्वचिद्विसम्वादाऽदर्शनेऽपि न तत्रौत्सर्गिकं प्रामाण्यम्, वचनवैतथ्यसम्पादकरागादिपर-
वशपुरुषनिसृतत्वादिति गिरां समाकर्ण्य सकर्णो नैयायिकः प्रत्यवतिष्ठते - नन्विति । वेदकर्तुः = प्रमाणत्वेन महाजनपरिगृहीतानां
वेदानां कर्तुः, एव पुरुषधौरेयस्य वचः प्रमाणम्, हेतुमाह - तस्य = पुरुषधुरिणः एव सर्वज्ञत्वादिति । प्रथमैवकारेण
द्वादशांगीकर्तुः द्वितीयैवकारेण च जिनेश्वरस्य व्यक्छेदः कृतः ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - मैवमिति । तत्प्रणेतरि = वेदरचयितरि, भवदभिमतं = नैयायिकाभिमतं, भवानीपती =
त्रिलोचने, एव मानाभावादिति । बोधादिभिः वेदानामष्टकादिनिर्मितत्वाभ्युपगमाद् 'भवदभिमत' इत्युक्तम् । तत्र माना-
भावश्चैवम्, न तत्र बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षं प्रमाणं, अणुपिद्रव्यत्वेन बाह्यप्रत्यक्षाऽविषयत्वात् । नापि मानसं, परात्मनः परेण
मनसा प्रत्यक्षवारणायाऽऽत्ममानसं प्रति परात्मव्यावृत्तविजातीयमनःसंयोगत्वेन कारणत्वाऽभ्युपगमात् । नाप्यनुमानं प्रमाणम्,
ईश्वरस्याऽप्रत्यक्षतया तस्य केनचिल्लिङ्गेन सहचारदर्शनाभावेन व्याप्तिग्रहाभावात् । न वोपमानं मानं, तुत्तुल्यास्याऽपरस्याऽ-
भावेन सादृश्यज्ञानाऽसम्भवात्, अन्यथा ईश्वरत्वव्याहतेः । नापि शब्दः प्रमाणं, श्रुतीनामीश्वरोच्चरितत्वेनैव प्रामाण्यस्य वक्तव्य-
तया तत्रैश्वर एव सन्देहेन श्रुतिप्रामाण्यस्यापि सन्दिग्धत्वादिति भवदभीष्टचतुर्विधप्रमाणाऽगोचर ईश्वरे कथं सर्वज्ञत्वाभ्युपगमस्य
समीचीनत्वमिति स्याद्वाद्यभिसन्धिः ।

उदयनाचार्यसंदृष्टेश्वरसाधकप्रथमानुमानं प्रतिक्षेपमुपक्षिपति - न चेति । कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदिति गम्यते,

वचन से महुनीय श्रीकलिकालसर्वज्ञ आचार्यश्रीने जिनवचन में अप्रामाण्य की शंका के कलंक के अंश से भी रहितत्व की
सूचना देकर जिनेश्वर के प्रति अपनी असाधारण भक्ति का आविर्भाव किया है । जिनवचन के प्रति अप्रामाण्य के निश्चय
की बात तो दूर हो, लेश शंका भी कुमारपालप्रतिबोधक आचार्यश्री के दिल में नहीं है । यही सर्वोत्कृष्ट भक्ति है । पुरुषविश्वास
से वचनविश्वास । यद्यपि कुतूहलिकों को भी अपने अपने दर्शन के प्रणेता के वचन में अटूट विश्वास है मगर वह महामोह
का महा विलास है, दूसरा कुछ नहीं, क्योंकि वह राग-द्वेष-अविद्या आदि दोष की परम्परा से कलंकित एकान्तवादी पुरुष
के वचन में, जिस में प्रामाण्य की गन्ध भी नहीं है, प्रामाण्य के स्वीकारात्मक है । भला ! जो स्वयं राग-द्वेष के विषचक्र
में फँसा है, उसका वचन प्रामाणिक कैसे हो सकता है ? राग-द्वेष-अज्ञान के अभाव के बिना अविसंवादी वचनस्वरूप कार्य
ही असंभवित है । धुणाक्षरन्याय के कुछ अविसंवादी वचन उनके मुँह से कदाचित् निकल पड़े, वह एक अलग बात है ।
मगर उनके वचन के ऊपर प्रामाण्यमुद्रा नहीं लगाई जा सकती । क्या नकली घड़ी भी दिन में दो दफे सबा समय नहीं
बताती है ? जिनेश्वर भगवान में तो असत्य वचन का कारण राग-द्वेष आदि ही नहीं है, फिर वे असत्य क्यों बोले ?
अतः जिनवचन में अप्रामाण्य नामुमकिन है । चाहे चाँद से आग की वर्षा क्यों न हो, चाहे सूर्य पश्चिम दिशा में उदित
क्यों न हो ? मगर तीन काल में जिनवचन में अप्रामाण्यलेश भी असम्भव है ।

ॐ ईश्वरलक्षणम् ॐ

ननु वे. इति । जिनेश्वर भगवंत का ही वचन प्रामाणिक है, यह सुन कर नैयायिक आग बबूला होकर बोलता है
कि —> 'वेदकर्ता प्रधानपुरुष का ही वचन प्रामाणिक है, क्योंकि वही सर्वज्ञ है । वेदकर्ता शङ्कर भगवान के वेदवचन को
ही प्रमाण मानना चाहिए' <— मगर यह कथन अप्रामाणिक है, क्योंकि वेदकर्ता के स्वरूप में आपको अभिमत भवानीपति
शंकर में ही कोई प्रमाण नहीं है । शंकर की सत्ता का कोई प्रमाण ही नहीं होने से उसके वचन में प्रामाण्य की घोषणा
करना बन्ध्यापुत्र के आभूषण की घोषणा के समान है । यहाँ नैयायिक की ओर से इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि की
जाय कि —> 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटवत् - इस अनुमान से पर्वत आदि कार्य में सकर्तृकत्वरूप साध्य की सिद्धि

तत्र मानं, शरीरजन्यत्वरूपसन्दिग्धोपाधिग्रस्तत्वात् ।

✽ जगत्ता ✽

इत्यनुमानमेव । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः । तत्र = महेशे, मानं = प्रमाणम् । यत् यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकं यथा घटः । यत्सकर्तृकं न भवति, न तत्कार्यमपि भवति गगनवत् । न तावदयं हेतुरुद्धताऽसिद्धतासिद्धसीकोत्तरीगरीयस्तरदुस्तर-कटाक्षलक्षविक्षेपविक्षेपितः, सद्भूतानुभवसिद्धाविनाभावित्वसिद्धधर्माधिकरणविद्यासिद्धत्वात् । नापि दुर्धरविरुद्धतोद्धततर्कवितर्केन्धन-कार्कश्यवरुद्धता, विचक्षणाक्षीणक्षोदक्षमाध्यक्षनिर्णीतविपक्षव्यावृत्तिव्याप्तिशक्तिप्रकोपपावकाहुतीभूतप्रत्यर्थिपक्षत्वात् । नाप्यनैकान्ति-काक्रान्तविषमविषधरीविषावेगविधुरीभूतताऽप्याशङ्कनीया, विपक्षनिर्णीतव्यावृत्तिमञ्जुलक्षितिरुहायतच्छायासु सुखनिषण्णत्वात् । नापि कालात्ययावदिष्टतादुष्टदोषदन्दशूकदष्टत्वं निष्टङ्कनीयम्, अवाधितपक्षप्रयोगपक्षाधिराजपक्षान्तरविश्रान्तत्वात् । नाप्यस्य हेतुनरेश्वरस्य प्रकरणसमतातङ्काकान्तत्वमुद्भावनियं, एतत्प्रतिपक्षिसमर्थानुमानाभावात्तत्रपवित्रप्रभुताप्राप्तसाम्राज्यसुगमत्वात् । न च शरीरा-ऽजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्षतोद्भावनिया, शरीरपदनिवेशनावश्यकत्वात् अप्रयोजकत्वाच्चेति नैयायिकाशयः ।

तदपक्षेपार्थं प्रकरणकृदाह - शरीरजन्यत्वरूपसन्दिग्धोपाधिग्रस्तत्वादिति । अन्यत्र गतो धर्मोऽन्यत्रोपचर्यमाण उपाधि-रभिधीयते यथा जपाकुसुमसंसर्गादारुण्यशून्ये स्फटिकशकलेऽरुणत्वं प्रतीयते तथौपाधौ वर्तमानं व्याप्यत्वं तच्छून्ये हेतो विज्ञा-यते । इति स्वाऽभावानुमापितसाध्याभाववद्वृत्तित्वमुद्भाव्य हेतौ व्यसिदूरीकरणेनोपाधेर्दूषणत्वम् । तल्लक्षणञ्चेदम्, साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमिति । प्रकृतानुमाने शरीरजन्यत्वमुपाधिः, तस्य घटीदौ साध्यव्यापकत्वात्, अङ्कुरादौ साधनाव्यापक-त्वाच्चा । न चाङ्कुरादौ सकर्तृकत्वरूपसाध्यसन्देहेन उपाधेः साध्यव्यापकत्वसंशयात्रोपाधित्वनिश्चय इति वक्तव्यम्, तथापि सन्दिग्धोपाधित्वस्य दुर्वारत्वात् । न चोपाधिनिश्चये सत्यतेव हेतौ सोपाधिकत्वहेतुना व्यभिचारनिश्चयः सम्भवति । ततः चानुमितिप्रतिबन्धः । उपाधिसन्देहे तु व्यभिचारसन्देह एव भवति । न च तेन व्याप्तिज्ञानप्रातिरोधः सम्भवति, व्यभिचारनिश्चय-त्वस्यैव व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वादिति वाच्यम्, उपाधिसन्देहे व्यभिचारसन्देहस्याऽऽवश्यकत्वात्, व्याप्यत्वज्ञानं प्रति लाघवेन व्यभिचारज्ञानसामान्यस्य प्रतिबन्धकत्वात्, व्याप्यसंशयेन व्यापकसन्देहस्याऽऽवश्यकत्वात्सन्दिग्धोपाधित्वस्यापि दूषकत्वात् । न चोपाधिसन्देहाऽऽहितो व्यभिचारसन्देहः पक्षान्तभविनैवाङ्गीकरणीयः, घटादौ साध्यनिश्चयेन साध्यसन्देहासम्भवात् । स च न व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकः, पक्षान्तभविन व्यभिचारसन्देहस्य तदप्रतिबन्धकत्वात्, अन्यथाऽनुमितेः पूर्वं सर्वत्रैव पक्षे साध्यसन्देह-सम्भवेन तत्र च हेतोर्निश्चयादनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । तस्मात्साध्याभावांशे निश्चयात्मकं वृत्तित्वांशे च संशयनिश्चयसाधा-रणं व्यभिचारज्ञानं प्रतिबन्धकमित्यारथ्यम् । प्रकृते च तादृशव्यभिचारसन्देहासम्भवात्कथं सन्दिग्धोपाधेर्दूषकत्वमिति वक्तव्यम्, पक्षतत्समयोरपि व्यभिचारसंशयस्य प्रतिबन्धत्वात् । पक्ष उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नः तत्समस्तु तद्विन्नत्वे सति साध्यसन्देहा-क्रान्तः । न चैवमुक्तरीत्याऽनुमानमात्रोच्छेदापत्तिरिति वाच्यम्, धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्निजन्यो न स्यादित्यनु-

होगी । मगर पर्वत आदि के कर्ता के स्वरूप में आमजनता का स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः अन्ततो गत्वा पर्वतादि के कर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि होगी” <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमान का कार्यत्वस्वरूप हेतु शरीरजन्यत्व-स्वरूप संदिग्ध उपाधि से ग्रस्त है । जो साध्य का व्यापक हो और हेतु का अव्यापक हो उसे उपाधि कहते हैं । यहाँ साध्य है सकर्तृकत्व = कर्तृजन्यत्व और हेतु है कार्यत्व । जहाँ जहाँ कर्तृजन्यत्व रहता है, वहाँ वहाँ शरीरजन्यत्व रहता है यह घट, पट आदि में देखा गया है । अतः शरीरजन्यत्व सकर्तृकत्वरूप साध्य का व्यापक है । एवं कार्यत्व के आशय अंकुरादि में शरीरजन्यत्व का अभाव होने से वह कार्यत्वरूप साधन का अव्यापक भी है । अतः उपाधिग्रस्त होने के कारण प्रस्तुत अनुमान से वादी के अभिमत की सिद्धि नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि —> ‘अंकुरादि में सकर्तृकत्व का संदेह है किन्तु शरीरजन्यत्व का अभाव निश्चित है । अतः शरीरजन्यत्व में सकर्तृकत्वरूप साध्य की व्यापकता का निश्चय नहीं हो सकने से शरीरजन्यत्व उपाधि नहीं हो सकता’ <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चित उपाधि न होने पर भी अंकुरादि द्वारा शरीरजन्यत्व में साध्यव्यापकता का संदेह होने से संदिग्धोपाधि का होना आवश्यक है । यहाँ यह कहना कि <— ‘संदिग्धोपाधि के व्यभिचार के सन्देह से हेतु में साध्यव्यभिचार का सन्देह ही हो सकता है, न कि निश्चय तथा व्यभिचारसंशय व्याप्तिज्ञान का विरोधी नहीं होने से हेतु में साध्यनिरूपित व्याप्ति का निश्चय हो कर अनुमिति के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती’ <— भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्तिज्ञान के प्रति व्यभिचारनिश्चयत्वरूप से व्यभिचारज्ञान को प्रतिबन्धक मानने में गौरव है । लाघव की दृष्टि से व्यभिचारज्ञानत्वरूप से ही व्यभिचारज्ञानत्व-रूप से ही व्याप्तिज्ञान का

अथ नाथमत्र दोषः, कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन कारणत्वनिश्चयात् लाघवतर्कवितारदशायां तत्प्रयुक्तव्यभिचारसंशयस्याऽप्रतिबन्धकत्वादिति चेत् ? न, कार्यत्वं हि 'ध्वंस-

❀ जयलता ❀

कूलतर्केण व्यभिचारसन्देहस्याऽसम्भवात् । अत एवानुकूलतर्कविरहदशायां पक्षेतरत्वं सन्दिग्धोपाधिरित्यभिधानमपि सङ्गच्छते । प्रकृते चानुकूलतर्कविरहात् नोक्तानुमानेन नैयायिकाभिमतसिद्धिरिति स्याद्वाच्यमिप्रायः ।

स्वपक्षे लाघवतर्कवितारेण परः सन्दिग्धोपाधेः प्रकृतेऽदोषत्वमुद्भावयति - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । न अयं = शरीरजन्यत्वलक्षणसन्दिग्धोपाधिः अत्र सकर्तृत्वसाध्यक-कार्यत्वहेतुकानुमाने दोषः । कथं ? इत्याशङ्क्यां पर आह - कार्यत्वावच्छिन्नं = कार्यमात्रं प्रति कर्तृत्वेन रूपेण कारणत्वनिश्चयादिति । प्रकृते कार्यत्व-सकर्तृकत्वाभ्यां फल-फल-वद्भावनिश्चयादित्यर्थः । ततश्चाऽकुरादौ कार्यत्वे सत्यपि सकर्तृकत्वं न स्यात्तर्हि कार्यत्वावच्छिन्नं कर्तृजन्यं न स्यादित्याकारक-लाघवतर्कवितारदशायां तत्प्रयुक्तव्यभिचारसंशयस्य = उपाधिसंशयप्रयुक्तव्यभिचारसन्देहस्य, अप्रतिबन्धकत्वात् = सकर्तृक-त्वनिरूपितकार्यत्वनिष्ठव्याप्तिनिश्चयाऽप्रतिबन्धकत्वात् । अनुकूलतर्कानवतार एव सन्दिग्धोपाधेर्यव्यभिचारसंशयाधायकत्वम्, अन्यथा पक्षेतरत्वोपाधिशङ्कया प्रसिद्धानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । सन्दिग्धोपाधेः सत्त्वेऽपि लाघवतर्कवितारे व्यभिचारसंशयस्यैवानुत्थानमित्यत्र नैयायिकतात्पर्यादुक्तानुमानेन कर्तृत्वाश्रयविधेयशरसिद्धिरिति भावः ।

अत्र कार्यस्य घटादेः सकर्तृकत्वसिद्ध्याऽऽशतः सिद्धसाधनम् । न च पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्भयत्वान्नायां दोष इति वाच्यम्, तथापि सकर्तृकत्वं यदि कर्तृसाहित्यमात्रं तदाऽस्मदादिना सिद्धसाधनस्य दुर्वारत्वात् । न च कर्तृजन्यत्वं साध्यं सम्भवति, अनन्तकृतीनां जनकतावच्छेदकत्वे गौरवात् । नापि स्वोपादानगोचराणरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिजन्यत्वं तत्, स्वत्व-घटितत्वेनाननुगमात्, उपादानाऽपरोक्षज्ञानत्वादेर्गुरुत्वेन जनकतानवच्छेदकत्वाच्च । अनेन प्रत्यक्षजन्यत्वेच्छाजन्यत्वादेः साध्यता-यामदोषः । अदृष्टाऽद्वारा जन्यत्वस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिकसमवायावच्छिन्नजन्यत्वस्य वा साध्यत्वान्नाऽ-दृष्टजनकाऽस्मदादिज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेति प्रत्युक्तम्, पक्षतावच्छेदकहेत्वोरैक्यप्रसङ्गश्च दुर्वार एव । न च 'कार्यत्वं साध्यसमानाधिकरणमिति सहचारग्रहेऽपि' कार्यं सकर्तृकमिति बुद्धेरभावान्नायं दोष इति वाच्यम्, तथापि 'कार्यता-वच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता सकर्तृकत्वावच्छिन्ने'त्यभ्युपगमेऽवच्छेदकावच्छेद्योरैक्येनाऽऽत्माश्रयप्रसङ्गात् । न च ध्वंसप्रति-योगित्वरूपस्य कार्यत्वस्याऽवच्छेदकत्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपकार्यत्वस्य चाऽवच्छेद्यत्वमिति न तयोरैक्यमिति वाच्यम्, विनि-गमकाभावेन प्रागभावप्रतियोगित्वादेरप्यवच्छेदकत्वसम्भवेन व्यभिचारवारणाय नानाकार्यकारणभावकल्पने गौरवापातेन लाघवतर्काऽ-वताराऽसम्भवात् सन्दिग्धोपाधिप्रसयुक्तव्यभिचारसंशयेन सकर्तृकत्वनिरूपितकार्यत्ववृत्तिव्याप्तिनिश्चयविषटनादनुमितेः प्रतिरोधस्य

प्रतिबन्धक है । अतः व्यभिचारसंशय से भी व्याप्तिनिश्चय का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण संदिग्धोपाधिकत्व का भी अनुमानविरोधित्व अपरिहार्य है ।

❀ लाघव तर्क सहकार से ईश्वरसिद्धि - नैयायिक ❀

अथ ना. इति । यदि नैयायिक विद्वानों की ओर से यह कहा जा सकता है कि —> “शरीरजन्यत्वस्वरूप संदिग्ध उपाधि उपर्युक्त अनुमान में दोषात्मक नहीं है । इसका कारण यह है कि कार्यमात्र के प्रति कर्तृत्वरूप से कारणता निश्चित = प्रमाणसिद्ध है । कार्यतानिरूपित कारणता के अवच्छेदकविधया कर्तृत्व का स्वीकार करने में लाघव है, शरीरत्व को मानने में गौरव है - इस लाघव तर्क का अवतार होने पर कार्यत्व हेतु में शरीरजन्यत्वात्मक संदिग्ध उपाधि से व्यभिचार का संशय हो कि - 'कर्तृजन्यत्वव्यापक शरीरजन्यत्वशून्य पर्वतादि में कर्तृजन्यत्वराहित्य होने पर भी कार्यत्व हेतु मुमकिन है' - तो वह उपर्युक्त अनुमिति में प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, क्योंकि लाघव तर्क से ही तादृश व्यभिचार के संदेह का प्रतिरोध हो जाता है । अतः कार्यत्व हेतु से क्षिति आदि के कर्ता के स्वरूप में ईश्वर की सिद्धि हो सकती है, उक्त संदिग्ध उपाधि का उद्भावन अकिञ्चित्कर है । लाघव तर्क न होने पर ही संदिग्ध उपाधि से अनुमिति का प्रतिबन्ध हो सकता है” <—

❀ कार्यत्व पक्षे होने से नैयायिकमत में लाघवतर्क नामुमकिन ❀

न, का. इति । किन्तु विचार करने पर नैयायिक से दर्शित लाघव तर्क नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि

प्रतियोगित्वं, 'प्रागभावप्रतियोगित्वं, अ(न?) वच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण 'कालवृत्त्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्वं, 'स्वानधिकरणीभूतकालवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, 'कालवृत्त्यन्योऽन्यभावप्र-

जयलता

सुरगुरुणाऽपि निराकर्तुमशक्यत्वादित्याशयेन स्याद्वादी नैयायिकमतमपनोदयति - नेति । कार्यत्वं प्रकृते हेतुभूतं सकर्तृ-
कत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकीभूतं वा कार्यत्वं, हि प्रध्वंसप्रतियोगित्वं = प्रध्वंसनिष्ठनिरूपकतानिरूपितप्रति-
योगित्वम् । ध्वंसस्य कार्यत्वेऽपि प्रध्वंसाऽप्रतियोगित्वात्कल्पान्तरमाह - प्रागभावप्रतियोगित्वं = प्रागभावनिरूपितप्रतियोगि-
त्वं, तच्च ध्वंसेऽप्यस्तीति नाऽव्यापिता कालादिवारणाय प्रागिति, असम्भववारणाय 'प्रतियोगी'ति ।

दीधितिकारादिभिः प्रागभावस्थानभ्युपगमाद् गत्यन्तरमाह - अवच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण कालवृत्त्यन्ताभावप्रतियो-
गित्वमिति । जन्यमात्रस्य यत्किञ्चित्कालावच्छेदेन वृत्तित्वात्तदितरकालावच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण कालाऽवृत्तित्वेन स्वानधि-
करणकालावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाल्लक्षणसमन्वयः । 'तथापि परमाणोः स्वानधिकरणदेशावच्छेदेन
कालेऽत्यन्ताभावसत्त्वादितिव्याप्तिरिति'त्यस्वरसादन्यमतमाह - स्वानधिकरणीभूतकालवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति । परमाण्वादेः
स्वानधिकरणदेशावच्छेदेन कालेऽवृत्तित्वेन कालवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि कालस्य स्वानधिकरणत्वविरहात् स्वानाधिकरण-
कालवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावात्तदित्युक्तिः । न चैवं घटादेरपि कार्यत्वमुच्छिद्येत, महाकालस्य घटाद्यधिकरणत्वेन
स्वानधिकरणकालाऽप्रसिद्धेरिति वगैरन्त्याह, कालपदेनाऽहं खण्डकालस्याऽभिमतत्वाद्, अन्यथा 'स्वानधिकरणीभूते'त्यस्य वैय-
र्थ्याऽऽपत्तेः । ततश्च कालिकविशेषणतासम्बन्धेन खण्डकालवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वमित्यत्र तात्पर्यमिति फलितार्थः ।
न च तद्ध्वंसादिसत्त्वे कथं तदत्यन्ताभावस्य तत्र सत्त्वमिति वाच्यम्, ध्वंसादेः स्वप्रतियोग्यत्यन्ताभावविरोधित्वे मानाभा-
वात् । नवीननैयायिकनयानुसारेण प्रकृतनिर्वचनमिति भावनीयम् ।

अत्रैवाऽन्यमतमाह - कालवृत्त्यन्यन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकस्वावच्छिन्नाधिकरणतात्वमिति । यः कश्चिदनित्यपदार्थः
स स्वप्रागभावाधिकरणकाले स्वध्वंसाधिकरणकाले च नास्तीति तादृशकालवृत्तिस्तद्वदन्योन्याभावो भवत्येव यस्य प्रतियोगिताया
अवच्छेदेन स्वेन = अनित्यपदार्थेनावच्छिन्नयाः = समानाधिकरण्याया अधिकरणताया निरूपकत्वं कार्यत्वमित्यर्थः । भेद-
प्रतियोगितावच्छेदकत्वञ्चात्र कालिकसम्बन्धावच्छिन्नं ग्राह्यम् । तेन सम्बन्धान्तरावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकनित्यपदार्थ-

कार्यत्व ही एकविध नहीं है किन्तु अनेकविध है । अतः कार्यत्वावच्छिन्न सकल कार्य से निरूपित कारणता का अवच्छेदक
कर्तृत्व भी अनेकविध हो जाता है, न कि एकविध । (१) घटादि भाव कार्य में रहने वाला कार्यत्व प्रध्वंसप्रतियोगित्वस्वरूप
है । जो भाव उत्पन्न होता है, उसका कभी न कभी ध्वंस जरूर होता है । अतः उसमें ध्वंस की प्रतियोगिता रहती है
। अतः भाव कार्य में रहने वाला कार्यत्व ध्वंसप्रतियोगित्वस्वरूप है । (२) मगर घटादि की भाँति घट आदि का ध्वंस भी
कार्य है । अतः कार्यत्व का लक्षण उसमें रहना आवश्यक है । ध्वंस का कभी भी ध्वंस नहीं होना । अतः ध्वंसप्रतियोगिता
घटध्वंस आदि में नहीं रहेगी, फिर भी वहाँ कार्यत्व रहता है । इसलिए ध्वंस में प्रागभावप्रतियोगित्वस्वरूप कार्यत्व मानना
होगा । घटध्वंस का प्रागभाव होता है । अतः प्रागभावनिरूपित प्रतियोगिता घटादि के ध्वंस में रह सकती है । वही कार्यत्व
है । (३) नव्य नैयायिक कार्यत्व को अवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से काल में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगितास्वरूप
मानते हैं । उनका यह आशय है कि नित्य पदार्थ काल में सर्वदा रहता है, उसका अत्यन्ताभाव काल में नहीं रहता है ।
जब कि कार्य = जन्य पदार्थ काल में अमुक भाग में रहता है, अमुक काल में उसका अत्यन्ताभाव भी रहता है । सावच्छिन्न-
कालिकविशेषणता सम्बन्ध से जन्य पदार्थ का काल में अत्यन्ताभाव भी रहने से अवच्छिन्नकालिकविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक
कालवृत्ति अत्यन्ताभाव से निरूपित प्रतियोगिता जन्य पदार्थ में रहती है, वही कार्यत्व है । जैसे सोमवार को घट उत्पन्न
हुआ और मंगलवार को नष्ट हुआ-ऐसी स्थिति में मंगलवारावच्छिन्न कालिकविशेषणता सम्बन्ध से काल में वह घट नहीं रहता
है । अतः तादृशसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटात्यन्ताभाव काल में रहेगा और उसकी प्रतियोगिता तद्घट में रहेगी, वही
तद्घटनिष्ठ कार्यत्व है । नव्य नैयायिक ने ध्वंस और अत्यन्ताभाव में विरोध को मान्य नहीं किया है । अतः उनके मतानुसार
काल में घटध्वंस और घटात्यन्ताभाव भी रह सकता है । (४) अन्य विद्वानों का यह अभिप्राय है कि स्वानधिकरण काल
में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही कार्यत्व है । स्व = घटादि कार्य । जैसे प्रलयकाल घटादि जन्य द्रव्य का
अनधिकरण होने से प्रलयकालवृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता घटादि में रहती है, वही कार्यत्व है । नित्य पदार्थ में कभी
भी कालवृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नहीं रह सकती, क्योंकि नित्यपदार्थानधिकरणीभूत काल ही अप्रसिद्ध है । अतः

तियोगितावच्छेदकस्वावच्छिन्नाधिकरणताकत्वं यावत्कालवृत्तिभिन्नत्वं वा न तदवच्छिन्न-

जयलता

वदन्यान्वाभावमादाय न परमाणादावतिव्याप्तिः; नित्यपदार्थस्य सर्वदा कालिकसम्बन्धेन काले सत्त्वेन कालिकावच्छिन्ना-
वच्छेदकताकप्रतियोगिताकनित्यपदार्थवदन्यान्वाभावस्य कालनिरूपितवृत्तित्वशून्यत्वात् । तद्वदध्वंसदशायां 'इदानीं कालो न
तद्वदधिकाधिकरणकः' 'तद्वदध्वंसविशिष्टकालो न कालिकेन तद्वद्विशिष्टः' इत्यादिप्रतीत्या प्रसिद्धस्य कालवृत्तेः तद्वदधिका-
धिकरणकप्रतियोगिकभेदस्य तद्वद्विशिष्टभेदस्य च या प्रतियोगिता तदवच्छेदकेन स्वेन = तद्वदधेन अवच्छिन्ना = समानाधि-
करणा या कालवृत्त्यधिकरणता तन्निरूपकत्वं तद्वदधेऽव्याहृतमेवेति भवति तत्र लक्षणसङ्गतिः । स्वपदेन विवक्षितकार्यग्रहणम् ।
परमाणादेर्ग्रहणवारणाय 'कालवृत्त्यन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदके'ति स्वविशेषणम् ।

कालविशेषावच्छेदेनैकस्मिन्नेव काले यो यदभावश्च वर्तते तस्यैवापदर्शिताधिकरणाताकत्वरूपस्य कार्यत्वस्य सम्भवः ।
दर्शितकार्यत्वस्य गुरुत्वाशङ्कायां कल्पान्तरमाह - यावत्कालवृत्तिभिन्नत्वं वेति । यावत्कालवृत्तिः परमाणादिः तद्विन्नत्वञ्च
घटादाविति भावः । न च यावत्कालवृत्तेः परमाणोः भेदस्य मनसि सत्त्वादतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यावत्कालवृत्तिता-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य विवक्षितत्वात्, मनसि यावत्कालवृत्तित्वस्य सत्त्वेन तदवच्छिन्नभेदाऽयोगादन्योन्याभावस्य स्वप्रति-
योगितावच्छेदकव्यधिकरणत्वात् । न चान्त्यपक्षचतुष्टये प्रागभावेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, सावच्छिन्नकालवृत्तिपदार्थस्य कार्यत्वनये
प्रागभावस्यापि लक्ष्यत्वात् । अत एव बृहत्स्याद्वादरहस्ये 'प्रागभावप्रतियोगित्वस्य पर्यवसितस्य तस्य प्रागभावेऽव्याप्तेश्च' (बृ.
स्या.१. श्लो.१ टीका) इत्याभिधानं घटते । तस्याऽलक्ष्यत्वनये तु चरमपक्षचतुष्टये 'सत्त्वे सती'ति विशेषणं देयमिति न दोषः ।

प्रकृते कार्यत्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपं न ग्राह्यम्, पक्षवृत्तिकार्यत्वस्य पक्षात्मकतया अनुगमकरूपाभावेन च सपक्षा-
वृत्तित्वादसाधारण्यापत्तेः । अत एव पक्षतावच्छेदकत्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपकार्यत्वस्येत्यपि प्रत्युक्तम्, स्वरूपसम्बन्धरूप-
कार्यताव्यक्तीनां तत्तद्व्यक्तिमात्रपर्यवसितत्वेनानुगतपक्षतावच्छेदकविरहात् । न च अन्यतमत्वेनानुगतीकृतानां पक्षतावच्छेदकत्व-
मिति वाच्यम्, तद्विन्नत्वे सति तद्विन्नत्वे सति तद्विन्नभिन्नत्वरूपस्यान्यतमस्यानुगमकत्वे महागौरवात् । नृसिंहस्तु → 'स्व-
वृत्तिमहाकालान्यत्व-कालिकविशेषणत्वोभयसम्बन्धेन सत्तावत्त्वमेव कार्यत्वं सर्वत्राऽनुगतं हेतुः । महाकालव्यावर्तनाय स्ववृत्तिम-
हाकालान्यत्वस्य सम्बन्धकोटौ निवेशः । स्ववृत्तित्वं तद्वत्त्वञ्च दैशिकविशेषणतया बोध्यम् । परमाणादिवारणाय कालिकवि-
शेषतासम्बन्धनिवेशः' ← (मु.प्र.पृ. ४१) इत्याह ।

'आद्यक्षणसम्बन्धित्वं कार्यत्वमि'त्यन्ये । 'नियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वमि'त्यपरे । 'कृतिसाध्यत्वे सति कृत्युद्देश्यत्वं
कार्यत्वमि'ति कश्चित् । 'अभूत्वा भावित्वं कार्यत्वमि'ति तु प्राञ्चः । कृतियोग्यत्वे सति अलौकिकत्वं कार्यत्वमिति मीमांसकाः ।
'कारणत्वाभिमतवस्त्वभिन्नत्वमि'ति वेदान्तिनः । 'उपादानक्षणजन्यत्वं कार्यत्वमि'ति सौगताः । 'आविर्भावः कार्यत्वमि'ति

अतिव्याप्ति दोष का अवकाश नहीं है । (५) अन्य मनीषियों का यह कथन है कि कालवृत्ति अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकीभूत
स्व से अवच्छिन्न = 'समानाधिकरण अधिकरणता का निरूपकत्व ही कार्यत्व है । जैसे घटप्रागभावविशिष्ट या घटध्वंसविशिष्ट
कालविशेष में घटादि कार्य से विशिष्ट काल का भेद रहता है । उसके प्रतियोगितावच्छेदक घट से अवच्छिन्न = समानाधिकरण
अधिकरणता का निरूपकत्व घट में रहता है, वही घटनिष्ठ कार्यत्व है । परमाणु आदि नित्य पदार्थ से विशिष्ट काल का
काल में भेद नहीं रहता है । अतः परमाणु आदि कालवृत्ति भेद की प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही नहीं हो सकता । अतः
परमाणु में तादृश अधिकरणता का निरूपकत्व नामुमकिन है । जो स्वयं काल में रहता हो और कालविशेष में उसका अभाव
भी रहता हो उसी में दर्शित अधिकरणता का निरूपकत्व रहता है । अतः तादृश कार्यत्व नित्य पदार्थ में नामुमकिन है ।
स्वपद से यहाँ जन्य भाव घट आदि अभिमत है । (६) अन्य प्राज्ञ पुरुषों का यह मन्तव्य है कि कार्यत्व यावत्कालवृत्तिभिन्नत्वस्वरूप
है । संपूर्ण काल में परमाणु आदि नित्य पदार्थ रहते हैं, मगर घटादि जन्य पदार्थ संपूर्ण काल में नहीं रहते हैं, क्योंकि
अमुक काल में उसका अभाव भी रहता है । अतः घटादि जन्य पदार्थ में यावत्कालवृत्तिभिन्नत्व रहेगा । वही तन्निष्ठ कार्यत्व
है । इस तरह नैयायिक विद्वानों ने ही कार्यत्व को अनेकविध माना है, तब अनेकविध कार्यत्व से अवच्छिन्न की कारणता
का अवच्छेदक कर्तृत्व भी एक नहीं हो सकता । जब कि इस तरह कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति कर्तृत्वेन कारणता मानने पर
भी अनेकविध कर्तृत्व के स्वीकार का गौरव अपराहत ही है । कार्यत्व भिन्न भिन्न होने पर उससे अवच्छिन्न भी भिन्न भिन्न
होगा, अवच्छेदक भिन्न होने पर अवच्छिन्न एक कैसे हो सकता है ? अवच्छिन्न भिन्न भिन्न होने पर उससे निरूपित कारणता
कैसे एक हो सकेगी ? निरूपक विलक्षण होने पर तन्निरूपित कारणता भी भिन्न होगी । कारणता अलग अलग होने पर

जनकतावच्छेदकं कर्तृत्वमेकम् । घटादीं कुम्भकारादीनां ताद्रूप्येण हेतुतावश्यकत्वे सामान्यतः कर्तृत्वेन तथात्वे मानाभावात् । 'यद्विशेषयोः' रित्यादिन्यायस्याऽप्रामाणिकत्वात् ।

❀ गयलता ❀

साङ्ख्याः । 'परिणामविशेषः कार्यत्वमि'ति तु स्याद्वादिनो वयम् । इत्थञ्च कार्यत्वस्य नानात्वेन तदवच्छिन्ननिरूपितकारणतावच्छेदकीभूतकर्तृत्वस्याऽपि नानात्वाऽऽपातेन कार्यत्व-कर्तृत्वाभ्यां कार्य-कारणभावाङ्गीकारे लाघवतर्कावताराऽसम्भवेन सन्दिग्धोवाधिप्रयुक्तव्यभिचारसंशयेन कार्यत्वनिष्ठव्याप्तिगोचरनिश्चयविघटनान्नानुमितिसम्भव इत्याशयेन प्रकरणाकृदाह- न तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं = नानाकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकीभूतं कर्तृत्वं एकं सम्भवतीति शेषः ।

वस्तुतः कर्तृत्वेन कार्यतावच्छिन्ननिरूपितकारणतावच्छेदकत्वमपि नास्ति ताद्रूप्येणैव कुलालादेः घटादिकर्तृत्वादित्याशयेनाऽऽह- घटादीं कुम्भकारादीनां ताद्रूप्येण = घटादिजननपरिणामपरिणतत्वेन, हेतुतावश्यकत्वे = हेतुत्वकलमौ, सामान्यतः = व्यापकधर्मतः, तथात्वे = कारणत्वे, मानाभावात् = प्रमाणविरहादिति । अयं भावः कुलालादेः घटजननपरिणामपरिणतत्वे सत्येवेतरकारणसाकल्यदशायां घट उत्पद्यते न तु शरावजननपरिणामपरिणतत्वे सतीति तथात्वेनैव कुलालादेः घटादिकारणत्वम् । एवं कुविन्दादेः पटजननपरिणामपरिणतत्वेनैव पटकारणत्वं न तु कर्तृत्वेन, अन्यथा कुलालादेरपि पटकारणत्वं प्रसज्येत । एतेन कार्यत्वं यदि कृतिजन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तदा कृतिजन्यतावच्छेदकं न स्यादित्यनुकूलतर्कसत्त्वात् दोष इति प्रत्युक्तम्, कृतित्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावे मानाभावेनोक्तकर्तृत्वतारात् । न चाऽन्वयव्यतिरेकावेव मानमत्रेति वक्तव्यम्, कुलालकृतिसत्त्वे घटः तदभावे च घटाभाव इति विशिष्यैवाऽन्वयव्यतिरेकग्रहात् विशिष्यैव कार्यकारणभावग्रहात् सामान्यतः कृतित्व-कार्यत्वाभ्यां हेतु-हेतुमज्जावे मानाभावात् । न च विशेषतः कार्य-कारणभावग्रहेऽपि 'यद्विशेषयोः' रितिन्यायेन सामान्यतः कार्य-कारणभावग्रह इति बाध्यम्, उक्तन्याये मानाभावेन सामान्यतः कार्यकारणभावासिद्धेरित्याशयेन प्रकरणाकृदाह- यद्विशेषयोरित्यादिन्यायस्येति । यद्विशेषयोः कार्य-कारणभावोऽसति बाधके तत्सामान्ययोरपि' इति न्यायस्य । मीमांसकमते चाक्षुषं प्रति रूपं स्पर्शनं प्रति स्पर्शः कारणम् । बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षसामान्ये न रूपं न वा स्पर्शः कारणं, प्रभावाव्योः प्रत्यक्षे व्यभिचारात् । नापि गुणः कारणं, अतिप्रसङ्गात् । नापि रूपस्पर्शान्यतरत्कारणं, तद्विन्नत्वे सति तद्विन्नभिन्नत्वरूपस्याऽन्यतरत्वस्याऽपि गुरुत्वात्, विनिगमनाविरहेण गुरुतरकारणताद्वयप्रसङ्गाच्चेति न्यायेऽसति बाधक इत्युक्तम् । अप्रामाणिकत्वादिति । न च कार्याभावस्य कारणाभावप्रयोज्यतानियमेन कार्यं प्रति कृतित्वेन कारणताऽनङ्गीकारे कार्याभावः

उसका अवच्छेदक कर्तृत्व भी पृथक् पृथक् होगा । अतः लाघव तर्क के अवतार से 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्' - इस अनुमान में शरीरजन्यत्वस्वरूप संदिग्ध उपाधि से प्रयुक्त व्यभिचार संदेह का प्रतिरोध नहीं हो सकता, क्योंकि उपर्युक्त रीति से लाघव तर्क ही नामुमकिन है । अतः कार्यत्व हेतु से पर्वतादि के कर्ता के स्वरूप में शंकर भगवान सिद्ध नहीं हो सकते ।

❀ कुम्भकारादे में ताद्रूप्य से हेतुता - स्याद्वादी ❀

घटादी. इति । इसके अतिरिक्त बात यह भी ध्यातव्य है कि एक ही कुलाल दंड, चक्र, चीवर, मिट्टी आदि सामग्री समान होने पर भी कभी घट बनता है, तो कभी शराव, तो कभी खिलौना बनाता है । यह तभी उपपन्न हो सकता है, यदि कुम्हार ज्ञानात्मना घट, शराव, खिलौना आदि के साथ तद्रूप हो जाय । घटज्ञानपरिणत कुम्हार से घट की, शरावज्ञानपरिणत कुम्हार से शराव की और खिलौनाज्ञानपरिणत कुम्हार से खिलौने की उत्पत्ति होती है । अतः घटादि के प्रति कुम्हार आदि की तद्रूप से हेतुता माननी आवश्यक है । अतः अवश्य क्लृप्त ताद्रूप्य को छोड़ कर कर्तृत्व रूप से कारणता का स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है । तथा ताद्रूप्य तो एक नहीं है । घट के प्रति घटज्ञानात्मना, पट के प्रति पटज्ञानात्मना इत्यादि जो परिणामविशेष है, वही ताद्रूप्य है, जो एक नहीं है, अलग अलग है । अतः ताद्रूप्य से कारणता का नैयायिक महाशय स्वीकार करें तो भी लाघव तर्क का अवतरण नामुमकिन है । अतः कार्यत्व हेतु में शरीरजन्यत्वस्वरूप संदिग्ध उपाधि से प्रयुक्त व्यभिचार संशय का निवारण नामुमकिन है । अतः तथाविध ताद्रूप्य के आश्रयविधया भी महेश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "तत् तत् परिणामविशेष से तत् तत् कार्य की कारणता का निर्णय विशेष कार्यकारणभाव का निश्चय है । विशेष कार्य-कारणभाव से सामान्य कार्यकारणभाव का निर्णय होता है । जैसे नील घट और नील कपाल, पीत घट और पीत कपाल, रक्त घट और रक्त कपाल के बीज कार्य-कारणभाव निश्चित होने

अथ समवायेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतयोपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वादस्तु द्य-

❀ जयलता ❀

किंप्रयोज्यः ? इति प्रश्ने तत्तत्कृत्यभावकूटप्रयोज्य इत्युत्तरकरणे गौरवमिषा सामान्यतः कार्यकारणभावस्याऽवश्यमङ्गीकर्तव्यत्वात् । तथा च कार्याऽभावः किंप्रयोज्यः ? इति प्रश्ने कृत्यभावप्रयोज्य इत्युत्तरकरणे लाघवम् । तच्च कृतित्वस्य कारणतावच्छेदकत्वमृते न सम्भवति, कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभावस्यैव कार्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभावप्रयोजकत्वात् । तथा चैतल्लाघवमेव प्रकृत-न्यायबीजमिति वाच्यम्, कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभाव एव कार्याभावे प्रयोजक इति न नियमः, किन्तु स्वरूपसम्बन्ध-रूपप्रयोजकत्वं प्रतीत्यनुरोधेन लघ्यनतिप्रसक्तधर्मावच्छेदेन कल्प्यत इत्येव नियमः । तथा च लाघवादेव कारणतानवच्छेदक-कृतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य कार्याभावप्रयोजकत्वं कृतित्वेन कार्यत्वेन च हेतु-हेतुमद्भावं विनाऽपि सूपपादमेव । न च घटत्व-पटत्व-कुलालकृतित्व-कुविन्दकृतित्वाद्यवच्छिन्नानन्तकार्य-कारणभावे गौरवनिश्चयरूपबाधकसत्त्वात् कार्यत्व-कृतित्वाभ्या-मेक एव कार्यकारणभावः कल्प्यत इति वक्तव्यम्, तन्तुवायकृतिसत्त्वे घटोत्पादवारणाय विशेषतोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां घटत्व-कुलालकृतित्वादिना विशेषकार्य-कारणभावानामावश्यकत्वेन तादृशान्वयव्यतिरेकग्रहैः कार्यत्व-कृतित्वाभ्यां सामान्यकार्यकारणभाव-कल्पनेऽपि तादृशगौरवस्याऽवश्यमङ्गीकरणीयत्वात् । एतेन प्रवृत्ताविव घटादावपि ज्ञानादेरन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वसिद्धेः तत्र घटत्व-पटत्वादीनामानन्त्यात्कार्यत्वमेव साधारण्यात् कार्यतावच्छेदकम्, शरीरलाघवापेक्षया सङ्ग्राहकलाघवस्य न्याय्यत्वात्, कृतेस्तु 'तद्विशेषयोरिति' न्यायात्सामान्यतोऽपि हेतुत्वमिति प्रत्युक्तम्, कार्यत्वस्य कालिकेन घटत्व-पटत्वादिमत्त्वरूपस्य नानात्वात्, ध्वंसव्यावृत्त्यर्थं देयस्य सत्त्वस्य विशेषण-विशेषभावे निजिगदनादिरहेणऽतिगुरुत्वात्, विशेषभावकूटेनैव सामान्याभावो-पपत्तौ अतिरिक्तसामान्याभावे मानाभावेन 'यद्विशेषयोरिति' न्यायिन्यायस्याऽत्यन्ताऽयुक्तत्वात्, अन्यथा करणस्याऽप्येकस्य सिद्ध्या-पत्तेरित्यत्र प्रकरणकृतः तात्पर्यम् ।

नैयायिकौ युक्त्यन्तरेणेश्वरं साधयति- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । समवायेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रतीति । जन्यसत्त्वञ्च सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टसत्त्वं, विशिष्टस्य च न जातित्वमिति समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्ति-वैजात्यावच्छिन्न-कार्यताविशिष्टमात्रं प्रतीत्यर्थः । विशेष्यतया = स्वविशेष्यताऽऽख्यविषयतासम्बन्धेन उपादानप्रत्यक्षस्य = स-मवेतकार्यसमवायिकारणविशेष्यकाऽपरोक्षज्ञानस्य, हेतुत्वात् = हेतुत्वनिश्चयात् । यथा समवायेन घटादिकरणीभूते कपाले

पर घट सामान्य और कपाल सामान्य के बीच कार्य-कारणभाव का निश्चय होता है । अथवा अवयविरूप और अवयवरूप, अवयविरस और अवयवरस, अवयविगन्ध और अवयवगन्ध, अवयवस्पर्श और अवयवस्पर्श के बीच विशेष कार्यकारणभाव का निश्चय होने पर अवयविगुण और अवयवगुण के बीच सामान्य कार्यकारणभाव का निश्चय होता है । इस तरह घट और घटपरिणाम, पट और पटपरिणाम के बीच विशेष कार्यकारणभाव का निर्णय होने पर भी कार्यसामान्य और परिणामसामान्य के बीच (सामान्य) कार्य-कारणभाव निश्चित किया जा सकता है । इसलिए कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति परिणामात्मना कारणता का निर्णय मुमकिन होने से तादृश परिणाम सामान्य (=ताद्रूप्य सामान्य) के आश्रयविधया तो पार्वतिपति की सिद्धि हो सकती है । तादृश कार्य-कारणभाव में लाघव होने से कार्यत्व हेतु में शरीरजन्यत्वस्वरूप सन्दिग्ध उपाधि से प्रयुक्त व्यभिचारसंशय का प्रतिरोध होने से तादृश अनुमिति होने में कोई दोष नहीं है" <- तो यह नैयायिककथन नामुनासिब है, क्योंकि 'विशेष कार्य और विशेष कारण के बीच कार्य-कारणभाव निश्चित होने पर सामान्य कार्य और सामान्य कारण के बीच कार्यकारणभाव होता है' इस नियम में कोई प्रमाण नहीं होने से उसका स्वीकार नहीं हो सकता है । अप्रामाणिक नियम के आधार पर ईश्वर की सिद्धि कैसे की जा सकती ? यदि उक्त नियम को प्रामाणिक माना जाय तब तो द्रव्य और जन्यभाव के बीच ही हेतु-हेतुमद्भाव की सिद्धि होने से तन्तु और पट, कपाल और पट के बीच विशेष कार्य-कारणभाव का व्यवहार और बुद्धि अप्रामाणिक बनने की आपत्ति आयेगी ।

❀ द्रव्यणुकोपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वरसिद्धि नामुमकिन ❀

अथ सम. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाता है कि -> "समवाय सम्बन्ध से जन्य सत्तावान् के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से उपादानविशेष्यक प्रत्यक्ष हेतु है, यह प्रसिद्ध कार्य-कारणभाव है । समवायसम्बन्ध से घट, जो कि जन्य-सत्तावान् है, कपाल में उत्पन्न होता है, वहाँ कपालविशेष्यक कुलालप्रत्यक्ष विशेष्यता सम्बन्ध से रहता है । यदि कुम्हार को कपाल का प्रत्यक्ष न हो तो वह घट को कैसे उत्पन्न कर सकता ? इस तरह द्रव्यणु आदि कार्य भी जन्यसत्तावान् है ।

णुकादिजनकप्रत्यक्षाश्रयतयेश्वरसिद्धिरिति चेत् ? न, अन्यस्योपादानप्रत्यक्षे सत्यप्यन्यस्य कार्यानुत्पत्तेश्चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्वादिना हेतुत्वे द्व्यणुकादावुपादानप्रत्यक्षस्याऽहेतुत्वात् ।

❀ मयलता ❀

विशेष्यतासम्बन्धेन वर्तमानस्योपादानभूतकपालसाक्षात्कारस्याश्रयत्वं कुलाले तथा समवायेन द्व्यणुकाधिकरणीभूते परमाणौ विशेष्यतया वर्तमानस्य परमाणुविशेष्यकसाक्षात्कारस्याश्रयविधये श्वरसिद्धिरित्याशयेनाह-द्व्यणुकादिजनकप्रत्यक्षाश्रयतया = द्व्यणुक-
ज्यणुकजनकस्य परमाणु-द्व्यणुकविशेष्यकप्रत्यक्षस्याश्रयविधया, ईश्वरसिद्धिः = अस्मदादिविलक्षणपुरुषविशेषसिद्धिः, परमाण्वाद्य-
दर्शिनामस्मदादीनां द्व्यणुकाद्युपादानप्रत्यक्षाश्रयत्वबाधेन पारिशेषन्यायादस्मदादिविलक्षणस्य पुरुषमुख्यस्येश्वरप्रतिपाद्यस्य तदाश्रयत्वेन
सिद्धिरित्यत्र नैयायिकाकूमत् ।

स्याद्वादी तदपहस्तयति - नेति । अन्यस्य = मैत्रादेः, उपादानप्रत्यक्षे = घटाद्युपादानविशेष्यकसाक्षात्कारे सत्यपि
अन्यस्य = चैत्रादेः, कार्यानुत्पत्तेः = घटादिकार्यानुत्पादात् । समवायेन चैत्रीयघटाद्यधिकरणत्वेनाऽभिमतं कपालादौ विशेष्य-
तासम्बन्धेन कपालादिविशेष्यकस्य मैत्रादिसमवेतस्य प्रत्यक्षस्य सत्त्वेऽपि चैत्रीयघटानुत्पादेनाऽन्वयव्यभिचारान्नायं कार्य-कारण-
भावो युक्तो येन तद्वलात्पारिशेषन्यायेनेश्वरसिद्धिः स्यादिति स्याद्वाद्यभिप्रायः ।

ननु जन्यसन्मात्रवैजात्य-समवायिकारणप्रत्यक्षत्वाभ्यां सामान्यतः कार्य-कारणभावाभ्युपगमेऽपि विशेष्यतया कुलाल-
समवेतोपादानप्रत्यक्षसत्त्वे पटोत्पत्तिवारणाय विशेषतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां घटत्व-पटत्व-कपालगोचरकुलालप्रत्यक्षत्व-तन्तुविशेष्यक-
तन्तुवायप्रत्यक्षत्वादिना विशेषकार्यकारणभावाऽभ्युपगमात्रोपदर्शितान्वयव्यभिचारावकाशः, समवायेन चैत्रीयघटं प्रति स्वविशेष्यता-
सम्बन्धेन कपालधर्मिकचैत्रीयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वादिति नैयायिकाऽऽशङ्कयामाह-चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्वादिना हेतुत्वे = चैत्रीय-
घटादिकारणत्वे नैयायिकेनाऽभ्युपगम्यमाने इति गम्यते । अत्र दोषमाह-द्व्यणुकादाविति । आदिपदेन त्र्यणुकादिग्रहणम् ।
उपादानप्रत्यक्षस्य = परमाण्वादिविशेष्यकसाक्षात्कारस्य, अहेतुत्वात् = हेतुत्वाऽसम्भवादिति । विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नोपा-
दानप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतावच्छेदकधर्मत्वस्य परेण जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्ये एव स्वीकारेण
द्व्यणुकत्वादेस्तदसम्भवान्न समवायेन द्व्यणुकत्वाद्यवच्छिन्ने विशेष्यतया उपादानप्रत्यक्षसामान्यस्य कारणत्वं सम्भवति । न च
समवायेन द्व्यणुकादौ विशेष्यतयेश्वरीयोपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वसम्भवः, अन्योन्याश्रयकलङ्कस्य दुःप्रक्षालनीयत्वापत्तेः, ईश्वरसिद्धौ
सत्यां द्व्यणुकादावैश्वरीयोपादानप्रत्यक्षकारणत्वसिद्धेः, तत्सिद्धौ चेश्वरसिद्धेरिति । चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्वादिना तु द्व्यणुकादि-
कारणत्वाऽसम्भव एव, सम्भवे वा कृतमीश्वरेण । न चैवं द्व्यणुकादौ जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यस्योपादानप्रत्यक्षप्रयोज्यत्वेऽपि

वह समवाय सम्बन्ध से परमाणु आदि में उत्पन्न होता है । अतः द्व्यणुकादि के कारण परमाणुआदिविशेष्यक प्रत्यक्ष भी
विशेष्यतासम्बन्ध से परमाणु आदि में रहना चाहिए, क्योंकि कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्याधिकरणविधया अभिमत में कारणताव-
च्छेदक-सम्बन्ध से कारण के रहने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है । मगर परमाणु आदि विशेष्यक प्रत्यक्ष आमजनता
को तो नहीं हो सकता । अतः आमजनता से विलक्षण पुरुषविशेष को ही परमाणुआदिविशेष्यक प्रत्यक्ष का आश्रय मानना
चाहिए । वह पुरुषविशेष ही ईश्वर है । अतः समवायसम्बन्धावच्छिन्न-द्व्यणुकत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित विशेष्यतासंसर्गावच्छिन्नपरमा-
णुप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न कारणता के अधिकरणीभूत परमाणुप्रत्यक्ष के आश्रयविधया त्रिलोचन ईश्वर की सिद्धि हो सकती है" <-

नान्य. इति । मगर यह नैयायिककथन भी ईश्वरसाधक नहीं हो सकता । इसका कारण यह है मैत्र को तन्तुविशेष्यक
'इमे तन्तवः' इत्याकारण प्रत्यक्ष होने पर भी चैत्र से पट की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः केवल उपादानप्रत्यक्षत्वरूप से
जन्य भाव पदार्थ के प्रति कारणत्व की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि उपर्युक्त अन्वय व्यभिचार तादृश कार्यकारणभाव
के निश्चय का विषटक है । अतः चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्व आदि रूप से ही जन्य भाव की कारणता का स्वीकार करना होगा ।
अर्थात् समवायसम्बन्ध से चैत्रीय पट के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष (= तन्तुविशेष्यक साक्षात्कार)
हेतु है, समवाय सम्बन्ध से मैत्रीय पट के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से मैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष हेतु है.... इत्यादि रूप में कार्य-
कारणभाव का स्वीकार करना उचित है । तब अन्वय व्यभिचार का निवारण हो सकता है । मगर उपादानप्रत्यक्ष के विशेषणविधया
चैत्र, मैत्र आदि प्रसिद्ध व्यक्तियों का ही निवेश हो सकता है, न कि अप्रसिद्ध ईश्वर का । अतः द्व्यणुक आदि के उपादान
परमाणु आदि का प्रत्यक्ष ईश्वरीयोपादानप्रत्यक्षत्वरूप से तो द्व्यणुकादि जन्य भाव कार्य का कारण नहीं हो सकता । अप्रसिद्ध
का विशेषणविधया निवेश अदृष्ट है । तथा अन्वय व्यभिचार दोष की वजह द्व्यणुक आदि जन्य भाव के प्रति उपादानप्रत्यक्षत्वरूप

अस्तु वा लाघवादुपादानप्रत्यक्षस्य स्वजन्यकृतिविशेष्यत्वसम्बन्धेनैव हेतुत्वम् । न च चैत्रकृतेरप्यततः कालोपाधितयाऽपि मैत्रीपादानप्रत्यक्षजन्यतयाऽतिप्रसङ्गः, सामानाधिक-

जयलल

द्वयगुणत्वादेराकस्मिकत्वप्रसङ्गभिया तदाश्रयजनकोपादानप्रत्यक्षाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति वक्तव्यम्, अस्मन्नयं विग्रसापरिणामप्रयोज्यत्वेन तदाकस्मिकत्वप्रच्यत्वात् ।

प्रीतिवादेन प्रकरणकृदाह- अस्तु वेति । लाघवात् = कारणतावच्छेदकधर्मबाहुल्यप्रच्यवप्रयुक्तलाघवात्, उपादानप्रत्यक्षस्य स्वजन्यकृतिविशेष्यत्वसम्बन्धेनैवेति एवकारेण स्वविशेष्यतासम्बन्धव्यवच्छेदः कृतः । समवायेन जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वम् । सम्बन्धकुक्षिप्रविष्टजन्यपदं प्रयोज्यपरं, ज्ञानस्येच्छाजनकत्वात्, चिकीर्षायाः कृतिजनकत्वात् । कृते सम्बन्धकुक्षौ निवेशेन चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षे सति मैत्रीयप्रयत्नादुपादेयोत्पत्त्यतिप्रसङ्गानवकाशः । कृती कारणत्वकल्पनाया अनावश्यकत्वेन लाघवश्च । य इष्टसाधनत्वादिना जानाति स चिकीर्षति यतते नियमेन कपालप्रत्यक्षजन्यचिकीर्षया कपालविशेष्यककृतिजननदशायामेव घटोपादानगोचरकुलालसमवेतप्रत्यक्षं स्वजन्यजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कपाले वर्तते तदैव तत्र समवायेन घटोऽपि जायत एवेति कृत्यनुत्पादावस्थायामुपादानप्रत्यक्षे सत्यपि कार्यानुत्पादेऽप्यन्वयव्यभिचारानवकाशः, कारणतावच्छेदकसम्बन्धेनोपादाने कारणत्वैवाऽसत्त्वादिति भावः ।

ननु 'जन्यानां जनकः कालः' (कारि.४५) इति वचनात् मैत्रीयकपालप्रत्यक्षकाले या तन्तुगोचरचैत्रीयकृतिः भविष्यति तं प्रति घटोपादानविषयकमैत्रीयप्रत्यक्षकालस्य कारणत्वं तादृशकालोपाधिनया मैत्रसमवेतकपालप्रत्यक्षस्याऽपि कारणत्वमिति तन्तुविशेष्यकचैत्रसमवेतकृतेः कालोपाधितया कपालगोचरमैत्रसमवेतप्रत्यक्षजन्यतया समवायेन चैत्रीयपदं प्रति स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कपालगोचरमैत्रसमवेतप्रत्यक्षस्याऽपि कारणत्वं प्रसज्येत । न च कालोपाधितया जन्यजनकभावस्य न प्रामाणिकत्वमिति वाच्यम्, सूर्योदयसमये एव भुञ्जानस्य भुजिक्रियां प्रति कालविशेषणतया सूर्योदयस्य हेतुत्वस्याऽनपलपनीयत्वात्, अन्यथा ततः प्रागपि भोजनं प्रसज्येतेति नोक्तसम्बन्धेनोपादानप्रत्यक्षस्य कारणत्वं घटमश्चतीत्याशङ्कामपराकर्तुमुपक्षिपति - न चेति । शङ्काग्रन्थस्य भावितत्वात्संगृह्यत्वमेव । अतिप्रसङ्गनिराकरणाय हेतुमाह - सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्येति ।

से तो उपादानप्रत्यक्ष हेतु ही नहीं हो सकता । अतः तादृश उपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधिया ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । कारण असिद्ध होने पर कारणश्रय की कैसे सिद्धि हो सकती है ? अतः ईश्वर की कल्याण केवल कल्पना है, न कि वास्तविकता ।

उपादानप्रत्यक्षकारणता में लाघव

अस्तु वा. इति । अथवा उपादान प्रत्यक्ष को उपादेय का कारण माना जा सकता है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने में लाघव है । लाघव यह है कि उपादान प्रत्यक्ष को जन्य भाव का कारण मानने पर इच्छा, प्रयत्न का कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में निवेश करने से ही अन्वयव्यभिचार का वारण हो सकता है । वह इस तरह - उपादान के प्रत्यक्ष से उपादानविशेष्यक प्रयत्न उत्पन्न होता है । उपादानप्रत्यक्ष के बिना तद्विशेष्यक प्रयत्न नहीं होता है । अतः उपादानविशेष्यक प्रयत्न के प्रति उपादानप्रत्यक्ष कारण होता है । उसी उपादान में समवाय सम्बन्ध से उपादेय उत्पन्न होता है । अतः समवाय सम्बन्ध से कार्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से हेतु कहा जा सकता है । उदाहरणरूप से कपालप्रत्यक्ष स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कपाल में रहेगा और वहाँ समवाय सम्बन्ध से घट उत्पन्न होता है । मगर जब तक कुम्हार कपाल में प्रयत्न नहीं करता है, तब तक स्वजन्यविशेष्यतासम्बन्ध से कपालप्रत्यक्ष कपाल में नहीं रहता है, क्योंकि स्व = कपालप्रत्यक्ष से कपालविशेष्यक प्रयत्न उत्पन्न ही नहीं हुआ है । इस तरह से उपादानविशेष्यक प्रयत्न का कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में प्रवेश करने से स्वतन्त्र कारणता से स्वीकार का गौरव भी अप्रसक्त है तथा चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष होने पर मैत्रीय प्रयत्न से उपादेय की उत्पत्ति के अतिप्रसङ्ग की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष से मैत्रीय उपादानविषयक प्रयत्न जन्य नहीं होने से स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष प्रयत्न उपादान में नहीं रहता है । अतः चैत्रीयत्व आदि का उपादानप्रत्यक्ष के विशेषणविधिया निवेश करने का गौरव भी अनावश्यक है । अतः स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से उपादान प्रत्यक्ष को समवाय सम्बन्ध से उपादेय का कारण मानना युक्त है ।

* ईष्टप्रत्यक्ष में स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कारणता नामुमीकेन *

न च चैत्र. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति

रूपप्रत्यासत्त्या जन्यताया विवक्षितत्वात् । तथा चैश्वरप्रत्यक्षस्याऽनेन सम्बन्धेन न हेतु-
त्वमिति नोक्तयुक्त्येश्वरसिद्धिः ।

अपि चोपादानप्रत्यक्षत्वेन न हेतुत्वं, तदनुमित्यादिनापि योगिनां मनोबहनाड्यादौ

❀ नयलता ❀

समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेनेत्यर्थः । तेन न कालिकादिना सामानाधिकरण्यमादाय पूर्वदोषतादवस्थम् । जन्यतायाः
= उपादानकृतिनिष्ठप्रयोज्यतायाः, विवक्षितत्वादिति । मैत्रीयोपादानप्रत्यक्षस्य समवायेन मैत्राधिकरणकत्वाच्चैत्रीयकृतेश्च चैत्रसम-
वेतत्वेन तद्व्यधिकरणत्वान्न सामानाधिकरण्यसंसर्गेण मैत्रीयोपादानप्रत्यक्षजन्यत्वम् । स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कपालगोचर-
मैत्रसमवेतप्रत्यक्षस्य चैत्रीयपदोपादानेऽवर्तमानत्वेन नापदर्शितातिप्रसङ्गावकाश इति प्रकरणकृदाशयः ।

‘अस्त्वयमेव कार्यकारणभावः तदधीश्वरः सेत्स्यत्येव, द्व्यणुकोपादानप्रत्यक्षस्य द्व्यणुकजनकस्याऽस्मदादिष्वसम्भवात्
तदाश्रयतयेश्वरपदप्रतिपाद्यस्य सिद्धिः । सिद्धो धर्म एको नित्यश्चेत्तदा लाघवमिति न्यायसहकारेणेश्वरीयज्ञानादौ नित्यत्वमेकत्वञ्च
भासत’ इति पराशङ्कयामाह- तथा चेति । लाघवसहकारेणोक्तकार्यकारणभावसिद्धौ चेति । ईश्वरप्रत्यक्षस्य = उपादान-
गोचरेश्वरसमवेतसाक्षात्कारस्य, अनेन = स्वजन्यकृतिविशेष्यत्वलक्षणेन, सम्बन्धेन न हेतुत्वं सम्भवति, तत्कृत्यादेः नित्य-
त्वाऽभ्युपगमेन सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनेश्वरीयोपादानप्रत्यक्षजन्यत्वविरहेण स्वजन्यकृत्यसिद्धौ तदघटितसम्बन्धेनेश्वरीयोपादान-
प्रत्यक्षस्य कारणत्वाऽसम्भवात्, न उक्तयुक्त्या = समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति उपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वमिति युक्त्या, द्व्यणु-
कोपादानप्रत्यक्षाश्रयविधया ईश्वरसिद्धिः सम्भवति ।

किञ्च यद्धर्मावच्छिन्ने यदधिप्रवृत्तिः तद्धर्मावच्छिन्ने तत्प्रकारकज्ञानमात्रस्य हेतुत्वात्कथमीश्वरीयोपादानज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं
सिद्धयेत ? इत्याशयेन प्रकरणकृदाह- अपि चेति । उपादानप्रत्यक्षत्वेन न हेतुत्वं = उपादानप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नत्वं समवाय-
सम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नकार्यत्वनिरूपितकारणतायां नास्ति । हेतुमाह - तदनुमित्यादिनाऽपि = उपा-
दानगोचरानुमित्यागमादिनाऽपि प्रणिधानाद्यर्थं योगिनां मनोबहनाड्यादौ प्रवृत्तिश्रवणादिति । योगिपदमुपादानानुमित्यादिना

स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से जन्यभावोपादानविशेष्यक प्रत्यक्ष को कारण मानने पर तो चैत्रीय कृति से जन्य घट के प्रति
मैत्रीय कपालप्रत्यक्ष में भी कारणता के स्वीकार का अतिप्रसंग आयेगा, क्योंकि चैत्रीयप्रयत्न जन्य होने से काल की उपाधि
बनता है और जन्यभावमात्र के प्रति काल साधारण कारण होता है । अतः कालिक सम्बन्ध से मैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष भी
चैत्रीय प्रयत्न का कारण होगा । अतः चैत्रीय प्रयत्न में मैत्रीयउपादानप्रत्यक्ष से जन्यत्व रहने से चैत्रीय घटादि के प्रति
स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से मैत्रीय कपालादिप्रत्यक्ष में कारणता के स्वीकार का अतिप्रसङ्ग होगा” <— तो यह कथन ठीक
नहीं है, क्योंकि जन्यता कालिकसम्बन्ध से नहीं अपितु समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्ध से विवक्षित है । चैत्रीय कृति
समवाय सम्बन्ध से चैत्र में रहती है । अतः सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से वह चैत्रीय प्रत्यक्ष से जन्य है, न कि मैत्रीय प्रत्यक्ष
से । समवाय सम्बन्ध से मैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष की अधिकरणता चैत्र में नहीं रहती है । इस तरह समवायघटित सामानाधिकरण्य
सम्बन्ध से मैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष से चैत्रीय उपादानप्रयत्न जन्य ही नहीं होने से उपर्युक्त अतिप्रसंग की सम्भावना नहीं है ।
अतः समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से जन्यभावोपादानप्रत्यक्ष को कारण माना जा सकता
है । मगर यह सिद्ध होने पर ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नैयायिक के अभिमत ईश्वरप्रत्यक्ष में स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध
के कारणता ही नामुमकिन है । नैयायिक के मतानुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष की भाँति ईश्वरीय प्रयत्न भी नित्य ही है । जब
कि ईश्वरसमवेतप्रत्यक्षजन्यत्व ही ईश्वरीय प्रयत्न में नहीं है, तब समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति ईश्वरप्रत्यक्ष
स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कारण कैसे हो सकेगा ? उपर्युक्त सम्बन्ध से ईश्वरप्रत्यक्ष में जन्यभाव की कारणता ही नामुमकिन
होने से समवाय सम्बन्ध से द्व्यणुक के प्रति स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कारणीभूत परमाणुप्रत्यक्ष की एवं उसके आश्रयविधया
ईश्वर की सिद्धि भी उपर्युक्त नैयायिकयुक्ति से नहीं हो सकती । अतः ‘समवाय से जन्यसन्मात्र के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध
से जन्यसत्पदार्थ के उपादान का प्रत्यक्ष कारण है’ - यह नैयायिकीय युक्ति भी ईश्वरसाधक नहीं हो सकती है ।

❀ उपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणता ही असिद्ध - त्थात्वादी ❀

अपि चा. इति । वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तब तो समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति उपादानप्रत्यक्ष
में कारणता ही असिद्ध है, क्योंकि उपादान की अनुमिति आदि से भी उपादानप्रयत्न हो सकता है और उपादेय भी उत्पन्न

प्रवृत्तिश्च वणात् । तथा चेश्वरप्रत्यक्षमप्यसिद्धमेव बोध्यम् । न च तस्यानुमित्यादिरूपत्वे परामर्शादिजन्यतावच्छेदककोटौ जन्यत्वनिवेशे गौरवमिति तद्वेदे सिद्धे पारिशेष्यात्प्रत्य-

❀ जयलता ❀

कार्यं कुर्वतामुपलक्षणम् । अनलपरमाण्वाद्यपरोक्षज्ञानविकलानामङ्गनादीनामपि तदनुमित्यादिना अनलादी शतशः प्रवृत्तेर्दर्शनात् अस्थिमज्जासाधुपादानगोचरप्रत्यक्षज्ञानरहितानामपि गर्भस्थबालादीनां तदपरोक्षज्ञानेन सहस्राशः तत्र प्रवृत्तेरुपलम्भात् नोपादानसाक्षात्कारत्वेन कारणत्वं कल्पनामर्हति । तथा च = उपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणत्वासिद्ध्या च, समवायेन द्व्यणुकादि-कार्यं प्रति कारणविधया ईश्वरप्रत्यक्षं = परमाण्वादिगोचरेश्वरसमवेतप्रत्यक्षं, कारणतावच्छेदकधर्मविधया च तत्र प्रत्यक्षत्वं, असिद्धमेव बोध्यम् ।

पराशङ्कां निराकर्तुमाह- न चेति । तस्य = द्व्यणुकाद्युपादानगोचरज्ञास्य, अनुमित्यादिरूपत्वे आदिपदेनोपमितिशाब्दबोधग्रहणं, परामर्शादिजन्यतावच्छेदककोटौ = परामर्श-सादृश्यज्ञानपदज्ञाननिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदककुक्षौ, जन्यत्वनिवेशे गौरवमिति । समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति उपादानज्ञानस्य हेतुत्वाऽभ्युपगमेन सिद्धं द्व्यणुकाद्युपादानज्ञानं यद्यनुमितिस्वरूपं स्यात् तदा परामर्शजन्यतावच्छेदकमनुमितित्वं न स्यात् किन्तु जन्यानुमितित्वं स्यात्, अनतिरिक्तवृत्तित्वात् । यदि हि तदुपमितिरूपं स्यात् तर्हि सादृश्यज्ञानकार्यतावच्छेदकमुपमितित्वं न स्यात्, ईश्वरीयोपमितेर्नित्यत्वेनोपमितित्वस्य सादृश्यज्ञाननिरूपितकार्यतातिरिक्तवृत्तित्वात् किन्तु जन्योपमितित्वमेव तथा स्यात् । यदि च तच्छाब्दबोधात्मकं स्यात्तर्हि पदज्ञानत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वं शाब्दबोधत्वस्य न भवेत्, नित्यवृत्तिधर्मस्य कार्यतानवच्छेदकत्वनियमादिति जन्यशाब्दबोधत्वस्यैव तत्त्वं वाच्यमिति गौरवभिया ईश्वरसमवेतस्य द्व्यणुकाद्युपादानगोचरज्ञानस्यानुमित्यादिभिन्नत्वं सिध्यति । ततः पारिशेष्यन्यायात्तस्य प्रत्यक्षत्वसिद्धिरित्याशयेन पर आह- तद्वेदे = अनुमित्यादिभेदे सिद्धे पारिशेष्यात् = ईश्वरीयज्ञाने प्रसक्तानुमितित्वोपमितित्वशाब्दबोधत्वानामनुभवत्वसाक्षाद्ब्रह्माप्यानां प्रतिषेधात् शिष्यमाणे प्रत्यक्षत्वे सम्प्रत्ययात् तत्र प्रत्यक्षत्वसिद्धिः । न च तस्य स्मृतित्वमेवाऽस्त्विति वाच्यम्, अनुभवजन्यतावच्छेदककोटौ स्मृतित्वं विहाय जन्यस्मृतित्वोपगमे गौरवादिति तस्य प्रत्यक्षत्वमेव युक्तमिति शङ्काशयः ।

हो सकता है । यह तो नैयायिक को भी अवश्य स्वीकार्य होगा, क्योंकि योगी पुरुष मनोबाहक नाडियों की अनुमिति कर के उनमें प्रवृत्ति करते हैं, समाधि लगाते हैं - यह नैयायिकसम्प्रदाय में भी सुना गया है । जादूगर भी पेंडा, बरफी आदि के उपादान का प्रत्यक्ष किये बिना ही अपने मंत्र के बल से पेंडा आदि का निर्माण करता है । अरे ! पामर लोग भी अग्नि के परमाणु आदि उपादान का प्रत्यक्ष किये बिना ही अग्नि को उत्पन्न करते हैं । अतः परमाणु आदि का ईश्वरप्रत्यक्ष भी असिद्ध ही है । अतः परमाणुप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती ।

न च त. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से कहा जाय कि --> “योगी की भाँति ईश्वर का भी परमाणुविषयक ज्ञान अनुमितित्वस्वरूप माना जाय तब तो परामर्श की कार्यतावच्छेदक कोटि में जन्यत्व का भी निवेश करने का गौरव होगा, क्योंकि अनुमितित्व को ईश्वरीय अनुमिति में भी रहेगा, जहाँ परामर्श की कार्यता नहीं रहती है । कार्यता की अतिरिक्तवृत्ति धर्म कार्यतावच्छेदक = कार्यता का नियामक कैसे हो सकता है ? अतः परामर्शजन्यतावच्छेदक जन्यानुमितित्व मानना होगा । इस तरह ईश्वर का परमाणुआदिविषयक ज्ञान उपमिति आदिरूप होगा, तो सादृश्यज्ञानादि का जन्यतावच्छेदक उपमितित्व आदि न हो कर जन्योपमितित्व आदि धर्म मानना होगा । ईश्वरज्ञान को प्रत्यक्षात्मक न मानने पर परामर्शादि की कार्यतावच्छेदककोटि में जन्यत्व का निवेश करने का गौरव उपस्थित होता है, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान तो नित्य होता है । इस गौरव दोष के सबब ही नित्य ईश्वरीय परमाणुआदिविषयक ज्ञान अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोधस्वरूप नहीं माना जा सकता । प्रसक्त का प्रतिषेध होने से तथा वह ज्ञान होने से पारिशेष्य न्याय से ईश्वरीय ज्ञान में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है । अतः ईश्वर के ज्ञान को प्रत्यक्षस्वरूप ही मानना उचित है । अतः परमाणुआदि के प्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि हो जायेगी” <- तो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि ईश्वरज्ञान को प्रत्यक्षात्मक मानने पर भी इन्द्रियादि की जन्यतावच्छेदक कोटि में जन्यत्व के निवेश का गौरव तो अव्याहत ही है । इन्द्रिय का जन्यतावच्छेदक केवल प्रत्यक्षत्व नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यताशून्य नित्य ईश्वरप्रत्यक्ष में भी वह रहता है । इन्द्रियकार्यता से अतिरिक्तवृत्ति होने की वजह प्रत्यक्षत्व इन्द्रिय का कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता । अतः जन्यप्रत्यक्षत्व को ही इन्द्रिय का कार्यतावच्छेदक मानना होगा । अतः ईश्वर के ज्ञान को प्रत्यक्षस्वरूप मानने पर भी कार्यतावच्छेदककोटि में जन्यत्व के निवेश का गौरव तो अपरिहार्य ही बनता है । हाँ,

भावे वा जीवात्मान एव तदाश्रया भवन्तु किं शिपिविष्टकल्पना-कष्टेन ?

**अथ जीवात्मनां तदाश्रयत्वे शुक्त्यादौ रजतादिभ्रमः कदापि न स्यात्, तत्र रजताभाव-
धियः सदा सत्त्वादिति चेत् ? न, प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटाववश्यनिवेशनीयस्य चैत्रीयत्वा-**

॥ गयलल ॥

ननु मास्तु जन्यगुणत्वस्य साश्रयकत्वव्याप्यत्वं व्यभिचारदर्शनात्, परं नित्यगुणत्वस्यैव साश्रयकत्वव्याप्यत्वमस्तु, जलीयपरमाणुरूपादौ तथैव दर्शनादित्यतो नित्यप्रत्यक्षाश्रयविधेश्वरसिद्धिः स्यादेवेति नैयायिकाशङ्कायां प्रकरणकार आह- भावे वेति । तादृशव्याप्ती मानसत्ते चेति । इदमप्युपगमादेन द्रष्टव्यम्, नित्यप्रत्यक्षरूपे पक्षे व्यभिचारशङ्कानिवर्तकानुकूल-
तर्कविरहेणाऽप्रयोजकत्वान्नेयं व्याप्तिः प्रामाणिक । तदुक्तं खण्डनखण्डखाद्ये हर्षेणाऽपि —> “यावच्चाऽव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते । विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाचलम् । (खं.खं.खा.) इति ।

जीवात्मान एव तदाश्रयाः = नित्यैकप्रत्यक्षस्य आश्रयाः, भवन्तु । एवकारफलमाह- किं शिपिविष्टकल्पनाकष्टेन = तदाश्रयविधया त्रिनेत्राभ्युपगमायासेन सूतम् । तादृशव्याप्तेः स्वीकारेऽपि ‘कार्यस्वोपादानगोचराऽपरोक्षज्ञानजन्यं कार्यत्वादि’-
त्यनुमानेन लाघवसहकृतेन नित्यैकप्रत्यक्षसिद्ध्यापि जीवात्मनामेव तदधिकरणत्वसम्भवात् तदर्थमीश्वरकल्पना युक्तिमतीति प्रकरण-
कृद्भिसन्धिः ।

नैयायिकः शङ्कते- अथेति । ‘चेदि’त्यनेनाऽस्यान्वयः । जीवात्मनां चैत्रमैत्राद्यात्मनां, तदाश्रयत्वे = सकलकार्यजनक-
नित्यैकप्रत्यक्षाश्रयत्वे, चैत्रमैत्रादीनां शुक्त्यादौ रजतादिभ्रमः कदापि न स्यात्, तत्र = शुक्त्यादौ विषयतया रजता-
भाववत्ताधियः = रजताद्यन्योन्याभावप्रकारिकाया बाधबुद्धेः, सदा सत्त्वादिति । तदभाववत्ताबुद्धेः तद्वत्ताधीप्रतिबन्धकत्वात्
शुक्त्यादौ रजतत्वाद्यत्यन्ताभावधीसत्त्वे तत्र रजतत्वादिप्रकारकधीर्न भवेत् । न चैवमस्तीति चैत्रादिजीवात्मसु नित्यैकप्रत्यक्ष-
कल्पना नौचितिमर्हतीति तदाश्रयत्वं पार्यतिपतावेवोपगन्तव्यमिति नैयायिकाशयः ।

ननु विषयतासम्बन्धेन तद्वत्ताधियं प्रति विषयतया तदभाववत्ताबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमे तु मैत्रस्य शुक्त्यादौ
रजतत्वाद्यभावप्रकारकज्ञाने सति चैत्रस्याऽपि तत्र विषयतासम्बन्धेन रजतादिभ्रमो न भवेत् कार्याधिकरणीभूतशुक्त्यादौ विषयता-
संसर्गेण मैत्रीयरजतत्वाद्यत्यन्ताभावप्रकारकधीसत्त्वात् । प्रतिबन्धकाभावमृतेऽपि कार्योपलम्भेन व्यतिरेकव्यभिचाराच्चेतादृशः प्रति-
बन्ध-प्रतिबन्धकभावो घटामञ्चति । किन्तु विषयतया चैत्रीयतद्वत्ताज्ञानं प्रति विषयतया चैत्रीयबाधबोधस्थ प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् ।
शुक्त्यादौ विषयतया मैत्रीयबाधधीसत्त्वेऽपि चैत्रीयबाधज्ञानविरहात्तत्र चैत्रीयरजतत्वादिप्रकारकज्ञानोत्पादे व्यभिचाराऽयोगात् ।
परन्त्येवं प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभावाङ्गीकारे जीवात्मसु नित्यैकप्रत्यक्षस्य सकलकार्यजनकस्य सत्त्वेऽपि तेषां शुक्त्यादौ रजतत्वादि-
भ्रमः सम्भवत्येव, चैत्रीयादिबाधबुद्धेस्तेषु विरहादित्याशयेन प्रकरणकृत्तन्मतमतङ्गजं विदारयति - नेति । प्रतिबन्धकतावच्छेदक-
कोटी = बाधधीनिष्ठप्रतिबन्धकताया अवच्छेदककोटी उपदर्शितरीत्या अवश्यनिवेशनीयस्य = अवश्यकलूषस्य चैत्रीयत्वादेरेव

भावे वा. इति । यदि गुणत्व में पराश्रितत्व की व्याप्ति को नैयायिक मनीषी कथमपि सिद्ध करे तो भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नित्य प्रत्यक्ष (केवलज्ञान) का आश्रय जीवात्माएँ ही बन सकती हैं, परमात्मा की तदाश्रयविधया कल्पना करने का कष्ट हम क्यों उठावें ? जीवात्मा ने क्या अपराध किया है कि उनमें नित्य ज्ञान की कल्पना करने से आप नैयायिक महाशय हिचकिचाहट महसूस करते हैं ? यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> “जीवात्मा को ही नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय माना जाय, तो फिर सीप आदि में चाकचिक्यादि की बदीलत रजतादि का भ्रम जीवात्मा को कदापि नहीं हो सकेगा, क्योंकि नित्य प्रत्यक्ष के आश्रय जीवात्मा में सीप आदि पुरोवर्तिपदार्थ में रजताभावप्रकारक बुद्धि सदा के लिए रहती ही है । ‘नेदं रजतं’ ऐसी रजतान्योन्याभावप्रकारक बुद्धि-प्रत्यक्ष होने पर ‘इदं रजतं’ ऐसा भ्रम कैसे हो सकता ? भगर जीवात्मा को ऐसे भ्रम अरबों की संख्या में होते हैं - यह तो सर्वजनविदित ही है । अतः जीवात्मा को नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय नहीं माना जा सकता, किन्तु ईश्वर को ही” <— तो यह नैयायिकोक्ति भी ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि केवल रजतत्वाभाव या रजतान्योन्याभाव की बुद्धि रजतभ्रम की प्रतिबन्धक नहीं हो सकती । मैत्र को सीप में रजतत्वात्यन्ताभाव की बुद्धि होने पर भी चैत्र को ‘इदं रजतं’ इत्याकारक भ्रम होता है । अतः चैत्रीय रजतभ्रम की प्रतिबन्धकतावच्छेदककुक्षि में चैत्रीयत्व का निवेश करना आवश्यक है । तब प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव इस तरह होगा - चैत्रीय रजतभ्रम के प्रति चैत्रीय रजताभावबुद्धि प्रतिबन्धक है, मैत्रीय भ्रम के प्रति मैत्रीय बाधबुद्धि प्रतिबन्धक है इत्यादि । इस तरह

देरेव तत्राऽभावात् । अवच्छेदकतया चैत्रादिविशिष्टत्वं हि तत्, न च तन्नित्यज्ञाने सम्भव-
तीति ।

ॐ नयलता ॐ

तत्र = नित्यैकप्रत्यक्षे अभावात् ।

ननु चैत्रादिजीवात्मस्वेव नित्यैकप्रत्यक्षाऽङ्गीकारे कथं न तत्र चैत्रीयत्वादिकं, येन प्रतिबन्धकतावच्छेदकविशिष्टस्य विषय-
तया शुक्त्यादौ विरहः स्यात् ? इत्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह- अवच्छेदकतया = स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासम्बन्धेन,
चैत्रादिविशिष्टत्वं = चैत्रादिशरीरविशिष्टत्वं हि तत् = प्रतिबन्धकीभूतबाधबुद्धिनिष्ठं चैत्रीयत्वादिकम् । न च तत् =
निरुक्तसम्बन्धेन चैत्रादिशरीरविशिष्टं नित्यज्ञाने चैत्रादिजीवात्मवृत्तितयाऽभ्युपगम्यमाने, सम्भवति । अयमत्राभिसन्धिः अनित्य-
ज्ञानं विभावात्मनि शरीरावच्छेदेनोत्पद्यते इति नैयायिकराद्धान्तः । अत एव सर्वेषामात्मनां विभुत्वेऽपि न शरीरेतरावच्छेदेन
ज्ञानप्रतीतिः । चैत्रीयबाधधीश्चैत्रीयशरीरावच्छेदेन चैत्रात्मनि वर्तते । स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासंसर्गेण च चैत्रशरीरं
तस्यां वर्तते, स्वस्मिन् = चैत्रशरीरेनिष्ठया अवच्छेदकतया निरूपिताया अवच्छेद्यताया तद्बाधबुद्धौ सत्त्वात् । निरुक्तसंसर्गेण
चैत्रशरीरविशिष्टा बाधधीरेव चैत्रीयबाधबुद्धिरित्यनुच्यते । परमेवं नित्यज्ञाने वक्तुं न पार्यते, तस्य निरवच्छिन्नत्वेन शरीरस्य
तदवच्छेदकत्वाऽसम्भवात् । नित्यैकप्रत्यक्षस्य चैत्रादिजीवात्मवृत्तित्येऽपि निरुक्तसम्बन्धेन चैत्रादिशरीरविशिष्टत्वविरहात् न तस्य
भ्रमप्रतिबन्धकत्वम् । इत्थञ्च चैत्रादिजीवात्मनां भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदकविशिष्टशून्यत्वेन भ्रमोत्पादो निराबाधः । न च भ्रम-
प्रतिबन्धकतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टं चैत्रीयत्वादिकं नावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतया चैत्रादिशरीरविशिष्टत्वं गौरवात्, किन्तु स्वसम-
वेतल्यसम्बन्धेन चैत्राद्यात्मवत्त्वमेव । तच्च चैत्रादिजीवात्मवृत्तिनित्यैकप्रत्यक्षेऽपि सम्भवतीति रज्ज्वादौ सर्पादिभ्रमोऽनुत्थानपरा-
हत एव जीवात्मसु नित्यप्रत्यक्षाभ्युपगमे इति वाच्यम्, तर्हि नानाजीवात्मसु एव व्यासज्यवृत्ति नित्यैकप्रत्यक्षमभ्युपगम्यतां,
स्वमात्रनिष्ठपर्याप्तिनिरूपकत्वसम्बन्धेन चैत्रवत्त्वादेरेव बाधबुद्धिनिष्ठप्रतिबन्धकतावच्छेदककुक्षौ निवेशोऽस्तु । न चोक्तसंसर्गेण चैत्र-
वत्त्वादेर्बाधबुद्धौ निवेशोऽन्यत्राऽसम्भवीति नात्रैवं तत्प्रवेशो युक्तो गौरवादिति वाच्यम्, 'द्वित्वं द्वयोरेव पर्याप्तमि'तिप्रतीत्या
पर्याप्तिसम्बन्धेन घटपटयोर्द्वित्ववत् 'देवदत्तज्ञानं देवदत्ते एव पर्याप्तमि'त्यबाधितानुभवबलेन पर्याप्तिसम्बन्धेन लौकिकदेवदत्तीय-
बाधबुद्धेर्देवदत्तवृत्तित्वोपगमात्, स्वमात्रनिष्ठपर्याप्तिनिरूपकत्वसंसर्गेण बाधबुद्धेर्देवदत्तविशिष्टत्वाद् देवदत्तीयभ्रमप्रतिबन्धकत्वसम्भ-
वादित्यपि विभावनीयम् ।

भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदकदेह में चैत्रीयत्व, मैत्रीयत्व आदि का निवेश करना आवश्यक है । मगर नित्य प्रत्यक्ष में भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदक
चैत्रीयत्व आदि नहीं रहता है । इसका कारण यह है कि बाध बुद्धि में रहने वाले चैत्रीयत्वादि का मतलब है अवच्छेदकतासम्बन्ध
से चैत्रादिविशिष्टत्व । नैयायिक के मतानुसार हमारा ज्ञान शरीरावच्छेदेन आत्मा में उत्पन्न होता है - रहता है और प्रत्येक
आत्मा नैयायिकमत में विभु द्रव्य है । अतः चैत्रीय ज्ञान का मतलब है अवच्छेदकता सम्बन्ध चैत्रविशिष्ट ज्ञान यानी
स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासम्बन्ध से चैत्रशरीरविशिष्ट ज्ञान । स्व = चैत्रशरीर, जो चैत्रात्मनिष्ठ = चैत्रात्मसमवेत
ज्ञान का अवच्छेदक है । मैत्रसमवेत बाधज्ञान (= 'देहं रजतं' इत्याकारक ज्ञान) में चैत्रशरीर स्वनिष्ठावच्छेद-कतानिरूपित
अवच्छेद्यतासम्बन्ध से नहीं रहता है । अतः चैत्र को 'इदं रजतं' इत्याकारक भ्रम हो सकता है । इस तरह जब प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव
सिद्ध होता है, तब नित्य प्रत्यक्ष 'इदं रजतं' इत्यादि भ्रम का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि
नित्य ज्ञान नैयायिकमतानुसार शरीरावच्छेदेन आत्मा में नहीं रहता है । नित्य ज्ञान निरवच्छिन्न होता है, संपूर्ण आत्मा में
वह रहता है । ईश्वर का नित्य प्रत्यक्ष नैयायिक के मतानुसार ईश्वर में शरीरावच्छेदेन नहीं रहता है, क्योंकि ईश्वर को शरीर
ही नहीं होता है, किन्तु वह परमात्मा में निरवच्छिन्न होता है, संपूर्ण परमात्मा में रहता है । इसी सिद्धान्तानुसार चैत्र,
मैत्र आदि जीवात्मा में रहने वाला नित्य प्रत्यक्ष भी निरवच्छिन्नवृत्तितक होगा, चैत्रादि का शरीर नित्य प्रत्यक्ष का अवच्छेदक
नहीं हो सकता । अतः चैत्रादि जीवात्मा में समवेत नित्य प्रत्यक्ष में स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासम्बन्ध से चैत्रादिशरीर
नहीं रह सकते । इस तरह जीवात्मा में समवेत नित्य प्रत्यक्ष भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूत चैत्रादिशरीर से शून्य होने से 'इदं
रजतं' इत्यादि भ्रम का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता । अतः चैत्रादि जीवात्मा में नित्य प्रत्यक्ष रहने पर भी जीवात्मा को भ्रम
होने में कोई हर्ज नहीं है । निष्कर्ष :- जीवात्मा में समवेत नित्य प्रत्यक्ष भ्रमप्रतिबन्धक नहीं है ।

ॐ जीवात्मा में नित्य प्रत्यक्ष मानने में लायव ॐ

न च जीवात्मवृत्तित्वेऽनेकात्मसम्बन्धकल्पनागौरवात् एकेश्वरकल्पना लघीयसीति वाच्यम्, त्वया तत्र जीवात्मनां स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्धः कल्पनीयः, मया तु समवायमात्रमिति लाघवात् ।

अथैवमेतस्य 'नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमि'ति सामान्यलक्षणप्राप्तौ गुणत्वव्याघात

ॐ गयलता ॐ

न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । सकलकार्यजनकनित्यैकप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वे अभ्युपगम्यमाने जीवात्मनां नानात्वेन तत्र अनेकात्मसम्बन्धकल्पनागौरवात् एकेश्वरसम्बन्धकल्पनैव लघीयसीति तस्य त्रिलोचनसमवेतत्वमेवाऽस्त्विति तदाश्रयविधया महेश्वरसिद्धिः निराबाधेति नैयायिकाकूतम् । परपक्षे गौरवोद्भावेन प्रकरणकृत् तस्य जीवात्मवृत्तित्वं लाघव-सहकारेण साधयति - त्वया = नैयायिकेन तत्र = नित्यप्रत्यक्षे शशिशेखरसमवेतत्वेनाऽभ्युपगते जीवात्मनां स्वसंयुक्त-संयुक्तसमवायसम्बन्धः कल्पनीयः = अवश्यकल्प्य इति । स्वपदेन जीवात्मनां ग्रहणम् । तत्संयुक्तश्च तेषामेव शरीरं तेन संयुक्तं महेश्वरे समवेतं नित्यप्रत्यक्षमिति जीवात्मानः तत्र नित्यैकप्रत्यक्षे स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायेन सम्बध्येत् । विभूनां संयोगानभ्युपगन्तुनये स्वसंयुक्तसमवायेन जीवात्मनामीश्वरसमवेतनित्यप्रत्यक्षेऽसम्बद्धत्वात् द्वितीयसंयुक्तपदोपादानम् । जीवात्मनां महेश्वरस्य नित्यैकप्रत्यक्षस्य च परेणोपगमात् त्रिनेत्रसमवेतनित्यप्रत्यक्षे जीवात्मनामुक्तगुरुभूतसम्बन्धकल्पनाया आवश्यकत्वेन गौरवम् । मया = नित्यैकप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्ववादिना तु जीवात्मनां तत्र नित्यप्रत्यक्षे समवायमात्रं = स्वसमवेतत्वमेव केवलं कल्पनीयं यद्वा पूर्वोक्तरीत्या पर्याप्तिनिरूपकत्वसंसर्गमात्रं कल्पनीयमिति प्रत्युत ईश्वरवाद्यपेक्षया लाघवात् नित्यप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वमेव युक्तम् । न च त्वया तत्र धूर्जटिः स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसंसर्गस्य स्वसंयुक्तसंयुक्तपर्याप्तिसम्बन्धस्य वा कल्पने तुल्यगौरवमिति वाच्यम्, नित्यप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वोपपत्तावीश्वरस्यैवाऽप्रसिद्धेः नित्यप्रत्यक्षे तत्सम्बन्धकल्पनाया अनुत्थान-पराहतत्वान्न गौरवमिति विशेषः ।

परः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । एवं = नित्यैकप्रत्यक्षस्य नानाजीवात्मसमवेतत्वोपगमे एतस्य = नित्यैकप्रत्यक्षस्य 'नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमि'ति सामान्यलक्षणप्राप्ताविति । अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं नित्यमिति । विभुद्रव्यसंयोगाऽङ्गीकर्तुनये नित्यसंयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय 'एकमि'त्युक्तम् । नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगन-

न च जी. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "हमारे मत में ईश्वर एक होने से नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वर में वृत्ति मानने पर एक ईश्वरसम्बन्ध की कल्पना करनी होगी, जो लघुभूत है । जीवात्मा तो अनन्तर होने से नित्य प्रत्यक्ष को प्रत्येक जीवात्मा में वृत्ति मानने पर उसके अनन्त जीवात्मसम्बन्ध की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त है । अतः लाघव-सहकार से नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वरनिष्ठ मानने में लाघव है । अतः पराश्रितत्वनिरूपित गुणत्वनिष्ठ व्याप्ति के बल से और लाघव-सहकार से नित्य प्रत्यक्ष के आधारविधया ईश्वर की सिद्धि निराबाध है" <— तो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि नित्य प्रत्यक्ष को अनन्तजीवात्मवृत्ति मानने पर प्रत्येक जीवात्माओं में नित्य प्रत्यक्ष के साथ केवल एक समवाय सम्बन्ध की ही कल्पना है, न कि अनेक सम्बन्ध की । जब कि नित्य प्रत्यक्ष को परमात्मवृत्ति मानने पर प्रत्येक जीवात्मा का नित्य प्रत्यक्ष में एक समवाय सम्बन्ध नहीं, किन्तु स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्ध कल्पनीय होगा । स्व = जीवात्मा से संयुक्त = जीवात्मशरीर से संयुक्त = ईश्वरात्मा में नित्य प्रत्यक्ष समवेत होने से जीवात्मा का ईश्वरवृत्ति नित्य प्रत्यक्ष के साथ स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्ध की कल्पना करनी होगी जो गौरवग्रस्त है । विभु द्रव्य का विभु द्रव्य में संयोग प्राचीन नैयायिक ने नहीं माना है, क्योंकि 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' यह संयोग का स्वरूप है । नित्य विभु द्रव्य सदा प्राप्त ही होते हैं । अतः विभु विभु के बीच संयोग नहीं होता है । उसके मुताबिक स्वसंयुक्तसमवाय नहीं कह कर स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्ध का उल्लेख किया है । जीवात्मा और परमात्मा के बीच जीवात्मा के शरीर द्वारा सम्बन्ध हो सकता है । नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वरवृत्ति मानने पर जीवात्मा का नित्य प्रत्यक्ष के साथ स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्ध की अत्यन्त गुरुभूत कल्पना करने की बजाय; नित्य प्रत्यक्ष को जीवात्मवृत्ति मान कर उन दोनों के बीच केवल समवाय सम्बन्ध की कल्पना करने में लाघव है । इस तरह गौरवदोष के सबब भी ईश्वरात्मा की कल्पना नहीं की जा सकती - यह ताल्पर्य है ।

ॐ जीवात्मवृत्ति नित्य प्रत्यक्ष में बाधक का निराकरण ॐ

अथैव, इति । यहाँ नैयायिक का यह कथन कि → "नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वरात्मा में वृत्ति न मानकर अनन्त जीवात्मा

इति चेत् ? किमिदं लक्षणं तव वेदः, येन तदुच्छेदे खेदः ?

यत्तु → 'चैत्रस्य मैत्रस्य वा तदाश्रयत्वं ?' इत्यादिविनिगमनाविरहादेकस्येश्वरस्यैव तदाश्रयत्वं युक्तमिति ← तन्न, सकलजीवात्मवृत्तित्वेऽपि बाधकाभावात् ।

अथैतमस्मदादीनां तत्प्रत्यक्षं कुतो न भवति ? इति चेत्,

❀ जयलता ❀

परिमाणादीनामप्यस्तीति 'अनेक'त्युक्तम् । नित्यत्वे सत्येकत्वे सत्यनेकवृत्तित्वं घटात्यन्ताभावादावप्यस्तीत्यतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वग्रहणम् । नित्यैकप्रत्यक्षस्य नानाजीवात्मसमवेतत्वे तत्रोक्तसामान्यलक्षणप्राप्तौ सत्यां तस्य जातित्वाऽऽपातेन गुणत्वव्याघातः प्रसज्येत । नित्यैकप्रत्यक्षं गुणरूपं न स्यात् किन्तु जातिरूपमेव, तल्लक्षणाक्रान्तत्वात् । अत एव तस्य नानाजीवात्मवृत्तित्वं कल्पनां नार्हतीति नैयायिकाभिप्रायः । प्रकरणकृदाह- किमिदं = दर्शितं लक्षणं = सामान्यलक्षणं तव = नैयायिकस्य वेदः, येन कारणेन तदुच्छेदे = सामान्यलक्षणोच्छेदे खेदः ? उपदर्शितसामान्यलक्षणस्यैवाऽप्रामाणिकत्वेन न तत्प्राप्तौ नानाजीवात्मवृत्तिनित्यैकप्रत्यक्षस्य जातित्वप्रसङ्गो न वा गुणत्वव्याघातः तत्प्रामाण्ये वा भूतत्व-कलशत्व-जातित्व-विशेषत्वादी साङ्ख्येतिरिव 'प्रत्यक्षं गुण' इत्यादिप्रतीतिप्रतीतस्य गुणत्वस्याऽपि जातिबाधकत्वोपगमे क्षतिविरहात् ।

यत्त्विति । 'तत्रे'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । सकलकार्यजनकनित्यैकप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वेऽभ्युपगम्यमाने चैत्रस्य मैत्रस्य वा जीवात्मनः तदाश्रयत्वं = नित्यप्रत्यक्षाश्रयत्वं ? इत्यादिविनिगमनाविरहादिति । आदिपदेन नित्यैकप्रत्यक्षे चैत्रवृत्तित्वं मैत्र-वृत्तित्वं वा ? चैत्रस्य जगत्कर्तृत्वं मैत्रस्य वा ? इत्यादिविनिगमनाविरहग्रहः । तस्येश्वरसमवेतत्वाऽभ्युपगमे तु नैतादृशविनिगमनाविरह इति एकस्येश्वरस्यैव तदाश्रयत्वं = नित्यैकप्रत्यक्षाधिकरणत्वं युक्तमिति । एवकारेण जीवात्मव्यवच्छेदः कृतः । प्रकरण-कृत्त्रिराकरोति- तन्नेति । नित्यप्रत्यक्षस्य सकलजीवात्मवृत्तित्वेऽपि बाधकाभावात्, लाघवतर्केण नित्यप्रत्यक्षस्यैकत्वे पर्याप्ति-सम्बन्धेनैव निखिलजीवात्मवृत्तित्वमस्तु, भ्रमोच्छेदस्तु पूर्वोक्तरीत्या निवारणीय इति प्रकरणकाराभिप्रायः ।

परः शङ्कते- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । एवं = नित्यैकप्रत्यक्षस्य सकलजीवात्मनिष्ठत्वे सति अस्मदादीनां जीवात्मनां तत्प्रत्यक्षं = नित्यप्रत्यक्षस्याऽनुव्यवसायात्मकं मानसप्रत्यक्षं कुतः हेतोः न भवति ? 'अयं घटः' इत्यादिज्ञानेऽस्मदादिषु सति 'मया घटो ज्ञातः', 'अहं घटं जानामि', 'अहं घटज्ञानवान्', 'एनं घटत्वेन ज्ञातवानहमि'त्याद्याकारकानुव्यवसाय-रूपेण मानसप्रत्यक्षेण घटज्ञानं प्रत्यक्षं भवति, अनुव्यवसायेनैव व्यवसायस्य तद्विषयस्य च निश्चयात् । अतः नित्यैक-

में समवेत मानने पर तो नित्य प्रत्यक्ष जातिस्वरूप हो जायेगा, क्योंकि जो एक हो, नित्य हो और अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहता ही वह जातिपदार्थ बनता है । अतः एक नित्य प्रत्यक्ष को अनेक जीवात्मा में समवेत मानने पर उसमें गुणत्व का व्याघात होगा और फिर भी उसे गुणस्वरूप माना जाय तो जाति के उपर्युक्त लक्षण का उच्छेद हो जायेगा" <— भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'एकं नित्यं अनेकसमवेतं सामान्यं' ऐसा सामान्यलक्षणप्रतिपादक वचन वेदवचन नहीं है, जिसकी वजह उसके उच्छेद में नैयायिक को खेद करना आवश्यक हो । मतलब कि सामान्य का उपर्युक्त लक्षण अप्रामाणिक होने से उसके मुताबिक एक नित्य प्रत्यक्ष में, जो प्रत्येक जीवात्मा में समवेत है, गुणत्व का व्याघात नहीं हो सकता । अतः एक नित्य प्रत्यक्ष का जीवात्मा आश्रय हो सकता है ।

यत्तु. इति । अन्य मनीषियों का यह अभिप्राय है कि → "एक नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय जीवात्मा मानने पर चैत्रात्मा को उसका आश्रय मानना या मैत्र को या जैत्र को ? इस समस्या का कोई समाधान प्राप्त नहीं होता है । अतः इस विनिगमनाविरह दोष की बदीलत एक परमात्मा को ही नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय = समवायी मानना युक्त है । मतलब कि विनिगमकाभाव से भी सकलकार्यजनक एक नित्य प्रत्यक्ष के आश्रयविधया महेश्वर की सिद्धि हो सकती है" <— किन्तु विचार करने पर यह मन्तव्य भी निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि एक नित्य प्रत्यक्ष को सकल जीवात्मा में वृत्ति = समवेत मानने पर भी कोई बाधक नहीं है । अतः विनिगमनाविरह दोष तो अनुत्थानपराहत है ।

अथैवम. इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह आक्षेप है कि → "यदि नित्य प्रत्यक्ष सकल जीवात्मा में समवेत हो तो हम भी जीवात्मा होने से हमारे में भी वह जरूर समवेत होना चाहिए । तब तो जैसे हमें घटज्ञान का साक्षात्कार होता है कि 'अहं घटज्ञानवान्', 'मया घटो ज्ञातः', 'अहं घटं जानामि' ठीक वैसे ही 'अहं सर्वं जानामि', 'मया सर्वं ज्ञातं', 'अहं सर्वं साक्षात्करोमि' ऐसा नित्य प्रत्यक्ष का भी साक्षात्कार = अनुव्यवसाय होना चाहिए । मगर तथाविध अनुव्यवसाय नहीं होता

लौकिकविषयिताऽभावात्, निर्विकल्पकवत् । द्वित्वजनकतावच्छेदिका लौकिकविषयिता तत्र बाढमस्त्येवेति चेत् ? किं तावता ? इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदिकाया एव तस्याः प्रत्यक्षतायां तन्त्रत्वादित्येके ।

✽ जयलता ✽

प्रत्यक्षस्याऽस्मदादिवृत्तित्वेऽस्माकं 'परमाण्वादयो मया साक्षात्कृताः', 'अहं परमाण्वादिकं जानामि', 'अहं परमाण्वादिकोचर-साक्षात्कारवान्,' 'एतान् परमाणुत्वादिभिरहं ज्ञातवानि'त्याद्याकारकेणाऽनुव्यवसायेन नित्यप्रत्यक्षगोचरं मानसप्रत्यक्षं स्यात् । न चैवं भवतीति न तस्य जीवात्मवृत्तित्वं श्रद्धानुमर्हतीति अथाशयः ।

तत्समाधानमाविष्करोति - लौकिकविषयिताऽभावादिति । इन्द्रियसन्निकर्षप्रयोज्यविषयतानिरूपितविषयित्वपिरहान्नाऽस्मदादीनां स्ववृत्तिनित्यैकप्रत्यक्षगोचरानुव्यवसायो भवति । तस्य नित्यत्वेन तद्गोचरे इन्द्रियसन्निकर्षप्रयोज्यविषयता नास्ति । अत एव तत्र तादृशविषयतानिरूपितविषयिताऽपि नास्ति । अतो न तदनुव्यवसायो भवितुमर्हति । 'सर्वेषामेव ज्ञानानामनुव्यवसाय-विषयत्वेन नाऽत्रोदाहरणं दर्शयितुं पार्यत' इत्याशङ्कयामाह- निर्विकल्पकवदिति । निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्याऽस्मदादिवृत्तित्वेऽपि अस्मदादीनां तत्प्रत्यक्षं यथा न भवति तथैवाऽस्मद्वृत्तिनित्यैकप्रत्यक्षस्याऽपि प्रत्यक्षं न भवति । प्रकृते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक-योरनुव्यवसायाऽयोग्यत्वान्दो साधर्म्यं बोध्यम् ।

कश्चिच्छङ्कते- द्वित्वजनकतावच्छेदिका = द्वित्वसंख्यानिष्ठजन्यतानिरूपिताया जनकताया अवच्छेदिका, लौकिकविषयिता तत्र = नित्यैकप्रत्यक्षे बाढमस्त्येवेति । उदयनादिमते द्व्यणुकपरिमाणनिकायाः सङ्ख्याया एकत्वाऽन्यसङ्ख्यात्वेनाऽपेक्षा-बुद्धिजन्यत्वात् तादृशबुद्धौ द्वित्वजनकतावच्छेदकीभूतलौकिकविषयिताया अवश्यमङ्गीकार्यत्वान्तर्भावेन नित्यबुद्धेरप्रत्यक्षत्वोप-पादनं न यदामश्वतीति शङ्काशयः । तत्समाधानमेकैषां विदुषां मतेनाऽऽविष्करोति - किं तावता ? इति । ज्ञानप्रत्यक्षतायां न द्वित्वजनकतावच्छेदकीभूताया लौकिकविषयिताया नियामकत्वं, इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदिकायाः = इन्द्रियसन्निकर्ष-विषयादिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वस्याऽवच्छेदकीभूतायाः एव तस्या = लौकिकविषयितायाः प्रत्यक्षतायां = अनुव्यवसायनिष्ठ-विषयितानिरूपितविषयतायां ज्ञाननिष्ठायां तन्त्रत्वात् = नियामकत्वात् । नित्यैकप्रत्यक्षे द्व्यणुकपरिमाणजनकद्वित्वसङ्ख्या-निरूपितजनकत्वस्यावच्छेदकीभूताया लौकिकविषयितायाः सत्त्वेऽपि विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदिका लौकिकविषयिता नास्ति, तस्य नित्यत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षाद्यजन्यत्वात् । तदभावादेव न तस्य जीवात्मवृत्तित्वेऽपि जीवात्मनामस्मदादीनां प्रत्यक्ष-मित्येकेषामाकृतम् ।

है । इससे ही यह फलित होता है कि नित्य प्रत्यक्ष प्रत्येक जीवात्मा में समवेत नहीं है, अपितु परमात्मा में समवेत है” <— मगर यह वचनप्रहार भी निराधार है, इसका कारण यह है कि उसी ज्ञान का हमें साक्षात्कार होता है, जिस ज्ञान में लौकिक विषयिता होती है । ‘अयं घटः’ इत्याकारक बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में लौकिक विषयिता होने से उसका ‘अहं घटं जानामि’ इत्यादि रूप से साक्षात्कार = अनुव्यवसाय हो सकता है । मगर नित्य प्रत्यक्ष में लौकिक विषयिता नहीं है । अतः उसका ‘अहं सर्वं जानामि’ इत्याद्याकारक मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । जैसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का मानस प्रत्यक्ष = अनुव्यवसाय नहीं होता है, ठीक वैसे ही नित्य प्रत्यक्ष के अननुव्यवसाय = मानसाऽप्रत्यक्ष की उपपत्ति हो सकती है ।

॥ इन्द्रियसन्निकर्षजन्यतावच्छेदक लौकिकविषयिता प्रत्यक्षनियामक - अव्ययमत ॥

द्वित्व, इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि —> “नित्य प्रत्यक्ष में भी लौकिकविषयिता का स्वीकार करना आवश्यक है । इसका कारण यह है कि दो परमाणु के नित्य प्रत्यक्ष से परमाणुद्वय में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है । द्वित्वजनकतावच्छेदक तो लौकिकविषयिता ही होती है । अतः परमाणुद्वय में द्वित्व संख्या के जनक नित्य साक्षात्कार में लौकिकविषयिता का स्वीकार करना आवश्यक है । यह ठीक उसी तरह उपपन्न हो सकता है, जैसे द्वित्वसंख्याजनक घटपटविषयक अपेक्षाबुद्धिस्वरूप ज्ञान में द्वित्वकारणतावच्छेदकीभूत लौकिक विषयिता का जैसे नैयायिक विद्वानों ने स्वीकार किया है, ठीक वैसे ही परमाणुद्वयविषयक नित्य प्रत्यक्ष में भी द्वित्वसंख्याजनकतावच्छेदकीभूत लौकिक विषयिता का स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा परमाणुद्वय में द्वित्व की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी । इस तरह नित्य प्रत्यक्ष में भी लौकिकविषयिता सिद्ध होती है, तब ‘उसमें लौकिक विषयिता के नहीं होने से उसका मानस साक्षात्कार नहीं होता है’ यह नहीं कहा जा सकता । अतः प्रत्येक जीवात्मा में नित्य प्रत्यक्ष को समवेत मानने पर उसका मानस साक्षात्कार होता अनिवार्य है ।” <— मगर इसके समाधान में अमुक नैयायिक यह कहते हैं कि —> “नित्य प्रत्यक्ष में लौकिक विषयिता, जो द्वित्वादिसंख्याजनकतावच्छेदक

ताद्रूप्येण तद्विषयस्याऽहेतुत्वाच्च तत्प्रत्यक्षमित्युच्यते ।

‘विषयतया प्रत्यक्षमात्रकारणीभूतगुरुत्वाद्यन्यतमभेदाभावादि’त्यापरे ।

✽ नयतता ✽

अत्रेवाऽन्येषां मतमाह- ताद्रूप्येण = विषयात्मना तद्विषयस्य = नित्यप्रत्यक्षगोचरस्य परमाण्वादेः, अहेतुत्वात् = नित्यप्रत्यक्षाऽजनकत्वात् न तत्प्रत्यक्षं = नित्यैकप्रत्यक्षगोचरोऽनुव्यवसायात्मको मानससाक्षात्कारः इत्यन्ये मनीषिणो व्याचक्षते । ‘अयं घट’ इत्याद्यनित्यप्रत्यक्षे घटात्मना घटस्य कारणत्वम् । तस्य विषयविधया घटजन्यत्वेन ‘मया ज्ञातो घटः’ ‘अहं घटं जानामी’त्याद्याकारकोऽनुव्यवसायो भवति । ज्ञानप्रत्यक्षे ताद्रूप्येण स्वविषयजन्यत्वस्यैव नियामकत्वात् जीवात्मवृत्तिनित्यप्रत्यक्षे ताद्रूप्येण स्वविषयजन्यत्वस्य विरहादेव न तन्मानससाक्षात्कार इति निर्गलितार्थः । अन्य इत्यमेनाऽस्वरसप्रदर्शनं कृतम् । निर्विकल्पप्रत्यक्षे ताद्रूप्येण विषयजन्यत्वस्य सत्त्वेऽपि न तदनुव्यवसायो भवति । न च ताद्रूप्येण स्वविषयजन्यत्वे सति वैशिष्ट्यावगाहित्वस्यैव ज्ञानप्रत्यक्षे नियामकत्वमस्तु, निर्विकल्पके तु विशेष्याऽभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान्न प्रत्यक्षमिति वाच्यम्, एवं सति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेणाऽतिगौरवात्, विशेष्यस्यैव नियामकत्वसम्भवे व्यर्थविशेषणघटितत्वेन व्याप्यत्वासिद्ध्यापत्तेः । न च विशेष्यस्यैव नियामकत्वमस्तु लाघवात्, अवश्यकलृप्तत्वाच्चेति वाच्यम्, तथा सति जीवात्मवृत्तिनित्यप्रत्यक्षगोचरानुव्यवसायस्य वज्रलेपावमानत्वप्रसङ्गात्, तस्य वैशिष्ट्यावगाहित्वात् ।

अत्रेवाऽपरेशामभिप्रायमाह- विषयतया प्रत्यक्षमात्रकारणीभूतगुरुत्वाद्यन्यतमभेदाभावात् न जीवात्मवृत्तिनित्यप्रत्यक्षस्य मानससाक्षात्कार इति शेषः । इदमत्र तत्त्वम्, विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति स्वरूपसम्बन्धेन गुरुत्वादृष्टपरमाणुपिशाचादिभेदस्य हेतुत्वनियमः । यथा स्वरूपसम्बन्धेन गुरुत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवति घटे विषयतासम्बन्धेन घटप्रत्यक्षं जायते । गुरुत्वादी स्वरूपसम्बन्धेन गुरुत्वाद्यन्यतमत्वस्य सत्त्वेन तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविरहान्न तत्र विषयता-

है, सिद्ध होने से क्या ? इतने से ही नित्य प्रत्यक्ष का मानस साक्षात्कार का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि द्वित्वजनकतावच्छेदकीभूत लौकिकविषयितामात्र ज्ञानप्रत्यक्ष में नियामक नहीं है । ज्ञान के प्रत्यक्ष में तो इन्द्रियसन्निकर्षादि जन्यतावच्छेदकीभूत लौकिकविषयता ही नियामक है । जो प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य होता है, उसमें रहने वाली लौकिकविषयिता इन्द्रियसन्निकर्ष की जन्यतावच्छेदक होती है । तादृश लौकिक विषयिता के आश्रयीभूत ज्ञान का ही मानस साक्षात्कार हो सकता है जैसे ‘अयं घटः’ इत्याकारक लौकिक व्यवसाय ज्ञान का ‘अहं घटं जानामि’ इत्याद्याकारक मानस प्रत्यक्ष । मगर नित्य प्रत्यक्ष तो जन्य ही नहीं होने से इन्द्रियसन्निकर्षादि की जन्यतावच्छेदकीभूत विलक्षण लौकिक विषयिता उसमें नहीं रहती है । अतएव उसके मानस साक्षात्कार का आपादन नहीं किया जा सकता । आपादक से शून्य में किसके बल पर अनिष्ट आपादन किया जाय ? अतः नित्य प्रत्यक्ष को प्रत्येक जीवात्मा में समवेत मानने पर भी उसके मानस साक्षात्कार का अनिष्ट प्रसंग अप्रसक्त है ।” <—

ताद्रूप्येण, इति । अन्य विद्वान् प्रत्येक जीवात्मा में समवेत नित्य प्रत्यक्ष के मानस साक्षात्कार के निवारणार्थ यह कहते हैं कि —> ‘जिस ज्ञान का विषय ताद्रूप्य से हेतु होता है, उस ज्ञान का प्रत्यक्ष हो सकता है । जैसे घटचाक्षुष के प्रति घट घटात्मना हेतु होने से ‘अयं घटः’ इस चाक्षुष का ‘अहं घटं पश्यामि’ इत्याकारक अनुव्यवसाय = मानस साक्षात्कार होता है । जीवात्माओं में समवेत नित्य प्रत्यक्ष के प्रति परमाणु आदि विषय परमाण्वादिरूप से विषयविधया हेतु ही नहीं होते हैं । अतः प्रत्येक जीवात्मा में समवेत नित्य प्रत्यक्ष के मानस साक्षात्कार की आपत्ति नहीं दी जा सकती । अतः नित्य प्रत्यक्ष के आश्रयरूप में ईश्वरात्मा की कल्पना करनी उचित नहीं है ।’ <—

✽ गुरुत्वादिऽन्यतमभेद ही प्रत्यक्ष का नियामक - मतावेष्टेषानित्यपण ✽

विषयतया, इति । अपर विद्वानों का यह वक्तव्य है कि - ‘विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति स्वरूपसम्बन्ध से गुरुत्व आदि अन्यतम का भेद कारण होता है । आदि पद से अदृष्ट (पुण्य, पाप) नित्य प्रत्यक्ष आदि का ग्रहण अभिमत है । गुरुत्व, पुण्य, पाप आदि का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता है । अतः जो गुरुत्वादि से भिन्न हो उसीका प्रत्यक्ष होता है । जैसे घटप्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से घट में उत्पन्न होता है और स्वरूपसम्बन्ध से तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक गुरुत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद भी घट में रहता है । घट गुरुत्व, पुण्य, पाप आदि से भिन्न ही होता है । यहाँ कार्यता-अवच्छेदकसम्बन्ध विषयतासम्बन्ध है । उपर्युक्त भेदनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध है । गुरुत्व आदि में विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि गुरुत्व में तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-गुरुत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद स्वरूप

संयोगत्वावच्छेदेन द्रव्यस्य हेतुताग्रहात्, अजसंयोग इव ज्ञानत्वाद्यवच्छेदेनाऽऽत्मादिहेतुताग्रहात् नित्यज्ञानादिकमपि न सिध्यतीत्यपि कथ्यते ।

ॐ गयलल ॐ

सम्बन्धेन प्रत्यक्षं जायते । विषयतासम्बन्धावच्छिन्न-प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नकारणताश्रयीभूतभेद-प्रतियोगिताकुक्षौ नित्यप्रत्यक्षस्याऽपि निवेशेन तत्र तादृशान्यतमत्वस्य सत्त्वेन प्रतियोगितावच्छेदकव्यधिकरणीभूतभेदस्य प्रत्यक्ष-कारणस्य विरहान्न विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं तत्रोत्पत्तुमर्हति, सामग्र्यभावे कार्यानुत्पादात् । न इत्थञ्च नित्यैकप्रत्यक्षस्य सकल-कार्यजनकस्य जीवात्मवृत्तित्वेऽपि न तन्मानससाक्षात्कारप्रसङ्ग इति फलितम् । अपर इत्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोच्चावनं कृतम् । जीवात्मनां नित्यप्रत्यक्षाश्रयत्वसिद्धौ प्रत्यक्षकारणीभूतभेदप्रतियोगिताकुक्षौ नित्यप्रत्यक्षनिवेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सत्यां बाधकविरहेण जीवात्मनां नित्यप्रत्यक्षाश्रयत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयकवलितत्वात्प्रकृतसमाधानस्येति तद्वीजम् ।

नित्यप्रत्यक्षानभ्युपगन्तुः कस्यचिन्मतमत्रैव प्रकरणकृतावेदयति - संयोगत्वावच्छेदेन द्रव्यस्य हेतुताग्रहात् = समवाय-संसर्गावच्छिन्नसंयोगत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-द्रव्यत्वावच्छिन्नकारणत्वनिश्चयात्, अजसंयोगः = नित्य-संयोगः इव ज्ञानत्वाद्यवच्छेदेनात्मादिहेतुताग्रहात् = समवायसम्बन्धावच्छिन्न-ज्ञानत्वेच्छात्वकृतित्वाद्यवच्छिन्नकार्यतानिरूपित-तादात्म्यादिसम्बन्धावच्छिन्नात्मत्वाद्यवच्छिन्नकारणताया निश्चयात्, नित्यज्ञानादिकं = नित्यज्ञानचिकीर्षादिकं अपि न सिध्यति । समवायेन संयोगमात्रं प्रति द्रव्यसमवायिकारणत्वनिश्चयात् यथा कार्यतावच्छेदकीभूतसंयोगत्वविशिष्टे नित्यत्वाऽयोगेन नित्यसंयोगो नास्ति तथा समवायेन ज्ञानत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति आत्म-तन्मनःसंयोगादेर्हेतुत्वनियमात् कार्यतावच्छेदकीभूतज्ञानत्वाद्याश्रये नित्य-त्वाऽसम्भवेन नित्यज्ञान-नित्यचिकीर्षा-नित्यकृतयो न सेद्मुमर्हन्ति । नित्यज्ञानादेरेवाऽप्रसिद्धौ तदाश्रयचिन्ता बन्ध्यापुत्रपितृशुद्धि-तुल्या प्रतिभातीति तात्पर्यम् ।

यत्तु स्याद्वादध्वान्तमार्तण्डे नृसिंहेण —> “उपाध्याभावेन साध्याभावानुमाने यदि तत्र किमप्युपाध्यन्तरमागच्छेत् तदा पूर्वोद्भावित उपाधिरनुपाधिर्मन्तव्य इति हि दार्शनिकानां सम्प्रदायः । अनेन नियमेन वादिप्रदर्शितोपाध्यभावेन साध्याभावानु-मानाकारोऽयमस्ति यत्, ‘क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं शरीराऽजन्यत्वात्, खादिवत्’ इति । अत्र प्रागभावाऽप्रतियोगित्वमुपाधिः । तस्य कर्तृजन्येषु खादिषु साध्यव्यापकत्वं शरीराऽजन्येषु क्षित्यादिषु च साधनाऽव्यापकत्वमस्त्येवेति कृत्वा सिद्धान्त्यनुमाने प्रदर्शितः ‘शरीरजन्यत्वमु’पाधिरनुपाधिरेव <— (स्या. ध्वा. मा.) इत्युक्तं तत्तु तत्प्रदर्शितनियमेनैव कवलितम्, प्रागभावाऽ-प्रतियोगित्वलक्षणोपाध्यभावेन साध्याभावानुमानाकारोऽयमस्ति यदुत ‘क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं प्रागभावप्रतियोगित्वात् घटादि-वदि’ति । अत्र प्रायोगिकत्वमुपाधिः । तस्य घटादिषु कर्तृजन्येषु साध्यव्यापकत्वं द्वयणुकारण्याऽङ्कुर-शैलादिषु प्रागभावप्रतियोगिषु साधनाऽव्यापकत्वमस्त्येवेति कृत्वा पूर्वोक्तानुमाने प्रदर्शितः प्रागभावाऽप्रतियोगित्वलक्षण उपाधिरनुपाधिरेवेति मन्तव्यम् । ततश्च

सम्बन्ध से नहीं रहता है । भेद स्वप्रतियोगितावच्छेदक धर्म का व्यधिकरण होने से गुरुत्वाद्यन्यतमत्व के अधिकरण गुरुत्व में नहीं रह सकता । इसी तरह प्रमाणवादिविषयक नित्य प्रत्यक्ष में, जो कि प्रत्येक जीवात्मा में समवेत है, भी गुरुत्वाद्यन्यतमत्व रहता है, क्योंकि गुरुत्वपदोत्तरवर्ती आदि शब्द से नित्य प्रत्यक्ष का ग्रहण अभिमत है । नित्य प्रत्यक्ष में उक्त भेदप्रतियोगितावच्छेदक के रहने से उक्त भेद नहीं रह सकता, जो कि विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्षमात्र का हेतु है । अतएव नित्य प्रत्यक्ष में विषयतासम्बन्ध से मानस प्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न हो सकता यानी प्रत्येक जीवात्मा में समवेत नित्य प्रत्यक्ष का मानस साक्षात्कार नहीं हो सकता । अतः नित्य प्रत्यक्ष के आश्रयविधया जीवात्मा की कल्पना करने में कोई दोष नहीं है । अतएव ईश्वर की सिद्धि नित्य प्रत्यक्ष के अधिकरणविधया नहीं हो सकती - यह फलित होता है ।’

* नित्य ज्ञानादे जा मुमकिन - मतविशेष *

संयोगत्वा. इति । किसी विद्वान् का यह मन्तव्य है कि —> ‘संयोगत्वावच्छेदेन यानी संयोगमात्र के प्रति द्रव्य समवायिकारण होने से कोई भी संयोग नित्य नहीं होता है, ठीक वैसे ही ज्ञानत्वादिअवच्छेदेन यानी ज्ञानादिमात्र के प्रति आत्मा समवायी कारण होने से कोई ज्ञान, इच्छा या प्रयत्न नित्य नहीं हो सकता । कार्यतावच्छेदकीभूत ज्ञानत्वादि धर्म ईश्वरसमवेत ज्ञानादि में रहता है, फिर उसे अकार्य = नित्य कैसे माना जा सकता है ? अतः नित्य ज्ञानादि ही असिद्ध होने से उसके आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि कैसे की जा सकती है ? जो ज्ञान सिद्ध होगा, वह अनित्य ही होगा, जिसका आश्रय जीवात्मा हो सकता है । अतः जीवात्मा से विलक्षण परमात्मा की कल्पना अप्रामाणिक है’ <— ।

वस्तुतः कृतेरपि चेष्टादिद्वारा विलक्षणसंयोगं प्रत्येव हेतुता न तु घटमात्रं प्रत्यपि, मानाभावात् । न चैवं कुम्भकारादेः स्वकृतिसाध्यताज्ञानं विना घटादौ प्रवृत्तिः कथं ? इति चाव्याप्तम्, स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्यैव तत्र प्रवर्तकत्वात् । 'स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोग-

✽ जयलता ✽

न प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणकार्यत्वावच्छिन्ने सकर्तृत्वसिद्धिः ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित् कार्यमात्रे सकर्तृत्वसिद्धिः । तथापि सकर्तृकत्वं यदि प्रत्यक्षजन्यत्वरूपं तदा घटादौ बाधः, प्रत्यक्षस्येच्छाजनकत्वेन तत्राऽन्यथासिद्धत्वात् । अत एव चिकीर्षाजन्यत्वलक्षणमपि तत्र सम्भवति, तस्या अपि कृतावेव हेतुत्वात् । अनेन ज्ञानस्य चिकीर्षाद्वारा कृतिजनकत्वमित्युक्तावपि न क्षतिः, तथापि घटादौ प्रत्यक्षजन्यत्वाऽसिद्धेः । 'अस्तु तर्हि कृतिजन्यत्वमेव सकर्तृकत्वं, कृतेः चेष्टादिद्वारा घटादिजनकत्वात् । न हि व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धिरिति नैयायिकाशङ्कायां प्रकरणकृदाह- वस्तुतः इति । कृतेरपि किमुत ज्ञानादेः ? इत्यपिशब्दार्थः, चेष्टादिद्वारा आदिपदेन पूर्वावयवविभाग-पूर्वसंयोगनाशग्रहणम्, विलक्षणसंयोगं कपालद्वयादिविजातीयसंयोगं प्रत्येव हेतुता न तु घटमात्रं = घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रत्यपि, कृतः ? मानाभावादिति । कृतेः चेष्टादिद्वारा विजातीयसंयोगजनने एवोपक्षीणत्वेन घटादिकं प्रत्यन्यथासिद्धेः घटत्वाद्यवच्छिन्नजनकत्वे प्रमाणामावादित्यर्थः ।

परकीयशङ्कामपहरत्यितुमुपाक्षपति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्यान्वयः । एवं = कृतेः घटत्वाद्यवच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकत्वशून्यत्वे सति, कुम्भकारादेः स्वकृतिसाध्यताज्ञानं = स्वसमवेतकृतिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताबोधं, विना घटादौ प्रवृत्तिः = घटाद्युद्देश्यकप्रवृत्तिः, उद्देश्यकत्वस्य सप्तम्यर्थत्वात्, कथं स्यात् ? यद्धर्मावच्छिन्नोद्देश्यकं प्रवर्तनं तद्धर्मे स्वप्रयत्नजन्यतावच्छेदकत्वज्ञानस्य तद्धर्मावच्छिन्ने स्वप्रयत्नजन्यत्वज्ञानस्य वा प्रवर्तकत्वनियमात् । न हि कोऽपि मेवाधानयने प्रवर्तते, तत्र स्वकृतिसाध्यत्वावबोधस्य विरहात् । ततश्च घटादेः कृत्यजन्यत्वे तत्र स्वकृतिसाध्यत्वज्ञानविरहेण कुलालादिप्रवृत्तिः नैव स्यादिति तदन्यथानुपपत्त्या कृतेः घटादिजनकत्वमकामेनाऽपि व्यवहारानुपातिनाऽभ्युपगन्तव्यमिति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत्समाधत्ते- स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्यैवेति । एवकारेण स्वकृतिसाध्यताज्ञानस्य व्यवच्छेदः कृतः । तत्र = घटादौ, कुलालादीनां प्रवर्तकत्वात् । इदमत्र प्रकरणकृत आकृतम्, साध्यं नाम साक्षात् जन्यं, प्रयोज्यं नाम साक्षात् परम्परया वा जन्यम् । स्वकृतिसाध्यताज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वाभ्युपगमे स्वकृत्या परम्परया जन्यत्वज्ञानस्य व्यवच्छेदः भवति । न चैतादृशसङ्काचे किमपि कारणमस्ति, बाधकाभावात् । अतः स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वमङ्गीकार्यम् । युक्तञ्चेत्तत्, अन्यथा कृषिवलादीनां कृष्यादौ प्रवृत्तिः कथं घटामञ्चेत् ? न हि तत्र तेषां स्वकृतिसाध्यताज्ञानमस्ति । स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानं तु घटादौ कुम्भकारादेः बाधमस्ति, घटादेः कपालद्वयविजातीयसंयोगादिजन्यत्वात् । अतो न कुलालादेः घटादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिः ।

परः शङ्कते - स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेनेति । स्वपदेन कुलालादिकृतिग्रहणं, तत्प्रयोज्यः कपालादिसमवेतो

✽ कुलालादिप्रयत्न विजातीयसंयोग के प्रति ही कारण - व्याख्यादी ✽

वस्तुतः इति । वस्तुस्थिति तो यह है कि ज्ञानजन्य इच्छा से जन्य प्रयत्न भी चेष्टा के द्वारा विलक्षणसंयोग के प्रति ही हेतु है, न कि घटमात्र के प्रति भी, क्योंकि घटमात्र के प्रति भी हेतुता के स्वीकार में कोई प्रमाण नहीं है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि --> 'विलक्षण संयोग मात्र के प्रति ही कृति चेष्टा के द्वारा कारण होने पर घटादि के उद्देश्य से कुम्हार आदि प्रवृत्ति कैसे करेंगे ? स्वकृतिसाध्यताप्रकारक ज्ञान प्रवर्तक होता है । कुम्हार के प्रयत्न से विजातीय संयोग साध्य होने पर उद्देश्य से कुम्हार प्रवृत्ति करेगा, मगर घट तो कुम्हारप्रयत्न से साध्य = जन्य नहीं होने से घटोद्देश्यक कुम्हार प्रवृत्ति नहीं हो सकती' <-- मगर यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि घटादि में स्वकृतिसाध्यताज्ञान कुम्हार आदि को नहीं होने पर भी स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञान तो होता है । कुम्हारादि के प्रयत्न से चेष्टाद्वारा विजातीयसंयोग (= कपालद्वयविलक्षणसंयोग-आदि) जन्य होता है और विजातीय संयोग से घटादि जन्य होता है । अतः घटादि कुम्हारादि के प्रयत्न से जन्य नहीं होता है, किन्तु प्रयोज्य होता है । साक्षात् हेतु को कारण कहते हैं और साक्षात् या परम्परया से हेतु को प्रयोजक कहते हैं । अतः घटादि के प्रति कुम्हारादि का प्रयत्न प्रयोजक है । कुम्हारादि को स्वप्रयत्न में घटादिप्रयोजकता का ज्ञान होने से घटादि के उद्देश्य से कुम्हारादि की प्रवृत्ति हो सकती है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि - "कुम्हारादि

सम्बन्धेन घटादौ कुम्भकारादिकृतेर्हेतुत्वेऽपि बाधकाभाव' इति चेत् ? न, दण्डावयव-
स्याऽप्येवं घटं प्रति हेतुतापत्तेः । 'तत्रावश्यकलृप्ते'त्याद्यन्यथासिद्धेः न हेतुत्वमिति यदि, तदा-
ऽपि तुल्यम् ।

॥ अथ तत्ता ॥

विलक्षणसंयोगो घटाद्यसमवायिकारणत्वेनाभिमतः, तादृशसम्बन्धेनेति । घटादौ कुम्भकारादिकृतेः हेतुत्वेऽपि बाधकाभाव इति ।
समवायेन घटादिकं प्रति स्वप्रयोज्याविजातीयसंयोगेन कुलालादिकृतेः हेतुत्वमिति कार्य-कारणभावोपगमेऽपि न किञ्चिद्बाध-
कमस्ति, कार्य-कारणसामानाधिकरण्यनिर्वाहात् । एतेन कृतेः चेष्टादिद्वारा विजातीयसंयोगत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुता न तु
घटत्वावच्छिन्नं प्रत्यपीति प्रत्युक्तम् ।

प्रकरणकारः तन्निराकुरुते- नेति । दण्डावयवस्याऽपीति । एवं = स्वप्रयोज्यभ्रमणवत्त्वसम्बन्धेन, घटं प्रति हेतुता-
पत्तेरिति । यथा कुलालकृतिः चेष्टादिद्वारा विजातीयसंयोगं सम्पादयति यः समवायेन कपाले वर्तते तथा दण्डावयवा अपि
दण्डद्वारा भ्रमिक्रियां सम्पादयन्ति; या समवायेन कपाले वर्तते । ततश्च समवायेन घटं प्रति यथा स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन
कुलालकृतेः हेतुत्वं तथैव समवायेन घटं प्रति स्वप्रयोज्यभ्रमिसवत्त्वसम्बन्धेन दण्डावयवानामपि कारणत्वं सम्भवति ।

तत्र = दण्डावयवेषु, 'अवश्यकलृप्ते'त्याद्यन्यथासिद्धेः = 'अवश्यकलृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्विन्नमन्यथा-
सिद्धमि'त्यन्यथासिद्धत्वग्रस्तत्वात्, न हेतुत्वं = घटकारणत्वमिति यदि नैयायिकेन विभाव्यत इति शेषः । प्रकृतकार्यनिरूपि-
तलघुनियतपूर्ववृत्तित्ववद्विन्नत्वं प्रकृतकार्यनिरूपितान्यथासिद्धत्वमिति लक्षणं बोध्यम् । दण्डावयवत्वापेक्षया दण्डत्वस्य कारण-
तावच्छेदकत्वे लाघवाद् स्वजन्यभ्रमिमवत्त्वसम्बन्धेन दण्डादेव घटसम्भवे तद्विन्नानां दण्डावयवानां घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वं,
स्वसमवेतजन्यभ्रमिमवत्त्वसंसर्गेण दण्डावयवानां घटकारणत्वे सम्बन्धगौरवाच्च न तद्वेतुत्वसम्भव इति यदि परेण विभाव्यते, तदा
अत्र = कुलालकृतेः घटकारणत्वमते, अपि तुल्यं = समसमाधानमिति प्रकरणकारेणोच्यते । तथाहि घटं प्रत्यवश्यकलृप्तनियत-
पूर्ववर्तिनः कपालद्वयविजातीयसंयोगादेव घटसम्भवे तद्विन्न-कुलालकृतेः घटं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । विजातीयसंयोगस्य कारण-
त्वे समवायस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धत्वं, कुलालकृतेः कारणत्वे तु स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धत्व-

को स्वकृतिसाध्यतासम्बन्ध से विलक्षणसंयोग के प्रति कारण मानना और घटादि के प्रति प्रयोजक मानना इसकी अपेक्षा कुम्भारादि
की कृति को स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्ध से घटादि का हेतु मानना उचित है । स्व = कुलालादिप्रयत्न, उससे प्रयोज्य
कपालद्वयादिविजातीयसंयोग कपालादि में रहता है । कुलालादिप्रयत्न स्वप्रयोज्यविलक्षणसंयोगसम्बन्ध से कपालादि में रहेगा ।
अतः समवाय सम्बन्ध से घटादि भी वहाँ ही उत्पन्न होगा । इस तरह कुलालादिकृति घटादि की जनक हो सकती है, तो
फिर घटादि में कुलालादि की स्वकृतिसाध्यताज्ञान से प्रवृत्ति होने में क्या बाध है ? अतः 'कुलालादि स्वकृतिप्रयोज्यत्वज्ञान
से घटादि के उद्देश्य से प्रवृत्ति करते हैं' यह मानना ठीक नहीं है" <-

॥ कुलालादिप्रयत्न घटादे के प्रति अन्यथासिद्ध ॥

न, दण्डा. इति । तो यह नैयायिकवक्तव्य भी नामुनासिब है; क्योंकि कुलालादिकृति को स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्ध
से घटादि का कारण - जनक माना जाय, तब तो दण्डावयव को भी घट का हेतु मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि
स्वप्रयोज्यभ्रमणवत्त्वसम्बन्ध से दण्डावयव भी घट का कारण कहा जा सकता है । स्व = दण्डावयव, वह दण्ड द्वारा भ्रमि
क्रिया को उत्पन्न करता है । तथा वह भ्रमण क्रिया समवाय सम्बन्ध से कपाल में रहती है । अतः दण्डावयव स्वप्रयोज्यभ्रमित्वसम्बन्ध
से कपाल में रहेंगे और समवाय सम्बन्ध से घट भी कपाल में उत्पन्न होता ही है । अतः कुलालादिप्रयत्न की भाँति दण्डावयव
भी घट का हेतु हो सकता है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> "दण्डावयव तो घट के प्रति अन्यथासिद्ध
है, क्योंकि घट के प्रति अवश्यकलृप्त दण्ड से ही घट की उत्पत्ति सम्भवित है" । <- तो यह समाधान कुलालप्रयत्न में
भी समान है । घट के प्रति अवश्य कल्पनीय कपालद्वयविजातीयसंयोग से ही घट की उत्पत्ति सम्भवित है, तो कुलालादिप्रयत्न
घट के प्रति अन्यथासिद्ध हो जायेगा । घट के प्रति कपालद्वयविजातीयसंयोग में कारणता अवश्य कलृप्त है, क्योंकि केवल
कुलालादिप्रयत्न से ही घट उत्पन्न नहीं होता है किन्तु कुलालप्रयत्न से कपालद्वयविलक्षणसंयोग उत्पन्न होने के बाद ही घट
उत्पन्न होता है । इस तरह कुलालप्रयत्न में घटकारणता की कल्पना करने पर भी कपालद्वयविजातीयसंयोग में घटकारणता
मानना आवश्यक है और उसीसे घटोत्पाद का निर्वाह हो सकता है, तब कुलालप्रयत्न में क्यों घटकारणता का अंगीकार

अथैवं दण्डस्यापि घटं प्रति हेतुता न स्यात्, खण्डघटादीं व्यभिचारादिति चेत् ? न, तज्जन्यतावच्छेदकस्य घटत्वस्य स्वर्णघटादेरिव खण्डघटादेरपि व्यावृत्तत्वात् । कपाल-जन्यतावच्छेदकस्यैव दण्डजन्यतावच्छेदकत्वमुचितमिति चेत् ? बाधकसत्त्वे किमौचित्य-चिन्तासन्तापेन ?

❀ नयतता ❀

मिति सम्बन्धकृतगौरवदोषान्त कुलालकृतेरुक्तसम्बन्धेन घटहेतुत्वसिद्धिरित्यपि सुवचमिति प्रकरणकृदाशयः ।

परः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । एवं = कुलालकृतेः घटं प्रति प्रयोजकत्वं न तु हेतुत्वमित्येवं स्वीकारे, दण्डस्यापि कुलालकृतेरिव घटं प्रति हेतुता न स्यात् दण्डमृतेऽपि खण्डघटादेर्जायमानत्वेन खण्डघटादी व्यभिचारात् = व्यतिरेकव्यभिचारात् । घटस्य किञ्चिदशांपगमे विजातीयसंयोगनाशे घटनाशो भवति तदनन्तरं खण्डघटो दण्डं विनैव जायत इति व्यतिरेकव्यभिचारात् दण्डस्यापि घटकारणत्वं न स्यात् । अपिशब्देन कुलाल-चक्रादेः समुच्चयः कृतः ।

प्रकरणकृत् तन्निराकुरुते - नेति । तज्जन्यतावच्छेदकस्य दण्डचक्रादिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताया अवच्छेदकीभूतस्य, घटत्वस्य स्वर्णघटादेरिव खण्डघटादेरपि सकाशात् व्यावृत्तत्वादिति । यथा दण्ड-चक्रादिकं विनैव सौवर्ण-राजत-ताम्रघटादेः जायमानत्वेन दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकीभूतं घटत्वं ततो व्यावृत्तमेवेति परेणोपगम्यते तथैव तत् खण्डघटादितोऽपि व्यावृत्तमेव । खण्डघट-सौवर्णघटाद्यवृत्ति घटत्वं दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकमिति न व्यतिरेकव्यभिचारावकाशः ।

परः शङ्कते - कपालजन्यतावच्छेदकस्यैव दण्डजन्यतावच्छेदकत्वमुचितमिति । दण्डचक्रादिजन्यस्यैव घटस्य कपालजन्यत्वेन कपालनिष्ठसमवायिकारणतानिरूपितायाः कार्यताया अवच्छेदकस्यैव दण्ड-चक्रादिनिष्ठजनकतानिरूपिताया जन्यताया अवच्छेदकधर्मत्वं न्याय्यं, लाघवात् । खण्डघटस्याऽपि कपालजन्यत्वेन कपालकार्यतावच्छेदकीभूतस्य घटत्वस्य खण्डघटवृत्ति-त्वसिद्धौ दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकीभूतस्य घटत्वस्याऽपि तत्र सिद्धिः, तयोरैक्यादिति दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्वस्य स्वर्णघटादेर्व्यावृत्तत्वेऽपि न खण्डघटादितो व्यावृत्तत्वं युक्तमिति पराभिप्रायः ।

अत्र प्रकरणकृत्समाधत्ते बाधकसत्त्वे = व्यतिरेकव्यभिचारलक्षणबाधकप्राप्ती, किमौचित्यचिन्तासन्तापेन ? तेनाऽल-मित्यर्थः । दण्डादि-कपालयोः जन्यतावच्छेदकैक्ये लाघवेऽपि खण्डघटादेः दण्डादिकं विनैव जायमानत्वेन व्यतिरेकव्यभिचार-प्राप्ती दण्डादिजन्यतावच्छेदकीभूतस्य घटत्वस्य खण्डघटादितो व्यावृत्तत्वमभ्युपगम्यते, बाधकसत्त्वे कार्य-कारणभावस्यैव विघटनेन

किया जाय ? निष्कर्ष :- दण्डावयव की भाँति कुलालकृति भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध है ।

❀ दण्ड भी घटविशेष का ही कारण है - स्याद्वादी ❀

अथैवं. इति । नैयायिक का यह वक्तव्य कि → “इस तरह विचार किया जाय तो दण्ड भी घट का हेतु नहीं हो सकेगा, क्योंकि खण्ड घट की दण्ड के बिना ही उत्पत्ति होती है । निश्छिद्र घट उत्पन्न होने के बाद जब घट का कोई कंकड़ घट से अलग हो जाता है तब सच्छिद्र घट यानी खण्ड घट उत्पन्न होता है या मगर तब दण्ड अनुपस्थित होता है । बिना दण्ड के ही खण्ड घट की उत्पत्ति होती है । अतः दण्ड भी घटभात्र के प्रति व्यतिरेक व्यभिचार से अन्यथासिद्ध = अकारण हो जायेगा” ← भी असंगत है, क्योंकि दण्ड भी सभी घट के प्रति कारण ही नहीं है । सुवर्णघट ताम्र-घट आदि की उत्पत्ति बिना दण्ड के ही होती है । अतः दण्ड के जन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व स्वर्ण घट, ताम्र घट आदि से व्यावृत्त मानना आवश्यक ही है । तब तो यही कल्पना करनी उचित है कि दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्वविशेष सौवर्ण घट आदि की भाँति खण्ड घट में भी नहीं रहता है । इस तरह खण्ड घट में दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्वविशेष नहीं होने से बिना दण्ड के खण्ड घट उत्पन्न हो तो भी दण्ड में व्यतिरेक व्यभिचार प्रसक्त नहीं होगा । स्वकार्यतावच्छेदकधर्मशून्य की अपने बिना उत्पत्ति हो यह व्यतिरेक व्यभिचार का स्वरूप नहीं है । अतः दण्ड को घटविशेष का कारण मानने में कोई दोष नहीं है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → “कपालजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व तो खण्ड घट में भी रहता है, मगर आप स्याद्वादी उसमें दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व नहीं मानते हैं । यह उचित नहीं है, क्योंकि इसमें गौरव है । इसकी अपेक्षा कपालजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को ही दण्ड का जन्यतावच्छेदक मानना मुनासिब है” ← तो नैयायिक की यह औचित्यचिन्ता भी निरर्थक है, क्योंकि लाघवगौरव के औचित्य का तब अवसर आता है, जब कोई बाधक न हो । बाधक होने पर लाघव का औचित्य अकिञ्चित्कर होता है । खण्ड घट में दण्ड का उपर्युक्त व्यतिरेक

वस्तुतो दण्डादेः प्रयोजकत्वेऽपि न क्षतिः, अनात्यन्तिकत्वात्, घटादौ निश्चयतः स्वद्रव्यस्यैव हेतुत्वात् । अत एव द्विकपालघटादेरपि कपालान्तरसंयोगेन त्रिकपालघटोत्पत्तिः । न हि तत्र तदानीं कुम्भकारादयो व्याप्रियमाणा दृश्यन्ते ।

अथ नैदं युक्तं, घटं प्रति घटजनकविजातीयसंयोगं प्रति च कपालत्वेनैव हेतुत्वादिति

❀ जयलता ❀

कार्यतावच्छेदकलाघवस्याऽकिञ्चित्करत्वात् । न च गौरवं दोषः, फलाभिमुखत्वेन तस्याऽदोषत्वात् । ततश्च खण्डित-सौवर्ण-राजतादिवटमित्रं घटं प्रति दण्ड-चक्रादेः कारणत्वमिति फलितम् ।

इदञ्च व्यवहारनयमनुरुध्योक्तम् । निश्चयनयमतेन तु दण्डादेः न घटहेतुत्वमिति स्वाशयमविर्भावयति प्रकरणकारः - वस्तुत इति । दण्डादेरिति । आदिपदेन कुलाल-तत्कृति-चक्र-चीवरादेर्ग्रहणम् । घटं प्रति प्रयोजकत्वे अङ्गीक्रियमाणे अपि न क्षतिः = व्यतिरेकव्यभिचारानवकाशः, तस्य अनात्यन्तिकत्वात् = अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वाभावेनाऽकारणत्वात् । तदपि कुतः ? इत्याशङ्कयामाह- घटादौ निश्चयतः = निश्चयनयमवलम्ब्य स्वद्रव्यस्य = मृदादेः, एव हेतुत्वात् दण्डादेः घटाद्यपेक्षया परद्रव्यत्वेनाऽकारणत्वमित्यर्थतो लभ्यते । प्रयोजकमृते कार्योत्पादे विद्वांसो न व्यतिरेकव्यभिचारमामनन्ति । अतो दण्डादेः प्रयोजकत्वाऽभ्युपगमे व्यतिरेकव्यभिचारानवकाशः । निश्चयनयाभिप्रायस्तु ग्रन्थान्तरादवसातव्यः ।

अत एवेति । दण्ड-चक्र-चीवर-कुलालादीनां घटं प्रति प्रयोजकत्वं मृदादेश्च कारणत्वमित्यभ्युपगमादेवेति । द्विकपाल-घटादेः सकाशात् अपि कपालान्तरसंयोगेन त्रिकपालघटोत्पत्तिरिति । स्वद्रव्यस्यैव हेतुत्वकल्पने इयमुपपद्यते, यतो न हि तत्र त्रिकपालघटोत्पादस्थले, तदानीं = त्रिकपालघटोत्पादाऽव्यवहितपूर्वक्षणे, कुम्भकारादयः = कुलालचक्रचीवरदण्डादायः, व्याप्रियमाणाः = व्यापारं कुर्वन्तो दृश्यन्ते । कुलालादीनामपि घटं प्रति कारणत्वे तु प्रकृते व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्निवारत्व-मायुष्मतः ।

परः शङ्कते- अथेति । नैदं युक्तं = कपालान्तरसंयोगेन द्विकपालघटादितः त्रिकपालघटोत्पादकल्पनं न सङ्गतम् । कुतो हेतोः ? इत्याशङ्कयामाह- घटं प्रति = समवायसम्बन्धेन घटत्वावच्छिन्नं प्रति, घटजनकविजातीयसंयोगं प्रति = घटाऽसमवायिकारणीभूतकपालद्वयविजातीयसंयोगत्वावच्छिन्नं प्रति, च कपालत्वेनैव हेतुत्वात् = कपालत्वावच्छिन्नस्य कारण-

व्यभिचार ही दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को खण्ड घट में मानने में बाधक है । अतः कपालजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को एवं दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को भिन्न भिन्न मानना ही उचित है । निष्कर्ष :- दण्ड घटमात्र का नहीं, अपितु घटविशेष का कारण है ।

❀ वस्तुतः दण्ड घट का कारण नहीं, प्रयोजक है - स्याद्वादी ❀

वस्तुतो द. इति । वस्तुस्थिति तो यह है कि दण्ड घटविशेष का भी कारण नहीं है, किन्तु घटसामान्य का प्रयोजक है- ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि दण्ड घट के प्रति अत्यन्त आवश्यक = कारण नहीं है । निश्चयतः तो घटादि में स्वद्रव्य = मृदादिद्रव्य ही हेतु है । पर द्रव्य में निश्चय नय से कारणता ही नहीं होती है । दण्ड तो घट का स्वद्रव्य नहीं है । अतः दण्ड में निश्चयतः घटकारणता नहीं है । हाँ, दण्ड को घट का प्रयोजक कहने में कोई क्षति नहीं है । निश्चय नय से घट का कारण मृद् द्रव्य ही है, उससे व्यतिरिक्त दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल आदि तो प्रयोजक है । इसीलिए तो द्विकपाल घट में कपालान्तर का संयोग होने पर त्रिकपालवाले घट की उत्पत्ति की उपपत्ति हो सकती है । कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि का कोई भी व्यापार नहीं होता है, फिर भी दो कपाल वाला घट जब गीरता है तब तीसराकपाल उत्पन्न होता है और उसके संयोग से दसरावाले तीनकपाल वाले घट की उत्पत्ति द्विकपालवाले घट से होती है । उसके अनुरोध से दण्ड, चक्र, चीवर, कुम्हार, उसके ज्ञान आदि को घट का प्रयोजक मानना युक्त है, न कि कारण । इस परिस्थिति में ईश्वर की सिद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि ईश्वर या ईश्वरज्ञान आदि में कारणता ही असिद्ध है - यह उपर्युक्त विचारशृंखला से ध्वनित होता है ।

❀ घट में भी कथाधिकपालत्व स्थापित रहता है - स्याद्वादी ❀

अथ ने. इति । यहाँ यह नैयायिक उद्गार कि -> “दो कपाल वाले घट से ही कपालान्तर संयोग से तीन कपालवाले

चेत् ? न, कथञ्चित्कपालत्वस्यापि तत्र स्वीकारात् । अत एव 'कपालमयो घट' इति प्रतीतिः । न हि इयं 'अयस्पिण्डस्तेजोमय' इतिवदुपपत्स्यते, साक्षात्सम्बन्धे बाधकाभा-

❀ जयतता ❀

त्वनियमादिति । एवकारेणाऽन्ययोगव्यवच्छेदः कृतः, प्रकृते द्विकपालघटस्य त्रिकपालघटहेतुत्वव्यवच्छेदः ज्ञेयः । घटः कपालं कपालविजातीयसंयोगं च विना न भवितुमर्हति, विजातीयसंयोगश्च कपालं विना न भवितुमर्हति, कपालत्वस्य तत्कारणतावच्छेदकत्वात् । ततश्च कपालान्तरसंयोगेन सहकृताद् द्विकपालघटात् त्रिकपालघटो न भवितुमर्हति, द्विकपालघटे घटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकस्य कपालत्वस्य विरहात्, अन्यथा तदाकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । अतः कपालत्रिकादेव विजातीयसंयोगोत्पत्त्यनन्तरं त्रिकपालघटोत्पाद उपगन्तुमर्हतीति शङ्काभिसन्धिः ।

प्रकरणकृत् प्रत्याचष्टे - नैति । कथञ्चित्कपालत्वस्यापीति । अपिशब्देन प्रतीतघटत्वादेः परिग्रहः । तत्र = द्विकपालघटे स्वीकारादिति । द्विकपालघटे 'इदं कपालमि'तिव्यवहारप्रयोजकीभूतस्य कपालत्वस्याऽसत्त्वेऽपि घटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकीभूतस्य कपालत्वस्य सत्त्वेन ततो विजातीयसंयोगस्य घटस्य चोत्पादेऽपि व्यतिरेकव्यभिचारानवकाशः । कारणतावच्छेदकावच्छिन्नादेव कार्योत्पत्तेराकस्मिकत्वप्रसङ्गोऽपि नास्ति । 'परं द्विकपालघटे कथं कपालत्वसिद्धिः ?' इत्याशङ्कयामाह - अत एवेति । तत्र घटे स्यात् कपालत्वस्य सत्त्वादेव । 'कपालमयो घटः' इतिप्रतीतिः उपपद्यते । यथा मृत्त्वस्य घटे सत्त्वादेव 'मृत्तमयो घट' इतिप्रतीतिर्भवति तथैवाऽपेक्षितकपालत्वस्य तत्र सत्त्वादेव 'कपालमयो घट' इति प्रतीतिर्भवितुमर्हति । प्रकृते परम्परासम्बन्धपराकरणार्थं प्रकरणकारः प्रक्रमते - न हीति । इयं = 'कपालमयो घट' इति प्रतीतिः । तेजस्त्वस्य समवायेनाऽयस्पिण्डे विरहेऽपि स्वसमवायिसंयोगसम्बन्धेन तत्र वर्तमानत्वात् 'अयस्पिण्डस्तेजोमय' इतिवत् = तादृशप्रतीतिवत्, उपपत्स्यते । कुतो हेतोः ? इत्याह - साक्षात्सम्बन्धे = समवायेऽपृथग्भावे वा सम्बन्धे स्वीक्रियमाणे, बाधकाभावात् = दोषाभावात् । अयोगोलकस्य शीतलीभवने तत्र तेजोमयत्वप्रतीतिः विरहात् न समवायेन तत्र तेजस्त्वं स्वीकर्तुमर्हतीति स्वसमवायिसंयोगलक्षणपरम्परासम्बन्धेन तत्र तेजस्त्वमङ्गीक्रियते, स्वस्य = तेजस्त्वस्य समवायिना = तेजसा तस्य संयुक्तत्वात् । समवायेन तत्र तेजस्त्वोपगमे तु पूर्वमेव पश्चादपि तादृशप्रतीतिप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वम् । न च प्रकृते

घट की उत्पत्ति की कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि घट और घटजनक विजातीयसंयोग के प्रति कपालत्वेन कपाल कारण होता है । घट के प्रति कपाल तादात्म्यसम्बन्ध से कारण होता है और घटजनक (= घटासमवायिकारण) विजातीय संयोग के प्रति भी वह तादात्म्यसम्बन्ध से कारण होता है । दो कपाल वाले घट में कपालत्व ही नहीं होने से उससे कपालान्तर के संयोग से तीन कपाल वाले घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । एवं तीन कपाल वाले घट के जनक = असमवायी कारण तीनकपालसंयोग की भी उत्पत्ति तीन कपाल के बिना कैसे हो सकेगी ? कपालान्तरसंयोग से दो कपाल वाले घट को तीन कपालवाले घट का जनक मानने में उपर्युक्त कार्य-कारणभाव का भङ्ग ही बाधक है" <- भी नामुनासिब है, क्योंकि द्विकपाल वाले घट में हम स्याद्वादी कथञ्चित्कपालत्व का भी स्वीकार करते हैं । इसलिए तो 'कपालमयो घटः' इत्याकारक प्रतीति होती है । यहाँ यह कहना कि -> "जैसे अग्नि से अतितप्त लोहपिण्ड में भी 'अयस्पिण्डः तेजोमयः' इत्याकारक प्रतीति होती है । मगर क्या इससे अग्नित्व लोहपिण्ड में सिद्ध हो सकता है ? अग्नित्व तो समवायसम्बन्ध से अग्नि में रहता है, जो कि लोहपिण्ड से संयुक्त है । अतः लोहपिण्ड में बह्मिन्त्व समवाय से नहीं, बल्कि स्वसमवायिसंयोगसम्बन्ध से रहने की वजह 'अग्निमयो लोहपिण्डः' यह प्रतीति होती है, यह माना जाता है । ठीक वैसे ही कपालत्व भी द्विकपाल वाले घट में समवायसम्बन्ध से नहीं, बल्कि स्वसमवायिसमवेतत्वनामक परम्परासम्बन्ध से रहेगा, जिसकी वजह 'कपालमयो घटः' यह प्रतीति होती है" <- भी असंगत है, क्योंकि कथञ्चित्कपालत्व और घट के बीच साक्षात् सम्बन्ध के स्वीकार में कोई बाध नहीं है । लोहपिण्ड जब शीत हो जाता है, तब 'अग्निमयो लोहपिण्डः' यह प्रतीति नहीं होने से वहाँ समवाय से बह्मिन्त्व को नहीं माना जा सकता मगर घट के रहते हुए तो सदा के लिए 'कपालमयो घटः' यह प्रतीति हो सकती है । इसलिए कथञ्चित्कपालत्व का घट में साक्षात् सम्बन्ध मुमकिन है । जहाँ साक्षात् सम्बन्ध मुमकिन हो वहाँ परम्परा सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि तब निरर्थक गौरव दोष प्रसक्त होता है । इसलिए समुचित तो यही है कि निर्दोषता और लाघव होने की वजह साक्षात् सम्बन्ध से ही कथञ्चित्कपालत्व घट में रहता है, यह माना जाय । घटकारणतावच्छेदकीभूत कथञ्चित्कपालत्व घट में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से होने की वजह दो कपाल वाला घट कपालान्तर के संयोग से तीन कपाल वाले घट को उत्पन्न कर सकता है, भले कपालत्व को घटमात्र की कारणता का अवच्छेदक माना जाय । घट में कथञ्चित्कपालत्व

वात् । चरमतन्तुप्रवेशपर्यन्तमेव पटानुत्पत्तौ पूर्व-पूर्वक्रियाया वैयर्थ्यप्रसङ्गेनाऽऽरभ्यारम्भ-
वादस्यैव युक्तत्वात् ।

एवं सति 'पटे पट' इतिप्रतीतिः स्यादिति चेत् ? तर्हि पटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपक-

✽ जयलता ✽

द्विकपालघटे समवायेन कपालत्वस्याऽभ्युपगमे किञ्चिद्बाधकमस्ति, सति घटे सर्वदा 'कपालमयो घट' इतिप्रतीतिः जायमान-
त्वात् । साक्षात्सम्बन्धसम्भवे परम्परासम्बन्धकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, गौरवात् ।

वस्तुतः स्वनये 'एतानि कपालान्येव घटतया परिणतानी'तिप्रतीत्याऽवयवावयविनोः स्यादभेदसंसर्गो यथा सिध्यति तथैव
'वह्निपरिणतोऽयंगोलक' इतिप्रतीत्या तदानीं तयोरपि कथञ्चिदभेद इष्ट एव । तदुक्तं प्रवचनसारे 'परिणमदि जेण दब्बं तक्कालं
तम्मयत्ति पण्णत्तं' (प्र.सा. १/८) इति । इयांस्तु विशेषो यत् - स्वावयवावयविनोरेकप्रदेशभावेनाऽभेदोऽनयोस्त्वेकावगाहता-
भावेनेति पूर्वमुक्तमेव ।

ननु कथञ्चित्कपालत्वस्य घटवृत्तित्वे तु तयोः स्यादभेदः प्राप्तः । न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्, कपालोत्पत्तिसमये एव
घटोत्पत्त्यापत्तेरिति चेत् ? मैवम्, तदानीं कपालाऽभिन्नत्वेन रूपेण घटस्योत्पादे बाधकाभावात् । न चान्त्यसमये एव घट
उत्पद्यते न च त्वचरमसमयेऽपीति वाच्यम्, तथा सति मृदानयन-मर्दन-पिण्डविधान-चक्रारोपण-भ्रमणादिपूर्वपूर्वक्रियाया
वैयर्थ्यापत्तेः । न चोत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, स्यात्कपालाभिन्नत्वेन रूपेण घटस्य तदानीमुत्पन्नत्वेऽपि घटत्वेनाऽनु-
त्पन्नत्वात् । एवमेव पटस्थलेऽपि वक्तव्यमित्याशयेन प्रकरणकृदाह- चरमतन्तुप्रवेशपर्यन्तमेवेति । एवकारेणाऽचरमतन्तुप्रवेश-
पर्यन्तक्षणव्यवच्छेदः कृतः । पटानुत्पत्तौ = अचरमतन्तुकत्वेन रूपेण पटस्याऽनुत्पत्तौ, पूर्व-पूर्वक्रियायाः = द्विचरम-त्रिचरमा-
दितन्त्वातान-वितानादिक्रियायाः, वैयर्थ्यप्रसङ्गेन आरभ्यारम्भवादस्य = आरभ्यत्वेनाऽभिमतस्य प्रतिकर्म प्रतिक्षणं च कथ-
ञ्चिदारम्भ इति वादस्य एव युक्तत्वादिति । एतेन द्वितन्तुकपटात् तन्त्वन्तरसंयोगेन त्रितन्तुकपटोत्पत्तिरपि व्याख्याता ।

परः शङ्कते- एवं सतीति । द्वितन्तुकपटादेव तन्त्वन्तरसंयोगेन त्रितन्तुकपटोत्पादाऽभ्युपगमे सति, त्रितन्तुकपटस्य द्वित-
न्तुकपटजन्यत्वेन 'पटे पट' इतिप्रतीतिः स्यात्, समवायिकारणस्यैव स्वकार्याधिकरणत्वादिति शङ्काशयः । प्रकरणकृत् समाधत्ते
- तर्हीति । पटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपकतावच्छेदकत्वं = पटत्वेनाऽवच्छिन्नाया आधेयताया यो निरूपको धर्मी तन्निष्ठाया

होने से ही उसमें तीनकपालवाले घट का जनक विजातीय संयोग भी उत्पन्न हो सकता है । इस तरह कुलाल, दण्ड, चक्र,
चीवर आदि के बिना भी घट की उत्पत्ति मुमकिन होने से कुलालादि को भी घटत्वावच्छिन्न का कारण न मान कर घट
का प्रयोजक मानना ही उचित है । इस तरह घटादि कार्य स्वद्रव्य से जन्य होने के सबब उपादानविशेष्यक प्रत्यक्ष आदि
से साध्य नहीं है - यह सिद्ध होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है, यह उपर्युक्त विचारधारा का निष्कर्ष है ।

✽ 'कथमाणे कडे' सिद्धान्त से आरभ्याऽऽरम्भवाद ✽

चरम. इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अवयवविजातीयसंयोग को कार्यजनक मानने वाले नैयायिक विद्वानों
के मतानुसार चरमतन्तुप्रवेशपर्यन्त पटात्मक कार्य उत्पन्न नहीं होता है । मगर ऐसा मानने पर पूर्व-पूर्व क्रिया व्यर्थ होने का
प्रसंग उपस्थित होता है, क्योंकि पूर्वकालीन क्रिया रीत जाने पर भी पट अनुत्पन्न ही है । पूर्वकालीन क्रिया में निरर्थकता
की आपत्ति को दूर करने के लिए यही मानना उचित है कि तत् तत् क्षण में जो आरभ्यमाण है, वह उसी क्षण में उत्पन्न
हो जाता है । जैसे सप्ततन्तुप्रवेश के समय सप्ततन्तुक पट आरभ्यमाण है और वह उसी समय उत्पन्न हो जाता है । अष्टतन्तुप्रवेश
के समय अष्टतन्तुक पट आरभ्यमाण है और वह उसी समय उत्पन्न हो जाता है । ऐसा मानने पर पूर्व-पूर्व क्रिया के वैफल्य
का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित नहीं होता । अतः चरमतन्तुप्रवेश के समय तत्संख्याकतन्तुक पट आरभ्यमाण है और वह उसी
क्षण में उत्पन्न हो जाता है । उस क्षण के पूर्व वह आरभ्यमाण ही नहीं होने से पूर्व-पूर्व क्रिया के होने पर भी उसकी
उत्पत्ति नहीं होती है एवं पूर्व-पूर्व क्रिया के नैष्फल्य का दोष भी प्रसक्त नहीं होता है, क्योंकि पूर्व-पूर्व क्रिया से आरभ्य
तत् तत् पट की उत्पत्ति तत् तत् क्षण में हो चुकी है । अतः आरभ्य-आरम्भवाद ही युक्त है । यहाँ यह शंका हो कि
→ "पटात्मक कार्य का अपने कारण तन्तु से अभेद मानने पर तो जैसे 'तन्तौ पटः' यह प्रतीति प्रामाणिक होती है
ठीक वैसे ही 'पटे पटः' यह प्रतीति भी प्रामाणिक हो जायेगी, क्योंकि अधिकरणविधया प्रतीयमान तन्तु से अभिन्न पट
का तन्तु के स्थान में उल्लेख या प्रवेश निराबाध रूप से हो सकता है । अतः 'पटे पटः' यह प्रतीति प्रामाणिक होने लगेगी"

तावच्छेदकत्वं तन्तुत्व एव कल्पयतः तव का हानिः ?

अत्र चार्थे 'करामाणे कडे' इति सिद्धान्तसारोऽपि प्रमाणमिति द्योयम् ।

❀ गयलता ❀

निरूपकताया अवच्छेदकधर्मत्वं, तन्तुत्वे एव कल्पयतः तव = नैयायिकस्य का हानिः ? अवेदं तत्त्वम् - यथा परेण 'घटध्वंसे घटो नास्ती'तिप्रतीतिबलेन सिद्धो घटध्वंसाधिकरणको घटात्यन्ताभावां लाघवाद् घटध्वंसात्मकाधिकरणस्वरूप एव न त्व-तिरिक्तः, परं 'घटध्वंसे घटो ध्वस्त' इत्यप्रत्ययात् घटध्वंसस्य घटात्यन्ताभावत्वेन रूपेण स्वात्मनि सत्त्वेऽपि घटध्वंसत्वेन तत्राऽसत्त्वमङ्गीक्रियते । तयोरैक्येन घटध्वंसस्य घटध्वंसत्वावच्छिन्नाधिकरणताया निरूपकत्वेऽपि तादृशनिरूपकताया अवच्छेदकत्वं घटात्यन्ताभावत्वे एव परेणोपगम्यते । तथैव प्रकृतेऽचरमतन्तुकपटस्य चरमतन्तुकपटाधिकरणीभूततन्त्वभिन्नत्वेनोभयोः पट-त्वावच्छिन्नाधेयताया निरूपकत्वेऽपि तादृशनिरूपकताया अवच्छेदकता त्वया प्रतीतिबलेन तन्तुत्वे एव कल्पनीयेति न 'पटे पट' इति प्रतीत्यापत्तिः, पटत्वस्य पटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपकतानवच्छेदकत्वादिति । एतेन 'घटे घट' इतिप्रतीत्यापत्तिरपि प्रत्युक्ता, घटत्वावच्छिन्न-समवायसम्बन्धावच्छिन्नाया आधेयतायाया निरूपकता धर्मिनिष्ठा तदवच्छेदकत्वस्य घटत्वेऽनभ्युपगमात् विशिष्टसत्तायाः शुद्धसत्तानतिरिक्तत्वेऽपि सत्तावद्गुणनिष्ठाधिकरणतानिरूपकतायाः सत्तानिष्ठाया अवच्छेदकत्वस्य गुणकर्मान्यत्ववि-शिष्टसत्तात्वेऽनभ्युपगमवदिति भावनीयमवहितमानसैः ।

अत्र चार्थे = आरम्भारम्भवादे, 'करामाणे कडे' इति सिद्धान्तसारः = नैयायिकसिद्धान्तरहस्यं अपि प्रमाणमिति । इदमत्राकूतम् - प्रतिसमयं विभिन्नान्येव कार्याणि समारम्भन्ते निष्पाद्यन्ते च स्वकारणकाल-निष्ठाकालयोरेकत्वात् । अतीत-भविष्यत्क्रियाक्षणौ तु न कार्यकारको विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽसत्त्वात्, व्याघ्रशृङ्गवत् । तदसत्त्वेऽपि कार्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते तर्हि क्रियारम्भात् प्रागपि कार्योत्पादः प्रसज्येत, क्रियाऽसत्त्वाऽविशेषात् । न च क्रियोपरमे कार्यं भवति न तु क्रियासद्भावे तस्याः स्वोत्पत्तावेव व्यग्रत्वादिति वाच्यम्, कारणीभूताऽभावप्रतियोगित्वेन क्रियोत्पादस्य प्रतिबन्धकत्वापत्तेः । न च तर्हि क्रियाकालस्य कथं दीर्घत्वं, घटस्य प्रथमसमय एवोत्पन्नत्वादिति वाच्यम्, प्रतिसमयोत्पन्नानां परस्परविलक्षणस्वरूपाणां शिवक-स्थास-कोश-कुशूलादिकार्यकोटीनां क्रियाकाल-निष्ठाकालयोरेकत्वेन प्रतिप्रारम्भसमयनिष्ठाप्राप्तानामेव दीर्घक्रियाकालोपलम्भात्, घटस्तु पर्यन्तस-मय एवारम्भते तत्रैव च निष्पद्यत इति न तस्य दीर्घो निर्वर्तनक्रियाकालः । तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये → 'पइसमउपण्णाणं परोप्परविलक्खाणं सुबहूणं । दीहो किरियाकालो जइ दीसइ किं त्थ कुंभस्स ? ॥ अन्नारंभे अन्नं किह दीसइ जह घटो पडारंभे । शिवकादओ न कुंभो किह दीसण सो तदद्दाण ? ॥ अंते विय आरद्धो जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो ? । अकयं व संपइ गण कह कीरउ कह व एस्सम्मि ? ॥ पइसमयकज्जकोडीनिरवेक्खो घडगयाहिलासो सि । पइसमयकज्जकालं धूलमई ! घडम्मि लाणसि ॥ (वि.आ.भा.२३१५/२३१८) इति । इदञ्च निश्चयनयप्रधानभावेन बोध्यम् ।

नैगमनयानुगृहीतनिश्चयनयेन तु प्रतिसमयं शिवक-स्थासाधभिन्नत्वेन रूपेण घटो जायत एव । अत एव कुलालादीना-माद्यक्षणे 'अहं घटं करोमी'त्याद्यनाहार्यस्वारसिकानुभवोऽपि सङ्गच्छते । अत एव क्रियावैयर्थ्यप्रसङ्गोऽपि न सावकाशः, विद्य-माने हि वस्तुनि पर्यायविशेषाधानद्वारेण कथञ्चित्करणक्रियादिसाफल्योपपत्तेः । सर्वथा असति तु नेदं सम्भवति । प्रस्थक-

<- तो यह नामुनासिब है, क्योंकि पटत्वावच्छिन्न = पट में रही हुई आधेयता की निरूपकता का अवच्छेदक तन्तुत्व धर्म है, न कि पटत्व - ऐसी कल्पना नैयायिक करे तो भी कोई दोष नैयायिक के मतानुसार नहीं हो सकती है । मतलब यह है कि तन्तु में पट रहता है । पट में तन्तु की आधेयता रहती है । तन्तु पटनिष्ठ आधेयता का निरूपक है । मगर तन्तु पट का तन्तुत्वेन रूपेण आधार है । और पटत्वेन रूपेण पट तन्तु में आधेय है । अतः पट में पटत्वावच्छिन्न आधेयता आयेगी, जिसका निरूपक तन्तु या तन्तु से अभिन्न पट है, मगर तादृश आधेयता की निरूपकता का अवच्छेदक तन्तुत्व है, क्योंकि तन्तुत्वरूप से तन्तु पट का आधार है । 'पटे पटः' इस प्रतीति में तो पटत्वावच्छिन्न पटनिष्ठ आधेयता की निरूपकता के अवच्छेदकविधया पटत्व का भान हो रहा है । अतः यह प्रतीति प्रामाणिक नहीं है, किन्तु 'तन्तौ पटः' यह आधाराधेयभावा-वगाही प्रतीति प्रामाणिक है, भले ही तन्तु और पट में कथञ्चिदभेद क्यों न हो ? पटत्व और तन्तुत्व तो एक नहीं है । जैसे नैयायिक मत में विशिष्टसत्ता शुद्ध सत्ता से अभिन्न होने पर भी गुणनिष्ठ अधिकरणता की निरूपकता की अवच्छेदकता सत्तात्व में है, न कि विशिष्टसत्तात्व (गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्व) में । इसी तरह यह भी संगत हो सकता है । आरम्भ-आरम्भवाद में 'करामाणे कडे' यानी क्रियमाण कार्य उसी समय कृत होता है यह सिद्धान्तसार भी प्रमाण = साक्षी है -

एतेन - खण्डघटादावेव कुम्भकारादिकृतेरभावात् खण्डघटाद्युत्पादकत्वे नैवेश्वरसिद्धिरिति - दीधितिकृत्कृतमतामपास्ताम्, एवं सति घटत्वावच्छिन्नं प्रति कुम्भकारत्वादिनाऽपि हेतुत्वविलयापत्तेः, विजातीयकृतिमत्त्वेन तथात्वे पुनरीश्वरसिद्धेः ।

❀ जयलता ❀

दृष्टान्तानुसारेण भावनीयमिदं तत्त्वं निश्चयनयानुसारिभिरित्यादिसूचनार्थं ध्येयमित्युक्तम् ।

एतेनेति । कुलालकृतिदण्डादिजन्यतावच्छेदकीभूतघटत्वस्य खण्डघटादिव्यावृत्तत्वेनेति । अस्य 'अपास्तमि'त्यनेनाऽन्वयः । खण्डघटादावेवेति । अन्वयेन्यवच्छेदार्थेऽपि कारः । अन्वयविहितपूर्ववृत्तित्वावन्धेन कुम्भकारादिकृतेरभावात्, खण्डघटाद्युत्पादकत्वेन एव ईश्वरसिद्धिरिति । यो विशेषयोः कार्य-कारणभावोऽसति बाधके स तत्सामान्ययोरपीतिन्याये मानाभावेन कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति न कृतेर्हेतुत्वम् । घटत्वाद्यवच्छिन्ने कुलालादिकृतित्वेन वाऽपि न हेतुत्वं, खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वात् । किन्तु घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कृतेर्हेतुत्वम् । अतः खण्डघटाद्युत्पत्तिकालपूर्वं कृतेरावश्यकत्वे कुलालादिकृतेरसत्त्वेन तदाश्रयतया लाघवसहकृतपारिशेषन्यायादतिरिक्तेश्वरसिद्धिरिति दीधितिकृन्मतं = रघुनाथशिरोमणिमतम् ।

प्रकरणकारः तन्निरासे हेत्वन्तरमाह- एवं सति = घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कृतित्वेन हेतुत्वाम्युपगमे सति, घटत्वावच्छिन्नं = घटमात्रं, प्रति कुम्भकारत्वादिनाऽपि हेतुत्वविलयापत्तेः = कारणतोच्छेदप्रसङ्गात्, कृतित एव घटोत्पादे कुलालादे-रन्यथासिद्धत्वेनाऽकर्तृत्वप्रसङ्गादिति यावत् । विजातीयकृतिमत्त्वेन = घटानुकूलकृतिमत्त्वेन रूपेण तथात्वे = घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वाऽभ्युपगमे, कुलालादिव्यक्तेः कर्तृत्वसम्भवेऽपि, पुनः ईश्वरसिद्धेः, कुलालादेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन खण्डघटोत्पत्तिकालेऽपि सत्त्वात् । एतेन → 'खण्डघटं पक्षीकृत्य कुलालादिकृतिजन्यत्वसाधने जीवरूपकुलालकृतेर्बाधादीश्वरसिद्धिः, घटकारणसमर्थस्यैव कुलालत्वेन तादृशकुलालत्वस्येश्वरेऽपि स्वीकारसम्भवात् । अत एव 'नमः कुलालेभ्य' इति श्रुतिरपि सङ्गच्छते' <- (मु.रा.रु.पृ.४६) इति रामरुद्रभट्टवचनं प्रत्युक्तम् ।

यह भी ध्यातव्य है ।

❀ दीधितिकारमतानिरास्त ❀

एतेन ख. इति । ईश्वर की सिद्धि के लिए दीधितिकार रघुनाथशिरोमणि का यह मन्तव्य है कि → "घटसामान्य के प्रति कुलाल की कृति, घटसामान्य के प्रति कुविन्द की कृति = यत्न कारण है । मगर खण्ड घट की उत्पत्ति कुलालकृति के बिना और खण्ड घट की उत्पत्ति कुविन्दकृति के बिना ही होती है । मगर उपर्युक्त कार्य-कारणभाव तो प्रामाणिक ही है । अतः उक्त कार्य-कारणभाव के अनुरोध से खण्ड घटादि के कारणविधया ईश्वरीय प्रयत्न की सिद्धि होती है । मतलब कि खण्ड घटादि का कर्ता ईश्वर है । इस तरह खण्डघटादिकर्ता के स्वरूप में ईश्वर की सिद्धि होती है" - मगर इसका निराकरण तो → 'कुलालादि की कृति का जन्यतावच्छेदकीभूत घटत्वादि सौवर्ण घट आदि की भाँति खण्ड घट आदि से भी व्यावृत्त है' <- इस पूर्वोक्त कथन से ही हो जाता है । दूसरी बात यह है कि खण्ड घटादि के कर्ता के स्वरूप में ईश्वर का स्वीकार करने पर तो घटत्वावच्छिन्न = यावत् घट के प्रति कुम्भकारत्व रूप से हेतुता का भी विलय हो जायेगा । जिस नियम के आधार पर दीधितिकार ईश्वर की सिद्धि कर रहे हैं, उसी नियम का भंग ईश्वर की कल्पना से हो जाता है । अतः खण्ड घटादि के कर्तृविधया ईश्वर की कल्पना अप्रामाणिक है । यहाँ दीधितिकार की ओर से यह कहा जाय कि → "घटत्वावच्छिन्न के प्रति कुम्भकारत्वेन हेतुता नहीं है, किन्तु विजातीयकृतिमत्त्वसम्बन्ध से हेतुता है । मतलब कि घटनिष्ठ घटत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक धर्म कुलालत्व नहीं, अपितु विजातीयकृतिमत्त्व है । कुविन्दादि में असमवेत ऐसी घटजनक कृति = यत्न का सूचन करने के लिए विजातीयत्व का कृति के विशेषणविधया ग्रहण किया है । तादृश विजातीयकृतिमत्त्व का आश्रय खण्ड घटोत्पत्तिस्थल में कुलाल नहीं हो सकता है, क्योंकि बिना कुलाल के खण्ड घट की उत्पत्ति होती है । अतः तादृश विजातीयकृतिमत्त्व के अधिकरणविधया ईश्वर की सिद्धि हो जायेगी और विजातीयकृतिमत्त्व में घटत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता की अवच्छेदकता का बाध = भंग भी नहीं होगा । इस तरह सौंप भी न मरे और लाठी भी नहीं टूटे" <- तो यह कथन भी अप्रामाणिक है, क्योंकि विजातीयकृतिमत्त्व को घटकारणतावच्छेदक मानने पर भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है । खण्ड घट के कारणतावच्छेदक विजातीयकृतिमत्त्व का अधिकरण चैत्र आदि भी हो सकता है, जो घट को गिराता है । अतः विजातीयकृतिमत्त्व के आश्रयविधया ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती ।

अथ कृतिमत्त्वेनैव घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं, स्वकृतिविशेष्यत्वञ्च कारणता-
वच्छेदकसम्बन्धः, तत्र दण्डादेरपि स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन हेतुत्वाच्च नाति-
प्रसङ्ग इति चेत् ? न, आत्मत्वादिनापि तथात्वे स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वादेश्च सम्बन्धत्वे विनि-

✽ नयलता ✽

वस्तुतस्त्वत्वाऽस्माभिः तत्र घटेऽखण्डत्वपर्यायनिवृत्तौ खण्डत्वपर्याय एव स्वीक्रियते । युक्तञ्चेत्, प्रत्यभिज्ञोपपत्तेः, तत्र
सादृश्यादिदोषेण भ्रमत्वकल्पने गौरवात् । अत एव पाकेनाऽपि नान्यघटोत्पत्तिः, विशिष्टसामग्रीवशाद् विशिष्टवर्णस्य घटादेः
द्रव्यस्य कथञ्चिदविनाशेऽप्युत्पत्तिसम्भवादिति व्यक्तं वादमहार्णवे ।

ननु कृतिमतः कुलालादेर्न स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं गौरवात्, किन्तु स्वकृति-
विशेष्यत्वसम्बन्धेनैव । खण्डघटाद्युत्पत्तिसमये कुलालादेः स्वकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कार्याधिकरणेऽसत्त्वात्तत्कारणतयेश्वरसिद्धिः,
लाघवतर्कादिना नित्यस्य व्यापकस्यैकस्येश्वरस्य स्वकृतिविशेष्यतासंसर्गेण कार्याधिकरणे सत्त्वेन प्रकृतकार्य-कारणभावोपपत्तेरिति-
श्वरवादिसममुपदर्शयति- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । कृतिमत्त्वेनैवेति । एवकारेण कृतित्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः । समवायेन
घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं, स्वकृतिविशेष्यत्वञ्च कारणतावच्छेदकसम्बन्धः = कृतिमन्निष्ठ-कृतिमत्त्वावच्छिन्नकारणताया
अवच्छेदकः संसर्गः, स्वपदेन कृतिमतः कुलालादेर्ग्रहणम् । कपालेषु तदीयकृतिनिरूपितविशेष्यतायाः सत्त्वेन तेन सम्बन्धेन
कुलालादेः तत्र सत्त्वं समवायेन च घटोऽपि तत्रैवोत्पद्यत इतिकार्य-कारणभावसङ्गतिः । खण्डघटाद्युत्पत्तिस्थले कारणतावच्छेदकी-
भूतसम्बन्धघटकस्वपदेन कुलालादेर्ग्रहणं न सम्भवति, खण्डघटादिसमवायिकारणीभूतकपालादौ कुलालादिकृतेर्विशेष्यत्वविरहात् ।
अतः तत्र स्वपदेनाऽस्मदादिविलक्षणपुरुषधौरेयस्य ग्रहणात् खण्डघटादिकर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिरित्यभिप्रायः परस्य ।

ननु खण्डघटादेः कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धावपि दण्डादिकं विनैव तदुत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्वारत्वमित्याशङ्क्यामीश्वरवादी
गदति- तत्रेति । घटत्वाद्यवच्छिन्ने, दण्डादेरपि आदिपदेन चक्रचीवरादिग्रहणम्, स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेनेति । अनेन
स्वजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धादेर्व्यवच्छेदः कृतः । हेतुत्वाच्च नातिप्रसङ्गः = न व्यतिरेकव्यभिचारावकाशः । पूर्वकपालतद्विजातीयसंयोग-
सत्त्वे नूतनकपाल-तद्विलक्षणसंयोगानुत्पादात् खण्डघटजनकयोः नवीनकपाल-तद्विजातीयसंयोगयोः पूर्वकपाल-तद्विलक्षणसंयोग-
नाशजन्यत्वं, तयोश्च नाशयोः स्वप्रतियोगिजन्यत्वं, तत्प्रतियोगिनोश्च दण्डादिजन्यत्वमिति खण्डघटजनककपालद्वयविजातीय-
संयोगस्य कपालनिष्ठस्य पूर्वदण्डादिप्रयोज्यत्वम् । अतः समवायेन खण्डघटं प्रति स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगवत्त्वसम्बन्धेन नवीन-
कपालवृत्तेः दण्ड-चक्रादेर्हेतुत्वमव्याहतमेवेति न व्यतिरेकव्यभिचारावकाशः । अत एव खण्डघटं प्रतीश्वरकृतेरिवेश्वरीयदण्ड-चक्रा-
दिकल्पनमप्यनावश्यकमिति महेश्वरवादिनो नव्यनैयायिकस्याकृतम् ।

प्रकरणकृत्तन्निराकुरुते- नेति । आत्मत्वादिनाऽपीति । आदिपदेन प्रत्यक्षवत्त्वादेर्ग्रहणम् । तथात्वे = घटत्वाद्यवच्छिन्नं
प्रति हेतुत्वे, स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वादेश्चेति । आदिपदेन स्वचिकीर्षाविशेष्यत्वादेः परिग्रहः । सम्बन्धत्वे = कारणतावच्छेदक-

✽ कृतित्वेन कारणता का स्वीकारा मूलात्तेषु ✽

अथ कृ. इति । यदि यहाँ यह कहा जाय कि → “घटत्वावच्छिन्न का कारणतावच्छेदक धर्म कृतिमत्त्व ही है, मगर
चैत्रीय कृति से मैत्रीय घट की उत्पत्ति के अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिए स्वकृतिविशेष्यता का कारणतावच्छेदकसम्बन्धविधया
ग्रहण किया जाता है । स्वपद से चैत्रादि का ग्रहण करने पर स्वकृति की विशेष्यता कपाल में आयेगी, जिसमें समवाय संबंध
से चैत्रीय घट उत्पन्न होता है । इस तरह दण्डादि भी घट के प्रति स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोग सम्बन्ध से हेतु है । दण्ड भ्रमिक्रिया
के द्वारा कपालद्वयविजातीयसंयोग को, जो घट का असमवायी कारण है, उत्पन्न करता है । अतः कपालद्वयविजातीयसंयोग
दण्ड से प्रयोज्य बनता है, जो समवाय सम्बन्ध से कपाल में रहता है । अतः दण्ड आदि भी स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्ध
से कपाल में रहेगा जहाँ समवाय सम्बन्ध से, जो घटनिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक = नियामक सम्बन्ध है, घट उत्पन्न होता
है । इस तरह दण्ड आदि में भी घटकारणता सिद्ध होती है और खण्ड घट की कृतिनिष्ठकारणता के अवच्छेदक सम्बन्ध
के घटक स्वपद से ईश्वर का ही ग्रहण किया जा सकता है । इस तरह ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है” <—

न, आ. इति । तो यह वक्तव्य भी निराधार है, क्योंकि घटत्वाद्यवच्छिन्न के प्रति स्वकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से कृति
को कारण मानना या स्वप्रत्यक्षविशेष्यतासम्बन्ध से आत्मा को हेतु मानना ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है । आत्मत्वेन
आत्मा भी स्वप्रत्यक्षविशेष्यतासम्बन्ध से कपाल में रह सकता है, क्योंकि स्व = आत्मा के कपालप्रत्यक्ष की विशेष्यता कपाल

**गमनाविरहात् । विजातीयकृतिमत्त्वेनैव व्यापकधर्मेण कार्यमात्रे सकर्तृकत्वनियमस्याऽ-
प्रामाणिकत्वेन लाघवात्कृतित्वेनैव वा हेतुत्वौचित्याच्च ।**

❀ गमनाविरहात् ❀

सम्बन्धत्वे विनिगमनाविरहादिति । अस्तु दण्डादेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं परं समवायेन घटमात्रं प्रति स्वकृतिविशेष्यत्वसम्बन्धेन कृतिमत्त्वेन रूपेण कुलालादेर्हेतुत्वं स्वीकर्तुं न युज्यते, तत्र स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसंसर्गेणाऽऽ-
त्मत्वेन रूपेण कुलालादेर्हेतुत्वमित्यस्यापि सुवचत्वात् । आत्मत्वेन कुलालः स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसंसर्गेण कपाले वर्तते तत्रैव च समवायेन घटो जायत इत्युपदर्शितकार्य-कारणभावस्याऽपि सम्भवात् नैयायिकोक्तहेतु-हेतुमद्भावे विनिगमनाविरहः । न च तर्हि स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसम्बन्धेनाऽऽत्मत्वेन रूपेण घटमात्रं प्रति हेतुताऽस्तु । एवमपीश्वरः खण्डघटाद्यनुरोधेन सेत्स्यतीति वक्तव्यम्, प्रकृतेऽपि समवायेन घटमात्रं प्रति स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसम्बन्धेनाऽऽत्मत्वेन रूपेण हेतुत्वं यदुत उपादानप्रत्यक्षवत्त्वरूपेण ? इति विनिगमनाविरहात् । एवं उपादानचिकीर्षामत्त्वेन रूपेण स्वचिकीर्षाविशेष्यत्वसंसर्गेण तद्धेतुत्वमाहोस्वित् जीवत्वरूपेण ? इत्या-
दिविनिगमनाविरहस्याऽपि प्रदर्शिताखिलफल-फलवद्भावविधटने बद्धकक्षत्वान्नैकोऽपि कार्य-कारणभावः सम्भवति, यद्वलेन खण्ड-
घटाद्युत्पत्त्यनुरोधेनेश्वरः सिध्येत् ।

ननु 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वादित्यनुमाने विजातीयकृतिमत्त्वमन्यत्वमेव साध्यं, कार्यत्व-विजातीयकृतिमत्त्वाभ्यामेव कार्य-
कारणभावाऽभ्युपगमादिति पराऽऽशङ्कायां प्रकरणकृदाह-विजातीयकृतिमत्त्वेनैव व्यापकधर्मेण कार्यमात्रे = कार्यत्वावच्छिन्ने
सकर्तृकत्वनियमस्य अप्रामाणिकत्वेनेति । व्याप्यधर्मेण कार्य-कारणभावसम्भवे व्यापकधर्मेण न कार्य-कारणभावः कल्प्यते,
अन्यथासिद्धेः, अन्यथा घटत्वावच्छिन्नं प्रति दण्डत्वेनेव द्रव्यत्वादिनाऽपि कारणत्वापत्तेः । तदुक्तं → 'अगृहीतव्यभिचारकल-
धुभूतव्याप्यधर्मान्तरसत्त्वे व्यापकरूपेण न कारणत्वं अन्यथासिद्धेः' <-- । ततश्च सौवर्ण-खण्डघटादिव्यावृत्तघटत्वावच्छिन्नं प्रति
कुलालकृतित्वेनैव कारणत्वमिति नोपदर्शित कार्य-कारणभावः प्रामाणिकः । यदि च लाघवगर्भितेन 'यो यद् विशेषयोः कार्य-
कारणभावः...' इत्यादिन्यायेन विजातीयकृतिमत्त्वलक्षणव्यापकधर्मेण कारणताऽभ्युपेयते तदा कृतित्वेनैव तदुपगम उचितः लाघ-
वादित्याशयेन प्रकरणकृदाह- लाघवात् कृतित्वेनैव वा हेतुत्वौचित्याच्चेति । समवायेन कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कृतित्वेन कृतेः
कारणत्वमिति सामान्यकार्य-कारणभावः स्वीकर्तुं युज्यते कारणतावच्छेदकधर्मलाघवादिति भावः । न चैवमपि खण्डघटाद्युत्पत्त्य-
नुरोधेन तज्जनककृत्याश्रयविधया भवसिद्धिरिति वाच्यम्, गुणस्य साश्रयकत्वव्याप्तौ मानाभावस्य पूर्वमुक्तत्वात् । न च वेदान्ति-
नयानुसारेण भवतामेवं वक्तुं न युज्यत इति वाच्यम्, तथाऽपि तत्र कुलालकृतेरेव स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन हेतुत्वसम्भवात् ।
न च लाघवात् स्वविशेष्यतासम्बन्धेनैव कृतेर्जनकत्वमस्तु, स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे तु गौरवमिति वक्तव्यम्,
तथापि स्वप्रयोज्यसम्बन्धेनैव तद्धेतुत्वसम्भवात् । न च विशेष्यतात्वस्य कृतिनिष्ठकारणतावच्छेदकसम्बन्धतावच्छेदकत्वमाहोस्वित्

में रहती है । ऐसा कार्य-कारणभाव भी मुमकिन है । इसमें कोई बाधक नहीं है । मगर इसके अंगीकार से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है । खण्ड घट आदि के कर्ता के स्वरूप में आत्मा की सिद्धि होगी, न कि परमात्मा की । मतलब कि विनिगमनाविरह दोष की वजह प्रतिवादी से प्रतिपादित उपर्युक्त कार्य-कारणभाव मान्य नहीं हो सकता, जिसके फलस्वरूप में प्रतिवादिसम्मत भगेश्वर की प्रसिद्धि हो सके ।

विजा. इति । इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि विजातीयकृतिमत्त्व धर्म व्यापक है = सामान्य है । व्यापक धर्म से कारणता का अंगीकार करने पर अकारण में भी स्वरूपयोग्यता के स्वीकार का निष्प्रामाणिक गौरव उपस्थित होता है । अतः कार्यमात्र के प्रति विजातीयकृतिमत्त्व से सकर्तृकत्व = कर्तृजन्यत्व का नियम अप्रामाणिक है । इसकी अपेक्षा तो यही मुनासिब है कि कृतित्वस्वरूप लघु धर्म को ही कार्यमात्र का कारणतावच्छेदक माना जाय । मतलब कि 'कृति स्वविशेष्यतासम्बन्ध से कार्यमात्र का कारण है' - इत्याकारक लघु कार्यकारणभाव समुचित होने से खण्ड घटादि के कारणविधया कृति की सिद्धि होगी, न कि ईश्वर की, क्योंकि उक्त कार्य-कारणभाव में किसी भी घटक के द्वारा ईश्वर का तो क्या अात्ममात्र का भी प्रवेश नहीं किया गया है । तथा 'गुणमात्र साश्रयक ही होता है' यह नियम भी पूर्वोक्त युक्ति से अप्रामाणिक होने से खण्ड घटादि के जनक प्रयत्न के आश्रयविधया भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । यदि तादृशनियम को प्रामाणिक मान भी लिया जाय तो भी जीवात्मा में ही तथाविधप्रयत्नाधिकरणता संभवित होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती - यह तात्पर्य है ।

जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति कृतित्वेन हेतुत्वेऽप्यभावकर्तृत्वाऽसिद्धेरीश्वरे जगत्कर्तृत्वं निर्युक्ति-
कम् । कार्यत्वं तु न कार्यतावच्छेदकं, कार्यतावच्छेदकसम्बन्धस्यैकस्याऽसत्त्वात् ।

✽ जयलता ✽

प्रयोज्यत्वस्येत्यत्र विनिगमकाभावान्न स्वप्रयोज्यसम्बन्धेन कृतेः कारणत्वसम्भव इति वक्तव्यम्, सकलविशेष्यवृत्तित्वे सति तदि-
तराऽवृत्तित्वलक्षणस्य विशेष्यतात्वस्य गुरुत्वात् । न च साक्षात्परम्परया वा जन्यत्वरूपे प्रयोज्यत्वेऽपि तुल्यगौरवमिति वाच्यम्,
तथापि तत्र विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहस्याधिकत्वात्, तस्यातिरिक्तत्वे सप्तपदार्थविभागातिक्रमप्रसङ्गादिति दिक् ।

अभ्युपगमवादेनाऽऽह- जन्यसत्त्वावच्छिन्नमिति । जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नमित्यर्थः । तेन सामानाधिकरण्येन
जन्यत्वविशिष्टसत्त्वस्य गुरुत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वोक्तावपि न क्षतिः । कृतित्वेन हेतुत्वे = कृतित्वावच्छिन्नकारणत्वाभ्युप-
गमे, अपि । किमुत तदनङ्गीकारे इत्यपि शब्दार्थः । समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति विशेष्यतया कृतेः कारणत्वाऽङ्गीकारेऽपि,
अभावकर्तृत्वाऽसिद्धेः = ध्वंसकर्तृत्वाऽसम्भवात्, ईश्वरे जगत्कर्तृत्वं = निखिलजन्यपदार्थकर्तृत्वं, निर्युक्तिकं = अप्रामाणि-
कम् । ध्वंसस्य जन्यत्वेऽप्यभावत्वेन जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यलक्षणकार्यतावच्छेदकशून्यत्वेन न कृतेः तज्जनकत्वं सम्भवति । एतेन
कार्यं विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकृतिनिष्ठजनकतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यताशालि प्रागभावप्रतियोगित्वादिति प्रत्युक्तम्,
पक्षतावच्छेदकाक्रान्ते ध्वंसे विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकृतिनिष्ठजनकतानिरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यत्वलक्षणसाध्यस्य विरहेण
बाधात् । न च सत्त्वविशिष्टजन्यत्वस्यैव ध्वंसव्यावृत्तस्य पक्षतावच्छेदकत्वोपगमात्त दोष इति वाच्यम्, हेत्वधिकरणे ध्वंसे उक्त-
साध्याभावेन व्यभिचारात् । न च हेतोः सत्त्ववैशिष्ट्येन विशेषणान्न दोष इति वाच्यम्, एवं सति महेश्वरे ध्वंसकर्तृत्वासिद्ध्या
जगत्कर्तृत्वबाधात्, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावेन गौरवाच्च । एतेन विशेष्यता-समवायाभ्यां कश्चिद्धेतु-हेतुमद्भावः अन्य-
स्तु विशेष्यता-विशेषणताभ्यामिति ध्वंसेऽपि कृतिजन्यत्वसिद्धिः सम्भवत्येवेति प्रत्युक्तम्, उपादानत्वाऽऽख्यविशेष्यतासम्बन्धेनैव
कृतेः कारणत्वस्याऽङ्गीकरणीयतया ध्वंसस्योपादानविरहेण तं प्रत्युक्तविशेष्यतासम्बन्धेन कारणत्वाऽसम्भवाच्च । एतेन कार्यमात्रस्य
कृतिजन्यत्वप्रवादोऽपि प्रत्युक्तः, व्यस्तस्य कृतिजन्यत्वं मानाभावेन तादृशप्रवादस्य निर्युक्तिकत्वादिति नेश्वरे जगत्कर्तृत्वे
मानमिति निहिताभिप्रायः ।

अस्तु तर्हि ध्वंसानुरोधेन कार्यत्वमेव कृतिनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यताया अवच्छेदकमित्याशङ्कयामाह- कार्यत्वं तु न
कार्यतावच्छेदकमिति । यद्यपि कार्यत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वेऽवच्छेद्यावच्छेदकयोरैक्येनात्माश्रयदोषः तथापि स्फुटत्वात्तदुपेक्ष्य
दोषान्तरमाह- कार्यतावच्छेदकसम्बन्धस्य एकस्याऽसत्त्वादिति । समवायस्य भावकार्यं प्रति, विशेषणत्याश्चाभावकार्यं प्रति
कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन तद्वदितकार्यकारणभावभेदप्रसङ्गेन गौरवादित्यनुपदमेव विस्तरतो विभावितमेव । 'तर्हि कालिकसम्बन्ध-

॥ अभावकर्तृत्वबाधे शे ईश्वर में जगत्कर्तृत्व नामुमकिन ॥

जन्यसत्त्वावच्छिन्नं इति । इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि नैयायिक विद्वान् ईश्वर को जगत्कर्ता मानते हैं, जिसकी सिद्धि
के लिए वे जन्यसन्मात्र के प्रति विजातीयकृतित्वत्वेन हेतुता का स्वीकार करते हैं । मगर उपर्युक्त लाघवसहकार से जन्यसत्त्वावच्छिन्न
= सकल जन्य भाव पदार्थ के प्रति स्वविशेष्यतासम्बन्ध से प्रयत्न को कारण मान भी ले तो भी इससे जन्य भावमात्र की
जनक कृति की सिद्धि होगी, मगर घटध्वंस, पटध्वंस आदि जन्य अभाव पदार्थ के जनक प्रयत्न की सिद्धि उक्त कार्य-कारणभाव
से नहीं हो सकती, क्योंकि ध्वंस में कृतिजन्यतावच्छेदक धर्म जन्यसत्त्व या जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्य ही नहीं रहता है । अतः
जन्य भाव के जनक प्रयत्न के आश्रयविधया नैयायिक ईश्वर की सिद्धि करे तो भी ईश्वर में अन्य अभाव = ध्वंस का कर्तृत्व
सिद्ध नहीं होगा । जगत के घटक ध्वंस का कर्तृत्व ईश्वर में नहीं है, तो जगत्कर्तृत्व ईश्वर में कैसे सिद्ध होगा ? यदि
ईश्वर में जगत्कर्तृत्व की सिद्धि करने के लिए नैयायिक की ओर से उपर्युक्त कार्य-कारणभाव में यह परिष्कार किया जाय
कि → "समवाय सम्बन्ध से कार्य के प्रति स्वविशेष्यतासम्बन्ध से प्रयत्न कारण है । प्रयत्नजन्यतावच्छेदकीभूत कार्यत्व तो
ध्वंस में भी रहता है । अतः ध्वंसजनक प्रयत्न की भी सिद्धि होगी, जिसका आश्रय ईश्वर हो जाने से ईश्वर में जन्य भाव
की भाँति ध्वंस का भी कर्तृत्व सिद्ध होगा । फलतः ईश्वर में जगत्कर्तृत्व की सिद्धि होगी" <-

✽ कार्यत्व कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता ✽

कार्यत्वं तु. इति । मगर यह वक्तव्य भी अप्रामाणिक है । कृतिनिरूपित कार्यता की अवच्छेदक कार्यता नहीं हो सकती,

कालिकादिसम्बन्धेन तथात्वे तु मानाभाव इत्यप्याहुः ।

अथ द्यावापृथिव्योर्गुरुत्वादिपतनसामग्र्यां सत्यामपि यदीयधारणानुकूलप्रयत्नेन पतनप्रतिबन्धः स एव भगवान् भवानीपतिः सिध्यति । तथा च श्रुतेरपि 'एतस्य चाक्षरस्य

❀ जयलता ❀

स्यैव कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वमस्तु तस्य अन्यभावाऽभावसाधारणत्वादिति न नानाकार्य-कारणभावगौरवमित्याशङ्क्यामाह-
कालिकादिसम्बन्धेन तथात्वे = अन्यजनकभावाऽभ्युपगमे, तु मानाभाव इति । एतेन विशेष्यतया कृतेरधिकरणे कपाले कालिकेन घटा घटध्वंसश्चापजायेतेति न समवाय-विशेषणतान्यतरसम्बन्धस्य कार्यतावच्छेदकत्वमिति निरस्तम्, द्व्यणुकपार्थि-
व-परमाणुपाकजरूपादेः कृतिजन्यत्वाऽभावप्रसङ्गात्, विशेष्यतया कृत्यधिकरणे परमाण्वादौ कालिकेन द्व्यणुकादेरवर्तमानत्वात् ।
एतेन 'कालनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव कार्यभावं प्राप्ते कृतेः कारणत्वस्योपगन्तव्यत्वादिति' (मु.रा.रु.पु.४१) इति रामरुद्रभट्टवचनमपि प्रत्याख्यातम्, शब्दादेः कालिकेन गगनादाववर्तमानत्वेन कार्यत्वस्य कृतिजन्यतानवच्छेदकत्वात्, महेश्वरे शब्दादिकर्तृत्वबाधेन जगत्कर्तृत्वाऽसिद्धेः । न च द्व्यणुकादेः कालिकेन स्वस्मिन्नेकोत्पत्तिरित्युद्गीरणीयम्, तदुत्पादपूर्वं विशेष्यतया कृतेः तत्राऽस-
म्भवेनाऽऽकस्मिकोत्पादप्रसङ्गात् । यत्र तत्र वा कालिकेन कार्योत्पादे देशनैयत्वमङ्गप्रसङ्गः इति न कालिकविशेषणतयाः कृति-
निष्ठविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यताय अवच्छेदकसम्बन्धत्वं सम्भवति । न च देशिकविशेषणताप्रत्यासत्त्या कार्यभावं प्रति कृतेर्विशेष्यतासम्बन्धेन हेतुत्वमिति वाच्यम्, ध्वंसस्योपादानविरहेण तं प्रति उपादानत्वाभिधानविशेष्यतासंसर्गेण कृतेः कारणत्वाऽसम्भवादित्युक्तत्वादिति विभावनीयम् ।

ननु यदि महेश्वरो न स्यात् तर्हि गुर्वोः स्वर्गलोक-मनुष्यलोकयोः पतनं स्यात् । न च तद्भवतीति तत्र प्रतिबन्धकत्व-
कल्पनाया आवश्यकत्वात् तत्पतनप्रतिबन्धकीभूतधारणानुकूलप्रयत्नाश्रयविधयैव त्रिपुरारिसिद्धिरित्याशयेना उदयनानुसारी परः
शङ्कते-अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । द्यावापृथिव्योरिति । यथा पतत्रिसम्भवेतस्य धारणानुकूलप्रयत्नस्य पतनप्रतिबन्धकी-
भूतस्य सत्त्वात् खे ड्यमानपक्षिशरीरस्य तत्संयुक्तफलादेश्च गुरुत्वेऽपि पतनं न भवति तथा द्यावापृथिव्योः गुरुत्वेऽपि पतनं
न भवति, तत्र कस्यचित् धारणानुकूलप्रयत्नेन भवितव्यम् । स च प्रयत्नोऽस्मदीयो न भवितुमर्हतीति पारिशेषन्यायादीश्वरस्य
सिद्धिरिति निर्गलितार्थः । अत्रैव बृहदारण्यकवचनं प्रमाणयति- एतस्येति । साम्प्रतं तत्र 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि

क्योंकि अवच्छेद्य और अवच्छेदक में अभेद होने से आत्माश्रय दोष होगा । दूसरी बात यह है कि कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध भी एक नहीं हो सकता है । कपाल में घटात्मक कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है और घटध्वंसस्वरूप कार्य स्वरूप सम्बन्ध से रहता है । कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध के भिन्न होने से उससे घटित कार्य-कारणभाव भी भिन्न हो जायेगा । फलतः अनेक कार्य-कारणभाव के अंगीकार का गौरव होगा । एक कार्य-कारणभाव की सिद्धि के लिए ईश्वरवादी की ओर से यह कहा जाय कि —> “हम कालिक सम्बन्ध को ही प्रयत्ननिष्ठ कारणता से निरूपित कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध मानते हैं । कालिक सम्बन्ध से तो घटात्मक कार्य और घटध्वंसस्वरूप कार्य कपाल में रह सकता है । अतः कार्य-कारणभाव में लाघव होगा” <— तो यह वक्तव्य भी अप्रामाणिक है, क्योंकि कालिक सम्बन्ध को कार्यतावच्छेदक मानने में कोई प्रमाण नहीं है । अतः उपर्युक्त कार्य-कारणभाव को मान्य नहीं किया जा सकता, जिसके फलस्वरूप में ईश्वर में जगत्कर्तृत्व की सिद्धि हो सके - ऐसा भी अमुक विद्वानों का कथन है ।

❀ द्युलोकपतनाभाव ले ईश्वरलोकेति - नैयायिक ❀

अथ द्या. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि - “जिस द्रव्य में गुरुत्व होता है, उसका पतन पानी नीचे की ओर गमन अवश्य होता है, यदि स्थानविशेष में उसको रोक रखनेवाला कोई पदार्थ न हो । रोकनेवाले पदार्थ को ही पतन का प्रतिबन्धक कहा जाता है । जैसे कोई पक्षी आकाश में उड़ता है और अपनी चोंच में काष्ठखण्ड, तृण, फल आदि को रखता है । उनमें गुरुत्व होता है, पक्षी के शरीर में भी गुरुत्व होता है, फिर भी उनका पतन नहीं होता है । इसका कारण यह है कि पक्षी का गुरुतर शरीर पक्षी की आत्मा में विद्यमान प्रयत्नविशेष से धारित रहता है एवं पक्षी के चोंच में रहे हुए गुरुत्वविशिष्ट फलादि का भी पक्षी के प्रयत्नविशेष से पतन नहीं होता है । ठीक इसी तरह द्युलोक और पृथ्वीलोक भी गुरुतम होने पर भी नीचे नहीं गीरते हैं । यदि पतनप्रतिबन्धक कोई पदार्थ नहीं होता, तब तो गुरुत्वरूप पतनकारण होने से अवश्य उसका अधोगमन होना चाहिए । अतः मानना चाहिए कि किसी के प्रयत्नविशेष

प्रशासने गार्गी ! द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत' (बृहदा. ३/८/९) इति चेत् ? न, तत्प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतधारणानुकूलत्वस्य तत्कृताविव तज्ज्ञानादावपि सम्भवेन विनिगमनाविरहात् । तादृशकृतैर्घटादावपि सत्त्वेन घटादिपतनस्याऽप्यनापत्तेश्च । घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतयाऽनतिप्रसङ्गे तु लाघवाद् घटादिभेदस्यैव तत्त्वोचित्यात् ।

❀ नयलता ❀

सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ! द्यावापृथिव्यो विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ! निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृताः तिष्ठन्ति, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्पन्दन्ते श्वेतैः पर्वतैः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायताः (बृ.उप. ३/९) इत्येवं सम्पूर्णः पाठः समुपलभ्यते ।

प्रकरणकृतदयास्यति-नेति । तत्प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतधारणानुकूलत्वस्य = द्यावापृथिवीपतननिष्ठया प्रतिबध्यतया निरूपितायाः प्रतिबन्धकतया धारणानुकूलत्वस्य, तत्कृताविव = ईश्वरसमवेतप्रयत्न इव तज्ज्ञानादावपि = त्रिलोचनसमवेतज्ञानचिकीर्षयोरपि, सम्भवेन प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावे विनिगमकाभावेन प्रतिबध्यलक्षणकार्य-प्रतिबन्धकाभाव-लक्षणकारणयोः फल-फलवद्भावेऽपि विनिगमनाविरहात् 'यदीयधारणानुकूलप्रयत्नेन द्यावापृथिव्योः पतनप्रतिबन्धः' इति नैयायिकोक्तिरसङ्गतेति भावः । दोषान्तरमाह- तादृशकृतेः = द्यावापृथिवीपतननिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतधारणानुकूलत्वविशिष्टेश्वरीयप्रयत्नस्य, स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन पृथिव्यादाविव घटादावपि सत्त्वेन घटादिपतनस्याऽपि अनापत्तेः = असम्भवप्रसङ्गात्, घटादौ समवायेन पतनक्रियाया अनुत्पत्तिप्रसङ्गादिति यावत्, प्रतिबन्धकसत्त्वे सामर्थ्यकल्पेन कार्योत्पादाज्योगात् । एतेन धारणानुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतीनां स्वातन्त्र्येणाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनाऽपि प्रत्युक्ता, गौरवाच्च ।

ननु तादृशकृतेः न स्वविशेष्यतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वं किन्तु घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासंसर्गेण तत्त्वम् । चन्द्रार्कादी घटादिभेदस्य धारणानुकूलेश्वरीयकृतिनिरूपितविशेष्यतायाश्च सत्त्वेन तादृशकृतेः घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन तत्र सत्त्वान्न तत्पतनम् । घटादेः तादृशकृतिविशेष्यत्वेऽपि घटादिभिन्नत्वविरहेण तत्र तादृशकृतेः घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेनाऽसत्त्वान्न तत्पतनानुपपत्तिः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतिबन्धकस्य विरहादिति पराऽऽशङ्कयामाह - घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन धारणानुकूलेश्वरीयकृतेः प्रतिबन्धकतया = प्रतिबन्धकताकल्पनया, अनतिप्रसङ्गे = घटादिपतनानुपपत्तिवारणे तु लाघवात् घटादिभेदस्यैव तत्त्वोचित्यात् = पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनाया न्याय्यत्वात् । कालिकेन प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धघटकी-

से उनका धारण किया जा रहा है । धुलोकादि को मनुष्यादि तो अपने प्रयत्न से धारण नहीं कर सकते, क्योंकि वे असमर्थ हैं । जिसके प्रयत्न से ब्रह्माण्ड आदि का पतन नहीं होता है, वह ईश्वर से अन्य कोई नहीं हो सकता । अतः ब्रह्माण्डधारणानुकूल प्रयत्न के आश्रयविधया भगवान् भवानीपति = शंकर सिद्ध होते हैं । वेद भी ईश्वर को ही धुलोक-पृथ्वीलोक आदि का धारक बताता है । जैसे 'एतस्य च अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ! द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः' इस वेदवाक्य में गार्गी नामक महिला को सम्बोधित कर के यह कहा गया है कि कभी भी अपने स्वरूप से च्युत न होने वाले परमेश्वर के प्रशासन में धुलोक और पृथ्वीलोक अपने स्थल में पतित न होते हुए स्थित हैं । अतः स्वर्गलोकादि के धारक महेश्वर ही हैं - यह वेदवाक्य से भी फलित होता है ।

❀ पृथ्वीलोकादि के पतनाभाव से ईश्वरसिद्धि नामुमफिज - द्यावदृती ❀

न तत्प्र. इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी महामहोपाध्यायजी उपर्युक्त नैयायिकमत को यह कह कर अयुक्त बताते हैं कि - पृथ्वी आदि गुरुतम पदार्थ के पतन का प्रतिबन्धक केवल धारणानुकूल प्रयत्न नहीं हो सकता, मगर धारणानुकूल ज्ञान एवं धारणानुकूल चिकीर्षा भी पतनप्रतिबन्धक हो सकती है, क्योंकि पतनप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूत धारणानुकूलत्व प्रयत्न की भाँति ज्ञानादि में भी मुमकिन है । अतः पृथ्वीलोक आदि के पतनाभाव में प्रयत्नविशेष को कारण = प्रयोजक मानना या ज्ञानविशेषादि को ? इस विषय में विनिगमनाविरह है । अतः पृथ्वीलोकादिपतनाभावनिमित्त कृतिविशेष के आश्रयविधया महेश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती । इसके अतिरिक्त दोष यह है कि यदि ब्रह्मांडपतनप्रतिबन्धकविधया कृतिविशेष की कल्पना करने पर तो तादृशकृति विशेष्यतासम्बन्ध से जैसे पृथ्वीलोक आदि में रहती है, ठीक वैसे ही घटादि पदार्थ में भी रहने

वस्तुतः स्वभावाश्रयणस्यैव योग्यत्वाच्च । एतेन 'द्यावापृथिव्योः धृतिः कस्यचित्

❀ जयलता ❀

भूतवैशिष्ट्यविवक्षणे तु पुनः घटादिपतनानापत्तेः । दैशिकविशेषणतया वैशिष्ट्योपगमेऽपि घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतायाः पतन-प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धत्वं यदुत स्वविशेष्यताविशिष्टघटादिभेदस्येत्यत्र विनिगमनाविरहस्याऽनिराकार्यत्वात् । न च स्वविशेष्यता-घटादिभेदोभयसंसर्गेण प्रतिबन्धकत्वाऽङ्गीकारे न क्षतिरिति वाच्यम्, प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धकुक्षिनिविष्टेन क्लृप्तेन घटादिभेदेनैव द्यावापृथिव्याद्यपतनोपपत्तौ अवलम्बेश्वरीयधारणानुकूलप्रयत्ने गुरुतरोक्तसम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनायां गौरवात्, घटादिभेदेनैव तदन्यथासिद्धेश्च । न च घटत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नानन्तभेदानां तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवेण लाघवात्कृतिविशेषस्यैव तत्त्वमस्त्विति वाच्यम्, घटपटादिसमूहप्रतियोगितावच्छिन्नस्यैव भेदस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् न चैवमपि तद्विषयादवस्थं, घटेऽपि तादृशभेदस्य सत्त्वात्, न हि घटो घटपटमठादिकूटात्मको भवतीति वाच्यम्, घटपटाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन प्रतिबन्धकत्वविवक्षणात् । घटे घटपटाद्यन्यतमत्वस्य सत्त्वेन तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावाऽसम्भवात्, भेदस्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकव्यधिकरणत्वनियमादिति न द्यावापृथिव्यादि-पतनप्रतिबन्धकाश्रयविधया शिवसिद्धिरित्यत्र प्रकरणकृतः तात्पर्यम् ।

प्रकृते तदन्यत्वे सति तदन्यत्वे, सति तदन्याऽन्यत्वरूपस्याऽन्यतमत्वस्य प्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्मकोटौ प्रवेशेन गौरवमित्यस्वरसं हृदि निधाय ग्राह- वस्तुत इति । स्वभावाश्रयणस्यैव योग्यत्वाच्चेति । द्यावापृथिव्याद्यनुगतस्वभावस्यैव पतन-प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया योग्यत्वाच्चेत्यर्थः । एवकारेण धारणानुकूलकृत्यादेर्व्यवच्छेदः कृतः । स्वभावविशेषणैव तत्पतनाभावोपपत्तौ न नीलकण्ठसिद्धिरित्याकृतम् । एतेन 'स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता' (बृ.उप.४/५/१३), 'वेशान्तान् पुष्करिणीं स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता' (बृ.उप.४/३/१०) इति बृहदारण्यकोपनिषद्वचने निरस्ते, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (श्वे.उप.६/८) इति श्वेताश्वतरोपनिषद्वचनविरोधप्रसङ्गाच्च ।

से घटादि का भी पृथ्वीलोकादि की भाँति पतन नहीं होगा । पतनप्रतिबन्धक होने पर पतन कैसे हो सकता है ? यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "केवल विशेष्यतासम्बन्ध से धारणानुकूल प्रयत्न को हम प्रतिबन्धक नहीं मानते हैं किन्तु घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से धारणानुकूल प्रयत्न को हम प्रतिबन्धक मानते हैं । पृथिवीलोक, सूर्य, चन्द्र आदि में घटादिभेद एवं प्रयत्नविशेष की विशेष्यता दोनों रहने से ईश्वरीय धारणानुकूल प्रयत्न घटादिभिन्नत्वविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से पृथ्वीलोक, सूर्य आदि में रहेगा, जिनका पतन नहीं होता है । घटादि पदार्थ में यद्यपि तादृशप्रयत्न की विशेष्यता रहती है, मगर घटादिप्रतियोगिक भेद नहीं रहता है । अतः सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से तादृशप्रयत्न घटादि में नहीं रहता है । अतः घटादि के पतन का कभी भी नहीं होने का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित नहीं होगा । प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतिबन्धक न होने पर कार्योत्पाद का प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है ?" <—

❀ स्वभावविशेष ही पतनाभाव में ज़िम्मेदार - व्याख्यातरी ❀

तु लाघ. इति । तो यह नैयायिककथन भी नामुनासिव ही है, क्योंकि ईश्वरीय धारणानुकूल प्रयत्न को घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से पतन का प्रतिबन्धक मानने की अपेक्षा उचित यही है कि प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धशरीर में प्रविष्ट घटादिभेद को ही पतन का प्रतिबन्धक माना जाय, क्योंकि ऐसा मानने में लाघव है । नैयायिकमत में गुरुतर प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्ध की कल्पना का गौरव है, जो घटादिभेद को प्रतिबन्धक मानने पर अप्रसक्त है । बुलोक आदि में घटादिभेद के रहने से उसका पतन नहीं होता है । घटादि में घटादिभेद नहीं रहने से उनका पतन हो सकता है । प्रतिबन्धक न होने पर उसके पतन का प्रतिरोध कौन करेगा ? इस तरह पतन और घटादिप्रतियोगिक भेद में प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव की उपपत्ति हो जाने से प्रतिबन्धकाश्रयविधया महेश्वर की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? वस्तुस्थिति तो यह है कि अत्यंत लाघव से बुलोक-पृथिवीलोक आदि में अनुगत स्वभाव को ही पतन का प्रतिबन्धक मानना मुनासिव है । सूर्य, चन्द्र आदि गुरुतर होने पर भी उनमें पतनप्रतिबन्धक स्वभावविशेष होने की वजह उनका पतन नहीं होता है । घट, पट आदि में पतनप्रतिबन्धक स्वभावविशेष नहीं होने से पतनसामग्री से घटादि का पतन हो सकता है । इस तरह प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव की संगति होने पर ईश्वर की सिद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि उक्त प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव या कार्य-कारणभाव के शरीर में कृति = प्रयत्न का निवेश ही नहीं किया गया है, जिसके आश्रयविधया शिवजी की सिद्धि हो सके ।

एतेन. इति । यहाँ नैयायिक मनीषी ईश्वर की सिद्धि करने के लिए यह अनुमान प्रयोग करते हैं कि —> "बुलोक और

प्रयत्नजन्या धृतित्वात्, अस्मदादिजन्यघटादिधृतिवदि'त्यनुमानादीश्वरसिद्धिरित्यपि निरस्तम्, पतनप्रतिबन्धकविलक्षणसंयोगाख्यधृतेः द्वावापृथिव्योरिवेश्वरप्रयत्नवशाद् घटादावप्युत्पत्त्यापत्तेः । 'अदृष्टविशेषात्तत्रैव धृतिर्नान्यत्रे'ति चेत् ? तर्हि अदृष्टविशेष एव तत्प्रतिबन्ध-

❀ नयलता ❀

एतेनेति । द्वावापृथिव्याद्यनुगतस्वभावस्यैव पतनप्रतिबन्धकत्वौचित्येनेति । अस्याऽग्रे 'निरस्तमि'त्यनेनाऽन्वयः । द्वावापृथिव्योर्धृतिरिति । पक्षनिर्देशोऽयम् । कस्यचित् प्रयत्नजन्येति । अनेन कृतिजन्यत्वं साध्यमित्युपदर्शितम् । हेतुमाह- धृतित्वादिति । अस्मदादिजन्यघटादिधृतिवदिति दृष्टान्तप्रदर्शनम् । यथाऽस्मदादिहस्तादिवृत्तेः गुरोः घटादेः धृतिरस्मदादिप्रयत्नजन्या तथैव द्वावापृथिव्योः धृतेरपि कृतिजन्यत्वेन भवितव्यम् । तादृशधृतिजनककृत्याश्रयत्वमस्मदादिषु न सम्भवतीति पारिशेषन्यायेन दर्शितानुमानात् ईश्वरसिद्धिरिति नैयायिकाभिप्रायः ।

द्वावापृथिव्योः धृते स्वभावविशेषजन्यत्वेन तं प्रति कृतेरन्यथासिद्धत्वात्कालात्ययापदिष्टत्वं धृतित्वहेतोः तथापि प्रकरणकारोऽभ्युपगमवादेन दोषान्तरमाविष्करोति - पतनप्रतिबन्धकविलक्षणसंयोगाख्यधृतेः = पतननिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकताश्रयीभूताया विलक्षणसंयोगात्मिकाया धृतेः, समवायसम्बन्धेन द्वावापृथिव्योरिव ईश्वरप्रयत्नवशाद् = विभु-समर्थ-सोमेश्वरकृतिवशाद् घटादावपि उत्पत्त्यापत्तेः । ततश्च द्वावापृथिव्योरिव घटादेरपि कदापि पतनं न स्यात् । न चैवमिति न तत्कृतेः तादृशधृतिजनकत्वं सङ्गतिमङ्गतीत्याशयः स्याद्वादिनः ।

नैयायिकः शङ्कते- अदृष्टविशेषात् तत्र = द्वावापृथिव्योः एव धृतिः न अन्यत्र = घटादौ महेशकृतिवशात् समवायेन विलक्षणसंयोगलक्षणधृतेरुत्पत्तिः । अदृष्टस्य कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणत्वेन नातिरिक्तकार्य-कारणभावकल्पनापत्तिर्न वा घटादेः पतनानुपपत्तिप्रसङ्ग इति नैयायिकाशयः । स्याद्वादी समाधत्ते- तर्हीति । तत्कृतेदृष्टविशेषेण द्वावापृथिव्योरेव समवायेन विलक्षणसंयोगलक्षणधृतेरुत्पादकत्वकल्पनायां, अदृष्टविशेष एव तत्प्रतिबन्धकत्वेन = द्वावापृथिवीपतनप्रतिबन्धकविधया, आद्रियतां

पृथ्वीलोक की धृति (= पक्ष) किसीके प्रयत्न से जन्य है क्योंकि वह धृति है । जो जो धृति होती है वह सब प्रयत्नजन्य होती है । जैसे हमारे हाथ में रहा हुआ = धारित घट आदि पदार्थ जिस धृति से युक्त है, वे हमारे धारणानुकूल प्रयत्न से जन्य है । बुलोकादि की धृति भी धृतित्वविशिष्ट होने से किसीके प्रयत्न से जन्य होनी चाहिए । वह प्रयत्न जिसका है वह हम तो नहीं हो सकते । हमारा वह सामर्थ्य कहाँ कि सूर्य, चन्द्र आदि को हम धारण करें ? वह दिन कहाँ कि हमें ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो ? उसका श्रेय तो महादेवजी को ही देना चाहिए, जो अपने प्रयत्न से दिन-रात सूर्य-चन्द्र आदि को धारण कर रहे हैं । इस तरह ईश्वर की सिद्धि होती है" <- मगर नैयायिक महाशय ! अब पछताये होत क्या ? जब चिड़ियों चुग गईं खेत ! सूर्य, चन्द्र आदि में स्वभावविशेष ही ऐसा रहता है, जो उन्हें पतित नहीं होने देता । स्वभावविशेष से ही उनकी धृति जन्य है - यह हम स्याद्वादी अभी ही निवेदित कर चुके हैं । इस स्थिति में बुलोक आदि की धृति में प्रयत्नजन्यत्वस्वरूप साध्य की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? अतः धृतित्व हेतुत्व बाधित = बाधदोष से ग्रस्त होता है । अतः साध्यघटकीभूत कृति के आश्रयविधया शंकरजी की सिद्धि नहीं हो सकती । दूसरी बात यह है कि ईश्वर के प्रयत्न से जैसे बुलोक और पृथ्वीलोक में पतनप्रतिबन्धक विलक्षणसंयोगाख्य धृति उत्पन्न होती है ठीक वैसे ही घट आदि में भी तादृश धृति उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि ईश्वर तो आपके मत में विभु एवं सर्वशक्तिमान है । बुलोक आदि की भौति घटादि में भी ईश्वरीय प्रयत्न से धृति उत्पन्न होने की आपत्ति का इष्टापत्तिविधया स्वीकार नैयायिक की ओर से नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब बुलोकादि की भौति घटादि का भी पतन नहीं हो सकेगा । इसका कारण यह है कि धृति संयोगविशेषात्मक है जो पतनक्रिया में प्रतिबन्धक है । यहाँ यह नैयायिककथन कि -> "महेश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, मगर क्या करें ? जीवों का अदृष्ट = भाग्य = पुण्य-पाप ही ऐसा है कि ईश्वरीय प्रयत्न से विजातीयसंयोगात्मक धृति बुलोक आदि में ही उत्पन्न होती है, न कि घटादि में । अदृष्ट भी कार्यमात्र का साधारण कारण है । अतः महेश भी उसका अतिक्रमण कर के घटादि में स्वप्रयत्न से धृति को उत्पन्न नहीं करते । अतः घट आदि का कभी भी पतन नहीं होने की आपत्ति को अवकाश नहीं है" <-

॥ अदृष्टविशेष से ही बुलोकादिधृति की उपपत्ति ॥

तर्हि, इति । यह भी इसलिए नामुनासिब है कि बुलोकादि की धृति के प्रति ईश्वरीय कृति को कारण मानने पर भी जीवों के अदृष्टविशेष को कारण मानना नैयायिक महाशय के मतानुसार भी आवश्यक ही है, तो फिर अदृष्टविशेष को

कृत्वेनाऽऽद्रियतां किमतिरिक्तकृतिकल्पनया, किं वा धृतेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनया ?

अथ धृतेः पतनप्रतिबन्धकत्वमन्यत्र क्लृप्तं नाऽदृष्टस्य, धृतित्वावच्छिन्नं प्रति च कृतित्वेन हेतुत्वमवधृतमिति जगत्पतनप्रतिबन्धकधृतिजनकैककृतिसिद्धिरिति चेत् ? न, एवं

✽ नयलता ✽

नैयायिकेन, किं अतिरिक्तकृतिकल्पनया = अक्लृप्तनंदीश्वरप्रयत्नकल्पनया युतम् । किं = अलं वा धृतेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनया = द्वावापृथिव्योः पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनया । अयं समाधानाशयः समवायेन पतनक्रियां प्रति समवायेन धृतेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनं, समवायेन धृतिं प्रति विशेष्यतया कृतेः कारणत्वकल्पनं तत्राऽपि घटादी धृत्यनुत्पत्तयेऽदृष्टविशेषस्य कृतिसहकारिकारणत्वमित्यादिक्लिष्टकल्पनाऽपेक्षया वरमदृष्टविशेषस्यैव द्वावापृथिव्योः पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनं, लाघवात् । एतेन पतनाभाववच्छिन्नैश्वरप्रयत्नस्य धृतिजनकत्वमित्यपास्तम् तादृशज्ञानेच्छाभ्यां विनिगमनाविरहात्, क्लृप्तजातीयस्याऽदृष्टस्यैव ब्रह्माण्डधारकत्वकल्पनौचित्यात् । तदुक्तं योगशास्त्रे मूलकाररपि → निरालम्बा निराधारा विश्वाधारा वसुन्धरा । यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यत्र कारणम् ॥ (यो.शा.४/९८) इति । न चाऽऽत्माऽविभुत्ववादिनः सम्बन्धानुपपत्तिरिति वक्तव्यम्, असम्बद्धस्यापि तत्कार्यजननशक्तस्य तत्कार्यकारित्वात्, अयस्कान्तस्याऽसम्बद्धस्यापि लोहाऽऽकर्षकत्वदर्शनात् । अदृष्टविशेषस्यानभ्युपगमे तु जगदीशप्रयत्नस्य व्यापकत्वेन समरेऽपि शरपाताऽनापत्तेः । ततश्च लाघवादृष्टविशेषस्यैव ब्रह्माण्डादिपतनप्रतिबन्धकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । शिवेऽदृष्टानभ्युपगमाज्जीवात्मनामेव तादृशाऽदृष्टविशेषाश्रयत्वेन नोमापत्तिसिद्धिलेशगन्धलेशोऽपि ।

परः शङ्कते अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । धृतेः पतनप्रतिबन्धकत्वं अन्यत्र = घटादिपतने क्लृप्तं = प्रमाणसिद्धं, नादृष्टस्य । अरमदादिधृतौ सत्यां घटादेरपतनं तदसत्त्वे च तत्पतनमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां धृतेः पतनप्रतिबन्धकत्वं सिद्धम् । न चैवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामदृष्टस्य पतनप्रतिबन्धकत्वं सिद्धमिति नाऽदृष्टविशेषस्य द्वावापृथिव्योः पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनं युक्तम्, दृष्टहान्यदृष्टकल्पनादोषप्रसङ्गात् । धृतित्वावच्छिन्नं = समवायेन विलक्षणसंयोगलक्षणधृतिमात्रं, प्रति च कृतित्वेन हेतुत्वं = विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न-कृतित्वावच्छिन्नकारणत्वं अवधृतं = अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां निश्चितं इति नाऽतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवम् । एतत्कार्य-कारणभावबलादेव लाघवसहकृतात् जगत्पतनप्रतिबन्धकधृतिजनकैककृतिसिद्धिरिति तादृशानित्यैककृत्याश्रयविधया चन्द्रशेखरसिद्धिः गौरवपरिहारश्चेति नैयायिकाशयः ।

प्रकरणकृत्तमपाकुरुते - नेति । एवं सति = अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां धृतिमात्रं प्रति कृतेः हेतुत्वाऽङ्गीकारे सति,

ही ब्रह्माण्डादि के पतन का प्रतिबन्धक मानना उचित है, क्योंकि अदृष्टविशेष और ईश्वरीय कृति दोनों को ब्रह्माण्ड आदि की धृति का कारण मानना और धृति को ब्रह्माण्ड आदि के पतन में प्रतिबन्धक मानना- इस कुसृष्टि कल्पना की अपेक्षा मुनासिब तो यही है कि लाघव से अवश्यक्लृप्त अदृष्टविशेष को ही ब्रह्माण्ड आदि के पतन का प्रतिबन्धक माना जाय । अतिरिक्त अप्रामाणिक ईश्वरीय प्रयत्न की और धृति में पतनप्रतिबन्धकता की कल्पना करने का कष्ट क्यों अपने शिर पर ऊठाना ?

॥ ईश्वर को शरीरी मानने की आपाते ॥

अथ धृ. इति । यहाँ यह नैयायिक कथन कि → “धृति पतन की प्रतिबन्धक है, यह तो अन्यत्र घट, पट आदि की धृति में प्रसिद्ध एवं आवश्यक है । जब तक चैत्रादि घट आदि को धारण करता है, तब तक उनका पतन नहीं होता है । अतः पतनप्रतिबन्धकता धृति में घटादि के पतनाभाव के अनुरोध से सिद्ध है । इसीलिए जब चैत्रादि घट आदि को धारण नहीं करता है, तब उनका शीघ्र ही पतन होता है । अन्वय-व्यतिरेक से धृति में पतनप्रतिबन्धकता सिद्ध है । मगर अदृष्ट में अन्वय-व्यतिरेक से धृति में पतनप्रतिबन्धकता सिद्ध नहीं है । अदृष्ट होने पर घटादि का अपतन और अदृष्ट नहीं होने पर घटादि का पतन होता है, यह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध नहीं है । तब जीवों के अदृष्ट को ब्रह्माण्ड आदि के पतन का प्रतिबन्धक कैसे माना जा सकता है ? अतः धृति को ही ब्रह्माण्ड आदि के पतन का प्रतिबन्धक मानना मुनासिब है । एवं धृतिमात्र के प्रति कृति कारण है, यह भी अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है । इस तरह कृति में भी धृतिकारणता कल्पनीय नहीं है, अवश्यक्लृप्त है । इस परिस्थिति में हमारे मत में गौरव कहाँ ? प्रसिद्ध प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव और कार्य-कारणभाव ही लाघवसहकार से जगत् के पतन में प्रतिबन्धक धृति के जनक एक प्रयत्न को सिद्ध करता है, जिसका आश्रय होने का श्रेय ईश्वर को ही दिया जा सकता है । अतः ब्रह्माण्डपतनप्रतिबन्धक धृति के कर्ता के स्वरूप में महेश्वर का अंगीकार करना

सति शरीरस्याऽपि धृतित्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतावधारणात् तादृशशरीरस्याऽपि सिद्ध्यापत्तेः ।
अथ अस्तु परमाणूनामेवेश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावतां सर्वेषामेव वैश्वरशरीरत्वमिति चेत् ?

❀ मयलता ❀

शरीरस्यापि अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां समवायेन धृतित्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतावधारणात् महेश्वरे तादृशशरीरस्यापि = धृति-
निष्ठजन्यतानिरूपितजनकताविशिष्टशरीरस्यापि सिद्ध्यापत्तेः अन्यथा अर्धवैश्वरप्रसङ्गात् । एतेन विशेषान्वय-व्यतिरेकाभ्यां कर्तृ-
त्वेन कार्यसामान्ये एव हेतुत्वाद्वात् किन्वाशानकर्तृकत्वकल्पात् बाध इत्यपि प्रत्युक्तम्; शरीरचेष्टयोरप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां
कार्यसामान्यहेतुत्वात्तयोरपि नित्ययोगीश्वरे प्रसक्तेः ।

किञ्च प्रवृत्तिविशेषे चिकीर्षान्वय-व्यतिरेकाविव प्रवृत्तिविशेषे द्वेषान्वय-व्यतिरेकावपि दृष्टौ, दुःखद्वेषेण तत्साधनद्वेषे
तन्नाशानुकूलप्रवृत्तेः कण्टकादीं दर्शनात् । न च जिहासयैव द्वेषान्यथासिद्धिरिति वक्तव्यम्, तद्वेतोरस्तु किं तेन ? इति न्यायेन
द्वेषस्य तद्वेतुल्यौचित्यात्, अन्यथा द्वेषपदार्थ एव न स्यात्, 'द्वेषी'त्यनुभवे क्वचिदनिष्ठसाधनताज्ञानस्य क्वचिच्चाऽनिष्ठत्व-
ज्ञानस्यैव द्वेषपदेना तथाऽभिलाषात् । एवञ्च कार्यसामान्ये द्वेषस्याऽपि हेतुत्वसिद्धौ नित्यद्वेषोऽपि महेशे सिद्धयेत् । अथ 'द्वेषवतः
संसारित्वप्रसङ्ग' इति चेत् । चिकीर्षावतोऽपि किं न सः ? न च 'द्वेष-चिकीर्षयोस्तत्र समानविषयत्वे करणाऽकरणप्रसङ्गः,
भिन्नविषयत्वे च तत्कार्यं न कुर्यादयं, इति बाधकाद् द्वेषकल्पना त्यज्यते' इति वाच्यम्, एवमुत्तरकालोपस्थितबाधकेन तद्वा-
धोपगमे नित्यज्ञानादिकल्पनागौरवादिबाधकेन महेश्वरस्यापि त्यागप्रसङ्गात् ।

ननु प्रदर्शितरीत्या घटादेः कुलालादिचेष्टायाश्चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वसिद्धौ 'यद्विशेषयो'रित्यादिन्यायेन कार्यत्वावच्छिन्नं
प्रति चेष्टात्वेन हेतुत्वाऽऽवश्यकत्वात् द्वयणुकाद्युत्पत्तिपूर्वं चेष्टानुरोधेन महेशे नित्यशरीरमप्यभ्युपगम्यत एव, चेष्टाश्रयत्वस्यैव
शरीरत्वात् । न चेश्वरेऽतिरिक्तशरीरकल्पनागौरवम्, क्लृप्तपरमाणूनामेव तच्छरीरत्वाऽभ्युपगमात् । एवञ्चेश्वरकृतिजन्यचेष्टावद्भिः
परमाणुभिरेव तच्छरीरभूतैः तत्तत्कार्याणामुत्पत्तिः, परमाणुक्रियायां चेष्टात्वरूपवैजात्याऽङ्गीकारात्, शरीरलक्षणेऽन्त्याऽवयवि-
त्वाऽमिवेशाच्च न परमाणूनां शरीरत्वाऽनुपपत्तिरित्याशयवतामुद्यनानुयायिनां मत निराकर्तुमावेदयति - अथेति । 'चेदि'-
त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । अस्तु परमाणूनामेवेति । एवकारेणाऽतिरिक्तशरीरप्रतिषेधः कृतः । ईश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावतां = ईश्वर-
वृत्तिकृतिजन्यचेष्टाश्रयणाम् । ईश्वरसम्बन्धस्य सर्वेष्वेव परमाणुषु अविशेषेणैव सत्त्वात् 'इदमेवेश्वरशरीरमि'ति नियमाऽयो-
गात्कल्पनान्तरमाह- सर्वेषामेव वेति । 'परमाणूनामि'त्यत्रानुवर्तते । केचित्तु 'परमाणव एव प्रयत्नवदीश्वरात्मसंयोगाधीनचेष्टावन्त
ईश्वरस्य शरीराणी' ति वदन्ति । 'वायुपरमाणव एव नित्यक्रियावन्तस्तच्छरीराणि, अत एव तेषां सदागतिमत्त्वमि'त्यपरे ।

मुनासिब हे" <—

नबं, इति । भी इसलिए मान्य नहीं किया जा सकता कि जैसे अन्वय-व्यतिरेक से धृतिमात्र = धृतित्वावच्छिन्न =
यावत् धृति के प्रति प्रयत्न में कारणता सिद्ध है, ठीक वैसे ही शरीर में भी तत्कारणता प्रसिद्ध है । आत्मा विभु होने
पर भी यत्र तत्र धृति उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु संयोगादि से जहाँ शरीर होता है वही समवाय से विलक्षणसंयोगात्मक
धृति उत्पन्न होती है । चैत्रीय शरीर भूतल में होने पर पर्वतस्थ घट में धृति उत्पन्न नहीं होती है । चैत्रशरीरसंयुक्त घट
में ही धृति उत्पन्न होती है । घटादि के साथ शरीर साक्षात् सम्बद्ध हो या परम्परा से वह अलग बात है । इस तरह
धृतिमात्र के प्रति अन्वय-व्यतिरेक से शरीर में कारणता सिद्ध होने से ईश्वर में धृतिजनक कृति की भाँति शरीर की भी
कल्पना करनी होगी । ऐसा होने पर ईश्वर शरीरी हो जायेगा और लाघव सहकार से वह शरीर भी नित्य मानना होगा ।

❀ परमाणु ईश्वरशरीर नहीं हो सकते - व्याख्यादी ❀

अथ अ. इति । यहाँ नैयायिक का यह वक्तव्य कि —> "ईश्वर में नित्य कृति की भाँति नित्य शरीर का भी हम
अंगीकार करते ही हैं । नित्य परमाणुओं को छोड़ कर ईश्वर का अन्य शरीर क्या हो सकता है ? नित्य परमाणुओं को
ईश्वरशरीर मानने का कारण यह है कि ईश्वर के प्रयत्न के अनुसार ही नित्य परमाणुओं में चेष्टा उत्पन्न होती है । आत्मप्रयत्न
के अनुसार जिसमें चेष्टा उत्पन्न हो उसे ही शरीर कहते हैं । अतः नित्य परमाणुओं में शरीर का लक्षण भी मुमकिन होने
से शरीरलक्षणानुसार उन्हें ईश्वरशरीर मानने में कोई दोष नहीं है । ईश्वरीयप्रयत्नानुसार चेष्टा करने वाले परमाणुओं को या
सभी परमाणुओं को हम ईश्वरशरीर मानते हैं" <— भी इसलिए नामुनासिब है कि अनन्त परमाणुओं में ईश्वरीयशरीरत्व

न, अनेकेषु तेषु शरीरत्वकल्पनया महागौरवात्, क्लृप्तपरमाण्वादिषु एव शरीरत्वकल्प-
नयोपपत्तौ अतिरिक्तशरीराऽकल्पने जीवात्मस्वेव नित्यकृत्यादिकल्पनया निर्वाहेऽतिरिक्ते-
श्वराऽसिद्धेर्द्वजलेपायमानत्वाच्च ।

‘सर्गादौ’ व्यवहारप्रयोजकतया ईश्वरसिद्धिः, प्रतिसर्गमनन्तानां मत्वादीनां कल्पने

✽ अथ लता ✽

प्रकरणकृत् तन्मतमपास्यति- नेति । अनेकेषु = अनन्तेषु, तेषु = परमाणुषु, शरीरत्वकल्पनया = चेष्टाश्रयत्व-
कल्पनया, महागौरवात् लाघवेनाऽतिरिक्तमेकं शरीरमभ्युपगन्तव्यम् । अतोऽनन्तपरमाणूनामीश्वरशरीरत्वकल्पनमयुक्तमित्यर्थः ।

ननु परमाणूनामनन्तत्वेऽपि प्रमाणसिद्धत्वेन क्लृप्तत्वात् परमाणुत्वस्य च पृथिवीत्वादिना साङ्ख्येण जातित्वाऽयोगात्
चेष्टाश्रयत्वरूपं शरीरत्वमस्माभिः तत्रैवाऽभ्युपगम्यते । ‘धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी’तिन्यायात् नातिरिक्तशरीरकल्पा-
नम् । अतिरिक्तस्यैकस्येशशरीरस्य महत्त्वे पाषाणान्तर्वर्तिभेकशरीरोत्पादकत्वानुपपत्तिः, तस्य पाषाणप्रवेशाऽसम्भवात् । अणुत्वे
तु दूरस्थकार्योत्पादकत्वानुपपत्तिः, तस्य तदसम्बद्धत्वादिति नैयायिकाऽऽशङ्कायां प्रकरणकृदाह- क्लृप्तपरमाण्वादिविवेति । आ-
दिशब्देन गगनपरिग्रहः, ‘आकाशशरीरं ब्रह्म’ () इति श्रुतेः कैश्चित् ‘आकाशः शिवशरीरमि’त्यभ्युपगमात् । एवकारे-
णाऽतिरिक्तशरीरव्यवच्छेदः कृतः । शरीरत्वकल्पनया उपपत्तौ = द्रव्यणुकादिसमुत्पादसङ्गतौ सत्यां अतिरिक्तशरीराऽकल्पने
= महेशस्याऽतिरिक्तस्य शरीरस्य नैयायिकेन अकल्पने, तु लाघवात् जीवात्मस्वेव नित्यकृत्यादिकल्पनया ब्रह्माण्डादिप-
तनप्रतिबन्धकधृत्वादेः निर्वाहे = निर्वाहसम्भवे अतिरिक्तेश्वराऽसिद्धेः वज्रलेपायमानत्वाच्चेति । एकस्याऽऽत्मनः सर्वदाऽ-
नेकशरीरधारकत्वादशनेन महेश्वरस्या सर्वदाऽनन्तशरीरधारित्वकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च ।

किञ्च क्लृप्तपरमाण्वादिवैश्वरशरीरत्वकल्पने क्लृप्तघटादिस्वरूपेष्वेव संसर्गत्वकल्पनया समवायोऽपि स्वातन्त्र्येण परस्य
कथं सिद्धयेत् ?

ननुक्तश्रुतिबलेन गगनस्यैव तच्छरीरत्वमस्त्विति चेत् ? मैवम्, विबुधव्याणां परस्परसंयोगस्य त्वयाऽनुपगतत्वेन तस्य
तच्छरीरत्वाऽसम्भवात्, असंयुक्तस्य शरीरत्वेऽतिप्रसङ्गात् । न च स्वसंयुक्तसंयोगेनेश्वरस्य गगनसम्बद्धत्वान्नाऽयं दोष इति वाच्यम्
तथाप्यदृष्टाभावेन भगवतः शरीरपरिग्रहस्यैवाऽसम्भवात्, अन्यथा प्रदर्शितसम्बन्धस्य कालादिसाधारण्येन कालादेरपि तच्छरीरत्वे
विनिगमनाविरहात् । न च ‘आकाशशरीरं ब्रह्म’- इति श्रुतेरेव विनिगमकत्वमिति वाच्यम्, युक्तिविरहे तस्या अकिञ्चित्कर-
त्वात् । अस्तु वा तस्यां ग्रामाण्यं यथाकथञ्चित्थापि अन्याऽदृष्टेन गगनात्मकशरीरपरिग्रहे चैवाऽदृष्टाकृष्टं शरीरं मैत्रोऽपि परि-
गृहणीयात् । न च प्राण्यदृष्टेन घटाद्युत्पत्तिवत् भगवतः तत्परिग्रहोऽपि सम्भवेदिति वाच्यम्, घटादावतथात्वेऽपि तदीयशरीरे
तदीमाऽदृष्टत्वेनैव हेतुत्वात्, अन्यथा मुक्तात्मनामपि तत्परिग्रहप्रसङ्गः, अविशेषात् । महादेवस्य तादृशशरीरपरिग्रहे नित्यसुख-
दुःखादेरपि स्वीकाराप्रसङ्गात् । न च निरवयवशरीरत्वान्न नित्यसुखादेः प्रसङ्ग इति वाच्यम्, एवं सति नित्यज्ञानादेरपि तत्र
विलयप्रसङ्गात् । एतेनाऽदृष्टविरहेण न तत्र सुखाद्यापत्तिः, सुखादेः नित्यत्वे मानाभावादित्यपि प्रत्युक्तम्, इन्द्रियादिविरहेण
ज्ञानादेरप्यपलापप्रसङ्गात्, ज्ञानादेर्नित्यत्वे मानाभावादित्यस्यापि सुवचत्वात् । दृष्टेष्टातिलङ्घनेन स्वाधिष्ठातरि भोगाऽजनकशरीरप-
रिग्रहे किं तस्य वेदादिप्रणयनेन ? सृतं वा तत्र नित्यज्ञानादिनेति दिक् ।

परः प्रकारान्तरेणेश्वरसिद्धिमावेदयति - सर्गादाविति । सृष्टेः प्रारम्भे व्यवहारप्रयोजकतया = घटादिव्यवहारं प्रति प्रयो-

की कल्पना करने में महागौरव है । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि क्लृप्त परमाणुओं में ही शरीरत्व की कल्पना
करने से धृतिजनक कृति की उपपत्ति हो जाने से नैयायिक अतिरिक्त एक शरीर की कल्पना ईश्वर में नहीं करते हैं, क्योंकि
ऐसा मानने में लाघव है; मगर हम स्याद्धादी यह कहते हैं कि यदि लाघवसहकार से ही नैयायिक महाशय ईश्वर के अतिरिक्त
शरीर की, जो क्लृप्त = प्रमाणसिद्ध परमाणुओं से भिन्न हो, कल्पना नहीं करते हैं तब तो क्लृप्त = प्रमाण से उभयमत
में सिद्ध जीवात्माओं में ही नित्य प्रयत्न आदि की कल्पना करना नैयायिक के लिए मुनासिब है । जीवात्माओं में नित्य
प्रयत्न आदि की कल्पना करने से भी ब्रह्माण्डादिपतनप्रतिबन्धक धृति की उपपत्ति हो सकती है तब लाघव तर्क से ईश्वर
ही असिद्ध हो जायेगा, क्योंकि अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना करने में भी गौरव ही है । इस तरह नैयायिक ज्यों ज्यों ईश्वर
को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, त्यों त्यों ईश्वर की असिद्धि ही दृढ़ बनती है ।

गौरवादि'त्यपि मन्दम्, सर्गादिरेवाऽसिद्धेः ।

→ 'एतान्युपादानान्येतद्घटस्य'ति प्रत्यक्षं घटजनकमन्वेषणीयं, तच्चेश्वरं विना न इति ईश्वरसिद्धिरप्रत्युहा <- इति पुनरतिमन्दम्, एवं सत्यनीदृशस्य कुम्भकारोपादानप्रत्यक्षस्य

❀ नयलता ❀

जकतया ईश्वरसिद्धिः । न च मन्वादीनामेव सर्गारम्भे जायमानानां तत्तद्व्यवहारप्रवर्तकत्वमस्ति, अलं शशिधरकल्पनयेति वाच्यम्, प्रतिसर्ग अनन्तानां मन्वादीनां कल्पने गौरवात् । लाघवेनैकेश्वरस्य सर्गप्रथमव्यवहारप्रवर्तकतया सिद्धिरिति पराशयः ।

प्रकरणकार आह- इति वक्तव्यं मन्दम् । कुतः ? इत्याह- सर्गादिरेवासिद्धेरिति । सर्गस्य प्रारम्भस्यैवाऽसिद्धेः, इदानी-मिव सर्वदा पूर्व-पूर्वव्यवहारेणैवोत्तरोत्तरव्यवहारोपपत्तेः । एतेन मास्तु कार्यत्वं कृतेः कार्यतावच्छेदकं तथापि घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कृतेः कारणतया सर्गाद्यकालीनघटादिकं पक्षीकृत्यं सकर्तृकत्वसाधने जीवानां बाधादीश्वरसिद्धिरित्यपि प्रत्युक्तम्, पक्षस्य पक्षतावच्छेदकशून्यत्वेनाऽऽश्रयासिद्धेः । एतेन 'घटादिव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः व्यवहारत्वात्, आधुनिककल्पितलिप्यादि-व्यवहारवदि'त्यनुमानादीश्वरसिद्धिरित्यपि प्रत्युक्तम्, पूर्वपूर्वकुलालादिनैवाऽन्यथासिद्धेः । न च प्रलयेन तद्विच्छेदान्नैवमिति वाच्यम्, प्रलयानभ्युपगमात् । एतेन ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः नाशत्वात् पाट्यमानपरनाशवदित्यपि प्रत्युक्तम्, आश्रया-सिद्धेः । न च ब्रह्माण्डं नाशप्रतियोगि जन्यभावत्वात् घटवदित्यनुमानेनैव तन्नाशसिद्धिरिति वाच्यम्, अहोरात्रस्याऽहोरात्र-पूर्वकत्वव्याप्यत्वेन तदसिद्धेरिति विभावनीयम् ।

खण्डनार्थमत्र प्रकारान्तरेणेश्वरसिद्धिमावेदयति- 'एतानि उपादानानि एतद्घटस्य' इति प्रत्यक्षं घटजनकं अन्वेषणीयं कर्तुः विशेषत उपादानोपकरणाद्यभिज्ञत्वात् । तच्च = दर्शितोपादानप्रत्यक्षश्च, ईश्वरं विना न सम्भवति, तस्यैव कात्स्न्येनोपादानवेत्तत्वादिति तदाश्रयविधया ईश्वरसिद्धिरप्रत्युहेति । 'एतान्युपादानानि तद् घटस्यैतद्घटस्य वे'ति विशेषतोऽज्ञाने कर्तुरुपादानविशेषे प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति तदाश्रयविधया महेशसिद्धिरिति तदाशयः ।

प्रकरणकारः स्वाभिप्रायमाह- इति = एवंविधं वक्तव्यं, पुनः अतिमन्दं, कुतः ? इत्याह- एवं सति = विशेषत उपादेयोपादानप्रत्यक्षस्य कार्यजनकत्वाऽङ्गीकारे सति, अनीदृशस्य = दर्शितप्रकारभिन्नस्य, कुम्भकारोपादानप्रत्यक्षस्य =

❀ सर्गादि अप्रामाणिक - स्याद्वादी ❀

सर्गादौ. इति । प्राचीन नैयायिक का यह कथन है कि → "घट, पट आदि अर्थ में घट, पट आदि शब्दों के प्रयोगात्मक व्यवहार के प्रथम प्रवर्तकरूप में ईश्वर की सिद्धि होती है, क्योंकि सृष्टि होने के बाद आद्य व्यवहार का प्रवर्तक अन्य मनुष्य तो नहीं हो सकते । उन्हें तत् तत् पद की शक्ति का ज्ञान नहीं होने से वे कैसे सृष्टि के आद्य व्यवहार के प्रवर्तक हो सकते हैं ? यहाँ यह शंका हो कि - 'सभी सृष्टि में मनु आदि भिन्न भिन्न प्राज्ञ व्यक्तियों का जन्म होता है । अतः वे ही सृष्टि के प्रथम व्यवहार के प्रवर्तक हो सकते हैं । उसके लिए अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है' - यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न भिन्न अनन्त सृष्टि में मनु आदि अनन्त व्यक्तियों की कल्पना करने में गौरव है । इसकी अपेक्षा तो यही मुनासिब है कि सभी सृष्टि में एक मात्र ईश्वर को आद्य व्यवहार का प्रवर्तक माना जाय, क्योंकि ऐसा मानने में लाघव है" <-

मन्द. इति । मगर प्रकरणकार का यह कहना है कि उक्त रीति से ईश्वर की कल्पना उचित नहीं होती, क्योंकि सृष्टि का प्रारम्भ ही किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । किन्तु यही कल्पना उचित प्रतीत होती है कि जैसे इस समय के व्यवहार अपने पूर्व पूर्व व्यवहारों से ही संपन्न होते हैं ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण समय के व्यवहार अपने पूर्व व्यवहारों से ही सम्पन्न होते हैं । ऐसा मानने पर कोई आद्य व्यवहार सिद्ध नहीं होने से आद्यव्यवहार के प्रवर्तक की कल्पना की संभावना ही समाप्त हो जायेगी ।

एता. इति । ईश्वरवादी अन्य विद्वानों का यह अभिप्राय है कि → "उपादान का प्रत्यक्ष उपादेय का जनक होता है । मगर उपादान में प्रवृत्ति के लिए विशेषतः उपादान-उपादेयभाव का ज्ञान कारण होता है, अन्यथा उपादानकारणविशेष में उपादेयविशेष के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती । जैसे 'ये कपाल इस घट के उपादानकारण हैं' इत्याकारक प्रत्यक्ष घट का जनक होता है । मगर ऐसा प्रत्यक्ष ईश्वर के बिना अन्य किसीको नहीं हो सकता, क्योंकि तब घट अनुत्पन्न होने से 'इस घट के ये उपादान हैं' ऐसा प्रत्यक्ष प्राकृत जन को नहीं हो सकता । अतः घटजनक उपर्युक्त प्रत्यक्ष के आश्रयविधया

घटहेतुताऽनापत्तेः ।

किञ्चेश्वरस्य सर्वज्ञत्वेऽपि मानाभावः, उपादानप्रत्यक्षस्य कार्यमात्रं प्रति हेतुतया तज्ज्ञाने द्रव्यविषयकत्वमात्रस्यैव सिद्धेः । न च 'यः सर्वज्ञः स सर्वविदि'त्यादिश्रुतिरेव तस्य सर्व-

❀ जयलला ❀

कुलालसमवेतस्योपादानसाक्षात्कारस्य, घटहेतुताऽनापत्तेरिति । 'एतानि उपादानानि घटस्ये' तिप्रत्यक्षस्य कुलाले सम्भवेऽपि 'एतान्युपादानानि एतद्वदस्ये'त्येवम्विधस्य प्रत्यक्षस्य कुलालेऽसम्भवः अर्थसमाजग्रस्तस्यैतद्वदत्वस्य कार्योत्पादानन्तरमुपलब्धेः तत्पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात्, तदुत्तरं तज्ज्ञाने सत्यपि तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, कार्यस्योत्पन्नत्वात्तदानीमिति कुलालस्याऽपि घट-कर्तृत्वमुच्छिद्येतेति नैतन्मतस्य युक्तत्वमिति भावः ।

ईशमभ्युपगम्य महादेववादिमते दोषान्तरमाह- किञ्चेति । ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वेऽपि मानाभाव इति । कुतः ? इत्याह- उपादानप्रत्यक्षस्य कार्यमात्रं = केवलं कार्यं प्रति हेतुतया तज्ज्ञाने = ईश्वरीयप्रत्यक्षे, द्रव्यविषयकत्वमात्रस्यैव सिद्धेरिति । द्रव्यस्यैव कार्यमात्रं प्रति समवायिकाण्यत्वात् । उपादानमात्रज्ञानेऽपि द्रव्यविषयकत्वमात्रस्यैव सिद्धेः, कारणाभावात्, मानाभावाच्च । विधिविवेके मण्डनमिश्रेणाऽपि —> 'किमेते (= कुलालादयः) स्वकार्यस्य निरवशेषोपकरणवेदिनः ? कतिपयोपकरणवेदिनो वा ? न तावदशेषोपकरणवेदिनः ते, अदृष्टस्याऽपरिज्ञानात् । नाऽपि सम्प्रदानप्रयोजनविशेषवेदिनः, तस्याऽनेकस्यापि सम्भवात् तन्मात्रज्ञाने न सर्वज्ञतासिद्धिः । बालोन्मत्तादयश्च सर्वकार्याणां न प्रयोजनादिवेदिनः । साध्यं चेत् कर्तृत्वं, कथमनन्तमवित-सर्वज्ञत्वं हेतुमन्तरेण सेद्धुमर्हन्ति ?' <- (वि.वि.पृ.१५०) इत्युक्तम् । कुलालादिनिदर्शनेनेश्वरस्य तदुपकरणादिमात्रज्ञानं स्यात् । न च तन्मात्रज्ञाने सर्वज्ञतासिद्धिः, कतिपयज्ञो हि तथा सतीश्वरः स्यादिति भावः ।

श्रुतिप्रमाणस्य खण्डनार्थमाह- न चेति । 'मानमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । 'यः सर्वज्ञ' इति । सामान्यरूपेण सर्व-विषयकज्ञाननित्यर्थः । सामान्यरूपेण सर्वविषयकज्ञानवत्त्वं जीवानामपीत्यत आह- स सर्वविदिति । विशेषरूपेणाऽपि सर्व-विषयकज्ञानवानित्यर्थः । श्लोकश्चैवं मुण्डकोपनिषदि 'यः सर्वज्ञः स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं

ईश्वर की सिद्धि हो सकती है' <-

अतिमंदं. इति । प्रकरणकार श्रीमद्गी उपर्युक्त मन्तव्य को यह कह कर अत्यन्त तुच्छ बताते हैं कि ऐसा मानने पर तो कुलाल आदि भी घट आदि के कर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि कुलालादि का जो प्रत्यक्ष है वह 'ये कपाल घट का उपादानकारण हैं' इत्याकारक होता है, न कि 'ये कपाल इस घट का उपादानकारण हैं' इत्याकारक । अतः उक्त कार्य-कारणभाव को मान्यता देने पर तो कुलालादि भी घट आदि के कर्ता नहीं हो सकते, कुम्हारादि का प्रत्यक्ष भी घटादि का हेतु नहीं हो सकेगा । मगर कुलालादि घटादि के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध होने से उपर्युक्त जन्य-जनकभाव को मान्य नहीं किया जा सकता । इस तरह जब उपदर्शित कार्य-कारणभाव ही अप्रामाणिक- असिद्ध है, तब उस पर आधारित ईश्वरसिद्धि कैसे हो सकेगी ? न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसूरी !

❀ ईश्वर में सर्वज्ञता आलोच्य - स्याद्वादी ❀

किञ्चे. इति । यद्यपि विचार करने पर उपर्युक्त रीति से किसी भी प्रकार से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है, फिर भी यदि द्रव्यणुकादि के उपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर का अंगीकार अभ्युपगमवाद से किया जाय तो भी ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि उसे जगत्कर्ता मानने के लिए उपादानस्वरूप द्रव्य के प्रत्यक्ष का आश्रय मानना आवश्यक है, क्योंकि कार्य मात्र के प्रति द्रव्य ही उपादान कारण होता है । ईश्वर को द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष का अधिकरण मानने पर भी उसमें जगत्कर्तृत्व की उपपत्ति हो सकती है तब क्यों उसके प्रत्यक्ष को गुणादिविषयक भी माना जाय ? अनावश्यक कल्पना करने में केवल गौरव है, फायदा कुछ भी नहीं । इस परिस्थिति में ईश्वर द्रव्यज्ञाता हो सकेगा, न कि सर्वज्ञ । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> " ईश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि 'यः सर्वज्ञः स सर्वविद्' इत्यादि श्रुति से ही होती है" <- क्योंकि वेदवचन से प्रतिपाद्य पदार्थ की जब तक तर्क, अनुमान आदि से सिद्धि नहीं होती तब तक हजारों वेदवचन भी वाद में वस्तुसिद्धि के लिए असमर्थ हैं । युक्ति आदि का सहारा मिलने पर ही श्रुति = वेदवचन को स्वीकृति दी जाती है, अन्यथा सभी वादी अपने अपने आगमों के अनुसार अपने मन-पसंद पदार्थ की सिद्धि करने में समर्थ हो जायेंगे । तब तो भारी गरब हो जायेगी ।

ज्ञात्वे मानम्; युक्तिविरहे श्रुतिसहस्रस्याऽप्यकिञ्चित्करत्वात् । न चेन्द्रियादिजन्यताऽभावेन तज्ज्ञाने नियतविषयताऽभावे सिद्धे तस्य सर्वज्ञत्वं सेत्स्यतीति ताव्यम्, इन्द्रियादि-जन्यताऽभावेऽपि लाघवादेना तत्र नियतविषयताया एव सिद्धेः । यादृच्छिकनियमकल्प-नाया अप्रयोजकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

च जायते ॥ (मु.उप.१/९) । आदिपदेन 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडन्तरङ्गाणि महेश्वरस्य' ॥ () इत्यादेः परिग्रहः । तस्य = ईश्वरपदप्रतिपादस्य, सर्वज्ञत्वे मानमिति । अत्र प्रकरणकृत् प्रतिविधत्ते- युक्तिविरहे श्रुतिसहस्रस्याऽपि अकिञ्चित्करत्वात् । युक्तिमसहमानायाः श्रुतेरग्रामाणिकत्वादिति न तत्सर्ववैतृत्वसिद्धिरित्यर्थः । एतेन 'त्वमेव सर्वज्ञः' (त्रि.वि.म.उप.१/१) इति त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्वचनं, 'सर्वविद्यः सर्वज्ञः' (ना.परि.९/२०) इति नारदपरिव्राजकोपनिषद्वचनं, 'सर्वविद् य' (श्वे.उप.६/१६) इति श्वेताश्वत-रोपनिषद्वचनं च निरस्तम् ।

न चेति । अस्य 'वान्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । इन्द्रियादिजन्यताऽभावेन = इन्द्रियादिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताया विरहेण, तज्ज्ञाने = महादेवसाक्षात्कारे नियतविषयताऽभावे = प्रतिनियतगोचरत्वविरहे सिद्धे, तज्ज्ञानस्य सर्वविषयकत्व-सिद्ध्या तस्य = महादेवस्य सर्वज्ञत्वं सेत्स्यतीति । यदि हि तज्ज्ञानमिन्द्रियादिजन्यं स्यात्, तर्हि महत्त्वशून्यातीन्द्रियपदार्थ-विषयं न स्यात् । न चैवमस्ति । तज्ज्ञानस्येन्द्रियाद्यजन्यत्वात् । तदुक्तं नारदपरिव्राजकोपनिषदि —> 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति विश्वं न हि तस्याऽस्ति वेत्ता, तमाहुः पुरुषं महान्तम् ॥ (९/१६) । प्रयोगस्त्वेवं महेश्वरज्ञानं सर्वगोचरं, इन्द्रियाद्यजन्यत्वात्, व्यतिरेके अस्मदादिघटप्रत्यक्षमुदाहरणमिति पराकृतम् ।

प्रकरणकारः तन्निराकरणायाऽऽह- इन्द्रियादिजन्यताऽभावेऽपि = इन्द्रियादिनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यत्वाऽभावेऽपि, लाघवादिना आदिपदेन हेत्वभाव-प्रमाणाभावादिग्रहः, तत्र = ईश्वरज्ञाने नियतविषयतायाः = उपादानमात्रनिष्ठविषयता-निरूपितविषयितायाः एव सिद्धेः । तत एव घटादिकार्यकर्तृत्वोपपत्तेः । तदुक्तं धर्मकीर्तिनाऽपि प्रमाणवार्तिके 'सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥ (प्र.वा.१/३३) इति । एतेन महेशज्ञानं सर्वविषयकं इन्द्रियाद्यजन्यत्वादिति प्रत्युक्तम्, यादृच्छिकनियमकल्पनायाः = यथाकथञ्चिद्व्याप्तिकल्पनायाः अप्रयोजकत्वात् = विपक्षबाधकर्तृकशून्यत्वात् । एतेन जगद्वैचित्र्याऽन्यथानुपपत्त्या तस्य सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्यपि प्रत्युक्तम्, तत्सर्वज्ञं विनाऽपि जगद्वैचि-त्र्यस्य शुभाशुभकर्मपरिपाकवशेनोपपद्यमानत्वात् । तस्य सर्वज्ञत्वे तु विसंवादि-विगीतवेदादिप्रणेतृत्वं न स्यात् ।

किञ्च महेशज्ञानस्य सर्वविषयकत्वे विषयतासम्बन्धेन तत् गुणादावपि स्यात् । अतः तत्र घटादेरुत्पत्तिवारणाय समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य कारणताऽपि स्वीकर्तव्या स्यात् । तस्य द्रव्यमात्रविषयकत्वे तु नोपदर्शितपृथक्कारणता-कल्पनाया आवश्यकत्वम्, तज्ज्ञानस्य विषयतासम्बन्धेन द्रव्यमात्रवृत्तित्वेनैवाऽनतिप्रसङ्गादित्याशयेन प्रकरणकृदाह- तज्ज्ञानस्य

न चे. इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "यदि ईश्वर का ज्ञान इन्द्रिय आदि से जन्य होता तब तो उसमें नियत विषयता होती जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान में अतीन्द्रियगोचरता नहीं होती । अगर ईश्वर का ज्ञान तो नित्य है, इन्द्रियादि से अजन्य है, तब उसके ज्ञान में नियत विषयता कैसे होगी ? अतः इन्द्रियादि से अनियम्य विषयताशाली ईश्वरप्रत्यक्ष सर्वविषयक ही मानना होगा, जिसके फल में ईश्वर सर्वज्ञ बन जायेगा" <— तो यह भी नागुनासिब है, क्योंकि ईश्वरज्ञान इन्द्रियादि से अजन्य होने पर भी उसमें लाघव से नियत विषयता = द्रव्यमात्रविषयकत्व ही मानना उचित है, गुणादि-विषयकता की जगदीशप्रत्यक्ष में कल्पना करने में गौरव है । इन्द्रियादि से जन्यता में सर्वविषयकत्व की व्याप्ति की मनमानी कल्पना में कोई प्रयोजक तर्क नहीं है । ईश्वरज्ञान इन्द्रियादि से अजन्य होने पर भी सर्वविषयक न हो तो क्या दोष है ? इस समस्या का समाधान नैयायिक की ओर से नहीं बताया जा सकता । इसलिए इन्द्रियादिजन्यत्वविरह हेतु से ईश्वरीय ज्ञान में सर्वविषयकता की सिद्धि हो सकती नहीं है ।

❀ ईश्वरज्ञान को गुणादिविषयक न मानने में लाघव ❀

तज्ज्ञानस्य. इति । यहाँ यह शंका करना कि —> "ईश्वरज्ञान को सर्वविषयक न मान कर केवल द्रव्यविषयक मानने

तज्ज्ञानस्य गुणाद्यविषयकत्वे लाघवं द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन पृथक्कारणत्वाऽकल्पनात् ।
'गुणादावुपादानप्रत्यक्षविरहेणैव जन्यसदनुत्पत्ते'रित्याद्येके । तच्चित्तराम, तथापि कुला-
लाद्युपादानप्रत्यक्षस्य गुणादौ सत्त्वेन द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन कार्य-कारणभावस्याऽऽवश्यक-

❀ जयलता ❀

= जगन्नाथसाक्षात्कारस्य गुणाद्यविषयकत्वे अभ्युपगम्यमाने सति लाघवं, कुतः ? इत्याह- द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन = जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्येन पृथक्कारणत्वाऽकल्पनादिति । तज्ज्ञानस्य द्रव्यमात्रविषयकत्वे विषयतासम्बन्धेन गुणाद्यवृत्तिवैजात्येन गुणादौ समवायेन जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नोत्पादवारणाय समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नकार्यता-
निरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतायां द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वाऽकल्पनेन लाघवात्, समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति विषयतया ज्ञानस्य कारणत्वमित्यवश्यकलुप्तकार्य-कारणभावेनैव तद्वारणसम्भवादिति । एतेन ईश्वरज्ञानीयविषयतायां सङ्कोचे मानाभाव इत्यपि प्रत्युक्तम्, लाघवेनैव तत्सिद्धेः, तस्य सर्वविषयकत्वे प्रयोजनाऽभावाच्च ।

अत्रैवकेषां मतमाह- गुणादौ विषयतासम्बन्धेन उपादानप्रत्यक्षविरहेण एव तत्र समवायेन जन्यसदनुत्पत्तेः = जन्यसदुत्पादापादानाऽसम्भवात् । समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति विषयतया प्रत्यक्षस्य न कारणत्वं किन्तु उपादानप्रत्यक्षस्यैव । तच्च गुणादौ नास्ति, गुणादौ कस्यचिदुपादानत्वाऽभावात् । सामग्रीवैकल्यादेव न तत्र जन्यसदुत्पादप्रसङ्गः । अतः शम्भुप्रत्यक्षस्य सर्वविषयकत्वेऽपि न जन्यसन्मात्रं प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य पृथक्कारणत्वकल्पनाया आवश्यकत्वमितीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं बाधकाभावेनैव सेत्स्यतीति पराशर्यः ।

अत्र स्वकीयाऽस्वरसप्रदर्शनार्थं प्रकरणकृदाह- तच्चिन्त्यमिति । चिन्ताबीजमेव प्रदर्शयति- तथापीति । गुणादौ विषय-
तया ईश्वरीयस्योपादानप्रत्यक्षस्याऽसत्त्वेऽपीत्यर्थः । ततः किं ? इत्याह- कुलालाद्युपादानप्रत्यक्षस्य = 'इदं नीलं कपालं
घटोपादानमि'त्याद्याकारकस्य यद्वा 'इदं कपालं कपालनीलरूपस्योपादानमि'त्याद्याकारकस्य कुलालादिसमवेतस्योपादानगोचर-
साक्षात्कारस्य, विषयतासम्बन्धेन गुणादौ = कपालनीलरूपादौ, सत्त्वेन तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकीभूतेन द्रव्यत्वेन
समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतावच्छेदकीभूतेन जन्यसत्त्वेन = जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्येन कार्य-कारणभावस्य = हेतु-हेतुमद्भावस्य
गुणादौ समवायेन जन्यसदुत्पादनिवारणकृते आवश्यकत्वात् = अवश्यमङ्गीकार्यत्वात् परेण । इत्यञ्च तत्प्रत्यक्षस्य सर्वविषयकत्वे

में लाघव क्या है ? जिसकी वजह आप उसे गुणादिविषयक मानने में हिचकिचाहट करते हैं ?' <— ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वरज्ञान को गुणादिविषयक भी मानने पर विषयतासम्बन्ध से वह गुणादि में भी रहेगा । ऐसा होने पर गुणादि में भी समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् के प्रति विषयता सम्बन्ध से ज्ञान कारण होता है । इस आपत्ति का निवारण करने के लिए समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य को कारण मानना होगा । गुणादि द्रव्यात्मक नहीं होने से वहाँ समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् की उत्पत्ति नहीं होगी । इस तरह ईश्वरज्ञान को सर्वविषयक मानने पर जन्य सत् के प्रति द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना करनी होगी । जब कि ईश्वरज्ञान को द्रव्यमात्रविषयक मानने पर जन्य सत् पदार्थ के प्रति द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना अनावश्यक बनती है, क्योंकि ईश्वरप्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से केवल द्रव्य में ही रहता है, जहाँ सभी जन्य सत् = द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं । अतः गुणादि में जन्य सत्तावान् पदार्थ की उत्पत्ति होने की कोई संभावना ही नहीं है, जिसके निवारणार्थ जन्यसत्त्व और द्रव्यत्व से स्वतंत्र कार्य-कारणभाव की कल्पना आवश्यक हो । अतः इस लाघव से भी ईश्वरज्ञान को उपादान-द्रव्यमात्रविषयक मानना ही उचित है । इस परिस्थिति में ईश्वर सर्वज्ञ कैसे हो सकेगा ?

गुणादा. इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि —> "समवाय सम्बन्ध से जन्य सत्तावान् के प्रति विषयता सम्बन्ध से केवल प्रत्यक्ष कारण नहीं है, किन्तु उपादान प्रत्यक्ष ही कारण है । गुणादि तो किसीका भी उपादान कारण नहीं है, क्योंकि केवल द्रव्य ही उपादान कारण होता है । अतः गुणादि में विषयतासंबंध से उपादानप्रत्यक्ष रहता ही नहीं है, तब उसमें जन्य भाव की उत्पत्ति के निवारणार्थ द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? अतः ईश्वरप्रत्यक्ष को सर्वविषयक मानने पर भी जन्यभाव और द्रव्य के बीच पृथक् कार्य-कारणभाव की कल्पना अनावश्यक है । उपादानप्रत्यक्ष तो विषयतासम्बन्ध से केवल-द्रव्य में ही रहता है" <— मगर यह अपुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि ईश्वरीय प्रत्यक्ष को सर्वविषयक मान कर समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति विषयता सम्बन्ध से उपादानप्रत्यक्ष को कारण मानने पर भी कुलालादि का

त्वात् । द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतया प्रत्यक्षत्वेन हेतुतयैवाऽनतिप्रसङ्गे तु तज्ज्ञानस्य गुणादि-(१८)विषयकतायामप्येतल्लाघवाऽप्रच्यवात् । अधिकमन्यत्र बोध्यम् ।

❀ जयलता ❀

प्रदर्शितपृथक्कारणत्वकल्पनागौरवस्य वज्रलेपायितत्वाल्लाघवेन तस्य द्रव्यमात्रविषयकत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यमिति न महेशस्य सर्वज्ञत्वं सिद्धिसौधमध्यास्त इति प्रकरणकृदभिसन्धिः ।

ननु महेशस्य सर्वज्ञत्वेऽपि न द्रव्यत्व-जन्यसन्मात्रवैजात्याभ्यां पृथक्कारणताकल्पनायाः आवश्यकत्वम्, समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन उपादानप्रत्यक्षस्य कारणत्वाऽङ्गीकारेणैव गुणादौ समवायेन जन्यसदुत्पादा-पत्त्योगात्, द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयताप्रत्यासत्त्या उपादानप्रत्यक्षस्य गुणाद्यवृत्तित्वादिति । न च महेशप्रत्यक्षे लौकिकविषयिता-विरहात् कथमुक्तकार्य-कारणभावसम्भव इति वाच्यम्, भगवत्साक्षात्कारसाधारण-साक्षात्कारत्वावच्छिन्नविषयताऽतिरिक्तलौकिक-विषयतायां मानाभावादिति नैयायिकाणां प्रकृतप्रवृत्ताह- द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतयेति । अनेन कारणतावच्छेदकसम्बन्धप्रदर्शनं कृतम् । प्रत्यक्षत्वेनेति । अनेन कारणतावच्छेदकधर्मो दर्शितः । हेतुतयैव = कारणताभ्युपगमेनैव, अन्तिप्रसङ्गे = गुणादौ जन्यसदुत्पादप्रसङ्गनिरासे नैयायिकेन कर्तव्ये तु तज्ज्ञानस्य = शिवप्रत्यक्षस्य गुणाद्यविषयकतायां अभ्युपगम्यमानायां अपि एतल्लाघवाऽप्रच्यवात् = द्रव्यत्व-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्याभ्यां पृथक्कारणत्वाऽकल्पनस्वरूपलाघवस्य सत्त्वात्, प्रत्युत कारणता-वच्छेदकसम्बन्धशरीरे द्रव्यनिष्ठत्वाऽनिवेशेनाऽधिकलाघवम् । वस्तुतस्तु इन्द्रियसन्निकर्ष-दोषविशेषादिनियम्यलौकिकविषयता-निरूपितविषयिताऽपि भवननाधज्ञाने नैव सम्भवतीति ध्येयम् । अधिकं अन्यत्र = स्याद्वादकल्पलताऽष्टसहस्रीतात्पर्य-विवरणादौ बोध्यमिति ।

प्राश्नस्तु महेश्वरस्याऽखिलजगत्कर्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने शास्त्राणां प्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः स्यात् । तथाहि सर्वं शास्त्रं प्रमाणं ईश्वरप्रणीतत्वात्, इतरतत्प्रणीतशास्त्रवत् । प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च सर्वेषामेवेश्वरादेशविधायित्वेन तत्प्रतिलोमाचरणानु-पपत्तेरिति प्राहुः । प्रमाणयन्ति च ईश्वरो जगत्कर्ता न भवति निरूपकरणत्वात्, दण्ड-चक्र-चीवराद्युपकरणरहितकुलालवत् । १। अत्रैव पक्षे व्यापित्वात्, व्योमवत् । २। एकत्वात् तद्वत् । ३। अशरीरत्वात् मुक्तात्मवत् । ४। ईश्वरो जगन्निमित्तं न भवति निष्क्रियत्वात् खवत् । ५। इति । तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये —> उपगणनाभावाऽन्ये निचेष्टाऽमुत्तयाऽन्ये वा वि । ईश्वरदेहारंभे वि तुल्यया वाऽणवत्था वा ॥ <— (वि.भा. १६/४२) इति । जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहानसुरादींस्तदधि-क्षेपकृतोऽस्मदादींश्च सृजतः तस्य नित्यैकसकलगोचरप्रत्यक्षाश्रयत्वमपि कथं सङ्गच्छते । न च सन्निवेशविशिष्टत्वादिहेतोः तत्कर्तारि नित्यैकसकलगोचरविज्ञानसिद्धिरिति वाच्यम्, सौधवल्मीकादौ व्यभिचारात् । तदुक्तं तत्त्वसङ्ग्रहे शान्तरक्षितेन —>

सन्निवेशविशिष्टत्वं यादृग्देवकुलादिषु । कर्तव्यनुपलब्धेऽपि यददृष्टौ बुद्धिमद्गतिः ॥

तादृगेव यदीक्ष्येत तन्वगादिषु धर्मिषु । युक्तं तत्साधनादस्माद् यथाऽभीष्टस्य साधनम् ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्कार्यं यस्य निश्चितम् । निश्चयस्तस्य तददृष्टाविति न्यायो व्यवस्थितः ॥

उपादानप्रत्यक्ष विषयता सम्बन्ध से गुणादि में भी रह सकता है, क्योंकि 'यह कपाल कपालनीलरूप का उपादान कारण है', 'यह नीलकपाल नील घट का कारण है' इत्याद्याकारक कुलालादिनिष्ठ उपादानप्रत्यक्ष में गुण भी विषय होने से वह विषयता सम्बन्ध से कपालनीलरूप आदि गुण में भी रहेगा । अतः गुणादि में जन्य भाव की उत्पत्ति के निवारणार्थ समवाय से जन्य भाव के प्रति तादात्म्य से द्रव्य को कारण मानने की आवश्यकता होगी । फलतः द्रव्यत्व से पृथक् कारणता की कल्पना का गौरव होगा । इस गौरव के निवारणार्थ ईश्वरप्रत्यक्ष को द्रव्यमात्रविषयक मानना ही मुनासिब है ।

द्रव्यनिष्ठ. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "ईश्वरप्रत्यक्ष को सर्वविषयक मानने पर भी गुणादि में जन्य भाव की उत्पत्ति के निवारणार्थ जन्य भाव और द्रव्य के बीच स्वतन्त्र कार्य-कारणभाव की कल्पना का गौरव नहीं है, क्योंकि हम समवाय सम्बन्ध से जन्यभावात्मक कार्य के प्रति द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष को कारण मानते हैं । उपदर्शित रीति से कुलालादि का प्रत्यक्ष गुणादि में विषयता सम्बन्ध से रहता है, किन्तु द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से वह गुणादि में नहीं रहता है, क्योंकि द्रव्यनिष्ठ लौकिकविषयता गुणादि का व्यधिकरण सम्बन्ध है । लौकिक विषयता का द्रव्यनिष्ठत्वविशेषण लगाने से वह प्रत्यक्ष इस सम्बन्ध से केवल द्रव्य में ही रहेगा । अतः ईश्वर को सर्वविषयक प्रत्यक्ष का आश्रय मानने पर भी द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता को कारणतावच्छेदकसम्बन्ध मानने से ही गुणादि में जन्य भाव की उत्पत्ति

‘यथे’त्यस्योत्तरवाक्योपात्तत्वेन ‘तथे’त्यस्य शा(?श)ब्दस्य नाऽपेक्षा, ‘साधु चन्द्रमसि

❀ जयलता ❀

सन्निवेशविशेषस्तु नैवामीषु तथाविधः । तनुतर्वादिभेदेषु शब्द एव तु केवलः ॥

तादृशः प्रोच्यमानस्तु सन्दिग्धव्यतिरेकताम् । आसादयति वल्मीके कुम्भकारकृतादिषु ॥ (त.सं.६१/६५)

नित्यैकबुद्धिपूर्वत्वसाधने साध्यशून्यता । व्यभिचारश्च सौधादेर्बहुभिः करणक्षणात् ॥ (त.सं.८१)

तथाहि सौधसोपानगोपुराट्टालकादयः । अनेकाऽनित्यविज्ञानपूर्वकत्वेन निश्चिताः ॥

अत एवायमिष्टस्य विधातकृदपीष्यते । अनेकाऽनित्यविज्ञानपूर्वकत्वप्रसाधनात् ॥ (त.सं.१३/१४) इत्यादि ।

मीमांसकास्तु ईश्वरानङ्गीकर्तारोऽपीश्वरानङ्गीकर्तृवत् स्वस्वग्रन्थादौ मङ्गलमातेनिरे तच्चातिचित्रम् । तथाहि कुमारिलभट्टः श्लोकवार्तिके → विशुद्धज्ञानदेहाय, त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे । श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्थधारिणे ॥ ← (श्लो.वा.१) इति लिखितवान् । पार्थसारथिमिश्रोऽपि न्यायरत्नमालादौ → ‘आनन्दममृतं ज्ञानमजं साक्षिणमीश्वरम् । ब्रह्म सर्वमसर्वञ्च वन्दे देवं हरिं प्रभुम् ॥ ← इत्युक्तवान् । भट्टशङ्करोऽपि मीमांसासारसङ्ग्रहे → ‘नत्वा गणेशवाग्रामगुर्वङ्ग्रीन् भट्टशङ्करः’ ← इति गदितवान् । वाचस्पतिमिश्रोऽपि न्यायकणिकारम्भे → ‘परामृष्टः क्लेशैः कथमपि न यो जातु भगवान् । ← इति कथितवान् । लीलाक्षिभास्करोऽपि अर्थसङ्ग्रहप्रारम्भे → ‘वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा’ ← इति प्रणीतवान् । श्रीकृष्णयज्वा अपि मीमांसापरिभाषायां ‘सूर्यनारायणं वन्दे देवीं त्रिपुरसुन्दरीमित्याख्यातवान् । मीमांसान्यायप्रकाशे आपदेवोऽपि → ‘वन्दे गोविन्दं भक्तवत्सलमि’त्युचिवानिति कति ब्रूमः ।

वस्तुतस्तु भगवत उपास्यत्वे न जगत्कर्तृत्वं तन्न किन्तु रागद्वेषाऽज्ञानाद्यकलङ्किताऽऽत्मविशुद्धिरेव । न हि वयमीश्वरं निराकुर्मः, किन्तु तत्र यत्परैः जगत्कर्तृत्वकलङ्कभाषादितं तदेवेति नाऽस्माकं नास्तिकत्वकलङ्कदूषितत्वम् । एतेन स्याद्वादिनस्तु नास्तिकाः ईश्वराऽनभ्युपगन्तृत्वादिति प्रत्युक्तम्, प्रत्युत परेषामेव महामोहविलसितत्वं यदीश्वरे संसारित्वनिबन्धनं कर्तृत्वमारोप्यते । तदुक्तं पारमात्मिकोपनिषद्वृत्तावपि → ‘कर्तृत्वं नाम यत्तस्य स्वातन्त्र्यं परिवृंहितम् । ← (पा.उप.२ वृ.) इति दिक् ।

अहो महान् प्रमादोऽयमीशे कर्तृत्वकल्पना । कर्मादितोऽन्यथासिद्धेर्जातृत्वमेव सम्मतम् ॥१॥

तनु यथाशब्दस्य तथाशब्दसापेक्षत्वात् मूलकारिकायां यथाशब्दग्रहणे तथाशब्दग्रहस्याऽप्यावश्यकत्वात्, अन्यथा न्यूनता-प्रसङ्गादित्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह - ‘यथे’त्यस्य शब्दस्य उत्तरवाक्योपात्तत्वेन ‘तथे’त्यस्य शब्दस्य नाऽपेक्षेति । यदि हि पूर्ववाक्ये कारिकायां यथाशब्दस्योपादानं स्यात्, स्यादेव तर्हि तस्य तथाशब्दसापेक्षता । न चैवमस्तीति न तस्य तथाशब्द-सापेक्षतेति न न्यूनतादोषः । ‘सापेक्षपदस्य पूर्ववाक्योपादानत्वं न तत्र तन्त्रमि’त्याशङ्कायां काव्यप्रकाशसंवादमाह - साध्विति ।

के अनिष्ट प्रसंग का निवारण हो सकता है” ← तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वरप्रत्यक्ष को गुणादिविषयक न मानने पर भी द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना नहीं करने का लाघव तो रहता ही है । ईश्वरप्रत्यक्ष को केवल द्रव्यविषयक मान कर भी पृथक् कारणता की कल्पना अनावश्यक बनती है, तब क्यों उसे सर्वविषयक मानने का व्यर्थ कष्ट उठाये ? प्रत्युत ईश्वरप्रत्यक्ष को केवल द्रव्यविषयक मानने पर कारणताअवच्छेदकसम्बन्ध के शरीर में द्रव्यनिष्ठत्व विशेषण के निवेश का भी गौरव नहीं होगा । अतः लाघव सहकार से यह फलित होता है कि ईश्वरीय प्रत्यक्ष केवल द्रव्यविषयक ही है, न कि सर्वविषयक । इस पक्ष में समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति लौकिक विषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष कारण है, इत्याकारक लघु एक कार्य-कारणभाव का सामान्यरूप से स्वीकार किया जाता है । अतः तादृश द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष के अधिकरण ईश्वर में सर्वज्ञता की कैसे सिद्धि होगी ? ईश्वर सर्वज्ञ नहीं होने से तत्प्रणीत वेदादि में प्रामाण्य का निश्चय भी कैसे हो सकेगा ? फलतः वेदादि में भी प्रामाण्य प्रमाण से सिद्ध नहीं होगा । अतः मूलकार श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने कारिका में जो कहा है कि - है भगवंत ! आपने जिस तरह पदार्थ का निरूपण किया है, वैसा मानने पर तनिक भी दोष नहीं है, वह यथार्थ ही है - यह ध्वनित होता है ।

यथे. इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि → “यथाशब्द तथाशब्द की अपेक्षा रखता है, जैसे यत् शब्द तत् शब्द की अपेक्षा रखता है ठीक वैसे ही । मूलकार ने कारिका में ‘यथात्थ भगवन्’ ऐसा कहकर यथा शब्द का ग्रहण किया है । अतः तथाशब्द का भी ग्रहण करना आवश्यक है । मगर तथाशब्द का ग्रहण नहीं किया है । अतः न्यूनता दोष प्रसक्त होता है” ← परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ यथा, यत् आदि शब्द का पूर्व वाक्य में ग्रहण किया जाता है, वहाँ

पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' (काव्यप्रकाश ७/१८८) इत्यादौ तथादर्शनात् ।

ननु सर्वमिदं सर्वज्ञसिद्धावेव शोभते, तत्रैव च किं मानं ? इति चेत् ?

❀ जयलता ❀

तथादर्शनादिति । यत्तदोः नित्यसापेक्षत्वेऽपि प्रकृते यत्पदस्योत्तरवाक्योपात्तत्वेन न तच्छब्दस्याऽपेक्षेतिदर्शनादिति । तद्वदेवाऽत्रापि बोध्यम् । तदुक्तं प्रकरणकृतैव न्यायसिद्धान्तमञ्जरीशब्दखण्डटीकायां —> 'तच्छब्दजन्यबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्ने यत्पदशक्तिः, उत्तरवाक्यस्थयत्पदेनाऽपि तत्पदाक्षेपात्, अनाक्षेपे तत्र पृथक्शक्तिः । एवं यच्छब्दजन्यबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्ने तत्पदशक्तिः प्रक्रान्ताद्यर्थकतत्पदेनापि यत्पदाक्षेपात् अनाक्षेपे तत्रापि पृथक्शक्तिः । अत एव मिश्रैरवान्तरवाक्योद्देश्यविषये तत्पदमित्युक्तम् । अत्रानाक्षेपपक्ष एव युक्तः 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' इत्यादौ प्रथमपादजन्यबोधादेव यत्पदेनोद्देश्यबोधेऽनुपदमाह वाक्यार्थबोधात् । आक्षेपे तु पुनस्तत्पदयोगेन प्रथमपादजन्यबोधकल्पने गौरवात्' <— (न्या.सि. मं.टी. पृ.२७) इति । अत्र कृतमितिपदोपस्थाप्यव्यापारस्य मीलितपदोपस्थाप्ये मीलनेऽभेदसम्बन्धेनान्वयो भवति । 'मीलनाऽभिन्नव्यापारकतृणि पुष्कराणी'त्यन्वयबोधः । स्वापेक्षयाऽभिरामताधिके चन्द्रमसि उदयं प्राप्ते सति पुष्करैः = कमलैः यद् मीलितं तत् साधु कृतमि'त्युदाहरणार्थः । गदाधरस्तु शक्तिवादे —> तच्छब्दजन्यप्रतिपत्तिपूर्वमपि तत्प्रतिपाद्यतया वक्तुरभिसन्धिः प्रकरणादिना सुग्रह इति न तच्छब्दजन्यप्रतीतिः यत्पदशक्तिग्रहेऽपेक्षा । इयञ्च व्युत्पत्तिः प्रक्रम्यमाणपरामर्शकयच्छब्दस्य 'चैत्रः समागतो यस्तत्रावलोकित' इत्यादौ चैत्रादिर्देनाभ्युपगमितस्य यच्छब्देन बोधनात् । अत्र एव 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' इत्यादौ तत्पदाऽसत्त्वेऽपि न दोषः, पूर्वप्रक्रान्तस्य कृतपदोपस्थाप्यव्यापारस्यैवाऽभेदेन मीलनान्वयितया यच्छब्देन बोधनात् <— (श.वा.पृ.२६०) इति व्याचष्टे ।

इत्थञ्च गौतमीयाभिमतो भवानीपतावेव मानाभावात् यथाकथञ्चित्तदभ्युपगमेऽपि तत्र सर्वज्ञत्वाऽसम्भवात् परेषां वचसि प्रामाण्याऽभ्युपगमस्य मोहविजृम्भितत्वात् मूलकारैः 'यथात्थं भगवन्नि'त्युक्त्या यज्जिनेन्द्रवचनेऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्कलेशाऽसम्पर्कसूचनं कृतं तत्साध्विति फलितम् ।

मीमांसकादिः शङ्कते - नन्विति । सर्व इदं = जिनेन्द्रवचनेऽप्रामाण्यलेशराहित्यसूचनादिकं, सर्वज्ञसिद्धावेव शोभते । तत्र = सर्वज्ञे एव किं मानम् ? न तावत् प्रत्यक्षम्, अनुपलब्धेः, नाऽप्यनुमानं लिङ्गाऽदर्शनात्, नाऽपि आगमः तेषां विभिन्नत्वात्, नाऽप्युपमानं तत्सादृश्याऽज्ञानात्, नाप्यर्थापत्तिः तमृतेऽपि सर्वार्थोपपत्तेरित्यनुपलब्धिप्रमाणगोचरत्वं सर्वज्ञस्य । तदुक्तं श्लोकवार्तिके कुमारिलेन —> 'सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टौ न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥ अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥ अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ? ॥ सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्धयेत्, सिद्धमूलान्तरादृते ॥ असर्वज्ञप्रणीतान्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात् किं न जानते ? ॥ सर्वज्ञसदृशं

वे शब्द तथा, तत् आदि शब्द की अपेक्षा रखते हैं । मगर जहाँ उत्तर वाक्य में या वाक्य के उत्तरार्थ में यथा, यत् आदि शब्द का ग्रहण किया जाता है, वहाँ तथा, तत् आदि शब्द की अपेक्षा नहीं होती है । यहाँ 'यथा' शब्द का उत्तर वाक्य में ग्रहण किया गया है । अतः वह 'तथा' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता है । यह ठीक उसी तरह संगत होता है जैसे 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' इस वाक्य के उत्तरार्थ में 'यत्' शब्द का ग्रहण होने से वह 'तत्' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता है । उदाहरण वाक्य का अर्थ यह है कि - 'अपनी अपेक्षा अधिक मनोहरता - अभिरामतावाले चन्द्र का उदय होने पर कमलों ने जो मीलन (बंद होने का काम) किया वह बहुत अच्छा किया' । यहाँ उत्तरार्थ में 'यत्' शब्द का ग्रहण होने से 'तत्' शब्द अपेक्षित नहीं है । अतः न्यूनतादोष की शंका निराधार प्रतीत होती है । इसलिए मूलकारश्री ने कारिका के उत्तरार्थ में जो कहा है कि - 'हे भगवंत ! आपने जैसा पदार्थ का प्ररूपण किया है उसमें कोई दोष नहीं है' वह यथार्थ ही है - यह सिद्ध होता है ।

❀ सर्वज्ञसिद्धि में प्रमाण ❀

ननु स. इति । यहाँ यह भी आक्षेप करना कि —> 'श्रीजिनेश्वर भगवंत के वचन में प्रामाण्य का अटूट विश्वास रखना तब उचित महसूस होता, यदि वह सर्वज्ञ हो, क्योंकि असर्वज्ञ के सभी वचन में नितांत प्रामाण्य नहीं माना जा सकता । मगर श्रीजिनेश्वर भगवंत की तो बात दूर रहे, इस जगत में कोई भी सर्वज्ञ ही नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञता में कोई प्रमाण ही नहीं है । प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होने से श्रीजिनेश्वर भगवंत में सर्वज्ञता के बल

शृणु, तुल्यायामप्यध्ययनादिसामग्र्यां समानाभ्यासशालिनोः वयोरपि बुद्धौ तारतम्यदर्शनात् विचित्रज्ञानं प्रति विचित्रज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणता कल्प्यते । न चादृष्टविशेषस्यैव तथात्वमस्तु किमनेन ? इति ताव्याम्, सति प्रतिबन्धकेऽदृष्टसहस्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, अदृष्टवैजात्यस्याऽनन्त्यथासिद्धत्वादेश्च कल्पने गौरवात्,

❀ जयलता ❀

कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥ उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माऽधर्मादिगोचरः । अन्यथाऽप्युपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाऽभवत् ॥ कन्तानीयैः प्रमाणैस्तु वऽगातीयाऽर्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥ प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्ताबोधार्थं तत्राऽभावप्रमाणता ॥ (मी. श्लो. वा.) इति । तस्मान्नास्ति सर्वज्ञ इति न जिनेन्द्रवचने सर्वज्ञप्रणीतत्वमूलकं प्रामाण्यं संधटेतेति पूर्वपक्षसङ्क्षेपः ।

अत्र यद्यपि शक्यते एवं प्रतिविधातुं यदुत —> 'स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद् व्यभिचारि पयोनिधेः । अम्भःकुम्मादिसङ्ख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥ सर्वसम्बन्धि तद्वोद्धुं किञ्चिद्वोधैः न शक्यते । सर्वबोधोऽस्ति चेत् ? कश्चित्तद्वोद्धा किं निषिध्यते ॥ सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न चक्षुरादिभिः वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् । नानुमानादलिङ्गत्वात् क्वाऽर्थापत्त्युपमागतिः । सर्वज्ञस्याऽन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तिः ॥ सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यञ्च कथं मीमांसकस्य तत् । नापि वाच्यं त्वयैवं तदभावोऽनुपलब्धितः । प्रसाध्यते यतस्तस्य सर्वत्र ह्यप्रवृत्तितः ॥ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥ तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे । जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नाऽन्यथा ॥ न चाऽशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते । न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वाऽनभीष्टितः ॥ यदा च क्वचिदेकत्र भवेत्तन्नास्तितागतिः । नैवान्यत्र तदा साऽस्ति क्वैवं सर्वज्ञनास्तिता । <— तथापि प्रकारान्तरेण प्रकरणकृत् समाधत्ते - शृण्विति । तुल्यायामप्यध्ययनादिसामग्र्यामिति । आदिपदेनाऽध्यापक-पुस्तकादिपरिग्रहः । तथाऽपि तुल्यमभ्यासमकुर्वतोर्विज्ञानतारतम्यमुपपद्येतेत्याह - समानाऽभ्यासशालिनोरिति । बुद्धौ तारतम्यदर्शनादिति । यदि ज्ञानं प्रति ज्ञानावरणकर्मणः प्रतिबन्धकत्वं न स्वीक्रियेत तदा प्रदर्शितज्ञानवैचित्र्यं नोपपद्येत । तदन्यथाऽनुपपत्त्या ज्ञानावरणस्य कर्मणः ज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वमुन्नीयते । न चैवमस्मदादीनामिदानीं ज्ञानमेव नोपजायेत, ज्ञानावरणकर्मसत्त्वादिति वाच्यम्, विचित्रज्ञानोत्पादाऽन्यथाऽनुपपत्त्या विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमस्य प्रतिबन्धकाभावविधया विचित्रज्ञानं प्रति कारणत्वमनुमीयते । न चाऽवधारणशक्त्यादिवैचित्र्यादेव ज्ञानतारतम्योपपत्तिरिति वाच्यम्, तद्वैचित्र्यस्याऽपि ज्ञानावरणक्षयोपशमवैचित्र्यप्रयोज्यत्वात्, 'तद्वेतोरस्तु किं तेन ?' इतिन्यायेन ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमवैचित्र्यस्यैव ज्ञानवैचित्र्यहेतुत्वौचित्यात् ।

ननु विचित्रज्ञानं प्रति विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमस्य हेतुत्वाऽपेक्षया अदृष्टविशेषस्यैव तत्त्वौचित्यात्, कारणतावच्छेदकधर्मलाघवादिति शङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । अदृष्टविशेषस्यैवेति । एवकारेण ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमव्यवच्छेदः कृतः । तथात्वं = तद्वेतुत्वं, अस्तु, किं = अलं, अनेन = ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमकल्पनेन, अदृष्टज्ञानावरणत्वाख्यविशेषधर्मं कल्पयित्वा तत्क्षयोपशमे प्रतिबन्धकाऽभावविधया तत्कारणत्वकल्पने गौरवादिति लाघवात् अदृष्टविशेषस्यैव तथात्वौचित्यादिति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत् तन्निरासे हेतूनाह - सति प्रतिबन्धके अदृष्टसहस्रस्य अकिञ्चित्करत्वात् = ज्ञानजननेऽसमर्थत्वात्,

पर उसके सभी वचन में प्रामाण्य का निश्चय करना भी असंगत है' <— निराधार है, क्योंकि सर्वज्ञ की सिद्धि में अनुमानादि प्रमाण विद्यमान है । आप कान खोल कर सुनो, समकक्ष अभ्यास वाले दो व्यक्ति के पास अध्ययन, अध्यापक, पुस्तक, परिश्रम, पाठपरावर्तन, लेखन आदि बाह्य सामग्री समान होने पर भी उनकी बुद्धि में तरतमभाव होता है । एक की बुद्धि तेज होती है, तो दूसरे की मन्द । ज्ञान की बाह्य सामग्री समान होने पर भी उनके ज्ञान में विचित्रता क्यों ? फल में वैचित्र्य होने की वजह सामग्री में भी वैचित्र्य का अभ्युपगम करना आवश्यक है । बाह्य सामग्री तो समान होने से अभ्यन्तर सामग्री में ही वैचित्र्य मानना होगा । वह होगा ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम में वैचित्र्य । प्राज्ञ व्यक्ति के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अधिक एवं उसकी अपेक्षा मंद बुद्धिवाले के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न्यून है - ऐसा ही मानना होगा । मतलब कि ज्ञान के प्रति ज्ञानावरण कर्म को प्रतिबन्धक और उसके विलय (क्षयोपशमादि) को प्रतिबन्धकाभाव के स्वरूप में ज्ञान के प्रति कारण मानना होगा । ऐसा होने पर ही ज्ञानप्राप्ति की बाह्य सामग्री समान होने पर भी ज्ञानावरण कर्म

पुण्य-पापरूपे तत्र साङ्कर्येण वैजात्याऽसिद्धेश्च । एवञ्च ज्ञानावरणस्य क्षयोऽपि क्षयोप-
शमेन लिङ्गेन क्वचिदनुमेयः ।

जयलता

प्रतिबन्धकाभावस्याऽपि कारणत्वेन तदा सामग्रीवैकल्यात् । दर्शितज्ञानतारतम्याऽन्यथानुपपत्त्या ज्ञानावरणस्य तत्प्रतिबन्धकत्वे सिद्धे तत्सत्त्वे नाऽदृष्टविशेषेण ज्ञानमुत्पत्तुमर्हति । किञ्चाऽदृष्टसामान्यस्य न तद्वेतुत्वं सम्भवति, अतिप्रसङ्गादिति विजातीयाऽ-
दृष्टस्यैव तत्त्वं वाच्यं, अदृष्टवैजात्यं च तत्कारणतावच्छेदकत्वं कल्पनीयमिति त्वन्मते गौरवमित्याह - अदृष्टवैजात्यस्य =
ज्ञानकारणीभूताऽदृष्टनिष्ठस्य ज्ञानकारणतावच्छेदकत्वेन अदृष्टनिष्ठजातिविशेषस्य, अदृष्टविशेषे ज्ञानं प्रति अनन्यथासिद्धत्वादेः
= अनन्यथासिद्धज्ञाननियतपूर्ववर्तित्वरूपकारणत्वस्य च त्वया कल्पने = कल्पनीये गौरवात् । 'अस्तु गौरवं, तस्य फला-
भिमुखत्वेनाऽदोषत्वादि' त्याशङ्कायां दोषान्तरमावेदयति - पुण्यपापरूपे तत्र अदृष्टविशेषे, साङ्कर्येण = पुण्यत्वादिना सङ्करेण,
वैजात्याऽसिद्धेः = तस्य जातित्वाऽयोगात् च । तथाहि मिथ्याज्ञानजनकाऽदृष्टविशेषे ज्ञानकारणतावच्छेदकधर्मोऽस्ति, पुण्यत्वं
च नास्ति, सुखादिजनकादृष्टे पुण्यत्वमस्ति ज्ञानजनकतावच्छेदकधर्मश्च नास्ति । तदुभयञ्च तत्त्वज्ञानजनकाऽदृष्टविशेषेऽस्तीति
साङ्कर्यं पुण्यत्वेन समम् । अत एव तस्य जातित्वं न सम्भवतीति न तदवच्छिन्नज्ञानकारणताकल्पनाया युक्तत्वम् । न
चोपाधिसाङ्कर्यस्यैव जातिसाङ्कर्यस्याऽपि न दोषत्वं, दोषत्वे वा तादृशनानाजातिकल्पनमस्ति चेति वाच्यम्, तन्नानात्वकल्पने
गौरवात् । न च तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति वक्तव्यम्, तथापि कार्यतावच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वाऽनिवेशे व्यभिचारात् ।
न चाऽस्तु तन्निवेशोऽपीति वाच्यम्, नानाकार्य-कारणभावकल्पने महागौरवात् । न च तर्हि तस्योपाधित्वमेवाऽस्तु इति वाच्यम्,
अनिर्वचनात् । न च तस्याऽस्वण्डोपाधित्वकल्पनान्नाऽयं दोष इत्युद्गीरणीयम्, तथापि ज्ञानतारतम्याऽनुपपत्तेः, कारणाऽविशे-
षादित्यकामेनाऽपि ज्ञानावरणक्षयोपशमस्यैव ज्ञानकारणत्वमभ्युपगन्तव्यम्, तद्वैचित्र्ये ज्ञानवैचित्र्योपपत्तेरिति विभावनीयं प्राज्ञैः ।

नन्यस्तु ज्ञानावरणक्षयोपशमस्य ज्ञानहेतुत्वं तथापि कथं सर्वज्ञसिद्धिः ? इत्याशङ्कामाह - एवञ्चेति । प्रदर्शित-
रीत्या च, ज्ञानावरणस्य कर्मणः क्षयोऽपि = केवलज्ञानहेतुरपि, क्षयोपशमेन लिङ्गेन = हेतुना क्वचित् = पुरुषविशेषे,
अनुमेयः । तदुक्तं अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे → 'दोषावरणयोर्हानिः क्वचिदात्मनि निवेशा भवति, अतिशयवतीत्वात् । या

के क्षयोपशम के वैचित्र्य से ज्ञान में वैचित्र्य = तारतम्य की उपपत्ति हो सकती है । यहाँ यह कहना कि → 'ज्ञानावरण
कर्म के क्षयोपशम को प्रतिबन्धकाभावविधया कारण मानने की अपेक्षा यही मानना सुनासिब है कि अदृष्टविशेष = कर्मविशेष
ही ज्ञान का कारण है, क्योंकि ऐसा मानने पर कारणतावच्छेदक धर्म अदृष्टविशेषत्व = अदृष्टवृत्ति वैजात्य होगा, जो ज्ञानावरणकर्म-
क्षयोपशमत्व की अपेक्षा लघु है' ← भी असंगत है, क्योंकि ज्ञान के प्रति ज्ञानावरण कर्म प्रतिबन्धक होने से प्रतिबन्धक
की उपस्थिति में हजारों अदृष्ट भी कार्य के जनक नहीं बन सकते । दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि - अदृष्टसामान्य
को तो ज्ञान का कारण नहीं माना जाता किन्तु अदृष्टविशेष को ही कारण मानना होगा । अतः ज्ञानकारणतावच्छेदकविधया
अदृष्टवैजात्य की कल्पना करनी होगी । तथा अदृष्टविशेष में ज्ञानकारणता उभयमत में सिद्ध नहीं होने से उसमें अनन्यथा-
सिद्ध नियत पूर्ववर्तित्व की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है । वास्तव में तो अदृष्ट में तादृश वैजात्य =
ज्ञानकारणतावच्छेदक जातिविशेष की सिद्धि ही नहीं हो सकती, क्योंकि अदृष्ट पुण्य-पापात्मक होने से तद्गत जाति के साथ
ज्ञानकारणतावच्छेदकीभूत जातिविशेष का सांकर्य होता है । वह इस तरह, मिथ्याज्ञान के जनक अदृष्टविशेष में ज्ञानकारणतावच्छेदक
विवक्षित जाति रहती है किन्तु पुण्यत्व = धर्मत्व जाति नहीं रहती है । यश, कीर्ति, सुख आदि के जनक अदृष्ट में पुण्यत्व
= धर्मत्व जाति रहती है किन्तु ज्ञानकारणतावच्छेदक जाति नहीं रहती है । परस्परव्यधिकरण पुण्यत्व = धर्मत्व जाति और
ज्ञानकारणतावच्छेदक विवक्षित जाति दोनों ही सम्भक् ज्ञान - तत्त्वज्ञान के जनक अदृष्ट में रहती है । इस तरह परस्परव्यधिकरण
धर्म का एकत्र समावेश होने से प्रसक्त सांकर्य दोष की वजह अदृष्टगत ज्ञानकारणतावच्छेदकीभूत वैजात्य = जातिविशेष का
स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः प्रतिबन्धकाभावविधया ज्ञानावरणक्षयोपशम को ही ज्ञान का कारण मानना उचित है,
न कि अदृष्टविशेष को - यह सिद्ध होता है । इस तरह जब ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम में ज्ञानकारणता सिद्ध होती
है तब पुरुषविशेष में ज्ञानावरण कर्म के क्षय का भी अनुमान हो सकता है । तथाहि - ज्ञानावरण कर्म की संपूर्ण हानि
हो सकती है, क्योंकि उसमें तरतमता होती है । जिस हानि में तरतमता होती है वह संपूर्ण भी हो सकती है, जैसे सुवर्ण
में मल आदि की आंशिक = तरतमभाववाली हानि होती है, तो कभी संपूर्ण हानि भी होती है । ठीक वैसे ही हमारी
आत्मा में ज्ञानावरण कर्म की आंशिक = तरतमभाववाली हानि होती है, तो किसी पुरुषविशेष में उसकी संपूर्ण हानि होनी
चाहिए । मतलब कि ज्ञानावरण कर्म का संपूर्ण क्षय भी सिद्ध होता है । जिस पुरुषविशेष में ज्ञानावरण का संपूर्ण क्षय

न चाऽप्रयोजकत्वं, मूलोच्छेदे कार्योच्छेदाऽवश्यम्भावात् । क्षयश्च स्वसमानाधिकरणतज्जातीयपर्यायप्रागभावाऽकालीनः तत्पर्यायध्वंसो

✽ जयलता ✽

हानिरतिशायिनी सा क्वचिन्निःशेषा भवति यथा कनकपाषाणादौ किङ्कालिकादिवहिरन्तर्मलहानिरिति प्रयोगोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्राऽतिशायिनीत्वमाश्रयभेदव्यापारप्रयुक्ताऽल्पाऽल्पतर-बहु-बहुतरप्रतियोगिकत्वम् < (अ.स.वि.पृ.९२) इति । एतेन 'यत्राऽप्यतिशयो दृष्टः, स स्वार्धानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता । येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोत्रस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् । स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परावरान् ॥ एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते । ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दाऽपशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिसङ्गणनिर्ययः । ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥ तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वर्ग-देवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न च योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ (मी.शो.वा.) इति कुमारिलप्रलापः परास्तः । तदुक्तं योगविन्दो → ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने । दाहोऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥ < (४३२) इति । इतरसकलकारणसमवधानेऽसति प्रतिबन्धकं कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वादित्याशयेन प्रकृतेऽप्रयोजकत्वशङ्कामपास्यति - न चाऽप्रयोजकत्वमिति । अस्तु ज्ञानावरणक्षयः मास्तु सकलार्थविषयः साक्षात्कारः, तर्हि को दोषः ? इत्यप्रयोजकत्वं प्रकृते नास्तीत्यर्थः । कुतः ? इत्याह - मूलोच्छेदे यावत्प्रतिबन्धकात्यन्तक्षये, कार्योच्छेदाऽवश्यम्भावात् प्रतिबन्धकीभूतज्ञानावरणकार्य-भूताऽज्ञानत्वावच्छिन्नध्वंसस्याऽवश्यम्भावनियमात् । अत एवाक्षानपेक्षा, यथाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष आलोकाऽनपेक्षा । अक्षापेक्षा हि ज्ञाने विषयस्पष्टत्वार्थम् । तच्च संपूर्णज्ञाने ज्ञानावरणक्षयादेवेति तस्याऽक्षानपेक्षत्वेऽपि न क्षतिः । विशदतरकार्य-सिद्धावप्रतीयमानमपि कारणं कल्पनीयं न पुनरप्रतीयमानकल्पनाभयात्कार्यवैशद्यमपहोतुमुचितम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । एतेन 'न प्रत्यक्षं चक्षुरादिजन्म तावत्सर्वार्थेषु, तेषां विषयनियमात्, किञ्चिदेव हि वर्तमानं सम्बद्धञ्च तद्विषयो न सर्वेऽर्थाः' (वि.वि. पृ.८२) इति विधिविवेककृद्वचनमपि प्रत्युक्तम्, अनुक्तोपालम्भदानात् ।

क्षयपदार्थं प्ररूपयति-क्षयश्चेति । स्वसमानाधिकरणतज्जातीयपर्यायप्रागभावाऽकालीनः तत्पर्यायध्वंस इति । स्वसमानाधिकरणो यः स्वप्रतियोगिजातीयपर्यायप्रतियोगिकप्रागभावः तत्कालीनभिन्नः पर्यायविशेषप्रतियोगिको ध्वंसः क्षय इत्यर्थः । पर्यायविशेषध्वंसः क्षय इत्युक्तौ तु अस्मदादीनामपि सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तिः, प्रतिसमयमस्मदादिषु ज्ञानावरणकर्मणां नश्यमानत्वात् । अतः 'स्वप्रतियोगिजातीयपर्यायप्रागभावाऽकालीने'त्युक्तम् । तेन यत्किञ्चित्प्रतियोगिकप्रागभावाऽकालीनत्वमादायाऽपि नातिप्रसङ्गः । तथापि त्रयोदशादिगुणस्थानवर्त्तिनि ज्ञानावरणध्वंसेऽप्याप्तिः, अन्यजीववृत्तिज्ञानावरणप्रागभावसमानकालीनत्वादित्यतः 'स्वसमानाधिकरण' इति प्रागभावविशेषणम् । स्वपदेन तादृशध्वंसस्योपादानम् । यदि च परेण गौरवमुद्भाव्यते

होगा, उसका ज्ञान सर्वार्थगोचर होगा । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि → 'ज्ञानावरण कर्म का संपूर्ण क्षय हो तो भी क्या ? इससे ज्ञान में सर्वार्थविषयकता कैसे सिद्ध हो सकती है ?' < क्योंकि ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का प्रतिबन्धक है । उसका आंशिक उच्छेद होने पर आंशिक ज्ञान होता है तो उसका संपूर्ण उच्छेद होने पर संपूर्ण ज्ञान भी जरूर होना चाहिए, तनिक भी अज्ञान की तब संभावना नहीं है, क्योंकि अज्ञान ज्ञानावरण का कार्य होने से ज्ञानावरण कर्म का मूलतः उच्छेद होने पर उसके कार्य अज्ञान का भी संपूर्ण उच्छेद हो ही जायेगा । बिना कारण कार्य कैसे अपना स्थान पा सकता है ? इसलिए ज्ञानावरण कर्म के संपूर्ण हास से होने वाले ज्ञान को सर्वविषयक मानना आवश्यक है ।

✽ क्षयपदार्थप्ररूपणम् ✽

क्षयश्च. इति । केवल ज्ञान के कारणीभूत ज्ञानावरणकर्मक्षय का स्वरूप बताते हुए प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते हैं कि पर्यायविशेष का ध्वंस क्षय है । मगर वह ध्वंस अपने अधिकरण में रहने वाले स्वप्रतियोगिसजातीयप्रतियोगिक प्रागभाव का समानकालीन नहीं होना चाहिए । अभी हमारी आत्मा में जो ज्ञानावरण कर्म का ध्वंस होता है, वह ज्ञानावरणकर्मप्रतियोगिक प्रागभाव का, जो हमारी आत्मा में रहता है, समानकालीन है, न कि भिन्नकालीन । अतः प्रदर्शित ज्ञानावरणकर्मक्षय का

न तु सर्वथाऽभावस्वरूपः, तस्य क्वचिदपि स्याद्वादिभिरनभ्युपगमात् । तथा च यत्र सर्व-
ज्ञानावरणविलयः, स एव भगवान् सर्वज्ञः सिध्यति ।

ननु ज्ञानस्य कथं सर्वविषयत्वं ? अतीतानागतयोः स्वरूपाऽभावेनोभयस्वरूपविषय-
ताऽभावादिति चेत् ? न, आलेख्याऽऽकाराणामिवाऽवर्तमानस्याऽपि वस्तुनो ज्ञेयाकाराणां
ज्ञाने सम्भवात् ।

❀ जयलता ❀

तदा प्रतियोगिव्यधिकरणज्ञानावरणध्वंसो ज्ञानावरणक्षय इति प्रदर्शनीयमिति दिक् ।

ननु ज्ञानावरणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्यैव लाघवेन तथात्वमस्त्वित्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह - न तु
सर्वथाऽभावस्वरूप इति । कुतः ? इत्याह - तस्य क्वचिदपि आत्मनि स्याद्वादिभिः अस्माभिः अनभ्युपगमादिति । एतेन
→ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' ← (यो.सू.१/२४) इति पतञ्जलिवचनमपि प्रत्युक्तम्, नित्यनिर्दोष-
पुरुषे मानाभावात्, नित्यत्वे सति तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावभिन्नत्वरूपस्याऽत्यन्ताभावत्वस्य जन्याभावत्वलक्षण-
ध्वंसत्वोपेक्षया गुरुत्वाच्च । ध्वंसनिर्दोषत्वस्यैवेश्वरत्वे तन्त्रत्वमिति यत्र आत्मनि सर्वज्ञानावरणविलयः = स्ववृत्तिभावज्ज्ञानावरण-
ध्वंसः, स एव आत्मा भगवान् सर्वज्ञ इति सिध्यति ।

असर्वज्ञवादी शङ्कते - भन्निति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । ज्ञानावरणक्षय-क्षयोपशमयोरेवं सिद्धत्वेऽपि ज्ञाना-
वरणक्षयसंपाद्यस्य ज्ञानस्य कथं सर्वविषयत्वं = अतीतानागतवर्तमानव्यवहितातीन्द्रियाद्यर्थगोचरत्वं ? अतीतानागतयोः
वस्तुनोः निवृत्ताजातत्वात् स्वरूपाऽभावेन = निरुपाख्येयत्वेन, उभयस्वरूपविषयताऽभावात् = विज्ञानविषयोभयात्मक-
विषयत्वाऽसम्भवात् । विषयताया अतिरिक्तत्वे गौरवात् लाघवेन विषयविषयिस्वरूपत्वमेवेति तदन्यतराऽभावं उभयात्मक-
विषयताया एवाऽसत्त्वात् कथं ज्ञानस्याऽतीतादिविषयकत्वं स्यात् ? न खल्वतीतोऽजातो वा शत्रुः सम्प्रति संतर्पयति विवेकिनः
न वाऽनागतः शङ्खश्चक्रवर्त्ती महसंपन्नमिच्छं विप्रानन्नपानैरुत्थापयतीतिशङ्काशयः ।

तन्निराकुरुते - नेति । आलेख्याकाराणां = आलेख्ये आकाराणां, इवाऽवर्तमानस्याऽपि वस्तुनः = अतीतानागत-
पदार्थस्य ज्ञेयाकाराणां ज्ञाने सम्भवादिति । यथाऽविद्यमानस्य पुरुषस्य आकारो लेप्यादौ वर्तते तथाऽविद्यमानस्य वस्तुनो

हम अभी आश्रय नहीं है । एक ज्ञानावरण कर्म का हमारी आत्मा में ध्वंस होने पर भी भावी काल में हम दूसरे ज्ञानावरण
कर्म का अधिकरण बनने वाले हैं । अतः अभी हमारी आत्मा में ज्ञानावरण कर्म का प्रागभाव रहता है । अतएव हमारी
आत्मा में रहने वाला ज्ञानावरणकर्मध्वंस तादृश प्रागभाव का भिन्नकालीन नहीं कहा जा सकता । मगर जिस पुरुषविशेष
में भावी काल में ज्ञानावरण कर्म की अधिकरणता नहीं होने वाली है, उसी पुरुषविशेष में रहनेवाला ज्ञानावरणकर्मध्वंस ही
स्वसमानाधिकरण (= ज्ञानावरणध्वंसाधिकरणवृत्ति) स्वप्रतियोगिसजातीय(ज्ञानावरणकर्म)प्रतियोगिकप्रागभावकालीन नहीं होने से
ज्ञानावरणकर्मक्षयात्मक सिद्ध होगा । मगर क्षय का अर्थ सर्वथा अभाव यानी ज्ञानावरणकर्मत्यन्ताभाव ऐसा नहीं है, क्योंकि
हम स्याद्वादी ने किसी भी आत्मा में दोषात्यन्ताभाव = त्रिकालिकदोषशून्यत्व का अंगीकार नहीं किया है । मतलब कि
'अनादि काल से जिस आत्मा में दोष नहीं है, उसी आत्मा में सर्वज्ञता है' ऐसा हम नहीं मानते हैं, क्योंकि सभी जीव
अनादि काल से दोष (= ज्ञानावरण कर्म) से युक्त होते हैं और बाद में रत्नत्रयादि की आराधना के बल से ज्ञानावरणकर्मक्षय
द्वारा केवलज्ञान = संपूर्ण ज्ञान को प्राप्त करते हैं । जिस आत्मा में ज्ञानावरण कर्म का प्रदर्शित क्षय रहता है, वही सर्वज्ञ
यानी केवलज्ञानी भगवंत है, यह सिद्ध होता है ।

॥ अतीतविषयक प्रत्यक्ष मुमकिन ॥

ननु ज्ञा. इति । यहाँ यह समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहती है कि → 'अतीत पदार्थ विनष्ट होता है और अनागत
पदार्थ अनुत्पन्न होता है, इसलिए उनका वर्तमान काल में कोई स्वरूप ही नहीं है । तब वे ज्ञान के विषय कैसे बन सकते
हैं ? क्योंकि विषयता तो ज्ञान और विषय उभयात्मक होने से विषय न होने पर उभयात्मक विषयता भी नहीं हो सकती ।
इस तरह प्रत्यक्ष में अतीत-अनागतवस्तुगोचरता नामुमकिन है, तो फिर त्रिकालवर्ती सब पदार्थ का विषयकत्व तो कैसे मुमकिन
होगा ? अतः ज्ञानावरण के क्षय से सर्वविषयक ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती' - मगर इसका यह समाधान है
कि जैसे अतीतादि पुरुष का आकार आलेख्य = चित्र में होता है ठीक वैसे ही अवर्तमान = अतीतादि वस्तु का आकार

अथाऽऽलेख्ये न पुरुषाकारः, करचरणादिरूपस्य तस्य पुरुषे एव भावात्, तत्र 'पुरुष' इति धीस्तु सादृश्यज्ञानदोषादिनिबन्धतत्त्वाद्भ्रमरूपैव, तथा च ज्ञानेऽपि न ज्ञेयाकार इति चेत् ? न, न हि वयं ज्ञेयतदात्मानं आकारं ज्ञाने ब्रूमः, येन साकारवादपक्षनिक्षिप्तं दूषणं

❀ नयलता ❀

ज्ञेयाकारा ज्ञानेऽपि सम्भवन्तीति नातीतादिगोचरत्वं प्रत्यक्षे बाधितुं शक्यते । यच्चोक्तं —> 'विज्ञानविषयोभयात्मकं विषयत्वं' <— तदसत् विषयताया ज्ञानरूपत्वे 'घटवद्भूतलमि'त्यादिज्ञाननिरूपितानां घटभूतलादिवृत्तिविषयतानामभेदापत्त्या तादृशज्ञानान्तरं 'घटप्रकारकज्ञानवानहमि'त्यादिप्रतीतिवद् 'भूतलप्रकारकज्ञानवानहमि'त्यादिप्रतीतिप्रसङ्गात्, घटनिष्ठप्रकारत्वाऽऽख्यतज्ज्ञानस्वरूप-विषयताया एव भूतलवृत्तित्वात्, एवं 'घटपटावि'त्यादिसमूहालम्बनधियो भ्रमत्वापत्तिश्च । विषयस्वरूपत्वे च 'घटभूतलसंयोगा' इत्याद्याकारकसमूहालम्बनविशिष्टबुद्ध्योर्वैलक्षण्यानुपपत्तेरिति विज्ञानविषयाभ्यामतिरिक्तमेव विषयत्वमित्यनन्यगत्या स्वीकर्तव्यम् । अतो न विषयाऽसत्त्वे तादृशज्ञानाकाराऽसम्भवः, योग्यताया एव तदाक्षेपकत्वात् । न च ज्ञानाकारता कथं सिद्धा ? इति वाच्यम्, घटत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादिविशेष्यतास्थानाभिषिक्ताया घटाद्याकारतायाः 'सागारे नाणे हवइ' इत्याद्यागमस्वा-रस्येनाऽभ्युपगतत्वात् । तथा च नाऽतीतादिगोचरताया निरूपकत्वसंसर्गेण ज्ञानेऽसम्भव इति फलितम् ।

परः शङ्कते- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । आलेख्ये = लेप्य-प्रतिमादी वस्तुतो न पुरुषाकारः, कुतः ? इत्याह - करचरणादिरूपस्य तस्य = पुरुषाकारस्य पुरुषे एव भावात् = सद्भावात् । 'तर्हि आलेख्ये पुरुषबुद्धिः किंनिबन्धना किंरूपा च' ? इत्याशङ्कायामाह - तत्र = आलेख्ये, 'पुरुष'इतिधीः = पुरुषत्वप्रकारिका बुद्धिस्तु सादृश्यज्ञानदोषादिनिबन्धनात् = संस्थानादिसादृश्यधी-भेदाग्रहादिदोष-तादात्म्याऽऽरोपादिनिमित्तकत्वात्, भ्रमरूपा = तदभाववति तत्प्रकारक-त्वाऽवगाहित्वेन विपर्ययात्मिका एव । न तु प्रमेत्येवकारार्थः । ततः किं ? इत्याशङ्कायां निगमयति - तथा चेति । यथाऽऽलेख्ये न पुरुषाकारः तथा च, ज्ञानेऽपि न ज्ञेयाकारः अस्ति, तस्य ज्ञेयवृत्तित्वात्, अज्ञेयाकारेऽपि ज्ञाने ज्ञेयाकारत्वेन भानाद्भ्रमत्वमेवेति नातीतानागतविषयकत्वं ज्ञाने सम्भवति । अतीतादिपुरुषीयकरचरणादिरूपज्ञेयाकाराणां ज्ञानवृत्तित्वे योगाचार-मतप्रवेशप्रसङ्गादिति प्रकृते निर्गलितशङ्काभिप्रायः ।

समाधत्ते - नेति । न हीति । 'ब्रूम'इत्यनेनाऽन्वीयते । ज्ञेयतदात्मानं = ज्ञेयात्मकं आकारं = ज्ञेयाकारं ज्ञाने ब्रूमः, येन कारणेन साकारवादपक्षनिक्षिप्तं = योगाचारमतप्रविष्टं, दूषणं दुरुद्धरं स्यात् । तर्हि कीदृशो ज्ञेयाकारो

भी प्रत्यक्ष ज्ञान में हो सकता है । इसमें कोई क्षति नहीं है । इसलिए ज्ञानावरणक्षय से सर्वविषयक ज्ञान की कल्पना यथार्थ ही प्रतीत होती है ।

अथाले. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> "चित्र में पुरुषाकार का जो दृष्टान्त बताया गया है, वही असिद्ध है, क्योंकि पुरुषाकार का मतलब है हाथ, पाँव आदि । तादृश पुरुषाकार तो वास्तविक पुरुषशरीर में होता है, न कि उसकी प्रतिमा, चित्र आदि में । प्रतिमा आदि में होने वाली 'यह पुरुष है' इत्याद्याकारक बुद्धि तो भ्रमात्मक ही है, क्योंकि सादृश्यज्ञान, पुरुषभेदाऽग्रहात्मक दोष आदि की वजह वह बुद्धि उत्पन्न होती है । इसलिए प्रतिमादि में पुरुषत्वप्रकारक बुद्धि के कर-चरणादि-स्वरूप पुरुषाकार की सिद्धि नहीं हो सकती, दोषादि से अजन्य बुद्धि से ही पदार्थ की सिद्धि होती है । जैसे प्रतिमादि में पुरुषाकार नहीं होता है, ठीक वैसे ही ज्ञान में ज्ञेयाकार भी नहीं होता है । वह तो ज्ञेय विषय में रहता है । अतः अतीतादि ज्ञेय पदार्थ का आकार ज्ञान में कैसे मुमकिन होगा, जिससे सर्वविषयक ज्ञान की सिद्धि हो सके ? अतः सर्वविषयक ज्ञान की कल्पना अप्रामाणिक है, अन्यथा साकारवाद की आपत्ति आयेगी" <—

❀ ज्ञानात्मक ज्ञेयाकार का ज्ञान में स्वीकार ❀

न, न. इति । तो यह भी असंगत है, क्योंकि हम स्याद्वादी ज्ञेयतदात्मक = ज्ञेयाऽभिन्न आकार का ज्ञान में स्वीकार नहीं करते हैं, जिसकी वजह साकारवाद की आपत्ति हो और उसकी वजह साकारवादमत = योगाचारपक्ष में प्राप्त दोष का उद्धार भी हमारे पक्ष में मुश्किल हो । किन्तु हम तो ज्ञान में ज्ञानतदात्मक = ज्ञानाभिन्न आकार को मानते हैं । आशय यह है कि ज्ञान में रहने वाला ज्ञेयाकार यदि ज्ञेयाऽभिन्न माना जाय तब तो बाह्य वस्तु का लोप, ज्ञानाद्वैत आदि अनेक दोष प्रसक्त होते हैं, जो साकारज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के मत में प्रसक्त होते हैं । मगर हम ज्ञान में रहने वाले ज्ञेयाकार को ज्ञानाऽभिन्न मानते हैं । अतः ज्ञेय की ज्ञान में वृत्तिता के मूलक दोषपरम्परा प्रसक्त नहीं होती है । यह ठीक उसी

दुरुद्धरं स्यात् किन्तु ज्ञानतदात्मानम् । आलेख्येऽपि स्वतदात्मैव पुरुषाद्याकारो भासते न तु पुरुषादितदात्मा । अत एव 'इदमालेख्यं पुरुषाकारवन्न तु करचरणादिमदि'तिप्रतीति-निर्वहतीति दिगम्बराः ।

वस्तुतो ज्ञानस्य सर्वविषयत्वं स्वभाव एव प्रदीपादेरिव सर्वप्रकाशकत्वं, तस्य च ज्ञेयाकारशब्दाऽवाच्यत्वेऽपि न क्षतिरिति वदन्ति । (श्लो. १ संपूर्णः)

❀ जयलता ❀

ज्ञानेऽभ्युपगम्यते ? इत्याशङ्कायामाह - किन्तु ज्ञानतदात्मानं = ज्ञानाभिन्नं ज्ञेयाकारं ज्ञाने ब्रूम इत्यत्राऽप्यनुषज्यते । यदि ज्ञेयात्मको ज्ञेयाकारो ज्ञाने स्वीक्रियेत तदा योगाचारमतप्रवेश-तत्प्रयुक्तदोषप्रसङ्गः स्यात् किन्तु ज्ञानात्मको ज्ञेयाकारो ज्ञानेऽङ्गीक्रियत इति नातीतादिगोचरज्ञानाऽसम्भवो न वा ज्ञानाद्वैतमतप्रवेशप्रसङ्गः । पूर्वोक्तदृष्टान्तवैषम्यमाविष्करोति - आलेख्येऽपि = प्रतिमाचित्रादावपि, स्वतदात्मैव = आलेख्यात्मक एव, पुरुषाद्याकारो भासते, न तु पुरुषादितदात्मा ज्ञेय-पुरुषादिस्वरूपः । अत्रैव किं विनिगमकं ? इत्याशङ्कायामाह - अत एवेति । आलेख्यात्मकपुरुषाद्याकारस्यैवाऽऽलेख्ये माना-दिति । 'इदं आलेख्यं प्रतिमादिकं पुरुषाकारवत् न तु करचरणादिमदि'तिप्रतीतिनिर्वहतीति दिगम्बरा वदन्तीति शेषः । उक्तप्रतीतिरयोगव्यवच्छेदाऽन्ययोगव्यवच्छेदावगाहित्वादालेख्ये स्वात्मकः पुरुषाकारोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः पुरुषाद्यात्मकः पुरुषाद्या-कारश्च व्यवच्छेद्य इति सिद्धौ ज्ञानेऽपि ज्ञानात्मको ज्ञेयाकारः स्वीकार्यः ज्ञेयात्मकश्च ज्ञेयाकारो व्यवच्छेद्य इति सिद्ध्या श्रयो-पशमादिना अतीतादिगोचरत्वमपि ज्ञाने सम्भवीति न ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वमसिद्धमिति तेषामाकूतम् ।

ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वं न ज्ञानावरणक्षयात् किन्तु ज्ञानस्वाभाव्यादेवेत्याशयेनाह - वस्तुत इति । ज्ञानस्य सर्वविषयत्वं = सर्वनिष्ठविषयतानिरूपितविषयिताशालित्वं स्वभाव एव, प्रदीपादेरिवेति । आदिपदेन सूर्यानलादिपरिग्रहः । यथा प्रदीपादिः स्वभावत एव सर्वप्रकाशकः तथापि कुड्यादिप्रतिबन्धके सति न व्यवहितान् प्रकाशयति तदपगमे तु तान् प्रकाशयत्येव तथैव ज्ञानमपि स्वभावतः सर्वविषयकं तथापि तत्तद्गोचरज्ञानावरणे प्रतिबन्धके सति न तत्तत्पदार्थान् गोचरीकरोति तद्विलये तु तान् सर्वान् विषयीकरोत्येवेति नातीतादिविषयकत्वं ज्ञाने व्याहन्यत इति सर्वविषयकज्ञानाश्रये सर्वज्ञत्वं सिध्यत्येव । तस्य = सर्वविषयकत्वस्वभावस्य, च ज्ञेयाकारशब्दाऽवाच्यत्वेऽपि न क्षतिरिति । अत्र 'ज्ञेयाकारशब्दावाच्यत्वेऽपि' इति यद्वा 'ज्ञेया-कारशब्दाद्वाच्यत्वेऽपी'ति शुद्धः पाठः स्यादिति सम्भाव्यते । तादृशज्ञानस्वभाव एव दिगम्बरैः ज्ञेयाकारशब्देन प्रतिपाद्यते तदा न दोष इत्यर्थः । ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वस्वभावानभ्युपगमे तु 'तादृशो ज्ञेयाकारः कथं ज्ञाने एव न तु कृत्यादी ?' इत्यत्र विनिगमनाविरहात्, तादृशस्वभावानङ्गीकारे तु 'ज्ञेयाकारो ज्ञानतदात्मको न तु कृत्यादि-तदात्मक' इत्यस्य दिक्पटैः वक्तु-मशक्यत्वादित्याशयः ।

प्राश्नस्तु सर्वज्ञत्वसाधनार्थं —> अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चिताऽसम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । १।, कश्चिदात्मा सक-लार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत् तत्साक्षात्कारि, यथाऽपगततिमिरादिप्रतिबन्धलोचनं रूपसाक्षात्कारि, सकलार्थग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धश्च कश्चिदात्मा तस्मात् सकलार्थसाक्षात्कारी । न चाऽयं विशेषणाऽसिद्धो हेतुः, आगमद्वारेणाऽशेषार्थग्रहणस्वभावस्यात्मनि प्रसिद्धत्वात् । २।,

तरह उपपन्न होता है जैसे चित्रादि में चित्रात्मक पुरुषाकार रहता है । चित्र में भी पुरुषतदात्मक = पुरुषाऽभिन्न ऐसा पुरुषाकार नहीं प्रतीत होता है, किन्तु चित्रतदात्मक = प्रतिमा से अभिन्न पुरुषाकार का भान होता है । अतएव 'यद् चित्र पुरुषाकारवाला है, न कि कर-चरणादिवाला' इस प्रतीति का निर्वाह होता है । इसलिए चित्रादि में स्वात्मक पुरुषाद्याकार को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता, किन्तु पुरुषात्मक पुरुषाकार को, जिसका हम चित्र में स्वीकार नहीं करते हैं, ही अप्रामाणिक माना जा सकता है - ऐसा दिगम्बरसम्प्रदाय है ।

वस्तुतो. इति । वस्तुस्थिति का जब विचार किया जाय तब तो जैसे प्रदीपादि का सर्वप्रकाशकत्व स्वभाव है, ठीक वैसे ही ज्ञान का सर्वविषयकत्व स्वभाव ही है । प्रदीप का ऐसा स्वभाव नहीं है कि वह घट का प्रकाशक हो और पट का प्रकाशक न हो । इसी तरह ज्ञान भी स्वभावतः सर्ववस्तुविषयक होता है । ज्ञान के सर्वविषयप्रकाशकत्व स्वभाव को ज्ञेयाकार शब्द से वाच्य माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है । अतः ज्ञानावरणक्षय से अतीतादिसर्वार्थगोचर ज्ञान की कल्पना करने में कोई दोष नहीं है - ऐसा भी विद्वानों का मन्तव्य है ।

ॐ नमः परमानन्दकलाकलितकेलये । श्रीशहस्वेश्वरपाश्वर्याय मत्प्रत्यूहनिवारिणे ॥१॥

पूर्वसूत्रितावष्टम्भाय दृष्टान्तमाहुः - 'गुडो ही'ति ।

❀ जयलला ❀

ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तर-तमशब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यवत् । ३।, सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् बटवत् । ४।, अस्ति सर्वार्थसाक्षात्कारी अनुपदेशाऽलिङ्गाऽविसम्बादिविशिष्टदिदेशकालप्रमाणाद्यात्मकचन्द्रादिग्रहणाद्युपदेशदायित्वात् । ५। ज्ञानं क्वचिदात्मनि प्रकर्षवत् स्वावरणहान्युत्कर्षे सति प्रकाशकत्वात् । ६।, समस्ति समस्तवस्तुविस्तारगोचरं विशदं प्रत्यक्षदर्शनं, तद्गोचरानुमानप्रवृत्तेः । ७। <- इत्यादि व्याचक्षते ।

'अर्था हि न विज्ञाने स्वाकारमर्पयन्ति किन्तु ज्ञानमेवाऽर्थग्राहकत्वेन परिणमति । तत्परिणामश्च वस्तुनोऽनेकस्वभावात्, अन्यथाऽर्थपरिच्छेदानुपपत्तेः । न चातीताद्यर्थाग्रहणप्रसङ्गः, तेषामसत्त्वादिति वाच्यम्, सर्वथाऽसत्त्वाऽनभ्युपगमात्, सतः सर्वथाऽसत्त्वाप्राप्तेरसतश्चात्पादानापत्तेः तदा तेषां वर्तमानत्वमेव । वर्तमाना एव हि भावाः तथापरिणामेनाऽतीतादिव्यपदेशभाजो भवन्ति, अन्यथा वर्तमानस्याऽप्यनुपपत्तिरिति भूत-भवद्-भविष्यत्सकलपदार्थविस्तारबोधकः सर्वज्ञोऽपि सुव्यवस्थित' <- इत्यपि प्राहुः ।

ज्ञानावृत्तिक्षयप्राप्तकेवलालोकशालिने । नमोऽस्तु सततं तस्मै, कारुण्यकेलिशालिने ॥१॥

वक्ष्यमाणग्रन्थभूमिकामारचयति - पूर्वसूत्रिताऽवष्टम्भायेति । 'यदा तु नित्याऽनित्यत्वरूपते'त्यादिपूर्वकारिकोक्तार्थदाढ्याय, दृष्टान्तमाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरय इति शेषः । निगदसिद्धोऽयं = कण्ठ्योऽयमित्यर्थः । तथापि लेशतो व्याख्यायते यथैकाकी गुडः कफस्य = श्लेष्मणो हेतुः = कारणं स्यात्, हिस्वधारणे, नागरं केवलं पित्तस्य कारणं = निमित्तं स्यात्, द्रव्यात्मनि = द्वयोरेकीकरणेन कृते गुडनागरभेषजे = गुडिकाविशेषे न दोषः अस्ति, प्रत्युत पुष्प्यादिगुणः स्यात् । तदुक्तं भावप्रकाशे 'उन्मीलनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां, निर्मूलनी पित्तकफामिलानां' (भा.प्र.प्र.खंड) इति ।

एतत्कारिकाव्याख्यानं स्याद्वादकल्पलतायाश्चैवम् -> 'अथोक्तदोषनिवृत्तिर्न जात्यन्तरनिमित्ता किन्तु मिथोमाधुर्य-कटुकत्वोत्कर्षहानिप्रयुक्तेति चेत् ? न, द्वयोरेकतरबलवत्त्वे एवाऽन्याऽपकर्षसम्भवात्, तन्मन्दतायामपि मन्दपित्तादिदोषापत्तेश्च । एतेनेतरेतरप्रवेशादेकतरगुणपरित्यागोऽपि निरस्तः, अन्यतरदोषापत्तेः अनुभवश्चाथाच्च । अथ मिलितगुडगुण्ठीक्षोदेन नैकं द्रव्यमारभ्यते, विजातीयानां द्रव्यानारम्भकत्वात्, गुडत्व-गुण्ठीत्वसङ्करप्रसङ्गात् किन्तु कारणविशेषोपनीतरसविशेषवद् गुडगुण्ठी-क्षोदसमाजदेव धातुसाम्याद् गुणदोषनिवृत्ती इति चेत् ? समुदितगुडगुण्ठीद्रव्यस्याऽप्येकपरिणतिमत एवोपलम्भात्, धातुसाम्ये रसविशेषवद् द्रव्यविशेषस्याऽपि प्रयोजकत्वात्, द्रव्यादिवैचित्र्यादाहारपर्याप्तिवैचित्र्योपपत्तेः, अनेकान्ते साङ्कर्याऽसम्भवात्, नृसिंहत्ववदुपपत्तेः । अथ समुदितगुडगुण्ठीद्रव्यं प्रत्येकगुडगुण्ठीभ्यां विभिन्नमेकस्वभावमेव द्रव्यान्तरं न तु मिथोऽभिव्याप्या-वस्थितोभयस्यभावं जात्यन्तरमिति चेत् ? न, तस्य द्रव्यान्तरत्वे विलक्षणमाधुर्यकटुकत्वाऽननुभवप्रसङ्गात्, एकस्वभावत्वे दोषद्वयोपशमाऽहेतुत्वप्रसङ्गात्, उभयजननैकस्वभावस्य चाऽनेकत्वगर्भत्वेन सर्वैकत्वाऽयोगात्, एकया शक्त्योभयकार्यजननेऽतिप्रसङ्गात्, विभिन्नस्वभावानुभवाच्च । तस्माद् माधुर्य-कटुकत्वयोः परस्परानुवेधनिमित्तमेवोभयदोषनिवर्तकत्वमादरणीयम् ।

ननु जात्यन्तरत्वेऽपि प्रत्येकदोषनिवृत्तिरिति न नियमः, पृथक्स्निग्धोष्णयोः पित्तकफकारित्ववत् समुदितस्निग्धोष्णस्याऽपि भाषस्य तथात्वादिति चेत् ? न, माषे स्निग्धोष्णत्वयोरजात्यन्तरात्मकत्वाऽभावात्, अन्योन्यानुवेधेन स्वभावान्तरभावनिवन्धनस्यैव तत्त्वात् । अत्र च स्निग्धोष्णत्वयोः गुक्षाफले रक्तत्व-कृष्णत्वयोरिव खण्डशो व्याप्त्याऽवस्थानात्, जात्यन्तरात्मकस्निग्धोष्णत्वशालिनि

ॐ नमः इति । इस तरह सर्वज्ञसिद्धिपर्यन्त निरूपण कर के पञ्चम कारिका की व्याख्या व्याख्याकार ने पूर्ण की है । यहाँ मध्यमंगल करते हुए प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते हैं कि - मेरे विघ्नों का निवारण करने वाले और परमानन्द की कला से युक्त क्रीड़ा वाले श्रीशहस्वेश्वर पाश्वर्याय भगवंत को नमस्कार हो ।

❀ गुडगुण्ठीन्यायप्रदर्शन - श्लोक - ६ ❀

पूर्वसू. इति । वीतरागस्तोत्रकार श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वर महाराजा ने अष्टम प्रकाश की पाँचवी कारिका में जो कहा था कि - 'वस्तु नित्यानित्य हो तब कोई दोष नहीं है...' इत्यादि, उसका समर्थन करने के लिए ६वी कारिका में उसके अनुरूप दृष्टान्त को वे ही बताते हैं 'गुडो हि...' इत्यादि कह कर । कारिका का अर्थ यह है कि-अकेला गुड कफ का कारण होता

गुडो हि कफहेतुः स्यात्, नागरं पित्तकारणम् ।

व्यात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरश्लेषजे ॥६॥

❀ अथ लता ❀

च दाडिमे श्लेष्मपित्तोभयदोषाऽकारित्वमिष्टमेव, 'स्निग्धोष्णं हृद्यं, श्लेष्मपित्तविरोधि च' इति वैद्यकवचनादिति ।

इदमिह तत्त्वम् - तद्भेदस्य तदेकत्वाऽभावादिनियतत्वेऽपि जात्यन्तरात्मकस्यैव विलक्षणस्य तस्य तथात्वात्, विलक्षणगुडत्वस्य कफकारितानियतत्वात् दोषः । एतेन मया भेदसामान्ये तन्नियमः कल्पनीयः त्वया तु जात्यन्तराऽनात्मके तत्रेति गौरवमिति निरस्तम्, प्रातिस्विकरूपेणैव तन्नियमोपपत्तेरिति दिगिति <- (स्या.क.ल.स्त.७, श्लो.४८) वर्तते इति ध्येयम् ।

तदुक्तं नयरहस्येऽपि -> 'एकैकपक्षोक्तदोषापत्तिस्तु जात्यन्तरत्वाऽभ्युपगमान्निरसनीया । दृष्टा हि वैकल्यपरिहारेण तत्प्रयुक्तायाः परस्पराऽनुवेधेन जात्यन्तरमापन्नस्य गुडशुण्ठीद्रव्यस्य कफपित्तदोषकारिताया निवृत्तिः । 'नेयं जात्यन्तरनिमित्ता किन्तु मिथो माधुर्यकटुकत्वोत्कर्षहानिप्रयुक्ते'ति चेत् ? न, द्वयोरैकतरबलवत्त्व एवाऽन्याऽपकर्षसम्भवात्, तन्मन्दतायामपि मन्दपित्तादिदोषापत्तेश्च । एतेन इतरेतरप्रवेशादेकतरगुणपरित्यागोऽपि निरस्तः; अन्यतरदोषापत्तेः, अनुभवबाधाच्च । अथ समुदितगुडशुण्ठीद्रव्यं प्रत्येकगुडशुण्ठीभ्यां विभिन्नमेकस्वभावमेव द्रव्यान्तरं न तु मिथोऽभिव्याप्याऽवस्थितोभयस्वभावं जात्यन्तरमिति चेत् ? न, तस्य द्रव्यान्तरत्वे विलक्षणमाधुर्यकटुकत्वाननुभवप्रसङ्गात्, एकस्वभावत्वे दोषद्वयोपशमाऽहेतुत्वप्रसङ्गात् । उभयजननैकस्वभावस्य चाऽनेकत्वगर्भत्वेन सर्वधैकत्वाऽयोगात्, एकया शक्त्योभयकार्यजननेऽतिप्रसङ्गात्, विभिन्नस्वभावानुभवाच्च । तस्मान्माधुर्य-कटुकत्वयोः परस्पराऽनुवेधनिमित्तमेवोभयदोषनिवर्तकत्वमित्याहरणीयम् ।

ननु जात्यन्तरत्वेऽपि प्रत्येकदोषनिवृत्तिरिति नैकान्तः, पृथक् स्निग्धोष्णयोः कफपित्तविकारित्ववत् समुदितस्निग्धोष्णस्यापि माषस्य तथात्वादिति चेत् ? न, माषे स्निग्धोष्णत्वयोः जात्यन्तरात्मकत्वाऽभावात्, अन्योन्यानुवेधेन स्वभावान्तरभावनिवन्धनस्यैव तत्त्वात् । अत्र च स्निग्धोष्णत्वयोर्गुञ्जाफले रक्तत्वकृष्णत्वयोरिव खण्डशो व्याप्त्याऽवस्थानात्, जात्यन्तरात्मकस्निग्धोष्णत्वशालिनि च दाडिमे श्लेष्मपित्तोभयदोषाऽकारित्वमिष्टमेव, 'स्निग्धोष्णं दाडिमं रम्यं, श्लेष्मपित्तविरोधि च' इति वचनादिति सम्प्रदायः । यद्यपि जात्यन्तरत्वं न प्रत्येककार्याऽकारित्वेन नियतं भेदाऽभेदेन भेदाभेदव्यवहारात् तथापि विभिन्नधर्मयोरभिव्याप्यसमावेश एवोक्तनिदर्शनम्' <- (न.२. पृ.२९) इत्यादिकम् ।

तदुक्तं धर्मसङ्ग्रहणीवृत्तौ -> 'न गुडशुण्ठयोर्माधुर्यं कटुकत्वाननुविद्धं कटुकत्वं वा माधुर्यादिकान्ततः पृथग्भूतं । नाप्यनयोरैकरूपता किन्त्वितरेतरानुवेधतो जात्यन्तरमिदम् । अतः तदुपभोगात् कफादिदोषाभावः, अन्यथा केवलगुडशुण्ठ्युपभोगादिवत्तदुभयोपभोगादपि कफ-पित्तलक्षणदोषद्वयप्रवृद्धिः प्रसज्येत, स्वस्वभावानपगमात् । स्यादेतत् -> नैवेदं जात्यन्तरं, किं तर्हि ? माधुर्येण कटुकत्वोत्कर्षहानिराधीयते कटुकत्वेन च माधुर्योत्कर्षहानिः । अतस्तत्र पित्तादिदोषाभाव इति <- तदप्ययुक्तम्, उभयोर्मन्दतापत्तावपि तदुपभोगान्मन्दपित्तादिदोषसम्भवापत्तेः । एतेन-इतरेतरप्रवेशतोऽन्यतरैकमाधुर्याद्यभ्युपगमोऽपि निरस्तो द्रष्टव्यः, तत्राऽप्येकतरदोषापत्तेः । अनुभवबाधा चैवं प्रसज्यते, यतोऽनुभूयते तत्राऽविगानेन माधुर्यं कटुत्वञ्चेति । अथोच्यते - प्रत्येकं गुडशुण्ठीभ्यामन्यैव एकरूपा जातिः गुडशुण्ठीः कफपित्तलक्षणदोषद्वयोपशमनस्वभावा जन्यते । ततो नेदमुभयात्मकं जात्यन्तरमिति । तदुक्तं - 'तन्मूलमन्यदेवेदं गुडनागरसंज्ञितमिति' - तदप्यश्लीलम्, एकान्तैकस्वभावायास्तस्याः कफ-पित्तलक्षणदोषद्वयोपशमकारित्वाऽयोगात् । सा हि गुडशुण्ठीरेकतरस्मिन् कफोपशमे पित्तोपशमे वा कात्स्न्येनोपयुक्ता सती कथमन्यत्रोपयुज्येत ? स्वभावान्तराभावात् । अथ इत्थम्भूत एव तस्या एकः स्वभावो येनोभयमुपशमयति तेनाऽयमदोष इति चेत् ? न, इत्थं चित्रतागर्भस्य स्वस्वभावस्य सर्वधैकत्वायोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गतो वस्तुव्यवस्थाविलोपप्रसङ्गात् । अतस्तत्र स्वभावानात्ममवश्यमुरीकर्तव्यम् । तच्चानुभूयमानमाधुर्यकटुकत्वगुणेतरेतरानुवेधनिमित्तम्, अन्यथा माधुर्य-कटुकत्वयोः स्वस्वभावानपगमेन स्वस्वकफादिदोषकारितापत्तेः' <- (गा.३४१-पृ.२०७/८) इत्यादिकम् ।

तदुक्तं चन्द्रसेनसूरिभिरप्युत्पादादिसिद्धिप्रकरणे -> 'गुडनागरे गुडमाधुर्यशक्तिर्नागरतीव्रताशक्त्या प्रतिहन्यते, नागरतीव्रताशक्तेश्चेतरस्या । ततः प्रत्येकपरिगतद्रव्यद्वयापेक्षया तदन्योन्यानुबन्धे गुडनागरसंज्ञितं जात्यन्तरं तदुपतिष्ठते । जात्यन्तरात्मकत्वे च तस्य तज्जन्मा दोषो न भवति । माषे तु स्निग्धशक्तिर्नोष्णशक्त्या प्रतिहन्यते, शीतशक्त्यैव विरोधोपलम्भादुष्ण-

हे और अकेली शुंठी भी पित्त को उत्पन्न करती है, मगर गुड-शुण्ठी के मिश्रण से बना हुआ औषध, जो उभयात्मक है, न तो कफ को उत्पन्न करता है और न तो पित्त को, बल्कि दोनों दोष का निराकरण कर के बल, आरोग्य आदि का

निगदसिद्धोऽयं श्लोकः ॥ (श्लो. ६ संपूर्णः)

जयलता

शक्तेः । एवं स्निग्धशक्त्याऽपि नोष्णशक्तिः प्रतिहन्तुं शक्या । ततो यदि माषः स्निग्धोष्णः कफपित्तकृत् स्यात् तदा किमनिष्टमापादितमस्माकम् ? यतः स्वभावभेदनिबन्धनमेतज्जात्यन्तरत्वं, न चात्र स्वभावभेद इति । 'शक्त्यपेक्षञ्च तत्कार्यमि' - तीच्छता माषस्य कफपित्तकृत्त्वमुपलभ्य चित्रयोगिशक्तियोगित्वं स्वयमेव देवानाम्प्रियेणाऽभ्युपगतं भवतीति किमस्माकमेवमप्यनिष्टमजनि ? किञ्च, 'कटुकाकटुकः पाके, वीर्योष्णाश्चित्रको मतः । तद्वदन्तीप्रभावात्तु विरेचयति सा नरम्' । १। तथा 'कषायमधुरं ग्राहि वातजनं लघुरीपणम् । स्निग्धोष्णं रुचिर्दृढं, श्लेष्मपित्ताऽविरोधि च ॥ किञ्चिदम्लं तु सङ्ग्राहि, किञ्चिदम्लं भिनत्ति च । यथा कपित्थं सङ्ग्राहि, भेदि चामलकं तथा ॥ मूत्रोन्मिश्रा यन्त्रितात्मा हरिद्रा, सात्मीकुर्वन् हन्ति माषेन कुष्ठम् । तद्वत्पेयश्चित्रकः श्लेष्मपिष्टः, पिप्पल्येव पूर्ववन्मूत्रयुक्ता ॥ इत्याद्यभिधीयते विद्वद्भिः । तथा च द्रव्यशक्तिवैचित्र्यं दृष्टमपलपितुमशक्यमेव' (उ.सि. पृ. १६५) इत्यादिकमिति भावनीयं गुधीभिः ।

षष्ठकारिकावतरणिकामवतारयति → अथेति । विरोधशङ्कामिति । विरोधशङ्कानिरूपणं श्रीप्रभानन्दसूरिकृतविवरणे चैवम् - 'ननु नित्यानित्य-भेदाभेद-सत्त्वासत्त्व-सामान्यविशेषात्मकाभिलाष्यान्तर्भिलाष्यात्मके तत्त्वे मन्यमाने दुर्धरविरोधगन्धविधुरता धुरन्धरतां धारयति । तथाहि - यदि भेदः तर्ह्यभेदः कथं ? अभेदश्चेत्तर्हि भेदः कथं स्यादिति विरोधः १। तथा यदि भेदस्याधिकरणं तर्ह्यभेदस्य न भवेत्, अथाऽभेदस्य तर्हि भेदस्य न स्याच्छीतोष्णस्पर्शवत् । न हि यदेव धूप-दहनादिकं शीतं तदेवोष्णमुपलभ्यते, तथाप्रतीतेरभावादिति वैयधिकरण्यम् २। यथा येन रूपेण भेदस्तेनाऽभेदोऽपि, येनाऽभेदस्तेन भेदोऽपि स्यात् इति व्यतिकरः, 'परस्परविषयगमनं व्यतिकर' इतिवचनात् ३। तथा येन रूपेण भेदस्तेन भेदोऽभेदोऽपि, येन चाऽभेदस्तेनाऽभेदो भेदोऽपीति सङ्करः 'सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्कर' इतिवचनात् ४। तथा येन रूपेण भेदस्तेन भेदाभेदः, येन चाऽभेदस्तेनापि भेदाभेदोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मकमित्यस्य विरोधानुषङ्गात् । तथा च भेदाभेदावपि प्रत्येकं भेदाभेदात्मकौ स्याताम् । तत्रापि प्रत्येकं भेदाभेदात्मकत्वापरिकल्पनायामनवस्था स्यात् ५। तथा केन रूपेण भेदः केन चाऽभेदः ? इति संशयः (भेदाभेदात्मकत्वे वस्तुनोऽभेदात्मकमिदं भेदात्मकं वा ? इति निर्णयाभावात् संशयः) ६। तथा भेद-रूपमभेदरूपं वा दृष्टं वस्तु नाऽभ्युपगम्यते, अदृष्टञ्च भेदाभेदात्मकं परिकल्पयत इति दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च स्यात् ७-८। तथा च परपरिकल्पितस्य वस्तुनोऽभाव एव युक्तः । किञ्च, किं नानावस्तुधर्मापेक्षया सर्वमनेकान्तात्मकं उत तन्निरपेक्षतया प्रत्येकं सर्वं वस्त्विति ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, द्वितीयपक्षेऽपि विरोधादिदोषः ९। किञ्च, किं क्रमेण सर्वमनेकान्तात्मकमभ्युपगम्यते यागपद्येन वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, द्वितीयपक्षे तु स एव दोष इति १०। किञ्च, अनेकधर्मान् वस्तु किमेकेन स्वभावेन नानास्वभावैर्वा व्याप्नुयादिति ? यद्येकेन तदा तेषामेकत्वं वस्तुनो वा नानात्वं स्यात्, एकस्यैकत्र(?) प्रवेशादिति । अथ नानास्वभावैस्तर्हि तानपि नानास्वभावान् किमेकेन स्वभावेन व्याप्नुयात् नानास्वभावैर्वा ? । यद्येकेन तदा सर्वधर्माणामेकत्वं वस्तुनो वा नानात्वं स्यात् । अथ नानास्वभावैस्तर्हि तानपि किमेकेन स्वभावेन नानास्वभावैर्वा व्याप्नुयादित्यादि सर्वं वक्तव्यं, अनवस्था च ११। किञ्च यदि सर्वं वस्त्वनेकान्तात्मकमभ्युपगम्यते, तर्हि जलादेरायनलादिरूपता, अनलादेर्वा जलादिरूपता भवेत् । तथा च जलाद्यर्थिनो जलादावनलाद्यर्थिनश्चानलादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, अन्योन्यविरुद्धधर्मस्यापि सद्भावात् । को हि नाम विवक्षितार्थे विवक्षितार्थक्रियाकारिरूपमिवाऽविवक्षितार्थक्रियाकारिरूपमुपलभमानो विवक्षितार्थक्रियार्थी तत्र प्रवर्त्तत प्रेक्षापूर्वकारी ? न चैवम् । विवक्षितार्थे विवक्षितार्थक्रियाकारिण्येव विवक्षितार्थक्रियार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनात् १२। किञ्च प्रमाणमप्यप्रमाणं अप्रमाणं प्रमाणं वा भवेत् । तथा च सर्वजनप्रसिद्धप्रमाणाऽप्रमाणव्यवहारविलोपो भवेत् १३। किञ्च सर्वज्ञोऽप्यसर्वज्ञः स्यात् १४। किञ्च सिद्धस्याप्यसिद्धत्वं स्यात् १५। किञ्च येन प्रमाणेन सर्वस्याऽनेकान्तरूपता प्रसाध्यते, तस्य कुतो नैकान्तरूपतासिद्धिः ? यदि स्वतः, तर्हि सर्वस्यापि तथा भविष्यति, किं प्रमाणपरिकल्पनया ? अथ परतस्तर्ह्यनवस्था १६। किञ्चानेकान्तबाधकं प्रमाणमस्ति । तथाहि - भेदाभेदादिकौ धर्मौ नैकाधिकरणौ परस्परविरुद्धधर्मत्वात्, शीतोष्णस्पर्शवदिति । तस्मादेकान्तरूपमेव वस्त्विति स्थितम्' ← (वी.स्तो.वि. पृ. ७५/७७)

जनक होता है । ठीक वैसे ही पदार्थ को केवल नित्य या केवल अनित्य मानने पर जो अर्थक्रियाकारित्वाऽसम्भव आदि दोष प्रसक्त होते हैं, वे वस्तु को नित्यानित्योभयात्मक मानने पर प्रसक्त नहीं होते हैं । इस तरह अनेकान्तवाद का समर्थन गुडशुण्ठी-उभयात्मक औषधविशेष आदि लोकप्रसिद्ध उदाहरण से भी किया जा सकता है । यद्यपि प्रकरणकार श्रीमद्जी ने इस कारिका

अथ नित्यानित्यत्व-भेदाभेद-सत्त्वाऽसत्त्व-सामान्यविशेषात्मकत्वा-भिलाष्यानभि-
लाष्यत्वादिधर्माणां स्वयं विरोधशङ्कामुद्दिष्टीर्षवोऽभिदधति -> न्दयमिति ।

ॐ नयलता ॐ

तादृशानुसन्धानविकलानामुपकाराय अत्र प्रकरणकारीयव्याख्यानिरूपणपूर्व श्रीप्रभानन्दसूरिकृतविवरणस्थसमाधानवचनैरेका-
नन्तरोपदर्शितदोषनिराकरणं क्रियतेऽधुना । तदुक्तं तैस्तत्र -> 'एकस्मिन् पृथ्वी-पृथ्वीधरादौ वस्तुनि नित्यानित्यात्मकरूपं द्वयं
न विरुद्धम् । न च विरोधोपलक्षितवैयधिकरण्यादिदोषकलुषम् । कथमिति चेदित्यत आह - असत्प्रमाणप्रसिद्धेः । किमपि
न तत्प्रमाणं प्रामाणिकम्न्यैः प्रमाणीक्रियते, येन विरोधादीनां सिद्धिः साध्यते । तथाहि यत्तावदुक्तम् 'विरोधो बाधकः
स्यादि'ति, तदुक्तम्, पर्यायरूपतया भेदोऽभ्युपगम्यते, द्रव्यरूपतया चाऽभेदः । तयोश्चैकत्र रूपरसयोरिव सत्त्वाऽसत्त्वयोरिव
वाऽविरोधसिद्धेः । प्रतीयमानयोश्च कथं विरोधो नाम ? स ह्यनुपलम्भसाध्यः यथा कन्ध्यागर्भे स्तनन्धस्य । ननु सत्त्वासत्त्व-
योरिवेति दृष्टान्तोऽप्यसिद्ध इति चेत् ? तत्र, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया सत्त्वरूपस्य, परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया चाऽसत्त्वस्यै-
कस्मिन् क्षणे सर्वस्य पदार्थस्य प्रत्यक्षादिबुद्धौ प्रतिभासनात् । न खलु पदार्थस्य सर्वथा सत्त्वमेव स्वरूपम्, स्वरूपेणैव
पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात् । नाऽप्यसत्त्वमेव, पररूपेणैव स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्रसङ्गात् । न च स्वरूपेण सत्त्वमेव पररूपेणा-
ऽसत्त्वम्, पररूपेण वाऽसत्त्वमेव स्वरूपेण सत्त्वम्, तदपेक्ष्यमाणनिमित्तभेदात् । स्वद्रव्यादिकं हि निमित्तमपेक्ष्य सत्त्वप्रत्ययं
जनयति पदार्थः, परद्रव्यादिकं त्वपेक्ष्याऽसत्त्वप्रत्ययम् इत्येकत्वद्वित्वादिसङ्ख्यावदेकस्मिन्पदार्थे सत्त्वासत्त्वयोर्भेदः । न चैकस्मिन्
वस्तुनि वस्त्वन्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसङ्ख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्राऽपेक्षैकत्वसङ्ख्यातो नान्या प्रतीयते । नापि सा स्वरूपात्
तत्त्वतो भिन्नैव, अस्याऽसङ्ख्येयत्वप्रसङ्गात् । सङ्ख्यासमवायात्तत्त्वमित्याययुक्तम्, कथञ्चित्तादात्म्यव्यतिरेकेण समवायस्याऽ-
सम्भवात् । तस्मात् सिद्धोऽपेक्षणीयभेदात्सङ्ख्यावत् सत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेदः । तथाभूतयोश्चाऽनयोरेकस्मिन् पदार्थे प्रतीयमानत्वात्
कथं विरोधः ? यतो दृष्टान्तो न स्यात् । 'भ्रान्तेयं प्रतीतिरित्यपि मिथ्या, बाधकस्याऽविद्यमानत्वात् । 'विरोध बाधक'
इत्यप्यसत्यम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्, सति हि विरोधे तेनाऽस्या बाध्यमानत्वाद् भ्रान्तत्वम्, ततश्च तद्विरोधसिद्धिरिति ।
विरोधश्चाऽविकलकारणस्यैकस्य भवतो द्वितीयसन्निधानेऽसत्त्वान्निश्चीयते, यथोष्णसन्निधाने शीतस्य । न च पर्यायरूपेण भेदस्य
सन्निधाने द्रव्यरूपेणाऽभेदस्याभाव उपलभ्यते ।

किञ्चाऽनयोर्विरोधः किं सहानवस्थानस्वभावः परस्परपरिहारस्थितिस्वभावो वध्यघातकस्वभावो वा ? तत्र न तावत्स-
हानवस्थानस्वभावो घटते, मृद्व्यलक्षणे पदार्थे मृद्व्यरूपतयाऽभेदस्य घटादिपर्यायरूपतया च भेदस्याऽध्यक्षबुद्धौ प्रतीयमान-
त्वात् । न च तथाप्रतीयमानयोरप्येकत्र तयोर्विरोधो युक्तः, रूपरसयोरपि तत्प्रसङ्गात् । परस्परपरिहारस्थितिस्वभावो विरोधो
घटादौ भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा रूपरसयोरिव सतोरेव नाऽसतोर्नापि सदसतोः सम्भवति । वध्यघातकस्वभावोऽपि विरो-
धोऽहिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः । न च भेदाभेदयोः सत्त्वाऽसत्त्वयोर्वा बलवदबलवद्भावो दृश्यते । न हि यथा नकुलेन
बल-वता सर्वस्य विघातः क्रियमाणो दृश्यते तथा भेदेनाऽभेदस्याऽभेदेन च भेदस्य विघातो दृश्यते, तथाप्रतीतिरभावात् ।

भवतु वा कश्चिद्विरोध इति, तथाप्यसौ सर्वथा कथञ्चिद्वा स्यात् ? न तावत् प्रथमपक्षो घटते शीतोष्णस्पर्शयोरपि
प्रमेयत्वादिना विरोधाऽसिद्धेः । एकाधारत्वेन चैकस्मिन्नपि हि धूपदहनादिभाजने क्वचित् प्रदेशो शीतस्पर्शः क्वचिच्छोष्णस्पर्शः
प्रतीयत एव । अथाऽनयोः प्रदेशयोर्भेद एवेष्यते । भवतु नामानयोर्भेदः, धूपदहनाद्यवयविनस्तु न भेदः । न चाऽस्य शीतोष्ण-

की व्याख्या नहीं की है, क्योंकि यह कारिका अत्यन्त सरल है, संस्कृतभाषा के अभ्यासी को पढ़ने से ही इसका अर्थबोध
हो सकता है, तथापि पाठकवर्ग की सुगमता के लिए हमने यहाँ संक्षेप में उक्त कारिका का लेशतः निरूपण किया है ॥६॥

ॐ सातवें श्लोक की व्याख्या ॐ

मिलित गुड-शुण्ठी के दृष्टान्त से एक ही धर्मी को नित्यानित्य, भिन्नाभिन्न, सत्-असत्, अभिलाष्य-अनभिलाष्य माना
जा सकता है । मगर यहाँ इस विरोधदोषविषयक शंका का कि -> "नित्यत्व और अनित्यत्व, भेद और अभेद, सत्त्व और
असत्त्व, सामान्य और विशेष, अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व ये धर्म परस्पर विरोधी हैं । अतः जहाँ नित्यत्व हो उसमें
अनित्यत्व, जिसमें अनित्यत्व हो वहाँ नित्यत्व, यत्र सत्त्व हो तत्र असत्त्व, जहाँ असत्त्व हो वहाँ ही सत्त्व आदि कैसे मुमकिन
होगा ? परस्पर विरोधी होने से उनका एकत्र समावेश ही नहीं हो सकता है, तब वस्तुमात्र को नित्यानित्योभयात्मक, सदसदुभयात्मक

द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।

विरुद्धवर्णयोगो हि दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

❀ मयलता ❀

स्पष्टाधारता नास्तीति वक्तुं युक्तम्; अध्यक्षविरोधात् । तस्मान्न सर्वथा भावानां विरोधो घटते । कथञ्चिद्विरोधस्तु सर्वभावेषु तुल्यो न बाधकः ।

यच्चोक्तम् → 'वैयधिकरण्यं स्यादिति' ← तदप्यसत्यम्, निर्बाधं प्रत्यक्षबुद्धौ भेदाभेदयोरेकाधिकरणत्वेन प्रतिभासनात् । न खलु तथाप्रतीयमानयोर्वैयधिकरण्यम्, रूपरसयोरपि तत्प्रसङ्गात् । उभयदोषोऽपि न घटते, प्रतीयमाने कथमुभयदोषो नाम ? नानादोषोऽपि न स्यात् । यथैव हि घटादौ भेदोऽनुभूयते तथाऽभेदोऽपीति कथं नानात्वदोषः ? अत एव सङ्करव्यतिकरा-
वपि न स्तः । भेदाभेदयोरेकस्मिन् पदार्थे स्वरूपेण प्रतीयमानत्वात् । यच्चोक्तम् - 'अनवस्था स्यात्' तदप्यनुपपन्नम्, वस्तुन एव भेदाभेदात्मकत्वाऽभ्युपगमात्, न पुनर्भेदाभेदयोर्धर्मयोः । पदार्थस्य तु भेदो धर्म एवाऽभेदस्तु धर्म्येति कथमनवस्था ? न चैकान्ताभ्युपगमो दोषाय, सम्यगन्यविषयस्य भेदाभेदस्य च स्याद्वादिभिरभ्युपगतत्वात् । संशयोऽपि न युक्तः, भेदाभेदयोः स्वरूपेण प्रतीयमानत्वात्, एकस्मिन् भेदाभेदाऽप्रतीतौ हि संशयो युक्तः, क्वचित् प्रदेशे स्थाणुपुरुषत्वाऽप्रतीतौ तत्संशयवत् । चलिता च प्रतीतिः संशयः । न चेयं चलिता । तथा दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च न स्यात्, भेदाभेदात्मकस्य वस्तुनः प्रत्यक्षादिप्रमाणबुद्धौ प्रतीयमानत्वात् । तत एवाभावोऽपि न युक्तः ।

यच्चोक्तं → 'नानावस्तुधर्माऽपेक्षया' ← इत्यादि, तदसत्यम्, न खलु नानावस्तुधर्मापेक्षयैकस्याऽनेकान्तात्मकत्वमङ्गी-
क्रियते, येन सिद्धसाधनं स्यात्, अपि त्वेकस्यैव वस्तुनः स्वधर्मापेक्षया । न च तत्र विरोधादिदोषानुषङ्गः, तस्य प्रागेव निरा-
कृतत्वात् । यच्चोक्तम् - 'क्रमेणे'त्यादि न तद्युक्तम्, क्रमेणाऽक्रमेण चाऽनेकान्तस्याऽभ्युपगतत्वात् । क्रमभाविधर्मापेक्षया हि क्रमेणाऽक्रमभाविधर्मापेक्षया चाऽक्रमेणेति । यच्चोक्तम् - 'अनेकधर्मान् वस्तु किमेकेन स्वभावेन व्याप्नुयान्नानास्वभावैः वा ? इत्यादि, तत्र नैकेन स्वभावेन नानास्वभावैः वा भिन्नवस्तु भिन्नान् स्वभावान् स्वतो व्याप्नुयादिति जैनो मन्यते, किं तर्हि ? स्वस्वकारणकलापादनेकस्वभावात्मकं मतमिति । यच्चोक्तम् - जलादेरप्यनलादिरूपता स्यादित्यादि-तदपीष्टमेव प्रमाणस्य स्व-
रूपापेक्षया प्रमाणरूपतायाः पररूपापेक्षया चाप्रमाणरूपतायाः स्याद्वादिनामिष्टत्वात् । ततो न लोकप्रसिद्धप्रमाणाप्रमाण-
व्यवहारविलोपः स्यात्, उक्तन्यायेन प्रमाणाप्रमाणव्यवहारस्य लोके प्रमाणेऽपि सुप्रसिद्धत्वादिति ।

यच्चोक्तं → 'सिद्धोऽप्यसिद्धः स्यादि'त्यादि ← तदपीष्टमेव । असर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञस्याऽप्यसर्वज्ञताया अभ्युपगतत्वादिति, प्रकारान्तरेण तस्याऽसर्वज्ञता न सम्भवत्येव, प्रमाणबाधनादिति । यच्चोक्तम् → येन प्रमाणेन सर्वस्याऽनेकान्तरूपता प्रसाध्यते तस्य कुतोऽनेकान्तरूपतासिद्धिः स्यादित्यादि' ← तत्रोच्यते, प्रमेयं हि द्विविधमचेतनं चेतनं च । तत्राऽचेतनं स्वपराध्यवसाय-
विकलं न स्वस्यैकान्तरूपतामनेकान्तरूपताश्च परिच्छेत्तुमलम् । चेतनेन तत्राऽनेकान्तरूपता परिच्छिद्यते । चेतनं तु स्वस्याऽ-
प्यनेकान्तरूपतां परिच्छेदयितुं समर्थम् । न च तत्राऽपरं प्रमाणमपेक्ष्यते, येनाऽनवस्था स्यात् । तथा हि - चित्ररूपं वस्तु
येन प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन वा परिच्छिद्यते तत् स्वरूपापेक्षयात्मनो भावं पररूपापेक्षया चाऽभावं परिच्छिनत्ति, अन्यथा यथावद-
सङ्कीर्णस्वरूपस्य ग्राहकं न स्यात् । न चैवम्, व्यावृत्ताऽव्यावृत्तस्वरूपस्य प्रमाणस्य सिद्धरूपत्वादिति । यस्य तु कस्यचित्
तत्रापि स्वदुरागमाऽऽहितवासनावशादेकान्तसमारोपः, सोऽपि तस्य न्यायान्तरान्निराकर्तव्यः । तथाहि - धूमादिलिङ्गस्य यथा
स्वसाध्यं प्रति गमकत्वम्, यथा साध्यान्तरं प्रत्यपि उतान्यथेति । यदि गमकत्वमेवाङ्गीक्रियते, तदा साध्यान्तरस्यापि तत
एव सिद्धेल्लिङ्गान्तरकल्पनावैफल्यं स्यात्, ततः सर्वस्याऽपि साध्यस्य सिद्धेरिति । उताऽन्यथा तर्हि यथैकं लिङ्गं गमकत्वा-
गमकत्वरूपेणाऽनेकान्तरूपम्, तथा सर्वं वस्तु स्वपरकार्यकरणसामर्थ्यासामर्थ्येनाऽनेकान्तरूपमस्तु, विशेषाभावादिति ।

यद्ययुक्तम् → 'बाधकं प्रमाणमस्ति, भेदाभेदौ नैकाधिकरणावि'त्यादि ← तदप्यनुपपन्नम्, पक्षस्य प्रत्यक्षेण बाध्यमान-

इत्यादि कैसे मानी जा सकती है ?' ← निराकरण करने के लिए स्वयं मूलकार आचार्यदेवेश श्रीमद्जी 'द्वयं विरुद्धं...' इत्यादिरूप में ७वीं कारिका प्रदर्शित कर रहे हैं । कारिका का सामान्य अर्थ यह है कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगल धर्म परस्परविरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि वे एक अधिकरण में रहते हैं । विरोधग्राहक प्रमाण प्रसिद्ध न होने से विरोध असिद्ध है, क्योंकि मेचक वस्तु = शबलवर्णवाली वस्तु में विरुद्ध वर्ण का योग प्रसिद्ध है ।

अत्र एकत्र = एकस्मिन् वस्तुनि द्वयं न विरुद्धमिति न व्याख्येयं, विरुद्धपदस्यैवैकाधिकरणाऽवृत्त्यर्थकत्वेन 'एकत्र' इत्यस्य पुनरनन्वयाऽऽपत्तेः, विरुद्धे एकवृत्तित्वस्य बाधात्, अविरुद्धे तु तस्याऽविरुद्धत्वपर्यवसितस्याऽपि तेन रूपेणाऽसिषाधयिषितत्वात्, अविरुद्धत्वप्रकारिकाया एव सिषाधयिषायाः सत्त्वात् ।

✽ नयलता ✽

त्वाद्धेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वात्, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवदित्यादिवदिति । भेदाभेदयोरैकाधिकरणत्वेन प्रत्यक्षभुद्धौ प्रतिभासनात् । न चाऽनयोर्विरुद्धधर्मयोरपि सतोः कापि क्षतिरीक्ष्यते इति पर्यालोच्य स्तुतिकृदपि विरोधाभावमाह- 'विरुद्धे'त्यादि । हिः = यस्मात् विरुद्धवर्णसम्बन्धो भेदकवस्तुषु मिश्रवर्णपदार्थेषु दृष्टः, परं न तत्रैतद् दूषणकणघोषणान्वयणापि कर्तुं पार्यते । यदि तत्रापि वाग्दिण्डिमाडम्बरप्रचण्डपाण्डित्यपाटवनाट्यशीलैः प्रत्यक्षादिप्रमाणोपपन्ने कापि युक्तिः प्रकल्प्यते तदा एवमप्यस्तु । अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत् । अर्धतत्प्रत्यक्षबाधितपक्षानन्तरं निर्दिश्यमानत्वेन कालात्ययापदिष्टम् । आः ! परमबन्धो ! पिब पीयूषयूषम्, वयमपि हस्तमुत्क्षिप्यैवमेव वदामः - भेदकवस्तुवत्प्रत्यक्षोपपन्नेऽप्यनेकान्ते का कुयुक्तिनिरुक्तिप्रपञ्चातुरी ? तस्माद् विरोधादिदूषणवारणगणाऽधर्षणीयः परां प्रौढरूढिं प्रपन्नोऽनेकान्तकेशरी' <- (वी.स्तो.वि. पृ. ७७/८१) इति तदीयव्याख्याप्रदर्शनमपि अनेन कृतं भवति ।

प्रकरणकृद् व्याख्यानयति - अत्रेति । प्रकृतकारिकायामिति । एकत्र = एकस्मिन् वस्तुनि द्वयं = नित्यत्वानित्यत्वादिव्ययं न विरुद्धं इति न व्याख्येयम् । कुतः ? इत्याह-विरुद्धपदस्यैव एकाधिकरणाऽवृत्त्यर्थकत्वेन = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाववद्वाचकत्वेन, 'एकत्रे'त्यस्य पदस्य अर्थस्य पुनः अनन्वयापत्तेः = कुत्राऽप्यन्वयासम्भवप्रसङ्गात् । 'विरुद्धपदार्थे' एव तदन्वयोऽस्त्विति शङ्कायामाह - विरुद्धे = विरुद्धपदप्रतिपाद्ये एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वशून्ये, 'एकत्रे'तिपदार्थस्य एकवृत्तित्वस्य = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वस्य बाधात् न तत्र तदन्वयः सम्भवति, अन्यथा 'अनलवान् अनलाभाववानि'त्यादावपि तथान्वयबोधप्रसङ्गात् ।

ननु न विरुद्धं = अविरुद्धम् । एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वशून्यभिन्ने अविरुद्धपदप्रतिपाद्ये 'एकत्रे'तिपदार्थस्य एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वस्याऽविरुद्धत्वलक्षणस्य त्वन्वयो न बाधितः । तथा च न 'एकत्रे'त्यभिधानार्थस्याऽनन्वयप्रसङ्ग इत्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह- अविरुद्धे = अविरुद्धपदार्थे तु तस्य = 'एकत्रे'तिपदार्थस्य, अविरुद्धत्वपर्यवसितस्य = एकाधिकरणनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयत्वलक्षणाऽविरुद्धत्वपदार्थपर्यवसन्नस्य, अन्वययोग्यत्वे अपि तेन रूपेण = अविरुद्धपदार्थवृत्तित्वेन रूपेण, असिषाधयिषितत्वात् = साधयितुमनभिमतत्वात् । कुत इदमज्ञायि भवद्भिरित्याशङ्कायामाह - अविरुद्धत्वप्रकारिकाया एव सिषाधयिषायाः सत्त्वादिति । इदमत्राऽभिसंहितम् - उद्देश्य-विधेयभावस्थले उद्देश्यतावच्छेदकधर्मविधेययोर्भिन्नत्वमेव भवति, अन्यथा 'बहिमान् बहिमानि'त्यादाव्युद्देश्यविधेयभावप्रसङ्गात् । सिषाधयिषायां प्रकारीभूतस्यैव विधेयत्वनियमात् प्रकृते अविरुद्धत्वस्यैव विधेयत्वमिति नाऽविरुद्धस्योद्देश्यत्वं भवितुमर्हति, उद्देश्यतावच्छेदकस्यैव विधेयत्वाऽऽपातात् । न चैवं भवति विधेयस्योद्देश्ये सिषाधयिषितत्वेनोद्देश्यतावच्छेदकस्यापि तदभिन्नस्याऽसिद्धत्वप्रसङ्गात् । न ह्यप्रसिद्धमुद्दिश्य किञ्चिद्विधीयते प्रतिषिध्यते वा, बन्ध्यापुत्रमुद्दिश्य श्यामत्वादेरपि विधेयत्वादिप्रसङ्गात् । इत्यञ्च 'एकत्रे'तिपदार्थस्याऽविरुद्धत्वफलितस्य न विरुद्धे न वाऽविरुद्धेऽन्वयो भवितुमर्हतीति तदनन्वयप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् 'एकत्र द्वयं न विरुद्धमिति न

✽ उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय मिश्र होते हैं ✽

अत्र. इति । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस कारिका के पूर्वार्ध का ऐसा अर्थ नहीं लगाना कि 'एक वस्तु में दो धर्म विरुद्ध नहीं हैं', क्योंकि ऐसा व्याख्यान करने पर 'एकत्र' पद के अर्थ का कहीं भी अन्वय नहीं हो सकेगा । इसका कारण यह है कि 'एकत्र' पद का अर्थ है एकाधिकरणवृत्तित्व । इसका 'विरुद्ध'पद के अर्थ में तो अन्वय = सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विरुद्ध पद का अर्थ है एकाधिकरण में अवृत्ति । एक अधिकरण में नहीं रहने वाले पदार्थ में एक अधिकरण से निरूपित वृत्तिता = आधेयता अर्थ का सम्बन्ध बाधित होने से 'एकत्र'पदार्थ का विरुद्धपदार्थ में अन्वय नहीं हो सकेगा । यदि 'न विरुद्धं' का अर्थ अविरुद्ध कर के उसमें 'एकत्र'पदार्थ का अन्वय किया जाय तो वह भी सुनासिब नहीं है, क्योंकि यद्यपि 'एकत्र'पदार्थ एकाधिकरणवृत्तित्व अविरुद्धत्व अर्थ में पर्यवसित = फलित होने से अविरुद्धपदार्थ में अन्वय योग्य है

किन्तु 'द्वयं न विरुद्धं' = न परस्परानधिकरणाधिकरणकम् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाहुः 'एकत्रे'ति, एकाश्रयवृत्तित्वं तदर्थः । न चाऽयं हेतुरसिद्धः, एकत्रैव घटादौ नित्यानित्यादि-प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् ।

ननु तेयं प्रमा तत्र विरोधग्राहकप्रमाणपरम्परासत्त्वेन विषयबाधात् । न च भ्रमाद् वस्तु-

❀ नयलता ❀

व्याख्यामहति ।

तर्हि किमस्वरूपं तद्व्याख्यानं ? इत्याशङ्कयामाह - किन्त्विति । पक्षमाह - द्वयमिति । नित्यानित्यत्वादियुग्ममिति तदर्थं इति वक्ष्यति । साध्यं निर्दिशति - न विरुद्धं = न परस्परानधिकरणाधिकरणकमिति । परस्परानधिकरणनिष्ठाधिकरणतानिरूपकभिन्नत्वं साध्यम् । तत्र = तत्सिद्धौ, हेतुगर्भं = हेतुघटितं, विशेषणमाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरपादा इति शेषः । 'एकत्रे'ति एकाश्रयवृत्तित्वं = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वं तदर्थः = विशेषणवाचकपदार्थः । प्रयोगश्चात्रैवम् - द्वयं न परस्परानधिकरणाधिकरणकं एकाधिकरणवृत्तित्वात् रूपरसयोरिव । न च अयं = एकाधिकरणवृत्तित्वलक्षणः हेतुः असिद्धः = स्वरूपासिद्धिदोषग्रस्तः पक्षतावच्छेदकीभूतवैमत्याधिकरणतावच्छिन्ननिरूपितवृत्तित्वशून्य इति यावत् संशयतात्पर्यम् । तदपाकरणे हेतुमाह - एकत्रैवेति । एवकारेण भिन्नाधिकरणव्यवच्छेदः कृतः । घटादौ धर्मिणि नित्यानित्यादिप्रतीतेः = नित्यत्वाऽनित्यत्व-भेदाभेदादिप्रकारकधियः सार्वजनीनत्वात् । तथा च नित्यत्वानित्यत्वादियुग्मे एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसिद्धौ न स्वरूपासिद्धिकवलितत्वं हेतोरिति ननुः ।

ननु न इयं = 'घटो द्रव्यत्वादिना नित्यो घटत्वादिना चाऽनित्य' इत्यादिस्वरूपा प्रमा । प्रदर्शितप्रतीतेरप्रमात्वसाधनार्थं हेतुमाह - तत्र = नित्यत्वानित्यत्व-भेदाऽभेद-सत्त्वासत्त्वादिधर्मयुग्मे, विरोधग्राहकप्रमाणपरम्परासत्त्वेन तस्या विषयबाधादिति । नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुग्मे एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाऽवगाहित्वस्य बाधादित्यर्थः । ततः किं ? इत्याह - न

तथापि तादृश अन्वयबोध यहाँ इसलिए नहीं स्वीकार्य हो सकता कि अविरुद्धत्वरूप से अविरुद्ध पदार्थ को सिद्ध करना यहाँ ग्रन्थकार को अभिमत नहीं है । आशय यह है कि यहाँ ग्रन्थकार की इच्छा अविरुद्धत्वप्रकारक है, सिसाधयिषा का प्रकार = विधेय अविरुद्धत्व है और यहाँ अविरुद्धपदार्थ में उसका अन्वय करने का मतलब यह होगा कि अविरुद्धपदार्थ को उद्देश्य करके अविरुद्धत्व का विधान करना । मगर ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि तब उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय एक बन जाने से तादृश अन्वयबोध नहीं हो सकता । प्रसिद्ध को उद्देश्य बना कर अप्रसिद्ध का विधान किया जाता है और उद्देश्यतावच्छेदक ज्ञात होने पर ही उद्देश्य प्रसिद्ध हो सकता है । मगर विधेय को ही उद्देश्यतावच्छेदक बनाने पर विधेय अप्रसिद्ध होने से तदभिन्न उद्देश्यतावच्छेदक भी अप्रसिद्ध बनेगा, फलतः उद्देश्य ही अप्रसिद्ध हो जायेगा, तब तादृश विधान कैसे हो सकेगा ? अन्यथा 'घटो घटः' इत्यादि वाक्यप्रयोग भी शिष्ट बनने की आपत्ति आयेगी ।

किन्तु. इति । इसलिए सातवीं कारिका के प्रथम पाद का व्याख्यान ऐसा करना चाहिए कि नित्यत्वानित्यत्वादि दो धर्म विरुद्ध = परस्परानधिकरणाधिकरणक नहीं है । कारिका में दर्शित 'एकत्र' ऐसा 'द्वय' का विशेषण हेतुगर्भित है, जिसका अर्थ है एकाधिकरणवृत्तित्व । अतः अनुमानप्रयोग इस तरह होगा कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि दो धर्म परस्पर के अनधिकरण में रहने वाले होते नहीं हैं, क्योंकि वे एकाधिकरण में रहते हैं । यहाँ दो धर्म पक्ष है, परस्पर के अनधिकरण में अवृत्तित्व साध्य है और एकाधिकरणवृत्तित्व हेतु है । एकाधिकरण में रहनेवाले दो धर्म परस्पर के अनधिकरण में ही रहे यह तो कैसे मुमकिन हो सकता है ? यहाँ यह शंका करना कि → 'नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म में, जो पक्ष है, एक अधिकरण से निरूपित वृत्तिता ही नहीं होने से हेतु स्वरूपासिद्धि दोष से कलंकित है, तब उसके द्वारा स्वाभीष्ट साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है ?' ←

❀ एक धर्मों में नित्यत्वाऽनित्यत्वोभयप्रतीति प्रामाणिक ❀

एकत्रे. इति । भी नामुनासिब है, क्योंकि एक ही घट आदि धर्मों में नित्यत्व और अनित्यत्व, भेद और अभेद आदि युगल की प्रतीति सभी लोगों को होती है । 'घट मृत्त्व, द्रव्यत्व आदि रूप से नित्य है और घटत्व आदि रूप से अनित्य = नाशप्रतियोगी है' इत्यादि प्रतीति तो सर्वजनप्रसिद्ध है, जिससे एक ही धर्मों में नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मों की सिद्धि होती है । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि → 'यह प्रतीति प्रमा नहीं है किन्तु भ्रमात्मक है । यह प्रतीति भ्रमात्मक

सिद्धिरित्याशङ्कायामभिदधति → असदिति, अत्र विरोध इति शेषः । सत्पदश्च भावपरम् । तथा च विरोधे प्रमाणसिद्धेरसत्त्वादेकवृत्तित्वं निराबाधमिति हार्दम् । न हि जलानलयोरिव तयोर्विरोधः साक्षादनुभूयते, रूपरसयोरिव प्रत्युतैकवृत्तित्वस्यैवाऽऽनुभविकत्वात् । न वा छायातपयोरिव परस्परपरिहारेण वर्तमानत्वं, एकदैवानुभवात् । नाऽपि घट-तदभावयोरिवैकज्ञानानन्तरमज्ञायमानत्वं, नित्यत्वादिज्ञाने सत्याप्यनित्यत्वादेर्ज्ञानात् । स्वभावतो विरोधाभिधानं तु स्ववासनामात्रविजृम्भितम् ।

✽ नैयलता ✽

च भ्रमाद् वस्तुसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात् । दर्शितप्रतीतिर्भ्रमत्वाच्च ततो नित्यानित्यत्वादिद्वन्द्वे एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसिद्धिरिति स्वरूपासिद्धिदोषस्य वज्रलेपायभानत्वमेवेति आशङ्कायां सत्यां श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रवरा अभिदधति - असदिति । सत्पदश्च = असच्छब्दघटकीभूतं सत्पदश्च, भावपरं = सत्त्वविषयकबोधजननेच्छयोचरितम् । तथा च = सप्तम्यन्तविरोधपदाध्याहारे सत्पदस्य सत्त्वे लक्षणायाश्च, विरोधे प्रमाणसिद्धेरसत्त्वात् = नित्यत्वाऽनित्यत्वादिविरोधविषयकप्रमाणसिद्धचभावात्, नित्यत्वानित्यत्वादियुगललक्षणे पक्षे एकवृत्तित्वं = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वलक्षणं लिङ्गं निराबाधं = न स्वरूपासिद्ध इति हार्दम् । विरोधविषयकप्रमाणसिद्धचभावमेव प्रकरणकृत् समर्थयति - न हीति । शेषं सुगमम् । वध्यधातकभाव-परस्परपरिहारसहानवस्थानलक्षणप्रसिद्धविरोधाऽसम्भवेऽपि नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुगले स्वभावत एव विरोधो भविष्यतीत्याशङ्कायां प्रकरणकारः प्राह - स्वभावतः तत्र विरोधाभिधानं तु प्रसिद्धप्रत्यक्षतर्कादिप्रतिकूलत्वेन स्ववासनामात्रविजृम्भितं = एकान्तवादाऽऽहितमिथ्यासंस्कारवृन्दविलासमात्रम् । इत्थञ्चाऽत्र प्रमाणेन विरोधाऽसिद्धी न हेतोरेकाश्रयवृत्तित्वलक्षणस्य स्वरूपासिद्धत्वं, येन नित्यानित्यत्वादी परस्परानधिकरणाधिकरणकत्वाभावासिद्धिः स्यादिति तात्पर्यम् ।

होने का कारण यह है कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म में विरोधग्राहक प्रमाणों की परम्परा विद्यमान होने से उक्त प्रतीति का विषय बाधित होता है । विरोध का मतलब यह है कि एक अधिकरण में अवृत्तित्व । नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म में एकाधिकरणवृत्तित्वाऽभाव का प्रमाण से भान होने पर एकाधिकरणवृत्तित्व की प्रतीति के विषय का बाध होने से वह भ्रमात्मक सिद्ध होती है । भ्रम में से तो नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगलधर्म में एकाधिकरणवृत्तित्व की सिद्धि नहीं की जा सकती' <— क्योंकि विरोधगोचर प्रमाण ही अस्मिद्ध है । कारिका में जो 'असत्' शब्द है उसका घटक सत्शब्द भावपरक है यानी सत्त्व का बोधक है । अतः असत्पद का अर्थ असत्त्व = अविद्यमानता होगा । 'विरोधे' पद का अध्याहार करने पर समुदित अर्थ यह होगा कि विरोधविषयक प्रमाणसिद्धि अविद्यमान होने से नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगल धर्म में हेतु 'एकत्र' = एकाश्रयवृत्तित्व निराबाध है । अतः स्वरूपासिद्धि दोष का अवकाश नहीं है । जैसे एक धर्मी में अग्नि और पानी के बीच विरोध का साक्षात् अनुभव होता है, वैसे नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्मों के बीच विरोध का साक्षात् अनुभव नहीं होता है, बल्कि जैसे रूप और रस में एक ही घट आदि धर्मी से निरूपित वृत्तिता का भान होता है वैसे नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्म में भी घट आदि एक धर्मी से निरूपित वृत्तिता का भी भान स्वरसतः होता है । नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्म में छाया और प्रकाश की भाँति परस्परपरिहारनामक विरोध भी नहीं है, क्योंकि एक ही काल में वे एक धर्मी में प्रतीत होते हैं । एक काल में एक अधिकरण में रहने वाले धर्म में परस्परपरिहार विरोध नहीं होता है । यहाँ नित्यत्व और अनित्यत्व के बीच, घट और घटाभाव की भाँति, एक ज्ञान के बाद अज्ञायमानत्वात्मक विरोध भी नहीं है । मतलब यह है कि भूतल में घटज्ञान होने के बाद अनन्तर क्षण में वहाँ घटाभाव का भान नहीं होता है और वहाँ घटाभाव का भान होने पर अव्यवहित उत्तर क्षण में वहाँ घट का बोध नहीं होता है । अतः घट और घटाभाव परस्पर विरोधी कहे जाते हैं । मगर नित्यत्व और अनित्यत्व के लिए ऐसी बात नहीं है । घटादि में द्रव्यार्थादेश से द्रव्यत्वादिना नित्यत्व का ज्ञान होने पर भी पर्यायार्थादेश से घटत्वादिना अनित्यत्व का अबाधितरूप से ज्ञान होता है । इसलिए नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्म में घट और घटाभाव आदि की भाँति विरोध का उद्भावन नहीं किया जा सकता । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि → 'नित्यत्व और अनित्यत्व के बीच स्वभावतः विरोध है' <— क्योंकि ऐसा कहना केवल अपने दर्शन एकान्तवाद से आहित वासना का ही विलास है । इसमें कोई तर्क या तथ्य नहीं है । विरोध का दूसरा कोई प्रकार ही नहीं है, जिसके अनुरोध से एक धर्मी में नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्म के रहने पर विरोध का उद्भावन किया जाय । वैसा करना अपनी बुद्धि की विडंबना है, दूसरा कुछ नहीं ।

॥ प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थ... नियम में परिष्कार की आवश्यकता ॥

अथ प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमात् कथमसत्त्वे पञ्चम्यर्थान्वयः इति चेत् ? न, तवापि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः' (न्या.सू.४/१/६) इति सूत्रे अमूढस्येतरोत्पत्त्यभावादित्यर्थकरणेन निपाताद्यर्थातिरिक्तस्थल एवैतन्नियमस्वीकारात् । वस्तुतः प्रकृतित्वं नैकमिति विशिष्यैतद्व्युत्पत्तिस्वीकारेऽत्र नैयं व्युत्पत्तिः किन्तु भिन्नैवेत्यपि बोध्यम् ।

अथ उक्त्याऽनया दिशा नान्वयो दृष्टचर इति चेत् ? तात्पर्यसत्त्वे किमदर्शनमात्रेण ।

❀ नयतता ❀

नैयायिकः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । प्रत्ययानां स्वादीनां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमात् = स्वप्रकृतिपदार्थान्वितस्वार्थबोधजननव्युत्पत्तेः कथं असत्त्वे = पञ्चमीविभक्त्यप्रकृतिभूताऽसत्यदार्थे, पञ्चम्यर्थान्वयः = प्रमाणप्रसिद्धिप्रकृतिकपञ्चम्यर्थस्यान्वयः प्रमाणप्रसिद्ध्यसत्त्वादित्यन्वयबोधः प्रदर्शितनियमविरोधान्नैव स्वीकर्तुं युज्यत इति पराभिप्रायः ।

प्रकरणकृत्तत्रिराकुरुते - नेति । तत्र = नैयायिकस्य अपि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः' इति सूत्रे = न्यायसूत्रचतुर्थाध्यायसूत्रे, 'अमूढस्येतरोत्पत्त्यभावादित्यर्थकरणेनेति । प्रदर्शितसूत्रे 'तेषां' = रागद्वेषमोहानां रागमोहयोर्द्वेषमोहयोर्वा मध्ये मोहः पापीयान् = बलवद्द्वेषविषयः, अमूढस्येतरोत्पत्त्यभावादि'त्यर्थो व्याख्यातः । अत्र पञ्चमीविभक्तिप्रकृतिभूतमुत्पत्तिपदं न तु नञ्पदं तथापि नञ्पदभावेनाऽन्वितपञ्चम्यर्थान्वयस्याऽभ्युपगतत्वेन न तादृशनियमस्य सार्वत्रिकत्वं कल्पनामर्हति । प्रकृतव्याख्यानबलेन निपाताद्यर्थातिरिक्तस्थल एवैतन्नियमस्वीकारादिति । अभावस्य निपातार्थत्वेन तदन्वितपञ्चम्यर्थान्वयस्य तादृशव्युत्पत्तिविषयातिक्रान्तत्वान्नायं दोषः, प्रत्ययार्थे प्रकृतिनिपाताद्यर्थातिरिक्तार्थान्वयोऽव्युत्पन्न इत्येवोक्तनियमतात्पर्यात् । अत एव 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (न्या.सू. ४/१/) इत्यत्र न्यायसूत्रे अनुपमृद्य प्रादुर्भावाभावादित्यर्थो व्याख्यातः । ईदृशे स्थले प्रकृत्यर्थान्वितनञ्पद-विभक्त्यर्थयोरन्वयस्वीकारात् । ततश्च प्रमाणप्रसिद्ध्यसत्त्वादिति व्याख्यानं साध्येव । पञ्चम्यर्थश्चात्र ज्ञानज्ञाप्यत्वं यथा वह्निमान् धूमादित्यत्र धूमज्ञानज्ञाप्यवह्निमानितिवत् ।

वस्तुतः प्रकृतित्वं नैकं अननुगतत्वादिति विशिष्य = विशेषरूपेण, एतद्व्युत्पत्तिस्वीकारे = परिष्कृतनियमाङ्गीकारे, अत्र = असत्प्रमाणप्रसिद्धित इति स्थले, न इयं = 'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वरूपा व्युत्पत्तिः किन्तु भिन्नैव = प्रकृत्यर्थान्वितनञ्पद-विभक्त्यर्थान्वयनियमरूपैव इत्यपि बोध्यम् । ततश्च न प्रकृते क्षतिरित्यर्थः ।

परः शङ्कते-अथेति । उक्त्या अनया - प्रकृत्यर्थान्वितनञ्पदविभक्त्यर्थयोरन्वयनियमरूपया, दिशा नान्वयो दृष्टचरः प्रकृत्यर्थातिरिक्तार्थान्वितप्रत्ययार्थप्रकारकोऽन्वयः पूर्वमदृष्ट इति नायं सङ्गत इति शङ्काशयः । प्रकरणकारः समाधत्ते - तात्पर्यसत्त्वे

अथ प्र. इति । यहाँ यह शंका की जाय कि → "असत्प्रमाणप्रसिद्धितः में पंचमी विभक्ति प्रसिद्धिपद के अन्यवहित उत्तर में होने से वह उसकी प्रकृति है, न कि 'असत्' पद । शब्दबोधस्थलीय यह मर्यादा है कि प्रत्यय अपने प्रकृतिभूत पद के अर्थ से अन्वित = युक्त ही अपने अर्थ के बोधक होते हैं । अतः पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का अन्वय असत्पद के अर्थ असत्त्व में नहीं हो सकता, किन्तु स्वप्रकृतिभूत प्रसिद्धिपद के अर्थ में ही हो सकता है । मगर यहाँ तो 'विरोधविषय प्रमाण प्रसिद्धि नहीं होने से' ऐसा अर्थघटन किया गया है, जिस में असत्त्व = अभाव में पंचमी विभक्ति के अर्थ का अन्वय ज्ञात होता है, जो उपर्युक्त नियम के विरुद्ध होने से त्याज्य है" ← तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः' इस न्यायसूत्र की व्याख्या ऐसी की गई है कि 'राग, द्वेष व मोह में मोहः पापिष्ठ है, क्योंकि मोह से रहित को राग और द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती है' । इस न्यायसूत्रव्याख्या में उत्पत्तिशब्द के उत्तर पंचमी विभक्ति के अर्थ में प्रकृतिभूत उत्पत्तिपद के अर्थ का अन्वय न मान कर अप्रकृतिभूत 'न'पद के अर्थ अभाव का अन्वय करने से उपर्युक्त नियम दूषित होने से निपातातिरिक्त स्थल में ही तादृश नियम का स्वीकार किया गया है । उक्त सूत्र में 'न'पद निपात है तथा 'असत्'पद में अ निपात है, जिसका अर्थ अभाव होता है । अतः अभावात्मक निपातार्थ से, जो प्रकृत में उभयत्र पंचमी विभक्ति के प्रकृति पद का अर्थ नहीं है, अन्वित पंचमी विभक्ति के अर्थ का मान होने में कोई बाध नहीं है । परिष्कृत नियम के अनुसार तादृश व्याख्या मान्य हो सकती है । वास्तविकता तो यह है कि प्रकृति में रहा हुआ प्रकृतित्व भी एक नहीं है, इसलिए उपर्युक्त नियम का विशेषरूप से स्वीकार करना होगा, जो 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' इस स्थल में प्राप्त नहीं है, किन्तु उससे भिन्न व्युत्पत्ति ही यहाँ प्राप्त है । अतः असत्त्व = अभाव में पंचमी विभक्ति के अर्थ

अन्यथा 'नामूढस्येतरोत्पत्तेरित्यत्राप्येतत्पर्यनुयोगापातात् ।

ननु 'द्वयं न विरुद्धमि'त्यत्र सिद्धसाधनं, रूपसादिद्वय(या)विरोधे परस्याऽप्यविवादात् । द्वयसामान्ये विरुद्धभेदः पुनरसम्भवी गोत्वाश्वत्वयोरेव तदभावादिति चेत् ? न, अत्र द्वयपदस्य नित्यानित्यत्वादियुग्मतात्पर्यकत्वात् ।

❀ गत्यलता ❀

= तथाविधान्वयबोधजननप्रकारकवकिञ्चासत्त्वदशायां, किमदर्शनमात्रेण ? तेन सूत्रमित्यर्थः । विपक्षबाधमाह- अन्यथेति । अन्यत्राऽदृष्टचरत्वेन प्रकृत्यर्थातिरिक्तार्थान्वितविभक्त्यर्थगोचरशब्दबोधाऽनङ्गीकारे, नामूढस्येतरोत्पत्तेरित्यत्रापि, किमुत 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित' इत्यत्रेत्यपिशब्दार्थः एतत्पर्यनुयोगापातात् = अदृष्टचरत्वप्रश्रप्रसङ्गादिति ।

अथ द्वित्वावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित् पक्षत्वं तत्सामान्यस्य वा ? इत्येवं विकल्पयुगलमत्र समुज्जृम्भत इत्याशयेन परः शङ्कते नन्विति । चेदित्यनेनाऽस्यान्वयः । प्रथमविकल्पे आह- 'द्वयं न विरुद्धमि'त्यत्र सिद्धसाधनमिति । कुतः ? इत्याह- रूपरसादिद्वयाऽविरोधे परस्य = प्रतिवादिनः अप्यविवादात् = विप्रतिपत्त्यभावात् । सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेः सत्त्वेन पक्षतायिरहात् यत्किञ्चिद्द्वये विरुद्धभेदलक्षणसाध्यप्रकारकानुमितेः सम्भव इति पराशयः । द्वितीयविकल्पे आह- द्वयसामान्ये = द्वित्वावच्छिन्ने विरुद्धभेदः = अविरोधः पुनरसम्भवी, कुतः ? इत्याह- गोत्वाश्वत्वयोरेव तदभावात् = विरुद्धभिन्नत्व-विरहात्, एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः । न हि गोत्वाधिकरणेऽश्वत्वं तदधिकरणे गोत्वं वा वर्तमानं कदापि केनाऽपि दृष्टमिष्टं वा । द्वित्वश्चाऽत्राऽपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं बोध्यं न तु सङ्ख्यागुणात्मकं, तेन रूपरसादौ गोत्वाश्वत्वादी च गुणत्वा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकाल्यन्ताभावसत्त्वेऽपि न श्रुतिः । विकल्पद्वयविधुरितत्वेन न प्रकृतानुमितिसम्भव इति पराभिप्रायः ।

प्रकरणकारस्तमपहस्तयति- नेति । अत्र = अनुमानप्रयोगे द्वयपदस्य पक्षप्रतिपादकस्य नित्याऽनित्यत्वादियुग्मतात्पर्य-कत्वात् = नित्यत्वाऽनित्यत्व-भेदाऽभेद-सत्त्वासत्त्वादियुगलपरत्वात् । तथा च न परस्य सिद्धसाधनं, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन तत्सामानाधिकरण्येन वा विरुद्धभेदस्य परेणाऽनङ्गीकृतत्वात् । न वाऽसम्भवः गोत्वाश्वत्वादियुग्मस्य पक्षानन्तर्भावात् । पक्षता-वच्छेदकञ्च प्रकृतविचारानुकूलविधादविषयत्वमित्यादिकं स्वयमूहनीयम् ।

का अन्य हो सकता है । यहाँ यह शंका करना कि → 'आपने जो अन्य बताया है, वह अन्यत्र इस रीति से नहीं देखा गया है, अतः उपदर्शित अन्य कैसे मान्य किया जायेगा ?' ← भी नामुनासिब है, क्योंकि अन्यबोध तो तात्पर्य = वक्ता की इच्छा के अनुसार ही होता है । यहाँ पर 'विरोधविषयक प्रमाण प्रसिद्ध न होने से' ऐसा मूलकार का तात्पर्य होने से उसके अनुसार ही अर्थघटन करना चाहिए । अन्यत्र तथाविध अन्यबोध न होने से क्या ? तात्पर्य हो तो तथाविध अन्यबोध हो सकता है । अन्यथा 'नामूढस्य इतरोत्पत्तेः' यहाँ भी यह समस्या तो होगी कि 'पंचमी विभक्ति के अर्थ का स्वप्रकृतिभिन्न 'न'पद के अर्थ से अन्वित हो कर भान कैसे हो सकेगा ?' । इसलिए मानना चाहिए कि अन्यत्र अप्रसिद्ध भी अन्यबोध तात्पर्य के बल से हो सकता है । अतः उपदर्शित व्याख्यान युक्त ही है - वह फलित होता है ।

❀ सिद्धसाधनदोष का परिहार ❀

ननु द्व. इति । यहाँ यह शंका हो कि → "दो धर्म अविरोध है यानी दो धर्म में अविरोधत्वात्मक साध्य को सिद्ध करने के लिए आपने उपर्युक्त अनुमान का प्रदर्शन किया है । मगर यहाँ तो सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि रूप और रस आदि दो धर्म एक घट आदि अधिकरण में अविरोध होते हैं, यह तो प्रतिवादी भी मानते हैं । अतः सिद्ध का ही साधन करने से उक्त अनुमानप्रयोग निरर्थक है, पिष्टपेषणतुल्य है । यदि सभी दो दो धर्म में अविरोध को साध्य बनाया जाय तो यह असंभव ही हो जायेगा, क्योंकि गोत्व-अश्वत्व आदि दो धर्म में ही अविरोधत्व = विरुद्धभेद = एकाधिकरणवृत्तित्व बाधित होता है । गोत्व गाय में रहता है और अश्वत्व अश्व में रहता है, न कि दोनों एक अधिकरण में रहते हैं । अतः न तो द्वित्वसामानाधिकरण्येन अनुमिति हो सकती है और न तो द्वित्वावच्छेदेन अनुमिति हो सकती है" ← तो यह नामुनासिब है, क्योंकि यहाँ 'द्वयं' शब्द से नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद आदि युगल का ग्रहण करने का तात्पर्य है । अतः यहाँ प्रतिवादी नैयायिक आदि की ओर से सिद्धसाधन दोष का उद्घावन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके मतानुसार एक धर्मी में नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगल धर्म का समावेश असिद्ध है । एवं असंभव दोष भी अप्रसक्त है, क्योंकि गोत्व-अश्वत्व आदि धर्म में अविरोधत्व को सिद्ध करने का तात्पर्य ही नहीं है । अतः विवादास्पदीभूत नित्यत्व-अनित्यत्व आदि

नन्वसत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यत्र 'असत्त्वं तत्प्रमाणञ्चे'ति न समासः, अयोग्यत्वात् । प्रमाणप्रसिद्धेरसदिति समासे तु असत्पदस्य पूर्वोपादानानुपपत्तिरिति चेत् ? अत्र केचित् - सतोऽभावोऽसदिति तत्पुरुषादसत्त्वमित्यर्थः, तत्र च पञ्चम्यर्थान्वयः, सत्त्वे च प्रमाणप्रसिद्धेर-
न्वयो व्युत्पत्तिर्वैचित्र्यात् । विभक्त्यन्तरावरुद्धप्रातिपदिकार्थे विभक्त्यन्तरार्थान्वयः कथ-

❀ नयलता ❀

समासासम्भवं परः शङ्कते - नन्विति । अयोग्यत्वादिति । प्रमाकरणत्वस्य सत्त्वव्याप्यत्वेन प्रमाणेऽसत्त्वस्य तादात्म्ये-
नाऽसतो वाऽन्वयो योग्यत्वान्न भवतीति न 'असत्त्वं तत्प्रमाणञ्चे'ति कर्मधारयसमाससम्भवः । तत्पुरुषसमासस्याऽयसम्भव-
माह- प्रमाणप्रसिद्धेरिति समासे = तत्पुरुषसमासे, तु असत्पदस्य पूर्वोपादानानुपपत्तिः अव्ययीभावसमासादावेव पूर्व-
निपातसम्भवात्, तत्पुरुषे संख्यावाचकपदस्यैव पूर्वनिपातसम्भवात् । न च प्रकृते एवमिति न तत्पुरुषसमासस्य सम्भवः ।
द्वन्द्वादेरपि न सम्भव इति असत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यत्र कः समासः ? इति पर्यनुयोगस्य दुरुद्धरत्वमिति शङ्काशयः ।

अत्र समाधानवार्तायां, केचित् विद्वांसो वदन्ति- सतोऽभावः = असदिति तत्पुरुषात् = षष्ठीतत्पुरुषसमासात्,
असत्पदस्य असत्त्वमित्यर्थः । तत्र च = असत्त्वार्थं हि पञ्चम्यर्थान्वयः, असत्त्वप्रतियोगिनि सत्त्वे च प्रमाणप्रसिद्धेः अर्थस्य
अन्वयः = सम्बन्धः, कुतः ? इत्याह- व्युत्पत्तिर्वैचित्र्यात् = नियमविशेषात् । ततश्चाऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः इत्यस्य प्रमाण-
प्रसिद्धिसत्त्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावादित्यर्थः ।

नन्वेवं सति प्रमाणप्रसिद्धिपदार्थे पञ्चम्यर्थान्वयो न स्यात् तद्वाचकपदस्य पञ्चमीविभक्त्यवरुद्धत्वादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते-
विभक्त्यन्तरावरुद्धप्रातिपदिकार्थे = विभक्त्यन्तरेणाऽवरुद्धस्य प्रातिपदिकस्य = नाम्नः अर्थे, विभक्त्यन्तरार्थान्वयः =
विभक्त्यन्तरस्याऽर्थस्य सम्बन्धः कथं ? प्रातिपदिकार्थे स्ववाचकपदाऽव्यवहितोत्तरविभक्त्यर्थस्यैवाऽन्वय इति नियमान्न पञ्चमी-
विभक्त्यन्तप्रमाणप्रसिद्धिपदार्थे षष्ठीविभक्त्यर्थान्वयस्य युक्तत्वमिति शङ्काभिप्रायः ।

धर्म को पक्ष बनाने में कोई दोष नहीं है - यह फलित होता है ।

❀ 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' यहाँ लमाखावेचार ❀

नन्वसत्. इति । 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' का अर्थ 'प्रमाण प्रसिद्धि का अभाव होने से' ऐसा करने पर भी यह समस्या
तो यहाँ मुँह फाड़े खड़ी है कि यहाँ किस प्रकार के समास का अंगीकार किया जाय ? क्योंकि 'असत्त्वं तत्प्रमाणं च' अर्थात्
'असत् ऐसा प्रमाण' इत्याकारक विग्रहवाला कर्मधारय समास तो 'असत्प्रमाण' पद में नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह
समास अयोग्य है । एक ओर प्रमाण बोलना और दूसरी ओर उसे असत् = अविद्यमान कहना यह कैसे हो सकता है ?
प्रमाण हो तो उसे असत् कैसे माना जा सकता है और असत् हो उसे प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? अतः कर्मधारय
समास अयोग्य है । यदि यहाँ 'प्रमाणप्रसिद्धेरसत्' यानी 'प्रमाणप्रसिद्धि से अविद्यमान' ऐसा विग्रह वाला पंचमी तत्पुरुष समास
माना जाय तो 'असत्'पद का पूर्वनिपात नहीं हो सकता, क्योंकि पंचमी तत्पुरुष समास उत्तरपद प्रधान है । मगर मूलकारश्री
ने कारिका में असत्पद का 'प्रमाणप्रसिद्धितः' के पूर्व में ग्रहण किया है । अतः तत्पुरुष समास का भी अंगीकार नहीं
किया जा सकता । द्वन्द्व, बहुव्रीहि, द्विगु, अव्ययीभाव आदि समास की तो कोई संभावना ही नहीं है । अतः 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः'
यहाँ किस समास को मान्य किया जाय ? यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है ।

अत्र केचि. इति । यहाँ उपर्युक्त उलझन को हटाने के लिए अमुक विद्वानों का यह कथन है कि → "सतः अभावः
= असत् ऐसा तत्पुरुष समास करने पर असत्त्व अर्थ प्राप्त होता है । सत् के अभाव का मतलब असत्त्व ही होता है ।
इस असत्त्व पदार्थ में प्रमाणप्रसिद्धितः पद में रही हुई पंचमी विभक्ति के अर्थ का अन्वय होगा । असत्त्व के घटक सत्त्व
में व्युत्पत्तिविशेष से प्रमाणप्रसिद्धि का अन्वय होगा । अतः 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' का अर्थ होगा प्रमाण प्रसिद्धि की विद्यमानता
= सत्ता नहीं होने से (नित्यत्वानित्यत्व आदि में एकाग्रवृत्तित्व निराबाध है) । इस पर यह शंका हो कि → 'प्रमाणप्रसिद्धितः'
में प्रमाणप्रसिद्धिप्रातिपदिक के उत्तर में पंचमी विभक्ति है और आपने 'प्रमाणप्रसिद्धि की सत्ता नहीं होने से' ऐसा अर्थघटन
कर के पंचमी विभक्ति से अवरुद्ध = आक्रान्त प्रमाणप्रसिद्धि पद के अर्थ में षष्ठी विभक्ति के अर्थ का अन्वय किया है ।
मगर ऐसा अन्वय नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो प्रातिपदिक अन्य विभक्ति से अवरुद्ध होता है उसके अर्थ में दूसरी
विभक्ति के अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता है' ← तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'नामूढस्येतरोत्पत्तेः' यहाँ भी यह समस्या

मिति चेत् । तुल्यमिदमन्यत्र ।

अपरे तु 'अ'इति प्रतिषेधार्थको निपातः, 'अ-मा-नो-ना प्रतिषेधे' () इत्यनुशासनात् । तथा च सत्प्रमाणप्रसिद्धेरभावादित्यर्थः ।

परं तु सत्पदं भावपरं, विरोधस्येति शेषाच्च विरोधस्याऽसत्त्वे प्रमाणप्रसिद्धेरित्यर्थः । तथाहि- नित्यानित्यत्वे न विरुद्धे, भिन्नावच्छेदेनैकत्र विशेषदर्शिना प्रतीयमानत्वात् संयोग-

✽ जयलता ✽

प्रतिबन्धा समादधते- तुल्यमिदं दूषणं अन्यत्र = 'नामूढस्येतरोत्पत्तेरिति न्यायसूत्रे । उत्पत्तिपदस्य पञ्चमीविभक्त्यन्तत्वेन तदर्थं षष्ठीविभक्त्यर्थस्याऽन्वयोऽपि कथं स्यात् ? तथा चाऽमूढस्येतरोत्पत्तेरभावादित्येवमन्वयोऽप्यनुपपन्नः । न चैवं परेणाऽपि स्वीक्रियत इति तादृशनियमे सङ्कोचस्याऽऽवश्यकत्वेन प्रदर्शितन्यायसूत्रव्याख्यानवत् 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित' इत्यत्राऽपि तथाविधान्वयस्य प्रामाणिकत्वमिति तात्पर्यम् ।

अत्रैवाऽन्यमतमावेदयति- अपरे त्विति । 'अ'इति शब्दः प्रतिषेधार्थकः = अभाववाचकः निपातः, 'अ-मा-नो-ना प्रतिषेधे' इत्यनुशासनादिति । तथा च = दर्शितानुशासनबलाच्च असत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यस्य सत्प्रमाणप्रसिद्धेरभावादित्यर्थः । तथा च न सनासनिर्वचनानुपपत्तिरित्यपरवामभिप्रायः ।

अत्रैव परेषां मतमाविष्करोति- पर इति । सत्पदं भावपरं = सत्त्वबोधजननेच्छयोच्चरितं, विरोधस्येति शेषाच्च = प्रकृतोपयोग्यश्रुतपदकल्पनाच्च, असत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यस्य विरोधस्याऽसत्त्वे प्रमाणप्रसिद्धेः = विरोधाभावप्रमाणप्रसिद्धेः इत्यर्थः विरोधस्य प्रतियोगितासम्बन्धेनाऽसत्त्वे, तस्य च विषयतासम्बन्धेन प्रमाणेऽन्वयः तस्याऽपि विषयतासम्बन्धेन प्रसिद्धावन्वयः । कथं तत्प्रसिद्धिः । इत्याशङ्कायां प्रदर्शितार्थदाढ्याय वदन्ति- तथाहीति । नित्याऽनित्यत्वे इति पक्षनिर्देशः । साध्यमाहुः न विरुद्धे इति । विरुद्धत्वाभावः साध्यम् । भिन्नावच्छेदेनैकत्र विशेषदर्शिना प्रतीयमानत्वादिति हेतुनिर्देशः । संयोग-

ज्यों कि त्यों बनी रहती है, उत्पत्ति प्रातिपदिक = नाम पंचमी विभक्ति से अवच्छेद है और उसके अर्थ का अन्वय षष्ठी विभक्ति के अर्थ में किया गया है, क्योंकि 'इतर की उत्पत्ति का अभाव होने से' ऐसा अर्थघटन करने से स्पष्ट होता है कि उत्पत्तिपदार्थ में षष्ठी विभक्ति के अर्थ का अन्वय होता है, न कि पंचमी विभक्ति के, जो स्ववाचकपद के अव्यवहित उत्तर में है, अर्थ का अन्वय । उक्त न्यायसूत्र में जैसे उपर्युक्त नियम का त्याग किया जाता है ठीक वैसे ही 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' यहाँ भी प्रमाणप्रसिद्धि में षष्ठी विभक्ति के अर्थ का अन्वय भी हो सकता है । जो समाधान नैयायिक की ओर से 'नामूढस्येतरोत्पत्तेः' सूत्र की व्याख्या में किया जायेगा, वही समाधान 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' की व्याख्या में भी समान होगा । अतः उपदर्शित दिशा से व्याख्या करना संगत प्रतीत होता है" ।

अपरे. इति । यहाँ अन्य विद्वानों की यह राय है कि —> 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' में 'अ'शब्द निपात है, जिसका अर्थ प्रतिषेध = अभाव है, क्योंकि 'अ-मा-नो-ना प्रतिषेधे' इस अनुशासन से 'अ'शब्द का अर्थ प्रतिषेध = अभाव है - यह प्राप्त होता है । इसलिए 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' का अर्थ होगा सत्प्रमाणप्रसिद्धि का अभाव होने से । इस तरह स्वप्रकृति के अर्थ से अन्वित अभाव और पंचमी विभक्ति के अर्थ में परस्पर अन्वय करने पर उपर्युक्त अर्थ फलित होता है - यह तात्पर्य है' <- ।

परं. इति । दूसरे मनीषियों का यह वक्तव्य है, कि सत्पद भावपरक है यानी सत्शब्द का अर्थ सत्तावान् नहीं किन्तु सत्ता है । अतः असत्पद का अर्थ असत्त्व = अभाव । 'विरोधस्य' इस पद का अध्याहार करने पर अर्थ यह होगा कि विरोध के अभाव में प्रमाण प्रसिद्ध होने से अर्थात् विरोधप्रतियोगिकाभावविषयक प्रमाण की प्रसिद्धि होने से नित्यत्व और अनित्यत्व आदि दो धर्म परस्पर अविरोधी हैं । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि —> 'विरोधाभावविषयक प्रमाण कौन है ? उसका स्वरूप क्या है ?' <- क्योंकि अनुमान प्रयोग से ही विरोधाभाव की सिद्धि होती है । वह इस तरह - नित्यत्वानित्यत्व दो धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि वे विशेषदर्शी पुरुष से एक धर्मी में भिन्न अवच्छेदेन प्रतीयमान हैं, जैसे संयोग और संयोगाभाव । एक ही वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव की प्रतीति होने से वे परस्पर विरुद्ध = परस्पर के अनधिकरण में ही रहने वाले नहीं हैं । ठीक इसी तरह एक ही घट में द्रव्यतावच्छेदेन नित्यत्व और घटत्वावच्छेदेन अनित्यत्व प्रतीयमान होने से वे एक धर्मी में परस्परविरुद्ध नहीं हैं, यह सिद्ध होता है । विरोधग्राहक

तदभाववत् । विरोधग्राहकमनुमानादिकं त्वप्रयोजकत्वाद् दुर्बलमिति भावः ।

ननु भवतु प्रागुक्तदिशा नित्यानित्यत्व-भेदाभेदयोरेकत्र वृत्तित्वं, सत्त्वासत्त्वादीनां तु नैवमिति चेत् ? न, सत्त्वमिह न सत्ताजातिमत्त्वं, जात्यादिष्वपि तद्व्यवहारात् । नापि तया सहैकार्थवृत्तित्वं, तदपेक्षया वृत्तित्वमात्रस्यैव तत्त्वौचित्यात्, 'अभावः सन्' इत्य(पि) व्यवहाराच्च । अत एव न प्रामाणिकत्वं वर्तमानकालसम्बन्धित्वं वा तत्, अतीतघटेऽपि सत्त्व-

॥ गत्यतता ॥

तदभाववदिति दृष्टान्तनिर्देशः । यथैकत्रैव वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसंयोगः मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभावश्च प्रतीयेते इति न विरुद्धे तथैकत्र घटे द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्वंसाप्रतियोगित्वलक्षणं नित्यत्वं घटत्वावच्छेदेन ध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणमनित्यत्वञ्च प्रतीयेते इति न परस्परविरुद्ध इति भावः । 'घटो घटत्वेन ध्वस्तो न तु द्रव्यत्वेनाऽपी'ति प्रतीतिस्तु प्रागुपदर्शितैव समर्थिता चेति न पुनः तत्राऽस्माकं यत्नः । नित्यत्वानित्यत्वयोः विरोधग्राहकं अनुमानादिकं तु अप्रयोजकत्वात् = विपक्षबाधकतर्कादिशून्यत्वात्, दुर्बलं = विरोधसाधनायाऽकिञ्चित्करम् । एतेन बाध-सत्प्रतिपक्षादयो दोषाः प्रतिक्षिप्ताः ।

परः शङ्कते- नन्विति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । अभ्युपगमवादेनाऽऽह- भवत्विति । प्रागुक्तदिशा = प्रथमकारिकाव्याख्यानां क्तरीत्या, नित्यानित्यत्वभेदयोः युगलयोः एकत्र एकस्मिन् धर्मिणि वृत्तित्वं = समावेशः, सत्त्वासत्त्वादीनां = सत्त्वासत्त्व-सामान्यविशेषाभिलाष्यत्वानभिलाष्यत्वादियुगलानां तु नैव = नैकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वमत्त्वं, सत्ताजात्यादेः व्याप्यवृत्तित्वेन तदविरोधग्राहकप्रमाणप्रसिद्धिविरहादिति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत्तन्निराकुरुते- नेति । सत्त्वं = सत्त्वपदप्रतिपाद्यं इह प्रकृतविचारे न सत्ताजातिमत्त्वं अभिमतं, कुतः ? इत्याह- जात्यादिष्वपि सत्ताजातिशून्येषु तद्व्यवहारात् = सत्पदप्रयोगात् । 'जातिः सती, विशेषः सन्' इत्यादिनिराबाधव्यवहारप्रसिद्धेः तत्साधारणसत्त्वपदार्थकल्पनाया आवश्यकत्वान्न सत्ताजातिमत्त्वं सत्त्वपदप्रतिपाद्यम् । यदि च परेण जात्यादावव्याप्तिव्यपोहाय सत्तासामानाधिकरण्यं सत्त्वपदवाच्यमित्यभ्युपगम्यते तदाऽऽह- नापीति । तया = सत्ताख्यजात्या, सह एकार्थवृत्तित्वं = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वं सत्त्वपदवाच्यं, जात्यादेः सत्ताजातिमति वृत्तित्वेऽपि तदपेक्षया = सत्ताधिकरणनिरूपितवृत्तित्वापेक्षया लाघवेन वृत्तित्वमात्रस्यैव तत्त्वौचित्यात् = सत्त्वपदार्थत्वीचित्यात् । इत्थञ्च लाघवेन वृत्तित्वस्यैव सत्त्वपदार्थत्वाभ्युपगमेऽपि जात्यादिष्वपि सत्त्वव्यवहारोपपत्तेः न सत्तया सहैकाधिकरणवृत्तित्वं तदर्थत्वेनाऽङ्गीकर्तुमर्हतीति भावः । दोषान्तरमाह- 'अभावः सन्' इत्यपि व्यवहाराच्च । सत्तया सहैकाधिकरणवृत्तित्वस्य सत्त्वपदार्थत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु जात्याद्यधिकरणकाभावविषयक-सत्त्वव्यवहारो न सम्भवति, जात्यादौ सत्ताजातेरनङ्गीकारेण तदवृत्त्यभावे सत्ताधिकरणनिरूपितवृत्तित्वविरहात् । न च समवाय-तादात्म्यान्यतरसम्बन्धेन सत्ताविशिष्टनिरूपितवृत्तित्वस्य तत्त्वमिति वाच्यम्, तथापि विशेषादौ यो घटाद्यभावः तद्गोचरसत्त्व-व्यवहारानुपपत्तेः । अत एव न प्रामाणिकत्वं वर्तमानकालसम्बन्धित्वं वा तत् = सत्त्वं, अतीतघटेऽपि = विनष्टघटेऽपि,

एकान्तवादिप्रदर्शित अनुमान आदि में प्रयुक्त हेतु आदि अप्रयोजक = विपक्षबाधकतर्कशून्य होने से दुर्बल है । अतः उनसे प्रदर्शित अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष का उत्थापन नहीं किया जा सकता । इसलिए प्रदर्शित अनुमान प्रमाण से नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, सत्त्व-असत्त्व आदि धर्म में परस्पर अविरोध की सिद्धि होती है - यह तात्पर्य है ।

ननु भ. इति । यहाँ इस समस्या का कि —> 'एक धर्मी में पूर्वोक्त रीति से भले नित्यत्व और अनित्यत्व तथा भेद और अभेद रहे मगर सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म में तो एक धर्मी से निरूपित वृत्तिता नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । जब कि तथाविध प्रमाण नहीं है तब सत्त्व-असत्त्व आदि में एकधर्मिनिरूपित वृत्तिता कैसे सिद्ध होगी ?' <— यह समाधान है कि यहाँ सत्त्व का मतलब सत्तात्मकजातिमत्त्व नहीं है, क्योंकि जाति आदि में भी सत्त्व का व्यवहार होता है । सत्ता होने की वजह सत्पद का प्रयोग माना जाय तो 'जातिः सती, विशेषः सन्' इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकेगा, क्योंकि उनमें सत्ता नहीं रहती है । सत्ता तो केवल द्रव्य, गुण, कर्म में ही रहती है । अतः सत्ताजातिमत्त्व को सत्त्वपदार्थ नहीं माना जा सकता । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> 'सत्त्वपद का अर्थ सत्ता जाति के अधिकरण में रहना यानी सत्ताअधिकरणवृत्तित्व है । वह तो जाति आदि में भी है, क्योंकि जाति में स्वयं सत्ता जाति न रहने पर भी जाति तो सत्ता के अधिकरण में रहती है । अतः जहाँ जहाँ सत्पद का प्रयोग होगा वहाँ सत्ता जाति के साथ एक अधिकरण की वृत्तिता अवश्य रहेगी, जो सत्त्वपद का अर्थ है' <— क्योंकि सत्ता जाति के साथ एकाधिकरण में रहना =

व्यवहाराच्च । किन्तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं सत्त्वं निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वञ्चाऽसत्त्वमिति । तदुभयमपि घटादौ स्व-परद्रव्यचतुष्टयावच्छेदेन प्रत्यक्षत एव प्रतीयते । प्रतीयन्ति हि पामरा अपि 'घटः कपाले सन्न तु तन्तुष्विति' ।

अथ सत्ता जातिरेव प्रत्यक्षवेद्या योग्यत्वान्न तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं, अयोग्यघटित-

❀ जयलता ❀

सत्त्वव्यवहाराच्च । तर्हि सत्त्वस्याऽसत्त्वस्य च किं स्वरूपं ययोरेकत्र वृत्तित्वसाधनार्थमयमुपक्रमः ? इत्याशङ्कयामाह-
किन्निवृत्ति । विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं = अस्तित्वप्रकारकज्ञानविषयत्वं, सत्त्वं = सत्त्वपदप्रतिपाद्यं, निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वं = नास्तित्वप्रकारकधीनोचरत्वं चाऽसत्त्वं = असत्त्वपदवाच्यमिति । तदुभयं दर्शितविषयताद्वयं अपि एकस्मिन् घटादौ स्वपर-द्रव्यचतुष्टयावच्छेदेन प्रत्यक्षत एव प्रतीयते, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावावच्छेदेन सत्त्वं परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावावच्छेदेन चाऽसत्त्वं अध्यक्षत एव ज्ञायते । तदेव समर्थयति - प्रतीयन्ति हि पामरा अपि 'घटः कपाले सन्न तु तन्तुष्विति' । उपलक्षणात् 'घटः काशीयत्वेन सन्न तु प्रयागीयत्वेन'त्यादेर्ग्रहणम् ।

अत्र संपयोगित्वात् लघुस्याद्वादरहस्यस्थपाठः दृश्यते । तदुक्तं तत्र — "सर्वं हि वस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया सत् परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च न सत् । व्यवहरन्ति हि 'घटोऽयं मार्त्तत्वेन काशीयत्वेनाऽद्यतनत्वेन रक्तत्वेन चास्ति, न तु प्राचीयत्वेन प्रयागीयत्वेन श्वस्तनत्वेन श्यामत्वेन चे'ति । नन्वेतादृशमसत्त्वं व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपर्यवसन्नमिति चेत् ? किं तावता ? तादृशाभावे मानमेव नास्तीति चेत् ? न, 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेरेव तत्र मानत्वात् । यत्किञ्चिद्दर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यत्र तृतीयान्ताल्लभ्यते तत्र प्रकारीभूततद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैव व्युत्पत्तिबललभ्यत्वात् । कथमन्यथा 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'त्यादिप्रतीतेरपि प्रामाण्यम् ? प्रत्यक्षे हि येन रूपेण प्रतियोगिनोऽनुपलम्भः तद्धर्मावच्छिन्ना प्रतियोगिता संसर्गमर्यादया भासते, तादृशधर्म एव च तृतीयान्तेनोद्भिद्यते इति । घटास्तित्वञ्च प्रदेशपुअपरिणमन-रूपं मार्त्तत्वेन न विरुद्धम् । न च समयकालस्याऽनवच्छेदकत्वाद् द्रव्यादिचतुष्टयबाधः, तत्र प्रतीतिबलात् स्वस्यैव स्वास्तित्वा-वच्छेदकत्वात् । अथ यदेव स्वरूपेणाऽस्तित्वं तदेव पररूपेण नास्तित्वमिति द्वयमेव तावत्प्रदर्शनीयमिति चेत् ? नयनमुन्मील्य, प्रावत्वेन नास्तित्ववति पटादौ किं मार्त्तत्वेनाऽस्तित्वमुपलब्धवानसि ? मार्त्तत्वं-मार्त्तभिन्नत्वाभ्यामस्तित्व-नास्तित्वयोः तथाप्यद्वैत-मेवोपलभे इति चेत् ? तत्किं तत्तन्निमित्तापेक्षाकृतविशेषं ज्ञातवानसि ? साहजिकभेदयाच्चा तु पृथग्द्रव्ययोरेवोचिता" — (ल.स्या.रह. पृ. १९) इति ।

परः शङ्कते - अथेति । अयोग्यघटितत्वेन चाक्षुषाद्ययोग्यप्रत्ययघटितत्वेन विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वस्यापि अयोग्यत्वात् = चाक्षुषाद्ययोग्यत्वात् । ततः सत्ताजातिमत्त्वस्यैव सत्त्वपदार्थत्वमस्तु न तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वस्येति नैयायिकाभिप्रायः ।

वृत्तित्व को सत्त्वपदार्थ मानने की अपेक्षा वृत्तित्व को ही सत्त्वपदार्थ मानना मुनासिब है, क्योंकि इसमें लाघव है । दूसरी बात यह है कि 'अभावः सन्' यानी 'अभाव विद्यमान = वृत्ति है' ऐसा व्यवहार भी होता है । मगर अभाव में सर्वत्र सत्ता के अधिकरण में वृत्तिता का भान नहीं होता है । जाति आदि में भी घटाभाव आदि का भान होता है, मगर जाति में सत्ता जाति नहीं रहती है । अतः सत्त्वपद का अर्थ वृत्तित्वमात्र है, न कि सत्ता के साथ एक अधिकरण में वृत्तित्व-यह फलित होता है । इसलिए प्रामाणिकत्व या वर्तमानकालसंबन्धित्व को भी सत्त्वपदार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि विनष्ट घट आदि में भी सत्त्व का व्यवहार होता है । अतीत घट आदि में प्रामाणिकत्व या वर्तमानकालसंबद्धत्व नहीं है, फिर भी वहाँ सत्त्व का व्यवहार होता है । इसलिए यही मानना उचित है कि विधिमुख ज्ञान से वेद्यता ही सत्त्वपदार्थ है और निषेधमुख ज्ञान से वेद्यता यानी निषेधमुख ज्ञान की विषयता ही असत्त्वपदार्थ है । एक ही घट में स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावा-वच्छेदेन विधिमुख प्रत्यक्ष की विषयता और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावावच्छेदेन निषेधमुख प्रत्यक्ष की विषयता प्रसिद्ध ही है । आचल-गोपाल यह प्रतीति प्रसिद्ध है कि 'घट कपाल (मिट्टी) में सत् है, न कि तंतु में' । इस प्रतीति से 'कपालावच्छेदेन घट विधिमुख ज्ञान का विषय है और तंतुअवच्छेदेन निषेधमुख प्रतीति का विषय है' यह सिद्ध होता है । अतः एक ही प्रतीति से एक घट में सत्त्व और असत्त्व का निवेश मुमकिन है । अतः उन्हें परस्पर अविरोधी मानना चाहिए ।

अथ स. इति । यहाँ यह नैयायिक वक्तव्य कि — "सत्ता जाति ही विधिमुख प्रत्यक्ष प्रमाण से वेद्य है, क्योंकि वह योग्य है । विधिमुखप्रतीतिवेद्यत्व को प्रत्यक्ष से वेद्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अयोग्य पदार्थ से घटित होने

त्वेनाऽयोग्यत्वादिति चेत् ? न, योग्यताविशेषेण तादृशस्यापि क्वचित्कस्यचिद् योग्य-
त्वात् ।

एवं सामान्य-विशेषात्मकत्वमपि । स्वभावादेव हि घटोऽनुवृत्तिधियं जनयति, न
तदर्थमतिरिक्तसामान्यकल्पनमुचितम्, यतः तदप्येकमेव सत् पटादौ किं नाऽनुवृत्तिधियं
जनयेत् ? 'धर्मिताविशेषेण तत्र तन्नास्ती'ति चेत् ? धर्मिताविशेषेणैव तर्हि सामान्यस्याऽ-
नुगतधीनियामकत्वं मन्वानस्तादात्म्येनैव तस्य तथात्वं किं नाऽभ्युपैषि, तवाऽन्योन्या-

ॐ अयत्नता ॐ

प्रकरणकारस्तन्निराकरोति - नेति । योग्यताविशेषेण = योग्यताविशेषबलेन तद्गृहस्यापि = अयोग्यघटितस्यापि क्वचित् कस्य-
चित् पुरुषादेः विशेषज्ञस्य ज्ञातुं योग्यत्वात् । 'विनष्टचक्रस्याऽयं पुत्र' इत्यादौ विशेषणस्याऽयोग्यत्वेऽपि तद्विशिष्टस्य योग्य-
त्वेन यथा कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं भवति तद्वदेव प्रकृतेऽपि बोध्यम् । एतेन सत्ताजातिशून्यत्वमेव प्रत्यक्षवेद्यं न तु निषेधमुखप्रत्य-
यवेद्यत्वं, तस्याऽयोग्यघटितत्वेनाऽयोग्यत्वादित्यापि परास्तम् ।

एवं = नित्यत्वानित्यत्वादिविरोधग्राहकप्रमाणप्रसिद्धिविरहात् वस्तुनो नित्यानित्यत्वाद्यात्मकत्वमिव सामान्य-विशेषात्म-
कत्वमपि निराबाधम् । परेण सामान्य-विशेषयोरतिरिक्तत्वस्वीकारात्तन्निरासकृते आह- स्वभावादेव हि अवधारणार्थः घटोऽनुवृत्ति-
धियं = 'अयं घटः', 'अयं घटः' इत्याद्याकारकान्वयबुद्धिं जनयति इति हेतोः न तदर्थं = अनुगतप्रतीति-निर्वाहाय, अति-
रिक्तसामान्यकल्पनं = घटादिभ्यतिरिक्तस्य घटत्वादिसामान्यस्य कल्पनं उचितम् । तदतिरेके बाधकमुपदर्शयति - यतः तदपि
अनन्तव्यक्तिनिष्ठं तदभिन्नं घटत्वादिसामान्यं अपि एकमेव स्वीकृतं सत् पटादौ व्यक्तां किं नानुवृत्तिधियं जनयेत् ? जनयेदेव,
पदार्थान्तरभूतस्य घटत्वादिसामान्यस्य तत्सम्बन्धस्य च समवायरूपस्य परेण सर्वगतत्वेकत्वाभ्युपगमात् ।

ननु समवायस्यैकत्वेन रूपरसादिसमवायवति पटादौ घटत्वादिसमवायसत्त्वेऽपि समवायेन न घटत्वादिमत्ता, तदाधारताया
घटादिस्वरूपत्वादिति नोक्तदोष इत्याशयेन पर आह- धर्मिताविशेषेण घटानुयोगिकत्वविशिष्टसमवायसम्बन्धेन तत्र = पटादौ,
तत् = घटत्वसामान्यं, नास्तीति न तत्रानुगतधीरिति परेणोन्यते चेत् ? तदा प्रकरणकृदाह- धर्मिताविशेषेण सम्बन्धेन एव
तर्हि सामान्यस्य अनुगतधीनियामकत्वं मन्वानो गौतमीयः त्वं तादात्म्येनैव संसर्गेण तस्य सामान्यस्य तथात्वं अनुगत-
बुद्धिजनकत्वं किं नाभ्युपैषि ? विषयतासम्बन्धेनाऽनुगतधियं प्रति तादात्म्येन सामान्यस्य जनकत्वमुचितं न तु घटाद्यनु-
योगिकत्वविशिष्टसमवायरूपेण धर्मिताविशेषसम्बन्धेनेति स्याद्वादिवक्तव्यार्थः । तत्साधकमाह- तव नैयायिकस्य अन्योन्याभाव-

से अयोग्य है" <- ठीक नहीं है, क्योंकि अयोग्यघटित होने पर भी योग्यताविशेष की वजह विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्व भी कभी
किसी के लिए योग्य होता है ।

ॐ तदनु सामान्य-विशेषात्मकता है ॐ

एवं सा. इति । जैसे वस्तु सत्त्वासत्त्वोभयात्मक है, ठीक वैसे ही सामान्य-विशेषात्मक भी है । घट अपने स्वभाव
से ही अनुवृत्तिप्रत्यय = अनुगत बुद्धि को उत्पन्न करता है । हजारों घट में 'यह घट है', 'यह घट है' इत्याकारक अनुगत
बुद्धि का निर्वाह घट के स्वभावविशेष से, जो घट से अभिन्न है, ही उपपन्न हो जाने से तदर्थ घट से अतिरिक्त नित्य
जाति = सामान्य की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि घटत्वादि सामान्य तो एक एवं नित्य है और उसका
संबन्ध समवाय भी नित्य और सर्वगत है । अतः अनेक घट की भाँति पट आदि में भी अनुगत बुद्धि उत्पन्न होने की
समस्या खड़ी होती है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> "समवाय एक नित्य और व्यापक होने से
घटत्वसामान्य का समवाय तो पट आदि में भी है, मगर घटानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से घटत्ववत्ता वहाँ नहीं है, क्योंकि
तादृशाधारता घटस्वरूप होने से पटादि में नामुमकिन है । इस तरह धर्मिताविशेष सम्बन्ध से घटत्वसामान्य पटादि में नहीं
होने से पटादि में 'अयं घटः', 'अयं घटः' इत्यादि अनुगत बुद्धि होने की आपत्ति नहीं है" <- तो यह भी नामुनासिब
है, क्योंकि धर्मिताविशेष सम्बन्ध से अतिरिक्त सामान्य को अनुगत बुद्धि का नियामक मानने की अपेक्षा तादात्म्य सम्बन्ध
से ही सामान्य को अनुगत बुद्धि का नियामक क्यों न माना जाय ? मतलब कि घट को ही सामान्यात्मक मान कर उसे
ही 'अयं घटः', 'अयं घटः' इत्याकारक अनुगत बुद्धि का नियामक मानना युक्त है । ऐसा मानने में लाभ यह है कि
विषयता सम्बन्ध से होने वाली अनुगत बुद्धि के प्रति सामान्य में तादात्म्य सम्बन्ध से कारणता का स्वीकार होने से

भावगर्भव्याप्तिप्रवेशेन कारणतायां लाघवं किं न प्रतिसन्धत्से ?

अथ व्यक्तीतादात्म्ये सामान्यमनेकं सत् सामान्यरूपतामेव जह्यादिति चेत् ? तर्ह्युपाध-
योऽपि किं तन्न जह्युः ? तेषामपि परम्परया जातिरूपतयैकत्वमिति चेत् ? तर्हि अत्राऽ-
प्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं सङ्ग्रहनयार्पणया सम्भवदेकत्वं कः प्रतिक्षिपति ?

✽ जयलाल ✽

गर्भव्याप्तिप्रवेशेन कारणतायां = कारणताशरीरे लाघवं किं न प्रतिसन्धत्से ? अयं भावः भेदसम्बन्धेन कारणतास्वीकारे तदभाववदवृत्तित्वरूपाया व्याप्तेः स्वीकारः कर्तव्यः स्यात्, अमेदसम्बन्धेन तदङ्गीकारे तु तदन्याऽवृत्तित्वरूपाया व्याप्तेरभ्युपगन्त-
व्यत्वेन लाघवम्, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावभिन्नाऽभावत्वरूपात्यन्ताभावत्वाऽपेक्षया तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-
योगिताकाभावत्वरूपान्योन्याभावत्वस्य लघुशरीरत्वात् । अतः तादात्म्येनैव सामान्यस्य कारणत्वं युक्तं, न तु समवायेन । ततश्च
व्यक्त्यतिरिक्तसामान्याऽभ्युपगमस्याऽप्रामाणिकत्वमिति स्थितम् ।

परः शङ्कते- अथेति । सामान्यस्य व्यक्तीतादात्म्ये = व्यक्त्यभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे तु व्यक्तीनामनेकत्वेन तदभिन्न-
त्वात् सामान्यं अपि अनेकं सत् सामान्यरूपतां = अनुगतबुद्धिजनकतां एव जह्यात्, सामान्यस्य नानात्वप्रसक्त्या अननु-
गतत्वापत्तेरिति नैयायिकाभिप्रायः । समाधानावतरणिकायै प्रकरणकृत् पर्यनुपुङ्क्ते- तर्हीति । उपाधयोऽपि अनेकत्वेनाऽ-
ननुगतत्वात् किं तत् = अनुगतबुद्धिजनकत्वं न जह्युः ? न होकमेव चेष्टाश्रयत्वलक्षणं शरीरत्वमनेकशरीरेषु वर्तते न वा
बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वरूपं भूतत्वमेकमेव पृथिव्यादिषु वर्तते । तथापि तत्रानुगतबुद्धिजनकत्वमस्त्येव तद्वत् सामान्यस्य
व्यक्त्यभिन्नत्वेन नानात्वेऽप्यनुगतबुद्धिजनकत्वमुपपत्स्यत इति प्रकरणकृदभिप्रायः ।

परः स्वाशयमावेदयति- तेषां = उपाधीनां अपि परम्परया = परम्परासम्बन्धेन जातिरूपतया एकत्वमिति
नानुगतधीजनकत्वानुपपत्तिः । प्रकरणकृदाह- तर्हीति । अत्र व्यक्त्यभिन्नसामान्ये अपि अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं सङ्ग्रह-
नयार्पणया = सङ्ग्रहनयविवक्षया सम्भवदेकत्वं कः प्रतिक्षिपति ? दर्शितिकत्वस्य व्यक्त्यात्मकसामान्येऽपि सम्भवेन नानुगत-
बुद्धिजनकत्वानुपपत्तिरित्यपि तुल्यम् ।

अन्योन्याभावगर्भित व्याप्ति का प्रवेश होगा, जो अत्यन्ताभावगर्भित व्याप्ति की अपेक्षा लघुभूत है । इस लाघव की वजह तादात्म्य
सम्बन्ध से है घटात्मक सामान्य को अनुगत बुद्धि का कारण मानना उचित है न कि समवाय सम्बन्ध से घटत्व को । आशय
यह है कार्य व्याप्य होता है और कारण व्यापक होता है । यदि समवाय सम्बन्ध से सामान्य को कारण मानने पर
तदभाववदवृत्तित्वस्वरूप व्याप्ति अनुगतबुद्धिस्वरूप कार्य में माननी होगी । मगर तादात्म्य सम्बन्ध से सामान्य को कारण मानने
पर तदन्याऽवृत्तित्वात्मक व्याप्ति उक्त कार्य में माननी होगी, जो लघुभूत है । व्याप्ति में तत् शब्द से सामान्य का ग्रहण
अभिमत है और व्याप्यतावच्छेदक सम्बन्ध विषयता है । सामान्यभिन्न में विषयता सम्बन्ध से अनुगत बुद्धि अवृत्ति होती
है । निष्कर्ष : सामान्य और घट के बीच तादात्म्य सम्बन्ध है, न कि समवाय ।

अथ व्य. इति । यहाँ नैयायिक को यह शंका हो कि —> 'सामान्य को व्यक्ति से अभिन्न मानने पर तो घटादि व्यक्ति
अनेक होने से तदभिन्न सामान्य भी अनेक हो जायेगा । तब तो वह अननुगत होने से सामान्यात्मकता का ही त्याग कर
देगा । अतः सामान्य और व्यक्ति के बीच तादात्म्य सम्बन्ध मानने के बजाय समवाय सम्बन्ध मान कर उन्हें परस्पर भिन्न
ही मानना चाहिए' <- तो इसके खिलाफ नैयायिक के सामने यह समस्या भी खड़ी हो जायेगी कि —> "उपाधि भी अननुगत
होने की वजह अनुगतबुद्धिजनकता का क्यों त्याग न करेगी ? कम्बुग्रीवादिसत्त्वस्वरूप उपाधि अननुगत होने से 'कम्बुग्रीवादिमान्
अयं', 'कम्बुग्रीवादिमान् अयं' इत्यादि अनुगत बुद्धि की जनकता उपाधि में कैसे मुमकिन होगी ?" <- यदि इस समस्या
का समाधान करने के लिए नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "उपाधियाँ अननुगत होने पर भी परम्परासम्बन्ध
से जातिस्वरूप होने से एकपदे का त्याग नहीं करने से अनुगत ही हैं । अतः कम्बुग्रीवादिसत्त्वस्वरूप उपाधि से अननुगतबुद्धिजनकता
उपपन्न हो सकती है" <- तो स्याद्वादी की ओर से भी यह कहा जा सकता है कि सामान्य को घटादिव्यक्तिस्वरूप मानने
पर भी संग्रह नय को प्रधान बनाने पर अपेक्षाबुद्धिविशेष की विषयतास्वरूप एकत्व तो अननुगत घटादिव्यक्तिस्वरूप सामान्य
में भी मुमकिन है । इस तरह सामान्य अनुगत सिद्ध हो सकता है, तो फिर क्यों उसमें अनुगतबुद्धिजनकता नामुमकिन होगी
या उसका कैसे त्याग होगा ? अतः सामान्य और व्यक्ति के बीच तादात्म्यसम्बन्ध मानने पर भी अनुगत बुद्धि की उपपत्ति

एकत्वसङ्ख्यावत्त्वं तु जातौ तवाऽपि नास्ति । 'अनेकस्य कथमेकत्वमि'ति चेत् ? स्वभावादेवेति ब्रूमः ।

अथानुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वनियमाद् घटत्वावच्छिन्नबुद्धौ घटत्वस्यानुगतस्यैव हेतुत्वौचित्यमिति चेत् ? न, लाघवेन व्यञ्जकत्वाभिमतानामुपाधीनामेव तत्त्वस्वीकारौचित्य-

❀ जयलता ❀

ननु व्यक्तिस्वरूपसामान्ये वर्तमानस्याऽपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपस्यैकत्वस्य गौणत्वेन न ततोऽनुगतधिय उपपत्तिरित्या-
शङ्कायां प्रकरणकृदाह- एकत्वसङ्ख्यावत्त्वं तु जातौ तव = नैयायिकस्य अपि नास्ति, जातेर्निर्गुणत्वात् । तद्वदेव प्रकृतेऽपि
भावनीयम् ।

ननु सामान्यस्य व्यक्तितादात्म्ये व्यक्तीनामनेकत्वेन सामान्यस्याऽपि नानात्वप्राप्तौ कथं तत्र दर्शितैकत्वं तत्प्रतीतिर्वा
प्रामाण्यं सम्भवेदित्याशयेन परः शङ्कते- अनेकस्येति । तत्समाधानमिदं - स्वभावादेवेति वयं स्याद्वादिनो ब्रूमः ।
व्यवहारनयेनाऽनेकस्यापि सतो वस्तुनः सङ्ग्रहनयग्राह्यस्वभावादेकत्वमपि निराबाधम् । अत एव स्याद्वादाऽविरोधेनैकत्राऽपि धर्म-
भेदोपरागेणैकत्व-द्वित्वयोरविरोधमभिप्रेत्य 'एगो भवं दुगे भवमि'ति सोमिलप्रश्ने 'द्व्यद्वयाण एगो अहं नाणदंसणद्वयाण दुवे
अहमि'ति (भग.सू.६४८) प्रत्युवाच परमेश्वरः । तत्र सङ्ग्रहनयाभिप्रायेण प्रथममुत्तरं द्वितीयञ्च व्यवहारनयाभिप्रायेणेति
विभाव्यम् ।

अतिरिक्तसामान्यवादी नैयायिकः पुनराशङ्कते- अथेति । अनुगतकार्यस्य अनुगतकारणजन्यत्वनियमात् अन्यथा
कार्याऽऽकस्मिकत्वापत्तेः घटत्वावच्छिन्नबुद्धौ = 'घटोऽयं घटोऽयमि'त्यनुगताकारप्रतीतौ, घटत्वस्य अनुगतस्यैव प्रति घटं
वर्तमानस्यैव विषयविधया हेतुत्वौचित्यम् । एतेनातिरिक्तानुगतसत्तादिसिद्धिरपि प्रदर्शिता सर्वत्रानुगताकारप्रतीतीनामेकविषयत्वौचि-
त्यात् 'सत्सदि'ति 'द्रव्यमि'त्यादिप्रतीतिभिः सत्त्वद्रव्यत्वाद्यतिरिक्तानुगतसामान्यसिद्धेरिति गौतमीयाभिप्रायः ।

प्रकरणकृत्तत्रिराकुरुते - नेति । अतिरिक्त-घटत्वादिसामान्यं परिकल्प्याऽपि सकलघटादिषु तज्ज्ञानार्थं कम्बुग्रीवादि-
मत्त्वादीनामुपाधीनां तद्व्यञ्जकत्वेन कल्पनावश्यकत्वं तु लाघवेन व्यञ्जकत्वाभिमतानां = जातिज्ञानजनकत्वेन यौगाभीष्टानां,
उपाधीनामेव तत्त्वस्वीकारौचित्यात् = 'घटोऽयं, घटोऽयमि'त्याद्यनुगताकारकप्रतीतिजनकत्वाऽभ्युपगमस्य न्यायोचितत्वात्,

होने से उन दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध का स्वीकार करना ठीक नहीं है । यहाँ यह भी शंका करना कि → 'संग्रह
नय की दृष्टि से अनेक व्यक्तिस्वरूप सामान्य में अपेक्षाबुद्धिविशेष की विषयताविशेषात्मक एकत्व तो गौण है, न कि मुख्य
। अतः अनुगत प्रतीति का निर्वाह गौण एकत्व से कैसे हो सकता है ?' ← नामुनासिब है, क्योंकि नैयायिकसंमत घटत्व
आदि सामान्य में भी एकत्व संख्या मुख्य नहीं होने से उसको भी घटत्व आदि सामान्य में गौण एकत्व का ही स्वीकार करना
होगा । नैयायिकमतानुसार केवल द्रव्य में ही एकत्व संख्या आदि गुण रहते हैं । अतः जाति = सामान्य में अनुगत प्रतीति
का निर्वाहक एकत्व गौण ही मानने को उसे मजबूर होना पड़ता है । जैसे व्यक्ति से अतिरिक्त सामान्य में गौण एकत्व होने
पर भी अनुगत प्रतीति की उपपत्ति नैयायिक की ओर से की जाती है, ठीक वैसे ही स्याद्वादी की ओर से भी व्यक्तिस्वरूप
सामान्य में अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतात्मक गौण एकत्व का संग्रह नय की दृष्टि से स्वीकार कर के अनुगत बुद्धि की उपपत्ति
की जा सकती है । यहाँ यह प्रश्न हो की → 'व्यक्ति तो अनेक है, तब व्यक्तिस्वरूप सामान्य में गौण एकत्व भी कैसे
हो सकता है ?' ← तो इसका समाधान यह है कि स्वभावविशेष से ही अनेक में भी एकत्व की कल्पना की जा सकती
है, क्योंकि संग्रह नय की दृष्टि से घट, पट आदि पदार्थ सत् होने से एक ही है ।

❀ नैयायिकसंमत जाति अप्रामाणिक ❀

अथानु. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जा सकता है कि → "अनुगत कार्य सदा अनुगत कारण
से उत्पन्न होता है । इस नियम के बल से 'अयं घटः', 'अयं घटः' इत्याकारक घटत्वावच्छिन्नविषयक बुद्धिस्वरूप अनुगत
कार्य का अनुगत कारण होना चाहिए और वह सभी घट में अनुगत एक घटत्व जाति के सिवा और कुछ नहीं हो सकता ।
इस तरह 'यह घट है', 'यह घट है' इत्याकारक अनुगत बुद्धि का विषयविधया घटत्वात्मक अनुगत कारण जातिरूप में
सिद्ध होता है । स्वयं एक होते हुए अनेक में रहने वाला ही अनुगत हो सकता है । अतः सामान्य = जाति व्यक्तिस्वरूप
न हो कर उससे अतिरिक्त सिद्ध होता है" ←

त्यात्, अन्यथा प्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनापत्तेः ।

अथ व्यञ्जकमपि परम्परया सास्नात्वादिकमेवेति नोपाधिभिर्जात्यन्यथासिद्धिरिति चेत् ? तथाप्यनुगतधीनियामकतया सिध्यतः सामान्यस्याऽभावादिसाधारणस्यैव स्वीकर्तु-

❀ जयलता ❀

यद्वा जातित्वाऽङ्गीकारौचित्यादित्यर्थः । एतेनानुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वनियमोऽपि प्रतिक्षिप्तः, उपाधीनामननुगतत्वेऽपि 'अस्मिन् घटत्वमस्मिन् घटत्वमि'त्यनुगताकारकधीजनकत्वस्य परेणापि स्वीकृतत्वात् । अत एव कम्बुग्रीवादिमत्त्वादीनामुपाधीनां परम्परया कम्बुग्रीवत्वादिजात्या अनुगतत्वेन समानाकारकप्रतीतिजनकत्वकल्पनापि प्रत्युक्ता, व्यर्थगौरवात्, ऋजुगत्या सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनाऽयोगात्, अन्यथा 'तद्धेतोरस्तु किन्तेन !' इतिन्यायस्याऽप्रामाणिकत्वापत्तेः । प्रकरणकृद्विषयबाधमाचष्टे-अन्यथेति । उपाध्यतिरिक्तजात्यङ्गीकारे, यद्वाऽनुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वनियमाऽङ्गीकारे इत्यर्थः । प्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनापत्तेः । अयं भावः अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याऽव्यवहितपूर्ववर्तित्वरूपस्य कारणत्वस्य प्रतिकारणं भिन्नत्वेन प्रवृत्तित्वाद्यवच्छिन्नमनुगतकार्यं प्रति कारणत्वजात्यवच्छिन्नस्य हेतुत्वं स्वीकर्तव्यं स्यात्, परेण अनुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वस्वीकारात् । न चावच्छेदकावच्छेद्योरैक्यप्रसङ्गात् तथास्वीकार इति वाच्यम्, उपाधिस्वरूपावच्छेद्यकारणत्वापेक्षया जातिस्वरूपावच्छेदकीभूतकारणत्वस्य भिन्नत्वसिद्धेरप्रत्यूहात् । एवञ्च कारणाव्यवहितोत्तरवर्तित्वरूपस्य कार्यत्वस्याऽप्यननुगतत्वेन कार्यत्वजात्यङ्गीकारप्रसङ्गोऽपि दुर्निवारः । न चैवं परेणाऽपि स्वीक्रियत इति जातेरुपाधिभिरन्यथासिद्धिरिति निष्कर्षः ।

परः शङ्कते-अथेति । जातेः व्यञ्जकमपि परम्परया = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन सास्नात्वादिकं जात्यात्मकं एव । स्वपदेन सास्नात्वादिग्रहः, तत्समवायिनि सास्नादौ समवेता या गौः तस्यां सास्नात्वादि सामान्यं स्वसमवायिसमवेतत्वसंसर्गेण वर्तते तत्रैव च गोत्वसामान्यमपि व्यज्यते तेनेति नोपाधेः जातिव्यञ्जकत्वं किन्तु जातेरेवेति नोपाधिभिः जात्यन्यथासिद्धिः = जातेश्चरितार्थत्वमिति नैयायिकाकूतम् ।

यद्यपि परम्परासम्बन्धेन जात्यप्रतिसन्धानेऽप्यनुगतबुद्धेर्दर्शनात्त्रेदं युक्तं, व्यर्थगौरवात् तथापि एतदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्साम्प्रतं प्रकरणकारोऽभ्युपगमवादेनाऽऽह- तथापीति । परम्परया जातेरेव जातिव्यञ्जकत्वाऽङ्गीकारेऽपि, अनुगतधीनियामकतया = समानाकारकप्रतीतिजनकविधया सिध्यतः सामान्यस्य अभावादिसाधारणस्यैव स्वीकर्तुमुचितत्वात् । एतेन सामान्यं

न. इति । मगर यह नैयायिकवक्तव्य भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि अतिरिक्त घटत्व आदि व्यापक जाति का स्वीकार करने पर भी घट में ही घटत्व का भान होता है, न कि पट आदि में - इसका निर्वाह करने के लिए 'कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप उपाधि घटत्व जाति की व्यञ्जक = ज्ञानजनक है' ऐसा नैयायिक मनीषी मानते हैं । मतलब कि 'अयं घटः' इत्यादि समानाकारक प्रतीति के प्रति विषयविधया घटत्व जाति को कारण मानना और घटत्व के ज्ञान के प्रति विषयविधया कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप उपाधि को, जो प्रत्येक घट में भिन्न-भिन्न होने से अननुगत है, कारण मानना - ऐसी दो कल्पना करने का गौरव होगा । इसकी अपेक्षा तो यही मुनासिब है कि उक्त उपाधि को ही जातिस्वरूप मान कर अनुगत प्रतीति का कारण = नियामक माना जाय, क्योंकि इस पक्ष में अतिरिक्त घटत्व की कल्पना अनावश्यक होने से लाघव है । यदि उपदर्शित रीति से लाघव प्राप्त होने पर भी उपाधि से अतिरिक्त जाति का स्वीकार किया जाय, तब तो प्रवृत्ति आदि की जनकता के अवच्छेदकविधया कारणत्व आदि अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना करने का प्रसंग होगा, जो नैयायिक विद्वानों को भी मान्य नहीं है । अतः उपाधि से ही अनुगत प्रतीति का निर्वाह होने से उसके प्रति जाति अन्यथासिद्ध होती है ।

अथ व्य. इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "जाति की व्यञ्जक उपाधि भी परम्परासम्बन्ध से जातिस्वरूप ही है । वह इस तरह-सभी गाय में 'यह गाय है, यह गाय है' इत्याकारक अनुगत बुद्धि का विषयविधया गोत्व जाति कारण है और 'इसमें गोत्व है, उसमें गोत्व है' इत्याकारक गोत्वजातिविषयक बुद्धि का कारण सास्नादिमत्त्व प्रत्येक गाय में भिन्न भिन्न होने पर भी उसमें सास्नात्व आदि अनुगत है । अतः गोत्व का व्यञ्जक परम्परासम्बन्ध से सास्नात्व आदि ही माना जाता है, जो कि जातिस्वरूप ही है । अतः उपाधि से जाति की अन्यथासिद्धि = चारितार्थता नहीं हो सकती" ← तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि अनुगत बुद्धि के नियामकविधया सिद्ध होने वाले सामान्य को अभावादिसाधारण मानना ही उचित है, क्योंकि 'यह अभाव है, यह अभाव है' इत्याकारक बुद्धि भी अनुगताकारवाली ही है । अतः

मुचितत्वात्, अन्यथा कारणतावच्छेदकत्वादिनाऽप्यखण्डोपाधेरेव स्वीकारेणोपाधिरेव परम्परासम्बद्धो जातिरित्यस्यापि सुवचत्वात् ।

‘उपाधेः कारणतावच्छेदकत्वे नानाविशेषणतानां कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वे गौरवात्, जातेस्तथात्वे तु समवायस्यैकस्यैव तत्त्वे लाघवाभाऽखण्डोपाधिनाऽपि जातिविलयापत्तिरिति चेत् ? न, विशेषणताया अपि लाघवात्समवायवदेकस्या एव तवाऽभ्युपगन्तुं युक्तत्वात्, नानात्वेऽपि विशेषणतात्वेन तासामनुगमसम्भवाच्च ।

❀ नयलता ❀

द्रव्यगुणकर्मवृत्त्येवेति प्रत्युक्तम्, ‘अयं अभावोऽयमभाव’ इत्याद्यनुगतप्रतीतिरपि सर्ववेद्यत्वात् । न चाऽभावत्वाऽखण्डोपाधेस्तत्रापि सत्त्वेन नानुगततादृशधियोऽनुपपत्तिरिति वाच्यम्, अन्यत्राऽप्यखण्डोपाधेरेव स्वीकारापातेन त्वदभिमतजातेर्विलयप्रसङ्गादित्याशयेन प्रकरणकृद्विपक्षबाधमाह- अन्यथेति । अभावत्वादिलक्षणाऽखण्डोपाधेरेवाऽभावादावनुवृत्तिधीजनकत्वाऽङ्गीकारे, कारणतावच्छेदकत्वादिनाऽपि अखण्डोपाधेरेव स्वीकारेण = अभ्युपगमसम्भवेन उपाधिरेव परम्परासम्बद्धः जातिरित्यस्यापि सुवचत्वात् । तथा चोपाधिभिर्जातिरूपक्षीणत्वप्रसङ्गो दुर्निवार एवेत्याशयः ।

परः शङ्कते - उपाधेः कारणतावच्छेदकत्वे तूपाधेः स्वरूपसम्बन्धेन वर्तमानत्वात् नानाविशेषणतानां कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वे = कारणतावच्छेदकताया अवच्छेदकसंसर्गत्वाभ्युपगमे गौरवात् = तादृशसम्बन्धगौरवात् । न च सम्बन्धगौरवस्याऽदोषत्वान्न क्षतिरिति वाच्यम्, सति लघौ गुरौ तदकल्पनात् । सम्बन्धगौरवनिर्दोषत्वप्रवादोऽपि सम्बन्धशरीरगौरवापेक्षयैव, न तु नानासम्बन्धकल्पनागौरवापेक्षयाऽपि । प्रकृते तु स्वरूपसम्बन्धरूपाया विशेषणताया प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वेन नानाविशेषणतानां तथात्वे गौरवस्य निर्दोषत्वाऽयोगात् । अपि च जातेः = अतिरिक्तसामान्यस्य तथात्वे = कारणतावच्छेदकधर्मत्वे तु समवायस्यैकस्यैव तत्त्वे = कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गत्वे लाघवात् नाऽखण्डोपाधिनापि जातिविलयापत्तिः = जातेरन्यथासिद्धत्वात्प्रसङ्ग इति नैयायिकाभिप्रायः ।

गन्ध-रस-रूपादिप्रतियोगिपृथिवी-जल-तेजःप्रभृत्यनुयोगिभेदेऽपि यथा समवायो न भिद्यते तथैव विशेष्यादिभेदेऽपि विशेषणता न नानात्वमापद्यत इति त्वया स्वीकर्तुमुचितत्वान्न नानाविशेषणतानां कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गत्वकल्पनागौरवप्रसङ्ग इत्याशयेन प्रकरणकृदुपदर्शितनैयायिकाभिप्रायमपाकरोति- नेति । विशेषणताया रत्यादिकं विभावितार्थमेव । यदि च परो विशेषणतानां नानात्वमेव स्वीकुर्यात्तदाऽऽह- नानात्वेऽपि विशेषणतात्वेन तासां = विशेषणतानां अनुगमसम्भवाच्च न गौरवप्रसङ्गः ।

बिना पक्षपात के द्रव्य, गुण, कर्म की भाँति अभाव आदि में भी जाति का स्वीकार उचित है, अन्यथा कारणतावच्छेदकविधया भी अखंड उपाधि का ही स्वीकार कर के उपाधि ही परम्परासम्बद्ध जाति है - यह भी अच्छी तरह कहा जा सकता है ।

☐ उपाधेः कारणतावच्छेदक हो सकती है ☐

उपाधेः इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → “अखंड उपाधि को कारणता आदि का अवच्छेदक मानने पर कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्धविधया अनेक विशेषणता का स्वीकार करना होगा, क्योंकि अखंड उपाधि स्वाश्रय में समवाय सम्बन्ध से न रह कर विशेषणता सम्बन्ध = स्वरूपसंसर्ग से रहती है । प्रत्येक आश्रय का स्वरूप अलग-अलग होने से तादृश सम्बन्ध भी अनेक बन जाने से अनेकविध सम्बन्ध में कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्व की कल्पना का गौरव होता है । जब कि जाति को कारणतावच्छेदक धर्म मानने पर कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय होगा, क्योंकि जाति = सामान्य स्वाश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहती है । इस पक्ष में केवल एक समवाय में कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्धत्व की कल्पना की जाती है, जो पूर्वोपदर्शित मत की अपेक्षा लघु है । अतः अखंड उपाधि से भी जाति का विलय होने का कोई अनिष्ट प्रसंग नहीं है । इसलिए जाति का स्वीकार उचित है” ←

न वि. इति । तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि आप नैयायिक महाशय जैसे रूपसमवाय, रससमवाय, गन्धसमवाय आदि को एक ही मानते हैं, भले ही रूप, रस, गन्ध आदि प्रतियोगी भिन्न भिन्न हो; ठीक वैसे ही विशेषणता को भी, विशेष्य अलग-अलग होने पर भी, एक माननी आपके लिए मुनासिब है । अतः कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्व की नानाविध विशेषणता में कल्पना करने के गौरव को यहाँ अवकाश नहीं है । यदि विशेषणता को एकविध मान कर अनेकविध मान

किञ्च परम्परासम्बन्धेन जात्यप्रतिसन्धानेऽपि उपाधिभिरनुवृत्तिधीजननदर्शनात् स्वभावत एव घटादीनानुवृत्तिधीनियामकत्वमुचितम् ।

अथैवमेतदघटत्वेनापि घटः किं नानुवर्तेत ? स्वभावाऽप्रच्यवादिति चेत् ? न, प्रतिव्यक्ति तुल्याऽतुल्यपरिणतिरूपधर्मयोरेव स्वभावतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वात् । धर्मी पुनः कथञ्चिदनुवृत्तेव्यावृत्त्युभयस्वभाव इति स्पष्टीभविष्यति व्याख्यान्तरे पुरस्तात् ।

अथैवमप्यूर्ध्वतासामान्ये मानाभावः, अङ्गद-कुण्डलादौ काचनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव

❀ नयलता ❀

यत्तु 'व्यञ्जकमपि परम्परया सास्नात्वादिकमेवेति' (पृ. ४७६) परेणोक्तं तत्राऽऽह- किञ्चेति । परम्परासम्बन्धेन = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन, जात्यप्रतिसन्धानेऽपि = गवादिषु सास्नात्वादिजातेरज्ञानेऽपि, उपाधिभिः = सास्नादिमत्त्व-लक्षणैः 'इयं गौरियं = गौरि'त्यनुवृत्तिधीजननदर्शनात् न जातेरनुगतधीनियामकत्वं न्याय्यं किन्तु स्वभावत एव घटादीनां गवादीनाञ्च अनुवृत्तिधीनियामकत्वमुचितमिति ।

परः शङ्कते- अथेति । एवं = स्वभावत एव घटादीनानुवृत्तिधीनियामकत्वे तु एतद्वद्वत्त्वेनापि रूपेण घटः किं नानुवर्तेत ? अनुवर्तेत एव, स्वभावाऽप्रच्यवात् = समानाकारकधीजननस्वभावाऽपरित्यागात्, अन्यथा मृगपतिशृङ्गसहोदरत्व-प्रसङ्गः । न हि स्वभावो जातुचित् परावर्तेत, तत्त्वहान्यापत्तेः ।

प्रकरणकारः तन्निराकुरुते- नेति । प्रतिव्यक्ति तुल्याऽतुल्यपरिणतिरूपधर्मयोः = समानाऽसमानपरिणामयोः एव स्वभावतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वात् एतद्वद्वत्त्वस्याऽतुल्यपरिणामत्वेन न तेन रूपेण घटोऽनुवर्तेत किन्तु घटत्वलक्षण-समानपरिणामेनैव । न च धर्मयोरेव स्वभावतस्तन्नियामकत्वे धर्मिणो घटादेस्वभावतस्तन्नियामकत्वाभिधानं कथं सङ्गच्छते इति वाच्यम्, धर्मधर्मिणोः कथञ्चित्तादात्म्याऽङ्गीकारेण तथावक्तुं सुवचत्वात् । न हि तयोः सर्वथा भेद उपलभ्यते । न चैवमपि धर्मिणोऽनुवृत्तिस्यभावत्वमेव व्यावृत्तिस्वभावत्वमेव वा स्यात्, न तु तदुभयस्वभावत्वं, विरोधादिति वक्तव्यम्, विशेषात्मना व्यावृत्तस्यैव धर्मिणः स्वरूपेण सामान्यात्मनाऽनुवृत्तस्योपलम्भेन तयोः कथञ्चिद्विरोधादित्याशयेनाऽऽह- धर्मीति ।

अनेकान्तवादिमते वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वम्, तत्र सामान्यमनुवृत्तिप्रत्ययाऽसाधारणहेतुर्वस्त्वन्शः । भवति खलु भिन्नप्रदेशकनानाव्यक्तिविशेष्यकैकत्वप्रकारकप्रतीतौ तादात्म्येन तिर्यक्सामान्यं हेतुः । एकप्रदेशकनानापर्यायव्यक्तिविशेष्यकैक-त्वप्रकारकप्रतीतौ च तादात्म्येनोर्ध्वतासामान्यं हेतुरित्येतद्विविधमायनुवृत्तिप्रत्ययाऽसाधारणकारणम् । तदुक्तं परीक्षामुखे माणिक्य-

लिया जाय तो भी विशेषणतात्व तो सभी विशेषणता में अनुगत होने से उसका विशेषणतात्वरूप से अनुगत हो सकता है । अतः व्यभिचार का भी कोई अवकाश नहीं है । दूसरी बात यह है कि - घट में कंबुग्रीवादि को देख कर परम्परासम्बन्ध से कंबुग्रीवत्व आदि जाति का भान न होने पर भी 'यह घट है, वह घट है' इत्याकारक अनुगत बुद्धि उत्पन्न होती है, यह देखा गया है । इस तरह जाति का भान न होने पर भी अनुगत बुद्धि उत्पन्न होती है, तब तो यही मानना मुनासिब है कि घटादि स्वभाव से ही अनुगत बुद्धि का नियामक है, क्यों अतिरिक्त घटत्व की कल्पना का कह उठाया जाए ?

अथै. इति । यहाँ इस शंका का कि —> 'घटत्वरूप से घट यदि अनुगत बुद्धि का जनक है, तो फिर एतद्वद्वत्त्वरूप से भी वह क्यों 'अयं घटः अयं घटः' इत्याकारक अनुगत बुद्धि का जनक नहीं है ? क्योंकि स्वभाव का तो त्याग नहीं होता है' <— समाधान यह है कि प्रत्येक घटादि व्यक्ति में तुल्य परिणाम और अतुल्य परिणामात्मक धर्म ही स्वभाव से अनुगत बुद्धि और व्यावृत्त बुद्धि का निवामक है, धर्मी घट आदि तो कथंचित् अनुवृत्ति और कथंचित् व्यावृत्ति उभय स्वभाव वाला होता है । एतद्वद्वत्त्व धर्म व्यावृत्ति का नियामक है, क्योंकि वह अतुल्यपरिणामात्मक धर्म है । अतः एक ही व्यक्ति तुल्य परिणाम से अनुगत बुद्धि का एवं अतुल्य परिणाम से व्यावृत्त बुद्धि की जनक है - यह फलित होता है । इस विषय की अधिक स्पष्टता इस श्लोक के उत्तरार्ध की अन्य व्याख्या में आगे हो जायेगी ।

❀ तिर्यक्सामान्य की भाँति ऊर्ध्वतासामान्य वास्तविक ❀

अथैव. इति । यहाँ इस शंका का कि —> 'प्रतिव्यक्ति तुल्य परिणाम को अनुगत प्रतीति का नियामक मानने पर भी ऊर्ध्वतासामान्य की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि काचनत्वादिस्वरूप तिर्यक् सामान्य से ही अंगद, कुण्डल आदि

'काञ्चनं काञ्चनमि'त्यनुगतप्रतीतेर्निर्वाहादिति चेत् ? न, 'यदेव काञ्चनमङ्गदीभूतं तदेव कुण्डलीभूतमि'त्यादिप्रतीतीनामेकाकारत्वस्योर्ध्वतासामान्यं विनाऽनुपपत्तेः, विसदृशपरिण-
तिषु तिर्यक्सामान्यानवकाशाच्च ।

किञ्च प्रतीतावनुगतत्वं = एकविषयनिष्ठापरविषयभेदानवच्छेदकावगाहित्वं,

❀ जयलता ❀

नन्दिनाऽपि → 'सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्ड-मुण्डादिषु गोत्ववत् । पराऽपरविवर्तव्यापि
द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिष्विति ← (प.मु.८/३-४-५ सूत्र) ।

अत्र परः शङ्कते- अथेति । एवमपि = समानाऽसमानपरिणामयोरेव स्वभावतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वाऽङ्गीकारेऽपि,
ऊर्ध्वतासामान्ये तिर्यक्सामान्याऽतिरिक्ते मानाभावः । तर्हि पराऽपरविवर्तकालिते द्रव्ये कथं अनुगतबुद्धेः निर्वाहः ? इत्या-
शङ्कयामाह- अङ्गद-कुण्डलादी काञ्चनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव 'काञ्चनं काञ्चनमि'त्यनुगतप्रतीतेः निर्वाहात् = उपपत्ति-
सम्भवात् पराऽपराऽङ्गदकुण्डलादिपरिणामव्यापिद्रव्यात्मकोर्ध्वतासामान्यकल्पनमनतिप्रयोजनम्, गौरवादिति शङ्काशयः ।

प्रकरणकारः तन्निराकुरुते- नेति । 'यदेव काञ्चनमङ्गदीभूतं तदेव कुण्डलीभूतमि'त्यादिप्रतीतीनां एकाकारत्वस्य =
अभिन्नद्रव्यावगाहित्वस्य ऊर्ध्वतासामान्यं अङ्गदकुण्डलपर्यायव्यापि द्रव्यं विना अनुपपत्तेः पूर्वद्रव्यनाशानन्तरं नवीनद्रव्यो-
त्पादाभ्युपगमे एकप्रदेशकनानापर्यायविशेष्यकैकत्वप्रकारकप्रतीतेरसम्भवात् । न च पूर्वकाञ्चननाशानन्तरमभिन्नवकाञ्चनोत्पत्ति-
स्वीकारेऽपि काञ्चनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनेकेकाकारत्वं धेत्तुमुपपत्तेरिति वाच्यम्, तथापि काष्ठ-दण्डस्य भस्मीभवने 'यदेव
काष्ठं दण्डीभूतं तदेव भस्मीभूतमि'ति प्रतीतेरेकाकारत्वस्याऽनुपपत्तेरित्याशयेनाह- विसदृशपरिणतिषु तिर्यक्सामान्यानवकाशाच्च ।
न हि प्रकृते काष्ठत्वस्य तिर्यक्सामान्यत्वं सम्भवति । इत्थञ्च विकार्यकर्मस्थलानुरोधेनाऽप्यन्ततो गत्वोर्ध्वतासामान्याभ्युपगम-
स्याऽऽवश्यकत्वमिति फलितम् ।

किञ्चेति । प्रतीती = प्रतीतिवृत्ति अनुगतत्वं = एकविषयनिष्ठापरविषयभेदानवच्छेदकावगाहित्वमिति । समान-

में 'यह सुवर्ण है' इत्याकारक अनुगत प्रतीति हो सकती है' → समाधान यह है कि 'जो सुवर्ण अंगद नामक आभूषण
था, वही सोना अभी कुंडल बन गया है' इत्याकारक प्रतीतियों में एकाकारता = एकद्रव्यविषयकत्व की उपपत्ति ऊर्ध्वता सामान्य
के बिना नामुमकिन है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि एक काल में विभिन्न व्यक्तियों में जो अनुवृत्ति बुद्धि होती है, वह प्रतिव्यक्ति
समानपरिणतिस्वरूप तिर्यक् सामान्य की वजह होती है । जैसे शाबलेय, बाहुलेय आदि अनेक गाय में एक ही काल में 'यह
गाय है, यह भी गाय है' इत्याकारक जो अनुवृत्ति बुद्धि होती है, वह सास्नादिमन्त्र आदि समानपरिणामात्मक तिर्यक्सामान्य
की वजह होती है । मगर एक ही द्रव्य में भिन्न भिन्न काल में अलग-अलग पर्याय होते हुए भी जो एकाकार प्रतीति होती
है, उसका नियामक ऊर्ध्वतासामान्य है । जैसे एक ही सुवर्ण पूर्व काल में बाहुबंध = कंगन स्वरूप था बाद में कुण्डल बनता
है तब भी 'यह वही सुवर्ण है जो पूर्व में कंगन था और अभी कुण्डल बन गया है' ऐसी एकाकार प्रतीति होती है, वह
कंगन आदि कुण्डल पूर्वापरपर्यायव्यापक सुवर्ण द्रव्य की वजह ही हो सकती है । पूर्व कंगनपर्याय वाले सुवर्ण का नाश और
कुण्डलपर्याय वाले सुवर्ण की निष्पत्ति मानने पर दोनों में अभेदावगाहिनी प्रतीति नहीं हो सकती । इसलिए ऊर्ध्वता सामान्य
का अंगीकार करना आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि यदि तिर्यक् सामान्य से अतिरिक्त ऊर्ध्वता सामान्य का स्वीकार
न किया जाय तब काष्ठ की भस्म होने पर 'जो काष्ठ (= लकड़ा) दण्ड था, वही भस्म हो गया' इत्याकारक प्रतीति कैसे
हो सकेगी ? तिर्यक् सामान्य का मतलब है तुल्य परिणाम । विसदृश परिणाम वाले द्रव्य में सदृशपरिणतिस्वरूप तिर्यक् सामान्य
का अवकाश नहीं है । वहाँ तो दण्ड और भस्म स्वरूप पूर्वापर परिणाम के व्यापक पृथ्वी द्रव्यस्वरूप ऊर्ध्वतासामान्य का अंगीकार,
इच्छा हो या न हो, करना ही पड़ेगा । इसमें कोई अपील नहीं है ।

▢ अनुगतत्व का निर्वचन ▢

किञ्च. इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि प्रतीति में रहने वाला अनुगतत्व एकविषयनिष्ठ अपरविषयभेद
की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक के अवगाहित्वस्वरूप है, जिसका निर्वाहक तिर्यक् सामान्य की भाँति ऊर्ध्वता सामान्य भी
निराधाररूप से है । आशय यह है कि शाबलेय, बाहुलेय, खण्ड, मुण्ड आदि विविध गाय में 'यह गाय है, यह भी गाय
है' इत्याकारक जो प्रतीति होती है; वह शाबलेय आदि गाय में रहे हुए बाहुलेय आदि गाय के भेद की प्रतियोगिता के

तन्निर्वाहकत्वञ्च तिर्यक् सामान्यस्यैवोर्ध्वतासामान्यस्याऽप्यक्षतमिति । दिक् ।

यद्यपीदृशोर्ध्वतासामान्यत्वं चिरस्थायिनां गुणपर्यायाणामपि सम्भवति तथापि 'पूर्वापर-परिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमि' (प्र.न.त.५/५) त्यत्र द्रव्यपदं धर्मिपरमिति न कोऽपि दोषः ।

ॐ जयलल ॐ

कालीनेषु विभिन्नद्रव्येषु खण्ड-मुण्डादिषु 'अयं गौरयमपि गौरि'ति प्रतीतिः खण्डनिष्ठमुण्डभेदानवच्छेदकीभूतगोत्वावगाहिन्या अनुगतत्वनिर्वाहकत्वं यथा तिर्यक् सामान्यस्य तथैव मृत्पिण्ड-स्थास-कोश-शिवकादिषु एकद्रव्यपर्यायिषु पूर्वापरकालभाविषु 'अयं मार्त्तोऽयमपि मार्त्त' इति प्रतीतिः मृत्पिण्डादिनिष्ठस्थासादिभेदनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेदकीभूतमृत्परिणागावगाहिन्या अनुगत-त्वनिर्वाहकत्वं पूर्वापरपरिणामव्यापिद्रव्यलक्षणोर्ध्वतासामान्यस्यापि निरावाधमिति न तिर्यक् सामान्यनोर्ध्वतासामान्यस्याधासिद्धि-रित्याशयेनाह- तन्निर्वाहकत्वं च = निरुक्तानुगतत्वोपपत्त्यनुकूलत्वं हि सदृशपरिणामलक्षणस्य तिर्यक् सामान्यस्यैव ऊर्ध्वता-सामान्यस्याऽप्यक्षतमिति । अधिकं भुमुत्सुभिः 'पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कट-कङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति' (प्र.न.त.५/५) इति प्रमाणनयतत्त्वाल्लोकालङ्कारसूत्रव्याख्या द्रष्टव्या ।

यद्यपीति । 'तथापी'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । ईदृशोर्ध्वतासामान्यत्वं = प्रतीतिनिष्ठानुगतत्वनिर्वाहकनिरुक्तोर्ध्वतासामान्यत्वं, चिरस्थायिनां गुणपर्यायाणां रूप-रसादि-मनुष्यत्व-देवत्वादिरूपाणां अपि सम्भवति नीलरूपनाशानन्तरं रक्तरूपोत्पादेऽपि रूपपरिणामाविनाशात् बालाद्यवस्थानाशानन्तरं युवाद्यवस्थोत्पादेऽपि मनुष्यपर्यायस्य तदुभयव्यापित्वात् । अत एव 'यदेव रूपं नीलतया परिणतमासीत् तदेव रक्तीभूतं' 'य एव मनुष्य बाल आसीत् स एव युवा जात' इत्याद्येकाकारप्रतीतेरप्युपपत्तिः । ततश्च पूर्वापरपरिणामव्यापिद्रव्यस्यैव पूर्वापरपरिणामव्यापकगुणपर्यायाणामयूर्ध्वतासामान्यत्वं स्वीकर्तव्यं स्यात् । तथा च सूत्र-विशेषः प्रसज्येतेति भावः । सनाधत्ते - तथापीति 'पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमि'त्यत्र प्रमाणनयतत्त्वा-लोकालङ्कारसूत्रे, संपूर्ण सूत्रञ्चैव 'पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटक-कङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति । अत्र सूत्रे द्रव्यपदं धर्मिपरं द्रव्यपदस्य धर्मिणि लक्षणायाः स्वीकारात् न कोऽपि दोषः अपसिद्धान्तादिलक्षणः । एतेन 'ऊर्ध्वतासामान्यं तु द्रव्यमेव' (रत्ना.अव.७/६) इति रत्नाकरावतारिकावचनमपि व्याख्यातम् ।

स्वसम्प्रदायानुरोधेनैकद्रव्येऽप्यूर्ध्वतासामान्येन अनेकद्रव्येषु च तिर्यक् सामान्येनानुगतप्रतीतिव्यवहारो प्रदर्श्य साम्प्रतं शुक्ला-ध्वराशरोर्मणिः प्रकरणकार आशाम्बरसम्प्रदायानुरोधेन तदुपपत्तिमाह- दिगम्बरास्त्विति । तत्रये ह्यस्तित्वं द्विविधं स्वरूपा-

अवच्छेदक बाहुलेयत्व आदि का अवगाहन नहीं करती है, किन्तु तदनवच्छेदक सदृश परिणाम का अवगाहन करती है । तादृश अवगाहिता ही प्रतीति में रहने वाला अनुगतत्व है, जिसका निर्वाहक शाबलेय, बाहुलेय आदि गाय में रहा हुआ सदृशपरिणामात्मक तिर्यक् सामान्य है । इसी तरह एक ही सुवर्ण में, जो पूर्व में कंगनपरिणाम वाला था और अभी कुण्डलपरिणाम वाला है, होने वाली 'जो सुवर्ण कंगन था वही कुण्डल बना है' इत्याकारक प्रतीति भी कंगननिष्ठ कुण्डलभेद की प्रतियोगिता के अवच्छेदक सुवर्णपरिणाम का अवगाहन करती है । तादृश अवगाहिता = विपयिता ही उस प्रतीति में रहा हुआ अनुगतत्व है, जिसका निर्वाहक कंगन-कुण्डलात्मक पूर्वापरपरिणाम में अनुगत = व्यापक सुवर्ण द्रव्यात्मक ऊर्ध्वतासामान्य ही है न कि तिर्यक् सामान्य; क्योंकि कंगन और कुण्डल सदृश परिणाम नहीं है किन्तु विसदृश परिणाम है । इस तरह फलित होता है कि प्रतीतिनिष्ठ निरुक्त अनुगतत्व की निर्वाहकता तिर्यक् सामान्य की भौति ऊर्ध्वता सामान्य में भी अक्षत = निराबाध है । इस विषय में अधिक विचार भी किया जा सकता है, यह तो एक दिग्दर्शन है - इस बात की सूचना देने के लिए प्रकरणकार ने दिक् शब्द का प्रयोग किया है । अधिक जिज्ञासु स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हैं ।

यद्य. इति । यद्यपि प्रतीति में रहने वाले निरुक्त अनुगतत्व का निर्वाहक ऊर्ध्वता सामान्य पूर्वापरपरिणामव्यापक द्रव्य की भौति चिरस्थायी गुण एवं पर्याय में भी भुमकिन है तथापि 'पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्य ऊर्ध्वतासामान्य' इस प्रमाणनयतत्त्वा-लोकालङ्कारसूत्र में उल्लिखित द्रव्यशब्द की धर्मी में लक्षणा अभिमत होने से तादृश द्रव्य की भौति चिरस्थायी गुण एवं पर्याय का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि वे भी पर्यायविशेष के धर्मी हैं एवं पूर्वापरपरिणाम में व्यापक = साधारण हो सकते हैं । अतः गुण, पर्याय का भी ऊर्ध्वतासामान्यविधया ग्रहण होने से कोई दोष नहीं है ।

ॐ दिगम्बरासम्प्रदायानुसार अनुगत व्यवहार की उपपत्ति ॐ

दिगम्बरास्तु एकद्रव्येषु घटादिषु स्वरूपास्तित्वेनाऽनुगतव्यवहारः । स्वरूपास्तित्वश्च स्वगुणपर्यायैरुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैश्च द्रव्यस्य स्वभाव एव । तदुक्तं 'सम्भावो हि सहावो, गुणेहिं सगपत्तएहिं चित्तेहिं' । द्रव्यस्य सत्त्वकालं उत्पादव्ययध्रुवतेहिं ॥ (प्र.सा.२/४) 'इति । अयमर्थः द्रव्यादिचतुष्टयेन द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृ-करणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणाञ्च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । तथा द्रव्यादिचतुष्टयेन गुणेभ्यः पर्या-

❀ जयतता ❀

स्तित्वं सादृश्यास्तित्वश्च । प्रथमं लोकद्रव्येष्वनुगतधीव्यवहारकारणं द्वितीयञ्चानेकद्रव्येषु शाबलेयबाहुलेयादिषु अनुगतप्रतीति-प्रयोगकारणम् । तत्संवादार्थं कुन्दकुन्दस्वामिरचितप्रवचनसारगाथाभेदोपदर्शयति - सम्भावो इति । तत्सम्प्रदायावलम्बिव्याख्या-नानुरोधेन तां विवृणोति - अयमर्थः इति । श्रोतृणामुपकाराय दृष्टान्तादिगर्भा दिगम्बरीयव्याख्यामेव वयं दर्शयामः ।

अब अमृतचन्द्रीयव्याख्या → 'अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद् विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत् ? तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते, यतो हि परस्पर-साधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कर्तृस्वरवत् । यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कर्तृस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणाञ्च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कर्तृस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कर्तृस्वरस्य स स्वभावः । तथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायैश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कर्तृस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कर्तृस्वरस्य मूलसाधन-तया तैः निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायैश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैः निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः । किञ्च यथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कर्तृस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाऽङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्ति-युक्तस्य कर्तृस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गद-पीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कर्तृस्वरस्य स स्वभावः । तथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाऽङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरण-रूपेण कर्तृस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाऽङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कर्तृस्वरस्य

दिग. इति । यहाँ तक श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय के अनुसार प्रतीतिनिष्ठ अनुगतत्व के व्यवहार का निरूपण करने के पश्चात् अब प्रकरणकार श्रीमद्जी दिगम्बरान्ताय का निरूपण करते हैं । दिगम्बर जैन मनीषियों का यह मन्तव्य है कि - एक ही द्रव्य से निष्पन्न घट, कपाल, कपालिका आदि में जो अनुगत व्यवहार होता है कि - 'जो मिट्टी घट थी वही मिट्टी अब कपाल बन गई है'; इसका नियामक स्वरूपास्तित्व है । स्वरूपास्तित्व का मतलब है अपने गुण-पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य के सद्भावात्मक द्रव्यस्वभाव । इसका हवाला देते हुए प्रकरणकार कुन्दकुन्दस्वामी के प्रवचनसार की गाथा बताते हैं, जिसका शब्दार्थ है 'विविध गुण, पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का सर्व काल में सद्भाव = सत्ता है वही द्रव्य का स्वभाव है' । इसका भावार्थ यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से गुण एवं पर्याय, द्रव्य से पृथक् = भिन्न उपलब्ध नहीं होते हैं । जैसे कि घट से पृथक् पट आदि की उपलब्धि होती है, वैसे घट से पृथक् घटीय नीलरूपादि गुण एवं जलाहरणादि पर्याय की उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि द्रव्य भी कर्ता, करण, अधिकरणविधया गुण एवं पर्याय के स्वरूप

येभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्त्रादिस्वरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैः निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः ।

एवं द्रव्यादिचतुष्टयेन द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्यय-ध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तै-

✽ जयलता ✽

मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैः निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः' च-- (प्र.भा.२/४, अ.व्या.पृ.११५) इत्येवं वर्तते ।

अत्र जयसेनीयव्याख्या त्वेवम् → 'सहायो हि स्वभावः स्वरूपं भवति हि स्फुटम् । कः कर्ता ? सम्भावो = सद्भावः शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्वम् । कस्य स्वभावो भवति ? द्रव्यस्य = मुक्तात्मद्रव्यस्य । तच्च स्वरूपास्तित्वं यथा मुक्तात्मनः सकाशात्पृथग्भूतानां पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां शेषजीवानाञ्च भिन्नं भवति न च तथा, कैः सह ? गुणेहिं सह पञ्जेणहिं = केवलज्ञानादिगुणैः किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिस्वकीयपर्यायैश्च सह । कथम्भूतैः ? चित्तेहिं = सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकाय-त्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैः न केवलं गुणपर्यायैः सह भिन्नं भवति । उत्पादव्ययध्रुवत्तेहिं = शुद्धात्मप्राप्तिरूप-मोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षणं ध्रौव्यं चेत्पुक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्नं न भवति । कथम् ? सर्वकालं = सर्वकालपर्यन्तं यथा भवति । कस्मात्तैः सह भिन्नं न भवतीति चेत् ? यतः कारणाद् गुणपर्यायाऽस्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वं साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वं साध्यत इति । तद्यथा यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सुवर्णादिभिन्नानां पीतत्वादिगुण-कुण्डलादिपर्यायाणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णस्य सद्भावः तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परमात्मद्रव्याद-भिन्नानां केवलज्ञानादिगुण-किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भावः । यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुण-कुण्डलादिपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव पीतत्वादि-गुण-कुण्डलादिपर्यायाणां स्वभावो भवति तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः केवलज्ञानादिगुण-किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्या-येभ्यः सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव केवलज्ञानादिगुण-किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणां स्वभावो ज्ञातव्यः । अथेदानीमुत्पादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्वं कथ्यते । यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णादि-भिन्नानां कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायविनाश-सुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णसद्भावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नानां मोक्षपर्यायोत्पाद-मोक्षमार्गपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्वभावः । यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्यय-सुवर्णत्वलक्षण-ध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूतसुवर्णत्व-लक्षणध्रौव्याणां सद्भावः तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पाद-मोक्षमार्गपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षण-

को ले कर होने वाली प्रवृत्ति से युक्त होता है तथा गुण एवं पर्याय की निष्पत्ति भी द्रव्यास्तित्व से ही निष्पन्न है । इस तरह अपने से अपृथग्भूत गुण एवं पर्याय से द्रव्य का जो अस्तित्व है, वही द्रव्य का मूलभूत स्वभाव है । जैसे द्रव्य से पृथक् = स्वतंत्र गुण-पर्याय की उपलब्धि नहीं होती है ठीक वैसे ही द्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा गुण एवं पर्याय से स्वतंत्र = रहित केवल द्रव्य की भी उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि कर्ता-करण-अधिकरणात्मना द्रव्य के स्वरूप को ले कर ही गुण एवं पर्याय की प्रवृत्ति होती है और ऐसे गुण-पर्याय से ही द्रव्यनिष्पत्ति होती है । द्रव्य के मूलसाधनविधया गुण एवं पर्याय से जो द्रव्यास्तित्व निष्पन्न होता है, वही द्रव्य का स्वभाव है । जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा द्रव्य से पृथक् = शून्य गुण एवं पर्याय की उपलब्धि नहीं होती है, ठीक वैसे ही द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की भी द्रव्य से पृथक् उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के स्वरूप को ले कर ही द्रव्य की प्रवृत्ति का प्रारंभ होता है और द्रव्य के अस्तित्व से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की निष्पत्ति को अवकाश मिलता है । अपृथग्भूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व = सद्भाव है, वही द्रव्य का स्वभाव है । जैसे द्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा उत्पादादि

रुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । तथा द्रव्यादिचतुष्टयेन उत्पादव्ययध्रौव्ये-
भ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्मादिस्वरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पाद-
व्यय-ध्रौव्यैः निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स
स्वभाव इति । तच्च स्वरूपास्तित्वमिति गीयते । परस्परकरम्बेतशक्त्या निष्पाद्यनिष्पत्ति-
मदभाववतामस्तित्वं स्वरूपास्तित्वमिति परमार्थः ।

अनेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारस्तु सादृश्यास्तित्वेन । तदुक्तं -

‘इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सर्वगतं ।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरसहेण पण्णत्तं” ॥ (प्र.सा.२/१) इति ।

❀ मथलता ❀

ध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव मोक्षपर्यायोत्पाद-मोक्षमार्गपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूत-
मुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभाव इति । एवं यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह स्वरूपास्तित्वा-
भिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्नं व्यवस्थापितं तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थः (प्र.सा.ज.टी.२/४-पृ.११७) ।

एकद्रव्यपर्यायेषु स्वरूपास्तित्वेनानुगतव्यवहारमुपपादयानेकद्रव्येषु तदुपपत्त्यर्थमाह-अनेकद्रव्येषु शाबलेय-बाहुलेयादिवैक-
कालिकेषु अनुगतव्यवहारस्तु सादृश्यास्तित्वेनेति । अत्र प्रवचनसारगाथामाह- तदुक्तं- इहेति । अत्र तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिरेवं
→ ‘इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्त्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्ति-
त्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्त्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्य-
लक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोद्धव्यम् । एवं ‘सदि’त्यभिधानं ‘सदि’ति परिच्छेदनञ्च सर्वार्थपरामर्शः स्यात् । यदि
पुनरिदमेव न स्यात्तदा किञ्चित्सदिति किञ्चिदसदिति किञ्चित्सच्चाऽसच्चेति किञ्चिदवाच्यमिति च स्यात् । तत्तु विप्रतिषिद्ध-
मेवाऽप्रसाध्यञ्चैतदनोकहवत् । यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्व-
स्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्याद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । तथा बहूनां बहुविधानां
द्रव्याणामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्याद्भासिना
‘सदि’त्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । तथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्याद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापिते-
नैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुचकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षण-
भूतेन सादृश्याद्भासिना ‘सदि’त्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्ना-
नात्वमुचकास्ति’ ← (प्र.सा.अ.२/गा.५ अ.टी.पृ.११८) ।

अत्र तात्पर्यवृत्तिस्त्येवं → ‘इह विविहलक्खणाणं = इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणानां
भिन्नलक्षणानां चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थानां, लक्खणमेगं तु एकमखण्डलक्षणं भवति । किं ? कर्तुं ‘सदि’ति = सर्वं सदिति

की द्रव्य से पृथक् उपलब्धि नहीं होती है, ठीक वैसे ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से स्वतंत्र =
पृथक् = रहित द्रव्य की भी उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि कर्ता-करण-अधिकरणविधया द्रव्यस्वरूप को ग्रहण कर के ही
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की प्रवृत्ति प्रवर्तमान होती है और ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से ही द्रव्य की निष्पत्ति का अस्तित्व होता
है । द्रव्य के मूलसाधनविधया ऐसे अपृथग्भूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से जो द्रव्यास्तित्व निष्पन्न होता है, वह द्रव्य का स्वभाव
है, वही स्वरूपास्तित्वशब्द से अभिप्रेत है । इसका तात्पर्य यह है कि परस्परमिथिन शक्ति से निष्पन्न होने वाली निष्पत्ति
जिनमें होती है, उन भावों के आश्रय का जो अस्तित्व है वही स्वरूपास्तित्व है । इसी स्वरूपास्तित्व की वजह एक द्रव्य
के विभिन्न पर्याय में अनुगत व्यवहार होता है ।

अनेकद्र. इति । जैसे विभिन्न काल की अपेक्षा विविध पर्याय वाले एक ही द्रव्य में अनुगत प्रतीति एवं व्यवहार होता
है, ठीक वैसे ही एक काल में अनेक द्रव्य में भी अनुगत प्रतीति एवं व्यवहार होता है । प्रथम काल में स्वरूपास्तित्व
नियामक बनता है, और द्वितीय स्थल में सादृश्यास्तित्व नियामक होता है । एक ही काल में नील, पीत, रक्त आदि
अनेक घट में ‘यह घट है, यह भी घट है’ इत्यादि अनुगत व्यवहार उनके सादृश्यास्तित्व से होता है । इस विषय में प्रवचनसार

अथ सादृश्यास्तित्वानामपि प्रतिव्यक्ति स्वरूपभेदात् स्वरूपास्तित्वानामिव नानेक-द्रव्यानुवर्तकत्वं स्यादिति चेत् ?

अत्र केचित् सत्यपि प्रतिव्यक्ति स्वरूपभेदाऽविशेषे सादृश्यास्तित्वेनैव अनेक-द्रव्येष्वनुगतधीः न तु स्वरूपास्तित्वेनैति स्वभावस्यैव विजृम्भितमित्याहुः ।

वस्तुतः स्वरूपास्तित्वं प्रतिव्यक्ति अनेकमेव । सादृश्यास्तित्वं पुनरेकमपीति भिन्न-

❀ जयलता ❀

महासत्तारूपम् । किमविशिष्टं ? सव्यगयं = सङ्करव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्धसङ्ग्रहनयेन सर्वगतं सर्वपदार्थ-व्यापकम् । इदं केनोक्तम् ? उपदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं = धर्मं वस्तुस्वभावसङ्ग्रहमुपदिशता खलु स्फुटं जिणवरवृषभेण प्रज्ञानमिति । तद्यथा - यथा सर्वे मुक्तात्मानः सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरिता-वस्थलोकाकाशप्रमितशुद्धाऽसङ्ख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किञ्चिदुनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च सङ्करव्यतिकरपरिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषां सिद्धजीवानां ग्रहणं भवति तथा 'सर्वं सत्' इत्युक्ते सङ्ग्रहनयेन सर्वपदार्थानां ग्रहणं भवति । अथवा 'सेनेयं वनमिदिमि'त्युक्ते अश्वहस्तादिपदार्थानां निम्बाम्रादिवृक्षाणां स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नानां युगपद् ग्रहणं भवति तथा 'सर्वं सदि'त्युक्ते सति सादृश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसङ्ग्रहनयेन सर्वपदार्थानां स्वजात्यविरोधेन ग्रहणं भवतीत्यर्थः
← (प्र.सा.२/५- ज.टी. पृ.११८) इति ।

पर शङ्कते- अथेति । अनेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारनिर्वाहकत्वेनाऽभिमतानां सादृश्याऽस्तित्वानामपि, किं पुनरनेकद्रव्याणां ? इत्यपिशब्दार्थः, प्रतिव्यक्ति = व्यक्तौ व्यक्तौ स्वरूपभेदात्, स्वरूपास्तित्वानामिव नानेकद्रव्येष्वनुवर्तकत्वं स्यात् । तदनुगतत्वे चानेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारोऽपि कथं सङ्गच्छेत ? न हि यदेव सादृश्यास्तित्वं शाबलेये तदेव बाहुलेयादौ, अस्तित्वस्य स्वाश्रयरूपत्वेन तद्भेदेऽस्तित्वभेदस्य न्याय्यत्वात् । यदि च सादृश्यास्तित्वानुगतत्वविरोधेऽपि तेनाऽनेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारः स्यात्, तर्हि स्वरूपास्तित्वेनैकद्रव्यपर्यायिष्विवानेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारोऽस्तु किं सादृश्यास्तित्वकल्पनया ! इत्यथाशयः ।

आदौ केषाञ्चिन्मतेन समाधानमाविष्करोति- अत्र केचिदिति । आहुरित्यनेनास्यान्वयः । सत्यपीति । तृणादौ दाह्यत्वाऽविशेषेऽपि ज्वलनस्यैव तद्दाहकत्वं न तु जलस्य, पावकादौ दाहकत्वाविशेषेऽपि तृणादेरेव तद्दाह्यत्वं न त्वाकाशादेरित्यत्र यथा तथास्वभावमहिमा तथैव प्रतिव्यक्ति शाबलेयबाहुलेयादौ सादृश्यास्तित्वस्वरूपभेदाऽविशेषे सत्यपि सादृश्यास्तित्वेनैव अनेकद्रव्येषु शाबलेय-बाहुलेय-खण्ड-मुण्डादिषु अनुगतधीः तथाविधव्यवहारश्च न तु स्वरूपास्तित्वेन इति स्वभावस्यैव विजृम्भितम् । एतेनैकद्रव्येषु कथं न सादृश्यास्तित्वेनाऽनुगतधीव्यवहारौ, कथं वाऽनेकद्रव्येषु स्वरूपास्तित्वेन नानुगतधी-व्यवहारौ ? इत्यपि प्रत्याख्यातम्, स्वभावस्याऽपर्यनुयोज्यत्वात् ।

प्रकरणकारेण आहुरित्यनेन स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्वीजश्चैवं सत्येकान्तस्वभाववादिमतप्रवेश इति । अत एवाह- वस्तुतः इति । स्वरूपास्तित्वं स्वद्रव्यात्मकत्वेन प्रतिव्यक्ति अनेकं = भिन्नं एव, सादृश्यास्तित्वं पुनः

में कहा गया है कि - "इस लोक में वस्तु धर्म के उपदेश देते हुए श्रीजिनवरवृषभ ने ऐसी प्ररूपणा की है कि विविध लक्षण वाले अनेक द्रव्यों में 'सत्' ऐसा एक लक्षण सर्वगत = सर्वद्रव्य में रहता है = सर्वद्रव्यसाधारण सादृश्य है" । इस की वजह विभिन्न द्रव्य में अनुगत व्यवहार होता है ।

❀ अनेक द्रव्य में सादृश्यास्तित्व से ही अनुगत व्यवहार ❀

अथ, इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि → "जैसे स्वरूपास्तित्व प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग है, ठीक वैसे ही सादृश्यअस्तित्व भी प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होता है । तब एक सादृश्यास्तित्व अनेक द्रव्य में कैसे अनुगत हो सकता है ? अननुगत होने से सादृश्यास्तित्व अनेक व्यक्तियों में अनुगत व्यवहार का जनक नहीं हो सकता है" ←

अत्र के. इति । यहाँ अमुक विद्वानों का यह समाधान है कि स्वरूपास्तित्व की भाँति सादृश्यास्तित्व प्रतिव्यक्ति भिन्न स्वरूप वाला होने पर भी 'सादृश्यास्तित्व ही अनेक द्रव्यों में अनुगत बुद्धि एवं अनुगत व्यवहार का जनक है, न कि स्वरूपास्तित्व' इस विषय में उसका स्वभाव ही नियामक है । उसका स्वभाव ऐसा ही क्यों है ? ऐसा प्रश्न सावकाश नहीं है, क्योंकि वस्तुस्वभाव के विषय में प्रश्न नहीं किया जा सकता ।

द्रव्यानुवर्तकमिति बोध्यम् ।

अत्र यौगाः सङ्गिरन्ते । ननु सादृश्यं तद्विभक्तत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्वम् । स्वस्मिन् स्वसादृश्यवारणाय 'तद्विभक्तत्वे सती'ति । न च 'गगनं गगनाकारमि'त्यादावव्याप्तिः; उप-
मिति क्रियाऽनिष्पत्त्याऽनन्वयस्याऽलक्ष्यत्वात् । अत एवोपमेयोपमाया अतादृश्या लक्ष्यत्वादेव
न तत्राऽतिव्याप्तिः ।

❀ नवतत्त्वा ❀

कथञ्चित्स्वद्रव्यव्यतिरिक्तत्वेन एकमपीति भिन्नद्रव्यानुवर्तकं = नानाद्रव्यानुवर्तकमिति तेनैवानेकद्रव्येष्वनुवर्तकधीव्यवहारौ न तु
स्वरूपास्तित्वेनेत्येव वक्तुमर्हति येनैकान्तस्वभाववादिमतप्रवेशो न स्यादिति बोध्यम् ।

अत्र = सादृश्यास्तित्वेनानेकद्रव्येष्वनुवर्तकधीव्यवहारसमर्थने यौगाः = नैयायिकाः सङ्गिरन्ते → नन्विति । आहुरित्य-
नेनास्यान्वयः । सादृश्यं = सादृश्यपदवातेषां नातिरिक्तं किन्तु तद्विभक्तत्वे = उपमानविभक्तत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्वं = उप-
मानवृत्तिधर्मवत्त्वम् । तद्वतत्वञ्चात्र न लक्षणघटकं; गौरवात्, असम्भवापत्तेश्च । किन्तु तादृशधर्मस्योपमानोपमेयसाधारणत्व-
बोधनाय । सादृश्यघटकधर्मश्च क्वचिज्जातिस्वरूपो यथा 'घटसदृशः पटः' इत्यादी । क्वचिचोपाधिरूपः यथा गोत्वं नित्यं
तथाऽश्वत्वमपीत्यादौ यथा वा चन्द्रसदृशं मुखमित्यादौ वर्तुलत्व-तेजस्वित्वाद्वादकत्वादि । स्वस्मिन् उपमेये स्वसादृश्यवारणाय
= अतिव्याप्तिवारणाय तद्विभक्तत्वे सतीति विशेषणदानम्; घटादौ घटादिभेदविरहान्न 'घटो घटसदृश' इत्यादेः प्रसङ्गः । न
च सादृश्यशरीरे तद्विभक्तत्वोपादाने 'गगनं गगनाकारमि'त्यादाविति 'गगनं गगनाकारं, सागरः सागरोपमः । रामरावणयोर्युद्धं
रामरावणयोरिव ॥ () इति कारिका, अत्र अव्याप्तिः, गगनादौ गगनादिप्रतियोगिकभेदविरहात् । अव्याप्तिनिरासे हेतु-
माह- उपमिति क्रियाऽनिष्पत्त्येति । 'सादृश्यमुपमाभेद' इत्यालङ्कारिकसूत्रेण भेदघटितसादृश्यस्योपमात्वप्रतिपादनाद् गगनादौ
गगनादिभेदासम्भवेनोपमिति क्रियाजन्माऽयोगात् नात्रोपमालङ्कारः किन्त्वनन्वयालङ्कार एव । अनन्वयस्य अलङ्कारस्य अलक्ष्यत्वात्
तत्रोक्तसादृश्यलक्षणाऽगतेर्न दूषणत्वं किन्तु भूषणत्वमेवेति नाऽव्याप्तिः । अत्र महादेवस्त्वव्याप्तिनिराकरणाय → 'तद्वृत्तिधर्म-
मात्रस्य तत्र विवक्षितत्वात्, युगभेदविवक्षया भेदसत्त्वाद्वा । अत एव युगभेदविवक्षायामिहोपमालङ्कारोऽन्यथाऽनन्वयालङ्कार
इत्युक्तमालङ्कारिकः' ← (मु.दिन.पृ.७२) इत्याह । अत्र → 'युगभेदविवक्षयेति युगभेदप्रयुक्ततत्तद्युगविशिष्टगगनभेदविवक्षये-
त्यर्थः । भेदसत्त्वाच्चेति गगने गगनभेदसत्त्वाच्चेत्यर्थः' ← (मु.राम.पृ.७३) इति रामरुद्रो व्याचष्टे ।

अत एवेति । यस्यामुपमिति क्रियानिष्पत्तिस्तस्या एव लक्ष्यत्वादेवेत्यर्थः । उपमेयोपमायाः अतादृश्याः = अनिष्पन्नो-
पमिति क्रियाविलक्षणाया, लक्ष्यत्वादेव = उपमालक्ष्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वादेव, न तत्र = उपमेयोपमायां अतिव्याप्तिः किन्तु-

प्रकरणकार श्रीमद्गी का सुझाव यह है कि वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तो स्वरूपास्तित्व प्रतिव्यक्ति अलग-
अलग ही है, जब कि सादृश्यास्तित्व प्रतिव्यक्ति एक भी हो सकता है । अतएव अनेक द्रव्य में सादृश्यास्तित्व एक हो कर
अनुगत हो सकता है, जिसकी वजह अनेक द्रव्य में सादृश्यास्तित्व की वजह अनुगत बुद्धि एवं व्यवहार हो सकता है ।

❀ नैयायिकमत से सादृश्य की व्याख्या ❀

अत्र यौ. इति । सादृश्यास्तित्व से अनेक द्रव्य में अनुगत बुद्धि एवं व्यवहार के समर्थन को जान कर नैयायिक मनीषी
यह कहते हैं कि सादृश्य 'तद्विभक्तत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्वस्वरूप' है । जैसे 'मुखं चन्द्रसदृशं' यहाँ मुख में रहनेवाला चन्द्र का
सादृश्य चन्द्रविभक्तत्व होते हुए चन्द्रगत आह्लादकत्व आदि धर्म स्वरूप है । अपने में अपनी उपमा का निराकरण करने के लिए
'तद्विभक्तत्वे सति' ऐसे विशेषण लगाया गया है, अन्यथा चन्द्र में चन्द्रोपमा का अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होता है; क्योंकि चन्द्र में
चन्द्रगत सीम्यत्व, वर्तुलत्व आदि धर्म अक्षत हैं । मगर सादृश्य के घटकविधया उपमानभेद का निवेश करने पर चन्द्र में चन्द्र
की उपमा का प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि चन्द्र में चन्द्रभेद नहीं रहता है । यहाँ यह शंका हो कि → 'सादृश्य के घटकविधया
तद्भेद का निवेश किया जाय तो 'गगनं गगनाकारं, सागरः सागरोपमः' इत्यादि स्थल में सादृश्यलक्षण की अव्याप्ति होगी,
क्योंकि गगन में गगन का भेद या सागर में सागर का भेद नहीं रहता है' ← तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ उपमान
और उपमेय में भेद नहीं होने से उपमिति क्रिया की निष्पत्ति ही नहीं होने से यहाँ उपमा अलंकार नहीं है, किन्तु अनन्वय
अलंकार है, जो सादृश्य के लक्षण का अलक्ष्य है । अलक्ष्य = लक्ष्येतर में लक्षण की प्रवृत्ति न होना दोष नहीं है, किन्तु
गुण ही है । इसीलिए तो उपमेयोपमा में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति होने से वह अनन्वय अलंकार सदृश नहीं है । अतएव

मिथस्तयोरेवोपमानोपमेयत्वविवक्षामात्रादस्या अलङ्कारान्तरव्यपदेशात् ।

यत्तु प्राचा → 'तद्विभत्वे सति तद्गतभूयोऽसाधारणधर्मवत्त्वं सादृश्यम्' । पटादौ घट-सादृश्यवारणाय 'असाधारणे'ति, यत्किञ्चिदसाधारणधर्मवति तद्वारणाय 'भूय' ← इत्युक्तं

❀ जयलता ❀

पमालक्षणसङ्गतिरेव । 'यदि च तस्या लक्ष्यत्वमेव तर्हि कुतस्तस्या अलङ्कारान्तरव्यवहारः ?' इत्याशङ्कयामाहुः- मिथस्तयोः = परस्परमुपमानोपमेययोः एव उपमानोपमेयत्वविवक्षामात्रात् अस्याः = उपमेयाः अथवा अलङ्कारान्तरव्यपदेशात् । तदुक्तं काव्यप्रकाशे मम्मटेन 'विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥९१॥ तयोः = उपमानोपमेययोः परिवृत्तिः अर्थाद् वाक्यद्वये इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमेति उपमेयोपमा । उदाहरणम् - कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः । धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी, सततं विभाति बत यस्य ॥ (का.प्र.सू.१३६ का.९१) इति । उपमाया उपमेयोपमायां वैवक्षिक एव भेदो न तु वास्तवः । अत एव दण्डि-रुद्रट-भोजादिभिरुपमेयोपमात्वस्योपमात्वव्याप्यत्वमभ्युपगम्यते । न चानन्वयादुपमेयोपमाया अभेदः, अन्योपमाव्यवच्छेदस्योभयत्र साम्यादित्यारकणीयम्, अनन्वये एकेनैव वाक्येन तद्व्यवच्छेदः क्रियते उपमेयोपमायां तु वाक्यद्वयेनेति विशेषात् । तदुक्तं काव्यप्रकाशे → 'उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः' ← (का.प्र.सू.१३५ का.९०) इति । किञ्चानन्वये एकरस्यैवोपमेयत्वमुपमानत्वञ्च, उपमेयोपमायान्तूभयोरित्यपि तयोर्विशेषः । तदुक्तं काव्यानुशासने श्रीहेमचन्द्राचार्यैः → 'उभयोरुपमेयत्वे उपमानत्वे चोपमेयोपमा । एकस्यैवोपमानत्वोपमेयत्वेऽनन्वयः' (का.अ. अ.६, सू.३) इत्यादिकं विभावनीयमलङ्काररसिकैः ।

यच्चिति । उक्तमित्यनेनास्यान्वयः । प्राचा = प्राचीननैयायिकेन, 'तद्विभत्वे सति तद्गतभूयोऽसाधारणधर्मवत्त्वं सादृश्यं' = सादृश्यपदप्रतिपाद्यम् । तदेव समर्थयति- पटादौ घटसादृश्यवारणाय 'असाधारणे'ति धर्मविशेषणम् । असाधारण्यञ्च सकलपदार्थाऽवृत्तित्वेन बोध्यम् । एतेन पदार्थमात्रस्य पदार्थमात्रेणाऽपि समं सादृश्यं स्यात्, तद्गतप्रमेयत्व-वाच्य-त्यादिधर्मवत्त्वसत्त्वादिति प्रत्युक्तम्, प्रमेयत्वादेरसाधारण्याभावात् । तथापि घटभिन्नत्वेन सिंह-शृगालयोरपि सादृश्यं प्रसज्येतेत्याशङ्कयामाह- यत्किञ्चिदसाधारणधर्मवति = घटभेदादसाधारणधर्माश्रये सिंह-शृगालादौ तद्वारणाय = सादृश्यापाकरणाय 'भूय' इति असाधारणधर्मविशेषणम् ।

वह लक्ष्य है । अतः वहाँ उपर्युक्त सादृश्यलक्षण की प्रवृत्ति हो तो भी अतिव्याप्ति दोष का अवकाश नहीं है । अलक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति होने पर ही अतिव्याप्ति दोष का उद्भावन किया जाता है । यहाँ परस्पर उन दोनों में ही उपमान-उपमेयभाव की विवक्षा होने से उपमा अलंकार से अतिरिक्त उपमेयोपमा नामक अन्य अलंकार का व्यवहार होता है ।

▢ प्राचीनमत में दूषणोद्घाटन ▢

यत्तु, इति । प्राचीन नैयायिक सादृश्यलक्षण बताते हुए कहते हैं कि → "तद्विभत्वे होते हुए तद्गत अनेक असाधारण धर्मों का होना ही तत्सादृश्य है । तत्शब्द से उपमान का ग्रहण अभिमत है । जैसे 'मुखं चन्द्रसदृशं' यहाँ मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान है । मुख में चन्द्र का भेद एवं चन्द्रगत आह्लादकत्व, वर्तुलत्व, तेजस्विता आदि अनेक असाधारण धर्म भी रहते हैं, वही मुखगत चन्द्रसादृश्य है । यदि सादृश्य का लक्षण केवल इतना ही बनाया जाय कि उपमानभिन्नत्व होते हुए उपमानगत अनेक धर्म उपमेय में हो वही सादृश्य है, तो फिर विजातीय घट-पट में भी सादृश्य रह जायेगा, क्योंकि पट में घटभेद एवं घटगत प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि अनेक धर्म रहते हैं । इस आपत्ति के निवारणार्थ धर्मसामान्य न कह कर असाधारण धर्म का ग्रहण किया गया है । पट में वाच्यत्व, प्रमेयत्व आदि घट के साधारण धर्म रहते हैं, मगर असाधारण धर्म नहीं रहते हैं । अतः 'पटो घटसदृशः' इसकी आपत्ति नहीं है । यहाँ घट का असाधारण धर्म द्रव्यत्व पट में भी रहता है । अतः पुनः 'पटः घटसदृशः' इत्याकारक प्रयोग की आपत्ति आयेगी । इसके निवारणार्थ 'भूयः' यानी 'अनेक' ऐसा असाधारण धर्म का विशेषण लगाया गया है । घट के असाधारण = केवलान्वयिभिन्न द्रव्यत्व धर्म की पट में विद्यमानता होने पर भी घट के अनेक असाधारण धर्म पट में नहीं रहते हैं । अतः 'पटः घटसदृशः' इस प्रयोग का अनिष्ट प्रसंग नहीं होगा । अतः सादृश्य का घटक केवल धर्म नहीं है, किन्तु अनेक असाधारण धर्म हैं - यह फलित होता है" ←

तत्र, इति । मगर विचार किया जाय तो प्राचीन नैयायिक का उपर्युक्त वक्तव्य भी नामुनासिब प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि पट में भी कथंचित् घटसादृश्य धर्म का सादृश्यलक्षण में प्रवेश करना असंगत है । घट की भाँति पट

तत्र, पटादेरपि कथञ्चिद्घटसादृश्यव्यवहारात् । तद्वाचकानां इवादिपदानां शक्तिस्तु भेदे वृत्तित्वे धर्मे च खण्डश एवेति लाघवाच्चन्द्रादिपदसमभिव्याहाराच्च चन्द्रादिभिन्नत्वलाभः ।

❀ जयलता ❀

तत्र = प्राचीननैयायिकोक्तं न सम्यक् । हेतुमाह- पटादेरपि कथञ्चिद्घटसादृश्यव्यवहारादिति । 'घट इव पटादेरपि रूपवानि'ति व्यवहारप्रसिद्धिरिति । ततश्चासाधारणविशेषणस्याऽयुक्तत्वमिति फलितम् ।

मुक्तावलीकारस्तु → 'सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किन्तु तद्विभक्तत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्, यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति'त्याह ← (मुक्ता.का.२-पृ.७२) । 'अत्र भूयस्त्वं न विवक्षितं, एकधर्मेण सादृश्यानुपपत्तेः भूयानतिशयितः तात्पर्यविषय इति' ← (मुक्ता.मं.पृ.७३) मञ्जूषाकारो व्याचष्टे । महादेवस्तु → 'तद्विभक्तत्वे सतीति, इदञ्च सादृश्यनिरूपकेऽतिव्याप्तिवारणाय । अनुयोगितासम्बन्धविवक्षणे तु न देयमेव । तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति । तत्राऽसाधारण्येन विद्यमाना ये भूयांसो धर्मास्तद्वत्त्वमित्यर्थः' ← (मुक्ता.दि.पृ.७२) इति व्याख्यातवान् । अत्र रामरुद्रस्तु → 'यद्यपि घटभेदपटभेदादयो भूयांसो धर्मास्तत्र सम्भवन्त्येव, गौत्याद्यत्वयोर्नित्यत्वरूपैकधर्ममादाय सादृश्यमङ्गीकृत्यैवोक्तमिति भूयस्त्वोपादानमसङ्गतमेव तथापि प्रायेण भूयोधर्मैरेव सादृश्यप्रतीतिरिति तात्पर्यविषयार्थकमेव प्रकृते भूयःपदमिति ध्येयम् । 'नरोऽयं सिंहसदृश' इत्यादी तु घटभिन्नत्वादिर्न तात्पर्यविषयः किन्तु पराक्रमः । तस्यापि तथात्वे त्विष्टापत्तेः । तस्मादसाधारण्येनेत्यपि न देयम् । यथा घटो वाच्यस्तथा पटोऽपीति व्यवहाराच्च' ← (मुक्ता.रा.पृ.७२) इति प्रोक्तवान् ।

केचित्तु 'तद्गतत्वं न लक्षणे प्रविष्टं किन्तु चन्द्रभिन्नत्वे सति आह्लादकत्वं चन्द्रसादृश्यमिति रीत्या विशिष्यैव धर्माणां लक्षणे प्रवेशः । ते च धर्मा उपमानसाधारणा ग्राह्याः । तेन चन्द्रभिन्नत्वे सति केशादिमत्त्वं न चन्द्रसादृश्यमिति स्फोरणाय तद्गतत्वोत्कीर्तनमित्याहुः ।

तद्वाचकानां = सादृश्यवाचकानां इवादिपदानां आदिना तुल्यादिग्रहः, शक्तिस्तु भेदे वृत्तित्वे धर्मे च खण्डश एव, न तु चन्द्रादिभिन्नत्वविशिष्टचन्द्रादिवृत्त्याह्लादकत्वादिधर्मवत्त्वलक्षणसादृश्येऽखण्डश शक्तिः महागौरवात् । 'तर्हि मुखादीं चन्द्रादिभेदः कथं प्रतीयेत ? तत्प्रतीती वा घटादेरपि भेदः किं न प्रतीयेत ?' इत्याशङ्क्यागाह- लाघवात् = उपस्थितिकृत-लाघवात्, चन्द्रादिपदसमभिव्याहाराच्च = चन्द्रादिवाचकपदसान्निध्याच्च चन्द्रादिभिन्नत्वलाभः = भेदे चन्द्रादिप्रतियोगिकत्व-बोधः । इत्थमेव चन्द्रादिनिरूपितत्वस्य वृत्तित्वे लाभः । तात्पर्यसहकारेणाऽऽह्लादकत्व-तेजस्वित्वादिधर्मबोधः ।

अथैवं सति 'चन्द्र इव मुखमाह्लादकमिति वाक्ये पौनरुक्त्यप्रसङ्गः, आह्लादकत्वरूपेणैवपदेनैव लब्धत्वादिति चेत् ? अत्र पट्टाभिरामः → 'इवपदेन साधारणधर्मत्वेनैवाह्लादकत्वबोधनेन पौनरुक्त्याभावात् । अयं तु विशेषः यत्र विशिष्य साधारणधर्मवाचकपदसमभिव्याहारोऽस्ति तत्र साधारणधर्मत्वेनैवाह्लादकत्वमिवादिर्वोधयति । यत्र तु स नास्ति सति तात्पर्ये आह्लादकत्वत्वेनैव बोधः, अन्यदा तु साधारणधर्मत्वेनैवाह्लादकत्वादिर्वोधयते' (मुक्ता.मं.पृ.७५) इति समाधत्ते । आह्लादकपदं तात्पर्य-ग्राहकमिति न पुनरुक्तिरित्यन्ये ।

भी रूपवाला होने से रूप की अपेक्षा 'घट इव पटः' इत्यादि वाक्य का प्रयोग तो लोक में होता ही है । अतः अनेक असाधारण धर्म का सादृश्यलक्षण में प्रवेश करने से अब्याप्ति- नामक दोष का प्रसंग भी प्राचीन नैयायिक के मत में दुबारा बन जायेगा ।

❀ इवादिशब्द की खंडशः शक्ति - नैयायिक ❀

तद्वा. इति । उपर्युक्त मीमांसा से यह फलित होता है कि सादृश्य तद्विभक्तत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप है । इस सादृश्य के वाचक इव, तुल्य, सदृश आदि शब्दों की शक्ति सादृश्य के घटक भेद (= भिन्नत्व), वृत्ति और धर्म में खण्डशः है । यहाँ इस शंका का कि → 'यदि भेद, वृत्ति और धर्म इन तीनों में इव आदि शब्द की खंडशः शक्ति मानी जाय तो 'मुखं चन्द्र इव' इत्यादि स्थलों में मुख में शब्द का भान हो सकेगा, मगर चन्द्रादि के भेद का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? क्योंकि चन्द्रादिप्रतियोगिक भेद में इवपद की शक्ति का स्वीकार नहीं किया गया है' ← समाधान यह है कि उपस्थितिकृत लाघव से एवं चन्द्रादिपद के समभिव्याहार से मुख में चन्द्रादिप्रतियोगिक भेद का लाभ हो सकता है । यहाँ मुख में घटादिप्रतियोगिक भेद का भान नहीं हो सकता है, क्योंकि तब घटादि की उपस्थिति = ज्ञान नहीं है, एवं तद्वाचक पद का सान्निध्य भी नहीं है ।

अनवच्छिन्नविशेषणताया भेदसंसर्गत्वाच्च न कपिसंयोगवति कपिसंयोगवत्सादृश्यापत्तिः ।

अथैवं → 'पटो न घटसदृशः' इतिधीर्न स्यात्, घटवृत्तिधर्मसामान्याभावस्य पटेऽसम्भवात् ।
'अप्युपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसंसर्गेण वृत्तित्वविशिष्टधर्मभावबोधाज्जायं दोष' इति

❀ नयलता ❀

ननु 'चन्द्रसदृशं मुखमि'त्यत्र चन्द्रस्य प्रतियोगितासम्बन्धेन भेदे निरूपितत्वसम्बन्धेन च वृत्तित्वे तस्य तु स्वरूपसम्बन्धेन धर्मेऽन्वयमङ्गीकृत्य 'चन्द्रभिन्नत्वविशिष्ट-चन्द्रवृत्त्याह्लादकत्वादिधर्मवन्मुखमि'तिशब्दबोधाम्युपगमे तु शाखावच्छेदेन कपिसंयोगवति वृक्षे कपिसंयोगवत्सादृश्यप्रसङ्गो दुर्निवारः, वृक्षे मूलावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धेन कपिसंयोगिभेदस्य वृत्तित्वादित्याशङ्कयामाह-
अनवच्छिन्नविशेषणतायाः = निरवच्छिन्नवृत्तित्वाकविशेषणतायाः भेदसंसर्गत्वात् च = सादृश्यघटकभेदनिष्ठवृत्तित्वावच्छेदक-सम्बन्धत्वविवक्षणात् हि न कपिसंयोगवति वृक्षादौ कपिसंयोगवत्सादृश्यापत्तिः । न हि वृक्षे निरवच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण कपिसंयोगिभेदो वर्तते, शाखायां तस्य कपिसंयोगित्वात् । एवञ्चान्योन्याभावस्याऽव्याप्यवृत्तित्वाऽङ्गीकारेऽपि न क्षतिः ।

परः शङ्कते- अथेति । द्वितीयचेत्येतेन सहास्यान्वयः । एवं = सादृश्यलक्षणघटकधर्मविशेषणविधयाऽसाधारणत्वस्याऽ-नङ्गीकारं सति, 'पटो न घटसदृशः' इति धीर्न स्यात्, पटस्य घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिप्रमेयत्वादिधर्मवत्त्वेन घटवृत्तिधर्म-सामान्याभावस्य पटेऽसम्भवात् । विशेषण-विशेष्योभयवति विशिष्टाभावस्य वक्तुमशक्यत्वेन विशिष्टवत्प्रतियोगिकभेदस्याऽ-सत्त्वात् पटे घटसदृशभिन्नत्वप्रतीतिर्नैव स्यादित्यधामिप्रायः ।

कश्चित् समाधत्ते- 'अत्र = 'पटो न घटसदृशः' इत्यादौ उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसंसर्गेण वृत्तित्व-विशिष्टधर्माभावबोधात् नाप्यं दोषः = न सादृश्यबोधात्तु अपत्तिप्रसङ्गः । उपमानभूतघटनिरूपितवृत्तित्वं आश्रयतासम्बन्धेन पट-साधारणे प्रमेयत्वादौ धर्मे वर्तते किन्तु उपमानपदार्थतावच्छेदकघटत्वनिष्ठाश्रयत्वसंसर्गेण वृत्तित्वं घटत्वे एव वर्तते न तु प्रमेयत्वादौ धर्मे । न हि प्रमेयत्वादिकं प्रकृते उपमानपदार्थतावच्छेदकं, तस्याऽतिप्रसक्तत्वात्, किन्तु घटत्वमेव तथा । उपमानात्मक-घटपदार्थतावच्छेदकघटत्वनिष्ठाश्रयत्वसंसर्गेण वृत्तित्वविशिष्टो यो घटत्वधर्मः स तु नोपमेये पटे वर्तते इति तत्र घटसादृश्यविरहात् 'पटो न घटसदृशः' इतिधीरनाविर्लभेति मुग्धसमाधानाशयः ।

अनव. । यद्यपि 'उपमानभिन्नत्वे सति उपमानवृत्तिधर्मवत्त्व' को सादृश्य मानने पर शाखावच्छेदेन कपिसंयोग वाले वृक्ष में 'यह कपिसंयोगिसदृश है' इत्याकारक वाक्यप्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति आ सकती है, क्योंकि 'वृक्ष शाखा में कपिसंयोगी है, न कि मूल में भी' इस प्रतीति से मूलावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से वृक्ष कपिसंयोगिभिन्नत्वविशिष्ट है । एवं उपमानगत कपि-संयोग भी वृक्ष में रहता है तथापि अनवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से भेद की वृत्तिता का स्वीकार करने पर उपर्युक्त आपत्ति का परिहार हो सकता है, क्योंकि मूलावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से ही वृक्ष कपिसंयोगिप्रतियोगिक भेद वाला है न कि निरवच्छिन्न-विशेषणतासंसर्ग से । वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग होने से निरवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से कपिसंयोगिभेद की वृक्ष में संभावना नहीं हो सकती है, अन्यथा तब 'वृक्षो न कपिसंयोगी' ऐसी प्रतीति के प्रामाण्य की आपत्ति आयेगी ।

शंका :- अथैवं. इति । यहाँ यह कहा जा सकता है कि सादृश्य को तद्विन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वात्मक मानने पर तो 'पटो न घटसदृशः' ऐसी बुद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि घटगत प्रमेयत्व-वाच्यत्व आदि धर्म तो पट में रहते ही हैं और घटभेद भी पट में रहता है । पट में घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिप्रमेयत्वादिधर्म रहने से 'पटो घटसदृशः' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, न कि 'पटो न घटसदृशः' ऐसी प्रतीति । यदि यहाँ यह कहा जाय कि → "सादृश्य के लक्षण का जो उत्तर अंश है 'उपमानवृत्तिधर्मवत्त्व' इसका अर्थ है उपमाननिरूपितवृत्तिताविशिष्टधर्मवत्त्व । यहाँ वैशिष्ट्य केवल आश्रयत्वसम्बन्ध से ग्राह्य नहीं है, किन्तु उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्ध से ग्राह्य है । ऐसा मानने पर 'पटो न घटसदृशः' यह बुद्धि अनुपपन्न नहीं होगी, क्योंकि पट में जो वाच्यत्वादि घटवृत्ति धर्म रहते हैं, उनमें उपमानपदार्थतावच्छेदकीभूतघटत्वनिष्ठाश्रयता-सम्बन्ध से घटनिरूपित वृत्तिता नहीं रहती है, किन्तु वाच्यत्वादिनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्ध से या आश्रयत्वसामान्यसम्बन्ध से घटनिरूपित-वृत्तिता रहती है । सिर्फ घटत्व धर्म ऐसा है कि जो घटात्मक-उपमानपदार्थतावच्छेदक होने की वजह उसमें रहने वाली घटनिरूपित वृत्तिता घटत्वनिष्ठाश्रयत्वसंसर्ग से रह सकती है । मगर वह घटत्व धर्म पट में नहीं रहता है, भले ही निरवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से घटभेद पट में रहता हो । सादृश्य के विशेष्य अंश के विरह से घटसादृश्य पट में नहीं रहता है । अतः 'पटो न घटसदृशः' इत्याकारक बुद्धि एवं व्यवहार निराबाध हो सकता है" <— तो यह भी असंगत है, क्योंकि उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्व-सम्बन्ध से उपमाननिरूपितवृत्तिताविशिष्ट ऐसे धर्म का उपमेय में भ्रान मानने पर तो 'घटः पटसदृशः' ऐसी बुद्धि, जो स्वारसिकतया

चेत् ? न, एवं सति 'घटः पटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरिति <— चेत् ? न, 'घटो न पटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरिष्टत्वात्, अनिष्टत्वे वा धर्मपदं घटत्वादिपरं बोध्यम् । 'एवमपि घट-भिन्नत्वविशिष्टघटत्वाऽप्रसिद्धेः कथं तदभावबोध इति चेत् ? न ह्यत्र विशिष्टस्याभावबोधः

❀ नयलता ❀

अथवादी तन्निराचष्टे- नेति । एवं = उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धेन उपमाननिरूपितवृत्तित्वविशिष्टो यो धर्मस्तस्य सादृश्यलक्षणघटकत्वाऽभ्युपगमे सति 'घटः पटसदृशः' इति बुद्ध्यनापत्तेरिति । घटे पटभेदसत्त्वेऽपि उपमान-भूतपदपदार्थतावच्छेदकपटत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धेन वृत्तित्वविशिष्टस्य धर्मस्य विरहात् । अतो द्रव्यत्वेन घटे पटसादृश्यधी-व्यवहारो न स्यातामित्येकं सीव्यतोऽपरप्रच्युतिर्दुर्वरिति नोपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धेन वृत्तित्वविशिष्टो यो धर्मस्तद्वत्त्वस्य सादृश्यलक्षणनिवेशो युक्तः, अन्यथा 'मुखं चन्द्र इव'त्यादौ सर्वत्र सादृश्यानुपपत्तिः प्रसज्येत, 'घटः कुम्भ इव'त्यादेः प्रामाण्य-प्रसङ्गश्चेत्यसाधारणत्वनिवेशस्याऽऽवश्यकत्वमेवेत्यथाशयः ।

नैयायिकास्तन्निराकुर्वन्ति- नेति । 'घटो न पटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरिष्टत्वादिति । ततश्च सादृश्यलक्षणघटकधर्म-विशेषणविधयाऽसाधारणत्वनिवेशोऽनावश्यक इति भावः । यदि च परेण 'घटो न घटसदृश' इति बुद्धेः प्रामाणिकत्वं स्वीक्रियते तदा विकल्पान्तरमाहुः - अनिष्टत्वे वेति । तादृशबुद्ध्यनापत्तेरनिष्टत्वे वेत्यर्थः । धर्मपदं = सादृश्यलक्षणघटकधर्मवाचकपदं, घटत्वादिपरं = लक्षणया घटत्वादिबोधकं बोध्यमिति । घटत्वस्य पटेऽभावात् 'घटो न पटसदृश' इति धिय उपपत्तिरित्यर्थः ।

परः शङ्कते - एवमपि = सादृश्यलक्षणघटकीभूतधर्मबोधकपदस्य घटत्वादौ लक्षणाऽङ्गीकारेऽपि घटभिन्नत्वविशिष्ट-घटत्वाऽप्रसिद्धेः 'पटो न घटसदृश' इतिवाक्यात् कथं तदभावबोधः ? पटे घटभेदविशिष्टवटत्वलक्षणसादृश्याभावगोचर-शाब्दबोधो नैव स्यात् । यत्र घटत्वं तत्र न घटभिन्नत्वं यत्र च घटभिन्नत्वं तत्र न घटत्वमिति सामानाधिकरण्येन घट-भिन्नत्वविशिष्टस्य घटत्वस्य कुत्राऽप्यप्रसिद्धेः पटे न तदभावात्मक-घटसादृश्याभावबोधः सम्भवति, अप्रसिद्धप्रतियोगिका-भावस्याऽनभ्युपगमात् । इत्थञ्च तद्विन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वरूपस्य सादृश्यलक्षणस्य घटकीभूतधर्मपदं लक्षणया घटत्वादि-बोधकं स्यात् तदा 'पटो न घटसदृश' इतिवाक्याच्छाब्दबोधो न कथमपि सङ्गच्छेतेति शङ्काशयः ।

नैयायिकाः समादधते- न हीति । अत्र = 'पटो न घटसदृश' इति स्थले, विशिष्टस्य = सामानाधिकरण्येन घट-भेदविशिष्टस्य घटवृत्तिघटत्वस्य अभावबोधः स्वीक्रियते, येन 'असओ णत्थि गिसेहो' इति वचनात् अप्रसिद्धप्रतियोगिक-

सर्वजनविदित है, भी नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ उपमान पद होने से उपमानपदार्थतावच्छेदक पटत्व है, जिसमें रहने वाले आश्रयत्वसम्बन्ध से पटनिरूपितवृत्तिताविशिष्ट केवल पटत्व धर्म ही है, जो कि उपमेय घट में नहीं रहता है । घट में निरवच्छिन्न-विशेषणतासम्बन्ध से पटभेद रहने पर भी पटत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्ध से पटनिरूपितवृत्तिताविशिष्ट ऐसा धर्म नहीं होने से पटसादृश्य ही नहीं है, तो 'घटः पटसदृश' ऐसी बुद्धि कैसे हो सकेगी । अतः इन दोषों से मुक्ति पाने के लिए सादृश्यघटक धर्म के विशेषणविधया असाधारणपदार्थ का निवेश आवश्यक है । तभी 'पटो न घटसदृशः' इस बुद्धि एवं व्यवहार की उपपत्ति हो सकेगी ।

समाधान :- न, घ. इति । मगर विचार करने पर उपर्युक्त कथन भी असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि 'पटो न घटसदृशः' इस बुद्धि की अनुपपत्ति ही है । मतलब कि पट में घटसादृश्य होने से 'पटो न घटसदृशः' यह बुद्धि स्वीकार्य ही नहीं होने की वजह इसकी अनुपपत्ति इष्टापत्ति है । अतः उसके अनुरोध से सादृश्यलक्षण के शरीर में असाधारण का धर्मविशेषणविधया निवेश अनावश्यक है । अतः 'तद्विन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्व' को ही सादृश्य का लक्षण मानना मुनासिब है न कि 'तद्विन्नत्वे सति तद्वृत्तिभूयोऽसाधारणधर्मवत्त्व' को-यह फलित होता है । यदि 'पटो न घटसदृशः' यह बुद्धि अभीष्ट हो और इसीकी वजह 'पटो न घटसदृशः' इत्याकारक बुद्धि की अनापत्ति = अनुपपत्ति = असंगति अनिष्ट हो तो उसकी उपपत्ति के लिए यह कहा जा सकता है कि सादृश्यलक्षणघटक धर्मपद घटत्वादिपरक है यानी धर्मपद की घटत्वादि में लक्षणा करनी चाहिए । तब 'पटो न घटसदृशः' इत्याकारक बुद्धि उपपन्न हो सकती है, क्योंकि पट में घटभेद होने पर भी घटवृत्ति घटत्व धर्म का अभाव होने से घटसादृश्य नहीं रहता है । विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव अबाधित होने से 'पटो न घटसदृशः' इत्याकारक बुद्धि का समर्थन हो सकता है ।

एवमपि. इति । यहाँ यह शंका हो कि → "पट में घटसादृश्य का निषेध कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि

किन्तु घटभिन्नत्व-घटवृत्तिधर्माभावयोः 'एकत्र द्वयमि'ति न्यायेनेति 'घटभिन्नत्वविशिष्टघट-
वृत्तिधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन अभावबोधात्तादृशाऽनुपपत्तिरित्याहः ।

एतत्कल्पे च सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनोपाधयस्य भेदस्य स्वार्थे धर्म एवात्वयो

✽ नयलता ✽

निषेधाऽऽक्रान्तत्वेन तादृशबोधानुपपत्तिः किन्तु घटभिन्नत्व-घटवृत्तिधर्माभावयोः 'एकत्र द्वयमि'तिन्यायेनेति । यथा 'घट-
भूतलत्वबद्धतलमि'त्यत्र भूतले स्वतन्त्रयोः घटभूतलत्वयोरन्वयो भवति तथा 'पटो न घटसदृश' इत्यत्र पटे घटभिन्नत्वस्य
घटवृत्तिघटत्वधर्माभावस्य चैकत्र द्वयमितिन्यायेनान्वयबोधो भवति न तु विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही बोध इति न प्रतियोग्यप्रसिद्धि-
दोषावकाशः । न चैकविशेषणविशिष्टेऽपरविशेषणवैशिष्ट्यमिति रीत्या न वा विशेष्ये विशेषणं तत्राऽपि विशेषणान्तरमिति
रीत्या प्रकृतेऽन्वयबोधः; तस्य सादृश्यव्यवहारानौपयिकत्वात् ।

कल्पान्तरमावेदयन्ति - घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन = घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धेन अभावबोधात्
= अभावान्वयबोधान्युपगमात्, न अत्र = 'पटो न घटसदृश' इतिस्थले अनुपपत्तिः = अन्वयबोधाऽसङ्गतिरिति । यद्यपि
पटे घटभेदविशिष्ट-घटवृत्तिद्रव्यत्वादिधर्मो वर्तते तथापि स द्रव्यत्वादिप्रतियोगिकसम्बन्धेन न तु घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धेनेति
घटत्वप्रतियोगिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिद्रव्यत्वादिधर्माभावस्य पटे सत्त्वात् 'पटो न घटसदृश'
इत्यत्र न शाब्दबोधानुपपत्तिः; निरुक्तस्य घटसादृश्याभावस्य पटेऽक्षतत्वात् । न च घटभेदविशिष्टद्रव्यत्वस्य घटत्वीयसम्बन्धेन
कुत्राऽप्यप्रसिद्धेः कथमेतादृशान्वयबोध इति वाच्यम्, व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य स्वीकारात् । अत एव
प्रतियोगिताया व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नत्वमिव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वमपि स्यादित्युक्तावपि न क्षतिः, इष्टापत्तेः । न हि
स्वरसवाहिप्रतीत्यपलापः शक्यते कर्तुं मनीषिभिः, अन्यथा शून्यवादिमतप्रवेशप्रसङ्गात् ।

एतत्कल्पे च = घटत्वीयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटभेदविशिष्टघटगतधर्माभावलक्षणघटसादृश्याभाववत्पटाऽङ्गीकर्तृमतेऽ-
नन्तरप्रदर्शिते हि सामानाधिकरण्येन सम्बन्धेन इवाद्यर्थस्य भेदस्य स्वार्थे = इवादिशब्दार्थे धर्मे द्रव्यत्वादिलक्षणे एव अन्वयः

घटभिन्नत्वविशिष्टघटत्वात्मक घटसादृश्य कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है । जहाँ घटभेद रहता है वहाँ घटत्व नहीं रहता है और जहाँ
घटत्व रहता है वहाँ घटभेद नहीं रहता है । अतः सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभेदविशिष्टघटत्व अप्रसिद्ध है । अप्रसिद्ध पदार्थ
का निषेध नहीं हो सकता है । अतः 'पटो न घटसदृशः' इस वाक्य से पट में घटभिन्नत्वविशिष्टघटत्वप्रतियोगिकाभावात्मक
घटसादृश्याभाव का बोध नहीं हो सकेगा" <— तो इसका यह समाधान है कि 'पटो न घटसदृशः' यहाँ घटभेदविशिष्टघटत्व
के अभाव का पट में भान नहीं माना गया है किन्तु पट में घटभिन्नत्व और घटवृत्तिघटत्वधर्माभाव का 'एकत्र द्वयं' न्याय
से भान माना गया है । एक विशेष्य में दो विशेषण का जहाँ भान माना जाता है वहाँ 'एकत्र द्वयं' न्याय की प्रवृत्ति
होती है । पटात्मक एक विशेष्य में घटभिन्नत्व एवं घटत्वाभाव-इन दो विशेषण का भान माना जा सकता है । अब प्रतियोगी
की अप्रसिद्धि का दोष नहीं है, क्योंकि अभाव का प्रतियोगी केवल घटत्व है, जो घट में प्रसिद्ध ही है । इसके समाधानार्थ
यह भी कहा जा सकता है कि घटभिन्नत्वविशिष्ट घटवृत्ति धर्म के अभाव का घटत्वीयसम्बन्ध से बोध होने से भी 'पटो
न घटसदृशः' इत्यादि स्थल में अनुपपत्ति नहीं है । भटभेद आदि घटवृत्ति धर्म सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभिन्नत्वविशिष्ट
है । अतः विशिष्ट धर्म की अप्रसिद्धि का दोष नहीं है । मगर पट में वह विशिष्ट धर्म भटभेदप्रतियोगिकसम्बन्ध से रहता
है, न कि घटत्वप्रतियोगिक सम्बन्ध से । अतः पट में घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्ध से घटभिन्नत्वसामानाधिकरण (= विशिष्ट) घटवृत्ति
धर्म का अभाव रहता है । तादृश विशिष्ट धर्म घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्ध = घटत्वीयसम्बन्ध से पट में नहीं रहता है । इसलिए
'पटो न घटसदृशः' इस वाक्य से घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तादृशभाव का पट में भान हो सकता है-
ऐसा नैयायिक विद्वानों का कथन है ।

एतत्. इति । 'पटो न घटसदृशः' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के अनन्तर प्रदर्शित कल्प में इवादिशब्द के
अर्थ भेद का इवादिशब्द के अर्थ = स्वार्थ धर्म में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से ही अन्वय होता है - यह ज्ञातव्य है । जैसे
'चन्द्र इव मुखं' यहाँ मुख में चन्द्रभेद और चन्द्रगत आह्लादकत्वादि धर्म रहने से सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से चन्द्रभेदविशिष्ट
चन्द्रवृत्तिआह्लादकत्वादिधर्मात्मक चन्द्रसादृश्य का मुख में भान होता है । सादृश्य का निर्वचन करने वाला यही पक्ष समीचीन
है । 'पटो न घटसदृशः' यहाँ 'एकत्र द्वयं' न्याय से पट में घटभेद और घटवृत्तिघटत्वधर्माभाव दोनों का भान मानने वाला
प्रथम पक्ष मान्य नहीं किया जा सकता; क्योंकि वैसा मानने पर 'घटो न घटसदृशः' इत्याकारक बोध अनुपपन्न हो जायेगा ।

बोध्यः । समीचीनश्चाऽयमेव पक्षः; पूर्वत्र 'घटो न घटसदृशः' इतिबोधानापत्तेः ।

ननु घटत्वादावपि पटत्वात्यन्ताभावादिरूपघटभेदवैशिष्ट्याद् घटे घटसादृश्यं कथं नेति चेत् ? तादृशघटभेदस्य घटे सत्त्वेऽपि घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणताया अभावात्, अन्यथा

✽ जयलला ✽

= सम्बन्धः बोध्यः । पटात्मके एकस्मिन्नेवाधिकरणे घटभेदस्य घटवृत्तिद्रव्यत्वादिधर्मस्य च सत्त्वात् स्वसामानाधिकरण्येन घटभिन्नत्वविशिष्ट-घटवृत्तिधर्मस्य प्रसिद्धिः । इत्थञ्च विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिशाब्दबोधाऽङ्गीकारेऽपि न क्षतिः; अभावप्रतियोगि-नोऽत्र पक्षे प्रसिद्धेस्तत्प्रतियोगिकाभावस्य निरालम्बनीयत्वात् । समीचीनश्च अयमेव = अनन्तरोक्त एव पक्षः । 'एकत्र द्वयमि'ति-रीत्या पूर्वप्रदर्शितप्रकारेणान्वयबोधस्वीकर्तृप्रथमपक्षस्यैवकारेण व्यवच्छेदः कृतः । तस्याऽसमीचीनत्वे हेतुमाविष्कुर्वन्ति-पूर्वत्र = 'पटे घटभिन्नत्वस्य घटवृत्तिघटत्वधर्माभावस्य चैकत्र द्वयमितिन्यायेनाऽन्वयबोधाऽङ्गीकर्तृपूर्विले पक्षे, 'घटो न घटसदृश' इतिबोधानापत्तेः = उपमेये घटे घटभिन्नत्वस्य घटवृत्तिधर्माभावस्य च बाधेन 'घटो न घटसदृश' इत्याकारकशाब्दबोधस्यानु-पपत्तेः । न च 'घटो न घटसदृश' इतिशाब्दबोधानापत्तेरिष्टत्वमिति वाच्यम्, उपमाया उपमानोपमेयभेदनियतत्वात् । अत एव घटमुद्दिश्य 'अयं घटसदृश' इति मुग्धेनोक्ते घटं विद्वान् 'अयं घट एव न तु घटसदृश' इति प्रयुङ्क्ते । न हि चैत्रः कदापि 'अहं चैत्रसदृशः' इति प्रयुङ्क्ते, किन्तु 'अहं चैत्र' इत्येवमेव स्वपरिचयं दत्ते । न च प्रकृतकल्पे कथं 'घटो न घटसदृश' इति बुद्धिः सङ्गच्छेतेति शङ्कनीयम्, घटे घटत्वीयसंसर्गेण घटत्वस्य सत्त्वेऽपि सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्ति-घटत्वधर्मस्य घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धेनाऽसत्त्वात्, घटे घटभेदस्याऽसम्भवात् । इत्थञ्च विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य घटत्व-प्रतियोगिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य सत्त्वेन 'घटो न घटसदृश' इतिबुद्ध्युपपत्तेः ।

ननु घटत्वादावपि सामानाधिकरण्येन पटत्वात्यन्ताभावादिरूपघटभेदवैशिष्ट्यात् तादृशघटभेदविशिष्टघटत्वस्य घटवृत्ति-त्वात् घटे घटसादृश्यं कथं न भवति ? अयं शङ्काशयः 'पटत्वात्यन्ताभावो न घटः' इत्यादिप्रतीत्या घटभेदः पटत्वात्यन्ता-भावाद्यात्मकः सिध्यति, अभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणात्मकत्वात् । पटत्वात्यन्ताभावादेर्घटवृत्तित्वेन तदभिन्नत्वेन घटभेद-स्यापि घटवृत्तित्वात् घटत्वादेः सामानाधिकरण्येन पटत्वात्यन्ताभावाद्यात्मकघटभेदविशिष्टत्वम् । इत्थञ्च पटत्वात्यन्ताभावादि-स्वरूपघटभेदविशिष्टघटवृत्तिघटत्वधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन घटवृत्तित्वसिद्धौ घटभिन्नत्वविशिष्टघटत्वलक्षणघटसादृश्यं घटे निरा-शाधमिति 'घटो न घटसदृश' इतिबुद्ध्यनापत्तेरिष्टत्वान्नैकत्र द्वयमितिन्यायेन 'पटो न घटसदृश' इत्यत्र घटभिन्नत्व-घटत्वाभावयोः पटेऽन्वयस्याऽयुक्तत्वमिति निहिताशयो ननुवादिनः ।

घटे घटसादृश्याभावं समर्थयति- तादृशघटभेदस्य = पटत्वात्यन्ताभावादिरूपस्य घटभेदस्य घटे उपमेये सत्त्वेऽपि घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणतायाः = घटभेदत्वावच्छिन्नाऽऽधेयतानिरूपिताधिकरणतायाः पटत्वात्यन्ताभावादौ सत्त्वेन घटे अभावादिति । यथा 'घटध्वंसं घटो नास्ती'तिप्रतीत्या सिध्यतो घटध्वंसाधिकरणकस्य घटात्यन्ताभावस्य लाघवेन घटध्वंसात्मक-त्वेऽपि घटध्वंसवति कपाले प्राचीननैयायिकमतानुसारेण घटध्वंसत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपितैवाऽधिकरणता, न तु घटात्यन्ता-भावत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताऽपि, घटध्वंसस्य घटध्वंसत्वेनैव रूपेण कपाले सत्त्वात् न तु घटात्यन्ताभावत्वेनाऽपि रूपेण तथैव

उपमेय घट में घटभेद और घटवृत्तिधर्माभाव दोनों नहीं रहते हैं ।

✽ घट में घटभेद की शंका का परिहार ✽

ननु व. इति । यहाँ यह शंका हो कि → "घट में सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभेदविशिष्टघटत्व = घटसादृश्य तो रहता है, क्योंकि घटवृत्ति घटत्व धर्म में सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभेदविशिष्टत्व अबाधित है । वह इस तरह - 'पटत्वात्यन्ता-भावो न घटः' इस प्रतीति से घटभेद पटत्वात्यन्ताभाव में रहता है यह सिद्ध होता है । नैयायिकमतानुसार अभाव में रहने वाला अभाव अधिकरणीभूत अभावस्वरूप होने से पटत्वात्यन्ताभावाधिकरणक घटभेद पटत्वाऽत्यन्ताभावात्मक सिद्ध होता है । घट में पटत्वात्यन्ताभाव के रहने से तत्स्वरूप घटभेद भी रह जायेगा । एक ही घट में घटत्व एवं पटत्वाभावस्वरूप घटभेद के रहने से घटत्व सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से पटत्वाभावस्वरूपघटभेदविशिष्ट होगा । इस तरह घट में तादृशघटभेदविशिष्ट-घटत्व रहता है, जो घटसादृश्यात्मक है । अतः 'घटो न घटसदृशः' इत्याकारक बुद्धि की अनुपपत्ति इष्टापत्ति है । घट में घटसादृश्य सिद्ध होने पर 'घट घटसदृश नहीं है' यह कैसे माना जा सकता है ?" ←

तो यह भी नामुनासिब है; क्योंकि घट में पटत्वात्यन्ताभावस्वरूप घटभेद रहने पर भी घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणता

‘घटो न घट’ इति प्रतीत्यापत्तेरिति गृहाण ।

अथ तद्विभक्तत्वमात्रमेव सादृश्यमस्तु प्रमेयत्वादिना सर्वत्र सर्वसादृश्याद् व्यर्थो विशेष्यभाग इति चेत् ? न, तद्विभक्तत्वमात्रस्य सादृश्यव्यवहारानीपयिकत्वाद्, विशिष्टाधिकरणताया भिन्नत्वेन वैयर्थ्याभावाच्च ।

❀ नयलता ❀

प्रकृते ‘पटत्वात्यन्ताभावो न घट’ इति प्रतीत्या सिध्यतः पटत्वात्यन्ताभावाधिकरणकस्य घटभेदस्य लाघवेन पटत्वात्यन्ताभावस्वरूपत्वेऽपि पटत्वात्यन्ताभाववति घटे पटत्वात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नाऽऽधेयतानिरूपितैवाऽधिकरणता न तु घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताऽपि, पटत्वात्यन्ताभावस्य पटत्वात्यन्ताभावत्वेनैव रूपेण घटे सत्त्वात् न तु घटभेदत्वेनाऽपि रूपेणेति । घटभेदत्वेन रूपेण घटभेदस्य यदधिकरणं तत्समानाधिकरणस्य घटवृत्तिधर्मस्य घटविभक्तत्ववैशिष्ट्यं प्रकृतोपयोगि । तच्च न घटे सम्भवति घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतासम्बन्धेन घटवृत्तिधर्मस्य घटभेदविशिष्टत्वाभावेन घटभेदविशिष्टघटवृत्तिधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन घटे विरहात् ।

ननु पटत्वात्यन्ताभावाधिकरणकस्य घटभेदस्य लाघवेन पटत्वात्यन्ताभावस्वरूपत्वे पटत्वात्यन्ताभाववति घटे कथं न घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणता ? इत्याशङ्क्यामाह- अन्यथेति । घटे घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतायाः स्वीकारे, ‘घटो न घट’ इति प्रतीत्यापत्तेः = ‘घटो घटभेदवानिति’ प्रतीतेः प्रामाण्यापत्तेः, घटे पटत्वात्यन्ताभावत्वेन घटभेदस्य सत्त्वेऽपि घटभेदत्वेन तस्याऽभाव एवेति गृहाण = जानीहीति ‘नैकत्र द्वयमि’ति रीत्या पटे घटभेदस्य घटत्वाभावस्य चान्वयः ‘पटो न घटसदृश’ इति स्थले कर्तुं युज्यत इति निर्गलितार्थः ।

अथ तद्विभक्तत्वमात्रमेव सादृश्यमस्तु, न तु तद्विभक्तत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वम् । हेतुमाह- प्रमेयत्वादिना सर्वत्र सर्वसादृश्याद् व्यर्थः तद्वृत्तिधर्मवत्त्वलक्षणे विशेष्यभागः, तदनिवेशोऽपि प्रमेयत्व-वाच्यत्वादिना घटादी पटादिसादृश्योपपत्तेः तत्र पटादिभेदस्य सत्त्वादिति चेत् ? न तद्वृत्तिधर्मवत्त्वलक्षणविशेष्याऽघटितस्य तद्विभक्तत्वमात्रस्य सादृश्यव्यवहारानीपयिकत्वात् = केवलमुपमानभेदस्योपमेये सादृश्यप्रयोगानुपायात्मकत्वात् सादृश्यलक्षणे विशेष्यांशनिवेशोऽपि आवश्यक इत्यर्थः ।

ननु व्यावृत्तेरेव लक्षणप्रयोजनत्वात् स्वस्मिन् स्वसादृश्यवारणाय तद्विभक्तत्वमेव तत्सादृश्यलक्षणमस्तु लाघवादित्याशङ्क्यामाह- विशिष्टाधिकरणताया भिन्नत्वेन वैयर्थ्याभावाच्चेति । न च यथा विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते तद्वदेव विशिष्टाधिकरणताऽपि शुद्धाधिकरणताया नातिरिच्येतेति शङ्कनीयम्, गुणे विशिष्टसत्तात्वेन रूपेण गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताया अपि स्वीकारापत्तेः, सत्ताधिकरणताया इव विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्नाधिकरणताया गुणे स्वीकारात् । न चैवमिति विशिष्टाधिकरणताया

नहीं रहती है । मतलब यह है कि घट में पटत्वात्यन्ताभावात्मक घटभेद पटत्वात्यन्ताभावत्वरूप से रहता है, मगर घटभेदत्वरूप से रहता नहीं है । इससे यह फलित होता है घटभेदत्वावच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता घट में नहीं है, किन्तु पटत्वात्यन्ताभावत्वावच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता रहती है । घटवृत्ति घटत्व धर्म में जो घटभेदवैशिष्ट्य अभिमत है, वह घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतासम्बन्ध से विवक्षित है । इस सम्बन्ध से घटत्व घटभेदविशिष्ट नहीं होने से घट में तद्विभक्तत्वविशिष्टघटत्वस्वरूप घटसादृश्य नहीं होने से ‘घटो न घटसदृशः’ यह बुद्धि अभीष्ट ही है ।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि → ‘घट में घटभेद की पटत्वात्यन्ताभावत्वरूप से अधिकरणता होने पर घटभेदत्वरूप से अधिकरणता क्यों नहीं रहती है ?’ ← इसका कारण यह है कि घटभेदत्वरूप से घटभेद घट में रहने पर ‘घटो न घटः’ यानी ‘घट घटभेदवान् है’ इत्याकारक बुद्धि भी प्रामाणिक हो जायेगी । घटभेदत्व रूप से घटभेद की अधिकरणता घट में होने पर घट में घटभेद की प्रतीति को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता । इसलिए घट में घटभेदत्वरूप से घटभेद की अधिकरणता को मान्य नहीं की जा सकती ।

❀ सादृश्य में विशेष्य अंश आवश्यक ❀

अथ न. उति । यहाँ यह शंका हो कि → “तद्विभक्तत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्व को सादृश्य मानने के स्थान में तद्विभक्तत्व को ही सादृश्य क्यों न माना जाय ? क्योंकि प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी धर्म की अपेक्षा सभी पदार्थ में सभी पदार्थ का सादृश्य रहता ही है । अतः तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप विशेष्य अंश अनुयोगी होने से निरर्थक है” ← तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि केवल उपमानभेद सादृश्यव्यवहार में उपयोगी नहीं है । ‘घट पटसमान है’ ऐसा प्रयोग करने वाले वक्ता का

न ह्यत्र विशिष्टाधिकरणताघटिता व्याप्तिर्विशेष्यभागं विना ग्रहीतुं शक्यत इति । एवञ्च पटादी घटसादृश्यस्यापि घटभिन्नत्वविशिष्टद्रव्यत्वाद्यखण्डधर्मरूपतया द्रव्यत्वमात्रस्यैव(न)-सामान्यत्वमुचितं, विशिष्टस्य घट एवाऽननुवृत्तेः ।

अथैवं पशुत्वादिना सखण्डधर्मेण सादृश्यं न स्यादिति चेत् ? न, तस्यापि परम्पर-याऽखण्डत्वादिति ।

❀ जयलता ❀

अतिरिक्तत्वमेवोपगन्तव्यम् । ‘व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्’ () त्वभियुक्तोक्त्या व्यवहारस्याऽपि लक्षण-प्रयोजनत्वात् तदर्थं विशेष्यभागस्यावश्यंनिवेदनीयत्वेन विशिष्टाधिकरणतायाश्चातिरिक्तत्वेन न तद्वृत्तिधर्मवत्त्वलक्षणविशेष्यांशस्य निरर्थकतेत्यभिप्रायः । तदेव समर्थयति - न हि अत्र = तद्विभत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूपे सादृश्यलक्षणे, विशिष्टाधि-करणताघटिता तद्वेदत्वावच्छिन्नाधिकरणतासम्बन्धेन तद्वेदविशिष्टतद्वृत्तिधर्मवत्त्वनिष्ठा व्याप्तिःविशेष्यभागं तद्वृत्तिधर्मवत्त्व-स्वरूपं विना ग्रहीतुं = ज्ञातुं शक्यते, घटकाऽज्ञाने तद्वदितस्याऽज्ञानात् ।

ननु यदि सादृश्यव्यवहारार्थं विशेष्यभागस्याऽऽवश्यकत्वं तदा तन्मात्रमेव सादृश्यमस्तु, विशेषणांशस्य नैरर्थक्यादित्या-शङ्कयामाह- एवञ्चेति । पटादी घटसादृश्यस्यापि घटभिन्नत्वविशिष्टद्रव्यत्वाद्यखण्डधर्मरूपतया द्रव्यत्वमात्रस्य = शुद्धद्रव्य-त्वस्य एव न सामान्यत्वं = उपमानोपमेयसाधारण्यं सादृश्यमिति यावत्, उचितम् । ‘ननु लाघवं किं न प्रतिसन्धत्से’ ? इत्याशङ्कायां विशिष्टद्रव्यत्वस्यैव सादृश्यत्वमुपपादयति - विशिष्टस्य घट एवाननुवृत्तेरिति । एवकारश्च भिन्नक्रमः । ततः विशिष्ट-द्रव्यत्वस्यैव घटेऽननुवृत्तेरित्यर्थः । द्रव्यत्वमिव निरुक्तविशिष्टद्रव्यत्वस्याऽयसखण्डधर्मत्वान्न तस्य सादृश्यत्वाऽङ्गीकारे गौरवम् । प्रत्युत द्रव्यत्वस्य सादृश्यत्वाऽङ्गीकारे घटेऽपि घटसादृश्यप्रसङ्गात्, शुद्धद्रव्यत्वस्य घटेऽपि सत्त्वात् । घटभिन्नत्वविशिष्टद्रव्यत्वस्य घटसादृश्यत्वे तु न घटे घटसादृश्यप्रसङ्गः, तस्य घटेऽननुवृत्तेः, असत्त्वादिति यावत् । न च विशिष्टद्रव्यत्वस्य सामानाधि-करण्येन घटभेदविशिष्टद्रव्यत्वरूपत्वेन कथमखण्डत्वमिति वाच्यम्, घटभेदविशिष्टद्रव्यत्ववन्मात्रवृत्तिवैजात्ये तात्पर्यात्, तस्य घटाऽवृत्तित्वे सति घटेतरसकलवृत्तित्वेन घट घटसादृश्यापत्तेः पटादी तदनापत्तेश्चाऽसम्भवादिति भावनीयमवहितमानसैः ।

कश्चिच्छङ्कते- अथेति । एवं = अखण्डधर्मेणैव सादृश्याऽङ्गीकारे, पशुत्वादिना लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वादिस्वरूपेण सखण्ड-धर्मेण गवादेः मेषादिभिः समं सादृश्यं न स्यात् । न हि पशुत्वं जातिस्वरूपं सम्भवति, येन तस्याऽखण्डत्वं स्यात् । न च तस्य जातित्वं किं बाधकमिति वाच्यम्, उच्चैःश्रवत्वादिना साङ्कर्यस्यैव तद्बाधकत्वात् । न च लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वस्वरूपेणैव पशुत्वेन मेषसादृश्यं गवादावस्त्विति वाच्यम्, तस्य सखण्डरूपत्वेन गुरुत्वात् ।

तन्निराकुरुते - नेति । तस्यापि = पशुत्वादेशपि परम्परया = स्वसमवायिसमवेतत्वलक्षणपरम्परासम्बन्धेन लोमवल्लाङ्गूल-त्वात्मकतया अखण्डत्वात् । स्वपदेन लोमवल्लाङ्गूलत्वजातिग्रहणात् तत्समवायिनि लोमवल्लाङ्गूले समवेतस्य पशोः स्वसमवायि-

केवल ‘घट में घटभेद है’ ऐसा तात्पर्य नहीं होता है, किन्तु ‘घट में पटगत धर्म रहता है’ ऐसा भी अभिप्राय होता है । अतः उपमेय में वृत्ति केवल उपमानभेद को सादृश्य नहीं माना जा सकता । दूसरी बात यह है कि विशिष्ट की अधिकरणता शुद्ध की अधिकरणता से भिन्न = अतिरिक्त होती है । इसलिए तद्विभत्त्व की अधिकरणता और तद्विभत्त्वविशिष्ट तद्वृत्ति धर्म की अधिकरणता अलग-अलग सिद्ध होने से विशेष्यांश का निवेश निरर्थक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट की अधिकरणता से घटित व्याप्ति का विशेष्यांश के बिना ज्ञान ही नहीं हो सकता है । जैसे सादृश्यशरीर में तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप विशेष्य अंश का निवेश आवश्यक है, ठीक वैसे ही तद्विभत्त्वस्वरूप विशेषण अंश का प्रवेश भी जरूरी है, क्योंकि घट में रहने वाला घटसादृश्य भी घटभिन्नत्वविशिष्ट द्रव्यत्वादिस्वरूप होने से अखंड धर्मात्मक होने से विशेषणांश के निवेश में गौरव नहीं है । केवल द्रव्यत्व को, जो घटवृत्ति धर्म है, घटसादृश्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह तो घट में भी रहने से ‘घटो घटसादृश्यः’ इत्याकारक प्रयोग एवं बुद्धि की आपत्ति आयेगी । जब कि घटभिन्नत्वविशिष्ट घटवृत्ति द्रव्यत्व धर्म को घटसादृश्य मानने में उपर्युक्त अनिष्टापत्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि घटभेदविशिष्टद्रव्यत्व ही घट में नहीं रहता है । अतः घटभेदविशिष्टघटत्वात्मक अखंड धर्म से ही घटसादृश्य का अंगीकार करना युक्तिसंगत है ।

७७ पशुत्व भी परम्परा से अखण्डधर्मस्वरूप है ७७

अर्थ. इति । यहाँ यह शंका हो कि → ‘यदि अखंड धर्म से ही सादृश्य का स्वीकार किया जाय तो पशुत्व आदि

अत्र वदन्ति - सादृश्यं न तदभिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्, किन्तु तद्वृत्ति-
धर्मैकधर्मवत्त्वम् । एकत्वञ्च सङ्ग्रहनयाऽर्पणार्पितबुद्धिविशेषविषयत्वं, तेन नैतद्घटत्वादेः
सामान्यत्वं, सङ्ग्रहस्य विस्तरावधिकत्वात् । नाऽपि पटत्वादेर्घटसादृश्यत्वम्, तत्तदितर-
साधारणधर्मेष्वेव सङ्ग्रहसम्भवात् ।

❀ नयलता ❀

समवेतत्वसम्बन्धेन लोमवह्नाङ्गूलत्वजातिस्वरूपपशुत्वविशिष्टत्वादवादेः निरुक्ताखण्डपशुत्वेन रूपेण मेषादिसादृश्ये किञ्चिद्वाधकं
नास्तीति समाधानाभिप्रायः ।

अत्र वदन्ति स्याद्वादिन इति शेषः । नैयायिकसम्मतसादृश्यप्रतिक्षेपपूर्वकं तद्वक्तव्यमेवावेदयति प्रकरणकारः - सादृश्यं
= सादृश्यपदप्रतिपाद्यं न तद्विन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति । तद्विन्नत्वांशस्य व्यर्थत्वेन गौरवात्, 'गगनं
गगनाकारमि'त्यादावव्याप्तेः, एकधर्मेणाऽपि गोत्वाश्वत्वयोः सादृश्यव्यवहारेण भूयःपदस्याऽपि व्यर्थत्वेन गौरवात्, एकधर्मेण
सादृश्यस्थलेऽव्याप्तेश्च । किन्तु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वमेव सादृश्यम् । तत्पदेनोपमानग्रहणमभिमतम् । ननु जातित्वेन द्रव्यत्वा-
दावेकत्वस्याऽघटमानत्वेनैकत्वविशिष्टधर्मरूपस्यैकधर्मस्याऽसम्भवेन नैतत्सादृश्यनिर्वचनं युक्तमित्याशङ्कायामाह - एकत्वञ्चेति ।
सादृश्यघटकधर्मविशेषणीभूतमेकत्वञ्चेत्यर्थः । सङ्ग्रहनयाऽर्पणाऽर्पितबुद्धिविशेषविषयत्वं = सङ्ग्रहनयविवक्षाकृतप्रतिभास-
विशेषविषयतास्वरूपम् । तत्र घटपट्टादिसाधारणपरिणामेष्वपि सम्भवतीति न तत्सादृश्यानुपपत्तिः । एतेनैतद्घटत्वेनाऽपि घटः
किं नानुवर्त्ततेति प्रत्युक्तमित्याशयेनाह-तेनेति । सङ्ग्रहनयार्पणार्पितबुद्धिविशेषविषयत्वात्मकैकत्वविवक्षणेनेत्यर्थः । न एतद्घट-
त्वादेः सामान्यत्वं = निरुक्तसादृश्यत्वं, सङ्ग्रहस्य विस्तरावधिकत्वात्, एतद्घटत्वादेस्त्वेकमात्रव्यक्तिवृत्तित्वेनाऽतुल्यपरिणाम-
त्वात् तेन रूपेणोक्तसादृश्यसम्भवः ।

तर्हि पटत्वादेरेव घटसादृश्यत्वमस्तु, तस्याऽनेकवृत्तित्वेन साधारणधर्मत्वादित्याशङ्कायामाह - नापीति । तत्तदितर-
साधारणधर्मेषु = पटत्वादिभिन्नेषु साधारणधर्मेषु द्रव्यत्वादिस्वरूपेषु एव सङ्ग्रहसम्भवात् = सङ्ग्रहनयप्रवृत्तिसम्भवात् ।
भेदकुक्षिप्रविष्टत्वेन न पटत्वादिना घटसादृश्यप्रसङ्गः ।

धर्म से कभी भी सादृश्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि पशुत्व आदि सखण्ड धर्म हैं, न कि अखण्ड धर्म । पशुमात्र में रहने
वाला पशुत्व लोमवह्नाङ्गूलत्व = बालवाली पुच्छस्वरूप है । यह धर्म सखण्ड होने से पशुत्वरूप से गाय आदि में भैंस,
सिंह आदि का सादृश्य अनुपपन्न हो जायेगा' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पशुत्व भी परम्परासम्बन्ध से अखण्डधर्म-
स्वरूप ही है । आशय यह है कि पशुमात्र में बालवादी पुच्छ रहती है और उसमें लोमवह्नाङ्गूलत्व जाति रहती है । वह
स्वसमनायिसमवेतत्वात्मक परम्परासम्बन्ध से पशुमात्र में रहती है और वही पशुत्व है । जातिस्वरूप होने से वह अखण्ड एवं
अनुगत और लघुधर्म है । इस तरह लोमवह्नाङ्गूलत्वस्वरूप जातिविशेषरूप ही पशुत्व मानने से पशुत्वधर्म की अपेक्षा गाय,
भैंस, सिंह आदि में सादृश्य हो सकता है । इसलिए लाघव तर्क से अखण्ड धर्म की अपेक्षा ही सादृश्य का स्वीकार करना
मुनासिब है - यह सिद्ध होता है । यह नैयायिकमत है ।

❀ उपमानगतधर्मैकधर्मवत्त्व ही सादृश्य - स्याद्वादी ❀

अत्र वद. इति । उपर्युक्त नैयायिक मत के खिलाफ में स्याद्वादियों का यह कथन है कि सादृश्य तदभिन्नत्वे सति
तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप नहीं है, किन्तु तद्गतधर्मैकधर्मवत्त्व ही सादृश्य है । जैसे 'पटो घटसादृशः' यहाँ घटगतद्रव्यत्वधर्मैकधर्म
पट में रहता है, वही घटसादृश्य है । यहाँ एक धर्म ऐसा जो कहा गया है उसका अर्थ है एकत्वविशिष्ट धर्म और एकत्व
भी संख्यात्मक नहीं, किन्तु संग्रह नय की विवक्षा से कृत = अर्पित बुद्धिविशेषविषयतास्वरूप अभिमत है । ऐसे एकत्व को
गृहीत करने का तात्पर्य यह है कि घटगत एतद्घटत्व से घटसादृश्य = सामान्य के अंगीकार की आपत्ति न हो, अन्यथा
वह समस्या अपरिहार्य बनी रहती है । संग्रहनयविवक्षाकृत बुद्धिविशेषविषयतास्वरूप एकत्व का ग्रहण करने पर उक्त समस्या
का अवकाश नहीं है, क्योंकि संग्रह नय विस्तारविषयक है । एतद्घटत्व तो केवल एतत् घट में, जो एक ही है, रहता
है, न कि सर्व घट में । अतः व्यापकविषयतावाला संग्रह नय एतद्घटत्व धर्म को अपना विषय नहीं बनाता है । इस तरह
पटत्वादि धर्म से भी घटसादृश्य की आपत्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि पटत्वादि से भिन्न उपमान-उपमेयसाधारण में ही
संग्रह नय की प्रवृत्ति मुमकिन है । पटत्वादि यद्यपि अनेक पटादि में साधारण-व्यापक है फिर भी उपमान घट में नहीं रहने

न च स्वस्मिन् स्वसादृश्यापत्तिः, इष्टत्वात्, कथमन्यथा 'अस्या इवाऽस्या' इत्यादौ इव-
शब्दप्रयोगः साधीयान् । न चैवमनन्वयस्याऽलङ्कारान्तरत्वं न स्यादिति वाच्यम्, स्वस्यै-
वोपमानोपमेयत्वविवक्षया तत्राऽलङ्कारान्तरव्यपदेशात् ।

अथ 'अस्या इवाऽस्या' इत्यादावपि वैधर्म्यलक्षणभेदोऽनवबोधे एव सादृश्यव्यवहारो

ॐ नयतता ॐ

वस्तुतस्तु पटत्वादिधर्मस्य उपमानोपमेयसाधारण्याभावेन 'पटो घटसदृशः', 'घटः पटसदृशः' इत्यादेः पटत्वादिना प्रसङ्ग इति ध्येयम् ।

ननु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वं तूपमेय इवोपमानेऽपि सम्भवतीति स्वस्मिन् स्वसादृश्यप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वमित्याशङ्कामिष्टा-
पत्तित्वेन समाधत्ते - न च स्वस्मिन् स्वसादृश्यापत्तिरिति । इष्टत्वादिति । ततश्च मिष्टमिष्टं वैद्योपदिष्टञ्चेतिन्यायप्राप्तिः ।
इष्टापत्तित्वमेव समर्थयति - कथमन्यथा 'अस्या इव अस्या' इत्यादौ इवशब्दप्रयोगः साधीयानिति । स्वस्मिन् स्वसादृश्याऽ-
नङ्गीकारे उपदर्शितप्रयोगे इवशब्दस्याऽसाधुत्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिरत्रैव किं न स्यादिति वक्तव्यम्, प्रसिद्धत्वेन तस्याऽन-
पलपनीयत्वात् । इवशब्दस्य सादृश्यवाचकत्वेनोक्तस्थलानुरोधात् स्वस्मिन्नपि स्वसादृश्यमङ्गीकार्यमेव । इत्थमेव 'रामरावणयोर्युद्धं
रामरावणयोरिवे'त्यादेरपि साधुत्वोपपत्तेः ।

ननु स्वस्मिन्नपि स्वसादृश्याऽङ्गीकारे 'गगनं गगनाकारमि'त्यादानुपमालङ्कार एव स्यान्न त्वनन्वयाऽलङ्कार इत्याशङ्का
दूरीकरोति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्यान्वयः । तदयुक्तत्वे हेतुमाह - स्वस्यैवेति एवकारेण परव्यवच्छेदः कृतः । उप-
मानोपमेयत्वविवक्षया तत्र = 'गगनं गगनाकारमि'त्यादौ, अलङ्कारान्तरव्यपदेशात् = उपमाभिन्नाऽनन्वयाऽलङ्काराभि-
धानात्, आलङ्कारिकैरिति शेषः । इदं समाधानाकूतं स्वस्मिन् परसादृश्यवत् स्वसादृश्यमपि वर्तते । परं यदा स्वस्मिन् पर-
सादृश्यं तदोपमालङ्कारव्यवहारः, उपमानोपमेययोर्भेदे तत्प्रवृत्तेः । यदा तु स्वस्मिन् स्वसादृश्यं तदाऽनन्वयालङ्काराभिधानं,
उपमानोपमेययोर्भेदे तत्प्रवृत्तेः । अतो नानन्वयालङ्कारोच्छेदो न वा स्वस्मिन् स्वसादृश्यापलाप इति ।

परः शङ्कते - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । नान्यथा = वैधर्म्यलक्षणभेदाऽनवबोधे तत्र न सादृश्यव्यवहारः ।

से उसमें संग्रह नय की प्रवृत्ति नामुमकिन है । विस्तारग्राही संग्रह नय तो उपमान-उपमेयसाधारण द्रव्यत्व, रूपवत्त्व आदि धर्म में ही प्रवृत्त होता है, न कि एतदघटत्व में या पटत्वादि धर्म में ।

ॐ एव में एवसादृश्य लभ्यत - एवाऽद्यादौ ॐ

न च स्व. इति । यहाँ जो सादृश्य का निर्वचन किया गया है, उसमें की तद्विन्नत्व का निवेश नहीं किया गया है । इसलिए अपने में अन्य के सादृश्य की भाँति अपने सादृश्य की आपत्ति का उद्भावन हो सकता, क्योंकि स्वगत धर्म तो स्व में रहता ही है । मगर यह आपत्ति अनिष्ट नहीं है, किन्तु इष्ट-अभिमत ही है । अतः दोषात्मक नहीं है । 'गगन गगन जैसा है, सागर सागर जैसा है' इत्यादि में उपमेय में स्वात्मक उपमान के सादृश्य की प्रतीति सर्वजनसिद्ध है । यदि अपने में अपना सादृश्य अमान्य हो तो फिर 'अस्याः इव अस्याः' इत्यादि वाक्य में इवशब्द का प्रयोग समीचीन कैसे हो सकता है ? क्योंकि इवशब्द सादृश्य का वाचक है और प्रकृत दृष्टान्त में उपमान और उपमेय एक होने की वजह स्व में स्वसादृश्य का स्वीकार न किया जाय तो इवशब्द निरर्थक = अशिष्ट हो जाता है । मगर उपर्युक्त वाक्य प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य होने की वजह वहाँ प्रयुक्त इवशब्द को समीचीन मानना आवश्यक है । वह तभी संगत होता है, यदि अपने में स्वसादृश्य का अंगीकार किया जाय । यहाँ यह शंका हो कि —> 'यदि अपने में स्वसादृश्य का स्वीकार किया जाय तो उपर्युक्त स्थल में उपमा अलंकार को मानना होगा, क्योंकि सादृश्यस्थल में उपमा अलंकार की प्रवृत्ति होती है । मगर ऐसा मानने पर अनन्वय अलंकार उपमा अलंकार से अलग सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि स्व में स्वसादृश्य को मान्य कर के अनन्वय अलंकार के स्थान में उपमा अलंकार को आपने मान्य किया है' <- तो यह नामुनासिब है, क्योंकि उपमान और उपमेय में अभेद की विवक्षा होने पर यानी अपने में ही उपमानत्व और उपमेयत्व की विवक्षा होने पर अनन्वय अलंकार का व्यवहार होता है । मगर इसकी वजह स्व में स्वसादृश्य का अपलाप करना ठीक नहीं है । भिन्न धर्मी में उपमान-उपमेयभाव की विवक्षा होने पर उपमा अलंकार कहा जाता है और एक धर्मी में उपमान-उपमेयभाव की विवक्षा होने पर अनन्वय अलंकार कहा जाता है । इसलिए अनन्वय अलंकार के उच्छेद की आपत्ति भी नहीं है । अतः स्व में स्वसादृश्य का अपलाप नहीं किया जा सकता है - यह फलित होता है ।

नात्यथा । अनुगतव्यवहारस्तु भेदानुपरक्ताऽखण्डधर्ममात्रेणेति सादृश्यात्सामान्यमतिरिच्यत इति चेत् ? कोशपानप्रत्यायनीयमेतद्, वैधर्म्याऽप्रतिसन्धानेऽपि 'तत्रैवाद्यर्थबोधानपवादात् । 'तदप्रतिसन्धानेऽनन्वय एव नोपमे'ति चेत् ? न, सादृश्यस्य भेदगर्भितत्वे इवादिपदात्-
त्प्रतिसन्धानस्यैवाऽवश्यम्भावात् ।

❀ जयलता ❀

'सादृश्यव्यवहारेऽवश्यम्भेदोल्लेखाभ्युपगमे कथं तत्राऽनुगतव्यवहारः स्यात् ? वैधर्म्यज्ञानस्याऽनुगतधीव्यवहारविरोधित्वात्, अन्यथा घटपटादिष्वप्यनुगतधीव्यवहारौ प्रसज्येतां, वैधर्म्याऽविशेषादित्याशङ्कायामथवाद्याह - अनुगतव्यवहारस्तु = 'अयं घटोऽयमपि घट' इत्याद्यनुगतप्रयोगस्तु, भेदानुपरक्ताऽखण्डधर्ममात्रेण = भेदानुल्लेखिवदत्वादिलक्षणाऽखण्डधर्मेण 'इदं द्रव्यमिदमपि द्रव्यमि'त्य-
नुगतव्यवहारस्त्वभिमत एव । भेदज्ञाने सादृश्यव्यवहारात् भेदाघटिताऽखण्डधर्मेण चाऽनुगतव्यवहारात् सादृश्यात् सामान्यमति-
रिच्यत एवेति सादृश्यकुक्षौ तद्विभक्तत्वे सतीति निवेश आवश्यक एवेति न तद्वतधर्मैकधर्मवत्त्वं सादृश्यमर्हतीत्यथाशयः पर्यवस्यति ।

प्रकरणकृतदपाकरोति - कोशपानप्रत्यायनीयं = युक्तिविकलं एतत् = 'भेदप्रतिसन्धान एव सादृश्यव्यवहार' इत्य-
भिधानम् । अत्र हेतुमाह - वैधर्म्याऽप्रतिसन्धाने = वैधर्म्यात्मकभेदानवबोधे अपि तत्र = 'अस्या इवाऽस्या', 'गगनं गगना-
कारं' इत्यादौ, इवाद्यर्थबोधानपवादात् = सादृश्यधर्मप्रकारकधियं सादृश्यव्यवहारस्य चानपलपनीयत्वात् । न हि 'घटः पट
इव रूपवानि'त्यादिस्थलेऽपि लोका घटे पटभेदमवबुध्यैव पटसादृश्यं जानन्ति किन्तु रूपं प्रतिसन्धायैवेति न वैधर्म्यप्रति-
सन्धानस्य साधर्म्यप्रतिसन्धानसमनियतत्वम् । एतेन सादृश्यस्य सामान्यव्यतिरिक्तत्वमपि प्रत्याख्यातम्, गौरवाच्च ।

पुनरपि परः शङ्कते - तदप्रतिसन्धाने = वैधर्म्यस्वरूपभेदानवबोधे सति 'अस्या इव अस्या' इत्यादौ अनन्वयः
अलङ्कार एव नोपमा इति न तत्र सादृश्यधीव्यवहारौ । प्रकरणकृत् तन्निराचष्टे - नेति । यद्यपि स्वमते सादृश्यस्य न भेद-
घटितत्वं तथापि अभ्युपगमवादेनाऽऽह - सादृश्यस्य = सादृश्यपदार्थस्य, भेदगर्भितत्वे = भेदघटितत्वे सति सादृश्यवाचकात्
इवादिपदात् तत्प्रतिसन्धानस्य = भेदावबोधस्य एव अवश्यम्भावात् । 'गगनं गगनमिव'त्यादौ युगभेदप्रयुक्ततत्तद्युग-
विशिष्टगगनभेदस्योपमेयगगने सत्त्वादिवपदात् भेदगर्भितसादृश्यबोधः परेणाऽप्यवश्यमङ्गीकर्तव्य इति भावः ।

❀ वैधर्म्यज्ञान के बिना भी सादृश्यमान मूमफेन - स्यात्तादी ❀

अथा. इति । यहाँ यह शंका हो कि → "सादृश्य को भेदगर्भित मानना ही युक्तिसंगत है, क्योंकि 'अस्या इवास्याः'
इत्यादि स्थल में भी वैधर्म्यस्वरूप भेद का ज्ञान होने पर ही सादृश्य का व्यवहार होता है, न कि भेदज्ञान न होने पर
भी । उपमान और उपमेय में भेद होने पर भी उनमें जो अनुगत व्यवहार होता है, वह भेदानुपरक्त अखण्डधर्म से ही
होता है । घट, पट में भेद होने पर भी भेदानवगाही द्रव्यत्वात्मक अखण्ड धर्म से ही उनमें 'इदं द्रव्यं, इदमपि द्रव्यं' ऐसा
अनुगत व्यवहार होता है । सादृश्यव्यवहार में उपमान-उपमेय में भेद का ज्ञान आवश्यक है और अनुगत व्यवहार में भेदानव-
गाही अखण्ड धर्म का ज्ञान आवश्यक है । इसलिए सादृश्य से सामान्य अतिरिक्त है, ऐसा फलित होता है । अतः सामान्य
को ही सादृश्य नहीं कहा जा सकता" <-

काश. इति । तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान और उपमेय में भेदज्ञान होने पर ही सादृश्यव्यवहार होता
है, इस विषय में कोई युक्ति नहीं है । यहाँ यह कहना कि → 'मैं कसम खा कर कहता हूँ कि उपमान और उपमेय
में भेद का ज्ञान होने पर ही सादृश्यव्यवहार होता है' <- भी असंगत है, क्योंकि दार्शनिक जगत में वादादिस्थल में हजारों
शपथ से वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती, किन्तु युक्ति-प्रमाण से ही वस्तुसिद्धि हो सकती है । 'अस्या इव अस्या',
'गगनं गगनाकारं' इत्यादि स्थल में उपमान और उपमेय में वैधर्म्य = भेद का ज्ञान न होने पर भी सादृश्य का, जो इव
आदि शब्द का वाच्यार्थ है, बोध होता है । इसका अपलाप नहीं किया जा सकता । इसलिए सादृश्य को भेदगर्भित नहीं
माना जा सकता ।

❀ भेद इव आदि शब्द का अर्थ नहीं है - स्यात्तादी ❀

तद. इति । यहाँ यह वक्तव्य कि → "उपमान और उपमेय में भेद की प्रतीति न होने पर तो 'गगनं गगनमिव'
इत्यादि स्थल में अनन्वय अलंकार की ही प्रवृत्ति होगी, न कि उपमा अलंकार की" <- भी इसलिए निराधार है कि सादृश्य
को भेदगर्भित मानने पर उपर्युक्त स्थल में सादृश्यवाचक इव आदि शब्द से उपमान और उपमेय में भेद का ज्ञान अवश्य

‘अयोग्यताभ्रमादितस्तदप्रतिसन्धानेऽनन्वयः’ इति चेत् ? तर्हि यत्र नाऽयोग्यताभ्रमादिकं तत्र क्वचिद्वैधर्म्याऽप्रतिसन्धानेऽपीवादिपदादर्थबोध इति कथं तस्येवार्थत्वम् ?

इदमभावधेयम् । ‘पटो घटसदृशः’, ‘पटो द्रव्यमि’तिप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्याधीनं, विषयं विनैव धियां विशेषे साकारवादापातात् । तथा च सावच्छिन्ननिरवच्छिन्नप्रकारता-

॥ अयत्नता ॥

पुनरपि परः शङ्कते - अयोग्यताभ्रमादितः आदिपदेन तादृशव्युत्पत्तिवैकल्यादेर्ग्रहणम् । तदप्रतिसन्धाने = उपमानभेदानवबोधे अनन्वयः अलङ्कारः । ‘गगनस्यैकत्वेन तत्तद्युगविशिष्टगगनभेदान्वयो गगनेऽयोग्यः’ इति भ्रमात् गगने गगनभेदानवबोधे तु तत्राऽनन्वयाऽलङ्कारोऽवकाशं लभेतैवेति न तत्रोपमाऽलङ्कारसम्भव इति साधर्म्यस्य भेदघटितत्वमेव वाच्यमिति शङ्काभिप्रायः ।

प्रकरणकारस्तमपहस्तयति - तर्हीति । यत्र = पुरुषादौ नाऽयोग्यताभ्रमादिकं तत्र क्वचित् कदाचित् वैधर्म्याऽप्रतिसन्धानेऽपि वैधर्म्यस्वरूपभेदानवबोधेऽपि इवादिपदात् = ‘अस्या इवाऽस्या’ इत्यादिवाक्यघटकात् अर्थबोधः = सादृश्यावबोधो जायत एव इति कथं तस्य = भेदस्य इवाद्यर्थत्वं ? नैवेत्यर्थः । व्युत्पन्नस्य तत्पदात् यावदस्खलद्वृत्त्या समुपतिष्ठते तावतः तत्पदशक्यत्वनियमेन भेदे नास्तीवादिपदशक्तिरिति तात्पर्यम् ।

ननु भेदस्येवादिशब्दाऽवाच्यत्वे कथं सादृश्यबुद्धयनुगतबुद्धयोर्वैलक्षण्यस्योपपत्तिः ? इत्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह - इदं = अनुपदं वक्ष्यमाणं, वर्तमानत्वेन सन्निकृष्टत्वादितमः शब्दस्योपादानम् । अत्र = सादृश्यविचारे अवधेयम् । तदेवाऽऽह - ‘पटो घटसदृशः’ ‘पटो द्रव्यमि’तिप्रतीत्योः विद्यमानं वैलक्षण्यं = वैचित्र्यं, विषयवैलक्षण्याधीनं = विषयनिष्ठ-वैचित्र्यनिमित्तकमिति वक्तव्यम् । विपक्षबाधकमाह - विषयं = विषयवैलक्षण्यं विनैव धियां विशेषे = बुद्धिवैलक्षण्याभ्युपगम्यमाने सति साकारवादापातात् = साकारज्ञानवादियोगाचाराभिधानसौगतमतप्रवेशप्रसङ्गात् । तन्मते ज्ञानाकारातिरिक्तविषयस्याऽसत्त्वेन बहिर्विषयविशेषमृत एव ज्ञानविशेषाभ्युपगमात्प्रकृते विषयवैचित्र्यमृते प्रदर्शितप्रतीतिवैलक्षण्याभ्युपगमे साकारज्ञानवादिसमतप्रवेशोपपत्तेरिति भावः । तथा चेति । साकारज्ञानवादिसमतप्रवेशोपाकरणाय चेति । सावच्छिन्न-निरव-

होना ही चाहिए । कलियुग में गगन त्रेता-द्वापरादियुग से विशिष्ट नहीं होने से त्रेतादियुगविशिष्ट गगन का कलियुगकालीन गगन में भेद ज्ञान होकर उपमा अलंकार ‘गगनं गगनमिव’ इत्यादि में माना जा सकता है, अन्यथा सादृश्यवाचक इव शब्द अनुपपन्न-असंगत-निरर्थक हो जायेगा । यहाँ यह कहना कि → ‘गगन एक होने से उसमें उपर्युक्त रीति से विशिष्टगगनभेदान्वय में अयोग्यता का भ्रम आदि होने की वजह उपमेय गगन में उपमान गगन के भेद का शब्द बोध नहीं होने पर उपर्युक्त स्थल में अनन्वय अलंकार की प्रवृत्ति हो सकती है । अतः सादृश्य को भेदगर्भित मानना आवश्यक है, जिसके फलस्वरूप सादृश्यवाचक इव शब्द की भेद में शक्ति सिद्ध होगी, अर्थात् भेद भी इवादि शब्द का अर्थ सिद्ध होगा’ ← भी नामुनासिब है, क्योंकि जिस पुरुष को अयोग्यताभ्रम आदि नहीं है, उसे भी कभी गगन में विशिष्टगगनभेद का ज्ञान नहीं होने पर भी ‘गगनं गगनमिव’ इत्यादि स्थल में इव आदि शब्द से सादृश्य अर्थ का शब्दबोध होता ही है - यह तो अनुभवसिद्ध ही है । इवशब्द का प्रयोग होने पर भी भेद का शब्द ज्ञान नहीं होता है - इस स्थिति में भेद कैसे इव आदि शब्द का अर्थ होगा ? क्या घटपद से पट का शब्दबोध नहीं होने पर भी पट को घटशब्दार्थ माना जा सकता है ? अतः सादृश्य को भेदघटित नहीं माना जा सकता । अतएव भेद सादृश्यवाचक इवादि शब्द का अर्थ नहीं है - यह सिद्ध होता है ।

॥ सादृश्यबुद्धि और अनुगतबुद्धि के वैलक्षण्य की उपपत्ति ॥

इदमत्रा. इति । यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि ‘पटो घटसदृशः’ यह बुद्धि सादृश्यावगाही है, जब कि ‘पटो द्रव्यं’, ‘पटो द्रव्यं’ इत्यादि बुद्धि अनुगत बुद्धि है । उपर्युक्त बुद्धि में वैलक्षण्य है, वह विषयवैलक्षण्य के आधीन है । विषय में विलक्षणता नहीं होने पर बुद्धि में विलक्षणता नहीं हो सकती है, क्योंकि विषयविशेष के बिना ही ज्ञान में विशेषता - वैलक्षण्य मानने पर साकारवाद - ज्ञानसाकारवाद = योगाचारमत में प्रवेश होने की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । योगाचार बौद्ध ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ का स्वीकार ही नहीं करता है । उसके मत में घट, पट आदि बाहरी पदार्थ नहीं हैं, किन्तु ज्ञान का ही आकारविशेष है । अतः उसके मतानुसार विषयविशेष के बिना भी ज्ञान में वैलक्षण्य मान्य करने पर साकारज्ञानवादी योगाचार के मत में प्रवेश अनिवार्य हो जायेगा । इसलिए विषयवैलक्षण्य से ही उपर्युक्त दोनों प्रकार

भ्यामेव तयोर्वैलक्षण्यं वाच्यं, न तु तदनुरोधेन सादृश्यमेव तद्विभक्तत्वगर्भं वाच्यमिति ।
नव्य(म)त(?)ता)नुरोधेनस्तु सादृश्यमतिरिक्तमेव बहुषु धर्मेषु तत्त्वकल्पने गौरवात् ।
न च तद्विभक्तत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्वस्य तद्व्यञ्जकत्वकल्पने विपरीतगौरवम्, एवं सत्य-

॥ अथ लक्षा ॥

छिन्नप्रकारताभ्यामेव तयोः = प्रदर्शितप्रतीत्याः वैलक्षण्यं वाच्यं = अभ्युपगन्तव्यमिति । अयम्भावः 'पटो घटसदृशः' इतिप्रतीतिं पटस्य विशेष्यत्वं घटसादृश्यस्य च विशेषणत्वम् । घटसादृश्यस्य जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तत्वेन तन्निष्ठप्रकारतायाः सावच्छिन्नत्वम्, जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थस्य किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वनियमात् । 'पटो द्रव्यं घटो द्रव्यमि'त्यनुगतप्रतीतिौ पटादेः विशेष्यत्वं द्रव्यत्वस्य च प्रकारत्वम् । जातेः स्वरूपतो भाननियमात् द्रव्यत्वजातिनिष्ठप्रकारताया निरवच्छिन्नत्वम् । इत्यमेवानुगतसादृश्यावगाहिबुद्धयोर्वैलक्षण्यस्योपपत्तौ सादृश्यस्य भेदघटितत्वकल्पनमुक्तमित्याशयेनाह - न तु तदनुरोधेन = साकारज्ञानमतप्रवेशपरिहारपूर्वं प्रदर्शितप्रतीतिवैलक्षण्यप्रतिपादनानुरोधेन प्रथमप्रतीतिप्रकारीभूतं सादृश्यमेव तद्विभक्तत्वगर्भं = उपमानभेदघटितं वाच्यमिति न भेदस्येवादिपदवाच्यत्वसिद्धिरिति भावः ।

केचित्तु भूयोऽवयवसामान्ययोगः सादृश्यमित्याहुः; तन्न चारु, निरवयवद्रव्येषु गुणादिषु च तदनापत्तेः । तदुक्तं स्याद्वादरत्नाकरे -> 'न भूयोऽवयवसामान्ययोगरूपं सादृश्यं, अपि तु समानपरिणामलक्षणमेव सादृश्यम्' (स्या.२, परि.४/ सू. १०/बृ.६९७) इति ।

सादृश्यमतिरिक्तमेव, अन्यथा 'सदृश' इत्याकारकप्रतीतिः सर्वत्र समानाकारतानुभवापलापपत्तेः । प्रतीतिः समानाकारत्वञ्चैकप्रकारकत्वम् । ततश्च तद्विभक्तत्वे सति तद्वतभूयोधर्मवत्त्वलक्षणस्य सादृश्यस्याऽङ्गीकर्तृमते 'चन्द्रसदृशं मुखमि'त्यादौ आह्लादकत्वादेः प्रकारता 'घटसदृशः पटः' इत्यादौ तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वादेः प्रकारतेति तादृशप्रतीत्योः सादृश्यांशेऽनुभवसिद्धायाः समानाकारताया अपलापो दुरुद्धरः । सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थ इतिवादिमते तु न तदनुपपत्तिः । न च तस्याऽतिरिक्तत्वे पदार्थविभागव्याघातः इति वक्तव्यम्, तस्य साक्षात्परम्परया वा तत्त्वज्ञानोपयोगिपदार्थमात्रनिरूपणपरत्वादित्याशयवतां नव्य-नैयायिकानां मतं खण्डयितुमुपदर्शयति - नव्येति । अनतिरिक्तवादिमते दोषभावेदयति - बहुषु = अनन्तेषु धर्मेषु = उपमेयधर्मेषु तत्त्वकल्पने = सादृश्यत्वकल्पने गौरवात् । यथाऽनन्तेषु भूतलादिस्वरूपेषु रूपादिप्रतियोगिकत्वकल्पनायां गौरवादतिरिक्तसमवायः सिध्यति तथैवाऽनन्तेषूपमेयधर्मेषु सादृश्यत्वकल्पनायां गौरवादतिरिक्तसादृश्यसिद्धिरित्याशयः । अनतिरिक्त-सादृश्यवादी शङ्कते - न चेति । तद्विभक्तत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्वस्य तद्व्यञ्जकत्वकल्पने = सादृश्यज्ञानजनकत्वकल्पने, विपरीतगौरवमिति । अतिरिक्तं सादृश्यमङ्गीकृत्याऽपि तादृशधर्मवत्त्वे तादृशज्ञानजनकत्वमावश्यकमेवेति नव्यमतेऽतिरिक्त-

की बुद्धि में वैलक्षण्य की उपपत्ति करनी होगी । वह इस तरह हो सकती है कि 'पटो घटसदृशः' इस बुद्धि में जो प्रकारता ज्ञात होती है, वह सावच्छिन्न = किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न है और 'घटो द्रव्यं' इस बुद्धि में जो प्रकारता ज्ञात होती है, वह निरवच्छिन्न = किञ्चित् धर्म से अनवच्छिन्न होती है । जाति और अखण्ड उपाधि से अतिरिक्त धर्म का किञ्चित् रूप से अवच्छिन्न ही भान होने से प्रथम बुद्धि की प्रकारता सावच्छिन्न होती है और जाति का स्वरूपतः भान होने की वजह दूसरी बुद्धि निरवच्छिन्न प्रकारता = विशेषणता का अवगाहन करती है । द्रव्यत्व तो जाति ही है, जो दूसरी बुद्धि का प्रकार = विशेषण है । इस तरह दूसरी बुद्धि को निरवच्छिन्नप्रकारताक और प्रथम बुद्धि को सावच्छिन्नप्रकारताक मानने से ही बुद्धिस्य वैलक्षण्य की उपपत्ति हो सकती है । इसलिए योगाचारमतप्रवेशनिराकरणार्थं उपर्युक्त बुद्धि के वैलक्षण्य के समर्थन के लिए सादृश्य को भेदगर्भित मानना अनावश्यक है-ऐसा स्यादादियों का वक्तव्य है ।

॥ सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है - नव्य नैयायिक ॥

नव्य. इति । सादृश्य के बारे में नव्य नैयायिकों का यह वक्तव्य है कि सादृश्य को तद्विभक्तत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्वात्मक या तद्वतधर्मस्वरूप मानने में तादृश अनन्त धर्मों में सादृश्यत्व की कल्पना करनी पड़ती है, जिसमें गौरव है । अनन्त धर्मों में सादृश्यत्व की गुरुभूत कल्पना करने की अपेक्षा मुनासिब तो यही है कि सादृश्य को ही एक अतिरिक्त पदार्थ माना जाय, जो कि अनन्त उपमेय में अनुगत हो । अतः लाघव तर्क से सादृश्य द्रव्यादि सात पदार्थ से अतिरिक्त है - यह सिद्ध होता है । यहाँ यह शंका हो कि -> "सादृश्य को अतिरिक्त मानने पर भी उपमेय में उपमानसादृश्य का व्यञ्जक कौन है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । जैसे गोत्व जाति का व्यञ्जक (=ज्ञापक = ज्ञानजनक) सास्नादिमत्त्व होता है,

अखण्डपदार्थमात्रविलयापत्तेः, स्मर्यमाणारोपादिकारणतावच्छेदकत्वेनानुगतस्यैव तस्य सिद्धौ तद्वैरवस्य फलमुखत्वाच्च । घटादिसादृश्यं घटादौ द्रव्यत्वावच्छेदेन न तु गुणत्वावच्छेदेनेति 'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशो न तु गुणत्वेन'त्यादिप्रतीतेर्नानुपपत्तिरित्याहुः ।

❀ नयलता ❀

सादृश्यकल्पनं तादृशधर्मवत्त्वे च सादृश्यज्ञानजनकत्वकल्पनमिति गौरवम् । तदपेक्षया तादृशधर्मेष्वेव सादृश्यत्वकल्पनमुचितमिति शङ्काभिप्रायः । नव्याः तमपाकुर्वन्ति - एवं सतीति । क्लृप्तेषु व्यञ्जकत्वकल्पनागौरवभवेनाऽतिरिक्तपदार्थप्रतिक्षेपे सतीत्यर्थः । अखण्डपदार्थमात्रविलयापत्तेरिति । अतिरिक्तं सामान्यमभ्युपगम्याऽपि क्लृप्तेष्ववयवसन्निवेशादिषु सामान्यव्यञ्जकत्वकल्पनागौरवस्य तदवस्थत्वेन सामान्यादेरपि विलयप्रसङ्गादित्यर्थः । अतः सामान्यपदार्थादिवत् सादृश्यपदार्थोऽप्यतिरिक्तः स्वीकर्तव्य इत्यर्थः । तदतिरिक्तत्वे हेत्वन्तरमाह - स्मर्यमाणारोपादिकारणतावच्छेदकत्वेन = सादृश्यज्ञानकारणीभूतस्मृतिविषयोपमानधर्माध्यारोपनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकविधया अनुगतस्यैव = तत्तदुपमेयसाधारणस्यैव तस्य = सादृश्यस्य सिद्धौ सत्यां तद्वैरवस्य = सादृश्यव्यञ्जकत्वकल्पनागौरवस्य फलमुखत्वात् = प्रमाणसिद्धार्थनिर्याहकत्वात् । तादृशकारणतावच्छेदकधर्मविधयाऽतिरिक्तसादृश्यसिद्धौ उपमानभिन्नत्वे सत्युपमानगतभूयोधर्मवत्त्वस्य सादृश्याभिव्यञ्जकत्वकल्पनायाः पश्चादुपस्थितत्वेन तद्वैरवस्य सिद्धयसिद्धिम्यां व्याघातेनाऽदोषत्वादिति भावः ।

ननु घटादौ घटादिसादृश्यमङ्गीकृतं न वा ? इति विकल्पयुगली समुपतिष्ठते । द्वितीये 'पटो घटसदृशः' इत्यादिव्यवहारानुपपत्तिः । आद्ये तु 'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशः' इतिव्यवहारवत् 'पटो गुणत्वेन घटसदृश' इतिव्यवहारस्यापि प्रामाण्यापत्तिः, पटेऽतिरिक्तस्य घटसादृश्यस्याऽङ्गीकृतत्वात् । अनतिरिक्तसादृश्यवादिमते तु गुणत्वस्य पटाऽङ्गीकृतत्वेन विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टसादृशाभावान्न 'पटो गुणत्वेन घटसदृश' इति धीव्यवहारयोः प्रामाण्यापत्तिरित्याशङ्कायां नव्याः प्राहुः - घटादिसादृश्यं च = घटादिप्रतियोगिकमतिरिक्तं सादृश्यं हि पटादौ सादृश्यानुयोगिनि द्रव्यत्वावच्छेदेन = द्रव्यत्व-पृथिवीत्वादिधर्मावच्छेदेन वर्तते, न तु गुणत्वावच्छेदेन = अधिकरणीभूतगुणत्व-कर्मत्वादिधर्मावच्छेदेन, इति हेत्वर्थः शब्दः । तथा च निरुक्तहेतोः 'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशो न तु गुणत्वेन'त्यादिप्रतीतेः उपलक्षणात्तादृशव्यवहारस्य च नानुपपत्तिः । गुणत्वावच्छेदेन घटसादृश्यस्य पटे विरहात् । यथा दण्डे घटकारणता दण्डत्वावच्छेदेन, न तु गुणत्वावच्छेदेनेति 'दण्डो दण्डत्वेन घटकारण',

ठीक वैसे यहाँ अतिरिक्त सादृश्य के व्यञ्जकविधया उपमानभिन्नत्वे सति उपमानगतधर्मवत्त्व का स्वीकार करना आवश्यक होगा, अन्यथा उपमेय से भिन्न पदार्थ में भी उपमानसादृश्य की आपत्ति आयेगी । मगर इस कल्पना में अधिक गौरव है, क्योंकि अतिरिक्त सादृश्य पदार्थ की कल्पना और उसके व्यञ्जकविधया तद्विन्नत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्व की कल्पना करने में दो कल्पना का गौरव है । इसकी अपेक्षा सादृश्य को तद्विन्नत्वे सति तद्वतधर्मवत्त्वस्वरूप मानना ही मुनासिब है" <- तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि इस तरह तो अखण्ड जाति आदि पदार्थ का भी उच्छेद को जायेगा । प्राचीन नैयायिक के मतानुसार भी अनेक घट में अनुगत प्रतीति की वजह अतिरिक्त घटत्व की कल्पना की जाती है । यहाँ अखण्ड सामान्य की कल्पना करने के बावजूद भी कम्बुग्रीवादिसत्त्व में उसके व्यञ्जकत्व की कल्पना करनी ही पड़ती है, अन्यथा अविशेषरूप से सर्वत्र अखण्ड घटत्व के भान की समस्या अवकाश पाती है, क्योंकि सामान्यपदार्थ सर्वव्यापी है । व्यञ्जक की कल्पना का गौरव होने पर भी जैसे अखण्ड जाति की कल्पना की जाती है, ठीक वैसे ही अतिरिक्त सादृश्य की कल्पना भी की जा सकती है । इसलिए अतिरिक्त सादृश्य की कल्पना में हिचकिचाहट करना नामुनासिब है । यहाँ यह शंका करना कि -> 'फिर भी अतिरिक्त सादृश्य की एवं व्यञ्जक की कल्पना का गौरव तो दोषात्मक ही है' <- भी नामुनासिब है, क्योंकि स्मर्यमाण उपमान के धर्म के आरोप आदि की कारणता के अवच्छेदकविधया उपमेय में अनुगत सादृश्य की ही सिद्धि होने की वजह व्यञ्जककल्पना तन्निर्वाहक होने से वह गौरव फलाभिमुख है । कारणतावच्छेदकविधया अतिरिक्त सादृश्य की प्रामाणिक सिद्धि होने के पश्चात् उपस्थित व्यञ्जककल्पनागौरव की बड़ीलत प्रमाणसिद्ध अतिरिक्त सादृश्य का अपलाप नहीं किया जा सकता, अन्यथा लाघवतर्क से शून्यवाद की ही सिद्धि हो जायेगी ।

घटा. इति । यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सादृश्य भी अव्याप्यवृत्ति पदार्थ है । एक धर्मी में एकावच्छेदेन सादृश्य एवं अन्यावच्छेदेन उसका अभाव भी रहता है । जैसे पटादि में घटादि का सादृश्य द्रव्यत्वावच्छेदेन ही रहता है, न कि गुणत्वादिधर्मावच्छेदेन । इसीलिए तो 'पट द्रव्यत्वरूप से घटसदृश है, न कि गुणत्वरूप से' इत्यादि प्रतीति की अनुपपत्ति नहीं है । यदि तद्विन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्व ही सादृश्य हो तब तो एक धर्मी में विवक्षित उपमान के सादृश्य और सादृश्याभाव

ताच्चिन्त्यम्, 'घटसदृशः पटः' इति निर्णयोत्तरं 'घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इति संशयानुदयात्, अतिरिक्ततन्निश्चयस्य तत्प्रतिबन्धकत्वादिकल्पने गौरवात् । न च तवापि घट-

❀ मरालता ❀

न तु गुणत्वेन'त्यादिप्रतीतिव्यवहारौ सङ्गच्छेते तथैव प्रकृतेऽपि भावनीयम् । न च गुणत्वस्य दण्डपटाद्यसम्बद्धत्वेन कथं तदवच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, स्वविषयकज्ञानविषयत्वलक्षणवैज्ञानिकसम्बन्धेन गुणत्वस्यापि दण्डपटादिसम्बद्धत्वेन तदवच्छेदकत्वसम्भवात् । न चैवं व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावसिद्धिरपि दुष्प्रतिकारेति वाच्यम्, इष्टापत्तेः । ततश्च सादृश्यमतिरिक्तमेवेति नव्यनैयायिकाभिप्रायः ।

अत्राऽस्यरसप्रदर्शनार्थमाह - तच्चिन्त्यमिति । चिन्ताबीजमेवाऽऽवेदयति - 'घटसदृशः पटः' इति निर्णयोत्तरं 'पटः घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इति संशयानुदयात् पटवृत्ति घटसादृश्यं नातिरिक्तं किन्तु घटवृत्तिधर्मस्वरूपमेव, समानप्रकारकनिश्चयस्य समानप्रकारकसंशयविरोधित्वात् । न च घटवृत्तिधर्मप्रकारकसंशयं प्रति घटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयस्येवाऽतिरिक्तघटसादृश्यप्रकारकस्य निश्चयस्यापि विरोधित्वात् 'पटो घटसदृशः' इति निर्णयोत्तरं न 'पटो घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इति संशयोदय इति वाच्यम्, अतिरिक्ततन्निश्चयस्य = अतिरिक्तसादृश्यनिर्णयस्य तत्प्रतिबन्धकत्वादिकल्पने = उपमानवृत्तिधर्मप्रकारकसंशयप्रतिबन्धकत्वादिकल्पने गौरवात् । एतेन तदभाववत्ताबुद्धिं प्रति तत्प्रकारक-तद्व्याप्यप्रकारकनिश्चययोः प्रतिबन्धकत्वमित्यपि प्रत्युक्तम्, लाघवेन तत्प्रकारकनिश्चयस्यैव प्रतिबन्धकत्वौचित्यात् । न च तदभाववत्ताधियं प्रति तद्व्याप्यप्रकारकनिश्चयस्य तत्प्रकारकधीद्वारा प्रतिबन्धकत्वमिति वाच्यम्, तद्व्याप्यप्रकारकनिश्चयस्य तत्प्रकारकनिश्चये एवोपक्षीणत्वात्, प्रकृते तथाऽननुभवाच्च । न हि प्रथममतिरिक्तसादृश्यनिश्चयः तदनन्तरं घटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयः तदुत्तरश्च निरुक्तसंशयोच्छेद इत्यनुभवोऽस्ति । किञ्चोपमानवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयस्य प्रथममुपजातस्य तादृशसंशयप्रतिबन्धकत्वसम्भवेऽतिरिक्तसादृश्यनिश्चयस्योपमानवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयद्वारा तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । एतेन प्रथममतिरिक्तसादृश्यनिश्चय एवोपजायते य उपमानवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयमुत्पाद्य तादृशसंशयं प्रति प्रतिबन्धको भवतीत्यपि निरस्तम्, अतिरिक्तसादृश्यनिश्चयसमकालमेव तादृशसंशयोदयप्रसङ्गाच्च ।

अतिरिक्तसादृश्यवादिशङ्कामपाकर्तुमुपदर्शयति - न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । तव = अनतिरिक्तसादृश्य-

की उपपत्ति नहीं हो सकती । इस तरह विचार करने पर सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है - यह फलित होता है ।

❀ सादृश्यविषयकनव्यनैयायिकमतानिगल ❀

नच्चि. इति । अनतिरिक्तसादृश्यवादी नव्य नैयायिक के उपर्युक्त वक्तव्य के खिलाफ प्रकरणकार श्रीमद्जी का यह वक्तव्य है कि 'सादृश्य अतिरिक्त ही है' ऐसा नव्यनैयायिककथन विचारणीय है, न कि आँखें मूँदकर स्वीकर्तव्य । इसका कारण यह है कि जिस धर्मी में जिस धर्म का ज्ञान निश्चयात्मक होता है, उसके बाद उस धर्मी में उस धर्म के विषय में संदेह नहीं होता है कि 'इसमें यह धर्म है या नहीं ?' । 'पटः घटसदृशः' ऐसा निश्चय होने के बाद 'पट घटवृत्तिधर्मवाला है या नहीं ?' इत्याकारक संशय का उदय नहीं होता है । इससे यह फलित होता है कि 'पट घटसदृश है' यह निश्चय 'पट घटवृत्तिधर्मवाला है' इत्याकारक ही होता है । अन्यथा पट में घटसादृश्य के निर्णय में उपर्युक्त संशय की विरोधिता = प्रतिबन्धकता ही नामुमकीन हो जायेगी । समानधर्मिक तत्प्रकारक निश्चय ही समानधर्मिक तत्प्रकारक संशय या तदभावप्रकारक बुद्धि का प्रतिबन्धक होता है - यह तो सर्वमान्य अटल नियम है । इसके अनुरोध से सादृश्य को अतिरिक्त नहीं माना जा सकता, किन्तु उपमानगतधर्मस्वरूप, जो उपमान और उपमेय में साधारण है, ही मानना चाहिए । सादृश्य को अतिरिक्त मान कर अतिरिक्तसादृश्यविषयक निश्चय में उपमानगतधर्मविषयक संशय की प्रतिबन्धकता की कल्पना करने में गौरव है । यहाँ यह शंका हो कि → सादृश्य को अतिरिक्त न मान कर तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप मानने वाले आपके मत में भी 'पटो घटसदृशः' यह निश्चय घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मप्रकारक एवं पटविशेष्यक होने से वह 'पट घटवृत्तिधर्मवाला है या नहीं ?' इस संशय के समानाकारक नहीं होने से उसमें तादृश संशय की प्रतिबन्धकता उपर्युक्त प्रसिद्ध नियम से प्राप्त नहीं होती है, अपितु कल्पनीय होती है । इसलिए प्रतिबन्धकता की कल्पना तो आपके मत में भी समान ही है । तद्भिन्नत्वविशिष्ट तद्रत धर्म और तद्वृत्ति धर्म - ये दो एक तो नहीं ही हैं, जिससे उपर्युक्त निर्णय और संशय के बीच प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव सिद्ध हो सके । तद्वत्ता का निश्चय ही तदभाववत्ता के ज्ञान का विरोधी होता है" ← तो यह भी नामुमसिब है, क्योंकि 'पट घटभेदविशिष्टघटवृत्तिधर्मवाला है' इत्याकारक शब्द बोध होने के पश्चात् भी 'पट घटवृत्तिधर्मवाला है या नहीं ?' ऐसा संशय कभी भी नहीं होता है -

भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्तारूपतन्निश्चयस्य घटवृत्तिधर्मवत्त्वसंशयव्यावृत्ततया पृथक् प्रति-
बन्धकत्वकल्पने ध्रुवं साम्यमिति वाच्यम्, 'पटो घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिधर्मवानि'तिशाब्द-
बोधोत्तरं तदनुत्पत्त्या तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनस्याऽऽवश्यकत्वादिति दिक् ।

सामान्यस्य पराभिमतं नित्यत्वाऽनेकसमवेतत्वेऽपि कथं समगंसाताम् ? 'अत्र मृत्पिण्डे
घटत्वमासीदि'ति प्रतीत्या तस्याऽनित्यत्वसिद्धेः ।

❀ गयलता ❀

वादिनः अपि घटभिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्तारूपतन्निश्चयस्य = घटभेदविशिष्टघटवृत्तिधर्मवत्त्वप्रकारकस्याऽनतिरिक्तघटसादृश्य-
निश्चयस्य, घटवृत्तिधर्मवत्त्वसंशयव्यावृत्ततया = घटवृत्तिधर्मप्रकारकसंशयापेक्षया भिन्नप्रकारकतया 'घटो घटसदृशः' इति
निश्चयस्य 'पटो घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इत्याकारकसंशयप्रतिबन्धकत्वं न स्यात् । घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चय-
स्याऽपि घटवृत्तिधर्मप्रकारकनिर्णयस्येव तादृशसंशयं प्रति पृथक् प्रतिबन्धकत्वकल्पने = स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमे ध्रुवं
साम्यं = तुल्यगौरवम् । यथाऽतिरिक्तसादृश्यनयेऽतिरिक्तसादृश्यनिर्णयस्यापि निरुक्तानतिरिक्तसादृश्यनिश्चयस्येव तादृशसंशयं
प्रति स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते तथैवाऽनतिरिक्तसादृश्यमते घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयस्यापि घटवृत्ति-
धर्मप्रकारकनिर्णयस्येव तादृशसंशयं प्रति स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वमुपेयते इति गौरवसाम्यमिति शङ्क्यभिप्रायः ।

प्रकरणकृत् समाधत्ते - 'पटो घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिधर्मवानि'ति शाब्दबोधोत्तरं तदनुत्पत्त्या = 'पटो घटवृत्ति-
धर्मवान् न वा ?' इत्याकारकसंशयानुदयेन तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनस्य = निरुक्तसन्देहं प्रति प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमस्य,
आवश्यकत्वात् । 'हृदो जलवान् न वा ?' इति संशयं प्रति 'हृदो जलवान्' इति निर्णयस्येव 'हृदो गदापहारिजलवानि'ति
निश्चयस्यापि प्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधेन कल्प्यते तथैव प्रकृतेऽपि । न हि कल्पनागौरवमभ्या विशदतरकार्यकारणभावः
स्वारसिकप्रतीतिबलोपजायमानोऽपहोतुमर्हतीति भावः ।

परसम्मतसामान्यस्वरूपं खण्डयितुमुपक्रमते - सामान्यस्येति । कथं समगंसाताम् ? नैवेत्यर्थः । तत्र यथाक्रमं
हेतुद्वयमाह - 'अत्र मृत्पिण्डे घटत्वमासीदि'ति प्रतीत्या तस्य = घटत्वलक्षणसामान्यस्य अनित्यत्वसिद्धेः = ध्वंसप्रतियोगित्व-
लक्षणाऽनित्यत्वस्य लङ्प्रत्ययबलात् सिद्धेः । न चेयं विशेषणाभावमेव विषयीकुरुत इति वाच्यम्, विशेषणीभूतस्य मृत्पिण्डस्य
विद्यमानत्वेन तत्र ध्वंसप्रतियोगित्वान्वयाऽसम्भवात्, विशेष्ये बाधकाभावाच्च । एतेन घटत्वे गौणमेव ध्वंसप्रतियोगित्वं, तदाश्रये
घटे एव तन्मुख्यत्वादिति प्रत्युक्तम्, 'एतन्मृत्पिण्डवृत्ति घटत्वं ध्वंसप्रतियोगी'त्येवोक्तप्रतीतिस्वारसिकार्थात्, घटस्योक्त-
प्रतीतावनुल्लेखाच्च ।

यह तो सर्वजनविदित है । उक्त निर्णय के पश्चात् तादृश संशय की अनुपपत्ति से इन दोनों के बीच तथाविध प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव
की कल्पना अवश्य सभी को करनी पड़ती है, न कि केवल हमको । 'भूतल में चैत्रीय घट है' इत्याकारक निर्णय के पश्चात्
'भूतल घटवाला है या नहीं ?' ऐसा संशय क्या किसीको भी होता है ? इसलिए विशिष्ट अतिरिक्त वादी के मतानुसार भी
उपर्युक्त प्रतिबन्धकता स्वीकर्तव्य ही होने से सादृश्य को अतिरिक्त न मानने वाले के पक्ष में जो समान गौरव दोष का उद्भावन
किया गया है, वह ठीक नहीं है । इसलिए सादृश्य को अतिरिक्त मानने का दुःसाहस करना नामुनासिब है - यह फलित
होता है । इस विषय में अधिक विचार भी किया जा सकता है । यहाँ जिन विचारों का उल्लेख किया गया है - यह तो
एक दिग्दर्शनमात्र है, जिसके अनुसार मनीषी लोग अधिक मीमांसा कर सकें - इस बात की सूचना करने के लिए प्रकरणकार
ने 'दिक्' शब्द का यहाँ प्रयोग कर के सादृश्यविषयक वादस्थल पर भी यहाँ पर्दा डाल दिया है ।

❀ जाति मं नित्यत्वादि आसिद्ध ❀

समा. इति । अब प्रकरणकार नैयायिकसंमत जाति = सामान्यपदार्थ का पूर्वाचार्यों के मतानुसार निराकरण करते हैं
। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व' नैयायिकसंमत जाति का लक्षण है । अगर जाति में न तो नित्यत्वस्वरूप विशेषण मुमकिन
है और न तो अनेकसमवेतत्वात्मक विशेष्यांश भी संभवित है । इसका कारण यह है कि - 'इस मृत्पिण्ड में घटत्व था' ऐसी
प्रतीति होने से घटत्वात्मक सामान्य में नित्यत्व बाधित होता है । जैसे 'रामचन्द्रजी हो गये' इत्यादि प्रतीति से रामचन्द्रजी
में विनष्टत्व की सिद्धि होती है ठीक वैसे उक्त प्रतीति से घटत्व में विनाशप्रतियोगित्व सिद्धि होती है । अतः ध्वंसाऽप्रतियोगित्व-
स्वरूप नित्यत्व सामान्य में बाधित होता है । इस तरह अतीत और अनागत व्यक्ति में सामान्य वृत्ति नहीं होने से समवाया-
वच्छिन्न यावत् व्यक्तिवृत्तित्वस्वरूप अनेकसमवेतत्व भी सामान्य में असिद्ध है । अतीत घटादि व्यक्ति विनष्ट होने से और अनागत

अतीतानागतव्यक्तिवृत्तित्वस्यैव दुरुपपादत्वेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वरूपस्याऽनेकसमवेतत्वस्य दुर्बलत्वाच्चेति प्राश्नः ।

अथ यथा भवन्मते एकस्य शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वं अतीतानागतव्यक्तिनिरूपित-
त्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितवाचकताया एकत्वेन निर्वहति, तथा ममाऽपि तत्त-
द्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितसमवायस्यैकतया यावद्व्यक्तिसम-

✽ नयलता ✽

सामान्येऽनेकसमवेतत्वाऽसम्भवमाह - अतीतानागतव्यक्तिवृत्तित्वस्य = विनष्टानुत्पन्नघटादिव्यक्तिनिरूपितस्य समवाय-
सम्बन्धावच्छिन्नस्याऽऽधेयत्वस्य, एव घटत्वादित्यरूपे सामान्ये दुरुपपादत्वेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वरूपस्य = अतीताना-
गतवर्तमानकालीन-निखिलघटादिव्यक्तिनिरूपित-समवायावच्छिन्नवृत्तित्वात्मकस्य, अनेकसमवेतत्वस्य = अनेकसमवेतत्व-
पदार्थस्य, दुर्बलत्वाच्चेति प्राश्नः = पूर्वजैनाचार्याः प्राहुरिति शेषः । पराभिमतविशेषणविशेष्यांशयोर्यद्यमानत्वेन विशिष्टात्म-
कस्य सामान्यस्य नरशृङ्गसमत्वमेवेति तेषामाशयः । न हि घटकानुपपत्तौ तद्घटितोपपत्तिः सम्भवति ।

परो विशेष्यांशमुपपादयति - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्यान्वयः । यथा भवन्मते = स्याद्वादिदर्शने, एकस्य शब्दस्य
= प्रत्येकपदस्य, सति तात्पर्ये सर्वार्थवाचकत्वं = अतीतानागतसाम्प्रतकालिकाखिलविषयनिरूपितवाचकत्वं, अतीताना-
गतव्यक्तिनिरूपितत्वस्य = नष्टाऽजातव्यक्तिनिष्ठनिरूपकतानिरूपितनिरूपितत्वस्य, प्रत्येकशब्दनिष्ठवाचकतायां कादाचित्कत्वे
= असार्वकालिकत्वे अपि तन्निरूपितवाचकताया = अतीतादिव्यक्तिनिरूपितवाचकताया एकत्वेन निर्वहतीति । यद्यपि
अतीतानागतव्यक्तीनां पूर्वापरकालीनत्वेन वाचकतायां तन्निरूपितनिरूपिततानामपि पूर्वापरकालीनत्वं तथापि अतीतानागत-
व्यक्तिनिष्ठनिरूपकतानिरूपितनिरूपितत्वाश्रयीभूतायाः शब्दनिष्ठाया वाचकतायाः सर्वदैकत्वेन प्रत्येकशब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वं
स्याद्वादिभिरुपपाद्यत इति भावः । लोकोत्तरोदाहरणप्रदर्शनेऽपि यदि लौकिकदृष्टान्तबुभुत्सा तदा सेत्थमुपशमनीया यथा
दशरथमृत्युनन्तरं रामनिष्ठपुत्रत्वे दशरथनिरूपितत्वस्याऽसत्त्वेऽपि तन्निरूपितपुत्रत्वस्य सर्वदैकत्वेन 'रामो दशरथपुत्र' इत्येवं
तदाऽप्यत्राधितो व्यवहारः समुपपद्यते इति । दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह - तथा मम = नैयायिकस्य अपि,
तत्तद्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य = अतीतानागतव्यक्त्यनुयोगिकत्वस्याऽतीतानागतव्यक्तीनां पूर्वापरकालिकत्वेन कादाचित्कत्वेऽपि
= असार्वदैकत्वेऽपि, तन्निरूपितसमवायस्य = अतीतादिव्यक्त्यनुयोगिकसमवायसंसर्गस्य, एकतया = सर्वदैकत्वेन, यावद्व-

घटादि व्यक्ति अनुत्पन्न होने से उनमें घटत्वादि सामान्य कैसे रह सकता है ? अविद्यमान = असत् पदार्थ में कोई वस्तु नहीं
रहती है । इसलिए सामान्य में नित्यत्व और अनेकसमवेतत्व बाधित होने से परसम्मत सामान्यपदार्थ का सम्यक् निर्वचन नहीं
हो सकता है । अतएव वह भी असिद्ध = अप्रामाणिक है, यह फलित होता है - ऐसा प्राचीन जैनाचार्यों का वक्तव्य है ।

✽ ज्ञाते में अनेकसमवेतत्व की उपपत्ति का निराकरण ✽

नैयायिक :- अथ य. इति । स्याद्वादियों की यह मान्यता है कि प्रत्येक शब्द सर्व अर्थ का वाचक होता है । मगर
शब्दनिष्ठ सर्वार्थवाचकता कैसे मुमकिन होगी ? क्योंकि अतीत और अनागत व्यक्ति अविद्यमान होने से उनकी वाचकता
शब्द में नहीं होती है । अतः केवल वर्तमान व्यक्ति की ही वाचकता प्रत्येक शब्द में होगी, न कि अतीतादि सर्वार्थविषयक
वाचकता । यदि यहाँ स्याद्वादियों की ओर से ऐसा कहा जाय कि → "अतीत - अनागत व्यक्ति अविद्यमान होने से
उनसे निरूपितत्व शब्दनिष्ठ वाचकता में कादाचित्क होने पर भी अतीतादिविषयनिरूपित वाचकता, जो शब्द में रहती है,
एक होने की वजह प्रत्येक शब्द में सर्वार्थवाचकता की उपपत्ति हो सकती है । यह ठीक उसी तरह संगत हो सकता है,
जैसे 'काकवान् देवदत्तगृह' यहाँ काक देवदत्त के घर का उपलक्षण है । वह सर्वदा देवदत्तगृह में नहीं रहता है, फिर भी
'देवदत्त का घर काकवाला है' ऐसा व्यवहार होता है । इसी तरह अतीतादि विषय में रहने वाली वाच्यता अनन्त एवं कदाचित्क
होने पर भी उनसे निरूपित = उपलक्षित वाचकता देवदत्तगृह की भाँति एक होने से प्रत्येक शब्द सर्वार्थवाचक कहा जाता
है" ← तो फिर इसी तरह सामान्य = जाति में अतीतादियावद्व्यक्ति की वृत्तिता भी मुमकिन होने से यावद्व्यक्तिवृत्तित्वस्वरूप
अनेकसमवेतत्व भी जाति में अबाधित है । वह इस तरह - अतीतादि घटादि व्यक्ति कादाचित्क होने से अतीतादि तत्तत्
घटादि व्यक्ति की निरूपितता भी कादाचित्क होने पर भी उनसे निरूपित समवाय यानी अतीतादिव्यक्तिअनुयोगिक समवाय-

वेतत्त्वं जातेर्निर्वक्ष्यति । भवतामेकस्य शब्दस्य यावदर्थवाचकत्वमिव यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं जातेरेकदा तु न व्यवहियते । किञ्च, पटादौ नष्टघटभेद इव जातावतीतानागतव्यक्तिसमवेतत्त्वं नाऽसम्भवदुक्तिकमिति चेत् ? न, समवायस्यैवाऽविष्वग्भावातिरिक्तस्याऽसिद्धेः ।

❀ जयलता ❀

व्यक्तिसमवेतत्वं = अतीतादिनिखिलघटादिव्यक्तिनिरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वं, जातेः = घटत्वादिसामान्यस्य निर्वक्ष्यतीति न विशेष्यांशानुपपत्तिः ।

‘तथाप्येकस्मिन् काले कथं घटत्वादावतीतादिसकलघटादिव्यक्तिसमवेतत्वव्यवहारः सङ्गच्छते ? इत्याशङ्कायां नैयायिक आह - भवतां = स्याद्वादिनां एकस्य शब्दस्य यावदर्थवाचकत्वं = अतीतादिसर्वघटादिव्यक्तिवाचकत्वं इव यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं = अतीतादिसकलघटादिव्यक्तिनिरूपितसमवायावच्छिन्नवृत्तित्वं जातेः = घटत्वादिसामान्यस्य एकदा = एककालावच्छेदेन तु न व्यवहियते अस्माभिः, किन्तु कालभेदेनैवेति शेषः । ‘एकमेव घटत्वादिसामान्यं पूर्वकालावच्छेदेनाऽतीतघटादिसमवेतं वर्त्तमानकालावच्छेदेन साम्प्रतिकघटादिनिरूपितसमवायसंसर्गावच्छिन्नवृत्तितावत् अनागतकालावच्छेदेन च भविष्यद्घटादिवृत्ति’ इत्येवमेव प्रतिपाद्यतेऽस्माभिः, घटत्वादेर्नित्यत्वात्, न तु ‘वर्त्तमानकालावच्छेदेनाऽतीतादिघटवृत्ति’ इति व्यपदिश्यते इति न काऽप्यनुपपत्तिर्गौतमीयदर्शने ।

ननु तथाप्यतीतादिव्यक्तिसमवेतत्वं घटत्वादेः कथं सम्भवति ? अतीतादिघटादिव्यक्तीनामसत्त्वात्, अन्यथा बन्ध्यापुत्र-समवेतत्वमपि तत्र सम्भवदुक्तिकं स्यात्, असत्त्वाऽविशेषादित्याशङ्कायामाह - किञ्चेति । पटादौ नष्टघटभेद इवेति । अतीतघटस्याऽसत्त्वेऽपि तन्निष्ठप्रतियोगितानिरूपकभेदस्तु पटादौ वर्तत एव, अन्यथा ‘नष्टघटो न पटादिः’ इतिप्रत्ययानुपपत्तेः । तथैव जातौ = घटत्वादौ अपि अतीतानागतव्यक्तिसमवेतत्वं नासम्भवदुक्तिकम् । न चैवं बन्ध्यापुत्रसमवेतत्वमपि जातौ सम्भवदुक्तिकं स्यादिति वाच्यम्, तस्य कदाऽप्यसत्त्वात्, अतीतघटादेस्तु यदाकदाचित्सत्त्वादिति विशेषात् । ततश्च जातेरनेकसमवेतत्वं निराबाधमिति फलितमिति फक्किकार्थः ।

मूलशैथिल्यप्रदर्शनेन प्रकरणकारः तमपाकरोति - नेति । अनेकसमवेतत्वघटकीभूतस्य समवायस्यैव पराभिमतस्य अविष्वग्भावातिरिक्तस्य असिद्धेरिति । यदि अनुयोगि-प्रतियोगिव्यतिरिक्तः परेष्टः समवायः सिध्येत् तदा तद्भिन्नं अनेक-समवेतत्वं जातौ सिध्येत् । परं स एव नास्ति, तत्र मानाभावस्य पूर्वमेव (पृष्ठ ४१-५१) विस्तरतः प्रतिपादितत्वात् । परिणामपरिणामिनोस्तु अपृथग्भावलक्षण एव सम्बन्धः । तस्यैव समवायवाच्यत्वेऽस्माकं न कश्चिद्विशेषो नाम । परं स च नैकान्तनित्यो न वा सर्वार्थक एव, तस्य कथञ्चित्परिणामाऽनतिरेकात्, परिणामानां कथञ्चिदनित्यत्वात् स्यादनेकत्वाच्च । अत एवातीतादिव्यक्त्यनुयोगिकत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तदनुयोगिकसम्बन्धस्यैकत्वेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं जातेर्नोपपादयितुं शक्यते, अपृथग्भावसम्बन्धस्य सर्वार्थकत्वविरहात् । एतेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं जातेरेकदा तु न व्यवहियत किन्तु कालभेदेनैति प्रत्युक्तम्, अनित्यत्वेन यावत्कालं सामान्यस्याऽसत्त्वाच्चेति भावनीयम् ।

सम्बन्ध एक होने की वजह जाति में यावत् व्यक्ति समवेतत्व भी उपपन्न हो सकता है, यह आगे बताया जायेगा । दूसरी बात यह है कि आप स्याद्वादियों के मत में एक शब्द में एक ही काल में यावदर्थवाचकता की भाँति जाति में एक काल में यावत् व्यक्तिनिरूपित वृत्तित्व का व्यवहार भी नहीं होता है, किन्तु भिन्न-भिन्न काल की अपेक्षा अनेकसमवेतत्व का व्यवहार होता है । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि विद्यमान पट में जैसे विनष्ट घट का भेद मुमकिन है, ठीक वैसे ही जाति में अतीतानागतव्यक्तिसमवेतत्व भी मुमकिन है । इसलिए यावद्व्यक्तिसमवेतत्व का जाति में प्रतिपादन करना नामुमकिन नहीं है । अतः ‘नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व’ यह जातिलक्षण सुसंगत है - ‘यह फलित होता है ।

स्याद्वादी :- न सम, इति । ओ नैयायिक महाशय ! अब पछताये होत क्या जब चिट्टियाँ चुग गईं खेत ! अविष्वग्भाव से अतिरिक्त समवाय नाम का सम्बन्ध ही असिद्ध है तो फिर समवायघटित अनेकसमवेतत्व भी जाति में कैसे उपपन्न होगा ? क्योंकि अनेकसमवेतत्व का अर्थ यावद्व्यक्तिनिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता । उसका घटक समवाय असिद्ध होने से विशेष्यांश अनेकसमवेतत्व भी असिद्ध ही रहता है । फलतः नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व भी जाति में नामुमकिन होगा ।

❀ वर्धमान उपाध्याय के मत का जिरास ❀

एतेन अनेकवृत्तित्वं स्वाश्रयाऽन्योन्याभावसामानाधिकरण्यमि' () ति वर्धमान-
लघनमप्यापास्तम्, विशेषेऽतिव्याप्तितादवस्थवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वा-
वश्यकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

एतेनेति । अपृथग्भावातिरिक्तसमवायनिराकरणेनेत्यर्थः । अस्याऽपास्तमित्यनेनाऽन्वयः । सामान्यनिष्ठं अनेकवृत्तित्वं
नाम स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यं = स्वाधिकरणप्रतियोगिकभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वम् । स्वपदेन सामान्यस्य
ग्रहणम् । 'स्वाश्रये'त्युक्त्या सामान्ये स्वाश्रयवृत्तित्वं प्रतीयते । स्वाश्रयभिन्ननिरूपितवृत्तित्वस्य चाग्रभागेन भानादनेकवृत्तित्वो-
पपत्तिः । तथाहि - घटत्वे स्वाश्रयनीलघटनिरूपितवृत्तित्वं स्वाश्रयनीलघटप्रतियोगिकभेदाधिकरणीभूतपीतादिघटनिरूपित-
वृत्तित्वञ्च वर्त्तते इत्यनेकवृत्तित्वं घटत्वलक्षणसामान्य उपपद्यते । एवमेव पटत्वादिस्वरूपसामान्येऽपि भावनीयमित्यर्थकं वर्धमान-
वचनं = गङ्गेशपुत्रवर्धमानवचनं अपि अपास्तम् ।

यत्किञ्चित्सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभ्युपगमे विशेषादावतिव्याप्तिप्रसङ्गात् । विशेषे स्वाश्रयपरमाणुनिरूपितवृत्तित्वस्य स्वाश्रय-
परमाणुप्रतियोगिकभेदाधिकरणीभूतघटादिव्यक्तिनिरूपितकालिकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य च सत्त्वात्, घटादेरनित्यत्वेन कालोपाधि-
तया कालिकसंसर्गेण विशेषाश्रयत्वात् । एवमेव समवायाऽभावद्रव्यगुणादा-वपि सम्बन्धभेदेनाऽतिव्याप्तेः । ततश्च विशेषे उपलक्ष-
णात्समवाये च अतिव्याप्तितादवस्थवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वावश्यकत्वादिति । ततश्चानेकवृत्तित्वं स्वाश्रय-
प्रतियोगिकभेदाधिकरणनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वमित्यभ्युपगन्तव्यम् । ततो न विशेषादावतिव्याप्तितादवस्थम्,
घटादी परमाणुवृत्तिविशेषस्य समवायेनाऽवृत्तित्वात्, समवायादेश्च समवायेन स्वाश्रयभेदाधिकरणाऽवृत्तित्वात् । न च कपाल-
द्र्यादिप्रारब्धघटादावतिव्याप्तिः, स्वाश्रयप्रथमकपालप्रतियोगिकभेदाधिकरणीभूतद्वितीयकपालनिरूपितसमवायसंसर्गावच्छिन्नवृत्तित्व-
मत्त्वादिति बाध्यम्, सामान्यलक्षणे 'नित्यत्वे सती'ति विशेषणात् । एतेन संयागादावतिव्याप्तिरपि प्रत्युक्ता, नित्यसंयोगानभ्युपग-
मात् । परन्त्वेवमवश्यकलुप्तं समवायगर्भितसामानाधिकरण्यं तदभिमतसमवायस्याऽसत्त्वेन न घटामञ्चति, समवायनिरासेनैव
तन्निरासात् । अविष्वग्भावस्थानीयसमवायाऽङ्गीकारे तु सामान्येऽतीतानागतव्यक्तिनिरूपितवृत्तित्वाऽसम्भवेन यावदव्यक्तिवृत्तित्वं
बाधितम्, अविष्वग्भावस्य नानात्वात् । अविष्वग्भावस्य कथञ्चिदेकत्वेनाऽतीतादिषावदव्यक्तिनिरूपितवृत्तित्वोपपादने तु अभावेऽ-
तिव्याप्तितादवस्थ्यात् । न चाऽभावभिन्नत्वे सतीति विशेषणान्न दोष इति वक्तव्यम्, गौरवात्, नित्यसंयोगेऽतिव्याप्तेश्च । न
च नित्यसंयोगे मानाभाव इति बाध्यम्, 'गगनं नात्मसंयुक्तमि'ति प्रतीतेः प्रामाण्यापत्तेः तदभ्युपगमस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

एतेन. इति । जातिनिष्ठ अनेकसमवेतत्व की व्याख्या वर्धमान उपाध्याय इस तरह करते हैं कि —> 'अनेकसमवेतत्व
का मतलब है अनेकवृत्तित्व और वह स्वाश्रयाऽन्योन्याभावसामानाधिकरण्यस्वरूप है । स्वपद से जाति का ग्रहण अभिप्रेत है ।
जैसे स्व = घटत्वजाति का आश्रय विवक्षित नील घट और उसका भेद रहता है पीतादि घट में, जिसमें घटत्व रहता है ।
वही अनेकवृत्तित्व = स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्य = स्वाश्रयभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व है । इस तरह घटत्व स्वाश्रय = नील
घट एवं स्वाश्रयभिन्न = पीतादि घट में वृत्ति होने से अनेकवृत्तित्वविशिष्ट है । इस तरह जातिलक्षण के विशेष्य अंश की
घटत्व जाति में उपपत्ति होने से जातिलक्षण असंभवदोषग्रस्त नहीं है एवं पटत्वादि जाति में अव्याप्ति दोष भी अप्रसक्त है,
क्योंकि नीलपट = स्वाश्रय के भेद के अधिकरण पीतादि पट की वृत्तिता = स्वाश्रयभिन्नवृत्तित्व पटत्व जाति में अबाधित
है' <— मगर यह व्याख्या भी असंगत है, क्योंकि इस तरह असंभव और अव्याप्ति दोष का निराकरण करने पर अतिव्याप्ति
दोष प्रसक्त होता है । देखिये, परमाणु में विशेष नाम का पदार्थ नैयायिकमतानुसार रहता है । अतः स्व = परमाणुगत
विशेष के आश्रय = परमाणु के भेद का अधिकरण = स्वाश्रयान्योन्याभावाधिकरण घट, पट आदि पदार्थ होते हैं, जिनमें
कालिकसम्बन्ध से विशेष पदार्थ रहता है, क्योंकि अनित्य होने की वजह घटादि कालोपाधि बनते हैं । अतः स्वाश्रयभेदाधि-
करणनिरूपितवृत्तित्वान्मक अनेकवृत्तित्व विशेष में भी रहता है । विशेष तो जाति नहीं होने से अलक्ष्य है, फिर भी उसमें
उक्त अनेकवृत्तित्व रहने से अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग आता है । ऊँट को निकालने पर भी बकरी तो घुस ही गई । इस
अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए गंगेश उपाध्याय से सपूत वर्धमान उपाध्याय को यही कहना होगा कि —> 'स्वाश्रयभेदसामा-
नाधिकरण्य कालिकादि यत्किञ्चित् सम्बन्ध से नहीं किन्तु समवाय सम्बन्ध से अभिमत है । स्व (= विशेष) आश्रय (= परमाणु)
भेदाधिकरणीभूत घटादि में विशेष, जो सात पदार्थ में से पाँचवा पदार्थ है, समवाय सम्बन्ध से तो नहीं ही रहता है ।
अतः स्वाश्रयभेदाधिकरण-निरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तित्व तो विशेषपदार्थ में नहीं रहने से अतिव्याप्ति दोष का अवकाश

विशेषपदार्थस्वीकारोऽपि तेषां भेदकधर्मान्तराभाववतां परमाण्वादीनां नित्यद्रव्याणां परस्परयोगिभेदप्रत्यक्षान्वयथाऽनुपपत्तेः । सोऽप्यनुपपन्नः, तद्गुणेष्वपि तत्स्वीकारापत्तेः ।

✽ जयलता ✽

वस्तुतस्तु समानानां स्वभाव एव सामान्यं, न त्वतिरिक्तम् । अत एव स्व-स्वातिरिक्तपदार्थेषु प्रमेयत्वस्वभावेन 'प्रमेय-मि'ति बुद्धिवत् भावत्वस्वभावेनैव 'सदि'तिधीरिति दिक् ।

नैयायिकसम्मतविशेषपदार्थखण्डनार्थमुपक्रमते - विशेषपदार्थस्वीकारोऽपीति । अतिरिक्तविशेषाख्यपदार्थाऽभ्युपगमोऽपि, अस्याऽग्रे 'अन्यथानुपपत्तेरि'त्यत्राऽन्वयः । तेषां = नैयायिकानां भेदकधर्मान्तराभाववतां = व्यावर्त्तकधर्मविरहवतां सतां परमाण्वादीनां = परमाण्वाकाशात्मदिवकालमनसां नित्यद्रव्याणां परस्परं योगिभेदप्रत्यक्षान्वयथानुपपत्तेः = परस्परप्रति-योगिकभेदगोचरयोगजप्रत्यासत्तिजन्यसाक्षात्कारस्य भेदकधर्ममन्तरा असङ्गतिप्रसङ्गात् । यद्यपि द्व्यणुकेषु कथञ्चित्सरेणुषु च परस्परस्माद् भेदस्य लौकिकप्रत्यक्षाऽसम्भवेऽपि योग्यसन्निकर्षेण घटादिषु परस्परप्रतियोगिकभेदः प्रत्यक्षसिद्ध एवेति न तत्र व्यावर्त्तकधर्माऽपेक्षा तथापि पटादिषु परस्परसंक्षिष्टावयवेषु चालोकादिषु तथाविधेषु परस्परावयवभेदग्रहान्वयव्यतिरेकानु-विधायिभेदग्रहोऽवयविनां दृष्टो नाऽपह्नोतुमर्हति । स च क्वचित्प्रत्यक्षरूपः संशयोत्तरप्रत्यक्षे विशेषदर्शनस्य कारणत्वात् । यदा तु प्रत्यक्षसामग्र्याः परिकरन्यूनता तदाऽनुमितिस्वरूपः । उभयथाऽपि तत्तदवयवभेदस्य व्यावर्त्तकत्वमव्याहतम् । भेदबोधजनक-धीविषयत्वमेव हि व्यावर्त्तकत्वम् । किञ्च प्रत्यक्षावगतमपि भेदमप्रामाण्यशङ्काकलङ्काऽपनयनाय दृढतरसंस्कारसम्पादनाय परं प्रति सम्पगुणपादनाय च युक्तिभिः स्थिरीचिकीर्षवः तत्तदवयवभेदमेव युक्तितयाऽवगच्छन्तो दृष्टाः । द्व्यणुकादेस्तु योगिनां भेदप्रत्यक्षं परमाणुभेदावबोधात्सम्भवत्तेः । पार्थिवपरमाणूनां जलीयपरमाणुभेदग्रहो योगिनां जातिभेदग्रहादेव सम्भवति । परं सजातीयपरमाणूनां परस्परं भेदप्रत्यक्षं योगिनां नावयवभेदग्रहात् वैजातीयग्रहाद्वा सम्भवति, तेषां निरवयवत्वात्, सजातीयत्वाच्च । न च निर्निमित्तमेव तदङ्गीकार्यम्, अन्यत्राऽपि तथाप्रसङ्गात् । अतः तदनुरोधेन परमाण्वादिषु क्लृप्तपदार्थातिरिक्तो विशेषाभिधानः पञ्चमपदार्थः स्वीकर्तव्य इति नैयायिकाभिप्रायः ।

प्रकरणकारस्तन्निराकरोति - सः = अतिरिक्तविशेषपदार्थस्वीकारः अपि अनुपपन्नः, तद्गुणेषु = परमाण्वादिगुणेषु अपि तत्स्वीकारापत्तेः = विशेषपदार्थाङ्गीकारप्रसङ्गात्, तेषु परस्परप्रतियोगिकभेदविषयकयोगिप्रत्यक्षानुपपत्तेः, अन्यथाऽर्ध-

नहीं है' <- मगर समवाय सम्बन्ध का तो हम स्याद्वादी पहले ही खण्डन कर चुके हैं, तब समवायगर्भित स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्य की बाँग पुकारना कैसे समीचीन होगा ? अतः वर्धमान उपाध्याय का वक्तव्य भी असंगत है ।

३) नैयायिकसंमत विशेषपदार्थ अप्रामाणिक ३)

विशे. इति । जैसे नैयायिकसंमत सामान्य पदार्थ अप्रामाणिक है ठीक वैसे ही नैयायिक अभिमत विशेष पदार्थ भी अप्रामाणिक है । विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए नैयायिक मनीषियों की ओर से यह युक्ति बताई जाती है कि -> "घट और पट विजातीय द्रव्य के बीच परस्पर के भेद का साधक घटत्व-पटत्व जातिभेद है । सजातीय घट, घट के बीच परस्पर के भेद का साधक उनका अवयवभेद है, क्योंकि दोनों घट के अवयव कपाल भिन्न होते हैं । इस तरह दो द्व्यणुक के बीच भेद का साधक उनके अवयव परमाणुओं का भेद होता है । मगर निरवयव परमाणुओं के बीच भेद का साधक कौन होगा ? क्योंकि परमाणुओं में कोई अवयव नहीं होते हैं । हाँ, पार्थिव परमाणु और जलीय परमाणु के भेद का साधक पृथ्वीत्व, जलत्व सामान्यभेद हो सकता है, मगर दो पार्थिव परमाणुओं के भेद का साधक जातिभेद नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें भिन्न जाति नहीं होती है । यह तो नहीं कहा जा सकता कि सजातीय अनेक परमाणुओं में भेद ही नहीं होता है, क्योंकि योगी को सजातीय परमाणुओं में भेद का योगज प्रत्यक्ष होता है । योगजप्रत्यासत्तिजन्य सजातीयअनेकपरमाणु-भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष की अन्यथा अनुपपत्ति से भिन्न अवयवादि भेदकधर्म से शून्य सजातीय परमाणुओं में विशेष नामक अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना की जाती है । सजातीय परमाणुओं में विशेषपदार्थ अलग-अलग होने से योगियों को उन परमाणुओं में भेद का साक्षात्कार होता है । इस तरह विशेष नामक पंचम पदार्थ की सिद्धि होती है" <-

सोऽप्य. इति । मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी का इसके खिलाफ यह वक्तव्य है कि उक्त रीति से विशेष पदार्थ का स्वीकार भी अनुपपन्न = अप्रामाणिक है, क्योंकि तब तो परमाणुओं के गुणों में भी भेदसिद्धि के लिए विशेष पदार्थ के स्वीकार की आपत्ति, जो नैयायिक को अनिष्ट है, आवेगी । सजातीय अनेक परमाणु के भेद के योगिप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति

अथ तत्र शुक्लतरत्वाद्यवान्तरजातयः स्वीक्रियन्ते, परमाणौ त्वन्त्यकार्याऽवृत्तित्वा-
दवान्तरजातयः स्वीकर्तुं न शक्यन्त इति चेत् ? तथापि अवान्तरजातीयेष्वपि रूपादी-
(?दिषु) परस्परव्यावृत्तिः किमधीना ?

✽ नयतत्वा ✽

जरतीयापत्तेः ।

परः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तत्र = परमाणुगुणेषु शुक्लादिलक्षणेषु, शुक्लतरत्वाद्यवान्तर-
जातयः = शुक्लत्वादिव्याप्याः शुक्लतरत्व-शुक्लतमत्वादीलक्षणव्याप्याः स्वीक्रियन्ते अस्माभिः नैयायिकैरिति शेषः ।
सजातीयपरमाण्वोः शुक्लगुणो शुक्लत्वव्याप्याभ्यां शुक्लतरत्व-शुक्लतमत्वाभ्यामेव परस्परं भिद्येते इति न तदर्थं तत्र विशेष-
कल्पनमर्हति । अक्लृप्तकल्पने तु गौरवमिति योगाशयः । 'तर्हि सजातीयपरमाणुष्वपि पृथ्वीत्वाद्यवान्तरजातयः कल्पयतस्तत्र
किं छिद्यते येन तत्र विशेषकल्पनायासमातनुसे ?' इत्याशङ्कायां नैयायिक आह - परमाणौ त्विति । परमाणुगुणापेक्षया
परमाणौ विशेषसूचनार्थः तुशब्दः । तदेवाह - अन्त्यकार्याऽवृत्तित्वात् = सजातीयद्व्यणुकलक्षणान्त्यकार्याऽसमवेतत्वात्,
अवान्तरजातयः = पृथ्वीत्वादिव्याप्यजातयः स्वीकर्तुं न शक्यन्त इति । पार्थिवजलीयद्व्यणुकयोः द्रव्यत्वव्याप्यपृथ्वीत्वजलत्व-
जात्योः समवेतत्वेन तत्कारणीभूतपरमाणुषु द्रव्यत्वन्मूलवृत्तिपृथिवीत्वजलत्वजातिविशेषौ कल्पयितुं शक्येते परं सजातीयद्व्यणुकयोः
पृथिवीत्वाद्यवान्तरजातिविरहेण तत्कारणीभूतपरमाणुषु पृथिवीत्वादिव्याप्यजातयः कल्पयितुं नार्हन्ति । ततश्च सजातीयपरमाणुषु
परस्परप्रतियोगिकभेदगोचरयोगिप्रत्यक्षान्यधानुपपत्त्या अतिरिक्तविशेषकल्पनमर्हत्येवेति नैयायिकाभिप्रायः ।

यद्यपि परमाण्वादिसमवेतनित्यैकत्वपरिमाणादिगुणेषु परेणाऽवान्तरजातयो नैव स्वीकर्तुं शक्यन्त इति तत्र विशेषपदार्थाङ्गी-
कारप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वं तथापि स्फुटत्वात्तदोषमुपेक्ष्य अभ्युपगमवादेन प्रकरणकृदाऽऽह - तथापीति । सजातीयपरमाणुशुक्लादि-
गुणेषु शुक्लतरत्व-शुक्लतमत्वादीनां शुक्लत्वादिव्याप्यजातीनां कल्पनेऽपीति । अवान्तरजातीयेषु शुक्लत्वादिव्याप्यजाति-
विशेषविशिष्टेषु अपि रूपादिषु शुक्लादिरूपादिगुणेषु सजातीयपरमाणुसमवेतेषु परस्परव्यावृत्तिः = इतरेतरप्रतियोगिक-
भेदलक्षणव्यावृत्तिः किमधीना ? = किंनिमित्तका ? परमाणुसमवेतयोः शुक्लतरशुक्लतमरूपयोः परस्परव्यावृत्तेः शुक्लतरत्व-
शुक्लतमत्वजातिविशेषनिमित्तकत्वोपपादनेऽपि सजातीयपरमाणुसमवेतयोः शुक्लतररूपयोः परस्परप्रतियोगिकभेदस्य योगिसाक्षा-
त्कारविषयस्य नाऽवान्तरजातिविशेषनिमित्तकत्वमुपपादयितुं शक्यते, द्वयोः शुक्लतरत्वजातेः समवेतत्वेनाऽविशेषात् । अतः तत्र

से भेदाश्रय सजातीय परमाणुओं में विशेष पदार्थ का स्वीकार जैसे किया जाता है, ठीक वैसे ही सजातीय परमाणुओं के
सजातीय शुक्ल आदि गुणों के भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष की अन्यथाअनुपपत्ति से सजातीयपरमाणुवृत्ति अनेक शुक्ल गुणों में
भी, जो परस्परप्रतियोगिक भेद के आश्रय हैं, विशेष पदार्थ का स्वीकार भी तुल्य युक्ति से मान्य करना होगा ।

नैयायिक :- अथ न, इति । जी नहीं, परमाणुगत अनेक सजातीय शुक्ल गुणों में विशेष पदार्थ के स्वीकार की
आपत्ति हमारे मत में नहीं होगी, क्योंकि परमाणुओं के अनेक शुक्ल गुणों में शुक्लतरत्व, शुक्लतमत्वस्वरूप अवान्तर जातिविशेष
का हम अंगीकार करते हैं, जो उनका भेदक है । मगर पार्थिव अनेक परमाणु या जलीय अनेक परमाणुओं में अवान्तर
जातिविशेष की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अन्त्य कार्य पार्थिव द्व्यणुकों में ही अवान्तर जातिविशेष नहीं रहती
है । पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक में अवान्तर = द्रव्यत्वव्याप्य पृथ्वीत्व-जलत्व जातिविशेष रहने से पार्थिव परमाणु
और जलीय परमाणु में अवान्तर पृथ्वीत्वादि जातिविशेष की कल्पना की जा सकती है । मगर दो पार्थिव द्व्यणुक में अवान्तर
जातिविशेष नहीं होने से उनके अवयव पार्थिव परमाणुओं में अवान्तर जातिविशेष की कल्पना नहीं की जा सकती है ।
सजातीय परमाणुओं में परस्पर भेदक जातिविशेष नहीं होने की वजह उनमें विशेष पदार्थ की कल्पना आवश्यक बन जाती
है, जिससे सजातीय परमाणुओं में परस्पर भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष मुमकिन बने ।

स्याद्वादी :- तथापि, इति । ठीक है दो शुक्ल गुण में शुक्लतरत्व और शुक्लतमत्व नामक जातिविशेष की कल्पना
कर के आप नैयायिक महाशय ने दो शुक्ल गुण में भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष का समर्थन किया । मगर अनेक शुक्लतर गुणों
में, जो सजातीय अनेक परमाणुओं में रहते हैं, परस्पर भेदविषयक जो योगिप्रत्यक्ष होता है, उसकी उपपत्ति आप कैसे करेंगे ?
क्योंकि उनमें तो शुक्लतरत्व जाति समान ही है । इसलिए अवान्तर जातिविशेष की कल्पना से भी वहाँ भेदावगाही योगि-
साक्षात्कार की उपपत्ति नहीं हो सकती है । इसलिए शुक्लतरत्व जाति के आश्रय अनेक शुक्लतर गुणों में भी विशेष पदार्थ
का स्वीकार आपके लिए अनिवार्य हो जायेगा, जिससे उनमें परस्परभेदावगाही योगिप्रत्यक्ष की उपपत्ति हो सके, अन्यथा

स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धेन विशेषाधीनैवेति चेत् ? तर्हि 'स विशेषो गुणनिष्ठ एव कल्प्यतां, परमाण्वादेषु परस्परव्यावृत्तिस्तु स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेन विशेषाधीना' इत्यत्र किं विनिगमकम् ? 'गुणानां बहुत्वात् तत्रानन्तविशेषकल्पनायां गौरवं बाधकमिति' चेत् ?

❀ अयत्नता ❀

परेणाऽवश्यं विशेषाभिधानपञ्चमपदार्थकल्पनं कर्तव्यमिति विशेषस्य निरवयवद्रव्यसमवेतत्वरान्तर्भाद्रप्रसङ्गः परस्य दुर्वार इति प्रकरणकृदभिप्रायः ।

नैयायिकः शङ्कते - स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धेनेति । स्वपदेन परमाणुसमवेतातिरिक्तविशेषपदार्थग्रहः, तदाश्रये = तत्समवायिनि परमाणौ आश्रितं = समवेतं यच्छुक्लतरादिरूपादि तत्र स्वाश्रयाश्रितत्वसंसर्गेण परमाणुसमवेतविशेषो वर्तते इति परमाणुसमवेतयोः शुक्लतररूपयोः परस्परप्रतियोगिकव्यावृत्तिः स्वसमवायिसमवेतत्वसंसर्गेण विशेषाधीना = विशेषनिमित्तका एवेति न शुक्लतररूपादौ समवायेन विशेषपदार्थकल्पनाप्रसङ्गः, निरुक्तसंसर्गेण तत्रैकस्य विशेषपदार्थस्याऽवर्तमानत्वात्, प्रतिपरमाणु तद्वेदादिति गौतमीयाभिप्रायः ।

प्रतिबन्धा प्रकरणकृत् प्रत्युत्तरयति - तर्हीति । अन्यत्र समवेतेनैव विशेषपदार्थेन परम्परया क्वचिदन्यत्र परस्परव्यावृत्तिसम्भवे इति । सः = परस्परसजातीयव्यावृत्तिनिमित्तकः विशेषः समवायेन गुणनिष्ठ एव कल्प्यतां नैयायिकैः युष्माभिः । 'तर्हि सजातीयपरमाणुषु परस्परव्यावृत्त्युपपत्तिः कथं ? इत्याशङ्कायामाह - परमाण्वादेषु परस्परव्यावृत्तिः तुविशेषणार्थः तदेवाह-स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेनेति । स्वसमवायिसमवायित्वसम्बन्धेनेति । स्वपदेन गुणवृत्तिविशेषग्रहणं, तत्समवायिषु परमाणुप्रभृतिसमवेतशुक्लतरादिगुणेषु परमाण्वादीनां समवायित्वेन परमाण्वादेषु स्वसमवायिसमवायित्वसंसर्गेण विशेषाणां वृत्तित्वेन तत्र परस्परव्यावृत्तिः निरुक्तसंसर्गेण विशेषाधीना = विशेषनिमित्तका सम्भवत्येव कल्पयितुं, प्रतिगुणं विशेषभेदेन परमाण्वादिष्वेकस्यैव तस्य निरुक्तसंसर्गेणाऽवृत्तेः । ततश्च विशेषः निरवयवद्रव्यसमवेतः सन् परम्परया तद्गुणेषु परस्परव्यावृत्तिस्थितं जनयति यदुत निरवयवद्रव्यगुणसमवेतः सन् परम्परया निरवयवद्रव्येषु परस्परव्यावृत्तिबुद्धिमादधातीत्यत्र किं विनिगमकं = एकतरपक्षपातियुक्त्यादिकं ? नैवेत्यर्थः ।

नैयायिकः विनिगमकमावेदयति - गुणानां = परमाण्वादिसमवेतगुणानां परमाण्वाद्यपेक्षया बहुत्वात् = अधिकसङ्ख्याकत्वात् तत्र = निरवयवद्रव्यगुणेषु अनन्तविशेषकल्पनायां = अधिकानन्तविशेषपदार्थकल्पनायां गौरवं बाधकम् । न च प्रतिनिरवयवद्रव्यमनन्तगुणानामनभ्युपगमात्कथमधिकानन्तविशेषपदार्थकल्पनापत्तिः विशेषाणां तद्गुणसमवेतत्वकल्पन इति

'शुक्लतरः अनेक गुणों में परस्परभेदविषयक योगिप्रत्यक्ष किंनिमित्तक है ?' यह समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहेगी ।

नैयायिक :- स्वाश्र. इति । जनाव, सजातीय परमाणुओं में रहने वाले अनेक शुक्लतर गुणों में भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष की उपपत्ति तो परस्परभेद के आश्रय अनेक शुक्लतर गुणों के आश्रय सजातीय परमाणु में वृत्ति विशेष पदार्थ ही स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्ध से करेगा, क्योंकि स्व = विशेष के आश्रय सजातीय परमाणुओं में शुक्लतर अनेक गुण आश्रित होने से सजातीयपरमाणुसमवेत विशेष पदार्थ स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्ध से शुक्लतर गुणों में, जो सजातीयपरमाणुगत हैं, रहते हैं । अतः शुक्लतर अनेक गुणों में परस्परप्रतियोगिक भेद की उपपत्ति के लिए समवाय सम्बन्ध से शुक्लतर गुणों में विशेष पदार्थ की कल्पना अनावश्यक है । अतः 'शुक्लतर गुणों में परस्परप्रतियोगिक भेद की उपपत्ति किसके अधीन होगी ?' इस समस्या को अवकाश नहीं है ।

❀ विशेषपदार्थ परमाणु में है या उनके गुण में ? ❀

स्याद्वादी :- तर्हि. इति । आप नैयायिक विशेष पदार्थ को समवाय सम्बन्ध से परमाणु में मान कर उसे ही स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्ध से सजातीयपरमाणुगत सजातीय गुणों के परस्पर भेद का निर्वाहक मानते हैं । इसकी अपेक्षा विशेष पदार्थ को समवाय सम्बन्ध से सजातीय गुणों में, जो सजातीय परमाणुओं में रहते हैं, ही मान कर उसे स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्ध से सजातीय परमाणुओं के परस्परप्रतियोगिक भेद का निर्वाहक = निमित्त क्यों नहीं मानते हैं ? क्योंकि स्व = विशेष के आश्रय = सजातीय गुण का समवायी सजातीय परमाणु होने से गुणसमवेत विशेष पदार्थ स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्ध से सजातीय परमाणुओं में रह सकता है । इसलिए विशेष पदार्थ को परमाणुसमवेत माना जाय या परमाणुगुणसमवेत माना

तथापि प्रत्येकं विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः ?

किञ्च, तादृशविशेषाणामपि व्यावृत्तिः कुतः ? 'स्वत एवेति' चेत् ?

❀ जयलता ❀

वाच्यम्, निरवयवद्रव्याणामनन्तत्वेन प्रतिनिरवयवद्रव्यमनेकेषां गुणानां समवेतत्वेन च विशेषाणां निरवयवद्रव्येषु समवेतत्वकल्पना-
पेक्षया तद्गुणेषु तत्त्वकल्पनेऽधिकानन्तविशेषकल्पनागौरवस्याऽव्याहतप्रसरत्वात् । वस्तुतस्तु निरवयवद्रव्यगुणेषु विशेषाणां समवेतत्व-
कल्पनेऽनन्तगुणाधिकविशेषपदार्थकल्पनागौरवं, पाकजरूपादीनामनित्यत्वेनैकस्मिन्नपि परमाण्वादौ कालभेदेनाऽनन्तपाकजादिगुणानां
सम्भवादिति प्रकृतगौरवमेव विशेषाणां निरवयवद्रव्यगुणसमवेतत्वे बाधकं सन्निरवयवद्रव्यसमवेतत्वनिर्णायकमिति नैयायिकाभिप्रायः ।

ग्रीढिवादेन प्रकरणकृतप्रत्यवतिष्ठते → तथापीति । परमाण्वादीनां सर्वेषु गुणेषु विशेषकल्पनायामनन्तगुणाधिकविशेष-
पदार्थकल्पनागौरवे सत्यपीति । प्रत्येकं विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः ? विशेषः समवायेन परमाण्वादौ वर्तते आहोस्वित्
तदीये एकस्मिन् रूपादी गुणे ? इत्यस्य विनिगमनाविरहस्य बद्धकक्षत्वमव्याहतमेव, तुल्यगौरवादिति । एतेन → 'नित्यद्रव्येषु
विशेषसिद्धौ तादृशविशेषेणैव तादृशनित्यद्रव्यवृत्तिगुणक्रियाध्वंसादेरपि व्यावृत्तिसम्भवान्न तेष्वपि विशेषाङ्गीकार आवश्यक <-
(मु.प्र.पृ.१२९) इति नृसिंहवचनं, तथा → 'नित्यद्रव्येषु विशेषाः सिद्धाः तद्गुणास्तु न विशेषवन्तः, आश्रयरूपेण विशेषेणैव
तेषां व्यावृत्तत्वात्, आश्रयस्य च विशेषवत्तया व्यावृत्तत्वेन विशेषत्वसम्भवादिति' <- (मु.दि.पृ.१२२)ति महादेववचनञ्च निरस्ते,
विशेषाणां रूपादिवृत्तित्वे विनिगमकाभावात् । 'रूपादिनिष्ठत्वे तस्य सजातीयघटद्वयपर्यन्तः परम्परासंबन्धो बहुघटितः स्यादिति'
चेत् ? किं ततः ? नानारूपवदवयववारब्धावयविनो नीरूपत्वमते तत्प्रत्यक्षत्वाय परमाणुगत रूपस्य तद्वृत्तितानियामकसम्बन्ध-
विशेषवदिहापि तादृशसम्बन्धविशेषकल्पने तव रसनाया अव्याहतप्रसरत्वात् । 'योगिनो विशेषमीक्षन्ते' इति चेत् ? तर्हि न
एव प्रष्टव्याः किं ते विशेषमतिरिक्तमीक्षन्तेऽनतिरिक्तं वा ? इति श्रद्धामात्रगम्य एवायं विशेषपदार्थः (वादसंग्रह-पृ.१११)
इत्यधिकं विशेषवादे द्रष्टव्यम् ।

लघुस्याद्वादरहस्ये चात्र 'रूपे एव विशेषः कल्प्यते पृथिवीपरमाणुरूपाणां पाकादिनैव विशेषः, तत्र विशेषाऽ-
कल्पनलाघवादित्याहुः' (ल.स्या.रह.पृ.२१) इत्यधिकः पाठः सुगमश्चेति न तन्यते ।

ननु विशेषाः परस्परवृत्तिविशेषभिन्नत्वेनाऽज्ञाताः कथं परस्परस्मात्परमाणूनां भेदका भविष्यन्ति ? विशेषेषु विशेषाऽङ्गीकारे
त्यनवस्थेत्युभयतः पाशरज्जुरित्याशयेन प्रकरणकृदाह - किञ्चेति । तादृशविशेषाणां = निरवयवद्रव्यसमवेतविशेषपदार्थानां अपि
परस्परस्माद् व्यावृत्तिः = भेदः कुतः स्यात् ? नैयायिकः प्रत्युत्तरयति - स्वत एवेति । स्वत इत्यस्यावृत्तिः । स्वतः =
स्वात्मकलिङ्गात्, स्वतः = स्वीयात् स्वसजातीयादिति यावद् स्वात्मकलिङ्गादित्यत्र पञ्चम्याः ज्ञानज्ञाप्यत्वमर्थः । स्वसजातीया-
दित्यत्र पञ्चम्याः प्रतियोगित्वमर्थः । एतदुभयमपि भेदेऽन्वेति । तथा च विशेषः स्वात्मकलिङ्गज्ञानजन्यज्ञानविषयस्वसजातीय-
प्रतियोगिकभेदाश्रय इत्यर्थो लब्धः । स्वत एवेत्यत्रैवकारेण स्वभिन्नलिङ्गज्ञानजन्यज्ञानविषयस्वसजातीयप्रतियोगिकभेदशून्य

जाय ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है । अतः परमाणुओं की भाँति तद्गत गुण में भी विशेष की कल्पना करनी
पड़ेगी । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "परमाणुओं की अपेक्षा परमाणुगत गुण तो रूप, रस, गन्ध
आदि अनेक होते हैं । इसलिए गुण में समवाय सम्बन्ध से विशेष पदार्थ की कल्पना करने में अनन्तअधिक विशेष पदार्थ
की कल्पना का गौरव होगा । इसकी अपेक्षा परमाणुओं में विशेष पदार्थ को समवेत मानने पर अल्प संख्या में विशेष पदार्थ
की कल्पना करनी होगी, जिसमें लाघव है । यह लाघव ही विशेष पदार्थ को परमाणुसमवेत मानने में साधक है और परमाणु-
गुणसमवेत मानने में बाधक है" <- तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि फिर भी 'परमाणु में विशेष पदार्थ को समवेत
माना जाय या परमाणुगत रूप-रस-गन्ध आदि गुणों में से किसी एक गुण में उसे समवेत माना जाय ?' इस विषय में
तो विनिगमनाविरह का लय = उच्छेद कैसे नैयायिक मनीषी करेंगे ? अतः विशेष पदार्थ को परमाणुओं में ही समवेत
मानने का नैयायिक का सिद्धान्त समीचीन नहीं है ।

❀ विशेष स्वतःव्यावृत्त है या उल्लेख आश्रय ? ❀

किञ्च ता. इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि सजातीय परमाणुओं की व्यावृत्ति तो तद्गत विशेष पदार्थ
से हो जायेगी, मगर अनेक परमाणुओं में आश्रित अनेक विशेष पदार्थ की व्यावृत्ति किसके अधीन होगी ? क्योंकि उनमें
तो कोई विशेष पदार्थ आप नहीं मानते हैं, जिससे उनकी व्यावृत्ति हो सके । यदि यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा
जाय कि → 'विशेष पदार्थ तो स्वतः व्यावृत्त है । परमाणुओं को परस्परप्रतियोगिक भेद की सिद्धि के लिए विशेष पदार्थ

तर्हि तदाश्रयाणामपि स्वत एव साऽस्तु । 'वैधर्म्यव्याप्ता सा कथं तद्विने'ति चेत् ? न, अन्ततः तत्तद्व्यक्तित्वादीनामपि तत्त्वसम्भवात्, प्रतिद्रव्यमनन्ताऽगुरुलघुपर्यायाणां सिद्धान्त-सिद्धत्वाच्च ।

❀ जयलता ❀

इत्यर्थो लभ्यते । अत्र व्यावृत्तत्वं भेदनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यतारूपमिति (मु.प्र.पृ.१२१) नृसिंहो व्याचष्टे ।

मञ्जूषाकारस्तु → 'यथा क्षित्यङ्कुरादिकं कृतिजन्यमित्यनुमितौ तस्याः कृतेरनित्यत्वे गौरवमिति गौरवज्ञानसहकारा-ज्जायमानानुमितिः कृतौ नित्यत्वमप्यवगाहमाना क्षित्यङ्कुरादिकं नित्यकृतिजन्यमित्याकारिकैव जायत एवमेषां व्यावर्तकान्तर-व्यावृत्तत्वेऽनवस्थागौरवमिति ज्ञानसहकाराज्जायमानानुमितिः परस्परभिन्नत्वमप्यवगाहमाना परमाणुषु परस्परभेदानुमितिः परस्पर-भिन्नलिङ्गप्रमाजन्येत्याकारिकैव जायत इति न विशेषाणां परस्परभेदासिद्धये लिङ्गान्तरमपेक्षणीयमिति भावः । तथा च स्वतो व्यावृत्तत्वं स्वग्राहकमानसिद्धभेदकत्वं ← (मु.मं.पृ.१२४) इत्याह ।

→ 'स्वतो व्यावृत्तत्वञ्च स्वभिन्नलिङ्गजन्यस्वविशेषकस्वसजातीयेतरभेदानुमित्यविषयत्वमि' ← (मु.दि.पृ.११९)ति महादेवः । रामरुद्रस्तु 'स्वतो व्यावृत्तत्वं स्वप्रयोज्यस्वनिष्ठस्वसजातीयप्रतियोगिकभेदकत्वमि'त्याह ।

प्रकरणकृत् प्रतिबन्धा ग्राह - तर्हीति । विशेषाणां स्वतो व्यावर्तकत्वे तदाश्रयाणां परमाण्वादीनां अपि स्वत एव = स्वात्मकलिङ्गादेव, सा = स्वसजातीयप्रतियोगिकव्यावृत्तिः अस्तु अनन्तातिरिक्तविशेषान् कल्पयित्वा तत्र स्वतो व्यावर्त-कत्वकल्पनापेक्षया 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'तिन्यायात् कल्पितपरमाण्वादीनामेव स्वतो व्यावर्तकत्वधर्मकल्पनाया उचितत्वात् ।

परः प्रत्यवतिष्ठते - वैधर्म्यव्याप्ता = भिन्नधर्माभाववन्निरूपितवृत्तित्वाभावशालिनी सा = सजातीयव्यावृत्तिः कथं तत् = वैधर्म्यं विना ? न हि सजातीयपरमाण्वादिषु वैधर्म्यमस्ति, न च तदृते परस्परव्यावृत्तिः सम्भवतीति तस्या अन्यथानुपपत्त्या तत्र विशेषपदार्थलक्षणवैधर्म्यमङ्गीकरणीयमिति नैयायिकाभिप्रायः । प्रकरणकृत्त्रिराकरोति - नेति । परमाणुगततत्तत्क्रिया-ध्वंसादिभेदेनैव तद्व्यावृत्तिसम्भवात् । न च तत्तत्क्रियाध्वंसादेर्भेदोऽपि किमधीनः ? इति वाच्यम्, प्रतियोगिभेदेनैव तद्भेदो-पपत्तेः । तत्तत्क्रियालक्षणप्रतियोगिनां परस्परं व्यावृत्तिः कथं ? इत्याशङ्कयामाह - अन्ततः तत्तद्व्यक्तित्वादीनामपि तत्त्व-सम्भवात् = व्यावर्तकत्वसम्भवात् । सजातीयपरमाण्वादीनां तत्तद्व्यक्तित्वलक्षणप्रातिस्विकरूपेणैव परस्परं व्यावृत्तिः सम्भवति । तत्तद्व्यक्तित्वस्य कथञ्चित्तत्तद्व्यक्त्यव्यतिरिक्ततया नातिरिक्तपदार्थगौरवमिति न विशेषकल्पनं न्याय्यमिति भावः । हेत्वन्तर-माह - प्रतिद्रव्यं अनन्तागुरुलघुपर्यायाणां भिन्नानां सिद्धान्तसिद्धत्वाच्चेति । तैरपि परमाण्वादीनां परस्परं व्यावृत्तिः सम्भव-

की अपेक्षा रहती है, मगर परमाणुगत विशेष पदार्थ को परस्परप्रतियोगिक भेद की सिद्धि के लिए अन्य विशेष पदार्थ की अपेक्षा नहीं है । वे स्वयं ही परस्परप्रतियोगिक भेद के निर्वाहक होते हैं, क्योंकि वे स्वतः विलक्षण हैं, न कि परतः' ← तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अतिरिक्त अनन्त विशेष की कल्पना कर के उनमें स्वतः व्यावर्तकत्व की कल्पना करने की अपेक्षा विशेषाश्रयविधया अभिमत परमाणुओं में ही स्वतः व्यावर्तकत्व की कल्पना क्यों न की जाय ? क्योंकि इस पक्ष में अनन्त विशेष की कल्पना अनावश्यक होने से लाघव है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → 'व्यावृत्ति वैधर्म्यव्याप्त है । सजातीय परमाणुओं में विशेष के अतिरिक्त कोई वैधर्म्य नहीं है, जिसकी वजह उनमें परस्पर व्यावृत्ति हो सके । अतः विशेष की कल्पना परमाणुओं में आवश्यक ही है, जिससे उनमें परस्परव्यावृत्ति की उपपत्ति हो सके । जब विशेष की कल्पना परमाणुओं में आवश्यक ही है, तब उन्हें स्वतः व्यावृत्त कैसे कहा जा सकता है ? विना वैधर्म्य के व्यावृत्ति = भेद मानने पर तो अपने में भी अपना भेद रहने लगेगा' ← तो इसके खिलाफ स्याद्वादियों की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि सजातीय परमाणुओं में दूसरा कुछ वैधर्म्य नैयायिक महाशय को भले ही ना मिले, मगर अन्ततः तत्तत् व्यक्तित्व आदि में भी परस्परभेदकत्व मुमकिन है । प्रत्येक परमाणुओं का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है और वह प्रत्येक परमाणुस्वरूप ही होता है, न कि उससे अतिरिक्त । इस तरह सजातीय परमाणुओं में भी परस्परप्रतियोगिक भेद की उपपत्ति तत् तत् व्यक्तित्व आदि धर्म से मुमकिन होने से अतिरिक्त अनन्त विशेष पदार्थ की तदर्थ कल्पना करना अनुचित है । दूसरी बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त अगुरुलघु पर्याय होते हैं, जो परस्पर विलक्षण होते हैं एवं कथंचित् स्वाश्रयस्वरूप होते हैं । उनसे परमाणुओं में परस्पर व्यावृत्ति की उपपत्ति हो सकती है । अतः परमाणुओं में परस्परभेद के निर्वाह के

एतेन → अयमनारब्धद्रव्यः परमाणुः एतत्परमाणुनिष्ठजातिगुणकर्मभिन्नधर्मसमवायी परमाणुत्वात्, अन्यपरमाणुवदित्यनुमानमपि ← निरस्तम्, तर्कविरहेऽनुमानसहस्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, द्रव्यसमवायित्वस्योपाधित्वाच्च ।

❀ जयलता ❀

तीति न तदर्थमतिरिक्तानन्तविशेषपदार्थकल्पना युक्ता ।

एतेनेति । तत्तद्व्यक्तित्वादिभिः परमाण्वादीनां परस्परं व्यावृत्तिसम्भवेनेति । अस्य निरस्तमित्यनेनाऽन्वयः । पक्षं निर्दिशति- अयमनारब्धद्रव्यः परमाणुरिति । अनारब्धं द्व्यणुकलक्षणं द्रव्यं येन स अनारब्धद्रव्यः स्वतन्त्रः परमाणुरिति यावत् । एतत्परमाणुनिष्ठजातिगुणकर्मभिन्नधर्मसमवायीति । साध्यञ्च गुणकर्मसामान्यविजातीयधर्मसमवायित्वं गुणकर्मसामान्यातिरिक्तधर्मसमवायित्वं वा । उदाहरणमाह- अन्यपरमाणुवदिति । समारब्धद्रव्यः परमाणुरित्यर्थः । परमाणुत्वहेतुमति समारब्धद्रव्ये परमाणौ गुणकर्मसामान्यातिरिक्तद्व्यणुकस्वरूपधर्मसमवायित्वं दृष्टम् । न च द्व्यणुकस्य गुणाद्याश्रयस्य कथं धर्मत्वं नाम ? इति शङ्कनीयम्, स्वसमवायिपरमाण्वपेक्षया तस्य धर्मत्वाऽप्रच्यवात्, अन्यथा गुणादेरपि जात्याद्याश्रयत्वेन धर्मत्वं न स्यात् । उपर्युक्तदृष्टान्ते व्याप्तेर्ग्रहात् पक्षे स्वतन्त्रपरमाणावपि परमाणुत्वहेतुबलेन गुणकर्मजातिव्यतिरिक्तधर्मसमवायित्वं सेत्स्यति । स च धर्मो विशेषपदप्रतिपाद इति प्रकृतानुमानेन स्वतन्त्रपरमाणौ परमाणुत्वहेतुना विशेषसिद्धौ निरवयवद्रव्यत्वहेतुना समारब्धद्रव्येषु परमाणुषु गगनादिषु च तत्सिद्धिरिति नैयायिकाभिप्रायः ।

तन्निरासे प्रकरणकारो हेत्वन्तरमाह - तर्कविरहे इति । विपक्षबाधकयुक्तिविरहे इति । अस्तु अनारब्धद्रव्ये परमाणौ परमाणुत्वं मास्तु गुणकर्मसामान्यातिरिक्तधर्मसमवायित्वं इत्येवं विपरीतकल्पने बाधकं किमपि नैयायिकेन दर्शयितुं न पर्यत इति भावः । तदभावे चानुमानसहस्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात् व्यभिचारसंशयाऽनिवृत्तेः, सति प्रतिबन्धके साधकस्य कार्योत्पत्तयेऽसमर्थत्वात् । अन्यथा 'अनारब्धद्रव्यं कपालं गुणकर्मसामान्यातिरिक्तधर्मसमवायि कपालत्वात् समारब्धघटं कपालमिवे'त्याद्यनुमानैः कपालादावपि विशेषसिद्धिप्रसङ्गात् ।

प्रदर्शितानुमाने दूषणान्तरमाह - द्रव्यसमवायित्वस्य = द्रव्यप्रतियोगिकसमवायवत्त्वस्य परमाणुत्वलक्षणहेतौ उपाधित्वाच्चेति । तस्य समारब्धद्रव्येषु परमाणुषु गुणकर्मसामान्यव्यतिरिक्तधर्मसमवायित्वलक्षणसाध्यव्यापकत्वे सति स्वतन्त्रपरमाणुषु

लिए अतिरिक्त विशेष पदार्थ की कल्पना अनावश्यक है । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि → 'प्रत्येक द्रव्य में अनंत अगुरुलघु पर्याय मानने में प्रमाण क्या है ?' ← क्योंकि जैन आगम = भगवती सूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थ से ही प्रतिद्रव्य अनंत अगुरुलघु पर्यायविशेष सिद्ध होते हैं । सर्वज्ञकथित होने से जैनागम की प्रामाणिकता में संदेह करना अनुचित है ।

❀ विशेषसाधक अनुमान उपाधिग्रस्त - व्याख्याती ❀

एतेन. इति । नैयायिक विद्वान् विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए अनुमान प्रयोग करते हैं कि → 'अनारब्धद्रव्यबाला (= स्वतन्त्र) यह परमाणु एतत्परमाणु में रहनेवाली जाति, गुण, कर्म से भिन्न धर्म के समवाय बाला है, क्योंकि वह परमाणु है, जैसे द्व्यणुक वाले परमाणु । यहाँ स्वतन्त्र विवक्षित परमाणु पक्ष है । एतत्परमाणुसमवेतजातिगुणकर्मभिन्नधर्मप्रतियोगिक समवाय साध्य है । परमाणुत्व हेतु है । द्व्यणुकसमवायी परमाणु = जिनमें द्व्यणुक समवेत है वैसे परमाणु दृष्टान्त हैं । द्व्यणुकसमवायी परमाणुओं में परमाणुत्व हेतु रहता है एवं परमाणु-समवेत जाति, गुण, कर्म से भिन्न द्व्यणुक का, जो परमाणु-समवेत होने की अपेक्षा धर्मात्मक है, समवाय भी, जो साध्य है, रहता है । दृष्टान्त में हेतु और साध्य के बीच व्याप्य-व्यापकभाव = व्याप्ति का निश्चय होने से पक्ष = स्वतन्त्र परमाणु में भी परमाणुत्वस्वरूप हेतु से जाति, गुण, कर्म से भिन्न धर्म के समवाय स्वरूप साध्य की सिद्धि हो जायेगी । उस समवाय का प्रतियोगी द्व्यणुकात्मक धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि स्वतन्त्र परमाणुओं में द्व्यणुक समवेत नहीं होता है । दूसरा कोई धर्म भी उस समवाय का, जो साध्य है, प्रतियोगी नहीं माना जा सकता । अतः अन्ततो गत्वा विशेष को ही साध्यात्मक समवाय का प्रतियोगी मानना होगा । अर्थात् जाति, गुण, कर्म से भिन्न विशेषपदार्थस्वरूप धर्म का समवाय स्वतन्त्र परमाणु में सिद्ध होने से तादृश समवाय के प्रतियोगिविधया विशेष पदार्थ की सिद्धि होगी । अतः विशेष पदार्थ परमाणुसमवेत है-यह फलित होता है । इसलिए विशेष पदार्थ का स्वीकार अवश्य कर्तव्य है' ←

तर्कवि. इति । मगर इसके प्रतिविधान में व्याख्यातियों की ओर से यह कहा जाता है कि जब तक व्याप्ति में विपक्षबाधक

किञ्च, एवमप्याकाशादी न विशेषसिद्धिः, शब्दादेरेव तत्र व्यावर्तकत्वाच्च ।

✽ जयलता ✽

परमाणुत्वलक्षणसाधनव्यापकत्वाभावात् । न हि परमाणुत्वशालिषु स्वतन्त्रपरमाणुषु गुणकर्मसामान्यातिरिक्तधर्मप्रतियोगिक-समवायवत्त्वं विशेषसिद्धेः प्राक् प्रसिद्धं । विशेषसिद्धिपूर्वमेव व्यापकीभूतद्रव्यसमवायित्वाभावेनानारब्धद्रव्ये परमाणौ गुणकर्म-सामान्यव्यातिरिक्तधर्मसमवायित्वलक्षणव्याप्याभावसिद्ध्या तत्र परमाणुत्वहेतोः तत्साधनेऽप्रत्यलत्वात् । यद्वा द्रव्यसमवायि-त्वस्यात्र संदिग्धोपाधित्वं स्वधिया भावनीयम् ।

एतेन → परमाणुभेदः किञ्चिद्विद्वाद्भाष्यः भेदत्वात्, कपालभेदज्ञाप्यघटभेदवदिति ← (मु.रा. पृ. १२२) रामरुद्र-भट्टोक्तं निरस्तम्, घटादेः परस्परभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन दृष्टान्ते साध्यासिद्धेः, असिपाधयिषितत्वविशिष्टसिद्धत्वाभावस्यो-पाधित्वाच्च । अत एव परमाण्वादीनां परस्परं योगिभेदप्रत्यक्षान्यथानुपपत्तेर्विशेषसिद्धिरित्यापि प्रतिक्षिप्तम्, योगजधर्मसहकृतमनो-जन्यपरमाण्वादिगोचरसाक्षात्कारवतां योगिनां तद्भेदग्रहे व्यावर्तकधर्मदर्शनस्याऽहेतुत्वात् ।

दोषान्तरसमुच्चयार्थमाह - किञ्चेति । एवमपीति । परमाणुत्वहेतुना स्वतन्त्रपरमाणौ साध्यस्वरूपसमवायित्वप्रतियोगि-विध्या विशेषस्य साधनेऽपि, परमाणुत्वहेतुना आकाशादी = गगनात्मदिक्कालमनरसु न विशेषसिद्धिः = साध्यघटक-विध्या विशेषपदार्थसिद्धिः सम्भवति, तत्र परमाणुत्वहेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वात् । गगनादौ विशेषसाधने परेण निरवयवद्रव्यत्व-हेतुप्रदर्शने दूषणान्तरमाह - शब्दादेरेवेति । आदिपदेन ज्ञानादिग्रहणम् । तत्र = गगनादौ व्यावर्तकत्वात् = परस्परं भेदकत्वादिति । ईश्वराकाशयोर्नित्यज्ञानशब्दाभ्यां व्यावृत्तेः सम्भवान्न तत्र विशेष इत्यापि केचित् ।

यत्तु नृसिंहेण → 'नित्यज्ञानस्येश्वरनिष्ठभेदानुमापकत्वं न ज्ञानत्वेन व्यभिचारित्वात्, न नित्यत्वविशिष्टज्ञानत्वेन तद्द्रव्य-कृतत्वेन वा सामान्याश्रयस्य सामान्यरूपेण भेदसाधनकत्वनियमात्, नित्यज्ञानत्वस्य नित्यत्वघटितत्वेनोपाधिरूपतया तेन रूपेण तद्द्रव्यकृतत्वेन वा व्यावर्तकत्वाऽसम्भवात्' ← (मु.प्र. पृ. १३०) इत्युक्तं, तन्न, स्वसमानाधिकरणेश्वरत्वसम्बन्धेन ज्ञानत्वावच्छिन्न-स्यैव तद्व्यावर्तकत्वसम्भवात् । न च तादृशस्य सम्बन्धत्वे मानाभाव इति वक्तव्यम्, बाधकाभावात्, परमाणुगतैकत्वमादाय

तर्क न हो तब तक हजारों अनुमान प्रयोग किये जाय तो भी उनसे स्वाभिमत साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती । यहाँ परमाणुत्व में परमाणुसमवेतजातिगुणकर्मभिन्नधर्मसमवायित्व की व्याप्ति का विषयबाधक कोई तर्क नहीं है अर्थात् 'स्वतन्त्र परमाणु में परमाणुत्व हेतु भले रहे, मगर परमाणुगतगुणकर्मजातिभिन्नधर्मसमवायित्व न रहे तो क्या दोष है ?' इस विपरीत कल्पना के निवर्तक किसी तर्क का सहारा नैयायिक को नहीं मिलता है, जिसके बल पर नैयायिक उपर्युक्त व्याप्ति को सुरक्षित बना सके । अतः असहाय व्याप्ति के आधार पर उक्त अनुमान के द्वारा स्वतन्त्र परमाणु में विशेषसमवायित्व की सिद्धि नहीं हो सकती । नैयायिक से प्रदर्शित व्याप्ति में कोई अनुकूल तर्क तो नहीं है, मगर उपाधिग्रस्तता ही है । वह उपाधि है द्रव्यसमवायित्व । जो साध्य की व्यापक एवं साधन की अव्यापक हो वह उपाधि कही जाती है । जहाँ जहाँ परमाणुगत गुणकर्म-जातिभिन्नधर्मसमवायित्व होता है वहाँ वहाँ द्रव्यसमवायित्व होता है, जैसे पार्थिवद्रव्यणुकसमवायी परमाणु, जलीय-द्रव्यणुकसमवायी परमाणु आदि में । इस तरह द्रव्यसमवायित्व उपर्युक्त साध्य का व्यापक है । मगर जहाँ जहाँ परमाणुत्व होता है, वहाँ वहाँ द्रव्यसमवायित्व नहीं होता है, क्योंकि स्वतन्त्र परमाणुओं में परमाणुत्व होने पर भी किसी द्रव्यणुक आदि द्रव्य का समवायित्व नहीं होता है । स्वतन्त्र परमाणुओं में कोई द्रव्य समवेत नहीं होने से द्रव्यसमवायित्व = द्रव्यप्रतियोगिकसम-वायवत्त्व कैसे होगा ? अतः द्रव्यसमवायित्व परमाणुत्व हेतु का अव्यापक है । द्रव्यसमवायित्व में साध्य की व्यापकता एवं हेतु की अव्यापकता होने से वह उपर्युक्त अनुमान में उपाधि है । साध्यव्यापक उपाधि अपने अभाव का निश्चय कराती है । साध्याभावाधिकरणविध्या निश्चित स्वतन्त्र परमाणुस्वरूप पक्ष में परमाणुत्व हेतु कैसे स्वाभिमत साध्य की सिद्धि के लिए समर्थ हो सकेगा ? क्योंकि तब परमाणुत्व हेतु बाधित = बाधदोषग्रस्त होता है । इसलिए नैयायिकप्रदर्शित अनुमान विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए असमर्थ है - यह फलित होता है ।

॥ आकाशादी में विशेष की सिद्धि नामुमकिन - स्यात्वादी ॥

किञ्च. इति । दूसरी बात यह है कि भेदक धर्मान्तर = अन्य धर्म के अभाववाले परमाणुओं में परस्परप्रतियोगिक भेदगोचर योगिप्रत्यक्ष की अन्यथा अनुपपत्ति के बल पर विशेष पदार्थ की सिद्धि करने पर तो आकाश आदि पदार्थ में, जिनमें नैयायिक विशेष पदार्थ को समवेत मानते हैं, विशेष पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि अन्य निरवयव पदार्थ

सिद्धयसिद्धिव्याघातेन तु विशेषस्यैव द्रव्यस्यैव व्यावृत्तिस्वभावत्वं न्याय्यमिति हिम् ।

❀ गयलता ❀

समानाधिकरणतादृशैकत्ववत्त्वसम्बन्धेन सत्तारूपलिङ्गेनैव परमाण्वन्तरभेदसाधनसम्भवे विशेषासिद्धेरिष्टत्वात् ।

ननु प्रमाणेन विज्ञातो विशेषो भवता प्रतिक्षिप्यतेऽविज्ञातो वा ? इति विकल्पयुगली प्रकृते समुज्जृम्भते । तत्र नाद्यः श्लोदश्रमः, प्रमाणेन सिद्धस्य प्रतिक्षेप्युमशक्यत्वात्, अन्यथा घटादीनामपि प्रतिक्षेपप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः चारुतया चतुराणां चेतसि चकास्ति, अप्रसिद्धस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् अभावस्य प्रसिद्धप्रतियोगिकत्वनियमात् । इदमेवाऽभिप्रेत्य —> ‘असौ गत्थि णिसेहो’ (वि.आ.भा.गा.) इति श्रीजिनभद्रगणिकक्षमाश्रमणोक्तिः । विकल्पान्तरस्य चाऽसम्भवाच्च विशेषपदार्थ-खण्डनस्य युक्तत्वमिति विशेषस्य स्वतो व्यावर्तकत्वमव्याहृतमेवेति नैयायिकाऽऽशङ्कायां प्रकरणकृदाह - सिद्धयसिद्धिव्याघातेन = प्रसिद्धचप्रसिद्धिविकल्पद्वयविकल्पद्वयविरोधेन तु विशेषस्यैव द्रव्यस्यैव व्यावृत्तिस्वभावत्वं न्याय्यं = न्यायानपेतम् । स्वभावतः परस्परं व्यावृत्तानि पृथग् द्रव्याण्युत्पद्यन्त इति परेण स्वतो व्यावृत्तं द्रव्यं प्रमाणेनाऽज्ञायि न वा ? इति विकल्प-द्रव्यावतारे तु द्रव्यस्य व्यावृत्तिशालित्वं निराबाधम् । युक्तश्चेतत् अनन्तविशेषाऽकल्पनलाघवात् । न हि स्वभावतोऽव्यावृत्तस्य सतः कस्यचित् केनचित् व्यावृत्तिः कर्तुं पार्यते । तच्छङ्कानिवृत्त्यर्थं क्वचिद् व्यावर्तकधर्मदर्शनमुपयुज्यते व्यभिचारशङ्कानिवृत्तौ तर्कस्येव । एतेन —> व्यण्णकावयवः सावयवः महदारम्भकत्वादित्यनुमानेन परमाणोरव्यावृत्तस्यापि सिद्धिसम्भवेन नित्य-द्रव्याणां व्यावृत्तत्वस्य धर्मिग्राहकमानाऽसिद्धत्वमेवेति <- (मु.रा. पृ. १२३) दिनकरीयतरङ्गिणीकृद्वचनं निरस्तम्, प्रकृतानुमानेन सिध्यतो व्यावर्तकान्तरव्यावृत्तत्वेऽनवस्थागौरवमिति ज्ञानसहकारात्तत्र स्वतो व्यावृत्तत्वमप्यवगाहमानैवानुमितिः सम्भवति,

से आकाशादि का व्यावर्तक शब्द आदि विशेष गुण ही हो सकते हैं । परमाणु में शब्द गुण नहीं होता है और आकाश में शब्द गुण होता है - यह तो नैयायिक ही कहते हैं । तब तो निरवयव परमाणु से आकाश को व्यावृत्त करने वाला शब्द गुण ही होगा, फिर क्यों आकाशादि निरवयव द्रव्य में विशेष पदार्थ का स्वीकार किया जाय । अनारब्धद्रव्यवाले परमाणु को पक्ष बना कर जो विशेष पदार्थ सिद्धि की गई है, उसके मुताबिक तो आकाशादि में विशेष पदार्थ की सिद्धि हो ही नहीं सकती है, मगर भेदगोचर योगिप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति से भी आकाशादि में विशेष पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि शब्द आदि गुण ही उनके भेदक = व्यावर्तक हो सकते हैं - यह अभी ही हम बता चुके हैं । अतः स्वतंत्र विशेष पदार्थ की कल्पना अप्रामाणिक है ।

❀ द्रव्य ही व्यावृत्तिस्वभाववाला है - स्याद्वादी ❀

सिद्धय. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ‘आप स्याद्वादी जोर-शोर से नैयायिकसम्मत विशेष पदार्थ का खण्डन कर रहे हैं, मगर हम आपसे यह प्रश्न करते हैं कि ‘क्या आप स्याद्वादी विशेष पदार्थ को प्रमाण से जानते हैं या नहीं ? यदि प्रमाण से विशेष पदार्थ को जानते हैं, तो फिर आप विशेष पदार्थ का खंडन कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि प्रमाणसिद्ध पदार्थ को खंडित करने का दुःसाहस कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं करता है । यदि आप विशेष पदार्थ को नहीं जानते हैं, तब तो उसका खंडन नितरां नहीं कर सकते, क्योंकि कोई भी अक्कलमंद आदमी अज्ञात पदार्थ का निराकरण करने में प्रवृत्त नहीं होता है । अतः स्याद्वादी न तो प्रमाण से ज्ञात विशेष पदार्थ का खंडन कर सकते हैं और न तो अज्ञात विशेष पदार्थ का । इसलिए हम नैयायिक विद्वान् विशेष को स्वतः व्यावृत्तस्वभाववाला मानते हैं - वह युक्तिसंगत ही है’ <-

द्रव्य. इति । तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धि और असिद्धि से इस तरह विशेष पदार्थ में व्यावृत्तिस्वभाव = भेदकत्व की कल्पना करने की अपेक्षा तो यही मुनासिब है कि सिद्धि और असिद्धि के द्वारा उक्त रीति से द्रव्य में ही व्यावृत्तिस्वभाव = भेदकत्व की कल्पना करना युक्तियुक्त है । मतलब यह है कि द्रव्य ही विशेषपदार्थ की भौति स्वतः व्यावृत्तिस्वभाववाला है - यह मानना सुसंगत है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ‘व्यावृत्तिस्वभाववाला द्रव्य अप्रामाणिक है’ <- तो नैयायिक से हमारा यह प्रश्न है कि —> ‘स्वतः व्यावृत्तिस्वभाववाले द्रव्य को आप नैयायिक प्रमाण से जानते हैं या नहीं ?’ यदि स्वतः व्यावृत्ति स्वभाव वाले द्रव्य को आप प्रमाण से जानते हैं, तब उसका निरास कैसे कर सकते हैं ? स्वयं प्रमाण से सिद्ध पदार्थ को जान-बूझकर उसका निराकरण नहीं किया जा सकता । यदि आप स्वतः व्यावृत्तिस्वभाव वाले द्रव्य को नहीं जानते तब तो नितरां उसका अपाकरण नहीं कर सकते । क्या घट को नहीं

अभिलाष्यत्वानभिलाष्यत्वेऽपि न विरुद्धे, दृष्टं हि घटस्य यथा घटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वं तथा पटपदापेक्षयाऽनभिलाष्यत्वमपीति ।

ननु अभिलाष्यभावापेक्षयाऽनन्तगुणिता अनभिलाष्या भावा भवद्विरुपेयन्ते । यदुक्तं

❀ नयति ❀

अन्यथा विशेषेऽपि तदसिद्धिप्रसङ्गात् । अत एव नवीननैयायिकैरपि → अतिरिक्तविशेषपदार्थे मानाभावः विशेषाङ्गीकर्तृमते यथा विशेषाणां स्वतो व्यावृत्ततया सिद्धिः तथा नित्यद्रव्याणामपि स्वतो व्यावृत्ततया सिद्धिसम्भवात् ← इत्यभिधीयते । एतेन सिद्धसिद्धिभ्यां व्युत्पत्तेऽपि प्रसङ्गतः विकल्पसिद्धिर्धर्मिणमुद्दिश्यपि अनुमितिस्वीकारात्, अन्यथा नैयायिकस्य साङ्ख्या-भिमतप्रकृत्यादिनिराकरणं कथं सङ्गच्छेत् । 'प्रसङ्गापादनमेव तत्र क्रियत' इति चेत् ? तर्हि प्रकृतेऽपि तदेव बोध्यमित्यादि-सूचनार्थं दिग्भेदनिवेशः कृतः ।

अभिलाष्यत्वानभिलाष्यत्वलक्षणपञ्चमधर्मयुगलाद्विरोधसाधनार्थं साम्प्रतमुपक्रमते प्रकरणकारः - अभिलाष्यत्वाऽनभिलाष्यत्वे परस्परं विरुद्धत्वेन पराभिमतं अपि वस्तुगत्या न परस्परं विरुद्धे । तथाहि तयोर्हि किं वध्यघातकभावलक्षणो विरोधः स्यात् सहानवस्थानरूपः परस्परपरिहारात्मको वा ? इति पक्षत्रयी समुपतिष्ठते । तत्र नाद्यः श्लेष्मङ्करः, अहिनकुलयोरिव परस्परमुपमृद्याऽनवस्थानात् । नापि द्वितीयः समीचीनः, एकत्रैव तयोः सहावस्थानोपलब्धेः । तदेव दर्शयति - दृष्टं हि घटस्य = घटपदार्थस्य यथा घटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वं = घटपदनिष्ठाभिलाष्यकतानिरूपिताभिलाष्यत्वं तथा पटपदापेक्षयाऽनभिलाष्यत्वं = पटपदनिष्ठाभिलाष्यकतानिरूपिताभिलाष्यत्वाभाववत्त्वं अपीति । न हि घटपदवाच्यस्य परेण पटपदवाच्यत्वमभ्युपेयते । अत एव न तृतीयोऽपि सम्पत्त्वमश्वतीति सिद्धं तयोरविरोधित्वमिति । एतेनाऽभिलाष्यत्वस्य केवलान्वयित्वमपि प्रत्युक्तम्, केषुचिदेवाऽर्धधर्मेषु शब्दवाच्यतापरिणत्यभ्युपगमात्, आख्यातुमशक्यत्वेऽपि प्रत्याख्यातुमशक्यानां माधुर्यविशेषादीनां बहूनामर्धधर्माणामनुभवसिद्धत्वात् । इदमेवाभिप्रेत्याऽभ्यधाति अभ्यात्मोपनिषत्प्रकरणे 'यो ह्याख्यातुमशक्योऽपि प्रत्याख्यातुं न शक्यते । प्राज्ञैर्न दूषणीयोऽर्थः स माधुर्यविशेषवत् ॥ (अ. उप. २/४६)

मुग्धः शङ्कते - नन्विति । अभिलाष्यभावापेक्षया अनन्तगुणिता अनभिलाष्या भावा भवद्विः = स्याद्वादिभिः उपेयन्ते = स्वीक्रियन्ते । सम्यादमाह - यदुक्तमिति । बृहत्कल्पभाष्य इति गम्यते । पन्नवणिज्जेति । → ये प्रज्ञापयितुं शक्यन्ते ते प्रज्ञापनीया अभिलाष्या इत्येकोऽर्थः । ते च भू-भूधर-विमान-ग्रह-नक्षत्रादयः । एतद्विपरीता अप्रज्ञापनीयाः ।

पहचानने वाला 'भूतल में घट नहीं है' ऐसा कह सकता है ? अतः सिद्धि और असिद्धि से व्याघात होने की वजह द्रव्य ही स्वतः व्यावृत्तिसंभाव-वाला है - यह फलित होता है । इस विषय में अधिक विचार भी किया जा सकता है । यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह तो एक दिग्दर्शनमात्र है । इस दिशा के अनुसार अवकलमंद वाचक वर्ग स्वयं अपनी बुद्धि से आगे विचार कर सकते हैं - इस बात की सूचना देने के लिए प्रकरणकार महोपाध्याय श्रीमद्जी ने 'दिक्' शब्द का उल्लेख कर के विशेषपदार्थ के खंडन को यहाँ जलांजलि दी है ।

❀ अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व में अवरोध - स्याद्वादी ❀

अभि. । जिस तरह एक ही धर्मी में नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, सत्त्व-असत्त्व, सामान्य-विशेष इन युगलों का परस्पर अवरोध है, ठीक वैसे एक ही वस्तु में अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व धर्म भी परस्पर विरुद्ध नहीं है । एक ही घट अर्थ घटपद की अपेक्षा अभिलाष्य होता है और पटादिपद की अपेक्षा अनभिलाष्य = अवाच्य भी होता है - यह तो लोकव्यवहार में भी देखा गया है । घटपदार्थ जैसे घटपद से वाच्य होता है, वैसे पट आदि पद की अपेक्षा वाच्य नहीं होता है - यह तो आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है । अतः एक धर्मी में अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व धर्म को परस्पर विरुद्ध नहीं कहा जा सकता या माना जा सकता ।

≡ अनभिलाष्य अर्थ भी कथंचित् अभिलाष्य है - स्याद्वादी ≡

ननु. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि → "आप स्याद्वादी ने ही अभिलाष्य भाव की अपेक्षा अनभिलाष्य भावों को अनन्तगुण माना है, क्योंकि आप ही के आगम में कहा गया है कि - अनभिलाष्य भावों के अनन्त भाग में प्रज्ञापनीय = अभिलाष्य भाव = पदार्थ है । यदि अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व एक-दूसरे के अवरोधी हो कर

‘पञ्चवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलाप्याणं’ (बृ.क.भा.९६४, वि.आ.भा.१४९)ति ।
तेष्वेवेदमुभयमनुपपन्नमिति चेत् ? न, तेषामनभिलाप्यपदेनैवाऽभिलाप्यत्वात् ।

ननु तर्हि किमीदृशानभिलाप्यव्यावृत्तमभिलाप्यत्वं ?

❀ जयलता ❀

द्वावपि च राशी अनन्तौ, परं महान परस्परं विशेषः । तथाहि - प्रज्ञापनीया भावाः सर्वेऽपि समुदिताः सन्तोऽनभिलाप्यानां भावानां अनन्तभागो भवति, अनन्ततमे भागे वर्तत इति भावः <- (बृ.क.भा.वृ. पृ.३०४) इति श्रीक्षेमकीर्त्याचार्यव्याख्या । प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते इति प्रज्ञापनीया वचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इत्यर्थः । के भावाः ? ऊर्ध्वाधस्तिर्यङ्गलोकान्तनिर्विष्टभू-भवन-विमान-ग्रह-नक्षत्र-तारकाकेंद्रादयः ते सर्वेऽपि मिलिताः । किं ? इत्याह अनन्ततम एव भागे वर्तन्ते । केषां ? अत्राह-अनभिलाप्यानामर्थपर्यायत्वेनाऽवचनगोचरतापन्नानामित्यर्थः । अनभिलाप्यवस्तुराशेरभिलाप्यपदार्थसार्थः सर्वोऽप्यनन्ततम एव भागे वर्तत इत्यर्थः <- (वि.आ.भा.१४९ श्लो.व्या. पृ.४५) इति श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिव्याख्या विशेषावश्यकभाष्ये । यदि चैकत्रैवाऽभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वसमावेशः स्यात् तर्हि अभिलाप्यानभिलाप्यभावाः परस्परं तुल्याः स्युः । परं अभिलाप्येभ्योऽनभिलाप्यभावानामनन्तगुणत्वेनाऽनभिलाप्यभावेषु केवलमनभिलाप्यत्वमेवाऽङ्गीकार्यं, न तूभयं, तत्त्वहानिप्रसङ्गात् । इत्थञ्च तेषु = अनभिलाप्यभावेषु एव इदमुभयं = अभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वधर्मयुगलं अनुपपन्नम् । ततश्च सर्वत्र तयोरेकत्र समावेशो दुर्घट इति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत्तत्रिराकरोति - नेति । तेषां = अनभिलाप्यभावानां अनभिलाप्यपदेनैवेति । एवकारार्थः प्रकृतेऽयोगव्यव-च्छेदो बोध्यः । तेनाऽप्रज्ञापनीयाऽवाच्याऽवक्तव्याऽनिर्वचनीयाऽनाख्येयादिपदैस्तेषांभिलापेऽपि न क्षतिः । अभिलाप्यत्वादिति । अनभिलाप्यपदनिष्ठाभिलापकतानिरूपिताऽभिलाप्यत्वादनभिलाप्यभावेषूभयं नाऽनुपपन्नम् । न चैवं तेषामनभिलाप्यत्वं विरुद्धयेत इति वाच्यम्, अनभिलाप्यातिरिक्तपदापेक्षयैव तेषामनभिलाप्यत्वाऽभ्युपगमात्, अनभिलाप्यातिरिक्तपदनिरूपितवाच्यत्वशून्यत्व-स्यैवाऽनभिलाप्यपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । एतेन सर्वथाऽनभिलाप्यत्वैकान्तोऽपि परिहृतः, अनभिलाप्यानां स्यादनभिलाप्यत्वं, स्यादभिलाप्यत्वं, स्यादुभयत्वं, स्यादवक्तव्यत्वं, स्यादनभिलाप्यत्वाऽवक्तव्यत्वं, स्यादभिलाप्यत्वाऽवक्तव्यत्वं, स्यादुभयत्वाऽवक्त-व्यत्वमित्येवं सप्तभङ्ग्यव्याहृतप्रसरादिति दिक् ।

अभिलाप्यत्वपदार्थं परीक्षितुमुपक्रमते - नन्विति । ‘वचनप्रामाण्यादि’त्यन्तोऽयं ग्रीढपूर्वपक्षः । तर्हि = अनभिलाप्य-भावानामनभिलाप्यातिरिक्तपदाऽवाच्यत्वे सत्यनभिलाप्यपदवाच्यत्वाङ्गीकारे सति किं = किंस्वरूपं ईदृशानभिलाप्यव्यावृत्तं = अनभिलाप्यपदातिरिक्तपदनिरूपितवाच्यत्वाभावविशिष्टेभ्योऽनभिलाप्यपदनिरूपितवाच्यताश्रयेभ्योऽनभिलाप्यभावेष्वभ्युपगम्य अभिलाप्यत्वं = अभिलाप्यत्वपदवाच्यं स्याद्वादिभिः स्वीक्रियते ? इति मीमांसायां ‘पदशक्तिविषयत्वरूपं तत् ? यद्वा ‘पद-

एक ही द्रव्य में रह सकते हैं, तब तो अभिलाप्यभाव की अपेक्षा अनभिलाप्य = अनभिलाप्यत्वविशिष्ट भाव अनन्तगुण कैसे हो सकते ? दोनों समान ही होने चाहिए । अतः अभिलाप्य भाव की अपेक्षा अनन्तगुण अनभिलाप्य भावों में ही अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व उभय अनुपपन्न हो जावेगा । इसलिए उनमें अनन्तगुण अधिक-न्यूनभाव के प्रतिपादक जैन आगम से ही अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व धर्म में विरोध सिद्ध होता है’ <- तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनभिलाप्य भावों का भी अनभिलाप्यपद से अभिलाप होने से उनमें भी अनभिलाप्यशब्द की अपेक्षा अभिलाप्यत्व रहता ही है, अन्यथा उनका प्रतिपादन अनभिलाप्य शब्द से कैसे हो सकता ? फिर भी उन्हें अनभिलाप्य कहने का तात्पर्य यह है कि वे अनभिलाप्य पद से भिन्न पद से अभिलाप्य नहीं होते हैं, केवल अनभिलाप्यपद से ही अभिलाप्य होते हैं । अतः अनभिलाप्य भावों में भी अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व का विरोध नहीं है - यह सिद्ध होता है । शकर की मिठाश, गुड की मिठाश, आम के रस की मधुरता, मिठाई की मधुरता में भेद होने पर भी उनका शब्द से निर्वचन नहीं किया जा सकता । इस दृष्टि से उनके बीच में भेद अनभिलाप्य कहा जाता है, इत्यादि दृष्टिकोण से जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में अनभिलाप्य पदार्थ का निरूपण किया गया है, न कि अनभिलाप्यशब्द से भी वे अभिलाप्य = वाच्य नहीं है, इसकी अपेक्षा से । इस तरह अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व का एक धर्मी में समावेश सिद्ध होने से वे परस्पर विरुद्ध नहीं है - यह प्रकरणकार का गर्भित आशय है ।

पूर्वपक्ष :- ननु त. इति । यहाँ अभिलाप्यत्व को कहा गया है, जो प्रदर्शित अनभिलाप्यभाव से व्यावृत्त है, उसका स्वरूप क्या है ? क्या पदशक्तिविषयत्वस्वरूप अभिलाप्यत्व आपको अभिमत है ? यह तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि

न तावत् पदशक्तिविषयत्वं, अतिप्रसङ्गात् । नापि पदजन्यबोधविषयत्वं, तदविषये क्वचिद् घटादावभावात् । नापि तद्बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं, घटस्यापि पटपदाभिलाष्यत्वापत्तेः, एकस्यापि पदस्य सर्वार्थवाचकत्वेन पटपदाभिलाष्यतावच्छेदकप्रमेयत्ववत्त्वस्य घटे सत्त्वात् ।

✽ नयलता ✽

जन्यबोधविषयत्वं तत् ? उदधित् 'पदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत् ? आहोस्वित् 'गृहीततत्तदर्धनिरूपितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत् ? उताहो 'गृहीततत्तदर्धनिरूपित-नियन्त्रितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वं तत् ? इति विकल्प-पञ्चतयी निरूपमरूपरसगन्धादिविषयपञ्चतयीव कनीयः कमनीयव्यापारसारा प्रसरीसरीति वरीयसी । तत्र नाद्यो विकल्पोऽनवद्य इत्याशयेनाह ननुवादी - न तावदिति । प्रथमार्थकोऽयं निपातः । पदशक्तिविषयत्वं = पदनिष्ठशक्तिनिरूपितविषयत्वं, यथा घटपदनिष्ठशक्तिविषयत्वं घटपदार्थवृत्ति घटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वमिति प्रथमविकल्पाभिप्रायः । तदयुक्तत्वं हेतुमाह - अति-प्रसङ्गादिति । अनभिलाष्यभावेऽप्यनभिलाष्यपदनिष्ठशक्तिनिरूपितविषयत्वलक्षणस्य निरुक्ताभिलाष्यत्वस्य सत्त्वेनातिव्याप्तेः न पदशक्तिविषयत्वस्याभिलाष्यत्वलक्षणत्वं घटामश्नुतीति मन्वाशयः ।

द्वैतीयविकल्पं निराकरोति - नापीति । पदजन्यबोधविषयत्वमिति । पदनिष्ठजनकतानिरूपिताया जन्यताया आश्रयी-भूतो यः शब्दबोधः तन्निष्ठविषयितानिरूपितमर्थनिष्ठ विषयत्वं निरुक्ताभिलाष्यत्वं, यथा घटपदनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यता-श्रयीभूतशब्दबोधनिरूपितविषयत्वं घटपदार्थवृत्ति घटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वं, घटपदेन घटगोचरशब्दबोधस्योत्पत्तेः प्रसिद्धत्वादिति द्वितीयविकल्पार्थः । यद्यपि अनभिलाष्यभावेऽप्यनभिलाष्यपदनिरूपितजन्यताश्रयीभूतशब्दबोधनिरूपितविशेष्यतारव्यविषयत्वस्य सत्त्वेनातिव्याप्तिर्दुर्वारा तथापि स्फुटत्वात्तामुपेक्ष्य दोषान्तरमाविष्करोति - तदविषये = घटादिपदजन्यशब्दबोधनिरूपित-विषयताशून्यं क्वचिद् घटादी घटादिपदनिरूपितजन्यताश्रयशब्दबोधनिरूपितविषयत्वस्य अभावात् अव्याप्तेः । यत्र घटादी केनाऽपि घटादिपदं न प्रयुक्तं तत्र घटादिपदजन्यशब्दबोधविषयत्वस्याऽभावेऽप्यभिलाष्यत्वविरहो नाभ्युपेयत इत्यव्याप्तिः । न च तस्यापि सर्वादिपदजन्यबोधविषयत्वेन नाऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, य उत्पत्त्यनन्तरक्षणे एव विनष्टः न च तदुत्पत्तिक्षणे केनापि सर्वादिपदं प्रयुक्तं तत्र घटादावव्याप्तेः, अनभिलाष्यभावेऽतिव्याप्तेश्च ।

तर्हि घटादिपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमेव घटादिपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वमस्तु, यत्र विनष्टे घटादी न केनापि घटादिपदं प्रयुक्तं तस्य घटादिपदजन्यशब्दबोधाऽविषयत्वेऽपि घटादिपदबोध्यतावच्छेदकीभूतघटत्वादिधर्मवत्त्वेनाऽव्याप्तेरनवकाशादित्याशङ्कायां तार्तीयविकल्पोच्छिद्यते उपक्रमते - नापि तद्बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं निरुक्ताभिलाष्यत्वम् । घटादिपदनिष्ठशक्ततानिरूपित-शक्यताया अवच्छेदको यो धर्मः तादृशधर्मवत्त्वस्य घटादिपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वस्वीकारे तु घटस्यापि पटपदाभिलाष्यत्वापत्ते-रिति । पटपदनिष्ठशक्ततानिरूपितशक्यतावच्छेदकीभूतप्रमेयत्ववत्त्वेन घटस्यापि पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वस्वीकारप्रसङ्गात् । तदेव दर्शयति - एकस्यापि पदस्य सति तात्पर्यं सर्वार्थवाचकत्वेन = सर्वार्थनिष्ठशक्यतानिरूपितशक्ततावत्त्वेन स्याद्वादिनये पटपदस्यापि सर्वार्थान्तर्गतघटनिष्ठवाच्यतानिरूपितवाचकतावत्त्वेन प्रमेयत्वस्य पटपदशक्यतावच्छेदकत्वसिद्ध्या पटपदाभिलाष्यतावच्छेदक-प्रमेयत्ववत्त्वस्य = पटपदनिष्ठशक्ततानिरूपितशक्यताया अवच्छेदकीभूतप्रमेयत्वधर्मवत्त्वस्य घटे सत्त्वात् । योऽर्थः यत्पदवाच्यः तस्मिन् तत्पदवाच्यता तत्पदवाच्यतावच्छेदकश्च स्त इति सर्वार्थानां प्रत्येकपदवाच्यत्वनये घटस्य पटपदवाच्यत्वेन सर्वार्थसाधारणस्य

अनभिलाष्यपद की विषयता तो अनभिलाष्य भावों में रहने से उन्हें भी अभिलाष्य मानने की आपत्ति आयेगी । अर्थात् अतिव्याप्ति दोष आयेगा । यदि अभिलाष्यत्व को पदजन्यबोधविषयतास्वरूप भी माना जाय, जैसे घटपद से जन्य घटत्वप्रकारक शब्दबोध की विषयता घटपदार्थ में रहती है वही घटपदार्थनिष्ठ अभिलाष्यत्व है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो घट उत्पन्न हो कर दूट गया है और उसके उद्देश से किसीने घटपद का प्रयोग नहीं किया है, उसमें तो पदजन्य बोध की विषयता ही नहीं रहती है, फिर भी उस घट को अभिलाष्य ही कहा जाता है, न कि अनभिलाष्य । इसलिए पदजन्य बोध से निरूपित विषयता को अभिलाष्यत्व मानने पर तादृशविषयताशून्य घट में अभिलाष्यत्व के अभाव का प्रसंग आयेगा अर्थात् अव्याप्ति दोष आयेगा । यदि यह कहा जाय कि → 'अभिलाष्यत्व पदबोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वात्मक है । जिस घट के उद्देश से घटपद का प्रयोग नहीं किया गया है उसमें भले ही घटपदजन्यबोधनिरूपित विषयता न रहे, मगर घटपदबोध्यतावच्छेदक घटत्व धर्म तो उसमें रहता ही है । अतः उसमें अव्याप्ति की या अभिलाष्यत्वाभाव की अनिष्ट आपत्ति नहीं है' ← तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि स्याद्वादियों ने प्रत्येक पद को सर्व अर्थ का वाचक माना है । इसलिए घटपदार्थ में पटपद की अपेक्षा भी अभिलाष्यत्व

अथ पटपदादितः प्रमेयत्वेनाऽबोधान्न तदवच्छिन्ने शक्तिः, शक्तिज्ञानपदार्थो-
पस्थितिशाब्दबोधानां समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावादिति चेत् ? किं तावता, तथापि
घटत्वादेः पटपदबोध्यतावच्छेदकत्वस्य निरुपायत्वात् ।

❀ जयलता ❀

प्रमेयत्वस्य पटपदवाच्यतावच्छेदकत्वसिद्ध्या घटस्य तादृशधर्मवत्त्वात्पटपदापेक्षया अभिलाष्यत्वप्रसङ्ग इति भावः ।

परः सङ्केते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । पटपदादितः घटस्य प्रमेयत्वेन रूपेण अबोधात् = शाब्दबोध-
विरहात् न तदवच्छिन्ने = प्रमेयत्वावच्छिन्ने यावत्प्रमेय इति शक्तिः । तत्र हेतुमाह - शक्तिज्ञानेत्यादि । यदि विषयता-
सम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विषयतासम्बन्धेन पदार्थोपस्थितिशक्तिग्रहयोः कारणत्वं विषयतासम्बन्धेन पदार्थोपस्थितिं प्रति च
विषयतासम्बन्धेन सङ्केतग्रहस्य कारणत्वमित्येवं कार्य-कारणभावाऽङ्गीकारेऽपूर्वव्यक्तिभानं शक्तिग्रह-पदार्थोपस्थित्योरपेक्षितं
भवेत् । न चैवमस्ति, तथा सत्यवच्छेदकनियमनाय तत्तद्वर्मावच्छिन्नविषयत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकतया कारणतावच्छेदकतया
चाऽभ्युपगमप्रसक्तौ महागौरवात् । ततश्च प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति प्रकारतासम्बन्धेन सङ्केतग्रह-पदार्थोपस्थित्योः
प्रकारतया पदार्थोपस्थितिं प्रति च प्रकारतासंसर्गेण शक्तिग्रहस्य कारणत्वमित्येवाऽभ्युपगन्तव्यम् । इत्थञ्च शक्तिग्रहपदार्थो-
पस्थितिशाब्दबोधानां समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावसिद्धौ प्रत्येकपदस्य सार्वार्थवाचकत्वमपि घटस्य पटपदवाच्यत्वेऽपि प्रमेय-
त्वस्य न पटपदशक्यतावच्छेदकत्वं पटपदेन घटस्य प्रमेयत्वरूपेणाऽबोधात् । यदि च प्रमेयत्वरूपेण पटपदाद् घटभानं स्यात्
तदा प्रकारतासम्बन्धेन तादृशशाब्दबोधस्य प्रमेयत्ववृत्तित्वसिद्धौ फलबलात् प्रकारतासम्बन्धेन पटपदशक्तिग्रहस्य प्रमेयत्ववृत्तित्व-
सिद्ध्या प्रमेयत्वस्य पटपदनिष्ठशक्तिनिरूपितविषयतावच्छेदकत्वं सिध्येत् । न चैवमस्ति । अतो न प्रमेयत्वस्य पटपद-
शक्यतावच्छेदकत्वम् । अत एव पटपदशक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वमपि घटे नास्तीति न घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वप्रसङ्गः ।
ततश्च निरुक्तावच्छेदकधर्मवत्त्वमपि घटे नास्तीति न घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वप्रसङ्गः । ततश्च निरुक्ताभिलाष्यत्वं पद-
शक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूपमेवेति अथाशयः ।

ननुवादी तन्निराकुरुते - किं तावता ? इति । प्रमेयत्वस्य पटपदशक्यतानवच्छेदकत्वेन किं नश्छिन्नम् ? इत्यर्थः ।
तथापि = शक्तिग्रह-पदार्थोपस्थिति-शाब्दबोधानां समानप्रकारतासंसर्गेण कार्यकारणभावस्याऽङ्गीकारेऽपि, पटपदेन घटादेः
घटत्वादिरूपेण भानात् घटत्वादेः पटपदबोध्यतावच्छेदकत्वस्य = पटपदनिष्ठशक्ततानिरूपितशक्यताया अवच्छेदकत्वस्य निर-
ुपायत्वात् = अबोधात् । प्रत्येकपदस्य सार्वार्थवाचकत्वमपि यदि घटत्वादिकं पटपदशक्यतावच्छेदकं न स्यात् तर्हि पटपदात्
घटत्वादिरूपेण घटादिभानं न स्यात्, प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति प्रकारतासम्बन्धेन सङ्केतग्रह-पदार्थोपस्थित्योर्हत्तु-
त्वात् । तादृशशाब्दबोधस्य प्रकारतासंसर्गेण घटत्वादिवृत्तित्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या तत्कारणीभूतशक्तिग्रहस्य प्रकारतासम्बन्धेन घट-
त्वादिवृत्तित्वसिद्धौ घटत्वादेः पटपदशक्यतावच्छेदकत्वं सिध्यति । घटादेः तादृशघटत्वादिधर्मवत्त्वेन पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्व-

मानने का प्रसंग होगा, क्योंकि पटपदवाच्यतावच्छेदक प्रमेयत्व धर्म रहता है । पटपद सर्व अर्थ का वाचक होने से सब अर्थ
में रहने वाले प्रमेयत्व धर्म को पटपदवाच्यतावच्छेदक मानना ही होगा ।

अथ. इति । यहाँ यह कहा जाय कि → "पटपद का वाच्यतावच्छेदक प्रमेयत्व धर्म नहीं हो सकता है, क्योंकि
पटपद से भी घट का प्रमेयत्वरूप से भान नहीं होता है । अतएव प्रमेयत्वावच्छिन्न में पटपद की शक्ति की कल्पना नहीं
की जा सकती, क्योंकि पदशक्तिज्ञान के कार्य पदार्थोपस्थिति और उसके कार्य शाब्दबोध में प्रकार समान = एक ही होता
है । अर्थात् समानप्रकारक शक्तिज्ञान ही समानप्रकारक पदार्थोपस्थिति का कारण होता है तथा समानप्रकारक पदार्थोपस्थिति
ही समानप्रकारक शाब्दबोध का कारण बनती है । इसलिए जब प्रमेयत्वावच्छिन्न में पटपद की शक्ति ही नहीं है अर्थात्
प्रमेयत्व पटपदशक्यतावच्छेदक ही नहीं है तब 'पटपदबोध्यतावच्छेदकीभूत प्रमेयत्व धर्म घट अर्थ में रहता है' यह कैसे कहा
जा सकता है ? अतः पदबोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्व को अभिलाष्यत्व माना जा सकता है" ←

किं ता. इति । तो यह भी ठीक नहीं है । पटपद से घट का प्रमेयत्वरूप से बोध नहीं होने से प्रमेयत्व पटपदबोध्यतावच्छेदक
न हो तो क्या हुआ ? प्रत्येक पद सब अर्थ के वाचक हैं - इस मत के अनुसार घट अर्थ का पटपद से घटत्वरूप से
तो बोध हो सकता ही है । इसकी वजह पटपदवाच्यतावच्छेदक घटत्व धर्म हो सकता है । पटपदवाच्यतावच्छेदकताविशिष्ट
घटत्व धर्म घट में होने से घट अर्थ में पटपद की अपेक्षा अभिलाष्यत्व का प्रसंग अपरिहार्य ही होगा ।

नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, पटपदस्यापि घटे सङ्केतग्रहसम्भवात् तदोषान्नातिवृत्तेः । नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रित-सङ्केतक-पदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं, घटे हि घटपदस्यैव सङ्केतः कोशादिना नियम्यते न तु पट-

❀ गयलता ❀

प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वमिति ननुवादिनोऽभिप्रायः ।

ननु 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये' इति नयानुरोधात् घटत्वादेः पटपदशक्यतावच्छेदकत्वं काममभिमतम् । परं घटादौ घटादिपदसङ्केत एव गृह्यते न तु पटपदनिष्ठसङ्केतोऽपि, 'निरूपकतासम्बन्धेन घटादौ घटादिपदसङ्केत एव वर्तते न तु पटपदसङ्केतोऽपी'त्येवाऽनुभवात् । ततश्च निरूपकतानभिलाष्यपदार्थव्यावृत्तमभिलाष्यत्वं न तत्तत्पदशक्यतावच्छेदकरूप-वत्त्वरूपं किन्तु गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकपदशक्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्वरूपमिति चतुर्थो विकल्प एव नः शरणमस्त्वित्युक्तौ ननुवादी तमपहस्तयितुं त्यजते - नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत् = विवक्षिताभिलाष्यत्वम् । गृहीतः = ज्ञातः तत्तदर्थः निरूपितः सङ्केतः यस्मिन् पदे तस्य शक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वं विवक्षिताभिलाष्यत्वम् । तत्तदर्थानां विवक्षितसङ्केतनिरूपकत्वेन यदा तत्तदर्थनिरूपितः सङ्केतः पदे ज्ञायते तदा तादृशं पदं गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकं भवति । तादृशपदशक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वमभिलाष्यत्वमिति चतुर्थविकल्पतात्पर्यम् । तदयुक्तत्वं ननुवादी दर्शयति - पटपदस्यापि किमुत घटपदस्येत्यपिशब्दार्थः, घटे सङ्केतग्रहसम्भवादिति । 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचका' इति नयाभिज्ञपुरुषस्य घटपदवत् पटपदमपि घटवाचकमिति ज्ञाने सति पटपदनिष्ठसङ्केतस्य घटनिरूपितत्वज्ञानात् घटस्य गृहीत-घटलक्षणार्थनिरूपितसङ्केतकपटपदनिरूपितशक्यतावच्छेदकवदवत्त्वेन तदोपानतिवृत्तेः पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वप्रसङ्गास्य दुर्वारत्वान्न चतुर्थो विकल्पोऽर्हतीति ननुवादिनोऽभिप्रायः ।

ननु पटपदनिष्ठसङ्केतस्य घटार्थनिरूपितत्वेऽपि न कोशादिनियन्त्रितत्वमिति तादृशसङ्केते नियन्त्रितत्वविशेषण-दानादेवाऽनतिप्रसङ्ग इति पञ्चमविकल्पस्यैव कक्षीकारोऽस्त्वित्याशङ्कां निराकर्तुमुपदर्शयति - नापीति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽ-न्ययः । गृहीतेति । गृहीतः = ज्ञातः तत्तदर्थनिरूपितः कोशादिना नियन्त्रितश्च सङ्केतो यस्मिन् पदे तद्वोध्यतावच्छेदकरूप-वत्त्वं = तन्निष्ठवाचकतानिरूपितवाच्यताया अवच्छेदकरूपवत्त्वं विवक्षिताभिलाष्यत्वम् । तत्तदर्थनिरूपितत्वेन ज्ञातस्य सङ्केतस्य नियन्त्रितत्वेन विशेषणीयत्वे कथं घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वदोषप्रच्युतिः ? इत्याशङ्कायामाह - घटे हि घटपदस्यैव सङ्केतः कोशादिना नियम्यते न तु पटपदस्येति न प्रागुक्तदोषः = घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वप्रसङ्गः, पटपदनिष्ठस्य

यहाँ यह कहा जाय कि → "सर्व पद सर्व अर्थ के वाचक मानने वाले विद्वानों के मतानुसार पटपदवाच्यतावच्छेदक धर्म भले घटत्व हो, मगर अभिलाष्यत्व को तत् तत् अर्थ से निरूपित संकेत का जिसमें ग्रहण (= ज्ञान) किया गया है- ऐसे पद की बोध्यता के अवच्छेदक धर्मवत्त्वस्वरूप मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि घट अर्थ में पटपदवाच्यतावच्छेदकीभूत घटत्व धर्म होने पर भी घट अर्थ में पट पद का संकेत गृहीत नहीं होने से घट अर्थ में गृहीत संकेतवाले पट पद की वाच्यता का अवच्छेदक धर्म घट में नहीं है । इस तरह विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव घट में होने से घट को पटपद की अपेक्षा अभिलाष्य = अभिलाष्यत्वधर्मशाला मानने का अनिष्ट प्रसंग नहीं है" ←

पटपद इति । तो यह भी अनुचित है, क्योंकि सर्व पद सर्व अर्थ के वाचक होने की वजह पुरुषविशेष को घट अर्थ में भी पटपद के संकेत का ज्ञान मुमकिन होने से घट अर्थ में ज्ञात संकेत वाले पटपद की वाच्यता का अवच्छेदक घटत्व धर्म घट अर्थ में अवाधित होने से घट का पटपद की अपेक्षा अभिलाष्य = अभिलाष्यत्वधर्मशाली मानने की आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है । यहाँ विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव नहीं बताया जा सकता, क्योंकि घट अर्थ में ज्ञात संकेत-वत्त्वस्वरूप विशेषण पटपद में अवाधित है ।

यहाँ यह कहा जाय कि → "सर्व पद सर्व अर्थ के वाचक हैं, इस मत के अनुसार भले ही पुरुषविशेष को घट अर्थ में पटपद के संकेत का ज्ञान हो, मगर वह संकेत यादृच्छिक = अपनी इच्छा से कल्पित है, न कि कोश, व्याकरण आदि से नियन्त्रित । इसलिए तत् तत् अर्थ से निरूपित कोशादि से नियन्त्रित एवं ज्ञात संकेत वाले पद की वाच्यता के अवच्छेदकी-भूत धर्मवत्त्व को अभिलाष्यत्व माना जा सकता है । घट अर्थ में पटपद का संकेत कोशादि से अनियन्त्रित होने की वजह

पदस्येति न प्रागुक्तदोष इति वाच्याम्, श्रुताऽनिबद्धेषु प्रज्ञापनीयेषु तादृशपदसङ्केतग्रहाऽसम्भवात् । न च तेषामेवाऽसिद्धिः, 'पञ्चवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुअनिबद्धो' (बृ.क.भा.भा. ९६८/वि.आ.भा.भा. १४१)तिवचनप्रामाण्यात् ।

✽ नवतत्ता ✽

सङ्केतस्य घटनिरूपितत्वेऽपि कोशाद्यनियन्त्रितत्वात् । ततश्च विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्याऽव्याहतत्वात् घटस्य पट-पदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वप्रसङ्गः । 'कोशादिने'त्यत्राऽऽदिपदेन व्याकरणोपमानादिग्रहणम् । तदुक्तम् - शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानं, कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति, साविध्यतः सिद्धिपदस्य वृद्धाः ॥ ()

प्रदर्शितपञ्चमविकल्पनिराकरणे हेतुमाह - श्रुताऽनिबद्धेषु = श्रुते सूत्ररचनयाऽग्रथितेषु प्रज्ञापनीयेषु = अभिलाष्येषु भावेषु तादृशपदसङ्केतग्रहाऽसम्भवात् = कोशादिनियन्त्रितस्य पदनिष्ठसङ्केतस्य ज्ञानाऽसम्भवात्, न हि श्रुताऽनिबद्धेषु प्रज्ञापनीयभावेषु कोशादिनियन्त्रितसङ्केतः सम्भवति । ततश्च तेषु ज्ञाततत्तदर्थनिरूपित-कोशादिनियन्त्रितसङ्केतकपदनिरूपितशक्यताया अवच्छेदकधर्मवत्त्वस्याऽभावेनाऽव्याप्तिप्रसङ्ग इति भावः ।

ननु प्रज्ञापनीयाश्चेत् श्रुतेऽनिबद्धाः न स्युः, तेषां वक्तुं शक्यत्वात् । श्रुताऽनिबद्धाश्चेत् प्रज्ञापनीया न स्युः, श्रुताऽनिबद्धत्वात् तेऽनभिलाष्या एव भवेयुः । ततश्च प्रज्ञापनीयाः श्रुताऽनिबद्धा इति वचनं 'पिता मे बालब्रह्मचारी'ति वचनमिव व्याहतमित्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते - न चेति । तेषां श्रुताऽनिबद्धानां सतां प्रज्ञापनीयानां भावानां एव असिद्धिः = प्रमाणाऽगोचरत्वमिति । ननुवादी तत्सिद्धचर्यमागमप्रमाणं दर्शयति - पञ्चवणिज्जाणं ति । → 'प्रज्ञापनीयपदार्थानां पुनरनन्त-भाग एव चतुर्दशपूर्वलक्षणे श्रुते निबद्धः = भगवद्भिर्गणधरैः साक्षाद्ग्रथित' ← (वि.आ.भा.भा. १४१ म.हे.टीका) इति श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिव्याख्या । बृहत्कल्पभाष्यवृत्तिकृद्वचनं तु → 'तेषामपि प्रज्ञापनीयानां भावानामनन्ततम एव भागः श्रुते द्वादशाङ्गलक्षणे सूत्ररचनया निबद्धः' ← (बृ.क.भा. पृ. ३०४) इत्येवम् । श्रुतनिबद्धप्रज्ञापनीयभावापेक्षया श्रुताऽनिबद्ध-प्रज्ञापनीयभावानामनन्तगुणाधिक्यसिद्धौ तेषां कोशादिनियन्त्रितसङ्केताऽविषयत्वसिद्ध्या तत्र गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रित-सङ्केतकपदशक्यतावच्छेदकधर्मविरहेणाऽव्याप्तिरिति न पञ्चमोऽपि विकल्पः स्थेमानमाधत्ते । इत्थं विकल्पपञ्चतयीसंतापितोऽभिलाष्यत्वपदार्थो विषयपञ्चतयीसन्नासितो जीव इव ब्रुडत एवेति ननुवाद्यभिप्रायः ।

उपर्युक्त धर्म घट में नहीं है । अतएव घट में पटपद की अपेक्षा अभिलाष्यत्व = वाच्यत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि घट अर्थ में कोश आदि के द्वारा घटपद का ही संकेत नियन्त्रित होता है, न कि पटपद का भी' ←

श्रुता. इति । तो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि फिर भी अव्याप्ति दोष का परिहार नहीं हो सकता है । देखिये, प्रज्ञापनीय = अभिलाष्य भाव भी जैन सिद्धान्त के अनुसार द्विविध होते हैं, श्रुतनिबद्ध और श्रुतअनिबद्ध । श्रुत = आगम में अनिबद्ध = अग्रथित अभिलाष्य = प्रज्ञापनीय भावों में कोश आदि से नियन्त्रित संकेत का ग्रहण ही नामुमकिन होने से कोशादि से नियन्त्रित अर्थविशेषनिरूपित ज्ञात संकेत वाले पद की वाच्यता का अवच्छेदक धर्म भी उनमें रह सकता नहीं है । अतः प्रज्ञापनीय श्रुताऽनिबद्ध भावों में उपर्युक्त अभिलाष्यत्व नहीं रहने से अव्याप्ति दोष आयेगा । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि → "जो भाव प्रज्ञापनीय = अभिलाष्य होने पर भी श्रुत में उल्लेखित न हो सके यह बात असंभव होने से श्रुताऽनिबद्ध प्रज्ञापनीय भाव असिद्ध है, तब उनमें अभिलाष्यत्व की अव्याप्ति का उद्भावन कैसे किया जा सकता है ?" ← क्योंकि श्रुत में अनिबद्ध प्रज्ञापनीय भावों का प्रतिपादन आगम में ही किया गया है । यह रहा बृहत्कल्पवृत्ति का वचन - 'पञ्चवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुअनिबद्धो' । इसका अर्थ है - प्रज्ञापनीय भाव का अनन्तवा भाग श्रुत में निबद्ध = दर्शित है । इससे अर्थतः फलित होता है कि श्रुतनिबद्ध प्रज्ञापनीय भाव की भाँति श्रुतअनिबद्ध प्रज्ञापनीय भाव भी होते हैं, जो श्रुत-निबद्ध प्रज्ञापनीय भाव से अनन्तगुण होते हैं । श्रुत = आगम में भी जिन प्रज्ञापनीय भावों का उल्लेख नहीं किया गया है या किया नहीं जा सकता है, उनमें कोश आदि से नियन्त्रित संकेत की विषयता ही कैसे हो सकती है ? और वह नामुमकिन होने पर तादृशपदवाच्यतावच्छेदक धर्म भी उनमें कैसे संभवित हो सके ? अतः श्रुताऽनिबद्ध प्रज्ञापनीय भावों में उपदर्शित अभिलाष्यत्व के लक्षण की अव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रहेगी । इस तरह अभिलाष्यत्व धर्म का सम्यक् निर्वचन = व्याख्यान नहीं किया जा सकता है, तब एक धर्मी में अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व के अविरोध का निरूपण

अत्र वदीते - तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, श्रुतज्ञानेन तन्निश्चितमतिज्ञानेन वा तत्तद्रूपेण तत्तदर्थान् प्रतिपादयत्पदं हि तत्तदर्थपरिणामभाग् भवति, अन्यथा प्रवृत्त्यादिप्रतिनियमानुपपत्तेः ।

एतेन 'विकल्पयोनयः शब्दाः, विकल्पाः शब्दयोनयः । कल्पयोनयः तेषां, तार्थ

ॐ गयलता ॐ

प्रकरणकारः समाधानग्रन्थमाविष्करोति - अत्र वदन्तीति । स्याद्वादिन इति शेषः । तत्तदर्थेति । तत्तदर्थस्वरूपो यः परिणामविशेषः तेन परिणतं = कथञ्चिदर्थतादात्म्यापन्नं यत्पदं तन्निष्ठशक्ततानिरूपितशक्यताया अवच्छेदकीभूतधर्मवत्त्वं तत् = अनभिलाष्यभावव्यावृत्तमभिलाष्यत्वम् । तदेव समर्थयति श्रुतज्ञानेनेति । श्रुताऽनिबद्धानां प्रज्ञाणीयभावानां सङ्ग्रहार्थमाह तन्निश्चितमतिज्ञानेन = श्रुतज्ञाननिश्चितमतिज्ञानेन वा तत्तद्रूपेण = तत्तद्विवक्षितधर्मेण तत्तदर्थान् = जिज्ञापयिषितान् अर्थ-विशेषान् प्रतिपादयत् पदं हि तत्तदर्थपरिणामभाग् = विवक्षितार्थपरिणामविशेषशालि भवति । श्रुतज्ञान-श्रुतनिश्चितमति-ज्ञानान्यतरकरणक-विवक्षितधर्मप्रकारक-विवक्षितार्थविशेष्यकशब्दबोधं जनयत्पदं कथञ्चिदर्थतादात्म्यशालि भवतीत्यर्थः । विपश्चेदण्डमाह - अन्यथेति । निरुक्तशब्दबोधजनकशब्दे कथञ्चिदर्थतादात्म्याऽनभ्युपगम इत्यर्थः । प्रवृत्त्यादिप्रतिनियमानुपपत्तेः = 'घटमानय' इतिवाक्येन घटस्यैवानयनं न तु पटादेरिति नियमाऽव्यवहारात् । अयं भावः 'घटपदं कम्बुग्रीवादिमति शक्तिमि'ति सङ्केतग्रहात्मकश्रुतज्ञानवान् पुरुषः 'घटमानये'तिवाक्यश्रवणात् घटमेवानयति न तु पटादिकमिति प्रवृत्तिनियमोपलम्भेन ज्ञायते यत् घटपदश्रवणात् तस्य घटज्ञानमेव जातं न तु पटादिगोचरं ज्ञानम् । परं घटपदं कथं घटमेव बोधयति न तु पटादिकमपि ? इति भीमांसायां सत्यां इदमेव प्रतिभाति यदुत घटपदं कथञ्चिदर्थतादात्म्यशालि न तु पटाद्यर्थतादात्म्यतापन्नम् । न च पदशक्त्या एव तन्निश्चितमतिप्रतिनियमोपपत्तिरिति वाच्यम्, तस्य अतिरिक्तत्वे गौरवात् । न च तस्याः शब्दस्वरूपत्वमेवेति वक्तव्यम्, तथापि शब्दार्थयोः सर्वथा भेदे घटपदेन घटार्थस्यैव भानं न तु पटादेरित्यस्याऽनुपपत्तितादवस्थ्यात् । ततश्च तत्तदर्थपरिणति-विशेषापेक्षया शब्दार्थयोस्तादात्म्यमकामेनापि स्वीकर्तव्यमेव । ततश्च घटार्थपरिणतिविशेषपरिणतघटपदशक्यतावच्छेदकीभूतघटत्वस्य घट एव सत्त्वात्, तस्यैव घटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वम् । पटार्थपरिणतिविशेषपरिणतपटपदवाच्यतावच्छेदकपटत्वधर्मशून्यत्वात्पट-पदापेक्षया घटस्याऽनभिलाष्यत्वमेव । एतेन व्यतिकरादिदोषवृन्दमप्यपास्तम् । शब्दाऽप्रामाण्यवादिबौद्धमतं निराकर्तुमुपक्रमते - एतेनेति । शब्दार्थयोः कथञ्चित्तादात्म्येनेति । अस्य निरस्तमित्यनेनाऽन्वयः । विकल्पयोनयः = कल्पनाजनकाः शब्दाः, विकल्पाः = कल्पनाः शब्दयोनयः = शब्दनिमित्ताः वक्तुर्मनसि यो विकल्पः घटाद्याकारो जायते तेन स घटादिशब्दं

कल्पना तो बहुत दूर की बात है ।

उत्तरपक्ष :- अत्र वद. इति । अभिलाष्यत्व भले ही उपर्युक्त स्वरूप न हो, मगर फिर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि तत् तत् अर्थस्वरूप परिणाम में परिणत पद की बोध्यता के अवच्छेदक धर्मवत्त्व को ही हम अभिलाष्यत्व कहते हैं । जैसे घट पद का प्रयोग किया जाय, तब घटपद घटपदार्थ के परिणाम से परिणत होता है । अतएव लोगों को घटपद से घट अर्थ का भान होता है, न कि पटादि अर्थ का । श्रुतज्ञान या श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के सहकार से शब्द तत् तत् धर्म से तत् तत् अर्थविशेष का प्रतिपादन करता हुआ शब्द तत् तत् अर्थविशेष के परिणाम को धारण करता है । यदि घटशब्द को घट अर्थ के परिणाम से परिणत न माना जाय तब तो घटशब्द को सुन कर घट में ही प्रवृत्ति होती है, न कि पट, मट आदि में - यह नियत प्रवृत्ति अनुपपन्न बन जायेगी । 'घटमानय' = 'तुम घट ले आओ' इस वाक्य को सुन कर कोई पट आदि को लाने की प्रवृत्ति नहीं करता है । इसीसे फलित होता है कि घटप्रतिपादक घटशब्द घट अर्थ के परिणाम से परिणत होता है, न कि पटादि अर्थ के परिणाम से । तादृश पद की वाच्यता का अवच्छेदक धर्म घटत्व है और वह घटमात्र में, चाहे उसमें घटपद का किसीने प्रयोग किया हो या न किया हो, रहने से सभी घट में घटपद की अपेक्षा अभिलाष्यत्व अबाधित है । अतः अव्याप्ति का अवकाश नहीं है ।

॥ शब्द और अर्थ में कथंचित् भेदाऽभेद - स्याद्वादी ॥

एतेन. इति । बौद्ध मनीषियों का यह मत है कि -> 'कल्पना से शब्द उत्पन्न होते हैं और कल्पनाएं भी शब्द से उत्पन्न होती हैं । मतलब कि सामने घट न होने पर भी वक्ता को घटशब्द का उच्चारण करने की इच्छा होने की वजह

शब्दाः स्पृशन्त्यपि' ॥ () इति निरस्तम्, कथञ्चित्तादात्म्येनैव शब्देनार्थप्रतिपादनात् । तदुक्तं परमर्षिभिः "सुरअग्निमोअगुच्चारणंमि, जम्हा उ वयणसवणाणं । णवि छेओ णवि दाहो ण पूरणं तेण भिण्णं तु ॥ जम्हा य मोअगुच्चारणमि, तत्थेव पच्चओ होइ । ण य होइ स अण्णत्थो, तेण अभिण्णं तदत्थाओ ॥ (बृहत्कल्पभाष्य)ति । न चैवमेकस्मादपि

✽ गत्यलता ✽

प्रयुक्ते । निर्विकल्पमनसः शब्दाऽप्रयोक्तृत्वमेवेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विकल्पस्य शब्दकारणत्वं सिद्धम् । वक्तृविकल्पजन्यघटादि-शब्दश्रवणेन श्रोतुः घटाकारो विकल्पो जायते तदश्रवणे तु नेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दस्य विकल्पकारणत्वं सिद्धमिति कार्यकारणता = कार्यकारणभावः; तेषां = विकल्पशब्दानामेव परस्परं, नार्थ शब्दाः स्पृशन्त्यपि = नाऽर्थपरिणतिभाजः शब्दाः भवन्तीत्यर्थः, कल्पनाया वितथत्वात् । विसंवादिशब्दोपलम्भादपि न तस्याऽर्थतादात्म्यमिति बौद्धाभिप्रायः । तदयुक्तत्वमेव प्रकरणकृदुपदर्शयति - कथञ्चित्तादात्म्येन = कथञ्चित् अर्थस्य तादात्म्यं यस्मिन् स तथा तेन एव शब्देन अर्थप्रतिपादनात् = कथञ्चित्त्वाऽभिन्नार्थविषयकश्रोतृबोधजननात् । अन्यथा पदार्थोपस्थितिशब्दबोधप्रवृत्तिप्रतिनियमानुपपत्तेः । शब्दार्थयोर्न सर्वथा भेदोऽभेदो वा किन्तु कथञ्चिद्भेदाभेद एवेत्यत्र संवादमाह - तदुक्तं परमर्षिभिरिति । खुरेति । यदि च शब्दार्थयोः सर्वथाऽभेदः स्यात् तर्हि क्षुरशब्दस्योच्चारणेन वदनस्य तच्छ्रवणेन कर्णस्य च छेदः स्याताम्, एवमग्निशब्दस्योच्चारणेन वदनस्य तच्छ्रवणेन श्रवणस्य च दाहः प्रसज्येताम् तथा मोदकपदोक्त्या वदनस्य तच्छ्रवणेन श्रोत्रस्य च पूरणं भवेताम् । न चैवमिति शब्दार्थयोर्भेदः न तु सर्वथाऽभेदः । तर्हि तयोः सर्वथा भेद एवाऽस्त्वित्याशङ्क्यामाह - जम्हा य इत्यादि । यदि शब्दार्थयोः सर्वथा भेद एव स्यात् तर्हि मोदकशब्दोच्चारणे मोदक इव घटादावपि विषयतासम्बन्धेन बोध उपजायेत । न च भवति स = मोदकशब्दजन्यशब्दबोधः अन्यार्थः = घटादिगोचरः तेन कारणेन मोदकपदं अभिन्नं = कथञ्चिदभिन्नं तदर्थान्त् = स्वार्थतः । अतः शब्दार्थयोः भेदानुविद्धाभेद एवेति श्लोकद्वयार्थः सङ्क्षेपतः ।

न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । एवं = शब्दार्थयोः कथञ्चित्तादात्म्याऽङ्गीकारे एकस्मादपि पदात् = पटादि-

वह घट शब्द को बोलता है और श्रोता को वक्तृकल्पनाजन्य घट शब्द से घटाकारवाली कल्पना उत्पन्न होती है । इस तरह कल्पना और शब्द के बीच ही कार्य-कारणभाव है, मगर शब्द का वास्तव में अर्थ के साथ कोई संबंध नहीं होता है । शब्द तनिक भी वास्तविक अर्थ का स्पर्श नहीं करता है, केवल काल्पनिक अर्थ से ही उसका सम्बन्ध है' <- मगर अभी हम त्यादादियों ने जो बताया कि 'शब्द अर्थपरिणाम से परिणत हो कर ही अर्थ का प्रतिपादन करता है' इससे ही यह बौद्धमत निरस्त हो जाता है । वास्तव में शब्द अर्थ के परिणाम से कथञ्चित् परिणत हो कर यानी कथञ्चित् अर्थ से अभिन्न हो कर ही अर्थ का भान कराता है, अन्यथा घटपद से ताजमहल का भी बोध होने लगेगा । मगर ऐसा नहीं होता है । इसलिए शब्द को अर्थ से कथञ्चित् अभिन्न मानना आवश्यक है, भले वह सर्वथा अर्थ से अभिन्न न हो । पूर्वाचार्यों ने भी कहा है कि -> शब्द सर्वथा अर्थ से अभिन्न हो तो तलवारशब्द का उच्चारण करने पर जिह्वा का छेद हो जायेगा, 'आग' ऐसा बोलने पर ही जीभ जल जायेगी और 'लड्डू' बोलने पर ही मुँह लड्डू से भर जायेगा, क्योंकि शब्द और अर्थ में सर्वथा अभेद पक्ष का अभी विचार चल रहा है । लक्ष्मी शब्द को बोलने पर भी लक्ष्मी की वर्षा नहीं होती है । इसलिए शब्द और अर्थ में कथञ्चित् भेद है, यह सिद्ध होता है । मगर शब्द और अर्थ में सर्वथा भेद भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि लड्डू शब्द का उच्चारण करने पर लड्डू का ही भान होता है, न कि दिल्ली का । विवक्षित शब्द से अर्थविशेष का ही भान होता है - इसीसे सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में कथञ्चित् अभेद भी होता है । इसलिए शब्द और अर्थ में न तो सर्वथा भेद है और न तो सर्वथा अभेद, किन्तु कथञ्चित् भेदाऽभेद है - यह सिद्ध होता है ।

✽ कथञ्चेत् अर्थपरिणत शब्द संकेतज्ञानलहकारे ते बोधजनक है - त्यादादी ✽

न च । इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि -> 'सर्व शब्द सभी अर्थ के वाचक = प्रतिपादक होने पर तो एक पद से ही सर्व अर्थ में प्रवृत्ति होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि एक ही पद का सभी अर्थ के साथ तादात्म्य मानते

१. क्षुराग्निमोदकोच्चारणे यस्मात्तु वदनश्रवणानां । नापि छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु ॥

यस्माच्च मोदकोच्चारणे तत्रैव प्रत्ययो भवति । न च भवति स अन्यार्थः तन्नाऽभिन्नं तदर्थान्त् ॥

पदात् सर्वत्र प्रवृत्तिः स्यात्, सर्ववाचकस्य सर्वतादात्म्यादिति वाच्यम् यत्रैव हि यत्पदस्य सङ्केतो गृह्यते तत्रैव तत्तादात्म्यपरिणतिरिति नियमात् । न च तत्तत्सङ्केतग्रहस्य तत्तदर्थ-
बोधं प्रत्येव हेतुताऽस्तु किं तत्तादात्म्यपरिणतिहेतुताकल्पनेनेति वाच्यम्, शब्दाननुविद्ध-
स्याऽर्थस्याऽभावादित्यन्यत्र विस्तरः ।

ॐ नयतता ॐ

पदात् सर्वत्र घटादौ प्रवृत्तिः स्यात् 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचका' इति नये सर्ववाचकस्य = सर्वार्थप्रतिपादकस्य पटादिपदस्य सर्वतादात्म्यात् = स्यात्सर्वार्थाभिन्नत्वात् । प्रवृत्तिश्चोपलक्षणं शाब्दबोधोत्पत्तेः । ततश्च प्रतिनियतशब्दात् प्रतिनियतार्थोपस्थिति-
शाब्दबोधप्रवृत्तिप्रभृतयो विशीर्यन् । अतः तयोर्भेद एव युक्त इति शङ्काशयः । तत्समाधानमाह - यत्रैव हि अर्थे यत्पदस्य सङ्केतो गृह्यते = ज्ञायते तत्रैव अर्थे तत्तादात्म्यपरिणतिः = तत्पदतादात्म्यपरिणाम इति नियमात् स्याद्वादिभिः । पटपदस्य पट एव शक्तिग्रहात् पटार्थेन सह तादात्म्यं न घटाद्यर्थेन साकमिति न पटपदात् सर्वत्र शाब्दबोधादिप्रसङ्गः । यदि 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचका' इति नयानुरोधात् पटपदस्य घटे सङ्केतो गृह्यते तदा घटार्थेन सह पटपदस्य कथञ्चित्तादात्म्यपरिणामाद् घटगोचरशाब्दबोधादिकमभिमतमेव । न चैवं चैत्रेण पटपदस्य घटे सङ्केतग्रहे मैत्रस्य पटपदाद् घटे प्रवृत्त्यादिप्रसङ्गः, पट-
पदस्य घटार्थतादात्म्यपरिणत्यङ्गीकारादिति वाच्यम्, तत्र सङ्केताङ्गरेण सामग्रीविरहादेव पटपदेन मैत्रस्य घटगोचरशाब्द-
बोधादेरनापाद्यत्वात् । न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽन्वीयते । तत्तत्सङ्केतग्रहस्य = विवक्षितशब्दस्य विवक्षितार्थे सङ्केतग्रहस्य एव तत्तदर्थबोधं = विवक्षितार्थगोचरशाब्दबोधं प्रति, एवकारो भिन्नक्रमः स च योजित एव, हेतुताऽस्तु अवश्यकल्पितत्वात्, किं तत्तादात्म्यपरिणतिहेतुताकल्पनेन = शब्दार्थतादात्म्यपरिणामस्य कारणत्वकल्पनया सूतम्, अन्यथासिद्धत्वात् ।

समाधत्ते - शब्दाननुविद्धस्य = शब्दविनिर्मुक्तस्य अर्थस्य शाब्दबोधे अभानात् । प्रयोगस्त्वेवम् - सर्वे भावाः शब्दमयाः तदाकारानुस्यूतत्वात् । ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मयाः यथा घटशरायोदञ्चनादयो मृदकारानुस्यूता मृण्मयाः । न चैवमपि शब्दार्थतादात्म्यमसिद्धमिति वाच्यम्, शब्दान्न कथञ्चिद्व्यतिरिच्यतेऽर्थः तत्प्रतीतावेव प्रतीयमानत्वात् । यत्प्रतीतावेव यत्प्रतीयते न तत्ततो व्यतिरिच्यते, यथा शब्दस्य स्वरूपम् । शब्दप्रतीतावेव प्रतीयते चार्थः । तस्मात्तथा । तदुक्तं भर्तृहरिणा वाक्यपदीये -> 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुबद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वायूपता चेद् व्युत्क्रामेत् अवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ (वा.प.का.१/१२३-१२४) न चैवं शब्दा-
द्वैतमतप्रवेशप्रसङ्गात्त्रेदमभिधानं स्याद्वादिनां युक्तमिति वाच्यम्, अभिनिविष्टनयाभिप्रायखण्डनेऽपरनयाश्रयणस्यापि शास्त्रार्थत्वात् । न च तथापि सिद्धान्तविरोध इति वाच्यम्, सिद्धान्तेऽपि शब्दार्थयोः कथञ्चित्तादात्म्यस्याभिमतत्वात् । इदमेवाभिप्रेत्य विशेषा-
वश्यकभाष्येऽपि 'जेषु अनाणसु तओ न नज्जण, नज्जण य नाणसु । किह तस्स ते न धम्मा वडस्स रुवाइधम्म व्व' ॥ (वि.आ.भा.श्लो.४८५) इत्युक्तं सङ्गच्छते इति दिक् ।

उपसंहरति - इत्थञ्चेति । श्रुतज्ञानेन तन्निश्चितमतिज्ञानेन वा तत्तद्रूपेण तत्तदर्थान् प्रतिपादयत् सत् तत्तदर्थपरिणाम-

हैं' <- मगर यह शंका इसलिए निराधार है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत गृहीत = ज्ञात होता है उसी अर्थ का तादात्म्य उस शब्द में होता है । घटपद का संकेत घट अर्थ में गृहीत होने से घटपद में कथंचित् घटतादात्म्य होता है । इसलिए उससे सभी अर्थ के बोध की या सभी अर्थ में प्रवृत्ति होने की आपत्ति नहीं आयेगी । यहाँ यह शंका करना कि -> तत् तत् अर्थ के बोध के प्रति तत् तत् में संकेतज्ञान को ही कारण मानना चाहिए, क्योंकि संकेतज्ञान के बिना किसी शब्द से अर्थबोध नहीं होता है । मगर अर्थबोध के प्रति शब्द-अर्थ के कथंचित् तादात्म्यपरिणाम को हेतु मानना आवश्यक नहीं है । शब्द-अर्थ में तादात्म्यपरिणाम नहीं होने पर भी शब्द से नियत अर्थ का शाब्दबोध संकेतज्ञान के सहकार से हो तो क्या दोष है ?' <- भी निराधार है, क्योंकि शब्द से अननुविद्ध = विनिर्मुक्त अर्थ का कभी भी भान नहीं होता है । घटशब्द कथंचित् घटाभिन्न नहीं होने पर घट अर्थ के ज्ञान के साथ घटशब्द का भी अवश्य भान नहीं होना चाहिए, अन्यथा पटादि शब्द का भी भान होना चाहिए । मगर घट अर्थ के साथ घटशब्द का ही अवश्य भान होता है । इसके अनुरोध से अर्थ में कथंचित् शब्दतादात्म्य मानना ही चाहिए । इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन अन्यत्र द्रष्टव्य है - ऐसा कह कर शब्द और अर्थ में कथंचित् तादात्म्य के विषय को प्रकरणकार तिलांजलि देते हैं ।

ॐ केवली श्रुतविषयभूत अर्थ के ही प्रतिपादक है ॐ

इत्थञ्चानभिलाष्यानामनभिलाष्यत्वेनाऽनभिलाष्यपदप्रतिपाद्यत्वेऽपि नाभिलाष्यत्वं, प्रातिस्विकरूपेण पदाऽप्रतिपाद्यत्वात् । तत्तदर्थपरिणततत्पदप्रयोक्तृत्वं च पुरुषः तत्तदर्थप्रतिपादकत्वेन व्यवहियते । अत एव न भगवतां तत्तत्पदप्रयोक्तृणामपि श्रुतज्ञानाविषयीभूतार्थ-

❀ जयलता ❀

परिणतं यत्पदं तद्वोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्याऽभिलाष्यत्वसिद्धौ च, अनभिलाष्यानां भावानां अनभिलाष्यत्वेन रूपेण अनभिलाष्यपदप्रतिपाद्यत्वे = अभिलाष्यपदवोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वे अपि नाभिलाष्यत्वं प्रसक्तं, प्रातिस्विकरूपेण पदाऽप्रतिपाद्यत्वादिति ।

अत्रेदं विचार्यते - प्रातिस्विकरूपपदेनाऽत्र किमभिमतम् ? विशेषधर्मस्य प्रातिस्विकरूपपदार्थत्वं नाहति, घटत्वादिरूपेण घटादिपदवाच्यस्य घटादेरनभिलाष्यत्वापत्तेः, नीलघटत्वाद्यपेक्षया घटत्वादेः सामान्यधर्मत्वात् । न च घटत्वादेः द्रव्यत्वापेक्षया विशेषधर्मत्वाऽव्याहतेर्न दोष इति वक्तव्यम्, तथा सत्यनभिलाष्यत्वस्यापि भावत्वापेक्षया विशेषधर्मत्वेनाऽनभिलाष्यपदादनभिलाष्यत्वेन प्रतिपाद्यानामनभिलाष्यभावानामभिलाष्यत्वापत्तेः । किन्त्वनभिलाष्यत्वातिरिक्तधर्मपरं प्रातिस्विकरूपपदमत्र बोध्यम् । एतेनातिप्रसङ्गाऽप्रसङ्गादयो दोषा निरस्ताः । न चैवमपि श्रुताऽनिबद्धेषु प्रज्ञापनीयेषु भावेष्वव्याप्तेर्दुर्वारत्वमिति वाच्यम्, श्रुताऽनिबद्धत्वेऽपि तेषां शब्देन प्रतिपादयितुं शक्यत्वात् । तदुक्तं श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिभिः -> 'अभिलाष्यं वस्तु सर्वमक्षरेणोच्यते । अतस्तदभिधानशक्तिरूपाः सर्वेऽपि तस्याभिलाष्याः प्रज्ञापनीयाः स्वपर्याया उच्यन्ते । शेषास्तदनभिलाष्याः परपर्यायाः' <- (वि.आ.भा.म.री.श्लो.४८७) इति । युक्तञ्चेत्तत्, तेषां शब्दाऽवाच्यत्वेऽनभिलाष्यत्वापत्तेः । तदुक्तं बृहत्कल्पवृत्तौ -> 'यावतः पदार्थान् केवली भाषते तावत एव श्रुतकेवल्यपि । ये तु श्रुतज्ञानस्याऽविषयीभूता भावाः केवलिनोऽवगम्यन्ते तेषामप्रज्ञापनीयतया केवलिनोऽपि वक्तुमशक्यत्वादि' <- (बृ.क.भा.श्लो.९६३) इति । यत्तत्पदाभ्यां श्रुताविषयत्वाऽप्रज्ञापनीयत्वयोर्व्याप्यव्यापकभास्यैवाऽत्र दर्शितत्वात् । न च तेषां शब्दविषयत्वेऽपि कथं श्रुताऽनिबद्धत्वमित्याशङ्कनीयम्, तेषां बहुत्वादायुषोऽल्पत्वाच्च तेषां शब्दविषयत्वेऽपि श्रुताऽनिबद्धत्वापत्तेः । तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये 'तीरन्ति न वीचुं जे सुओवलद्धा बहुत्तभावाओ । सेसोयलद्धभावा साभन्यबहुत्तओऽभिहिया' ॥ (वि.आ.भा.गा.१३९) इति । श्रुताविषयाऽतिरिक्तज्ञानचतुष्कविषयाणामेवाऽनभिलाष्यत्वं तथास्वाभाव्यादित्युत्तरार्द्धाभिप्रायः । श्रुताऽनिबद्धानां प्रज्ञापनीयभावानां शब्दाऽवाच्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदवोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वलक्षणमभिलाष्यत्वं कथं तेषु सम्भवेत् ? न च 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति नयानुरोधात् तेषामभिलाष्यत्वाऽव्याहतिरिति वाच्यम्, एवं सति घटस्य घटपदापेक्षयाऽव्यभिलाष्यत्वप्रसङ्गात् । तन्निवारणकृते सङ्केते नियन्त्रितत्वविशेषणस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

किञ्च प्रज्ञापनीयानां सर्वेषामेव श्रुतनिबद्धत्वे चतुर्दशपूर्वधराणां परस्परं षट्स्थानपतितत्वमपि विशीर्येत । तदुक्तं बृहत्कल्पवृत्तौ -> 'यदि हि सर्व एव प्रज्ञापनीया भावाः श्रुते निबद्धा भवेयुस्तर्हि चतुर्दशपूर्विणोऽपि परस्परं तुल्या एव भवेयुर्न षट्स्थानपतिताः' <- (बृ.क.भा.गा.९६५) इति । न च श्रुतकेवलिनोऽसूत्रतः परस्परं तुल्यत्वमेव, षट्स्थानपतितत्वं तु तेषामेकस्मादपि सूत्रादनन्ताद्यर्थगोचरमतिज्ञानविशेषापेक्षयैवेति श्रुतनिबद्धानामेव भावानां प्रज्ञापनीयत्वमङ्गीकार्यमित्यारेकणीयम्, तेषां मतिविशेषाणामपि श्रुते एवाऽन्तर्भूतत्वात् । तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये -> 'अखरलंभेण समा, ऊणहिया हुंति मइविसेसेहिं । ते पुण मइविसेसे सुयनाणभंतरे जाण ॥' <- (वि.आ.भा.गा.१४३) । ततश्च गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रित-

इत्थं. इति । यहाँ तक के विचारविमर्श से यह फलित हुआ कि तत् तत् अर्थस्वरूपपरिणाम से परिणत शब्द की वाच्यता के अवच्छेदक धर्म का होना ही अभिलाष्यत्व है, जो अनभिलाष्य भावों में नहीं होने से उनमें अनभिलाष्यत्व है । यद्यपि अनभिलाष्य शब्द से अनभिलाष्य भावों का भी प्रतिपादन होता है, फिर भी उनमें प्रदर्शित अभिलाष्यत्व की आपत्ति नहीं है; क्योंकि अनभिलाष्य भाव प्रातिस्विक विशेषरूप से किसी भी शब्द से प्रतिपाद्य नहीं है । जैसे घट, पट, मट आदि सभी द्रव्य होने पर भी घटत्व आदि प्रातिस्विक = विशेषरूप से घट, पट, मट आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपाद्य होने से वे अभिलाष्य भाव कहे जाते हैं । मगर अनभिलाष्य भाव का प्रातिस्विक रूप से निरूपण नहीं होने से उनमें घटादि की भाँति अभिलाष्यत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती । अतः वे अनभिलाष्य ही कहे जायेंगे । तत् तत् अर्थ में परिणत तत् तत् पद का प्रयोग करने वाला पुरुष ही तत् तत् अर्थ का प्रतिपादक कहा जाता है । इसीलिए केवली भगवान भी श्रुत ज्ञान के विषय न होने वाले अर्थ के प्रतिपादक नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि अनभिलाष्य भावों में संकेत नामुमकिन होने से शब्द से उनके प्रातिस्विक

प्रतिपादकत्वम् ।

इदमेवाऽभिप्रेत्याऽभ्यधायी 'केवलविज्ञेयत्वे सुअण्णणेणं जिणो पयासेइ । सुअण्णकेवली वि हू तेणेवत्थे पयासेइ ॥ (बृ.क.भा.९६६)ति । श्रुतज्ञानेन = वाग्योगेनेत्यर्थः, अन्यथा

✽ मयतता ✽

सङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमभिलाष्यत्वमित्यपि सङ्गच्छत एव । न चैतत्प्रकरणकाराभिप्रायविरुद्धमित्याशङ्कनीयम्; लघुस्याद्वादरहस्ये → 'गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तत्त्वात् । घटे हि घटपदस्यैव कोशादिना सङ्केतो नियम्यते न तु पटपदस्येति नातिप्रसङ्गः । अत एव श्रुतज्ञानाविषयीभूतानामर्थानां प्रातिस्विकरूपेण सङ्केत-ग्रहाऽसम्भवादनभिलाष्यत्वमिति ← (ल.स्या.रह. पृ.११) निरूपितत्वात् । प्रातिस्विकरूपेणेति अनभिलाष्यत्वव्यतिरिक्त-धर्मेणेत्यर्थः । तेन नाऽनभिलाष्यानामभिलाष्यत्वप्रसङ्गः । न चैवमन्योन्याश्रयः दुर्वारः अभिलाष्यत्वलक्षणेऽभिलाष्यत्वाभावात्म-कानभिलाष्यत्वव्यतिरिक्तधर्मनिवेशादिति वक्तव्यम्, गोत्वाश्रित्ययोरिवाऽभिलाष्यत्वाऽनभिलाष्यत्वयोः स्वतन्त्रधर्मत्वात् । घट-तदभावयोरिवाभिलाष्यत्व-तदभावात्मकत्वं तु तयोर्न युक्तम्, 'अनभिलाष्यत्वं स्वतन्त्रधर्मः अभिलाष्यत्वं तु तदभावरूपमिति'त्यत्र विनिगमकाभावात् । 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इतिनयानुरोधेन घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वप्राप्तौ तन्निरासार्थं नियन्त्रितपदनिवेश इति तु पूर्वमुक्तमेव । तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्याऽभिलाष्यत्वे तु 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इतिनयानु-रोधेन घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वं तु लघुस्याद्वादरहस्ये व्यक्तमेव । न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्, तथा सत्यनभिलाष्यभावानामपि पटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वापत्तेर्दुर्वारत्वादिति विभावनीयं समाकलितागमरहस्यैः ।

इदमेव = भगवतां श्रुताऽविषयीभूतार्थाऽप्रतिपादकत्वमेव, अभिप्रेत्य = संप्रधार्य अभ्यधायीति । बृहत्कल्पभाष्ये इति शेषः । केवल इत्यादि । श्रीक्षेमकीर्त्याचार्यसन्दृब्धव्याख्यैवम् → 'केवलेन विज्ञेया येऽर्थास्तान् यावत् श्रुतज्ञानेन जिनः केवली प्रकाशयति । इह च केवलिनः सम्बन्धी वाग्योग एव श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् कारणे कार्योपचारात् श्रुतज्ञान-मुच्यते, न पुनस्तस्य भगवतः किमप्यपरं केवलज्ञानव्यतिरिक्तं श्रुतज्ञानं विद्यते, 'नद्वम्मि उ छाउमत्थिए नाणं' (आ.वि. गा.५३९) इति वचनात् । श्रुतज्ञानकेवल्यपि तानेव = तावतः तेनैव = श्रुतज्ञानेन अर्थान् = जीवादीन् प्रकाशयति । अतः श्रुतकेवलि-केवलिनौ द्वावपि प्रज्ञापनया तुल्यौ इति स्थितम् ← (बृ.क.भा.गा.९६६) इति । तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये-ऽपि → 'केवलनाणेण त्थे नाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे । ते भासइ तित्थयरो वइजोग सुयं हवइ सेसं ॥ नाऊथा केवलेणं भासइ न सुण्ण जं सुयाईओ । पण्णवणिज्जे भासइ नाणभिल्लये सुयाईए ॥ तत्थवि जोग्गे भासइ नाजोग्गे गाहयाणु-विच्चीए । भणिण व जम्मि सेसं सयमूहइ भणइ तम्मनं ॥ वइजोगो तं न सुयं खओवसमियं सुयं जओ न तओ । विन्नाणं से खइयं सद्दो उण दब्बसुयमित्तं ॥ सेसं छाउमत्थाणं विन्नाणं सुधानुसारेणं । तं भावसुयं भण्णइ खओवसमिओवओगाओ ॥ भण्णंतं वा न सुयं सेसं कालं सुयं सुणेतानं । तं चैव सुयं भण्णइ कारणकज्जोवयारेण ॥ अहवा वइजोगसुयं सेसं सेसं ति जं गुण-ब्भूर्यं । भावसुयकारणाओ जम्मण्हाणं तओ सेसं ॥ वइजोगसुयं तेसिं ति केइ तेसिं ति भासमाण्णं । अहवा सुयकारणाओ वइजोगसुयं सुणेतानं ॥ (वि.आ.भा.गा.८२९/८३६) तदेव समर्थयति - श्रुतज्ञानेन = वाग्योगेनेत्यर्थः

स्वरूप को नहीं बताया जा सकता है । इसी अभिप्राय से विशेषावश्यकभाष्य एवं बृहत्कल्पभाष्य में भी कहा गया है कि → 'केवल ज्ञान से ज्ञेय अर्थों को केवलज्ञानी श्रुत ज्ञान से बताते हैं तथा श्रुतकेवली भी श्रुत ज्ञान से ही उन अर्थों की प्ररूपणा करते हैं' ← । यहाँ जो श्रुत ज्ञान शब्द का उल्लेख किया गया है, उसका अर्थ है वचनयोग । यदि ऐसा अर्थघटन न किया जाय तो केवलज्ञानी भगवन्त में श्रुत ज्ञान नामुमकिन होने से यथाश्रुत अर्थ असंगत बनता है । मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यव, इन छाद्यस्थिक ज्ञानों का नाश होने पर ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है । इसलिए केवलज्ञानी भगवान में श्रुत ज्ञान का अभाव सिद्ध होने से 'केवलज्ञानी श्रुत ज्ञान से अर्थ का निरूपण करते हैं' इसका अर्थ यही हो सकता है कि 'केवलज्ञानी वचनयोग से अर्थ की प्ररूपणा करते हैं' । यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि → 'केवलज्ञानी में जैसे क्षायिक केवल ज्ञान होता है, ठीक वैसे ही क्षायिक श्रुत ज्ञान माना जा सकता है । क्षायिक होने की वजह उसका केवलज्ञान की भाँति नाश नहीं हो सकता और वह छाद्यस्थिक = छायावस्थाकालीन ज्ञान नहीं होने से उसका विलय होने पर ही केवल ज्ञान की उत्पत्ति मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं है । इसलिए 'केवलज्ञानी भगवान श्रुतज्ञान = क्षायिक श्रुतज्ञान से अर्थ की प्ररूपणा करते हैं' ऐसा यथाश्रुत = जैसा कहा गया या सुना गया है वैसे अर्थ मानने में कोई क्षति नहीं है' ←

≡ केवली में क्षायिक श्रुतज्ञान नामुमकिन ≡

भगवतः श्रुतज्ञानाऽसम्भवाद् यथाश्रुताऽर्थानुपपत्तेः, तत्र क्षायिकश्रुतज्ञानादिसत्त्वपक्षस्याऽनभ्युपगमात्, अन्यथोपयोगद्वयमात्राभिधानविरोधात् । तथा च भगवान् सर्वमर्थं संविदानोऽपि

❀ जयलता ❀

इत्यादिना । अन्यथा = श्रुतज्ञानपदस्य वाग्योगे लक्षणाया अनङ्गीकारे, भगवतः केवलज्ञानिनः 'नद्विष्मि उ छाउमत्थिण नाणे' (आ.नि.५३९) इति वचनेन श्रुतज्ञानाऽसम्भवात् यथाश्रुतार्थानुपपत्तेः = श्रुतज्ञानपदशक्यार्थान्वयानुपपत्तेः ।

ननु सन्त्येव मतिश्रुतादिज्ञानान्यपि सयोगिकेवल्यदौ, केवलमफलत्वात् सन्त्यपि न तदानीं विवक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि । उक्तञ्च, 'अत्रे आभिणिबोहियणाणाईणि वि जिगस्स विज्जन्ति । अफलाणि सूरुदण जहेव नक्खत्तमाईणि ॥ () इति । न चार्थक्रियाकारित्वानावात्तेयामसत्त्वमाशङ्कनीयम्, मत्यादीनां स्वस्वावरणक्षयोपशमभावेऽपि अभिव्यज्यमानानां निःशेषतः स्वस्वावरणक्षये सद्भावस्य सुतरां न्याय्यत्वात्, चारित्रपरिणामदानादिलब्धिप्रभृतिवत् । अत एव श्रुतज्ञानपदलक्षणाया अन्याय्यत्वम्, तस्या जघन्यवृत्तित्वात् । उक्तञ्च 'आवरणदेसविगमे जाई विज्जन्ति मइसुयाईणि । आवरणसब्बविगमे, कह ताई न हुंति जीवस्स ? ॥ () इति । इत्थमेव केवलज्ञानविज्ञेयार्थानां श्रुतज्ञानेन प्रकाशनमायुपपद्यते, श्रुतकेवलज्ञानोभयनिरूपितविषयताश्रयाणां निरूपणोपपत्तेः, श्रुतज्ञानस्यैव मुखरत्वात् । अत एव विशेषावश्यकभाष्यवृत्तिकृतां 'मत्यवधिमनःपर्यव-केवलज्ञानविषयाणामनभिलाष्यत्वप्रतिपादनमपि सङ्गच्छते, श्रुतविषयतानाक्रान्तामेव सतां मत्यादिज्ञानविषयाणामनभिलाष्यत्वाऽभिप्रायादित्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह - तत्र = केवलज्ञानिनि, क्षायिकश्रुतज्ञानादिसत्त्वपक्षस्य सिद्धान्तगते अनभ्युपगमादिति । यथा भास्करस्याऽतिसमुन्नतधनाधनश्यामधनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्थितकटाद्यावरणप्रविष्टः प्रकाशो घटादीन् प्रकाशयति तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्याऽपान्तरालमतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमविवरविनिर्गतः प्रकाशो जीवादीन् प्रकाशयति । यथा सकलधनपटलकटाद्यावरणापगमे तथाविधः प्रकाशो भास्करस्याऽस्पष्टरूपो न भवति किन्तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणादिविलये न तथाविधो मतिज्ञानादिसंज्ञितः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति किन्तु सर्वात्मना यथावस्थितं वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एव । तदुक्तं 'कटविवरागयकिरणा मेहंतरियस्स जह दिणेसस्स । ते कडमेहावगमे न हुंति जह तह इमाईणि ॥ () इति । आवश्यकनिर्युक्तावपि 'नद्विष्मि उ छाउमत्थिण नाणे' (आ.नि.५३९) इति प्रोक्तम् । न च सामानाधिकरण्यावच्छिन्नस्वपूर्ववर्तितासम्बन्धेन केवलस्यैव स्वसमानाधिकरणगुणनाशकत्वे ज्ञानचतुष्टयवत् शमादीनामपि नाशप्रसङ्गः, स्वसमानाधिकरणज्ञानचतुष्कनाशत्वस्य केवलकार्यतावच्छेदकत्वे स्वसमानाधिकरणशमादिनाशत्वेन विनिगमनाविरहादिति वाच्यम्, केवलनि क्षायोपशमिकाणां शमादीनामनभ्युपगमात् । न च केवलनि क्षायिकशमादिवत् क्षायिकमत्यादिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, केवलज्ञानावरणस्य मत्यादिहेतुत्वेन केवलनि तदापादनाऽयोगात् । इदमेवाभिप्रेत्य तत्त्वार्थटीकायामपि → 'केवलज्ञानव्यावृत्त-ज्ञानत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नं प्रति केवलज्ञानावरणस्यैव हेतुत्वात्, केवलज्ञानत्वाच्छिन्ने च लाघवाद् ज्ञानावरणक्षयत्वेनैव हेतुत्वात्, ज्ञानावरणपञ्चकक्षयादेकं केवलज्ञानमेवोत्पद्यते न मत्यादीनि इति तैः साहित्यं न केवलज्ञानस्ये' ← (त.सू. अ.१।सू.११)ति । ज्ञानचिन्द्री अपि मन्दप्रकाशे आवरणस्य हेतुत्वं समर्थितम् । मत्यादीनां क्षायोपशमिकत्वादपि न कृत्स्नज्ञानावरणविलये उत्पत्तिः सङ्गतिमङ्गति ।

अत्रैव विवक्षत्राधिकमाह - अन्यथा = केवलज्ञानिनि क्षायिकश्रुतादिसत्त्वे, उपयोगद्वयमात्राभिधानविरोधात् = केवलज्ञानिनि केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयमेव केवल्यवस्थापेक्षया, एककाले त्वेक एव तदन्यतरलक्षण उपयोग इति सिद्धान्त-

तत्र. इति । उपर्युक्त वक्तव्य अप्रामाणिक होने का कारण यह है कि सिद्धान्त = जैनागम के अनुसार 'केवलज्ञानी में क्षायिक श्रुतज्ञान आदि होते हैं' इस मत का स्वीकार किया गया नहीं है । इसका कारण यह है कि सिद्धान्त में 'जीव को एक समय में एक ही उपयोग होता है, न कि दो उपयोग' ऐसा निरूपण किया गया है । यदि केवलज्ञानी में क्षायिक केवलज्ञान की भाँति क्षायिक श्रुत ज्ञान भी माना जाय तो एक समय में दो उपयोग की आपत्ति आवेगी । 'केवली अवस्था के दौरान भिन्न समयावच्छेदेन केवल ज्ञान और केवल दर्शन दो ही उपयोग होते हैं' इस सिद्धान्त का भी केवली में क्षायिक श्रुत ज्ञान मानने पर विरोध होगा, क्योंकि तब केवली अवस्था के बाद क्षायिक श्रुतज्ञान, केवलज्ञान और केवलदर्शन, इन तीन उपयोग के स्वीकार की आपत्ति आवेगी । इसलिए 'केवलज्ञानी भगवंत वचनयोगस्वरूप श्रुत ज्ञान से केवलज्ञानज्ञेय पदार्थ का निरूपण करते हैं' - यही अर्थघटन करना मुनासिब है । इस तरह वचनयोग से देशना देना का मतलब यही हुआ

वाग्योगस्वाभाव्यात् श्रुतज्ञानविषयीभूतमेवार्थं प्रतिपादयति नाग्यदिति प्रतिपत्तव्यम् ।

दिगम्बरस्तु - परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात् तत्र प्रयोक्तुरिच्छा, तत इष्ट-
घटादिज्ञानसाधनतया घटादिपदे तत्साधनतया च कण्ठताल्वाद्यभिघातादाविच्छा, ततः प्रवृत्त्या-
दिक्रमेण घटादिपदप्रयोगः, इत्येतादृशपरिपाद्याः केवलिनामभावात् ते शब्दप्रयोक्तारः किन्तु

❀ जयलला ❀

वचनविरोधप्रसङ्गात् । एतेन 'जुगदं दो गत्थि उवओगा' (वि.आ.भा.) इत्यादिवचनमपि व्याख्यातम्, एकत्र एककाला-
वच्छेदेनोपयोगद्वयनिषेधपरत्वात्तस्य । एतेन 'नोपयोगौ सह स्यातामित्यार्याः ख्यापयन्ति ये । दर्शनज्ञानरूपौ तौ न तु ज्ञाना-
त्मकाविति' ॥ (त.श्लो.वा.अ.१/सू.३०/श्लो.७) इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककारवचनमपि प्रत्युक्तम्, क्षायिकक्षायोपशमिक-
सम्यग्दर्शनद्वयवत् क्षायिकक्षायोपशमिकज्ञानद्वयस्य परस्परं विरुद्धत्वात्, क्षायोपशमिकधर्मसंन्यासलक्षणप्रथमसामर्थ्ययोगान्तरमेव
केवलज्ञानोत्पत्तेः, केवलज्ञान-केवलदर्शन-सम्यग्दर्शन-चारित्र-लब्धिष्वकलक्षणनवविधक्षायिकभावानामेवाऽभ्युपगमेन मतिश्रुतज्ञाना-
दीनां क्षायिकत्वाऽसम्भवात् । तदुक्तं चतुर्थकर्मग्रन्थे श्रीदेवेन्द्रसूरिभिः → 'बीण केवलजुयलं सम्मं दाणाइलद्धि पण चरणं'
(च.क.ग्र.श्लो.६५) इति दिक् ।

दिगम्बरास्त्विति । आहुरित्यनेनाऽस्यान्वयः । परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात् तत्र = परकीयघटादिज्ञाने
प्रयोक्तुः 'परो घटादिकं जानातु' इत्याकारिका इच्छा जायते । ततः = निरूपतेच्छानन्तरं इष्टघटादिज्ञानसाधनतया = स्वेष्टस्य
परकीयघटादिज्ञानस्य साधनत्वेन च ज्ञाते कण्ठताल्वाद्यभिघातादौ इच्छा सञ्जायते । ततः = स्वेष्टपरकीयघटादि-
ज्ञानसाधनीभूतकण्ठताल्वाद्यभिघातादिगोचरेच्छानन्तरं, प्रवृत्त्यादिक्रमेण = कण्ठताल्वाद्यभिघातादौ प्रयत्नः प्रवृत्तिः चेष्टा इति
रीत्या घटादिपदप्रयोगो भवति । न हि श्रोतृबोधोत्पादेच्छामृत एव प्रेक्षावान् वक्ति, तत्त्वहान्यापत्तेः । नाप्युपेयेच्छा विनैवो-
पायेच्छा प्रादुर्भवति, सर्वदा तत्प्रसक्तेः । नाप्युपायाभिलाषं विनैवेष्टसाधनगोचरप्रवृत्त्यादिकं दृष्टचरमित्येवमन्वय-व्यतिरेकाभ्यां
शब्दप्रयोगं प्रति परम्परयेच्छायाः प्रयोजकत्वं सिध्यति । ततः किं ? इत्याशङ्कायामाह - एतादृशपरिपाद्याः = इष्टसाधन-
ताज्ञानेच्छाप्रयत्नाद्यानुपूर्व्याः वीतरागत्वेन केवलिनां = केवलज्ञानिनां अभावात् न ते = वीतरागाः शब्दप्रयोक्तारः । न
हि वीतरागाणां किमपीष्टं भवति, इष्टत्वस्येच्छाविषयत्वरूपत्वेन तेषां सरागत्वप्राप्तेः । वीतरागाणां कुत इच्छा ? तस्या

किं केवलज्ञानी भगवंत केवल ज्ञान से सभी विषयों को जानते हुए भी वचनयोग के स्वभाव की वजह श्रुत ज्ञान के विषयीभूत
अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं, न कि श्रुतज्ञान के अविषयीभूत अर्थ का भी । जो विषय शब्द का अगोचर हो उसका
शब्द से निरूपण या ज्ञान कैसे हो सकता है ? नयन के अगोचर परमाणु-पिशाच-काल आदि पदार्थों का ज्ञान क्या नयन
से हो सकता है ? नहीं ही हो सकता । अतः केवली श्रुतज्ञानविषयीभूत अर्थ का ही निरूपण करते हैं - यह अवश्य
अंगीकर्तव्य है ।

❀ विज्ञप्तापरिणाम स्ते केवलिदेशना - दिगम्बरमत ❀

दिग. इति । केवलज्ञानी की देशना वचनयोग से होती है-यह श्वेताम्बर जैन मनीषियों का मत है । मगर दिगम्बर
जैन विद्वानों का यह मत है कि केवली की देशना विज्ञप्तापरिणाम से होती है । उनका अभिप्राय यह है कि वक्ता शब्द
का प्रयोग अन्य = श्रोता को बोध कराने की इच्छा से करता है, जो बोध वक्ता का इष्टसाधन हो । जैसे 'चैत्र को घटज्ञान
कराना मेरे इष्ट का साधन है' ऐसा ज्ञान देवदत्त को होने पर देवदत्त को 'चैत्र घटज्ञानवाला हो' ऐसी इच्छा उत्पन्न होती
है । बाद में 'अपने इष्ट = इच्छाविषयीभूत चैत्रीय घटज्ञान का साधन घटपद है' ऐसा ज्ञान देवदत्त को होने पर घटशब्द
के कारण कंठतालु आदि के अभिघात = ध्वनिजनकसंयोग आदि की इच्छा होती है । जब तक कंठतालु आदि में अभिघात
नहीं उत्पन्न होता है तब तक घटशब्द की उत्पत्ति नहीं होती है और जब तक घटशब्द का उच्चारण न हो तब तक चैत्र
को घटविषयक शब्दबोध नहीं हो सकता, जो देवदत्त का इष्टसाधन है । अतः कंठतालु आदि के अभिघात आदि की इच्छा
देवदत्त को होती है । बाद में कंठतालुअभिघात आदि का प्रयत्न उत्पन्न होता है, जिससे देवदत्त कंठतालु अभिघात आदि
में प्रवृत्ति करता है । बाद में घटशब्द की उत्पत्ति होती है । इस क्रम से शब्द की उत्पत्ति होती है । श्रोता को घटादिविषयक
ज्ञान कराना वक्ता को इष्ट न हो या वक्ता के इष्ट का साधन न हो, तब वक्ता घटादिशब्द का उच्चारण नहीं करता है,
अन्यथा वह वचन उन्मत्तप्रलाप बन जायेगा । मतलब कि शब्द की उत्पत्ति के लिए परंपरा से इच्छा कारण बनती है । इस

विस्मसात् एव मूर्धनो निरित्वरा ध्वनयस्तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्याऽर्थविशेषं बोधयन्ति । न चैवमुपदेशादे तस्य नियतकालीनं न स्यादिति वाच्यम्, वैश्वसिकस्यापि तस्य स्वभावतो नियतकाल एव भावाद, घनगर्जितादिवत् । उक्तञ्च -> 'ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मवदेसो य नियदिणा तेसिं । अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं' ॥ (प्र.सा. १/४४) <- इत्याहुः ।

❀ जयलता ❀

अभिष्वङ्गरूपत्वात् । तस्या विरहे कुतः प्रयत्नः । तदभावे च कुतः प्रवृत्तिः ? अतो न ते शब्दं प्रयुज्यत इति सिद्धम् । 'केवलज्ञानिनां शब्दाऽप्रयोक्तृत्वे कथं तीर्थस्थापनादिकं सम्भवेत् ? इत्याशङ्कयामाह - किन्त्विति । विस्मसात् एव = विस्मसापरिणाममाश्रित्य, एवकारेण प्रायोगिकपरिणामव्यवच्छेदः कृतः, मूर्धनः = शिरसः निःसरन्तः निरित्वराः = सातत्य-शालिनः ध्वनयः, अनेन वर्णात्मकशब्दव्यवच्छेदः कृतः, तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्यार्थविशेषं बोधयन्तीति । ततश्च केवल-ज्ञानिनः कण्ठतात्वाद्यभिघातादिद्वारा वर्णात्मकशब्दं नोत्पादयन्ति । न च वैश्वसिकध्वन्यात्मकशब्दानां वर्णात्मकशब्दत्वेन परि-णतत्वस्याऽभ्युपगमे मृदङ्गादिध्वनीनामपि वर्णत्वेन परिणामापत्तेर्नयं कल्पना युक्तेति वक्तव्यम्, तीर्थकरनामकर्मोदयेनैव ध्वनीनां वर्णत्वेन परिणतत्वाऽङ्गीकारेणाऽनतिप्रसङ्गात् । एतेन ध्वनीनां वर्णत्वेन परिणतत्वकल्पनाया अप्रामाणिकत्वमपि प्रत्युक्तम्, अन्यथा श्वेतपटस्यापि अर्धमागधीभाषात्मिकायाः तीर्थकरदेशनाया तत्तच्छ्रोतृभाषात्वेन परिणामोऽपि नैव सङ्गच्छेत । न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । एवं = भगवद्ध्वनीनां वैश्वसिकत्वेऽभ्युपगम्यमाने उपदेशादि = उपदेशस्थाननिषद्याविहारादिकं तस्य = तीर्थकरस्य नियतकालीनं न स्यात् कदाचिद्वात्री क्वचिद्दिवा द्वितीयादिप्रहरेऽपि उपदेशविहारादिकं प्रसज्येतेति शङ्का-शयः । आशाम्बरस्तत्रिसाकुर्वन्ति - वैश्वसिकस्य = विस्मसापरिणामजन्यस्य अपि तस्य उपदेशादेः स्वभावतः नियतकाल एव भावादिति । तच्छिरसोऽहर्निशं ध्वनीनां निःसरणेऽपि तत्तच्छब्दत्वेन परिणामस्तु दिनप्रथमचरमपौरुष्योरेव भवति नियति-वशादिति न तीर्थकरदेशनाया नैयत्यव्याहृतिरिति दिक्पटाभिप्रायः । उक्तार्थे संवादमावेदयन्ति - उक्तञ्चेति । प्रवचनसारे कुन्दकुन्दस्वामिनेति शेषः । ठाणेत्यादि । नियतिपदेन ज्ञानेच्छादिव्यवच्छेदः कृतः । काल इति नियतकाल इत्यर्थः । अत्र तत्त्वप्रदीपिकाकारः -> 'यथाहि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्डनागुण्डितो व्यवहारः प्रवर्तते तथाहि केवलिनानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते । अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बु-वर्षञ्च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनानां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्विका एव दृश्यन्ते । अतोऽमी स्थानादयो मोहोदय-पूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनानां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति' <- (प्र.सा. १/४४ अ.टी.पृ. ५१) इत्येवं व्याख्यातवान् ।

क्रम से केवली शब्द को उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि केवली को कोई इच्छा ही नहीं होती है । इच्छा रागस्वरूप है और केवलज्ञानी बीतराग है । इस तरह जब केवलज्ञानी को इच्छा ही नहीं होती, तब स्वेष्टसाधनताज्ञान = अपनी इच्छा के विपरीत पदार्थ की साधनता का ज्ञान आदि कैसे मुमकिन हो सकता है ? इसलिए केवलज्ञानी भगवंत शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं, किन्तु विस्मसापरिणाम से केवलज्ञानी के मस्तक में से सतत = निरित्वर ध्वनि निकलती हैं, जो तत् तत् घटादिशब्द में परिणत हो कर घटादि तत् तत् अर्थ का शाब्दबोध श्रोता को कराती हैं । यही यह शंका हो कि -> 'यदि केवलज्ञानी के सिर से विस्मसापरिणाम द्वारा ध्वनि निकलते हैं, तब तो केवलज्ञानी की देशना नियतकालीन नहीं होगी, मगर रात और दिन चलती रहेगी । मगर जैन आगम में तो कहा गया है कि तीर्थकर की देशना दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर में ही होती है । यह कैसे संगत होगा ?' <- तो इसका समाधान यह है कि वे ध्वनि विस्मसापरिणामजन्य = वैश्वसिक होने पर भी नियत काल में ही उत्पन्न होती हैं, न कि रात और दिन २४ घंटों तक । यह ठीक उसी तरह संगत हो सकता है, जैसे आकाश में बादल की गर्जना विस्मसापरिणाम से उत्पन्न होती है, फिर भी सभी ऋतु में बादलगर्जना नहीं होती है, किन्तु बारिस के दिनों में यानी वर्षाऋतु में ही उत्पन्न होती है । विस्मसापरिणाम से जन्य पदार्थ भी नियतकालीन हो सकते हैं । अतः तीर्थकर का उपदेश दिन के प्रथम और चरम प्रहर (= दिन का चतुर्थ भाग) में मुमकिन है । इस विषय में प्रवचनसार ग्रन्थ में दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि 'अरिहंत भगवान का बैठना, विहार करना, धर्मोपदेश देना इत्यादि नियति = स्वभाव से ही उचित काल में होता है । जैसे स्त्री में माया का आचार स्वभाव से होता है, न

१. स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियत्या तेषां । अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ।

तत्र, वर्णमात्रं प्रत्येव पुरुषप्रयत्नस्य कारणत्वात् तं विना तदनुत्पत्तेः । न च राग-
विशिष्टवर्णं प्रत्येव तस्य हेतुता; अनन्तप्रवृत्तिकार्यतावच्छेदककोटी रागविशिष्टत्वदाना-
पेक्षया रागविशिष्टप्रवृत्तिं प्रत्येवेच्छाया हेतुत्वकल्पने लाघवात् । न च तत्तन्मोहविशिष्टत्वा-

❀ जयलता ❀

निरुक्तदिगम्बरमतमपहस्तयितुमुपक्रमते - तत्रेति । वर्णमात्रं प्रति = वर्णत्वावच्छिन्नं प्रति, तेन नाऽनुपदवश्यमागैव-
कारपदेन सह सैनरुक्त्यं, एवकारेण रागविशिष्टवर्णत्वावच्छिन्नं प्रतीत्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । पुरुषप्रयत्नस्य = जीवप्रयत्नस्य,
तेन न स्व्यादिप्रयत्नजन्यशब्दे व्यतिरेकव्यभिचारः । यद्वा पुरुषपदं परिचायकं, कारणतावच्छेदकं तु प्रयत्नत्वमेव, लाघवात् ।
कारणत्वात् = अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वसिद्धेः, तं = प्रयत्नं विना तदनुत्पत्तेः = वर्णोत्पादाऽसम्भवात् । स्वकारणता-
वच्छेदकावच्छिन्नमृते कार्यस्य सत्त्वाऽभ्युपगमे नित्यं सत्त्वप्रसङ्गात् । ननु रागविशिष्टशब्दं प्रत्येव कृतेहेतुत्वमिति रागशून्य-
शब्दस्य प्रयत्नमृतेऽप्युत्पत्तौ दोषाभावादित्याशङ्कं निराकरोति - न चेति । अत्र बाधकमावेदयति - अनन्तप्रवृत्तिकार्यतावच्छेदक-
कोटी = अनन्तप्रयत्ननिष्ठकारणतानिरूपितायाः कार्यताया अवच्छेदकत्वशरीरे, रागविशिष्टत्वदानापेक्षया = रागविशिष्टत्वस्य
निवेशापेक्षया, रागविशिष्टप्रवृत्तिं = रागविशिष्टप्रयत्नं प्रति एव इच्छाया = रागस्य हेतुत्वकल्पने प्रयत्नकार्यतावच्छेदकदेहे
लाघवादिति । इदमुक्तं भवति - यदि प्रयत्नस्य कार्यता रागविशिष्टवर्णं इत्यङ्गीकारेण वीतरागवर्णस्य कण्ठताल्वाद्यभिधाताद्यनुकूल-
प्रयत्नं विनैवोपपादनेऽपि स्थानासन-विहार-चङ्क्रमणानप्राण-रक्तभ्रमण-हस्तादिचालनादिकं वीतरागस्य प्रयत्नं विना नैवोत्पत्तु-
मर्हति, प्रयत्नस्य तत्कारणत्वात् । तदुत्पत्त्यनुरोधेन वीतरागे प्रयत्नस्वीकारे प्रयत्नादेव वर्णोत्पादसम्भवे किं रागविशिष्टवर्णं प्रति
प्रयत्नस्य कारणतायाः कल्पनेन, गौरवात् । अथ प्रयत्नत्वावच्छिन्नस्येच्छाजन्यत्वाऽवधारणान्निरिच्छे भवति न स्थानासनाद्यनु-
रोधात्प्रयत्नः स्वीक्रियते । न च तर्हि प्रयत्नं विना कथं तदुत्पत्तिः ? अन्यत्र स्थानासनादिकं प्रति प्रयत्नस्य कारणत्वाव-
धारणेन व्यतिरेकव्यभिचारप्रसङ्गादिति वाच्यम्, वीतरागस्थानासनविहाराद्यनुरोधेन रागविशिष्टस्थानासनविहारादिकं प्रत्येव यत्नस्य
कारणत्वकल्पनादिति चेत् ? अहो ! दिक्पदस्याऽभिनिवेशः । एवं रागविशिष्टत्वस्य प्रयत्ननिष्ठकारणतानिरूपिताऽनन्तकार्य-
तायावच्छेदकशरीरे प्रवेशे मानाभावात्, व्यर्थगौरवाच्च, तदपेक्षया लाघवेन रागविशिष्टप्रयत्नं प्रत्येवेच्छायाः कारणत्वं कल्पयितु-
मर्हति । न चैवमपि तवेच्छानिरूपितकार्यतावच्छेदककोटी रागविशिष्टत्वनिवेशगौरवमव्याहृतमेवेति वाच्यम्, मयेच्छानिरूपितायाः
प्रयत्ननिष्ठाया एकस्या एव कार्यताया अवच्छेदकत्वशरीरे रागविशिष्टत्वस्य निवेशात् त्वया तु प्रयत्ननिरूपितायाः स्थानासन-
विहारचङ्क्रमणवर्णादिनिष्ठाया अनन्तायाः कार्यताया अवच्छेदकत्वकुक्षौ रागविशिष्टत्वस्य प्रवेशात्तत्र मत एव स्पष्टं गौरवम् ।
इत्थञ्च प्रयत्नकार्यतायां सङ्कोचे मानाभावेन प्रयत्नमृते वीतरागदेशनादिकं नैव भवितुमर्हतीति स्थितम् ।

ननु तिष्ठासालक्षणमोहविशिष्टस्थितिक्रियां प्रति तिष्ठासालक्षणमोहस्य कारणत्वं, जिगमिषाविशिष्टगमनक्रियां प्रति जिग-
मिषास्वरूपमोहस्य हेतुत्वं, बुभोधयिषात्मकमोहविशिष्टशब्दं प्रति बुभोधयिषालक्षणमोहस्य निमित्तत्वमित्येवमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां
कार्यकारणभावकल्पनमर्हति । ततश्च वीतमोहानां भगवतां न शब्दप्रयोक्तृत्वमित्याशाम्बराशामपाकर्तुमुपक्रमते - न चेति । अस्य
'वाच्यमि'त्यनेनान्वयः । 'तत्तन्मोहे'त्यादिकं भावितमेव । प्रकरणकारः समाधत्ते - तथापीति । बुभोधयिषा-जिगमिषा-
तिष्ठासादितत्तन्मोहविशिष्टत्वावच्छिन्नवर्णविहारस्थानासनादिकं प्रति बुभोधयिषा-जिगमिषा-तिष्ठासादितत्तन्मोहत्वेन कारणत्वा-

कि इच्छा से, ठीक वैसे ही' । अतः केवली शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं - यह फलित होता है ।

❀ दिगम्बरमतानिराकरण ❀

तत्र. इति । श्वेताम्बरशिरोमणि प्रकरणकार श्रीमद्जी उपर्युक्त दिगम्बर मान्यता के खिलाफ यह कहते हैं कि —> 'केवली
भगवंत के मस्तक में से निरित्तर ध्वनियाँ निकलती हैं....' इत्यादि दिगम्बर आम्नाय अप्रामाणिक है, क्योंकि जीवप्रयत्न
वर्णमात्र के प्रति ही कारण होता है, न कि रागविशिष्ट वर्ण के प्रति । जीव प्रयत्न करता है, तब वर्ण = शब्द उत्पन्न
होते हैं, और वर्णानुकूल प्रयत्न के विरुद्ध में शब्द उत्पन्न नहीं होते हैं । इस तरह अन्वय-व्यतिरेक से शब्दमात्र के प्रति
ही जीव का प्रयत्न कारण होता है, न कि रागविशिष्ट वर्ण के प्रति ही, क्योंकि जीवप्रयत्न को रागविशिष्ट वर्ण का कारण
मानने पर प्रवृत्ति का कार्यतावच्छेदक धर्म रागविशिष्टशब्दत्व बनने की वजह अनन्त प्रवृत्ति की कार्यता की अवच्छेदकुक्षि में
रागविशिष्टत्व का अधिक प्रवेश होता है । इसकी अपेक्षा यही मुनासिब है कि इच्छा को ही रागविशिष्ट प्रवृत्ति के प्रति प्रयत्न
के द्वारा कारण माना जाय, क्योंकि इस पक्ष में प्रवृत्ति की कार्यतावच्छेदककुक्षि में लाघव होता है । यहाँ यह कथन हो

वच्छिन्नं प्रति तत्तन्मोहत्वेन हेतुताऽस्त्विति वाच्यम्, तथापि तेषां प्रयत्नसत्त्वे शब्दप्रयोग-
स्य निरपवादत्वात् । भगवतां मोहाभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपाया इच्छाया असत्त्वेऽपि तदन-
भिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपानुजिघृक्षादिसत्त्वमविरुद्धम् । अत एव 'तो भासइ सव्वञ्जु भविय-

❀ गायलता ❀

भ्युपगमेऽपीत्यर्थः । तेषां = वीतरागाणां भगवतां प्रयत्नसत्त्वे शब्दप्रयोगस्य = मोहविशिष्टत्वशून्यशब्दप्रयोगस्य निरप-
वादत्वात् । न हि स्वकार्यतावच्छेदकधर्मानाक्रान्तस्य स्वमृते उत्पादे व्यतिरेक्यभिचारमामनन्ति विद्वांसः । मोहकार्यता-
वच्छेदकशून्यत्वेन प्रयत्नादिसामग्र्या भगवतां शब्दप्रयोक्तृत्वे बाधकाभावान्, सामग्रीसत्त्वे कार्यसन्धस्य न्याय्यत्वात् । ततश्च
मोहविशिष्टत्वविनिर्मुक्तशब्दप्रयोगो भगवतामनपाय एव । न च प्रयत्नत्वावच्छिन्नं प्रतीच्छायाः कारणत्वावधारणाद्भगवतां वीत-
रागत्वव्याहृतिः, इच्छाया रागरूपत्वादिति वाच्यम्, अनुग्रहेच्छाया वीतरागे सत्त्वे बाधकाभावात्, अभिष्वङ्गलक्षणेच्छाया एव
रागात्मकत्वात् । तदेव भावयति - भगवतां वीतरागाणां मोहाभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपाया इच्छाया असत्त्वेऽपि तदन-
भिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपानुजिघृक्षादिसत्त्वं = मोहानभिव्यक्तायाश्चैतन्यविशेषात्मिकाया अनुग्रहेच्छाया वृत्तित्वं वीतरागत्वेन
सह अविरुद्धम् । अत्रानुजिघृक्ष्यदप्रतिपाद्यो मोहानभिव्यक्तचैतन्यविशेषो 'निरुपाधिकहितपरिणति-कल्याणाशयोचितपरिणा-
माऽनुग्रहानुकूलतादिरूपो बोध्यः । तदुक्तं स्याद्वादकल्पलतायां —> 'देशनाबीजं भगवतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा न रागः,
सामायिकचिद्विवर्तरूपत्वात्' <- (स्या.क.ल.स्त.१०/१८) इति । अत एवेति अनुजिघृक्षाया वीतरागत्वाऽविरुद्धत्वादेवेत्यर्थः ।
आवश्यकनिर्युक्तिसंवादमाह- 'तो' इति । 'तव-नियम-नाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनार्णी' इति गाथापूर्वार्द्धः । स्पष्टार्थः ।
यदि सर्वज्ञो न शब्दप्रयोक्ता तदा 'भासइ' इति पदं नैव स्वरसतः = लक्षणां विना सङ्गच्छते । यदि वीतरागेऽनुजिघृक्षा
नाऽभ्युपेयते तदा 'भवियजणविबोहणद्वाण' इत्यपि नैव स्वरसतः सङ्गच्छते इति भावः । न च एवं = अनुजिघृक्षाया वीतराग-
त्वाऽविरुद्धत्वेन केवलानि तस्याः स्वीकारे, मोक्षे = सकलकर्मक्षयावस्थायां अपि देशनाद्वारा अनुजिघृक्षापत्तिः इति वाच्यम्,
जिननामकर्मोदयादिसाचिव्यात् एव तद्वृत्तेः = केवलज्ञानं देशनादिवृत्ते, स्वीकारादिति । एतेन प्रकृष्टोदासीन्यभावेन वीत-
रागस्य देशनाप्रवृत्तिरयुक्तेति निरस्तम्, औदासीन्येनैव प्रवृत्तेश्च । न हि भगवतः तिर्यङ्मरामरेषु देशनाया विशेषः । तथाप्रवृत्ति-
रप्येकान्तौदासीन्यबाधिनीति चेत् ? न, तस्याः तीर्थकरनामकर्मनिर्जरणहेतुत्वात् । तदुक्तं भगवता श्रीभद्रबाहुस्वामिना 'तं
च कहं वेइज्जइ ? अगिलाण धम्मदेसणादिहिं' (आ.नि.७४३) इति । न च तत्कर्मभावे तत्क्षयायोपायप्रवृत्तेः कृतकृत्यत्वानुपपत्ति-
रिति वाच्यम्, एकान्तेन कृतकृत्यत्वाऽनभ्युपगमात् । तदुक्तं विशेषावश्यके —> 'नेगंतेण कयत्थो जेणोदिन्नं जिणिंदनामं से ।
तदवञ्जफलं तस्य य खवणोवाओऽयमेव जओ' ॥ <- (वि.आ.भा.११०३) इति । न चान्यनिमित्ताऽपि प्रकृष्टोदासीन्यबाधिनी
प्रवृत्तिस्तदवस्थवेति वाच्यम्, स्थितिप्रवृत्त्या व्यभिचारात् । साऽप्रवृत्तस्यापि स्वरसत एवेति चेत् ? तथाविधकर्मयुक्तस्य देशना-
प्रवृत्तिरप्येवंविधेत्यदोषः । तथाप्यतीर्थकरवीतरागदेशनाप्रवृत्तिरयुक्तेति चेत् ? न, अनभ्युपगमात् । न हि सामान्यकेवलिनः तथा-
देशनायां प्रवर्तन्ते । न चोपादाननिबन्धाऽभावात्कथं भगवद्वक्तृत्वमिति वाच्यम्, भाषाद्रव्यात्मप्रयत्नयोस्तदुपादानत्वात् । अत
एव क्वचित् प्रक्रान्तवस्तुनि रागाद्यभावेऽपि सतां साक्षादेव वक्तृत्वोपलब्धेः, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । न च विवक्षामन्तरेण

कि —> 'तत् तत् रागादिस्वरूप मोह से विशिष्ट के प्रति तत् तत् रागादिस्वरूप मोह को ही कारण मानना अच्छा है,
न कि इच्छा को रागाविशिष्ट प्रवृत्ति के प्रति कारण मानना' <- तो भी केवलज्ञानी भगवन्तों का प्रयत्न, जो शब्दानुकूल
प्रवृत्ति का जनक हो, होने पर शब्द की उत्पत्ति होने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह शब्द मोहविशिष्ट नहीं होने की
वजह मोहहेतुक नहीं होने से मोह के बिना भी उत्पन्न हो सकता है । यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि —> 'शब्दानुकूल
प्रवृत्ति का जनक प्रयत्न भी इच्छाजन्य होने से निरीह वीतरागी केवलज्ञानी भगवन्त में तथाविध प्रयत्न भी नामुमकिन होगा,
क्योंकि रागात्मक इच्छा का केवली में अभाव होता है' <- । यह वक्तव्य अनुचित होने का कारण यह है कि केवलज्ञानी
वीतराग भगवन्तों में मोह से अभिव्यक्त चैतन्यविशेषस्वरूप इच्छा, जो कि वीतरागता की विरोधी है, नहीं होने पर भी मोह
से प्रकट नहीं होने वाली अन्य जीवों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा तो हो सकती है, क्योंकि परोपरकारविषयक इच्छा
के साथ वीतरागता का विरोध नहीं है । अतएव संपूर्ण श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामीजी ने आवश्यकनिर्युक्ति में जो कहा है
कि - 'सर्वज्ञ भगवान् भव्य जीवों को प्रतिबोध करने के लिए तीर्थकर नामकर्म के उदय से बोलते हैं = देशना देते हैं'
वह भी स्वरसिकतया उपपन्न हो सकता है, अन्यथा लक्षणा का आश्रय करना पड़ेगा । भव्यजीवों के प्रतिबोधार्थ बोलने
का मतलब ही यह हुआ कि प्रतिबोधस्वरूप भाव उपकार = अनुग्रह की इच्छा से केवलज्ञानी भगवन्त शब्द का प्रयोग करते

‘जणविबोहणद्वाए’ इत्याद्यार्षं स्वरसतः सङ्गच्छते । न चैवं मोक्षेऽप्यनुजिघृक्षापत्तिः, जिन-
नामकर्मोदयादिसाचिव्यादेव तत्प्रवृत्तेरित्याहः । इत्यधिकं मत्कृताध्यात्ममतपरीक्षायाम् ।

❀ जयलता ❀

कथं वक्तृत्वमिति वाच्यम्, तामन्तरेणाऽपि वक्तृत्वस्य सुप्तमत्तादिभूपलब्धेः । तत्राऽपि साऽस्तीति चेत् ? न, तथाप्रतीत्यभावात्, प्रबुद्धादावुक्तस्मरणानुपलब्धेः, तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसङ्गात्, कातरविवक्षायां क्वचिच्छूरशब्दप्रयोगदर्शनात् । तत्राप्यन्तराले शूरविवक्षास्तीति चेत् ? न, प्रमाणाभावात् । तच्छब्दप्रयोगान्यथानुपपत्तेः प्रमाणत्वमिति चेत् ? न, सन्देहाऽनिवृत्तेः, अविवक्षा-पूर्वकत्वेऽपि विरोधाऽसिद्धेः । तदभावे त्वहेतुकत्वेन सदा तच्छब्दप्रयोगापत्तेर्विरोधसिद्धिरिति चेत् ? न, अहेतुकत्वाऽसिद्धेः, तथाविधभाषाद्रव्यात्मप्रयत्नहेतुकत्वात् । तेषाञ्च तथाविधत्वस्याऽदृष्टादिनिबन्धनत्वात्, अन्यथा विवक्षाया अपि सदा भावेनोक्त-दोषानतिवृत्तेः, अमनस्कत्वेन च भगवत इच्छानुपपत्तिः, तथावाग्योगस्य च चेष्टामात्रत्वात्, इच्छायाःसद्भावेऽपि शुद्धेच्छाया रागाऽयोगात्, तथालोकप्रतीतेरित्याद्युक्तं श्रीहरिभद्रभूरिचक्रवर्तिना संवर्ज्ञासिद्धौ ।

वाचस्पतिमिश्रेणापि न्यायकणिकायां —> ‘न हीच्छामात्रं रागः किन्तु चित्तमलमात्मनो दर्शनावरणं अभूतगुणाभिनन्दनं रागमाचक्षते’ <— (न्या.क. पृ.८०) इत्यभ्यधायि ।

एतेन —> ‘गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं । पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सत्वं गिरव-सेसं’ ॥ <— (प्र.सा. १/३२) इति प्रवचनसारवचनमपि परास्तम्, सत्यपि ज्ञाने आत्मप्रदेशैः कर्मादानवद् योगप्रदेशैर्बहिरर्था-दानस्याऽप्युपपत्तेः । ध्वनिरूपा पारमेश्वरी वाक् तु न युक्ता कल्पयितुम्, ध्वनिरूपायास्तस्याः प्रतिसर्वज्ञं श्रोतृभाषापरिणामवद-क्षरपरिणामाऽयोगात्, अव्यक्तैकरूपतया सत्याऽसत्यामृषादलद्वयनिष्यादकवाग्योगद्वयवैयर्थ्यात्, ‘अद्धमागहीण भासाण भासंति’ () इति सूत्रविरोधात्, नियत्यैव प्रयत्नं विना वचनोपपत्तौ च तयैव तद्विनाऽपि परानुग्रहोपपत्तेः । ध्वनेरपि पौरुषेयतयाऽक्षररूप-तया तुल्ययोगक्षेमत्वात्, अन्यथा बाह्यमतप्रवेशाच्चेत्यादिकं ‘स्याद्वादकल्पलतातोऽवसेयम्’ ।

तत्त्वार्थवृत्तावपि —> ‘इच्छां विना कथमुपदेशादौ प्रवृत्तिस्तस्य ? इति तीर्थान्तरीयाशङ्का न श्रेयसी, जीवनयोनियत्नादि-व्यावृत्तस्यैव भगवद्यत्नव्यावृत्तस्यैव वैजात्यस्य यत्नगतस्येच्छाजन्यतावच्छेदकत्वात्, एवं हि जन्यत्वविशेषणगौरवमपि परिहृतं भवति । पुद्गलग्रहणनिसर्गादिप्रवृत्तौ मोहोदयस्यैव हेतुत्वमिति क्षीणमोहस्योपदेशादिकं नैयतिकमेवेति नग्नानवचनं तु न श्रद्धेयम्, मोहोदयस्याऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामारम्भादिप्रवृत्तिविशेष एव हेतुत्वात्, अन्यथा गुरुविनयस्वाध्यायाध्ययनदानादिप्रवृत्तीनामपि मोह-जन्यत्वापत्तेः, नियतानियते सर्वत्र कार्ये व्यवस्थिते भगवच्चेष्टायाः केवलनियतत्ववचनस्याऽनागमिकत्वाच्च । इच्छां विना न प्रवृत्तिः, प्रवृत्तिं विना च न चेष्टेति निश्चेष्टतैवं तस्य प्रसज्येत, विलक्षणचेष्टायामेव प्रवृत्तिर्हेतुरित्यभ्युपगच्छंश्च विलक्षणकृतावेवेच्छा हेतुरिति निरीहप्रवृत्तिं भगवतः कुतो नाऽभ्युपगच्छेदिति’ <— (त.यशो.टी. कारिका-१०) प्रतिपादितम् । एतेन भगवतः शब्दप्रयोक्तृ-त्वे कर्मबन्धप्रसङ्ग इत्यपि प्रत्युक्तम्, केवलं प्रयत्नस्य कर्मबन्धाऽजनकत्वात्, कर्मबन्धकारणीभूतरागादिपरिणामस्य विलयेन तदा-पादनस्य निर्युक्तिकत्वात् । तदुक्तं प्रवचनसारे —> परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो’ <— (प्र.सा. २/८८) इति ।

मत्कृताध्यात्मपरीक्षायामिति । तत्र ‘एयं सहाववाणी कह जुत्ता जेण तेसि वयजोगो । हेऊ दब्बसुअस्सा पओअणं कम्मखवणा य’ ॥ (अ.म.प.स्रो. ९९) इति गाथायां विस्तरेणाऽनश्वरभगवद्वाणीनिराकरणं कृतं ततोऽवसेयम् ।

हैं । अतः मोहव्यावृत्त अनुग्रहविषयक इच्छा एवं शब्दप्रयोक्तृत्व सर्वज्ञ भगवंत में मानने चाहिए । यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि —> ‘यदि केवलज्ञानी भगवंतों में भव्य जीवों के प्रतिबोध की अनुजिघृक्षा = अनुग्रहइच्छा जैसे १३वें गुणस्थानक में होती है, ठीक वैसे ही मोक्ष में भी वह जरूर होनी चाहिए । तब तो भगवंत जैसे अघाति कर्म की उपस्थिति में भव्य जीवों के प्रतिबोधार्थ देशना देते हैं, ठीक वैसे ही मोक्ष में जाने के बाद भी प्रतिदिन धर्मदेशना करते रहेंगे, क्योंकि तब भी भव्य जीवों के अनुग्रह की इच्छा रहती है एवं अप्रतिबोधित भव्य जीव भी इस लोक में सदा होते ही हैं <— । यह कथन अयुक्त होने का कारण यह है कि केवली भगवंत में मोक्षावस्था के दौरान भी भव्य जीवों के अनुग्रह की इच्छा तो होती ही है, मगर तदर्थ धर्मदेशनारूप प्रवृत्ति के लिए तीर्थंकर नामकर्म का उदय आदि भी सहकारी कारण है । उसके सहकार से ही तीर्थंकर भगवंत धर्मदेशनास्वरूप प्रवृत्ति करते हैं । मोक्षावस्था में कर्ममात्र का अभाव होने से तीर्थंकरनाम कर्म का उदय ही नहीं होता है, तब मोक्षदशा में धर्मदेशना का आपादन कैसे किया जा सकता है ? केवल एक कारण

एवञ्च नित्याऽनित्यत्वादिधर्माणां वस्तुतो विरोधाऽभावेऽपि यदि कथञ्चिद्विरोधः परे-
णाऽभ्युपेयते, अभ्युपेयतां तर्हि नाहं, तथापि तेषामेकत्र समावेशे न किञ्चिद्बाधकं पश्यामः ।
कथञ्चिद्विरुद्धत्वेनाऽभ्युपेतानामपि नीलपीतादीनामेकत्र समावेशस्य दृष्टत्वादित्याहुः 'विरु-
द्धे'ति । मेचकवस्तुषु = मिश्रवस्तुषु विरुद्धवर्णानां नीलपीतादीनां योगः = एकत्र समावेशो
हि = यतो दृष्टः = सकलजनानुभवसिद्धः । प्रतियन्ति हि सर्वेऽपि लोकाः चित्रमपि घटं

❀ गयलता ❀

एतावता 'न हि सर्वज्ञस्य शब्दोच्चारणे रसनाव्यापारोऽस्ति, तीर्थकरनामकर्मोदयोपजनितत्वादि' (त.श्लो.बा.२/१८)ति
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककृद्भचनमपि प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यं, अदृष्टस्याऽपि दृष्टकारणातिक्रमेण कार्योत्पादकत्वाऽसम्भवात्किन्तु दृष्ट-
कारणसम्पादनद्वारेण, अन्यथा एककारणमात्रपरिशेषापत्तेरिति दिक् ।

प्रकरणकारः प्रक्रान्तवीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशसप्तमकारिकोत्तरार्धप्रस्तावनार्थमुपक्रमते → एवञ्चेति । यदि कथञ्चिद्विरोधः
= एकत्रैकावच्छेदेनाऽनवस्थानं परेण = नैयायिकादिना अभ्युपगम्यते । अत्र स्वसम्मतिमाह - अभ्युपेयतां तर्हि नाहं । तर्हि
कथं तेषामेकत्र समावेशसिद्धिः ? इत्याशङ्कायां प्राह तथापि = कथञ्चिद्विरुद्धत्वेऽपि, तेषां = नित्याऽनित्यत्वादिधर्मयुगलानां
एकत्र धर्मिणि समावेशे न किञ्चिद्बाधकं पश्यामः, शाखामूलावच्छेदेनैकत्रैव घटादौ धर्मिणि नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः समावेश-
सम्भवात्, अन्यथा सर्वथा विरुद्धत्वं स्यात् ।

ननु संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वेन संयोगतदभावयोरैकत्र समावेशसम्भवेऽपि नित्यत्वस्याऽतथात्वाच्च नित्यत्वतदभावयोरैकत्राऽ-
वच्छेदकभेदेन समावेशः सम्भवेदित्याशङ्कायां परमतप्रसिद्धोदाहरणान्तरमाह - कथञ्चिद्विरुद्धत्वेन प्रतिवादिना अभ्युपेतानामपि
नीलपीतादीनां रूपाणां एकत्र धर्मिणि समावेशस्य दृष्टत्वादित्याहुः श्रीहेमचन्द्रसूरय इति शेषः । 'विरुद्धे'ति । शेषं सुगमम् ।

ननु चित्रघटेऽवयविनि न नीलपीतादिरूपाणि सन्ति किन्त्येकमेव चित्रं रूपम्, 'चित्रोऽयं घट' इत्यबाधितप्रतीतिः ।
अत एव तत्र नीलपीतादिनानावर्णप्रतीतिविषयो नावयविलक्षणघटसमवेतवर्णः किन्तु तदवयवसमवेतनीलपीतादिवर्ण एव । न चैक-
त्रैव घटे नीलपीतादीनां समावेशे किं बाधकमिति वाच्यम्, तेषां व्याप्यवृत्तित्वोच्छेदापत्तेरेव बाधकत्वमिति गृहाण । एतेन
'घटोऽयमग्रावच्छेदेन नीलः पृष्ठावच्छेदेन पीत' इति प्रतीतिरेकत्र घट एव नीलादिवृत्तित्वमित्यपि परास्तम् । न च तर्हि घटे
नीलपीतादिप्रतीतिभ्रमत्वं स्यादिति वाच्यम्, अभिमतत्वात्, घटावयवसमवेतानामेव नीलपीतादीनां वर्णानां स्वसमवायिसमवेतत्व-

से कार्य की निष्पत्ति नहीं होती है, किन्तु सामग्री से ही । अतः मोक्षावस्था में अनुग्रह इच्छा होने पर भी जिननामकर्मोदयस्व-
रूप कारणान्तर के अभाव से धर्मदेशना की आपत्ति नहीं है । इस विषय का अधिक निरूपण प्रकरणकार श्रीमद्जी ने अध्यात्ममत-
परीक्षा में किया है । विशेष जिज्ञासु उस ग्रन्थरत्न का अवलोकन कर के अपने ज्ञान की प्यास का शमन कर सकते हैं ।

☐ एक धर्मी में अनेकवर्णलक्षणावेश प्रामाणिक ☐

एवञ्च, इति । 'अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व का एक धर्मी में विरोध नहीं है' इस विषय के निरूपण के प्रसंग
से 'केवली भगवंत शब्द का प्रयोग करते हैं' इस विषय का निरूपण करके प्रकरणकार श्रीमद्जी मूल विषय का निरूपण
करते हैं कि प्रदर्शित रीति के अनुसार एक धर्मी में नित्यत्व-अनित्यत्व, सामान्य-विशेषादि धर्मयुगल का वस्तुतः विरोध नहीं
है, फिर भी यदि प्रतिवादी नैयायिक आदि उन धर्मों में कथञ्चित् विरोध का अंगीकार करें तो भले वैसा स्वीकार करें ।
हमारी इसमें अनुमति है तथापि एक धर्मी में नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मों का समावेश होने में कोई बाधक नहीं है, क्योंकि
कथञ्चित् विरोधी धर्मों का एक धर्मी में समावेश हो सकता है । जिन पदार्थों का प्रकारान्तर से या अवच्छेदकान्तर से विरोध
न हो वे ही कथञ्चित् विरोधी कहे जाते हैं । इस बात को दृष्टान्त से समझना हो तो कहा जा सकता है कि नील, पीत,
शुक्ल आदि रूप परस्पर कथञ्चित् विरोधी हैं फिर भी चित्रपट, विचित्रघट, मोर के पंख आदि एक धर्मी में उनका समावेश
होता है । इसी बात को सूचित करने के लिए मूलकार श्रीकलिकालसर्वज्ञ वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की, जिसके विवरणरूप
में महोपाध्यायजी महाराज ने इस स्याद्वादरहस्य नामक प्रकरण की रचना की है, उन्हीं कारिका के उत्तरार्ध में कहा है कि
विरुद्ध = कथञ्चित् विरोधी वर्णों = रूपों का मेचकवस्तु = मिश्रवस्तु मयूरपंख आदि में योग = एकधर्मिवृत्तिता प्रत्यक्षसिद्ध
है । शबल घट को भी लोक 'यह इस भाग में पीतवर्णवाला है, उस भाग में रक्तवर्णवाला है, ऊपर के भाग में श्यामवर्णवाला
है' इत्यादि स्वरूप से जानते हैं । इसलिए यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि → 'चित्र घट में केवल एक अतिरिक्त

**नीलत्वपीतत्वादिना । न च तत्राऽवयवनीलादिमतैव परम्परया प्रतीतेर्विषयः, एवं सति योग्य-
रूपादीनां त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेः । चित्रत्वव्यवहारस्तु नीलविशिष्टपीतादिना एकवृत्तिनीलपीतो-**

❀ गत्यलता ❀

लक्षणपरम्परासम्बन्धेन घटे प्रतीयमानत्वादित्याशङ्कां निराकर्तुमपक्रमते - न चेति । तत्र = चित्रघटे अवयवनीलादिमत्ता = घटावयवसमवेतनीलादिः एव परम्परया = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतीतेः विषय इति वाच्यमिति गम्यते । तदयुक्तत्वमेव समर्थयति - एवं सतीति । अवयवसमवेतनीलपीतादीनामेवावयवविनि भानाऽभ्युपगमे सति । योग्यरूपादीनामिति । अनुद्भूताभि-
भूतरूपादिव्यवच्छेदार्थं 'योग्ये'ति । त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेः = त्रसरेणुभात्रसमवेतत्वस्वीकारप्रसङ्गात् । चित्रकपालारब्धघटे प्रती-
यमानानां नीलपीतादिवर्णानां कपालिकासमवेतत्वं चित्रकपालिकावत्कपालारब्धघटे प्रतीयमानानां नीलपीतादिरूपाणां प्रकपा-
लिकासमवेतत्वमित्येवं यावत्त्रसरेणुसमवेतत्वप्रसङ्गात् । यद्वा घट इव कपालस्याऽवयववित्वात्तत्र प्रतीयमानानां रूपादीनां
कपालिकासमवेतत्वं, तस्या अपि सावयवत्वात्प्रकपालिकपासमवेतत्वमित्येवं यावत्त्रसरेणुसमवेतत्वाऽभ्युपगमापत्तेः । न चैवं पर-
माणुगतत्वमेवाऽस्त्विति वाच्यम्, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तद्रूपादेरेव भानाऽसम्भवान्न घटेऽपि परम्परया भानं स्यादतः त्रुटिगत-
त्वापादनमत्र कृतमित्यादि भावनीयम् ।

ननु यदि चित्रघटे नातिरिक्तं चित्रारब्धं रूपं किन्तु नीलपीतादिरूपाणि तर्हि 'घटो नीलो रक्तः पीतः' इत्यादिप्रतीतिर्व्यव-
हारश्च स्यातां न तु 'चित्रोऽयं घटः' इति प्रतीतिव्यवहारो । तदनुपपत्तिः स्याद्वादिसाम्राज्ये कलङ्कमित्यादाङ्कायामाह- चित्रत्व-
व्यवहारस्त्विति । इदञ्चापलक्षणं चित्रत्वप्रकारकप्रतीतेः । स्वसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन नीलविशिष्टपीतादिना एकवृत्तिनील-

चित्र रूप ही है, न कि नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप' - अन्यथा उपर्युक्त अतिप्रसिद्ध स्वाभाविक लोकानुभव का
अपलाप करने का दोष आयेगा । यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि → "शबल (रंगविरंगी = Colouring) घट
में केवल एक चित्र रूप ही होता है, फिर भी लोगों को जो उपदर्शित प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति तो उस घट के
भिन्न भिन्न अवयव के नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप का परंपरा सम्बन्ध यानी स्वाश्रयसमवेतत्वसंसर्ग से घट में भान
मानने से भी हो सकती है । मगर एक ही घट में समवाय सम्बन्ध = साक्षात्संबंध से नील, पीत, श्याम आदि विविध
वर्ण का भान नहीं होता है । जैसे जपाकुसुम आदि उपाधि के रक्त रूप का परम्परासम्बन्ध से स्फटिक में ज्ञान होता
है ठीक वैसे ही घटावयवगत विविध वर्ण का परम्परासंसर्ग से घट में भान होता है" ← ।

❀ अत्यवगत विविधवर्ण का अवयवी में भान अप्रामाणिक - स्याद्वादो ❀

एवं स. इति । यह कथन अयुक्त होने का कारण यह है कि - 'अवयवगत विविध वर्ण का परम्परा संबंध से चित्र
घट में भान मानने पर तो उसी चित्र घट के कपाल में विविध वर्णों का जो भान होता है उसे भी भिन्न भिन्न कपालिका
में रहने वाले अनेक रूप को परम्परा सम्बन्ध से कपाल में विषय करने वाला मानना होगा, क्योंकि आपके मतानुसार तो
कपालात्मक एक धर्मी में एक चित्र वर्ण ही रह सकता है, न कि अनेक नील, पीत आदि वर्ण । एवं जिस कपालिका
में अनेक वर्ण का भान होता है, उस ज्ञान को भी भिन्न भिन्न प्रकपालिका में समवेत अनेक रूप को परम्परा संसर्ग से
कपालिका में विषय बनाने वाला मानना होगा । इस तरह प्रत्यक्ष के योग्य नील, पीत आदि रूप को त्रसरेणु में ही समवेत
मानना होगा । मतलब कि एक अतिरिक्त चित्र रूप वाले घट में परम्परासम्बन्ध से विविधत्रसरेणुसमवेत विविध वर्ण का
ही परम्परा संबंध से भान मानना होगा, जिसके फल में 'प्रत्यक्षयोग्य नील, पीत, श्याम आदि रूप केवल त्रसरेणु में ही
रहने वाले हैं' इस बात को मान्य करना होगा, जो प्रामाणिक नहीं है । इसलिए मानना होगा कि एक ही घट में नील,
पीत, श्याम आदि विविध वर्ण का साक्षात्संबंध से समावेश हो सकता है । यहाँ यह शंका हो कि → "यदि घट में
एक अतिरिक्त चित्र वर्ण नहीं है, किन्तु नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप हैं, तो फिर 'यह घट चित्र रूप वाला है'
यह प्रतीति कैसे हो सकेगी ? क्योंकि आप स्याद्वादी तो अतिरिक्त चित्र रूप का स्वीकार ही नहीं करते हैं । आपके मतानुसार
तो घट में नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप रहने से केवल 'घट विविध वर्ण वाला है' ऐसी ही प्रतीति एवं व्यवहार
होना चाहिए । अतः आपके मत में घट में चित्रत्वप्रतीति एवं चित्रत्वव्यवहार अनुपपन्न बनेगे" ←

❀ स्याद्वादानुसार चित्रत्वव्यवहार भूमिफिज ❀

चित्रत्व, इति । तो इसका समाधान यह है कि नीलविशिष्ट पीतादि रूप होने की वजह या तो एक धर्मी में रहनेवाले
नीलपीतवर्ण उभय आदि के कारण घटादि में चित्रत्व का व्यवहार होता है । आशय यह है कि जो घट केवल नील रूपवाला

भयादिना वा, विशिष्टाविशिष्टभेदं तु स्याद्वादिनो वयं न प्रतिक्षिपामः, रूपविभाजकोपाधीनां पञ्चत्वानतिरेक एव तात्पर्यात् ।

✽ नयलता ✽

पीतोभयादिना वा उपपद्येतेति शेषः । अत्र सामानाधिकरण्यं यद्वा वैशिष्ट्यं एकधर्मिवृत्तित्वं च समवायेनाऽपृथग्भावसंसर्गेण वा ग्राह्यं, तेन नातिप्रसङ्गः । यत्र केवलं पीतं रूपं तत्र न चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारौ तन्निमित्तीभूतनीलविशिष्टपीतरूपाद्यभावात् । किन्तु नीलविशिष्टपीतरूपादिकं तत्रैव चित्रत्वप्रतीतिव्यवहारौ । अतो न चित्रत्वप्रतीतिव्यवहारान्यथानुपपत्त्या अतिरिक्तचित्ररूपाऽङ्गीकार आवश्यकः । अत्र नीलस्य विशेषणत्वं पीतरूपस्य विशेष्यत्वमिति गौणप्रधानभावः तथापि विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहात्कल्पान्तरप्रदर्शन-एकवृत्तिनीलपीतोभयादिना वेति । अत्र नीलस्य पीतरूपस्य च प्राधान्यम् । एकवृत्तित्वोपादानान्नाऽनेकवृत्तिनीलपीतादितः चित्रत्वप्रतीत्याद्यापत्तिः ।

यस्तुतस्तु चित्रत्वप्रतीत्यादिनिमित्तत्वं नीलविशिष्टपीतादेरेव न त्वेकधर्मिनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टनीलपीतोभयादेः, गौरवात् । न च विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरह इति वाच्यम्, तथापि तत्परिणत्यनतिरेकात् । न चैवं नीलरूपविशिष्टपीतरूपाश्रयीभूते घटे पीतत्वप्रकारकप्रमित्याद्यापत्तिः, नीलविशिष्टपीतरूपस्याऽपि पीतरूपानतिरेकात्, 'विशिष्टं शुद्धाभातिरिच्यत' इति नियमादिति वाच्यम्, विशिष्टस्य कथञ्चिच्छुद्धातिरिक्तत्वाऽभ्युपगमात्, सर्वथा तदभेदस्तु प्रतीत्यैव पराहत इत्याशयेनाऽऽह-विशिष्टाऽविशिष्ट-भेदं = विशिष्टानुयोगिकाऽविशिष्टप्रतियोगिककथञ्चिद्भेदं तु स्याद्वादिनो वयं न प्रतिक्षिपाम इति । नीलविशिष्टपीतरूपादेः पीतरूपादितः स्याच्चित्रत्वेन न चित्रघटे 'पीतोऽयमिति' प्रमित्याद्यापत्तिरित्याशयः । न चैवमतिरिक्तचित्ररूपाऽङ्गीकार एव नामान्तराण्य भवता कृत इति शिरोवेष्टनेन श्रोत्रग्रहणन्यायप्रसङ्ग इति वाच्यम्, नीलविशिष्टपीतरूपादेः पीतरूपादितः कथञ्चिदतिरेकेऽपि तत्र पीतत्वाद्यतिरिक्तचित्रत्वजात्यनङ्गीकारादित्याशयेनाऽऽह- रूपविभाजकोपाधीनां = रूपत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्माणां, पञ्चत्वाऽनतिरेक एव तात्पर्यादिति । चैत्रत्वस्य चैत्रे कथञ्चित्तदतिरिक्तदण्डविशिष्टचैत्रे च वृत्तित्वमिव पीतत्वादीनां रूपत्वसाक्षाद्व्याप्यजातीनां पञ्चानां पीतादिवर्णेषु नीलविशिष्टपीतरूपादिषु च वृत्तित्वं न तु पीतादिषु पीतत्वादीनां नीलविशिष्टपीतादिषु च चित्रत्वस्य वृत्तित्वमित्यत्र स्याद्वादिनामस्माकमभिप्रायः । एतेन नीलविशिष्टपीतवर्णस्य रक्तरूपविशिष्टपीतवर्णस्य शुक्लवर्णविशिष्टपीतवर्णस्येत्यादीनां बहूनां पीतादितः कथञ्चिदतिरिक्तत्वकल्पनापेक्षयैकस्य चित्ररूपस्यैव कल्पनं युक्तमित्यपि निरस्तम्, चित्रघटे 'नीलविशिष्टपीतरूपवान् घटः' इत्यादिप्रतीतेरनुपपत्तेश्च अवयवगतरूपादितः तदुपपादनस्य तु पूर्वमेव निरस्तत्वात् । न च रूपादीनामव्याप्यवृत्तित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, इष्टत्वात् । न चैवं नानारूपवदवयवारब्धे घटे नीलकपालाद्यवच्छेदेन पीताद्युत्पत्तिवारणाय समवायेन नीलम्प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलरूपातिरिक्तरूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तदिशा प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावाऽङ्गीकारे तदभावस्य कारणत्वस्यापि कल्पनीयतया गौरवापत्तिरिति वाच्यम्, अवच्छेदकता-

हे या केवल पीतरूपवाला है उसमें 'नीलो घटः' या 'पीतो घटः' इत्याकारक व्यवहार होगा, न कि 'चित्रो घटः' इत्याकारक । मगर जिस घट के एक भाग में नील रूप और दूसरे भाग में पीत वर्ण होता है उसीमें 'चित्रोऽयं घटः' इत्याकारक व्यवहार होता है, क्योंकि उस घट में सामानाधिकरण्यसंबन्ध से नीलरूपविशिष्ट पीत रूप रहता है या एक अधिकरण में नीलपीत उभय वर्ण रहते हैं । वही चित्रत्वव्यवहार का निमित्त है, न कि नील, पीत आदि रूप से सर्वथा अतिरिक्त चित्र रूप । यहाँ यह शंका हो कि —> 'विशिष्ट अविशिष्ट से तो अतिरिक्त होता नहीं है । अतः नीलरूपविशिष्ट पीत रूप भी शुद्ध पीत वर्ण से अतिरिक्त नहीं है । अतः नीलरूपविशिष्ट पीत रूप वाले घट में 'पीतो घटः' इत्याकारक व्यवहार भी होना चाहिए' <— तो इसका समाधान यह है कि विशिष्ट और अविशिष्ट के भेद का हम स्याद्वादी सर्वथा प्रतिक्षेप नहीं करते हैं मतलब कि विशिष्ट अविशिष्ट = शुद्ध से सर्वथा अनतिरिक्त = अभिन्न है-ऐसा हम नहीं मानते हैं । किन्तु विशिष्ट शुद्ध से कथंचित् अतिरिक्त = भिन्न भी होता है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं । अतः नीलरूपविशिष्ट पीत वर्ण भी सर्वथा शुद्ध पीतवर्णस्वरूप नहीं है किन्तु शुद्ध पीत वर्ण से कथंचित् भिन्न है । 'पीतोऽयं घटः' इस व्यवहार में तो अविशिष्ट पीत वर्ण ही निमित्त होता है, न कि विशिष्ट पीतरूप । नीलरूपविशिष्ट पीत रूप वाले घट में पीतत्वव्यवहारनिमित्तभूत केवल पीत वर्ण नहीं होने से उसमें 'पीतोऽयं घटः' इत्याकारक व्यवहार की आपत्ति नहीं है । यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि —> 'विशिष्ट भी यदि अविशिष्ट से भिन्न है, तो फिर चित्र रूप को अतिरिक्त = नील-पीतादिरूप से भिन्न मानने में स्याद्वादी को क्या हानि है ?' <— क्योंकि हम स्याद्वादियों का तात्पर्य यही है कि रूपविभाजक = रूपत्वसाक्षाद्व्याप्य उपाधि = धर्म नीलत्व, पीतत्व आदि पाँच ही है, न कि चित्रत्वसहित ६। विशिष्टवर्ण से ही चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एवं

अथ तत्रापि नैकावच्छेदेन नानारूपसत्त्वं, किन्तु नीलपीतकपालाद्यवच्छेदकभेदेनेति चेत् ? सत्यम्, इत एवोपाधिभेदादेव नित्यत्वाऽनित्यत्वादय एकत्र समाविशन्तीत्युक्तम् ।

अथवा विरुद्धं = विरुद्धत्वेनाऽभिमतं, तदां = नित्याऽनित्यत्वादिकं, नैकत्राऽसत् = नैकत्राऽवृत्ति । कुतः ? प्रमाणप्रसिद्धेति = एकवृत्तितया प्रमाणेन प्रतीयमाणत्वादित्यर्थः । एकवृत्तित्वेन प्रतीयमाणस्यापि विरुद्धत्वाभिमानात् समावेशानभ्युपगमे नीलपीतादीनामपि स न स्यादित्याहुः - विरुद्धेति । तथा चायं प्रयोगः - नित्याऽनित्यत्वादिकं नैकत्राऽवृत्ति

॥ गयलता ॥

सम्बन्धेन नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादेः कारणत्वाऽङ्गीकारात् । न च प्रकरणकारेणैव न्यायखण्डखाद्ये -> 'नीलत्वादिव-चित्रत्वमपि जातिविशेष एव' <- (न्या.ख.खा.) इत्थम्यधायीति तद्विरोधप्रसङ्ग इति वाच्यम्, अतिरिक्तैकचित्ररूपाभ्युपगन्तृणो मतमवलम्ब्य तत्र तथोक्तत्वादिति व्यक्तमेव न्यायप्रभायाम् । दीधितिकारेणापि -> नानारूपवदवयवारब्धेऽवयविनि अव्याप्य-वृत्तीनि नानारूपाप्येवंतद्यन्ते, चित्रत्वव्यवहारस्तु परस्परसमानाधिकरणनानारूपवत्त्वनिबन्धन <- इत्यङ्गीकारात् ।

मुग्धः शङ्कते - अथेति । तत्र = चित्रघटे अपि नैकावच्छेदेन नानारूपसत्त्वं विरोधात्, किन्तु नीलपीतकपालाद्य-वच्छेदकभेदेन एव । न चैवमेकत्र घटे नित्यत्वाऽनित्यत्वादीनि सम्भवन्ति, नीलकपालावच्छेदेन नित्यत्वं पीतकपालावच्छेदेन चाऽनित्यत्वमिति वक्तुमशक्यत्वात् । ततो न मेचकवस्तुदृष्टान्तेनाऽन्यत्र नित्यत्वाऽनित्यत्वादीनि समानाधिकरणानि कल्पयितुं युज्यन्त इति शङ्कातात्पर्यम् । प्रकरणकृत् समाधत्ते-सत्यमिति । अर्धाऽङ्गीकारसूचकमिदं पदम् । इत एव = एकावच्छेदे-नैकत्र कथञ्चिद्विरुद्धधर्माणां समावेशाऽसम्भवादेव, उपाधिभेदात् = अवच्छेदकभेदात् एव नित्यत्वाऽनित्यत्वादयो धर्मा एकत्र धर्मिणि समाविशन्तीति । नीलपीतकपालयोः नित्यत्वानित्यत्वावच्छेदकत्वाऽसम्भवेऽपि द्रव्यत्वपर्यायत्वयोः तथात्वसम्भवात् देशवत् भावानामप्यवच्छेदकत्वसम्भवात् । न चोपाधिभेदान्नित्यत्वानित्यत्वादीनामेकत्र समावेशो मूलकृदभिप्रायविरुद्धः, तदुक्तं तैरेव अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां - 'उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं, नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यत च । इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

यदि च 'नित्यत्वानित्यत्वयोरेकाश्रयवृत्तित्वाऽवगाहिनी बुद्धिः नाऽप्रमा विरोधगोचरप्रमाणप्रसिद्धचभावादि'ति व्याख्याने लक्षणाया आश्रयणात्कश्चिदस्वरसमुद्भावेत्तन्मनसिकृत्य व्याख्यान्तरमावेदयति - अथवेति । सुगमं शेषम् ।

व्यवहार मुमकिन है, तब चित्रत्व को भी नीलत्व आदि धर्म की भाँति रूपविभागप्रयोजक उपाधि मानना नामुनासिव है । नीलरूप से पीतत्वप्रकारक प्रतीति या व्यवहार नामुमकिन होने की वजह नीलरूप से पीतरूप को अतिरिक्त मान कर नीलत्व से अतिरिक्त पीतत्व धर्म को रूपविभाजक उपाधि मानना आवश्यक है । जब कि एकरूप से विशिष्ट अन्य रूप के निमित्त से चित्रत्वप्रकारक प्रतीति या व्यवहार मुमकिन होने से नील आदि रूप से सर्वथा अतिरिक्त चित्र रूप को मानना और नीलत्वादि पाँच धर्मों से अतिरिक्त चित्रत्व धर्म को रूपविभाजक उपाधि मानना अनावश्यक है - यही स्याद्वादियों का अभिप्राय है, जो विचार करने पर समुचित प्रतीत होता है । यहाँ यह कहा जाय कि -> 'एक घट में एक ही भाग में अनेक वर्ण नहीं रह सकते, किन्तु भिन्न-भिन्न भाग में ही विविध वर्ण रह सकते हैं । मतलब कि नील रूप घट में नीलकपालावच्छेदेन, पीत वर्ण पीतकपालावच्छेदेन और रक्त रूप रक्तवर्णविशिष्टकपालावच्छेदेन रहते हैं, इसी तरह माना जा सकता है' <- तो हम स्याद्वादी भी इस बात का सहर्ष स्वीकार करते हैं । भिन्नदेशावच्छेदेन = अवच्छेदकभेद से एक धर्मी में परस्पर कथंचित् विरोधी नील, पीत, रक्त आदि रूप का समावेश हमें मान्य होने की वजह ही उपाधिभेद = अवच्छेदकभेद से ही नित्य-अनित्यत्व आदि परस्पर कथंचित् विरुद्ध धर्मों का एक धर्मी में समावेश होता है' ऐसा कहा है ।

* सातवें श्लोक की अन्य व्याख्या *

अथवा. । महोपाध्यायजी वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की सातवीं कारिका का अन्य रीति से निरूपण करते हैं कि - प्रतिवादी को विरुद्धत्वरूप से अभिमत नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल एक अधिकरण में अवृत्ति नहीं है, क्योंकि एकअधिकरणवृत्तित्वविधया प्रमाण से सम्यक् ज्ञायमान है । एकअधिकरणनिरूपितवृत्तित्वमत्त्वरूप से प्रमाण के द्वारा ज्ञायमान होने पर भी नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल को अभिनिवेश से विरुद्ध मान कर उनका एक अधिकरण में समावेश मान्य

एकवृत्तित्वेन प्रतीयमानत्वात्, नीलपीतादिवत् । विरुद्धत्वं = परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वमिति यथाश्रुतमेव सम्यगिति तु न युक्तं, स्वमते नित्यानित्यत्वादावेव तदभावात्, एकवर्णस्यापि निश्चयतः पञ्चवर्णत्वाच्च, अन्यथा शुक्लस्य पाकादिना पश्चात् श्यामत्वानुपपत्तेः,

✽ नयलता ✽

नन्वेकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसिद्धयर्थं मूलकृद्भिः विरुद्धत्वेन रूपेण नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुग्मप्रदर्शनं कृतं भवद्भिस्तु तत्परिहारेण नित्यानित्यतात्वादिकपक्षः प्रदर्शित इति किं तत्प्रागे प्रयोजनं ? इत्याशङ्कयामाह- विरुद्धत्वमिति । विरुद्धत्वपदप्रतिपाद्यमित्यर्थः । परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वं = इतरेतरानधिकरणनिरूपितवृत्तित्वमवृत्तिजातिमत्त्वं इति हेतोः यथाश्रुतमेव = 'विरुद्धं द्वयं' इत्येव सम्यगिति तु न युक्तम् । कुतः ? इत्याह- स्वमते = स्याद्वादिदर्शने, नित्यानित्यत्वादावेव = पक्षे एव तदभावात् = निरुक्तविरुद्धत्वाभावात् । ततश्चाऽऽश्रयाऽसिद्धिप्रसङ्गः, नित्यानित्यत्वादिलक्षणपक्षे पक्षतावच्छेदकीभूतनिरुक्तविरुद्धत्वविरहात् । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थकः । जैनमते नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुगलानां परस्पराधिकरणाधिकरणकत्वेन परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वस्वरूपविरुद्धत्वाऽयोगात्, तन्निश्चये वा बाधप्रसङ्गात् । नापि नीलपीतादिधर्मेषूदाहरणविधयोपदर्शितेषु निरुक्तविरुद्धत्वं सम्भवति, चित्रघटे एव तेषां तदपगमात् । न च शुक्लघटे श्यामादिवर्णानामभावात्तत्र श्वेतिमाकालिमा-पीतिमादीनां परस्परानधिकरणाधिकरणत्वसिद्धिरिति वक्तव्यम्, शुक्लघटेऽपि श्यामादिवर्णाभ्युपगमादित्याशयेनाऽऽह- एकवर्णस्यापीति । एक एव प्रतीयमानो वर्णो यस्मिन् घटादौ स घटादिः एकवर्णः, तस्य, किमुतानेकवर्णस्य ? इत्यपिशब्दार्थः । निश्चयतः = परमार्थमवलम्ब्य, निश्चयनयमाश्रित्य वा, पञ्चवर्णत्वाच्चेति । पञ्च वर्णा यस्मिन् स तद्भावः तत्त्वं तत इत्यर्थः । एकः शुक्लो वर्णो यत्र प्रतीयते तत्रापि निश्चयेन श्यामादयो वर्णाः सन्त्येवेति न ते परस्परानधिकरणवृत्तय इति भावः ।

विपश्चदण्डमाह - अन्यथेति । शुक्लवर्णवति घटादौ श्यामादिवर्णानङ्गीकारे सतीत्यर्थः । पूर्वं = पाकपूर्वकालावच्छेदेन, शुक्लस्य = श्वेतवर्णविशिष्टस्य घटादेः, पाकादिना पश्चात् श्यामत्वानुपपत्तेः = कृष्णवर्णसत्त्वाऽसङ्गतेः । यदि पाकपूर्वकाल-

न किया जाय तब तो नील पीत आदि धर्मों का भी एक शब्द वस्तु (मयुरपंख आदि) में समावेश नहीं हो सकेगा । इसी बात को सूचित करने के लिए कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद्जी प्रस्तुत ७वीं कारिका के उत्तरार्ध में कहते हैं कि विरुद्ध नील-पीत आदि वर्णों का समावेश मयूर-पंख, गाय आदि मेचकवस्तु में प्रमाण से ज्ञायमान है । इसी तरह एक धर्मी में नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल भी समाविष्ट हो सकते हैं । मतलब कि मूलकारथी ने ७वीं कारिका के पूर्वार्ध में पक्ष, साध्य और हेतु का क्रमशः उल्लेख किया है और उत्तरार्ध में उदाहरण को बताया है । अतः यहाँ अनुमानप्रयोग इस तरह किया जा संकता है कि - नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल एकअधिकरणाऽवृत्ति नहीं है, क्योंकि एक-अधिकरणवृत्तित्वविधया प्रमाण से ज्ञायमान है, जैसे कि नील, पीत, श्वेत आदि वर्ण । यहाँ यह शंका हो कि → 'मूलकारथी ने तो कारिका में 'विरुद्ध' पद का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है विरुद्धत्वाला । व्याख्याकार श्रीमद्जी ने तो विरुद्धपद का त्याग कर के पक्षविधया नित्यत्व-अनित्यत्वादि धर्मयुगल का ही निर्देश किया है, जो मूलकारथी के आशय के खिलाफ प्रतीत होता है' ← तो इसका समाधान व्याख्याकार श्रीमद्जी की ओर से इस तरह बताया जाता है कि - विरुद्धत्व का अर्थ यह होता है परस्पर के अनधिकरण में रहने वाले धर्मों का साजात्य (= समानजातिमत्त्व) । मगर यह तो नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल, जिसका यहाँ पक्षविधया उल्लेख किया गया है, में ही स्वमत = स्याद्वाद के अनुसार नहीं रहने से आश्रयअसिद्धि नाम का दोष प्रसक्त होता है । नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्मयुगल जैनदर्शन के अनुसार परस्पर के अनधिकरण में रहने वाले धर्म के सजातीय नहीं हैं, किन्तु विजातीय हैं, क्योंकि वास्तव में वे परस्पर के अधिकरण में रहते हैं । दूसरी बात यह है कि एकवर्णवाली वस्तु भी निश्चय नय से पाँच वर्णवाली होने से नील-पीत आदि वर्ण भी परस्पर के अनधिकरण में रहनेवाले नहीं होने से सदा परस्पर के अनधिकरण में ही रहनेवाली कोई चीज ही प्रसिद्ध नहीं होने से तत्सजातीयत्वस्वरूप विरुद्धत्व ही अप्रसिद्ध है । अन्यकार और प्रकाश भी देशावच्छेदकभेद से या कालावच्छेदकभेद से एक धर्मी में रहते हैं । अतः निरुक्त विरुद्धत्वपद के अर्थ की अनुपपत्ति होने से विरुद्धपद का त्याग उचित ही है । यहाँ यह शंका हो कि → 'एक वर्ण वाले घट आदि में पाँच वर्ण का स्वीकार क्यों किया जाय ? क्योंकि प्रत्यक्ष से तो घट श्याम रूप वाला ही उपलब्ध होता है' ← तो यह नामुनासिब है, क्योंकि यदि पाक से पूर्व काल में शुक्ल रूप वाले घट में श्याम रूप का अंगीकार न किया जाय तो पाक के पश्चात्काल में घट में श्याम वर्ण की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । श्याम रूप का कारण तो श्याम रूप ही होता है । अतः

लाघवात् श्याममात्रं प्रत्येव श्यामस्य हेतुत्वात्, पाकाऽजन्यत्वादेस्तत्कार्यतावच्छेदकप्रवेशे गौरवात्, सदसत्कार्यवादस्य व्यवस्थापितत्वाच्च ।

अथवा तदां = नित्यत्वाऽनित्यत्वादिकं, विशेषेण = परस्परकरम्बितस्वभावेन रुद्धं

❀ जयलता ❀

बच्छेदेन शुक्लरूपाश्रये घटादौ कृष्णादिरूपाणि न स्युः तर्हि पाकानन्तरकालावच्छेदेन श्यामत्वं न स्यात्, लाघवात् = कार्य-तावच्छेदकधर्मलाघवात् समवायेन श्याममात्रं = श्यामत्वावच्छिन्नं प्रत्येव स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन श्यामस्य वर्णस्य हेतु-त्वात् । न चावयविनि श्यामं रूपं क्वचित् पाकेन क्वचिच्चावयवश्यामरूपेण जन्यते इति तृणारणिमणिन्यायेन पाकाजन्यत्वा-वच्छिन्नश्यामरूपं प्रति स्वाश्रयवृत्तित्वसम्बन्धेन श्यामरूपस्य हेतुत्वान्न पाकपूर्वं शुक्ले घटादौ श्यामादिरूपाऽङ्गीकारस्यावश्यकत्व-मिति वाच्यम्, पाकाजन्यत्वविशिष्टश्यामत्वस्याऽवयवश्यामरूपकार्यतावच्छेदकत्वाऽपेक्षया श्यामत्वस्यैव तत्त्वे लाघवादित्याशये-नाऽऽह - पाकाऽजन्यत्वादेः तत्कार्यतावच्छेदकप्रवेशे = अवयवश्यामरूपनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकशरीरनिवेशे, कार्यता-वच्छेदककोटौ गौरवात् । किञ्च पूर्वं तत्र सर्वथाऽसत् श्यामवर्णस्य पश्चादपि पाकेनोत्पत्तिः नैव सम्भवति, अत्यन्ताऽसतोऽनुत्पत्तेः अन्यथा खरविषाणादेरपि जन्मापत्तेः । पाकपूर्वकालावच्छेदेन शुक्लघटे कथञ्चिच्छ्यामरूपाऽङ्गीकारस्यापि न्याय्यत्वादित्याशये-नाऽऽह - सदसत्कार्यवादस्य = कथञ्चित्सदसत्कार्यनियमस्य पूर्वं (पृ. १२९) व्यवस्थापितत्वाच्चेति । ततश्चाऽकामेनाऽपि श्वेतकालावच्छेदेन घटे श्यामवर्णाऽङ्गीकारः कार्यः । ततश्चैकदैकत्र शुक्लश्यामादिवर्णसमावेशेन शुक्लश्यामादिवर्णेष्वपि परस्परा-नधिकरणनिरूपितवृत्तित्वमत्त्वस्याऽप्रसिद्धेः परस्पराधिकरणवृत्तिजातीयत्वलक्षणं विरुद्धत्वमप्यप्रसिद्धम् । न च तमःप्रकाशयोरेव निरुक्तविरुद्धत्वं प्रसिद्धमिति वक्तव्यम्, कालभेदेनैकत्र तत्समावेशस्य दृष्टत्वात् । न चैककालीनपरस्पराधिकरणवृत्तिजातीयत्व-मेव विरुद्धत्वमस्त्विति वाच्यम्, एकदाऽपि विभिन्नावयवावच्छेदेन तमःप्रकाशयोरेकत्रोपलब्धेः तयोरपि निरुक्तविरुद्धत्वलक्षणाऽ-योगात् । ततश्च निरुक्तविरुद्धत्वविनिर्मुक्तिगैव नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुग्मानां पक्षत्वेन निर्देशस्य न्याय्यत्वमिति निर्गलितोऽर्थः ।

पुनः व्याख्यान्तरमावेदयति - अथवेति । नाऽसदिति । द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयत इति न्यायेन सत्त्वस्याऽत्र साध्यत्वं

पाक के पश्चात्कालावच्छेदेन श्याम रूप वाले घट में पूर्वकालावच्छेदेन भी श्याम वर्ण का अंगीकार करना मुनासिब है । यहाँ यह शंका हो कि → 'श्याम वर्ण की उत्पत्ति कभी स्वाश्रयावयवगत श्याम रूप से होती है, तो कभी पाक = विलक्षण अग्निसंयोग से होती है । अतः श्याम रूप का कार्य श्याम रूप नहीं है, किन्तु पाकाऽजन्य श्याम वर्ण है । शुक्ल घट में श्याम रूप पाकजन्य होने की वजह, उसका कारण श्याम रूप नहीं है, किन्तु पाक ही कारण है । अतएव व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है' ← तो यह भी निराधार है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से श्याम रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्ध से श्याम वर्ण को कारण मानने में लाघव है, जब कि समवाय संबन्ध से पाकाऽजन्य श्याम रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्ध से श्याम रूप को कारण मानने में गौरव है । प्रथम पक्ष में कार्यतावच्छेदक धर्म केवल श्यामत्व बनता है, जब कि द्वितीय पक्ष में कार्यतावच्छेदक धर्म पाकाजन्यत्वविशिष्ट श्यामत्व होता है, जो श्यामत्व की अपेक्षा गुरुभूत है । अतः द्वितीय पक्ष में गौरव स्पष्ट है । अतः श्वेत रूप वाले घट में भी श्याम रूप का अंगीकार करना आवश्यक है, जिससे पश्चात् उसमें श्याम रूप की उत्पत्ति हो सके । दूसरी बात यह है कि श्वेत घट में यदि श्याम रूप का सर्वथा अत्यन्ताभाव माना जाय तो पश्चात् उस घट में श्याम रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु कथञ्चित् सत् की ही उत्पत्ति हो सकती है । इस सदसत्कार्यवाद की तो पूर्व में सिद्धि की गई है । इसलिए यहाँ उसका पुनरावर्तन करना अनावश्यक है । सदसत्कार्यवाद के बल पर शुक्ल घट में भी श्याम रूप का अंगीकार करना आवश्यक है । अतः शुक्ल रूप और श्याम रूप भी एक अधिकरण में वृत्ति होने की वजह परस्परअनधिकरणवृत्ति नहीं हैं । अतः 'परस्पर-अनधिकरणवृत्तिसजातीयत्व-स्वरूप विरुद्धत्व की अप्रसिद्धि होने से उसका त्याग करना मुनासिब ही है, यह निष्कर्ष है ।

❀ नित्यानित्यत्व जातिविशेषस्वरूप है - स्याद्वादी ❀

अथवा द्र. इति । व्याख्याकार श्रीमद्गौड़ी जी की कारिका की अन्य रीति से व्याख्या करते हैं कि - नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म विशेषरूप से परस्परमिश्रित स्वभाव से मिलित (= रुद्ध) है, यह असत् = काल्पनिक नहीं है, क्योंकि तदेकत्वविषयक प्रमाण प्रसिद्ध है । तात्पर्य यह है कि नित्यानित्यत्व नरसिंहत्व आदि की भाँति जातिविशेषात्मक है, क्योंकि परस्पर में समाविष्ट विषयक प्रतीति की उससे उत्पत्ति होती है । केवल नरत्व और केवल सिंहत्व से नरसिंहत्वप्रकारक प्रतीति की भाँति केवल

मिलितं, नाऽसत्, 'एकत्र प्रमाणप्रसिद्धिः' = एकत्वे प्रमाणप्रसिद्धेरित्यर्थः । अयं भावः नित्यानित्यत्वं हि नरसिंहत्वादिवज्जात्यन्तरं, समाविष्टप्रतीतिजननात् । न हि केवलनरत्व-सिंहत्वाभ्यामेकनरसिंहप्रतीतिरिव केवलनित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यां संमिलितप्रतीतिरुपपादयितुं शक्यते ।

अथ नरसिंहत्वमेकव्यवक्तिवृत्ति न जात्यन्तरं नरत्वादिकमपि साहकर्यभिया न

✽ नयलता ✽

लभ्यते । एकत्वे प्रमाणप्रसिद्धेः = एकत्वविषयकप्रमाणप्रसिद्धेरिति हेतुर्लभ्यते । न च पक्षतावच्छेदकीभूतविशिष्टरुद्धत्वा-वच्छिन्ने नित्यत्वाऽनित्यत्वादौ हेतोरसत्त्वेन स्वरूपासिद्धिरिति वाच्यम्, तथापि एकत्वगोचरप्रसिद्धप्रमाणविषयत्वस्य हेतुत्वे दोषाऽभावात् । एतेन वैयधिकरण्यदोषोऽपि प्रत्याख्यातः । न चोदाहरणवैकल्यामाशङ्कनीयम्, नरसिंहत्वस्य तथात्वसम्भवात् । यथैकत्वगोचरप्रसिद्धप्रमाणविषयत्वेन नरसिंहत्वज्जातेर्नाऽसत्त्वं तथैव न न नित्यत्वाऽनित्यत्वादेरपि नाऽसत्त्वमिति भावः । एतेन हेतुघटकीभूतप्रसिद्धत्वस्य प्रमाणविशेषणस्याऽसिद्धिरपि प्रत्युक्ता । वस्तुतस्तु प्रसिद्धत्वं परिचायकं, न तु हेतुतावच्छेदकशरीरे प्रविष्टमिति न व्याप्यत्वाऽसिद्धेरवकाशः ।

प्रकृतमेव समर्थयति - अयं भाव इत्यादिना । प्रयोगस्त्वेवम् - नित्यत्वाऽनित्यत्वं जात्यन्तरं समाविष्टप्रतीतिविषयत्वात्, नरसिंहत्ववत् । परस्परव्यामिश्रितप्रतीतिगोचरत्वेन नरसिंहत्वस्य जातिविशेषत्ववत् तत एव नित्यत्वाऽनित्यत्वस्यापि जात्यन्तर-त्वमुपपत्स्यत इति भावः । स्वतन्त्रनित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यां नित्यानित्यत्वप्रकारप्रतीत्युपपत्तिमपाकरोति - न हीति । भिन्नाव-वावच्छेदेन वृत्तिभ्यां नरत्वसिंहत्वाभ्यामेकत्र नरसिंहत्वप्रतीतिरुपपादनेऽपि प्रकृते नैवं सम्भवति, परस्परानुप्रविष्टत्वेन नित्यत्वा-नित्यत्वप्रतीतेः । पृथग्देशावच्छेदेनाऽवस्थिताभ्यां नित्यत्वानित्यत्वाभ्यां मिथोऽनुरक्तनित्यत्वानित्यत्वप्रतीतेरसम्भवात्, सम्भवे वा भ्रमत्वापत्तेः । वस्तुतस्तु भिन्नदेशावच्छेदेन नित्यत्वानित्यत्ववृत्तित्वमपि नास्ति, किन्तु द्रव्यत्व-पर्यायत्वावच्छेदेनैव रामे ज्येष्ठराज-पुत्रत्वविशिष्टशिष्टाचारपालकत्वावच्छेदेन राज्याधिकारित्व-पुरुषोत्तमत्ववत् । ततो न भिन्नदेशावस्थिताभ्यां ताभ्यां परस्परसम्मि-लितनित्यत्वानित्यत्वप्रतीतिरुपपादयितुं शक्यते । एकदेशावच्छेदेनाऽवस्थितत्वात् । परस्परानुरक्तप्रत्ययजनकत्वाच्च जात्यन्तरत्व-कल्पनैवाऽर्हति, समुदितद्रव्यत्व-पर्यायत्वाभ्यां तदभिव्यक्त्युपपत्तेरिति प्रघट्टकार्थः ।

परः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । 'व्यक्तेरमेदस्तुल्यत्वं...' (किरणाव.) इत्युदयनवचनेनैक-व्यक्तिवृत्तित्वस्य जातिबाधकत्वान्न नरसिंहत्वं जातिविशेषरूपमित्याशयेन हेतुगर्भविशेषणमुखेनाऽऽह- नरसिंहत्वमेकव्यक्तिवृत्ति न जात्यन्तरमिति । नृसिंहशरीरे हि न मनुष्यत्वं सिंहत्वं वाऽस्ति, एकैकमात्रस्वीकारे विनिगमकाभावात् उभयोः स्वीकारे च जातिसङ्करप्रसङ्गात्, आंशिकत्वापाताच्च । किन्तु तदीयमुखाद्यवयवेषु प्रसिद्धसिंहमुखाद्यवयववृत्तिजातिमत्त्वं तदीयोदरपादाद्य-वयवेषु च प्रसिद्धमानुषीयोदरपादादिवृत्तिजातिमत्त्वं स्वीक्रियते । तैश्चोभयजातीयैरवयवैरारभ्यमाणे शरीरे नृसिंहत्वं जात्यन्तरं कल्प्यते । तच्च न संभवति, एकव्यक्तिवृत्तिकत्वात् । अतो न तदनुरोधेन नित्यानित्यत्वस्य जात्यन्तरत्वकल्पना युक्तेत्यभि-प्रायः । वस्तुतः नरत्वमपि न जातिस्वरूपं किम्पुनः नरसिंहत्वं ? इत्याशयेनाऽऽह- नरत्वादिकमपि पार्थिवजलीयादिशरीर-वृत्तितया साहकर्यभिया न जातिरूपमभ्युपगम्यते । जलीयनरे पृथिवीत्वं नास्ति, नरत्वमस्ति, पृथिव्यां पृथिवीत्वमस्ति नरत्वं नास्ति, अस्मदादिषु तूभयमिति पृथिवीत्यादिना साहकार्यनरत्वस्य न जातित्वमिति फलितम् ।

नित्यत्व और केवल अनित्यत्व से नित्यानित्यत्वप्रकारक संमिलितोभयविषयक प्रतीति उत्पन्न नहीं हो सकती है । इसलिए नित्याऽनित्यत्व को जात्यन्तरस्वरूप मानना आवश्यक है - यह फलित होता है । यहाँ यह शंका हो कि → 'नरसिंहत्व के उदाहरण से नित्यानित्यत्व को जात्यन्तर = जातिविशेषस्वरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि नरसिंहत्व भी वस्तुतः एक व्यक्ति में ही रहने की वजह जातिविशेषरूप नहीं है । जातित्व के ६ दोष बाधक होते हैं, जिनमें व्यक्त्यभेद यानी एकव्यक्तिवृत्तित्व प्रथम जातिबाधक दोष है । गगनत्व की भाँति नरसिंहत्व भी केवल एक आधार में रहने से जातिविशेषरूप नहीं माना जा सकता । दूसरी बात यह है कि नरत्व या सिंहत्व भी वस्तुतः जातिविशेषात्मक नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर पृथ्वीत्व आदि जाति के साथ सांकर्य प्रसक्त होता है, जो जातिबाधक तृतीय दोष है । अतः नरसिंहत्व के दृष्टान्त से नित्यानित्यत्व को जातिविशेषात्मक नहीं माना जा सकता' ←

≡ सांकर्य जातिबाधक नहीं है - व्याख्याती ≡

जातिरूपमभ्युपगम्यते इति चेत् ? न, उपाधिसाङ्कर्यस्यैव जातिसाङ्कर्यस्याऽप्यदोषत्वा-
न्तरत्वसमाविष्टसिंहत्वस्यैव तत्त्वात् । 'जातिसाङ्कर्यस्याऽदोषत्वे शिंशपात्वादेरन्यत्र सम्भा-
वनया 'वृक्षः शिंशपाया' इत्याद्यनुमानमप्युच्छेद्यत' इति चेत् ? न, उपाधिसाङ्कर्येऽप्यस्य
दोषस्य तुल्यत्वात्, तर्कादिना संशयनिवृत्तेरुभयत्र सम्भवात् ।

❀ जयलता ❀

प्रकरणकृत्समाधत्ते - नेति । परेण प्रतिब्रह्मकल्पं नृसिंहावतारस्वीकारात् उपासनादृष्टवशेन नृसिंहशरीरोत्पादस्वीकाराच्च
नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्यं लक्षणत्वमप्येव इति 'नरसिंहत्वमेकव्यक्तिवृत्ति न जात्यन्तरमि'त्यस्याऽयुक्तत्वं स्पष्टमेवेति
तदुपेक्ष्य परेण 'नरत्वादिकमपि साङ्कर्यमिमांसा न जातिरूपमभ्युपगम्यते' इति यदुक्तं तत्र समाधत्ते - उपाधिसाङ्कर्यस्यैवेति । यदि
जातिसाङ्कर्यं दोषः स्यात् तर्हि तस्योपाधित्वेऽपि दोषत्वं तदवस्थमेव । न चोपाधिसाङ्कर्यं दोषत्वेन परेणाऽभ्युपगम्यते । तद्वदेव
जातिसाङ्कर्यस्याऽप्यदोषत्वमुपपत्स्यत इत्यर्थः । गुआफले रक्तत्व-कृष्णत्वयोरिवैकत्र नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः खण्डशो व्याप्त्याऽ-
वस्थानं नाभ्युपगम्यते, किन्तु दाडिमे स्निग्धत्वोष्णत्वयोरिव परस्परानुवेधेनाऽवस्थानमङ्गीक्रियते । एवमेव नरत्वसिंहत्वयोः
स्वातन्त्र्येणाऽवस्थानं न स्वीक्रियते किन्तु परस्परव्यामिश्रितत्वेनैव, तथैव प्रत्यक्षात् । तदेव तत्र जात्यन्तरत्वमित्याशयेनाऽऽह-
नरत्वसमाविष्टसिंहत्वस्यैव तत्त्वात् = जात्यन्तरात्मकत्वात् । एतेन सर्वथा तदतिरिक्तत्वकल्पनागौरवमपि परिहृतम्, स्वरसवा-
हिसार्यलौकिकप्रत्यक्षस्यैव बलवत्त्वात् ।

परः शङ्कते - जातिसाङ्कर्यस्य = परस्परव्यधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशस्य अदोषत्वे परापरभावानुपपत्तेः शिंशपा-
त्वादेः व्याप्यत्वेनाऽभिमतजातेः अन्यत्र = वृक्षत्वशून्ये सम्भावनया = वृत्तित्वसम्भावनया, 'वृक्षः शिंशपाया' इत्याद्यनु-
मानमप्युच्छेद्येतेति । 'अयं वृक्षः शिंशपाया' इत्यत्र समवायेन वृक्षत्वस्य साध्यत्वं तादात्म्येन शिंशपाया हेतुत्वम् । प्रसिद्ध-
श्चेदनुमानम् । परं जातिसाङ्कर्यस्वीकारे शिंशपात्व-वृक्षत्वयोर्व्याप्य-व्यापकभावानुपपत्त्या समवायावच्छिन्नवृत्तित्वाकशिंशपात्व-
व्याप्यतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाकशिंशपाहेतोः समवायसंसर्गावच्छिन्नवृत्तित्वाकवृक्षत्वसाधकत्वं न स्यादिति शङ्कातात्पर्यम् ।

प्रतिबन्धा प्रकरणकारः समाधत्ते - उपाधिसाङ्कर्येऽपि किम्पुनर्जातिसङ्कर इत्यपिशब्दार्थः, अस्य प्रसिद्धानुमानोच्छेद-
लक्षणस्य दोषस्य तुल्यत्वादिति । अयं चेष्टाश्रयः पशुत्वादित्याद्यनुमाने पशुत्वादिसंकीर्णोपाधेः पराऽपरभावानुपपत्त्या स्वाभि-
मतसाध्यसाधकत्वं न स्यादित्यस्यापि तुल्यत्वादित्यर्थः । न च विपक्षबाधकतर्कादिना सङ्कीर्णोपाधिलक्षणहेतौ व्यभिचारसंशयो
विलीयत इति नोक्तानुमानोच्छेदापत्तिरिति वाच्यम्, सङ्कीर्णजातिलक्षणहेतावपि प्रकृतसमाधानस्य तुल्यत्वादित्याशयेनाऽऽह-
तर्कानदनेति । संशयनिवृत्तेः = व्यभिचारसन्देहविलयस्य, उभयत्र = सङ्कीर्णजात्युपाध्योः तुल्यत्वादिति ।

न उपा. इति । तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि उपाधिसांकर्य की भाँति जातिसांकर्य भी दोषात्मक नहीं है ।
आशय यह है कि कल्पभेद से नरसिंह अवतार भी अनेक होने की वजह नरसिंहत्व केवल एक अधिकरण में नहीं रहता
है । अतएव वह जातिस्वरूप हो सकता है । तथा नरत्व आदि को जातिविशेषस्वरूप मानने में जो पृथ्वीत्व आदि के साथ
सांकर्य का दोषाज्ञावन किया गया था, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सांकर्य होने पर भी भूतत्व को जैसे नैयायिक मनीषियों
ने उपाधिस्वरूप माना है, ठीक वैसे ही सांकर्य होने पर भी नरत्व को जातिस्वरूप माना जा सकता है । यदि सांकर्य
उपाधित्व का बाधक नहीं है, तो फिर जातित्व का बाधक कैसे हो सकता है ? संकर को जातिबाधक मानने पर उपाधिबाधक
मानना भी न्यायप्राप्त है । अतः नरत्व आदि को भी जातिस्वरूप माना जा सकता है । दूसरी बात यह है कि हम नरसिंहत्व
को जातिविशेषात्मक मानते हैं, वह भी सर्वथा नरत्व और सिंहत्व से भिन्न तृतीय जातिस्वरूप नहीं मानते हैं, किन्तु नरत्वसमा-
विष्टसिंहत्व को ही हम नरसिंहत्व कहते हैं । एक अधिकरण में नरत्व और सिंहत्व जाति का सांकर्य दोषरूप नहीं होने
से नरत्वमिश्रित सिंहत्व को ही नरसिंहत्वरूप जात्यन्तर कहा जा सकता है । यहाँ यह शंका हो कि —> 'सांकर्य को जातिबाधक
न मानने पर तो एक जाति और दूसरी जाति के बीच पराऽपरभाव यानी व्याप्य-व्यापकभाव का ही उच्छेद हो जाने से
शिंशपात्व जाति की वृक्षत्वशून्य में भी संभावना होने से 'अयं वृक्षः शिंशपायाः' इत्यादि अनुमान का भी उच्छेद हो जायेगा ।
तादात्म्यसंबन्ध से शिंशपाविशिष्ट व्यक्ति वृक्षभिन्न भी हो सकती है, क्योंकि जातिसांकर्य को निर्दोष मानने की आपने इजाजत
दे दी है' <— तो यह दोष तो उपाधिसांकर्य को निर्दोष मानने पर भी समानरूप से प्रसक्त हो सकता है, क्योंकि संकीर्ण
उपाधि में भी पराऽपरभाव = व्याप्य-व्यापकभाव दुर्घट होने से 'अयं चेष्टाश्रयः पशुत्वादि'त्यादि अनुमान का उच्छेद होने वाला

अथ घटत्वपटत्वादेर्नियतविरोधदर्शनेन परस्पराऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वस्य विरोधितावच्छेदकत्वकल्पनाञ्च तदवच्छिन्नजात्योः समावेशसम्भव इति चेत् ? न, परस्परत्वस्य नानात्वेन तन्नियमस्य विशिष्य विश्रामात्,

❀ नयतता ❀

परः शङ्कते- अथेति । 'चेदि'त्यननाऽस्याऽन्वयः । घटत्वपटत्वादेः नियतविरोधदर्शनेन = सर्वत्र परस्पराधिकरणाऽवृत्तित्वोपलम्भेन, परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वस्य विरोधितावच्छेदकत्वकल्पनाञ्च तदवच्छिन्नजात्योः = विरोधितावच्छेदकीभूतपरस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वावच्छिन्नजात्योः समावेशसम्भव इति । घटत्वाद्यत्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वं पटत्वादौ वर्तते, पटत्वाद्यत्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वं च घटत्वादौ वर्तते इति घटत्वपटत्वाद्योः जात्योर्विरोधसिद्ध्या नैकत्र समावेश इति न जातिसाङ्ख्यं निर्दोषमिति अथाशयः ।

अत्र यद्यपि जातिसाङ्ख्यस्य स्वरूपं यदि सिद्धं तदा तदाधारभूतं जातिद्वयमपि सिद्धमिति न तस्य दूषणत्वम् । अथ न सिद्धं तदा स्वरूपाऽसिद्धेरेवाऽदूषणत्वम् । अथ यदिपदोपसन्दानेनापादकीभूय दूषणमेतत् यदि जातिसाङ्ख्यं स्यात् तदा घटत्वपटत्वयोरप्येकदेशवृत्तित्वं स्यादिति चेत् ? न, आपादकाऽप्रसिद्धेः । न हि जातिसाङ्ख्यं क्वचित्प्रसिद्धं येन तत्त्वात्मनि आपादकत्वं स्वीकुर्यात् । यदि च सङ्कीर्णयोर्भूतत्वमूर्तत्वयोः जातित्वं स्याद्, घटत्वपटत्वयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यादिति विभाव्यते, तदपि फलम्, आपाद्यापादकयोर्वैयधिकरण्येन परेणोक्तापत्तिप्रदानस्याऽसम्भवात् । एतेन जातित्वं यदि तादृशधर्मवृत्ति स्यात्, उभयवासिद्धमततादृशधर्मवृत्ति स्यादित्येवं यदि जातिसाङ्ख्यं स्यात् घटत्वपटत्वयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यादित्यापादनस्यार्थोपवर्णनं तन्निरस्तम्, अप्रयोजकत्वात् । अतः एव स्वसामानाधिकरण्य-स्वाभावसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन जातिविशिष्टजातित्वावच्छेदेन स्वसामानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वाभाव इति नियमस्य भङ्गाप्रसङ्ग एव जातिसाङ्ख्यं बाधक इत्यपि प्रत्याख्यातमित्यादि वक्तुं शक्यते तथापि स्पष्टत्वात्तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण निराकरोति- नेति । परस्परत्वस्य नानात्वेनेति । परैपदार्थघटितस्य परस्परतास्य परपदार्थभेदेः निराकरोति- नेति । तन्नियमस्य = परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वस्य विरोधितावच्छेदकत्वनियमस्य, विशिष्य विश्रामात् = परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण-परस्पराऽसमाविष्टजातित्वस्य विरोधिता-

ही है । तर्क आदि से व्यभिचार शंका का निवर्तन तो संकीर्ण उपाधि की भाँति संकीर्ण जाति में भी समानतया हो सकता है । अतः उपाधिसंकर भी भाँति जातिसंकर भी दोषात्मक नहीं है - यह मानना आवश्यक है ।

❀ नरत्वाभावसमानाधिकरण सिंहत्वत्व विरोधितानवच्छेदक ❀

अथ घ. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> 'घटत्व और पटत्व आदि में परस्पर नियत विरोध प्रत्यक्षतः सिद्ध है । जहाँ घटत्व होता है, वहाँ पटत्व नहीं ही होता है और जहाँ पटत्व होता है, वहाँ घटत्व भी नहीं रहता है । मतलब कि घटत्व जाति पटत्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरण है और पटत्व जाति घटत्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरण है । घटत्व, पटत्व आदि जाति में इस तरह रहने वाला परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण जातित्व ही परस्परविरोधिता का अवच्छेदक = नियामक है । विरोधितावच्छेदक जातित्व घटत्व, पटत्व में रहने की बदीलत घटत्व और पटत्व जाति का, जो परस्परविरोधितावच्छेदकीभूत जातित्व से अवच्छिन्न = विशिष्ट हैं, एक अधिकरण में समावेश नहीं हो सकता है, अन्यथा घटत्व, पटत्व में रहने वाला जातित्व विरोधिता का नियामक ही नहीं हो सकता । घटत्व, पटत्व आदि की भाँति नरत्व और सिंहत्व का भी एक धर्म में समावेश नहीं हो सकता' <— तो यह नामुनासिब है, क्योंकि परस्परत्व का घटक परपदार्थ अननुगत होने से परस्परत्व भी अनेकविध होने की वजह परस्परत्व से घटित यह नियम कि - 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्व परस्परविरोधितावच्छेदक होता है' - भी घटत्व, पटत्व आदि प्रसिद्ध विरुद्ध धर्म में ही प्रवृत्त हो सकता है, न कि सर्वत्र । अननुगत पदार्थ से घटित नियम कभी भी सार्वत्रिक नहीं हो सकता है । फिर भी यहाँ यह कहा जाय कि —> 'घटत्व, पटत्व आदि में रहनेवाले जातित्व की भाँति नरत्व और सिंहत्व में रहने वाला जातित्व भी परस्परविरोधितावच्छेदक तो हो सकता है, जिसकी वजह एक धर्म में दोनों का समावेश नहीं हो सकेगा' <— तो यह भी बेसिरपैर का वक्तव्य है, क्योंकि एक ही धर्म में नरत्व और सिंहत्व की, जो परस्पर संमिलित हैं, प्रतीति होने से नरत्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणसिंहत्वत्व परस्परविरोधिता का अवच्छेदक ही नहीं है, जिसकी वजह तादृश सिंहत्वत्व से अवच्छिन्न = विशिष्ट सिंहत्व के अधिकरणीभूत नृसिंह में नरत्व का समावेश न हो । अतः परस्परमिश्रित नरत्व-सिंहत्व को ही जात्यन्तरात्मक मानना मुनासिब है । अतः उपाधिसांकर्य की भाँति जातिसांकर्य

नरत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणसिंहत्वत्वादेर्विरोधितानवच्छेदकत्वात् ।

अथ जात्यन्तररूपतेव व्यक्त्यन्तररूपतेवाऽस्य कुतो न सहगीयत इति चेत् ? स्वतन्त्रपरिभाषाया अपर्यनुयोज्यत्वात् ।

एवञ्च सामान्य-विशेषात्मकत्वस्यापि तथात्वं साधु सङ्गच्छते । एकैकनयार्पणया

❀ नयलता ❀

वच्छेदकत्वमित्येवं विशेषरूपेण पर्यवसानात् । अत एव घटत्व-पटत्वयोर्विरोधदर्शनेन विरोधितावच्छेदकमनुगतं किञ्चिदवश्यमुप-
गन्तव्यम्, अन्यथा गोत्वाश्वत्वयोरपि विरोधित्वाऽवगतयेऽवच्छेदकान्तरस्य वक्तव्यतायां विशेषतो जातिविशेषविरोधितावच्छेदको-
पवर्णन एव जन्मसहस्रं मनीषिणो व्याप्रियेरन् तथापि न तदन्तमाप्नुयुः । तच्च रूपं परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमेव यदन-
ङ्गीकारे सजातीय-विजातीयव्यवस्थोच्छिद्येतेति परेषामभिनिवेशोऽपि प्रत्याख्यातः, परस्परसमाविष्टधर्मस्थले तथा वक्तुमशक्य-
त्वात् । 'तथापि नरसिंहस्थले प्रदर्शितनियमप्रवृत्तिः स्यादिति चेत् ? अ, एवञ्च धर्मिणि परस्परैर्बुद्धिरितनरसिंहप्रतीतिबलेन
नरत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणसिंहत्वत्वादेः विरोधितानवच्छेदकत्वादिति ।

ननु यथा नरसिंहत्वस्य जात्यन्तरत्वमेव कल्प्यते तथा नरसिंहस्य व्यक्त्यन्तरत्वमेव कुतो न कल्प्यते ? इत्याशयेन शङ्कते
- अथेति । समाधत्ते - स्वतन्त्रपरिभाषाया अपर्यनुयोज्यत्वादिति । 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना श्रेयसी'ति न्यायादपि न
व्यक्त्यन्तरकल्पनमर्हतीति ध्येयम् ।

एवञ्च = विरोधस्य विशिष्टैव विश्रान्तत्वेन च, सामान्य-विशेषात्मकत्वस्यापि तथात्वं = अविच्छेदत्वं जात्यन्तरात्म-
कत्वं वा साधु सङ्गच्छत इति । अभेदग्राहिन्यविवक्षया वस्तुनि सदृशपरिणतिः केवलमनुवृत्तिधियमुत्पादयति भेदग्राहिन्यानु-
रोधेन वस्तुनि विसदृशपरिणतिः केवलं व्यावृत्तिधियं जनयति । तादृशसदृशपरिणतिरेव केवलसामान्यात्मिका तादृशवैसादृश्यपरि-
णतिरेव च केवलविशेषात्मिकाच्यते । नयभेदेनैव व्यवस्थिते त एव प्रमाणापेक्षया पुनरेकैवानुवृत्तिव्यावृत्तिधियं सम्पादयतः ।
अत एव प्रमाणार्पणया ते जात्यन्तरम् । एवं प्रमाणेन वस्तु स्यादनुगमव्यतिरेकपरिणतिमज्जात्यन्तरवदेवेत्याशयवतां मतेनाऽऽह-
एकैकेति । विभाविताधर्मवैतत् ।

उत्पादादिसिद्धिप्रकरणकृतस्तु- 'न द्रव्य-पर्याययोः प्रत्येकमनुवृत्तिरूपतां प्रतिपद्यामहे, प्रतिनियतस्य द्रव्यपर्यायलक्षणस्य
पदार्थद्वयस्य स्वतन्त्रस्य कदाचिदन्त्युपगमात् । एकमेव हि तद्वस्तु अनुवृत्तिप्राधान्येन विवक्षितं तदेव पर्यायव्यपदेशमासाद-
यति । ततः कथं पर्यायद्वयं स्यात् । न हि घटपटत्ववद्द्रव्यपर्यायौ कौचित् स्वतन्त्रौ स्तः । अनुवृत्तिव्यावृत्ती च वस्तुस्वभाव
एव युवतः, तयोरनुवर्तमानव्यावर्तमानाधीनत्वात् । तदेव वस्तुननुवर्तते इत्यनुवर्तमानाकारप्राधान्येन विवक्षितमनुवृत्तिरित्युच्यते ।

भी निर्दोष ही है - यह फलित होता । यहाँ यह प्रश्न कि → 'नरसिंहत्व को जात्यन्तरस्वरूप माना जाता है, वैसे नरसिंह
को ही व्यक्त्यन्तरात्मक क्यों नहीं माना जाता ? जैसे नृसिंहत्व न तो केवल नरत्वस्वरूप है और न तो केवल सिंहत्वस्वरूप
है किन्तु शुद्ध दोनों से विलक्षण जातिविशेषस्वरूप ही है, यह कल्पना की जाती है । उसके स्थान में यह कल्पना कि, नरसिंह
न केवल शुद्ध नरव्यक्ति है और न तो केवल सिंहव्यक्ति है, किन्तु उन दोनों से विलक्षण व्यक्तिविशेष ही है, क्यों नहीं
की जाती ?' ← भी निराधार है, क्योंकि स्वतन्त्र परिभाषा में यह प्रश्न नहीं हो सकता कि- 'यह ऐसा क्यों माना गया
है ?' वैसे क्यों नहीं ?' आर्य पुरुषों की इच्छा अपर्यनुयोज्य = प्रश्नाऽनर्ह होती है । नरसिंहत्व की भौति नित्याऽनित्यत्व
भी नित्यत्वसंमिलिताऽनित्यत्वस्वरूप जात्यन्तरात्मक है । इस तरह जातिविशेष से ही विलक्षण प्रतीति की उपपत्ति हो जाती
है, तब नित्याऽनित्यात्मक व्यक्तिविशेष ही कल्पना करनी अनावश्यक है- यह उपर्युक्त वक्तव्य से ध्वनित होता है ।

❀ सामान्य और विशेष परस्पराऽविरुद्ध एवं वस्तुदेश हैं - व्याख्यादी ❀

एवञ्च इति । जैसे वस्तु में नित्यानित्यत्व जातिविशेषात्मक सम्यक् उपपन्न होता है, ठीक वैसे ही सामान्यविशेषात्मकत्व
भी जात्यन्तररूप सम्यक् संगत हो सकता है । जब अभेदनय की विवक्षा की जाय तब अनेक वस्तुओं में रही हुई सामान्यपरिणति
= सदृशपरिणति केवल अनुगत बुद्धि को उत्पन्न करती हुई केवल सामान्यस्वरूप कही जाती है और भेदनय की विवक्षा से
वस्तुस्थ विसदृशपरिणति केवल व्यावृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करती हुई केवल विशेषस्वरूप कही जाती है । जैसे अभेदनय की विवक्षा
होने पर अनेक घट में घटत्वात्मक या कंबुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप सदृशपरिणति 'यह घट है, यह घट है' इत्याकारक अनुगत बुद्धि

प्रतीयमाने सदृश-विसदृशपरिणती हि केवलानुवृत्ति-व्यावृत्तिधियावर्पयन्त्यौ केवलसामान्य-विशेषरूपे प्रमाणार्पणया प्रतीयमानं वस्तु पुनर्युगपदुभयधियं जनयत्कथञ्चिदनुगमव्यावृत्ति-मज्जात्यन्तरमेवेत्याहुः ।

अथैवं सामान्यं वस्तु न स्यादिति चेत् ? न वस्तु नाप्यवस्तु किन्तु वस्तुवेकदेश इत्येव सिद्धान्तः ।

❀ नयलता ❀

न चानयोर्वस्तुस्वभावता ? भावो हि भवित्रधीनस्तदैव भवति तदा तद्वस्तुस्वभाव एवायं स्यात्, अन्यथा यद्यनुवृत्तिव्यावृत्ति-भिन्ने एव तदा न भावोऽनुवर्तते व्यावर्तते वा, तदा तदपरवस्त्वन्तरवत्' <— (उ.सि.पृ.१५४) इत्यादि व्याचक्षते ।

ननु नयभेदवतारे सदृशाऽसदृशपरिणतिरूपौ सामान्यविशेषावित्यङ्गीकारे केवलं सामान्यं विशेषो वा कथं पूर्ण-वस्तुस्वरूपमासादयेत् ? अतः तयोः स्वतन्त्रयोर्वस्तुत्वमेवापद्येतेत्याशयेन मुग्धः शङ्कते - अथेति । समाधानमाह- न वस्त्वित्यादि । वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेनैकैकभागस्य न वस्तुत्वं नाऽप्यवस्तुत्वम् । न च वस्तुत्वाऽवस्तुत्वयोः परस्परविरहरूपत्वे-नैकनिषेधेऽपरविधानमेव प्राप्तं वट-तदभावयोरिवेति वाच्यं, यत्र प्रकारान्तराऽसम्भवः तत्रैकनिषेधेऽपरविधानात् यथैकान्त-निषेधेऽनेकान्तविधानं, प्रकृते तु समुद्रांशदृष्टान्तेन वस्त्वंशरूपप्रकारान्तरसम्भवेन तथाप्रसङ्गविरहात् । तदुक्तं - 'नायं वस्तु न चाऽवस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः । नाऽसमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि' ॥ () न चोदाहरणमपि न नोऽभि-मतमिति वक्तव्यम्, समुद्रैकदेशस्य समुद्रत्वे शेषांशानां समुद्रत्वानापत्तेः, विनिगमनाविरहेणांशान्तराणामपि प्रत्येकं समुद्रत्वे त्वेकत्रापि समुद्रे 'बहवः समुद्रा' इति धीव्यवहारौ प्रसज्येताम् । समुद्रैकदेशस्याऽसमुद्रत्वे त्वंशान्तराणामप्यसमुद्रत्वापत्तौ समूहिव्यतिरिक्तसमूहस्य विरहेण समुद्रधीव्यवहारावेवोच्छिद्येताम् । तस्मादनन्यगत्या तस्य समुद्रांशत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यम् । एवं वस्त्वंशस्याऽपि भावनीयं, युक्तेरपक्षपातित्वात् । तदुक्तं - 'एकांशस्य समुद्रत्वे शेषांशस्याऽसमुद्रता । समुद्रबहुता वा स्यात्

को उत्पन्न करती है । अतः वह सदृशपरिणति ही केवल सामान्यात्मक कही जाती है । मगर भेदनय की प्रवृत्ति होती है, तब वह अनेक घट में रही हुई विसदृशपरिणति को ग्रहण करता है । भेदनयविषयीभूत विसदृशपरिणति अनेक घट में 'यह रक्त है, यह श्याम है, यह अमदावादीय है, वह वापीय है' इत्याद्याकारक व्यावृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करती है । इसी सबब वह केवल विशेषरूप कही जाती है । इस तरह प्रत्येक नय की विवक्ष होने पर अनुगतबुद्धिजनक सदृशपरिणति शुद्ध सामान्य और व्यावृत्तिबुद्धिजनक विसदृशपरिणति शुद्ध विशेष कही जाती है । मगर जब प्रमाण की विवक्षा होती है तब अनेक वस्तुओं में एक ही काल में अनुवृत्ति और व्यावृत्ति की बुद्धि को सदृश-विसदृश परिणति उत्पन्न करती है । इसकी वजह वस्तु कथंचित् अनुगमव्यावृत्तिवाली जात्यन्तरवाली ही कही जाती है । प्रमाण सर्वनयसमूहात्मक होता है । अतः प्रमाण की विवक्षा होने पर वह भेदनय और अभेदग्राही, नय के विषय को प्रधानरूप से ग्रहण करता है । अतएव नयविशेष की अपेक्षा वस्तु के अंशभूत होने की वजह परस्पराऽविरोधी सामान्य अंश और विशेष अंश ही मिलित हो कर प्रमाण की विवक्षा होने पर जात्यन्तर-रूप जातिविशेषात्मक बन कर एक ही काल में अनुवृत्तिव्यावृत्तिउभयप्रकारक = अन्वयव्यवच्छेदप्रकारक बुद्धि एवं व्यवहार के निमित्त बनते हैं - ऐसा प्राचीन जैनाचार्यों का वक्तव्य है ।

अथै. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> 'यदि नय की अपेक्षा वस्तु की सदृश परिणति ही सामान्य है और विसदृश परिणति ही केवल विशेषपदार्थ है तो फिर सामान्य और विशेष दोनों वस्तुस्वरूप नहीं बन पायेंगे, क्योंकि वस्तु परिणाम नहीं है, किन्तु वह परिणामवाली = परिणत है । अतः सामान्य और विशेष अवस्तु बनने की वजह नरशृंग की भाँति असत् बन जायेंगे' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य या विशेष न तो वस्तु है और न तो अवस्तु यानी सर्वथा वस्तुभिन्न नहीं है, किन्तु वस्तु का एक देश = अंश है - यही जैनसिद्धान्त है । जैसे समंदर का छोटा भाग न तो पूर्ण समंदर है और न तो सर्वथा समंदर से भिन्न है किन्तु उसका एक अंश कहा जाता है, ठीक वैसे ही समानपरिणामस्वरूप सामान्य पदार्थ एवं असमानपरिणामात्मक विशेष पदार्थ भी न तो संपूर्ण वस्तु है और न तो सर्वथा वस्तु से भिन्न है, किन्तु वस्तु का एक अंश है । समान परिणाम को पूर्ण वस्तुस्वरूप मानने पर वस्तु के शेष परिणाम सर्वथा वस्तुभिन्न बन जायेंगे या जितने परिणाम हैं उतनी संख्या में वस्तुएँ बन जायेंगी और समानपरिणति को सर्वथा वस्तुभिन्न मानने पर शेष परिणाम भी वस्तु से सर्वथा भिन्न बनने की वजह वस्तु तत् तत् परिणाम से शून्य हो जायेगी और उसीकी वजह वस्तु की ही असिद्धि हो जायेगी । अतः मानना होगा कि सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तु के अंश हैं ।

अथ मिलितत्वात् सामान्यविशेषाभ्यामेव न च द्विद्व्यवृत्तिव्यावृत्तिव्यवहारस्यैकदा सम्भवात् तयोरेव जात्यन्तररूपताऽस्ति चेत् ?

॥ अथ तत्त्व ॥

तत्त्वे क्वाऽस्तु समुद्रवित्' ॥ () एवं वस्तुन एवाऽनुवृत्त्यंशः सामान्यं व्यावृत्त्यंशश्च विशेषपदार्थ इति सिद्धान्ताशयः ।

यत्तु शान्तरक्षितेन तत्त्वसङ्ग्रहे स्याद्वादपरीक्षाप्रकरणे —

‘ननु सत्येकरूपत्वे धर्मभेदो न सिद्ध्यति । अकल्पितो विभेदो हि नानात्वमभिधीयते ॥

नानात्वत्वं तु शक्तीनां विवक्षामात्रनिर्मितम् । एकवस्त्वात्मकत्वे हि न भेदोऽत्रापि युक्तिमान् ॥

एकमित्युच्यते तद्धि यत्तदेवेति गीयते । नानात्मकं तु तन्नाम न तद्भवति यत्पुनः ॥

तद्भावश्चाऽप्यतद्भावः परस्परविरोधतः । एकवस्तुनि नैवाऽयं कथञ्चिद्वदकल्प्यते ॥

विधानप्रतिषेधौ हि परस्परविरोधिनी । शक्यावेकत्र नो कर्तुं केनचित्स्वस्थचेतसा ॥

सजातीयविजातीयाऽनेकव्यावृत्तवस्तुनः । ततस्ततः परावृत्तेर्धर्मभेदस्तु कथ्यते ॥

एकस्यापि ततो युक्ता कल्पिताऽसङ्ख्यरूपता । वास्तवं नैकभावस्य द्वैरूप्यमपि सङ्गतम् ॥

नरसिंहादयो ये हि द्वैरूप्येणोपवर्णिताः । तेषामपि द्विरूपत्वं भाविकं नैव विद्यते ॥

स ह्यनेकाणुसन्दोहस्वभावो नैकरूपवान् । यच्चित्रं न तदेकं हि नानाजातीयरत्नवत् ॥

ऐक्ये स्यान्न द्विरूपत्वान्नानाकारावभासनम् । मक्षिकापदमात्रेऽपि पिहितेऽनावृत्तिश्च न ॥

नृसिंहभागानुस्यूतप्रत्यभिज्ञानहेतवः । ते चाणवः प्रकृत्यैव विशिष्टप्रत्ययोद्भवात् ॥

एतेनैव प्रकारेण चित्ररत्नादयो गताः । नानात्मना हि वैचित्र्यमेकत्वेन विरुध्यते ॥

अर्धक्रियासमर्थत्वं वस्तुत्वमभिधीयते । यदि तस्यानुगामित्वं सर्वं स्यात्सर्वकार्यकृत् ॥ (त.सं. १७२५/१७३७) इत्युक्तम् ।

तत्र मया —> ‘द्रव्यात्मनैकरूपत्वेऽप्यत्र भेदो न दुष्यति । पर्यायापेक्षया वास्तवो विभेदोऽभिधीयते ॥१॥

नानात्वत्वं न शक्तीनां विवक्षामात्रनिर्मितम् । एकवस्त्वात्मकत्वेऽपि कथञ्चिद्वदबोधतः ॥२॥

एकमित्युच्यते तद्धि यदनुवर्त्तते खलु । नानात्मकं तु तन्नाम तत्र यद् व्यतिरिच्यते ॥३॥

अवच्छेदकभेदेन परस्पराऽविरोधतः । एकत्राऽप्युभयं ह्येवं कथञ्चिद्वदकल्प्यते ॥४॥

विधानप्रतिषेधौ हि परस्पराऽविरोधिनी । एकत्र रूपभेदेन शक्येते दूषितुं केन ? ॥५॥

कथञ्चिदनुवृत्तस्य व्यावृत्तस्य च वस्तुनः । एकानेकस्वभावत्वं बाधितुं नैव शक्यते ॥६॥

एकस्यापि ततो युक्ताऽकल्पिताऽसङ्ख्यरूपता । वास्तवं नैकभावस्य द्वैरूप्यमपि सङ्गतम् ॥७॥

नरसिंहादयो भावा द्वैरूप्येणाऽभ्युपेता हि । तेषामपि द्विरूपत्वं भाविकं चैव विद्यते ॥८॥

कथञ्चिदणुसन्दोहव्यतिरिक्ताः स्वभावतः । अतो न सर्वथा नानात्वमाविभ्रति ते खलु ॥९॥

नानात्वे स्यात्कुतोऽखण्डाकारावभासनं तदा । तदेकदेशकर्षे कुतो नाऽन्यभागकर्षणम् ॥१०॥

नृसिंहभागानुस्यूतप्रत्यभिज्ञानहेतवः । ते चाऽणवः प्रकृत्यैवेत्यत्र मानं न विद्यते ॥११॥

एतेनैव प्रकारेण चित्ररत्नादयो मताः । द्रव्यैकत्वं विरुद्धं न चित्रपर्यायराशिभिः ॥१२॥

द्रव्यात्मनाऽनुगामित्वं पर्यायैर्व्यतिरेकिता । वस्तुत्वेऽपि ततो नैव सर्वं स्यात्सर्वकार्यकृत् ॥१३॥

व्यवहारानुरोधेन तत्तदर्थक्रिया मताः । एकाऽनेकस्वभावत्वेऽप्यर्धक्रिया न दुष्यति ॥१४॥’ <— इत्येवं प्रतिविधीयते ।

परः शङ्कते- अर्थेति । ‘चेदि’त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । मिलिताभ्यां सामान्यविशेषाभ्यामेवेति । एवकारेण परस्पराऽ-

सम्मिलितयोस्तयोः परस्परसम्मिलिततदुभयव्यतिरिक्तस्य जात्यन्तररूपस्य सामान्यविशेषत्वस्य च व्यवच्छेदः कृतः । तयोरेवेति ।

मिलितयोः सामान्यविशेषयोरेवेति । एवकारेण चाऽमिलिततदुभय-तद्व्यतिरिक्तसामान्यविशेषत्वयोर्व्यवच्छेदः कृतः । युगपदनु-

अथ मि. इति । यहाँ यह शंका हो कि —> ‘नय कि दृष्टि से सामान्य और विशेष दो परिणाम और प्रमाण की दृष्टि से उन दोनों से भिन्न जातिविशेषरूप सामान्यविशेषात्मकत्व की कल्पना करने की अपेक्षा यही कल्पना करनी उचित महसूस होती है कि नयगोचर सामान्य और विशेष ही संमिलित हो कर एक काल में कथंचित् अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि को

प्रमाणार्पणयैकत्वेन पर्यवसितयोराधारतया प्रतीयमानयोस्तयोरेव समुदायित्वेन तथात्वमुत्प-
श्यामः । अंशांशिनोर्विवक्षाभेदेनैव भेदात्, परमार्थतो भेदंऽशांशिभावाऽसम्भवात् । यथा हि
कणानामेव समुदितानां राशित्वं, असमुदितानां तु तदेकदेशत्वं तथाऽपि भावनीयमिति दिक् ।

अत्र दृष्टान्तमाहुः - विरुद्धेति । विरुद्धानां परस्परकरम्बितस्वभावानां वर्णानां = नील-
पीतादीनां योगः = समावेशः, हि = यतः दृष्टः = प्रमाणसिद्धः, मेचकवस्तुषु = ज्ञानास्वरूपवद-

❀ गयलता ❀

वृत्तिव्यावृत्तिधीव्यवहारकृते जात्यन्तरात्मकस्य मिलितसामान्य-विशेषव्यतिरिक्तस्य नयसमूहात्मकप्रमाणसम्मतस्य सामान्यविशेष-
त्वस्य कल्पनमनायकमित्युपशयः ।

नयभेदेनाऽनेकविधत्वेन सिद्धयोरपि प्रमाणेनैकत्वविधया फलितयोः सामान्यविशेषयोराधारत्वेन प्रतीयमानत्वात् सन्ता-
नित्वविधया जात्यन्तरत्वमित्याशयेन प्रकरणकृत्समाधत्ते - प्रमाणार्पणया = प्रमाणविवक्षया, एकत्वेन = अभिन्नत्वेन रूपेण,
पर्यवसितयोः = प्रसिद्धयोः आधारतया = धर्मित्वेन रूपेण प्रतीयमानयोः तयोः = सामान्यविशेषयोः एव समुदायित्वेन
= अंशत्वेन तथात्वं = जात्यन्तरत्वमिति । सामान्यविशेषयोः प्रमाणावतारेऽभिन्नत्वं तयोर्धर्मित्वेन ज्ञायमानत्वात् । धर्मित्वेन
ज्ञायमानत्वेऽपि धर्मरूपेण तयोरेव जात्यन्तरत्वम् । न च वस्त्वंशभूतस्य सामान्यस्य विशेषस्य वा कथं ततोऽभिन्नत्वं येन
तयोस्ततोऽभिन्नत्वमित्याशङ्कनीयम्, वस्त्वंशस्य वस्तुतो वस्तुनो भिन्नत्वेऽपि विवक्षाविशेषेणैव तद्वेदादित्याशयेन प्रकरणकृदाह -
अंशांशिनोः = वस्तु-तदेकदेशयोः विवक्षाभेदेनैव भेदात् = परस्परं भिन्नत्वात् । एवकारफलमाह - परमार्थतः = वस्तुगत्या,
वस्तु-तदंशयोः परस्परं भेदे अभ्युपगते सति तयोः अंशांशिभावाऽसम्भवात् । न हि वस्तु-तदेकदेशयोः परस्परं सर्वथा भेदे
सत्यंशांशिभावः सम्भवति, अन्यथा विन्ध्यहिमाचलयोरपि परस्परमंशांशिभावप्रसङ्गात् । समुदायसमुदायिनोः कथं वस्तुतोऽभेदः
सम्भवतीत्याशङ्कयामाह - यथेति । अत्राऽपि भावनीयमिति । सामान्यविशेषयोः समुदितयोः वस्तुत्वं बुद्ध्या पृथक्कृतयोः
तयोरेव वस्तुत्वकदेशत्वमित्येवं भावना कार्येत्यर्थः ।

ननु सामान्य-विशेषयोः परस्परं विरुद्धत्वेन कथमेकत्र धर्मिणि तदुभयसमावेशो घटामश्चेदित्याशङ्कयामाह - अत्र =
सामान्यविशेषयोरेकत्र समावेशे, दृष्टान्तमाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरय इति शेषः । विरुद्धानां = विरुद्धत्वेन पराभिमतानां, परं वस्तु-
गत्या परस्परकरम्बितस्वभावानां = अन्योऽन्यानुरक्तशीलानां वर्णानां नीलपीतादीनां समावेशः प्रमाणसिद्धः = लोकप्रसिद्ध-
प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धः, एकत्रैव मेचकवस्तुष्विति । 'नीलपीतादीनां विरुद्धत्वं परस्परकरम्बितस्वभावत्वञ्चाऽभिधीयमानं कथं

उत्पन्न करते हैं । अतः समानपरिणाम और असमानपरिणामरूप सामान्य और विशेष को ही जातिविशेषात्मक मानना युक्त
है । सामान्य और विशेष से अतिरिक्त सामान्यविशेषत्वरूप जातिविशेष की कल्पना करने में गौरव है' <- तो यह भी असंगत
है । इसका कारण यह है कि प्रमाण की विवक्षा होने पर एकत्वेन = अभिन्नरूप से फलित होते हुए और आधारत्वरूप से
प्रतीयमान समान परिणाम और असमान परिणाम ही समुदायीरूप से जातिविशेषात्मक बनते हैं । यही हमें (= प्रकरणकार
महामहोपाध्यायजी को) संगत लगता है । अंश और अंशी में वस्तुतः विवक्षाभेद से ही भेद है, न कि परमार्थ से । यदि
अंश और अंशी के बीच परमार्थ से भेद मान जाय तब तो विन्ध्याचल और हिमालय की भाँति उन दोनों के बीच अंशांशिभाव
= अवयवाऽवयवीभाव ही नामुमकिन हो जायेगा । अतः उन दोनों के बीच कथंचित् अभेद मानना युक्त ही है । जैसे धान्यकण
इकट्ठे होते हैं, तब वे राशि या समुदाय कहलाते हैं और जब वे स्वतंत्र होते हैं तब समुदाय का एक देश कहलाते हैं ।
ठीक वैसे ही सदृश परिणाम और असदृश परिणाम परस्पर मिलित होते हैं, तब समुदाय या वस्तु कहलाते हैं । मगर जब
बुद्धि से वे अलग किये जाते हैं, तब वे वस्तु के एक देश कहलाते हैं । इस विषय में अधिक विचार भी किया जा सकता
है । यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है । इस बात की सूचना देने के लिए प्रकरणकार ने दिक् शब्द का प्रयोग किया है ।

❀ चित्र ६८ में नील-पीतादेवर्ण परलपटानुविद्धस्वभाववाले होते हैं ❀

अत्र दृ. इति । यहाँ यह प्रश्न हो कि -> 'सामान्य और विशेष तो परस्पर विरुद्ध होने की वजह एक धर्मी में
कैसे समाविष्ट हो सकते हैं ?' <- तो इसका समाधान देने के लिए मूलकार श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा वीतरागस्तोत्र
के अष्टम प्रकाश की सातवीं कारिका के उत्तरार्ध में यह बताते हैं कि नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को प्रतिवादी परस्परविरुद्ध
मानते हैं मगर फिर भी वे परस्परमिलितस्वभाव वाले होते हैं । अतएव अनेकविध वर्ण से आरब्ध अवयवी में, जिन्हें मेचकवस्तु

वयवाऽऽरब्धावयविषु । नीलपीतादीनां परस्परकरम्बितस्वभावं विना 'एकश्चित्रो घटः' इति विलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तेः ।

अथैतत्प्रतीत्यनुरोधाच्चित्रमतिरिक्तमेवास्त्विति चेत् ? न, नीलत्वादिनापि तत्प्रतीतेः । परम्परयाऽवयवनीलादिकमेव तत्प्रतीतेर्विषय इति चेत् ? तर्ह्यवयवानामेवाऽवयवितया

✽ नयलता ✽

सम्भवेदि'त्याशङ्क्यामाह- नीलपीतादीनां परैर्विरुद्धत्वेनाऽङ्गीकृतानामपि वस्तुतः परस्परकरम्बितस्वभावं = इतरेतरानुविद्धशीलं विना 'एकश्चित्रो घटः' इति विलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तेरिति । न हि नानावर्णानामेकत्र प्रमितिः परस्परानुबेधमृते सम्भवतीत्याशयः ।

परः शङ्कते- अथेति । एतत्प्रतीत्यनुरोधात् = 'एकश्चित्रो घटः' इति प्रतीतिबलात्, चित्रं = चित्रपदवाच्यं रूपं, अतिरिक्तमेव = नीलपीतादिव्यतिरिक्तमेव अस्तु । तथा च नैकत्र धर्मिणि नीलपीतादीनि, तदा 'अयं घटोऽत्र नीलः तत्र च पीतः' इत्यादिप्रतीतिर्नैवोपपद्येत । तदन्यथानुपपत्त्या अवयविन्यपि नीलपीतादीनि रूपाणि स्वीकार्याणि, अन्यथानुपपत्तेः सर्वतो बलवत्त्वादित्याशयेन प्रकरणकारः प्रतिकरोति - नेति । नीलत्वादिनाऽपि, किमुत चित्रत्वेनेत्यपिशब्दार्थः, तत्प्रतीतेः = अवयविवर्णप्रत्ययात् । यदि चाऽवयविनि चित्रमेव रूपं स्यात् तर्हि 'चित्रोऽयं घटः' इत्येव प्रतीयेत, न तु 'अत्राऽयं नीलः' इत्यादिकम् । अतो नाऽवयविनि क्लृप्तनीलादिव्यतिरिक्तचित्ररूपमभ्युपगन्तव्यमित्यभिप्रायः ।

ननु 'चित्रोऽयं घटः' इति धीबलादतिरिक्तचित्ररूपसिद्धौ 'अत्राऽयं नीलस्तत्र च पीतः' इत्यादिप्रतीतिस्त्ववयवसमवेत-नीलपीतादिवर्णैरिवोपपद्येत, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवनीलादिरूपाणामवयविनि सत्त्वात् । ततश्च न चित्रघटादौ समवायेन नीलपीतादिस्वीकारः प्रामाणिक इत्यभिप्रायेण चित्ररूपवादी शङ्कते- परम्परयेति । स्वसमवायिसमवेतत्वलक्षणपरम्परासंसर्गेण । स्वपदवाच्यानां नीलपीतादिरूपाणां समवायिष्ववयवेषु अवयविनो घटादेः समवेतत्वाभिरुक्तसंसर्गेण अवयवनीलादिक-मेव = कपालादिसमवेतनीलपीतादिरूपमेव, तत्प्रतीतेः = 'घटोऽयमत्र नीलोऽपरभागे च पीतः' इति धियः विषयः, न तु घटसमवेतनीलपीतादिकमित्येवकारार्थः । वर्णादेर्व्याप्यवृत्तित्वेन चित्ररूपसमवायिन्यवयविनि न तद्विरुद्धानां नीलपीतादीनां सम्भव इति चित्ररूपवादिनोऽभिप्रायः । प्रकरणकृतसमाधत्ते- तर्हीति । 'एतानि कपालान्येव घटतया परिणतानी'त्यादिप्रतीत्या

कहते हैं, तादृश नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का समावेश होता है, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रसिद्ध है । प्रतिवादी नैयायिक वर्ग यह नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को परस्परविरुद्ध मानते हैं । मगर वस्तुतः वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, किन्तु परस्परमिश्रितस्वभाव वाले होते हैं । यदि उन्हें परस्परानुविद्धस्वभाव वाले न माने जाय, तब तो 'यह एक घट चित्ररूपवाला है' इत्यादि प्रतीति ही अनुपपन्न बन जायेगी । एक ही घट में नील, पीत, रक्त आदि वर्ण के परस्परमिश्रितस्वभाव को नहीं मानने पर तो 'नीलो घटः पीतो घटः, रक्तो घटः' इत्यादि प्रतीति होगी, न कि 'यह घट चित्ररूप वाला है' इत्याकारक प्रतीति । मगर 'शबलोऽयमेको घटः' इत्याकारक प्रतीति प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक होने की वजह नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को परस्परमिश्रितस्वभाववाले मानने आवश्यक हैं । जैसे नील, पीत, रक्त आदि वर्ण परस्परानुविद्धस्वभाववाले होते हैं, ठीक वैसे ही प्रत्येक वस्तु में सामान्य, विशेष आदि भी परस्परानुविद्ध स्वभाववाले ही होते हैं । अतः एक धर्मी में उनका समावेश मानने में कोई विरोध आदि दोष नहीं है - यह फलित होता है ।

❧ चित्र रूप सर्वथा अतिरिक्त नहीं है ❧

अर्थतः इति । यहाँ यह नैयायिकवक्तव्य कि —> 'यदि उपर्युक्त 'एकः चित्रो घटः' इस प्रतीति को प्रामाणिक ही मानी जाय, तब तो उस प्रतीति के बल से ही आपको अतिरिक्त चित्र रूप का स्वीकार करना पड़ेगा, जो नील, पीत, रक्त आदि प्रत्येक वर्ण से सर्वथा भिन्न ही होगा । अगर यह स्वीकार किया जाय, तब तो नील, पीत, रक्त आदि अनेक वर्ण को परस्परमिश्रित स्वभाव वाले मानने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उस घट में नील, पीत, रक्त आदि वर्ण नहीं हैं, किन्तु एक ही चित्र वर्ण है' <- भी असंगत है । इसका कारण यह है कि चित्र घट में केवल एक चित्र वर्ण का ही स्वीकार किया जाय, तब तो घट के एक देश में 'यह नील है', अन्य भाग में 'यह पीत है', इतर अंश में 'यह रक्त है' इत्यादि प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि आप नैयायिक महाशय चित्र घट में नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का स्वीकार करते ही नहीं हैं । मगर उपर्युक्त नीलत्वादिप्रकारक प्रतीति तो चित्र घट में भी होती ही है, यह तो सर्वजनविदित है । इन प्रतीतियों की अन्यथा अनुपपत्ति से चित्र घट में भी नील, पीत, रक्त आदि अनेक वर्ण का स्वीकार करना उचित है । अतएव उन नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को परस्परमिश्रित स्वभाव वाला भी मानना होगा । यहाँ यह शंका हो कि —>

परिणामनात्सिद्धमवयवित्यापि नीलादिकं, उद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादिना चित्रत्वव्यवहाराच्च नोद्भूतनीलमात्रवति तदापत्तिः । सामान्यतस्तु चित्रपदाद्रूपविशिष्टरूपत्वेनैव बोधस्तेन नाऽ-

❀ अथ लता ❀

अवयवानामेव अवयवितया परिणामनात् परिणामपरिणामिनोः स्यादभेदात् सिद्धं अवयविनि घटादौ अपि नीलादिकम् । स्ववृत्तेः स्वाऽभिन्नवृत्तित्वेऽविवादात् । साक्षात्सम्बन्धेन निरुक्तप्रतीतिरूपपत्तौ परम्परासम्बन्धकल्पने मानाभावात्, गौरवाच्च । नन्ववयविनि चित्ररूपं तिरस्कृत्य नीलपीतादिवर्णाभ्युपगमे कथं 'एकोऽयं चित्रो घटः' इतिप्रतीतिर्व्यवहारस्य चोपपत्तिः ? नीलादेरेव तत्प्रतीतिविषयत्वे कथं न नीलमात्रवत्यवयविनि चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारप्रसङ्गः ? इत्याशङ्काद्वयं 'एकेनैव शस्त्रे- गोभयव्याहतिरिति न्यायेनाऽपाकर्तुमुपक्रमते - उद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादिनेति । चित्रत्वव्यवहाराच्चेति । चकारेण चित्रत्व- प्रकारकप्रतीतिरूपग्रहः । प्रतिस्कन्धं पञ्चवर्णानामभ्युपगमात्सर्वस्कन्धे चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारनिराकरणार्थमुद्भूतेत्युक्तमुभयत्र, तेन नाऽनुद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादिमति अनुद्भूतनीलविशिष्टानुद्भूतपीतादिमति वा चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारप्रसङ्गः । वैशिष्ट्यञ्च समवायेनाऽपृथग्भावसम्बन्धेन वा ग्राह्यं, तेन नातिप्रसङ्गः । एतेनातिरिक्तचित्ररूपाऽनङ्गीकारे 'चित्रोऽयं घटः' इतिप्रतीतेरनुप- पत्तिरपि प्रत्युक्ता । दोषान्तरमपाकरोति - नोद्भूतनीलमात्रवति तदापत्तिः = चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारप्रसङ्गः, तन्निमित्ती- भूतोद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादेर्विरहात् । अत एव 'चित्रो द्विरेफ' इत्यादेर्व्यवहाराऽसत्यत्वमुपवर्णितं सङ्गच्छते, व्यावहारिकसत्य- त्वनिमित्तविरहात्, तत्र पीतादेरनुद्भूतत्वात् ।

ननु तथापि सर्वत्र भवन्नये उद्भूतशुक्लविशिष्टोद्भूतपीतादेरुदस्वित् उद्भूतपीतविशिष्टोद्भूतशुक्लादेरित्यत्र विनिगमनाविरहात् तन्निमित्ताननुगमस्य दुर्वारत्वम् । अत एव चित्रपदजन्यप्रतीतिनिरूपितविशेष्यताया अक्छेदकमुद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतत्वादिक- मुद्भूतपीतविशिष्टोद्भूतनीलत्वादिकं वा ? इत्यत्रापि विनिगमनाविरहोऽपरिहार्य इत्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह - सामान्यतस्त्विति ।

'चित्र घट में जो नील, पीत, रक्त आदि वर्ण की प्रतीति होती है, वह वस्तुतः घटसमवेत वर्ण को अपना विषय नहीं बनाती है, किन्तु घट के अवयव कपाल में समवेत नीलादि वर्ण को अपना विषय बनाती है । घट में स्वाश्रय-समवेतत्वसम्बन्धात्मक परम्परासंसर्ग से नीलादि वर्ण का भान होता है । स्व = कपालवर्ण के आश्रय = कपाल में घट समवेत होने से स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्ध से कपालवर्ण घट में रहते हैं । निरुक्त परम्परासम्बन्ध से ही चित्र घट में नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का भान होता है' <- तो यह भी अनुचित है, क्योंकि फिर भी अवयव ही अवयवी के स्वरूप में परिणत होने से अवयवगत वर्ण अवयवी में भी साक्षात् सम्बन्ध से ही रह सकता है । आशय यह है कि 'ये कपाल ही घट हो गये' इत्याकारक प्रतीति सर्वजनविदित है, जो अवयव-अवयवी में परिणाम-परिणामिभाव को अपना विषय बनाती है । जिनके बीच परिणाम-परिणामिभाव होता है, वे परस्पर कथंचित् अभिन्न होते हैं । अतः नैयायिक मनीषी कपाल में नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का स्वीकार करते हैं, वे कपालाऽभिन्न घट में भी सिद्ध हो जाते हैं । अतएव चित्र अवयवी घट आदि में भी अनेक वर्ण का समावेश सिद्ध होता है । यहाँ इस शंका का कि -> 'यदि अवयवी घट आदि में नील, पीत, रक्त आदि अनेक वर्ण माने जाय और उनसे अतिरिक्त चित्र वर्ण न माना जाय तब तो 'चित्रोऽयं घटः' इत्यादि व्यवहार एवं प्रतीति कैसे हो सकेगी ?' <- समाधान यह है कि चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एवं व्यवहार का निमित्त अतिरिक्त चित्र वर्ण नहीं है, किन्तु उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट पीत रूप आदि है । घट में साक्षात् संबन्ध (समवाय या अपृथग्भाव) से नील, पीत, आदि अनेक उद्भूत रहते हैं । अतः साक्षात्संबन्धघटित सामानाधिकरण्यसंबन्ध से उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट पीत वर्ण आदि घट में रहने से तन्निमित्तक चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एवं व्यवहार निराबाध हैं । उद्भूतशब्द का विशेषणविधया निवेश करने का प्रयोजन यह है कि जैनाग्र के अनुसार प्रत्येक बादर स्कन्ध में पाँच वर्ण रहते हैं । अतः नीलविशिष्टपीत वर्ण आदि को चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एवं व्यवहार की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । उसके निवारणार्थ 'उद्भूत' ऐसा कहा गया है । केवल उद्भूतनीलवर्ण-वाली वस्तु में भी वही आपत्ति ज्यों कि त्यों बनी रहती है । अतः उद्भूतनीलविशिष्ट उद्भूत पीत वर्ण आदि को उसका निमित्त माना गया है । अब वह आपत्ति नौ-दो-ग्यारह हो जाती है, क्योंकि केवल उद्भूत नीलवर्णवाली वस्तु में सामानाधिकरण्य संबन्ध से उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट उद्भूत पीत वर्ण नहीं है, जो चित्रत्वप्रतीति एवं तथाविध व्यवहार का निमित्त है ।

❀ रूपाविशिष्टरूपत्वं चित्रपदप्रवृत्तिनिमित्तं है - लयाद्यादौ ❀

सामा. इति । यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'चित्रोऽयं घटः' इत्यादि वाक्य को सुन कर सामान्यतः उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट

अनुगमः ।

अथैवं 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपत्वानि'ति सहप्रयोगो न स्यादिति चेत् ? न, विवरणादिरूपतया तदुपपत्तेः ॥७॥

अथानेकांते परेषामपि संमतिमुपदिदर्शयिष्वः प्रथमतस्तथागतसंमतिमाविष्कुर्वन्ति ->

❀ गत्यल्ल ❀

चित्रपदात् = चित्रपदं श्रुत्वा, रूपविशिष्टरूपत्वेनैव = उद्भूतरूपविशिष्टाऽपरोद्भूतरूपत्वेनैव बोधः = शाब्दबोधः न तूद्भूत-नीलविशिष्टपीतत्वादिना उद्भूतपीतविशिष्टनीलत्वादित्येवकारणः । तेन ... चित्रपदजन्य-रूपविशिष्टरूपत्वप्रकारकशाब्दबोधाभ्युपगमेन न चित्रपदजन्यशाब्दबोधविशेष्यतावच्छेदके अननुगमः । एतेन चित्रपदप्रवृत्तिनिमित्ताननुगमोऽपि प्रत्याख्यातः । न हि 'चित्रो घट' इति वाक्यात् उद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतत्वादिप्रकारिका उद्भूतपीतविशिष्टोद्भूतनीलत्वादिप्रकारिका वा शाब्दी प्रमोपजायते किन्तूद्भूतरूपविशिष्टापरोद्भूतरूपप्रकारिकैव । न च लाघवाच्चित्रत्वमतिरिक्तमेवाभ्युपगन्तव्यं, न तूद्भूतरूपविशिष्टापरोद्भूतरूपत्वं गौरवादिति वक्तव्यम्, लक्ष्यतावच्छेदकत्वस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वस्यापि गुरुधर्मे स्वीकारात् । न हि निरुक्तविशिष्टरूपत्वं विहायाऽतिरिक्तं चित्रत्वं स्वप्नेऽपि प्रतीयते प्रेक्षावद्भिः ।

परः शङ्कते - अथेति । एवं = रूपविशिष्टरूपत्वस्यैव चित्रपदशक्यतावच्छेदकत्वेऽभ्युपगम्यमाने, 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवानि'ति सहप्रयोगः = रूपविशिष्टरूपत्वतदसमभिव्याहृतचित्रपदप्रयोगः न स्यात्, पीनरुक्त्यात् । अतः चित्ररूपमतिरिक्तमेवेत्यथाभिप्रायः । प्रकरणकृत्तनिराकरोति - नेति । विवरणादिरूपतया तदुपपत्तेः = प्रदर्शितवाक्यप्रयोगस्य सम्भवात् । तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथनं विवरणमुच्यते । यथा 'नात्रालोकः किन्तु तम' इतिप्रयोगो विवरणेच्छयो-चरितत्वेनाऽदुष्टः तथैव 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवानि'ति प्रयोगोऽपि दोषानावह इति भावः । ततश्च नास्ति नीलपीतादितः सर्वथा व्यतिरिक्तं विजातीयं चित्ररूपमिति प्रयत्नकार्यः ।

अष्टमकारिकाप्रस्तावार्थमुपक्रमते - अथेति । परेषां = अनेकान्तद्वेषिणामेकान्तवादिनां, अपि संमतिमुपदिदर्शयिष्वः

उद्भूतपीतवर्णत्वरूप से चित्र वर्ण का भान घट में नहीं होता है किन्तु रूपविशिष्टरूपत्व प्रकार से ही चित्र वर्ण का बोध होता है । अतः चित्रपदजन्य प्रतीति का प्रकार कभी उद्भूतनीलविशिष्ट उद्भूतपीतत्व आदि बनने की वजह जो अननुगम दोष प्रसक्त होता था, वह निराकृत हो जाता है । 'घट का वर्ण चित्र है' इस वाक्य से घट में अनेक रूप का यानी एकरूपसमानाधिकरण अपर रूप का ही भान होता है-यह तो सर्वविदित ही है । अतः चित्रपद के प्रवृत्तिनिमित्तविधया रूपविशिष्टरूपत्व का ही स्वीकार करना उचित है, न कि नीलत्वादि से व्यतिरिक्त चित्रत्व जाति का - यह फलित होता है । यहाँ यह शंका करना कि -> "यदि चित्रपद का प्रवृत्तिनिमित्त रूपविशिष्टरूपत्व है, तब तो 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवान्' इत्यादि स्थल में चित्रपद और रूपविशिष्टरूपवान् पद का सहप्रयोग = एक वाक्य में पूर्वोत्तर प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि रूपविशिष्टरूप पद से जिस वर्ण का भान कराना है उसका भान तो चित्रपद से ही हो चुका है । मतलब कि 'शुक्लो घटः कुम्भः' यह वाक्य जैसे पुनरुक्ति दोष से ग्रस्त है, ठीक वैसे ही उपर्युक्त वाक्यप्रयोग भी पुनरुक्तिदोष से कलंकित होगा । अतः चित्रपद के प्रवृत्तिनिमित्तविधया अतिरिक्त चित्रत्व जाति का स्वीकार करना होगा, जो रूपविशिष्टरूपत्व से भिन्न होने की वजह उपर्युक्त वाक्य से जन्य शाब्दबोध को अधिकांशावगाही बनायेगा । फलतः पुनरुक्ति दोष का निवारण हो जायेगा" <- भी नामुनासिब है, क्योंकि उपर्युक्त सहप्रयोग की उपपत्ति तो उक्त वाक्य को विवरणरूप मानने से भी हो सकती है । मतलब यह है कि 'घटपदार्थ क्या है ?' इस जिज्ञासा के समाधानार्थ 'घटः कुम्भः' इत्याकारक वाक्यप्रयोग होता है, जो विवरणात्मक होने की वजह पुनरुक्ति दोष का आपादक नहीं है । विवरण का अर्थ है 'तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथनं' यानी तत् पद का जो अर्थ है, उसके समान अर्थ के वाचक अन्य पद से उसी अर्थ का कथन करना । प्रस्तुत में चित्रपद का प्रयोग होने के बावजूद भी रूपविशिष्टरूपवान् पद का प्रयोग निरुक्त विवरणस्वरूप होने की वजह पुनरुक्ति दोष का आक्षेपक नहीं है । अतः रूपविशिष्टरूपत्व को चित्रपद का प्रवृत्तिनिमित्त मानने में कोई क्षति नहीं है - यह ध्वनित होता है ॥७॥

❀ आठवीं कारिका की व्याख्या ❀

अथा. इति । सातवीं कारिका में नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल का एक धर्मी में समावेश सिद्ध कर के अनेकान्तवाद की प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिष्ठा की गई है । अब मूलकार श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज अन्य दर्शनीओं की अनेकान्तवाद में

विज्ञानेति ।

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम् ।

इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

विज्ञानस्य = संविदः, एकं आकारं = स्वरूपं, नानाकारकरम्बितं = चित्रपटाद्यनेकाकारमिश्रितं, इच्छन् = अभ्युपगच्छन्, तथागतः = बौद्धः, नानेकान्तवादं प्रतिक्षिपेत् = निराकुर्यात् । तस्याऽनेकान्तवादनिराकरणं न बलवदनिष्टाननुबन्धीत्यर्थः । यदि प्रतिक्षिपेत्तदा प्राज्ञः = प्रकर्षेण अज्ञः = भ्रान्त एव । यदि तु प्राज्ञः = पंडितः अभ्रान्त इति यावत्तदा न प्रतिक्षिपेदेव । स हि परमाणौ मानाभावात् तत्सिद्धयधीनस्थूलावयवित्वस्याऽप्यसिद्धेः

❀ मयत्ता ❀

श्रीहेमचन्द्रसूरयः, प्रथमतः तथागतसंमतिं = योगाचाराभिधानबौद्धविशेषस्वीकृतिं आविष्कुर्वन्ति - विज्ञानेति । सोपयोगित्वात्सङ्क्षिप्तत्वाच्चात्राऽन्यव्याख्यां दर्शयामः । वीतरागस्तोत्रावचूर्णौ → 'विज्ञानस्यैकमाकारं = स्वरूपं, नाना = विचित्रा ये आकारा घटादीनां तैः करम्बितं = मिश्रं इच्छन् = अभिलषन्, तथागतः = बौद्धः अनेकान्तं = स्याद्वादं न प्रतिक्षिपेत् = उत्थापयेत् । कथम्भूतः ? प्राज्ञः = ज्ञाता, प्रकर्षेण अज्ञः = मूर्खोऽपि, यतः स्याद्वादं स्वीकुर्वस्त्वां नोपास्ते' (वी.स्तो.अव.पृ.८२) इत्युक्तम् । वीतरागस्तोत्रविवरणे च → 'विज्ञानस्य = संविद एकमेव स्वरूपं नानाचित्रपटाद्यनेकाकारमिश्रं समभिलषन् बौद्धो नानेकान्तं निराकुर्यात् । अत एव प्राज्ञः । ज्ञानाद्वैतवादिनां हि मते एकमेव चित्रज्ञानं ग्राहकं तस्य चांशा ग्राह्या इत्येकस्यैव ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वञ्चाभ्युपगच्छन् कथमनेकान्तवादं निराकुर्यात् ? यदि प्रकर्षेणाऽज्ञो न स्यात् । यत एकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलाऽनीलयोः परस्परविरुद्धयोरप्यविरोधेनोत्तरीकारात् । तस्मात्तथागतैरभ्युपगत एव स्याद्वादः' ← इति (वी.स्तो.वि. पृ.८२) व्याख्यातम् ।

यदि प्रतिक्षिपेत् स्याद्वादं तदा प्राज्ञः = प्रकर्षेणाऽज्ञः भ्रान्त एव, एकाकारे ज्ञानेऽनेकाकारानभ्युपगम्य आपेक्षिकविरुद्धधर्मविभूषितधर्मिप्रतिपादकस्याद्वादप्रतिक्षेपे 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापातेन देवानांप्रियत्वं स्पष्टमेव । अभ्रान्तत्वस्यानेकान्तवादाऽप्रतिक्षेपित्वव्याप्यत्वसमर्थनार्थमाह - स इति । अस्य 'ज्ञानाद्वैतमेव स्वीकुरुत' इत्यनेनान्वयः । तत्र हेतूनावेदयति - परमाणौ मानाभावादिति । पूर्वदिगवस्थितो यथा परदिगवस्थितेन परमाणुना परदिगवच्छेदेनावृत उत्पन्नस्तथैव किं पूर्वदिगवच्छेदेनाऽपि, न वा उभयथा वा ? इति विकल्पत्रयी समुपतिष्ठते । तत्र नाद्यः सम्यक्, उभयतोऽप्यनुलब्धिप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः, उभयतोऽप्युपलम्भापत्तेः । तृतीये पुनर्विरोध इति नास्ति परमाणुः । तदभावे च कुतः तदुपदिताऽवयविनः सिद्धिः ? इत्याह - तत्सिद्धयधीनस्थूलावयवित्वस्य = परमाणुसिद्धयुपजीवकस्य स्थूलावयवित्वस्य, अपि

सम्पत्ति रताने की इच्छा से सर्वप्रथम तथागत = बौद्ध की संमति को आठवीं कारिका में प्रकट करते हैं । कारिका का सामान्य अर्थ यह है कि - अनेक आकार से मिश्र एक आकार वाले विज्ञान को मान्य करने वाला प्राज्ञ बौद्ध अनेकान्तवाद का प्रतिक्षेप नहीं कर सकता । प्रकरणकार श्रीमद् महोपाध्यायजी महाराज इस कारिका में निहित अर्थ का अविष्कार करते हुए कहते हैं कि विज्ञान यानी संवेदन के एक स्वरूप को चित्रपट आदि अनेक आकार से मिश्रित मानने वाला बौद्ध अनेकान्तवाद का निराकरण नहीं कर सकता है । अर्थात् अनेकान्तवाद का निराकरण बौद्ध के लिए बलवदनिष्ट का अननुबन्धी नहीं है । आशय यह है कि ग्राहकत्वरूप से ज्ञान का एक स्वरूप होने पर भी नील, पीत, आदि अनेक स्वरूप भी है - यह मान्यता अनेकान्तवाद का अवलम्बन करने पर ही स्थिर हो सकती है । अपने सिद्धान्त की नींव अनेकान्तवाद को तिरस्कृत करने का मतलब यही हुआ कि वह तिरस्कार अपने पाँव पर ही कुठारप्रहारतुल्य है । अतएव वह बलवान् अनिष्ट का अनुबन्धी होगा । बलवदनिष्ट के अनुबन्धी स्याद्वादप्रतिक्षेप करने पर तो बौद्ध (= योगाचार) प्राज्ञ यानी प्रकर्ष से अज्ञ = भ्रान्त हो जायेगा, क्योंकि अपसिद्धान्त दोष का आश्रय बुद्धिमान् नहीं करता है, किन्तु मूर्ख ही करता है । यदि बौद्ध प्राज्ञ यानी पंडित = अभ्रान्त होगा, तब तो वह सापेक्षवाद का निराकरण कभी भी नहीं करेगा ।

❀ ज्ञानाद्वैतासिद्धे ❀

स हि इति । यहाँ योगाचार बौद्धविशेष का यह मत है कि → ज्ञान से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है ।

नीलादेः प्रतिभासत्वादन्यथानुपपत्त्या विषयं विनापि वासनामात्रेण धियां विशेषाच्च ज्ञानाद्वैतमेव स्वीकुरुते । तच्च ज्ञानं ग्राहकतयैकस्वभावमपि ग्राह्यतयाऽनेकीभवतः स्वांशान्

❀ अथ च ❀

असिद्धेरिति ।

नन्वेवं विषयस्यैवाऽसिद्धौ तत्सिद्धयधीनसिद्धिकस्य विषयिणो ज्ञानस्याऽप्यसिद्धिरेवेत्याशङ्कयामाह- नीलादेः प्रतिभासत्वादन्यथानुपपत्त्या विषयं विनापि वासनामात्रेण = केवलं वितथविकल्पेन धियां विशेषाच्च ज्ञानाद्वैतमेव स्वीकुरुते इति । यदि हि विषयवत् ज्ञानमपि न स्यात् तर्हि प्रसिद्धप्रतिभासोऽपि नैव सम्भवेत् । न चैवम् । अतो ज्ञानमभ्युपगन्तव्यमेव, नीलादयस्तु तदाकारा एव न तु तदव्यतिरिक्ताः सहोपलम्भादेः । तदुक्तं प्रमाणवार्तिके - नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिद्वयानन्यभाक् । अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ॥ (प्र.वा.) इति । अयं तल्लेशार्थः —> यो नीलादिश्चित्रज्ञाने प्रतिभासते स ज्ञानोपाधिः ज्ञानविशेषणो ज्ञानात्मक इति यावत् । अनन्यभाक् = विज्ञानादन्यमर्थं न भजते, ग्राह्यवस्तुसमवेतो न भवति ज्ञानात्मभूतत्वात् । अत एव पीताकारविवेकेन केवलो नीलभागो न शक्यते द्रष्टुमित्यशक्यदर्शन उक्तः । यदि च नीलभागं पीतभागविवेकेन पश्येत् पश्यन्नपि च विवेचयेत् प्रतिपत्ता पतत्यर्थे, ज्ञानात्मकः प्रतिपत्ता वस्तुन्येव प्रवृत्तो भवति, न त्वात्मभूते आत्मभूते वा कृष्णनीलादी प्रवर्त्तते न वा क्वचिदपीति । न च विषयभूते ज्ञानाऽसम्भव इति वक्तव्यम् केशोण्डुकादिज्ञानस्य विषयं विनैव दर्शनात् । एतेन भ्रमगोचरस्य तत्राऽसत्त्वेऽपि देशान्तरे सत्त्वान्न सर्वथाऽर्थाऽसिद्धिरित्यपि प्रत्युक्तम्, बन्ध्यापुत्रादिविकल्पे तथाऽसम्भवात् । तदुक्तं योगसूत्रे 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (यो.सू.) इति । अतो ज्ञेयाकारोऽपि ज्ञानस्वरूप एवेति न ज्ञानातिरिक्तज्ञेयसिद्धिः । तदुक्तं प्रमाणवार्तिकालङ्कारे - 'ग्राह्यग्राहकनीलाद्याकारा बुद्धिरेकैव चित्राद्वैतं' (प्र.वा.अ.) इति । ज्ञानाद्वैतनये कथमनेकान्ताभ्युपगमः ? इत्याशङ्कयामाह - तच्चेति । वासनामात्रप्रभवं ज्ञानं ग्राहकतया ग्रहणस्वभावतया एकस्वभावमपि सत् ग्राह्यतया नीलाद्याकारविधया अनेकीभवतः स्वांशान्

ज्ञान से अतिरिक्त घट, पट आदि अवयविस्वरूप ज्ञेय पदार्थ अप्रामाणिक हैं, क्योंकि उनकी सिद्धि परमाणु की सिद्धि के अधीन है, जो प्रामाणिक नहीं है । परमाणु प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध नहीं है । यदि वह होता, तो वह चक्षु आदि से जन्य उपलब्धि का विषय होता । मगर चक्षु आदि से वह अनुपलब्ध होने से उसमें कोई प्रमाण नहीं है । जब परमाणु ही असिद्ध है, तब परमाणुसमूह रूप या अनेकपरमाणुजन्य द्रव्यात्मक अवयवी भी असिद्ध हो जायेगा । अवयव के बिना अवयवी की सिद्धि कैसे हो सकती ? मगर विषय के बिना ज्ञान की असिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि नीलादिप्रकारक प्रतिभास की, जो सर्वजनविदित है, अन्यथा अनुपपत्ति होती है । अतः ज्ञान का अपलाप नहीं किया जा सकता । —> 'विषय के बिना ज्ञान में विशेषता नहीं हो सकती' <— इस शंका का समाधान यह है कि वासनामात्र से ही ज्ञान में विशेषता हो सकती है । वितथ वासना के प्रभाव से ज्ञान में नील, पीत, रक्त आदि आकारविशेष की उपपत्ति होने से ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय का स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है । अतएव ज्ञान ही केवल एक पारमार्थिक तत्त्व है । विशेषाकार की संपादक वासना भी ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु ज्ञानात्मक ही है । इस तरह ज्ञानाद्वैत की सिद्धि होती है । यह योगाचार नाम के बौद्धविशेष का मन्तव्य है ।

॥ योगाचार का द्वात्वाद में प्रवेश ॥

तच्च. इति । प्रकरणकार श्रीमद् कहते हैं कि उपर्युक्त रीति से ज्ञानाद्वैत का स्वीकार करने वाला बौद्ध एक ही ज्ञान में दो स्वभाव का स्वीकार करता है । ज्ञान में एक तो नील, पीत आदि का ग्राहकत्वस्वभाव है, जो एकस्वरूप ही है । दूसरा है ज्ञेयाकारस्वभाव । नील, पीत आदि ज्ञेयाकार भी ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञान का स्वभाव ही है । नील, पीत आदि ज्ञेयाकार अनेक होने की वजह उससे अभिन्न ज्ञान भी अनेकात्मक हो जाता है । एक ही समूहालम्बन ज्ञान में नील, पीत, रक्त आदि अनेक ज्ञेयाकार का भान होता है । वे ज्ञेयाकार भी ज्ञान के अंशात्मक होने की वजह अनेकविध ज्ञेयाकार का ग्राहक ज्ञान भी अनेक स्वभाव वाला होता है । यह योगाचार बौद्ध का सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त में अनेकान्तवाद का प्रतिबिम्ब स्पष्टतया प्रतीत होता है । ज्ञान में ग्राहकत्वरूप से एक स्वभाव और ग्राह्यत्वरूप से अनेक स्वभाव का स्वीकार सापेक्षवाद के अवलम्बन के बिना कथमपि संगत नहीं हो सकता । इस तरह ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्धविशेष का भी अनेकान्तवादी

गृह्यदनेकमपीति कथं न तस्याऽनेकान्तवादिकक्षापञ्जरे प्रवेशः ? ॥८॥

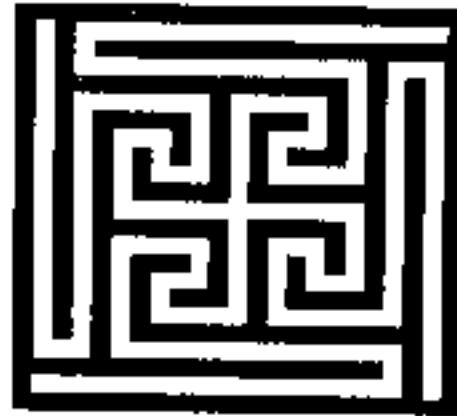
❀ जयलता ❀

गृह्यत् ज्ञेयाकाराऽभिन्नतया अनेकमपि भवतीति कथं न तस्य = योगाचारस्य अनेकान्तवादिकक्षा-पञ्जरे प्रवेशः ? सुतरां तत्र प्रवेश इत्यर्थः । न हि स्याद्वादमृते एकस्मिन् ज्ञाने एकानेकस्वभावोऽभ्युपगम्यमानः सङ्गच्छते । तथापि स्याद्वाद-विद्वेषे 'तुरगारूढो तुरगं विस्मृतवान् भवानि'ति न्यायापातः । ज्ञानाद्वैतनयनिरूपण-तदपाकरणे विस्तरतो बुभुत्सुभिः प्रमाण-वार्त्तिक-तत्त्वसङ्ग्रह-हेतुविन्दु-स्याद्वादकल्पलता-रत्नाकर-न्यायखण्डखाद्यादिकमभ्यसनीयमिति शम् ॥८॥

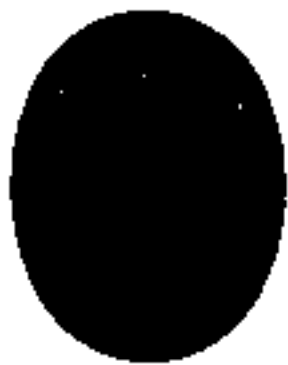
इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयविरचितस्य मध्यमपरिमाणोपेतस्य श्रीस्याद्वादरहस्यस्य मुनियशोविजय-विरचितायां जयलताभिधानायां टीकायां द्वितीयः खण्डः ।

की कक्षास्वरूप पिंजरे में प्रवेश हो ही जाता है । इससे स्याद्वाद की व्यापकता सिद्ध होती है ॥८॥

मध्यम स्याद्वादरहस्य की मुनियशोविजयरचित रमणीया व्याख्या का
द्वितीय खंड पूर्ण हुआ ।



— आचार्य ५



परिशिष्ट-१

महोपाध्याय-न्यायाचार्य-श्रीमद्-यशोविजय-प्रकाशितम्

(लघु) स्याद्वादरहस्यम्

एकारस्फारमन्त्रस्मरणकरणतो वाः प्रसर्पन्ति वाचः,
स्वच्छास्ताः कर्तुमिच्छुः सकलसुखकरं पार्श्वनाथं प्रणम्य ।
वाचाटानां परेषां प्रलपितस्वनोन्मूलने बद्धकक्षो,
वाचां श्रीहेमसूरेर्विवृतिमतिस्सोऽस्मात्तनोमि ॥१॥
अभ्यस्य तर्कं स्याद्वादरहस्यं शस्ययुक्तिकम् ।
निरस्तदुर्नयं मार्गप्रवेशाय निबध्यते ॥२॥

इह हि निखिलकुवादिकुतर्कसन्तमसच्छन्नं जगतः शुद्धनयलोचनमुन्मिसीलविषयः श्रीहेमसूरयो यथावस्थितार्थव्यवस्थापनद्वारा भगवंतं स्तोतुमुपक्रमते "सत्त्वस्ये" ति ।

(मूल-गीतरागस्तोत्र ग्रन्थस्य ८)

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ ।

स्यातामेकान्तनाशोऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ ॥१॥

अत्र सत्त्वमेकान्तनित्यं न वेति न विप्रतिपत्तिः, एकान्तनित्यत्वकोट्यप्रसिद्धेः । किन्तु नित्यत्वमनित्यवृत्ति न वा, अनित्यत्वं नित्यवृत्ति न वेत्यादिरूपा । न चैवमपि तद्भावाऽव्ययत्वरूपं नित्यत्वं परमतेऽप्रसिद्धम्, नित्यव्यवहारविषयत्वेनैव तस्योपन्यासात् । सत्त्वस्य = पदार्थत्वेनोभयमतसंप्रतिपन्नस्य । उत्पादव्ययप्रीव्यात्मकस्येति व्याख्यानं तु स्वमतावष्टम्भेन शोभते, परमते धर्मितावच्छेदकाऽनिश्चयात् । एकान्तनित्यत्वं = अनित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्वे । कृतनाशो = घटादिपर्यायाणां कुम्भकारादिकृतानां सर्वथा नाशः स्यात्, अनित्यस्य नित्यत्वविरोधात् । एतच्च प्रत्यक्षविरुद्धं, पर्यायाणामपि द्वयार्थतोऽनाशात् । अयं दंढ्यासीदिति-वदिदं मृद्वव्यं घट आसीदिति प्रतीतेरेकस्यैवातीतविद्यमानत्वभानात्, रूपभेदेनैवोभयधर्मसमावेशसंभवात् । न हि कम्बुग्रीवत्वादिनेव मृत्त्वेनाऽपि घटो नष्ट इति कश्चित्प्रत्येति, प्रत्युत पूर्वमयमेव मृत्पिण्डः (तत्) कम्बुग्रीवत्वादिनासीदिति सर्वोऽपि प्रत्यभि-जानीते । न चैवं विशेषणाभावमेव विषयीकुरुते विशेष्ये नञर्थोऽन्वये बाधकाऽभावात्, प्रतीतिप्रातिव्याच्च ।

यत्तु यदि स्यतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानस्यैव विशेष्यस्य ध्वंसः स्यात् तदा क्षणरूपातीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षणं घटस्य विनाशः स्यादित्यभिदधे मणिकृता, तत्तु तादृशक्षणभंगस्य दोषानावहत्वात् तदीयैरेव दूषितम् । कश्चित्तु संसर्गावच्छिन्न-किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽभावस्याऽत्यन्ताभावत्वनियमानं प्रागुक्तप्रतीतिविशेषणावच्छिन्नविशेष्याऽभावविषयत्वमिति, तत्तुच्छं, घटत्वस्य ध्वंसप्रतियोगिताऽतिरिक्तवृत्तित्वेऽपि प्रागुक्तविशेषणस्याऽतथात्वात्, यदुत्पत्ती कार्यस्याऽवश्यं विपत्तिस्तस्य प्रध्वंसत्वाऽभ्युपगमाच्च । नन्वत्र विपत्तिपदार्थाऽपरिचयो, विभागादेः संयोगादिनाशताऽऽपत्तिश्चेति चेत् ? न, प्रतियोग्युत्तर-कालीनाऽभावत्वाद्वा तात्पर्यात्, उत्तरत्रेष्टापत्तेश्च ।

स्यादेतत् - घटत्वेन घटध्वंसस्यैवाऽऽत्मत्वादिनाऽऽत्मादेर्ध्वंसाऽभावादात्मादेरेकान्तनित्यत्वं स्यादिति । मैवं, ध्वंसप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वेनैवैकान्तत्वापायात् । इयांस्तु विशेषो-यदात्मत्वेनाऽऽत्मनो नित्यत्वं तद्भावाऽव्ययत्वात्, घटत्वेन घटस्य तु नेति । ननु तद्भावेन व्ययश्चेत् प्रसिद्धः तदा तदभाव(त्व)रूपं नित्यत्वमात्मत्वादिनाऽऽत्मादौ सम्भवेत्, स एव तु गगना-रविन्दसोदर इति चेत् ? न, ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेद(क)रूपवत्त्वस्यैव तदर्थत्वात् । न चैवं कम्बुग्रीवादिमत्त्वेन घटस्य नित्यत्वं स्यादिति वाच्यम्, गुरुधर्मस्यापि प्रतीतिबलेनाऽवच्छेदकत्वस्वीकारात् । ध्वंसप्रतियोगिताऽवच्छेदकं यद्धर्मवन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रति-योगितानवच्छेदकं तदन्यधर्मवत्त्वस्य वा तदर्थत्वात् । अथ कपालनाशादेः कपालादिसमवेतनाशं प्रति कारणत्वात् घटत्वेन घटध्वंस आकस्मिक इति चेत् ? न, कारणत्वपर्यायाणां प्रतीतिबलेन विशिष्य विश्रान्तानामेव कल्पनादिति दिक् ।

अथाऽकृतागमः - पर्यायाणामपि नित्यानामेव सतामागन्तुकत्वादित्यथा पर्यायवतोऽप्यनित्यत्वाऽऽपत्ती नित्यत्वपक्षहानेः । अथ घटत्वादेरेव कपालादिजन्यताऽवच्छेदकत्वात्, घटत्वस्य च कपालाद्यवृत्तित्वान्नाऽयं दोष इति चेत् ? न, कपालं घटीभूतमिति

प्रतीत्या तयोः स्यादभेदसिद्धेः ।

अत्र किञ्चिद्विचार्यते-नन्वेवं कपालघटयोर्जन्यजनकभावो न स्यात्, अभेदे तदसम्भवात् । न च कथञ्चिच्चेदोऽप्यभ्युपगम्यत इति वाच्यम्, अवच्छेदकभेदं विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधः । तदुक्तं मणिकृता - तद्वैव तदभावाऽवच्छेदकभेदेन वर्तते, ज्ञायते च यथा संयोगाऽभावः, श्यामावच्छिन्नस्य तस्यैवाऽन्योन्याऽभावः तत्रैव रक्ताऽवच्छिन्ने, तदन्योन्याभावश्च श्यामावच्छेदेन । तदिहापि नीलस्याऽन्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलादघटस्य भेदोऽस्तु, अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाऽभावरूपो घटे न, घटत्वावच्छेदेनैव विरोधात्, एकावच्छेदेन भावाऽभावयोरेकत्राऽवृत्तेरज्ञानाच्च । नाप्यवच्छेदकान्तरेण घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावः, तदज्ञानेऽपि नीलो घट इत्यनुभवाच्चेति - चेत् ? अत्र वदन्ति - न हि भेदाऽभेदो भेदविशिष्टाऽभेदो, अभेदविशिष्टभेदस्यापि सम्बन्धत्वे विनिगमकाभावात्, किन्तु जात्यन्तररूप एव गुणगुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेन सिद्ध इति स्वावच्छेदकभेदानुपलब्धिबाधः ? एकान्तभेदेऽवयवेष्ववयवी किं भेदेन समवेयात्कात्स्न्येन वा ? नाऽऽद्योऽवयवातिरिक्तस्य तद्देशस्याऽभावात् । न द्वितीयः प्रत्यवयवसमवेतावयविवहुत्वप्रसङ्गात् ।

अथ समवाय एव प्रागुक्तप्रतीतिनियामकत्वेन कल्प्यतामिति चेत् ? न तस्यैकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, नानात्वे चैतस्यैव नामान्तरकरणात्, अतिरिक्तकल्पनायां गौरवात् । एतेन “समवायसम्बन्धेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति वा द्रव्यस्य कारणत्वेन समवायसिद्धिः” इत्यपास्तम्, लाघवाद्भेदाभेदसम्बन्धेन परिणामत्वावच्छिन्नं प्रति परिणामिनस्तत्त्वकल्पनाया एवोचितत्वात् । भेदाभेदस्य जातित्वेऽपि सम्बन्धत्वं प्रतीतिबलादेवाऽविरुद्धम् । ननु “नीलोत्पलं, प्रमेयाऽभिधेयमि”-त्यादी कर्मधारयेऽभेदस्यैव संसर्गतया प्रदर्शनान्नाऽभेदातिरिक्तभेदाभेदसिद्धिरिति चेत् ? न, कथञ्चित्तस्य तदनतिरेकात् । इयांस्तु विशेषो यद् धर्म-धर्मिभावाऽपेक्षया द्वयोर्भेदाऽभेदः, प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेण केवलाभेदो, गोत्वाश्वत्वादिना तु केवलभेद इति । न चैवमेकान्ताऽनुप्रवेशोऽभेदसम्बन्धभेदवत्त्वेनैव तदपायात् ।

इत्थञ्चैतदवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, कथमन्यथा स्याद्विभक्तं स्यादभिन्नमित्यत्र स्यात्पदं नाऽनतिप्रयोजनमिति ध्येयम् । अथ भेदाऽभेदस्याऽभेदत्वे ‘कपाले घट’ इत्यादावाधाराऽऽधेयभावप्रतीतिर्न स्यादिति चेत् ? न, भेदाभेदत्वेन तस्य वृत्तिनियामकत्वात् । घटाभावे घटो नास्तीत्यादावपि घटाभावत्वेन धर्म-धर्मिभावविवक्षयैव निस्तार इति तत्त्वम् । वस्तुतः तत्तत्प्रतीतिमनुस्मृत्य तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्त्वसम्बन्धस्याऽऽधारतात्वं कल्प्यते, तेन रूपरसयोर्भेदाभेदसम्बन्धेऽप्याधाराऽऽधेयभावाऽभावेऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् ।

नन्वेवमपि भवतु भगवान् भेदाभेदो जात्यन्तररूपः, तथाप्यसावेकत्राऽन्योन्याभावतदभावप्रतीतिव्यङ्ग्यः, तयोश्चैकत्रावच्छेदकभेदं विना प्रतीत्यनुपपत्तिरित्युक्तमेवेति चेत् ? न, घटत्वद्रव्यत्वयोरेव तदवच्छेदकयोः सम्भवात् । यदवदाम स्तुती “एकत्रै”ति ।

कश्चित्तु भेदोऽन्योन्याभावोऽभेदस्तु धर्मान्तरमित्यभ्युपैति । अत्र तादृशभेदस्य व्यवहारानीपयिकत्वं यदाविश्वक्रे मणिकृता, तत्तुच्छम्, प्रमेयमभिधेयमित्यादौ तस्यैव शरणीकरणीयत्वात् ।

दिगम्बरमतानुयायिनस्तु - भेदाभेदो भेदविशिष्टाऽभेद एव, सम्बन्धता तु तयोरुभयत्वेन रूपेण । न चोभयत्वमपि एकविशिष्टापरत्वमिति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, अविशिष्टयोरपि गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वात् । न च भेदाऽभेदयोरेकत्र विरोधः, न हि वयं यत्र यस्य यो भेदः तत्र तस्य तदभावमेव ब्रूमहे किन्त्वन्यमेवेति । तथाहि - भेदो द्विविधः, पृथक्त्वरूपोऽन्योन्याभावरूपश्च । तत्र पृथक्त्वं प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपमन्योन्याभावस्त्वतद्भाव इति ।

यत्तु पृथक्त्वमन्योन्याभाव एव इत्यभिदधे दीधितिकृता, तन्न, एवं सति घटः पटात्पृथगिति वदूपात्पृथगित्यपि प्रमीयेत । यदवोचाम श्रीपूज्यलेखे - “अण्णं घडाउ” ति । तथा चान्योन्याभावादपि पृथक्त्वस्य भेदाभेद एवेति तत्त्वम् । न चैवमनवस्था, प्रामाणिकत्वात् । तत्र घटपटादीनां नैतदन्यतराभाव इति केवलभेदः, तेषां भेदत्वावच्छिन्नाऽभावासंबलितत्वात् । प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेणोभयाभावात्केवलाऽभेदो, अवयवावयव्यादीनां त्वतद्भावसत्त्वेऽपि पार्थक्याभावात् भेदाभेद इति ।

अत्रेदमस्माकमाभाति - प्रविभक्तप्रदेशत्वमित्यत्र बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणवः कुतोऽपि न पृथग्भवेयुः । एवं कर्मधारयाश्रयणे देशस्कन्धयोरपि स एव दोषः । स्कन्धाश्रितपरमाणूनामेव प्रदेशत्वसंज्ञया तदनाश्रितपरमाणूनाञ्च कुतोऽपि न पृथक्त्वं घटेत ।

किञ्च - प्रदेशेषु किं प्रविभक्तत्वं ? न तावदन्यत्वं, एकद्रव्यस्यैव प्रदेशानां तादृशत्वात् । नापि पृथक्त्वं, तस्य प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपतयाऽन्योन्याश्रयात् । तथाहि - प्रदेशानां प्रविभक्तत्वसिद्धौ प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं स्कन्धानां पार्थक्यं सिध्यति,

१. एकत्र वृत्तिं हि विरोधभाज्यैषामवच्छेदकभेदयाच्चा । द्रव्यत्वपर्यायतयोर्विभेदं विजानतां सा कथमस्तु वस्तु ॥ इति मध्यमस्याद्वादरहस्ये ।

२. अण्णं घडाउ रूपं, न घडाउति विसारदाण व्यवहारो । भेदा उणो पुढत्तं, भिज्जदि व्यवहारबाधेण ॥ इति मध्यमे ।

(अन्यत घटात् रूपं, न पृथगिति विशारदानां व्यवहारः । भेदात्पुनः पृथक्त्वं, भिद्यते व्यवहारबाधेन)

सिद्धे च स्कन्धानां प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपं प्रदेशानां पार्थक्यं सिध्यतीति । अथ पृथक्त्वं जात्यंतररूपमेवेति चेत्तर्हि भेदाभेद एव तादृशः किमिति नास्थीयते ? धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तद्भासकत्वेन व्यञ्जकगवेषणविश्रामात् ।

एतेन “पृथक्त्वव्यवहाराऽसाधारणकारणं तदि” त्यप्युपेक्षितम्, कारणतावच्छेदकरूपपरिचयं विना तादृशनिर्वचनाऽसम्भवाच्च । यत्तु - ‘विभिन्नाश्रयाऽऽश्रितत्वमेव पार्थक्यं, विभिन्नाश्रयाः स्कन्धानां देशा इव देशानां स्कन्धा अपि सम्भवन्ति, तन्ती पट इतिवत्पटे तन्तव इति प्रतीतेरप्यबाधितत्वात् । अन्यत्र रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याधारतात्वेऽप्यत्रान्यतर-प्रतियोगिकत्वविशिष्टस्यैव तस्य प्रतीतिबलेन तथात्वकल्पनात् । तदुक्तमुदयनेनापि “संविदेव हि भगवती वस्तुषगमे नः शरणमिति” । परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्वं भाविभूताश्रयसम्भवेनैव वा तदाश्रितत्वमक्षतमन्यथा द्रव्यचतुष्टयस्य सार्वत्रिकत्वाऽसम्भवादिति’ तच्चिन्त्यम्, अत्यन्तविभिन्नानामपि आकाशादिरूपैकाश्रयसम्भवेन भेदाभेदसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयताविवक्षणे स्फुटदोषात् ।

कजवस्तु - सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाभेदयोर्न विरोधः । अत एव न संकर-व्यतिकर-संशयाऽनवस्था-दृष्टहान्यदृष्टकल्पनाः । भेदश्च स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरूपः । स चैकद्रव्यगुणपर्यायेष्वपि सम्भवति । अयम्भावः - यथाहि सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं हारत्वं सूत्रमुक्ताफलाधारतावच्छेदकं तथा गुणपर्यायाणां तादृशं द्रव्यत्वमपि तथा । यथा च हारत्वसूत्रत्वमुक्ताफलत्वावच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीतिस्तथा द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीतिरपि । यथा च शुक्लत्वाद्यवच्छिन्ने हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्तथा सत्त्वत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेद इति । तदुक्तं - “सद्वत्त्वं सच्च गुणोत्ति” । विस्तारः = तत्तद्वर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताः प्रकारताः । नन्वेवं वृक्षो वनमिति वत् सद् द्रव्यमिति प्रयोगो न स्यात्, यत्र हि यद्वर्मावच्छिन्नप्रकारकबुद्धिविषयत्वं व्यवहारीपर्ययिकं तत्तद्वर्मावच्छेदेनैवाभेदेनान्वेतीति व्युत्पत्तेरिति चेत् ? न, एतन्नियमस्य विशिष्य विश्रामादिति दिक् ।

यद्वा कृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्नस्य नाशः = ‘उपधानाऽव्याप्यत्वम्, अकृतस्य कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावस्याऽऽगमाऽनुपधानाऽव्याप्यत्वं च स्याताम्, वस्तुनः सर्वथा नित्यत्वात्, तथा च व्यवहारबाधः इति भावः ।

अत्रेदं विभाव्यते-सांख्येर्हि सदेव वस्त्वभिमन्यते । तदुक्तं - “असद्वरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्” ॥ (सांख्यकारिका-९) इति । असतः = शशविषाणादेः कर्तुमशक्यत्वात्, सत एव सत्करणत्वाभावात् । उपादानेन ग्रहणात् = सम्बन्धात् । न ह्यसतः सम्बन्धोऽस्ति । असम्बद्धस्यैव करणमिति चेत् ? न, सर्वसंभवाऽभावात् = असम्बद्धत्वाऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद्भवेयुः, न चैवमिष्टमिति । तथाऽशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसंगान् शक्तस्य जनकत्वं वाच्यम्, शक्तिश्च कार्यस्य प्रागसत्त्वे नियता न स्यात्, इतोऽपि कारणात् प्राक् कार्यस्य सत्त्वमुपेयम् । तथा तादात्म्यादपि सत्कार्यम्, अवयविनोऽवयवभेदाऽप्रतीतेरिति । तदयुक्तम्, यतो घटश्चेत्कारणव्यापारात्प्रागप्यस्ति तर्हि तदानी-मुपलम्भप्रसङ्गः ।

अथाऽनाविर्भावात् नोपलभ्यते इति चेत् ? कोऽयमनाविर्भावः ? १ उपलब्ध्यभावो वा, २ अर्थक्रियाकारिरूपाऽभावो वा, ३ व्यञ्जकाऽभावो वा, ४ योग्यताऽभावो वा, ५ कालविशेषविशिष्टत्वाऽभावो वा, ६ जिज्ञासाऽभावो वा, ७ तिरोधानं वा, ८ अन्यद्वा ?

नायः, यस्यैवाक्षेपस्तस्यैवोत्तरे षट्कुटीप्रभाताऽऽपातात् । अथ घटानुपलब्ध्याक्षेपे संस्थानाद्यनुपलम्भस्योत्तरत्वमिति चेत् ? न, संस्थानज्ञानस्य संस्थानिज्ञानात् पूर्वं नियतमनपेक्षणात्तस्यापि प्राक्सत्त्वे उपलब्धेरापायत्वात्, असत्त्वे वक्ष्यमाणदोषानुषङ्गाच्च । १। न द्वितीयः, अर्थक्रियारूपस्य प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यवादापातात् । २। अत एव न तृतीयोऽपि, प्राथमिकोपलब्धी कुविन्दादि-समुदायस्योपलब्धिमात्रे वा विजातीयसंयोगस्य कारणत्वेऽपि तयोः प्राक्सत्त्वावश्यकत्वात् । आविर्भूतयोरेव तयोः तथात्वमिति चेत् ? न, आविर्भावस्यापि सदसत्त्रिकल्पग्रासात् । विजातीयसंयोगाद्याविर्भावस्य प्राक्सत्त्वेऽपि विजातीयसंयोगेन समं तस्य सम्बन्धो नास्तीत्यप्यसमीक्षिताभिधानं, तद्दोषाऽनतिवृत्तेः ।

एतेन “विषयिताविशेषसम्बन्ध एव घटत्वादेः विजातीयसंयोगजन्यतावच्छेदकतावच्छेदकोऽस्त्वनंतप्रागभावप्रध्वंसाद्यकल्पनलापवात्” इत्यपि परास्तम् । तदभावेऽपि घटत्वविनिर्मुक्तविषयताकघटसाक्षात्काराऽऽपत्तेश्च । किञ्च घटादेः कुम्भकारादिव्यङ्ग्यत्वे जन्यत्वव्यवहारो निरालम्बनः स्यात्, अन्यथा दिनकरकरनिकराऽभिव्यञ्जिते घटे तज्जन्यव्यवहाराऽऽपत्तेः । ३।

नाऽपि तुरीयः - महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरूपायाश्चाधुषादियोग्यतायाः प्रागुक्तदिशा प्रागपि सत्त्वात् । ४। नापि

१. सद्वत्त्वं सच्च गुणो, सच्चैव य यज्जओत्ति वित्थारो । जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतन्भावो ॥ प्रव० सार० अ० २ गा० १५।
२. फलान्यत्त्वव्याप्यत्वमित्यर्थः । पटादिवस्तुनो नित्यत्वात्, कुम्भकारादिप्रयत्नस्य वैफल्यमेव, न तु फलनिष्पत्तिव्याप्यत्वमिति भावः ।

पञ्चमः, कालविशेषस्य कारणत्वेनाऽनतिप्रसंगे एककारणपरिशेषाऽऽपत्तेः । विशेषस्याऽऽगन्तुकोपाधिरूपस्य सदसद्विकल्पग्रासाच्च । १५। नापि षष्ठः, सत्यामपि जिज्ञासायां कारणव्यापारात्प्राकार्याऽनुपलम्भाज्जिज्ञासाया ज्ञानमात्रं प्रत्यहेतुत्वाच्च । जिज्ञासितबोधं प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वे जिज्ञासां विनापि तत्राऽजिज्ञासितबोधाऽऽपत्तेश्च । १६। नापि सप्तमः, अनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वात्तस्य च लक्ष्यत्वादद्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयात् । १७। नाप्यष्टमोऽनिर्वचनात् । १८। (इति)

स्यादेतत् - “विजातीयसंयोगस्य जन्यसाक्षात्कारत्वं जन्यतावच्छेदकमस्तु न तु जन्यद्रव्यत्वं, अनंतप्रागभाव-प्रध्वंसाऽभावकल्पनागौरवात् । न च विजातीयसंयोगं विनापि गुणादौ द्रव्यसाक्षात्कारोदयाद् व्यभिचारः, द्रव्यनिष्ठलीकिकविषयतायाः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन तदुद्धारात् । एतेन —> “द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे मूर्तसाक्षात्कारत्वादिना विनिगमनाविरहः, स्वाश्रयविषयतासम्बन्धं कार्यतावच्छेदकोक्त्य द्रव्यत्वादिना तथात्वेऽपि मूर्तत्वादिना स एव दोषः” <- इत्यपास्तम् । इत्थञ्च द्रव्यमात्रं सर्वथा नित्यमस्तु । न चैवं तंतूनामेव पटत्वात्तंतौ पट इति प्रत्ययो न स्यादिति वाच्यं, फलवलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वपटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य विलक्षणसंयोगत्वरूपतन्तुत्वे स्वीकारात् । अत एव न तन्तुपट-पदयोः पर्यायताऽपि, विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपशक्यतावच्छेदकभेदात् । ‘तंतुसंयोगात्पट उत्पन्न’ इति व्यवहारस्तु भ्रान्त एव, पटपदं वा पटाभिव्यक्तिपरम् । ‘पट उत्पन्न’ इत्यादिप्रतीतिस्तु पटत्वादिघटकसंयोगोत्पादमात्रमवगाहते । ‘तंतुः पट’ इति प्रतीतिस्तु वृक्षो वनमिति वदेव नोदेति । ‘पटः तंतव’ इति प्रतीतिस्तु एकत्वधर्मितावच्छेदकबहुत्वप्रकारिका सतीच्छाविशेषमपेक्षते । एकत्र द्वयमिति न्यायेन तदन्वयबोधापादने शब्दाऽसाधुत्वमेव वा । ‘अधिकं मत्कृतन्यायवादार्थेषु बोध्यम् ।’

अत्र त्रूमः - पर्यायत्वावच्छेदेनैव द्रव्यस्य कारणता सामान्यतो गृहीतेत्यसमानजातीयद्रव्यपर्यायरूपस्य घटस्य कथं न जन्यत्वम् ? अन्यथा कपालस्यैव घटत्वात्कपालरूप-घटरूपयोर्भेदो न स्यात्, तथा च प्रत्यक्षबाधः । किञ्चैवं दण्डादौ घटसाधनताज्ञानेन प्रवृत्तिर्न स्यात् । अथ “विजातीयसंयोग(व)त्वमेव घटत्वं, युक्तं चैतत्, कथमन्यथा घटत्वस्य जातित्वं ? मृत्त्वस्वर्णत्वादिना सांकर्यात् । न च कुलालादिजन्यतावच्छेदकतया मृत्त्वस्वर्णत्वादिव्याप्यं नानाघटत्वमेव स्वीकर्तव्यमनुगतधीस्तु कथञ्चित् सीसादृश्यात्, घटपदं तु नानार्थकमिति वाच्यम्, कुम्भकारादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन तत्त्वे घटत्वस्यैकत्वीचित्यात् इति चेत् ?” न, एवं सति घटवत्यपि भूतले संयोगेन घटो नास्तीति प्रतीतेः प्रमात्वापातात्, घटः पटसंयुक्त इत्यादिप्रतीतेरप्रमात्वापाताच्चेति दिक् ।

अथ अनित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि दोषमाहुः “स्यातामि”ति । एकान्तनाशे = नित्यत्वाऽसंभिन्ननाशे कृतस्य नाशो = अकृत-तुल्यता । तन्मते हि वस्तुनः सर्वस्य क्षणिकत्वादुत्पत्तिसमनंतरमेव घटस्य नाशः, इति पृथुबुध्नोदरत्वादियपर्यायाणामाधारेण केन भवितव्यम् ? तथाऽकृतस्याऽऽगमः = अर्धक्रियाकारित्वम् । यद्धि कुम्भकारादिना घटादिकं कृतं तेन तु दुर्जनमनः-प्रणयपरंपरावत्तदानीमेव दध्वंसे, तथा च जलाहरणादिक्रियासु व्याप्रियमाणेन तेनाकृतेनैवोपस्थातव्यमिति दूषणद्वयमिदं बीज-बुध्दुपनीतकाकुल्याकुलीकरणप्रवणं प्रसज्येतेति भावः ।

(क्षणिकवादपूर्वपक्षः)

इदमप्यत्र विचार्यते - किं क्षणभंगुरमेव वस्त्वन्यथा वा ? तत्र बीद्धाः —> “मुद्रादिसमवधानदशायां घटादेर्यत् स्वरूपं वरीवर्त्ति तेन प्रागासीनं न वा ? अन्त्ये स्वरूपभावहान्यापत्तिः, अनायासेनैव सिद्धा क्षणभंगुरता भगवती । किंच - तत्तत्क्षणावच्छेदेन घटादेः प्रध्वंसाऽप्रतियोगित्वकल्पनापेक्षया प्रध्वंसप्रतियोगित्वकल्पनैव लधीयसी । वस्तुतः तत्तत्क्षणेष्वास्तु घटत्वपटत्वादिकम् । नच संकरः, वासनाकृतविशेषेण तन्निरासात् । अत एव न स्थितिकाले घट उत्पन्नो, घटो ध्वस्त इत्यादि प्रतीतिः । विशिष्टोत्पादध्वंसयोर्विशेषणसत्त्वविरुद्धत्वात् । न च ‘स एवायं घट’ इति प्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वे बाधिका, स एवायं गकार इत्यादिप्रत्यभिज्ञाया इव तस्यास्तज्जातीयाभेदविषयत्वात् । किञ्च - नित्यस्य सतो वस्तुनः सर्वदार्थक्रियाकारित्वापत्तिः, स्वतः सामर्थ्याऽसामर्थ्याभ्यां परोपकारानवकाशात् । स्वतःसमर्थमपि तत्कारणांतरसहकृतमेव कार्यमुपदधातीति चेत् ? न, कार्यानुपधानसमये सामर्थ्यं मानाभावात् । तस्मात् कुर्वद्रूपस्यैव कारणत्वाद्बस्तुनो मदुक्तदूषणभारभंगुरस्य सतः क्षणविभ्राम एवोचित इति ।” <-

(क्षणिकवादनिरासः)

तदतिजरत्तरं - विनाशस्वभावत्वेन क्षणिकत्वे स्थितिस्वभावत्वेन नित्यत्वस्याप्याऽऽपत्तेः । स्थितिप्रत्ययो भ्रान्तो, विनाशप्रत्ययस्तु प्रमेति तु निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्रम् । ध्वंसप्रतियोगित्वं तु यथा त्वया विधिपर्यायेण कल्प्यते तथा मया निषेधपर्यायेणापीति

न दोषः । वासनाया ध्रुवत्वे तु नामान्तरेण द्रव्यमेवाऽभ्युपेतवान् भवान्, कृतांतं च कोपितवान्, अध्रुवत्वे तु किमन-
याऽजागलस्तनायमानया ? कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता, तस्य प्रागपरिचयात् इष्टसाधनताज्ञानविलम्बात् घटार्थिनो दंडादी
प्रवृत्त्यनुदयापत्तेरिति विक् ।

श्रीहेमसूरिवाचामाचामति चातुरीपरविचारम् । व्याख्यातायशोको जसविजयस्तां परिचिनोति ॥१॥

(प्रथमश्लोकविवरणं समाप्तम्)

ननु भवतु कदाचिद्वाह्यवस्तुनो नित्यानित्यत्वम्; एमातुस्तु न कथमपि । न च ज्ञानाद्यभेदात् तथात्वं, तथा सति दुःखा-
भेदाद् दुःखध्वंसस्यापि आत्मध्वंसरूपत्वात्तदर्थिनो यमादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । न च दुःखध्वंसत्वमेव काम्यतावच्छेदकं, तत्राऽऽत्म-
ध्वंसत्वरूपाऽनिष्टतावच्छेदकज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबंधकत्वात् । न चाऽऽत्मत्वावच्छिन्नध्वंसत्वमेव चार्वाकादिमतप्रसिद्धमनिष्टता-
वच्छेदकं, विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति वाच्यम्, तथापि “नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” (तैत्तिरीय-आरण्यक)
इत्यादिश्रुत्या तस्य नित्यत्वीचित्यात् नित्यसुखादिनैव सममभेदबोधात् । न च “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्”
ति भेदबोधकश्रुतिसद्भावादुपचरितार्थत्वमेव तस्या युक्तमिति वाच्यम्, ‘राहोः शिरः’ इत्यादौ षष्ठा अभेदेऽपि दर्शनात् ।
अत्राऽभेदप्रकारकबोधदर्शनालक्षणेव, श्रुतौ तु सा न युक्तेति चेत् ? नः सुबुद्धिभक्ती लक्षणाऽनभ्युपगमात्, अन्यथा व्यत्यया-
नुशासनवैयर्थ्यात् ।

अथ विभक्त्यंतरार्थे विभक्त्यंतरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापकं व्यत्ययानुशासनम् । अत एव घटं जानातीत्यादौ द्विती-
याया विषयित्वे लक्षणा नाऽनुपपन्ना । कृत्र्ययोगे षष्ठ्यनुशासनं च द्वितीयाऽसाधुत्वज्ञापकं, निष्ठादिवर्जनं च निष्ठायां तत्साधुत्व-
ज्ञापकं, कृत्र्ययोगे विकल्पविधानं च निष्ठायां शेषषड्यसाधुत्वज्ञापकमिति चेत् ? न, तथापि तत्र सम्बन्धत्वप्रकारकबोधस्यैवे-
माणत्वात् । अत आहुः ‘आत्मनी’ति -

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यात् न भोगः सुखदुःखयोः ।

एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि न भोगः सुखदुःखयोः ॥२॥

आत्मन्येकान्तनित्येऽभ्युपगम्यमान इति शेषः । सुखदुःखयोर्भोगः = साक्षात्कारो न स्यात् । यद्यपि भोगपदं
सुखसुःखान्यतरसाक्षात्कारे रूढमिति पुनः “सुखदुःखयोः” रित्युपादाने पौनरुक्त्यं, तथापि ‘विशिष्टवाचकानामित्यादिन्यायात्
भोगपदमत्र साक्षात्कारमात्रपरं दृष्टव्यम् । न च शक्यादनन्येऽर्थे कथं लक्षणा, ‘शक्यतावच्छेदकरूपभेदे एव लक्षणास्वीकारात्,
यथा जयतेः प्रकृष्टजये । तदाहुः “शक्यादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणे”ति ।

नैयायिकैकदेशिनस्तु - “भोगत्वं चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया सिद्धो जातिविशेषः । न च स्वसम-
वायिलौकिकविषयितया भोगान्यमानसप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतसुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवदन्यज्ञानत्वादिकमेव मानासान्यसामग्री-
प्रतिबध्यतावच्छेदकं, सुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिबध्यतावच्छेदकमपीदमेव तेन न तत्प्रविष्टतया भोगत्वसिद्धिरिति वाच्यं, अनया
दिशा साक्षात्, सुखादिवृत्तिर्जातिः प्रतिबध्यतावच्छेदककोटी प्रवेश्या, साक्षात् मानसवृत्तिर्भोगत्वजातिर्वा स्वसमवायिलौकिक-
विषयतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटी प्रवेश्येत्यत्र विनिगमकाभावात्, प्रागुक्तजातेर्ज्ञानत्वपर्यन्तसम्बन्धेन प्रतिबध्यता-
वच्छेदकत्वप्रसंगाच्चे”त्याहुः । (‘तन्मते सुखदुःखयोरित्यस्य न पौनरुक्त्यम् ।)

(अथ प्रकृतं प्रेस्तुमः ।) ‘अयं भावः - एकान्तनित्यः सत्तात्मा सुखदुःखे युगपद्भुञ्जीयात्, क्रमेण वा ? नाद्यो,
विरोधात् । न द्वितीयः स्वभावभेदेन सर्वथानित्यत्वहानेः । सुखदुःखानुभवकालेऽपि तत्स्वभावत्वमात्मनः कथमिति चेत् ?
तस्य गुणरूपत्वात्; गुणगुणिनोश्च भेदाभेदस्य निपुणतरमुपपादितत्वादिति गृहाण । स्वभावो हि स्वद्रव्य-गुण-पर्यायाऽनुगतं
स्वरूपास्तित्वं, तच्च सादृश्या(द)स्तित्वेनैकीभवतोऽन्यन्यस्माद्धेदप्रतीतिमाधत्ते ।

अथैवमपि ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूपं सर्वथा नित्यत्वमक्षतमेवेति चेत् ? न, ज्ञानत्वादिना तद्ध्वंसादात्मत्वादिना नेति तु
प्रागेव प्रत्ययीपदाम । आत्मत्व-ज्ञानत्वयोरपि भेदे का प्रत्याशेति चेत् ? न, तथापि ज्ञानादिसाक्षादृत्तेर्ज्ञानत्वादेरेव
ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । आत्मत्वव्यापकत्वमपि तस्य न साक्षादिति न कोऽपि दोषः ।

इदमत्र ध्येयम् - यद्यपि यत्किञ्चिद्घटाऽन्यन्ताभाववत्यजायमानया घटाऽत्यन्ताभावप्रतीत्या तत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता
सिध्यति, ध्वसे तु नैवं, तथापि ‘घटत्वेनायं ध्वस्तो न तु मृत्त्वेने’त्यादिप्रतीत्या तत्र सा सिध्यति । अवच्छेदकता तु स्वरूपवि-
शेषः । सा च कचिदतिप्रसक्तेऽपि धर्मे प्रतीतिबलात्कल्प्यत इति । प्राञ्चस्तु - पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणतिरूपं

१. विशिष्टवाचकपदानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वमिति न्यायात् । २. समाधत्ते शक्यतेत्यादिना.

३. कोप्रद्वयान्तर्गती घाटी मध्यमवृत्तेर्योजिती आवश्यकत्वात् । ४. ‘अयं भग’ पाठो नावश्यको नास्ति च मध्यवर्ती ।

कार्यत्वमात्मत्वावच्छेदेनैव गायन्ति । नन्वेवमात्मनः कार्यत्वव्यवहारः स्यान्न तु ज्ञानादेः, तस्याऽनीदृशत्वात् इति चेत् ? न, द्रव्यकार्यत्वस्यैतल्लक्षणत्वात् । पर्यायकार्यत्वस्य तु ध्वंसप्रतियोगित्वमेव लक्षणम् । अत एव द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागे-
नोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वमित्येव स्नाकरावतारिकायामभिहितम् । ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्य नित्यत्वे तदनवच्छेदक-
रूपवत्त्वमेवोभयानुगतं कार्यत्वमित्यभिप्रेत्य तु प्रागुपदर्शितः पन्थाः । ध्वंसस्यापि किञ्चिदुत्पत्तिरूपत्वात्तद्ध्वंससंभवान्नाऽव्याप्तिः ।
घटादिनाशस्य कालविशेषविशिष्टकपालत्वादिनयेऽपि कपालत्वादिना तन्नाशसंभवोऽनन्यथासिद्धनियतोत्तरवर्तितावच्छेदकरूपवत्त्वे वा
तात्पर्यमिति ध्येयम् ।

अथाऽनित्यत्वपक्षेऽपि दोषमाहुः - “एकान्तानित्यरूपेऽपि” इति - निगदसिद्धमिदम् । अयं भावः - एकान्तानित्यस्यापि
सतः आत्मनः सुखदुःखयोर्युगपद्भोगो विरुद्धत्वादेव नेष्टः । क्रमभोगे तु क्षणिकत्वहानिः, तत्तत्क्षणध्वंसाधिकरणसमयस्यैव
क्रमपदार्थत्वात्, क्षणिकस्य तु तदसंभवादिति ।

हेमसूरिगिरां गुम्फे, यस्यास्ति परमा गतिः । द्वितीयानुष्ठुभो व्याख्यां, स यशोविजयोऽतनोत् ॥२॥ श्री

अथोभयोः पक्षयोर्दूषणांतरमुभाभ्यामनुष्ठुभ्यामाहुः ‘पुण्यपाप’ इति

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने ।

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥

क्रमाऽक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।

एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

एकान्तनित्यात्मवादिमते पुण्यपापयोरसम्भवः । ते हि “यागब्रह्महत्यादीनां क्षिप्रभंगुराणां स्वर्गनरकादिकं प्रति
श्रुतिबोधितकारणतायाः फलपर्यन्तव्यापारव्याप्ततया तत्र व्यापारस्य चान्यस्याऽसंभवात् परिशेषाददृष्टसिद्धिः । न च ध्वंसेनैव
निर्वाहस्तस्य फलाऽनाशयत्वात् । न चाऽपूर्वस्यापि प्रथमस्वर्गादिना नाशात् फलसन्तानो न निर्वहेत् इति वाच्यम्, तस्य चरम-
फलनाशयत्वात् । चरमत्वं च स्वसमानजातीयप्रागभावाऽसमानकालीनत्वादिकं जातिविशेषो वा । न चाऽपूर्वोत्पत्त्यनन्तरमेव फलं
कुतो न भवतीति वाच्यम्, वृत्तिलाभकालस्यापि नियामकत्वात् । अथ निर्व्यापारस्यैव यागादेरव्यवहितत्वांशविनिर्मुक्तकारण-
ताग्रहः सम्भवतीति चेत् ? न, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्रैव कारणताबुद्ध्यनुदयेन तद्रर्भायाः
कारणताया औचित्यात्, कीर्तनादिनाशयत्वेनाऽपूर्वसिद्धेश्च ।

तच्चादृष्टमात्मनो गुणरूपं विहितनिषिद्धक्रियाजन्यमित्याहुः । तच्चाऽयुक्तम् - स्वभावभेदेनैवात्मना धर्माधर्मयोजनने एकान्त-
नित्यतापक्षक्षतेः । वस्तुतः शुभाशुभोपयोगावेव धर्माधर्मौ, तदुपनीतप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिपाकाच्च फलोदय इति दिग् ।

अत एव बन्धमोक्षयोरपि कर्मादानसकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोरस्तत्यक्षेऽसम्भवः । एवमेकान्ताऽनित्येत्यादिना क्षणिकत्वपक्षेऽपि
दोषो विभावनीयः ॥३॥

क्रमाऽक्रमाभ्यामिति - अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपाणां हि क्रमेण युगपद्वाऽर्थक्रियाकारित्वं न घटमटादयते । तथाहि -
अर्थस्य = घटादेः, क्रिया = ज्ञानादिरूपा, तत्कारित्वं-तज्जनकत्वम्, सर्वथा नित्यानामात्मादीनां देशक्रमेण कालक्रमेण वा
न सम्भवति, यत्किञ्चिद्देशकालावच्छेदेनैव सकलकार्यकरणसामर्थ्यात् । अन्यथा देशकालभेदेन स्वभावभेदादनित्यत्वापातात् ।
अथात्मादीनामर्थक्रियाकारित्वेऽपि सर्वत्र सर्वदेत्यापादकाऽभावस्तत्स्वभाववतां देशकालादीनां विलम्बाच्च कार्यविलम्ब इति चेत् ?
न, तत्तद्देशप्रतिबद्धेतरकालत्वेन तत्तत्कालप्रतिबद्धेतरदेशत्वेन च कारणताया अध्यात्ममतपरीक्षायां प्रदर्शितत्वात् । एवं च तत्त-
द्देशकालावच्छेदेन स्वभावभेदे सर्वथा नित्यत्वापायात् ।

स्यादेतत् - एवं सति घटादीनां कारणता न स्यात् । मैवं, विनिगमनाविरहेण तेषामपि तत्सम्भवात् । न चैवं गौरवं,
प्रतीतिसिद्धस्वभावस्यैवमेव कल्पनात् । किञ्च कारणकालापमेलकस्य कार्योपधायकत्वेऽपि तस्यापि वैचित्र्यात् स्वभावाऽवैचित्र्ये
का प्रत्याशा ? तस्मात् स्वभावाऽवैचित्र्येऽप्यन्यादृशं नित्यत्वमेव तत्रास्तीति स्वाग्रहमेव गृहाण । तमेव गृह्णामीति चेत् ?
पथः स्मर, मोचितोऽसि ततः प्राक् ।

अथ पूर्वपूर्वपरिणामानामेवोत्तरोत्तरपरिणामजननस्वभावत्वादात्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमिति चेत् ? न, तस्य तदभेदेनैव
कर्तृत्वात् । अत एवैकस्य षट्कारकीभावोऽन्यत्र प्रासाधि । अथ नित्यचेतनास्वभावत्वरूपार्थक्रियाकारित्वादात्मनः कूटस्थनित्य-
त्वमेवोचितमनित्यचेतनायास्तु प्रधानसाध्यत्वमिति चेत् ? न, चेतनायाः स्वतो नित्यत्वात् पर्यायतोऽनित्यत्वस्यैतदपक्षपातित्वात् ।
ज्ञानकर्मफलरूपायाः स्वतन्त्रप्राप्यत्वेन कर्मीभूतायाश्चेतनायास्तत्तदुपयोगपरिणतेन स्वतंत्रतयाऽऽत्मनैव कर्त्रा सम्भवात्, प्रधाने
मानाऽभावात् ।

अथैवमपि द्रव्यकर्मरूपार्थक्रियाकारित्वमात्मनः कथमिति चेत् ? निमित्तीभूतभावकर्मकर्तृत्वेनोपचारादिति गृहाण । एवं घटादिकर्तृत्वमप्यात्मनः उपचारादेव बोध्यम्, प्राप्यत्वगर्भकर्मत्वस्य परिणामविशेष एव पर्यवसानात् । न हि क्रियाजन्यफलशालित्वादिकं पराभिमतं कर्मत्वमपि सार्वत्रिकं, घटं जानातीत्यादावेव तदभावात् । एतेनाऽर्थक्रियेत्यत्र प्रथमातत्पुरुषेऽपि क्रमपक्षः प्रत्याख्यातः । युगपत्पक्षे तु प्रत्यक्षबाधः । एकान्ताऽनित्यपक्षेऽपि दोषमभिधाति “एकान्ताऽनित्यपक्षेऽपि” इति - क्रमाक्रमयोरसम्भवप्रतीतिबाधाभ्यामिति भावः ॥४॥

अथैकान्तवादोपकल्पितकर्कशतरतर्कतिमिरनिकरनिराकरणेन प्रकटीभूतप्रतापं भास्वतमनेकान्तवादमभिनन्दन्ति - ‘यदा त्वि’ति - यदा तु नित्यानित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेत् ।

यथात्थ भगवन्नैव तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

ननु परेऽपि पृथिव्यादीन्यपि परमाणुरूपाणि नित्यान्यन्यानि अनित्यानि प्रतिजानत इति को विवादोऽतः प्राहुः ‘यथात्थे’ति । भगवान् हि घटादिकमप्येकं वस्तु ‘स्यान्नित्यं’, ‘स्यादनित्यं’, ‘स्यान्नित्यानित्यं’, ‘स्यादवक्तव्यं’, ‘स्यान्नित्यमवक्तव्यं’, ‘स्यादनित्यमवक्तव्यं’, ‘स्यान्नित्यमवक्तव्यमवक्तव्यं’ इति प्रकाशयति न तथा परे स्वप्नेऽपि संविद्वत् इति भावः ।

इदमिदानीं निरूप्यते । सर्वत्र हि वस्तुनि स्यान्नित्यत्वादयः सप्त धर्माः प्रत्यक्षं प्रतीयन्ते । तथाहि - घटो द्रव्यत्वेन नित्यः, पर्यायत्वेनानित्यः, क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेण स्यान्नित्याऽनित्योऽपि प्रतीयते । न च समुदिताभ्यां नित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यामेव तन्निर्वाहद्वर्मान्तरकल्पनं किमर्थकमिति वाच्यं, समुदितयोस्तयोर्विलक्षणत्वेनैतत्स्थानाऽभिषेचनीयत्वात् । न चात्र प्रत्यक्षे इच्छायाः कथं नियामकत्वं, प्रतीतिबलादेतादृशेच्छाविशिष्टबोधं प्रत्येतादृशेच्छायाः कारणत्वकल्पनात् । युगपदुभयाऽर्पणासहकारेण स्यादवक्तव्योऽपि न तु सर्वथा, अवक्तव्यपदेनाऽप्यवक्तव्यत्वापत्तेः । न चाऽवक्तव्यत्वं शब्दाऽबोध्यत्वरूपं कथं योग्यमिति वाच्यम्, उपदेशसहकारेण पञ्चरागादिवत्तदग्राह्यत्वात् । नित्यत्वस्यात्र क उपकार इति चेदवक्तव्यत्वेन परिणामनमित्येव गृहाण । वक्तव्यत्वेन परिणामनं तु नित्यत्वादिविशेषेणैव विश्राम्यतीति न तदतिरेकावकाशः । क्रमाक्रमाभ्यां विध्युभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्यः । ताभ्यां निषेधोभयकल्पनासहकारेण स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च । ताभ्यामुभयकल्पनासहकारेण च स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, स्यादवक्तव्यश्च । अत्रापि समुदायपक्षाऽऽशंका प्राग्वत् समाधातव्या । न च विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, तथाप्येतत्कृतपरिणत्यनतिरेकात् । नित्यानित्यत्वादयो जात्यन्तररूपा इत्यप्याहुः । अत एव अमूनवलम्ब्य सर्वत्र सप्तभंगी संगतिमंगति ।

अथ केयं सप्तभंगीति चेत् ? एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्कारादितसप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगी’ति सूत्रम् । (प्रमाणनयतत्त्वालोक-परिच्छेद-४ सूत्र १४) यः खलु प्रागुपदर्शितान् वस्तुनः सप्त धर्मानवलम्ब्य संशेते, जिज्ञासते, पर्यनुयुङ्क्ते च तं प्रतीयं फलवती, प्रश्नस्य तुल्योत्तरनिवर्त्यत्वात् । यथा च सामान्यतः शब्दः सर्ववाचकोऽपि संकेतविशेषं सहकृत्याऽन्वयं बोधयति तथेयमप्यर्पणाविशेषसहकृत्यरी सतीति । शब्दे इच्छाऽनियामकत्वबोधो बोधम् । सप्तभंगीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्याऽबोधकत्वं तु नाऽऽशंक्यं, विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिधान इत्यनेनाऽर्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्तनाऽभिधानात् ।

अत्र च स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तभंगेषु एवकारोऽवधारणार्थकोऽन्यथाऽनुक्तसमत्वापातात् । स्यात् पदं तु तत्र तदवच्छेदकरूपपरिचायकं, तदपरिचये सांकर्यापातात् । सेयं सकलादेशस्वभावा, विकलादेशस्वभावा च । तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानंतधर्मात्मकवस्तुनः एकालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा योगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः (प्रमाणनयः परिः ४ सू० ५४) । तदन्यो विकलादेशः । नित्यत्वादीनां कालादिभिरभेदे हि एकेनाऽपि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेनाऽनेकधर्मरूपस्य तदात्मकतापन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवात् योगपद्यम् । भेदविवक्षायां तु सकृदुच्चरितेत्यादिन्यायादेकशब्दस्याऽनेकार्थानां युगपदबोधकत्वात् क्रमः ।

अथ सकृदुच्चरितेत्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे एकशिष्टघटादिपदस्यानेकघटादिबोधकत्वं न स्यात् । न स्याच्च कस्मादपि घटपदात् प्रातीतिको घट-घटत्वयोरपि बोधः इति चेत् ? न, अग्रिमसकृत्पदस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वात् । एकशेषस्थले तु पदान्तरस्मरणमेव कल्प्यमन्यथा घटपदात् समवायकालिकाविशेषणताभ्यां घटत्वाऽवच्छिन्नयोर्युगपद्बोधप्रसक्तिभिर्य तद्वर्मावच्छिन्नस्य बोध्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नत्वगर्भत्वावश्यकतया विषयिता-समवायाभ्यां गुणत्वबोधकैकशिष्टतदादिपदादुभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेत् । एकपदस्यैकस्मिन् काले एकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालिबोधोपधायकत्वमिति निष्कर्षः । तेन नैकपदस्य वस्तुतो नानाधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वेऽपि क्षतिरिति ध्येयम् । धर्मे एकत्वञ्च यावद्बोध्यवृत्तित्वादिकम् ।

१. के पुन कालादयः ? कालः, आत्मरूपम्, अर्थः, सम्बन्ध, उपकारः, गुणिवेशः, संसर्ग, शब्द इत्यष्टाविति रत्नाकरावतारिकायाम् ।

२. सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवाऽर्थं गमयतीति न्यायात् ।

यत्तु - स्वाश्रयबोधतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनैकवृत्तिमत्त्वं तदबोध्यत्वं, तेन न पशुत्वादेर्नानात्वेऽपि दोष इति न्यायनयानुयायिनः, तत्र, सर्वस्य सर्वपदशक्यत्वात् । न चैवं लक्षणाद्युच्छेदः, साक्षात्संकेताऽसंभवे तदवकाशात् । न च घटत्व-पटत्वादिना शक्तिकल्पने गौरवं, प्रमेयत्वादिनैव तत्कल्पनात्तत्तद्धर्मेण बोधस्य संकेतविशेषनियम्यत्वात् । न चैवं शक्तिरन्तर्गदुरिति वाच्यं, वाचकताप्रतिनियमस्य तथा विनाऽनुपपत्तेरित्याकरे स्पष्टत्वात् । कालाद्यष्टकस्वरूपं च श्रीपूज्यलेखादवसेयमिति दिग्मात्रमेतत् । तर्कास्त्वत्रत्याः अस्मत्कृतसप्तभर्गीतरंगणीतोऽवसेयाः ।

ननु भवतु कदाचिदन्यस्य वस्तुनो नित्याऽनित्यत्वं, प्रदीपादेस्तु सर्वथाऽनित्यत्वमेवोचितमिति चेत् ? न, प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनाद्द्रव्यत्वेनाऽनाशात् । अथैवं तमसो द्रव्यत्वं स्यादिति चेत् ? स्यादेव ।

तेजसः किल निवृत्तिरूपता, यान्धकारनिकरे परोदिता । द्रव्यतां वयममी समीक्षिणस्तत्र पत्रमवलम्ब्य तन्महे ॥

तत्र तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानम् । न च तदेवासिद्धं, तमो नीलमिति प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् । न चांशभूत-रूपवत्त्वमुद्भूतस्पर्शव्याप्यं, इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणनीलारोपेणैव निर्वाहात् गौरवात् न कल्प्यते इति न तत्र व्यभिचारः, कुंकुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारस्तत्रापि स्मर्यमाणारोपेणैव निर्वाहाद्बहिर्गन्धो-पलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैवोपपत्तेरिति वाच्यं, तादृशव्याप्ती मानाऽभावात्, प्रभायां व्यभिचारात् । न च नील-रूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यं, त्रसरेणौ व्यभिचारात् । न च पाटितपटसूक्ष्मावयववत्तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानं, अनुद्भूतरूप-स्योद्भूतरूपजनकताया इवाऽनुद्भूतस्पर्शस्याऽपि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवादुद्भूतान्ताऽसंप्रतिपत्तेः । जन्यानुद्भूतरूपं प्रत्यनुद्भूतेतररूपाऽभावस्य कारणत्वपक्षे तत्तैलस्थादनुद्भूतरूपाद्बह्वेनोद्भूतरूपभागांतराकर्पणेनैवोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारादत्र दृष्टान्ताऽ-सम्प्रतिपत्तिरिति चेत् ? न, तथापि त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शनप्रसङ्गात् । द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकी-भूतप्रकर्षवन्महत्त्वाऽभावान्नायं दोष इति चेत् ? न, तादृशप्रकर्षस्यैकत्वेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् । अथैकत्वे तादृशजातिकल्पने स्वतन्त्रमतसिद्धद्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतैकत्वनिष्ठजात्या सांकर्यमेव विनिगमकमिति चेत् ? तथापि सा जातिर्महत्त्वे कल्प्यतामियं त्वेकत्व इत्यत्रैव विनिगमकमन्वेपणीयम् ।

अथ द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यैव द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकजातिरभ्युपेयतां, वायोर-चाक्षुषत्वं तु विषयविधयाऽकारणत्वादिति चेत् ? तर्हि एवमेव त्रुटिस्पर्शाऽस्पर्शनस्याप्युपपत्तेर्द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठ-जातेर्द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पर्शनजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाऽभावः, विषयस्य तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणतायां मानाऽ-भावश्च । यत्तु त्वक्संयुक्तत्वाच्चवत्समवायत्वेन प्रत्यासत्तित्वाच्च त्रुटिस्पर्शस्पर्शनमिति तत्र, आश्रयत्वाच्चस्य नियमतः पूर्वमभावेन त्वाच्चवत्त्वस्य विशेषणत्वाऽयोगादुपलक्षणत्वे घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पर्शनाऽपत्तेः कालभेदेनैकस्यामेव व्यक्तावनंतत्वाचानां सम्भवेन तावत्त्वाच्चप्रवेशाऽपेक्षया महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोरेव प्रत्यासत्तिमध्ये प्रवेशस्य त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वात्, वायोर-त्वाचेन तद्वृत्तिस्पर्शत्वाचानुपपत्तेश्चेत्यधिकमन्यत्र । 'तमस्युद्भूतस्पर्शवत्त्वमपि प्रतीतिसिद्धमेवेति' तु प्राञ्चः ।

अथाऽऽलौकाभावेनैव तमोव्यवहारोपपत्तेर्न तस्य द्रव्यत्वकल्पनमिति चेत् ? विपरीतमेव किं न रोचये ? आलोकस्य चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन क्लृप्तत्वान्नैवमिति चेत् ? न, चक्षुरप्राप्यकारितावादिनामस्माकं तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति योग्यता-विशेषकारणत्वस्यैवेष्टत्वात् । न च तादृशयोग्यतां विनाऽपि किञ्चिदंशेन तमःसंयुक्तद्रव्यग्रहाद्व्यभिचार इति वाच्यम्, मन्दतमः-संयुक्तांशग्रहे तादृशयोग्यताया अवश्याऽपेक्षणात् । अंशांशिनोः कथंचिद्धेदस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न च तस्मिन्नेवांशे नयनपराङ्मुखतमःशालिन्यपि प्रत्यक्षोदयादालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्यैव द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्वमुचितमिति वाच्यम्, यूकादिचाक्षुषानुरोधेन चक्षुरुन्मुखतमःसंयोगवच्चाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषहेतुत्वस्यैवाऽवश्यमाश्रयणीयत्वात् । आलोकाऽजन्य-द्रव्यचाक्षुषं प्रत्येवेतस्य हेतुत्वमस्त्विति तु नाभिधानीयं, आलोकजन्यतावच्छेदकनियतरूपस्यैवापरिचयात् । आलोकासंयुक्तचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमित्यपि न वक्तुं युक्तम्, महदुद्भूतरूपवत्तन्निवेशे गौरवादन्यथा स्फुटदोषात् । अधिकमन्यत्र प्रपञ्चितमस्माभिः इति श्रेयः ।

परेण हि चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणता वक्तव्या । सा च न सम्भवति आलोकसंयोगस्याप्यवच्छेदकत्वसम्भवे विनिगमनाविरहात् । एतेन स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुः-प्रतियोगिकसंयोगसम्बन्धेन तस्य कारणताऽपि प्रत्याख्याता । अथ द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयितासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति पर्यवसन्त्यास्तस्याः कारणताया अपेक्षया लाघवात् समवायेन तमोभिन्नीयलौकिकविषयतावच्चाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य स्वाव-च्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन कारणता कल्प्यते । चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेद-कावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्तेत्यादिसम्बन्धेन कारणतायां गौरवमेव विनिगमकमिति चेत् ? न, तथापि

कारणतावच्छेदकांतर्गतकतिपयभागानां सम्बन्धविधया निवेशाऽनिवेशाभ्यां तद्दोषात्, स्वावच्छेदकावच्छिन्नेत्यादिसंबन्धेन तत्र तमः-संयोगस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया अप्यवकाशाच्च ।

पेचकादिचाक्षुषे व्यभिचारश्च सर्वत्र साधारणदूषणम् । न च नरचाक्षुषं प्रत्येव तस्य कारणता, अजनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां चाक्षुषे तथापि व्यभिचारात् । न च स्वभाविकनरचाक्षुषत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वान्नायं दोषः, स्वाभाविकत्वस्या-लोकसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वरूपस्यालोककारणतापरिचयं विनाऽपरिचयात्, अन्यस्य दुर्वचत्वात् । अथाऽजनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदिति चेत् ? न, आदिपदार्थाननुगमेन कार्यतावच्छेदकाऽननुगमात् । नाप्यालोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तत्, आलोकेतरस्याजनादेर्व्यभि-चारेण चाक्षुषाऽजनकत्वेन चक्षुरसंस्कारकत्वात् । अजनाद्यभावकालीनचाक्षुषं प्रत्यंजनादीनां जनकत्वे चालोकाभावाऽकालीन-चाक्षुषत्वमात्रस्यालोकसंयोगकार्यतावच्छेदकौचित्यात् । एवमपि सिद्धं नः समीहितमिति चेत् ? न, तदपेक्षया लाघवेन तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्वस्यैव तत्रौचित्येन तमसो द्रव्यत्वसिद्धेः, पूर्वोक्तमल्पथि लाघवतर्कस्य सर्वातिशायित्वाच्च ।

यत्तु फलबलात्तत्रालोकविशेषः कल्प्यते, व्यभिचारग्रहे सत्यालोकस्य कारणताग्रहस्यैवानुपपत्तेः । कथमेवमिति चेत् ? न, तदवच्छेदेन व्यभिचारग्रहस्यैव तत्सामानाधिकरण्येनापि कारणताग्रहप्रतिबन्धकत्वात्, अत्र चालोकत्वसामानाधिकरण्येनैव तद्ग्रहे तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहस्य निरपायत्वात्, अन्यथा क्वचित्प्रथममतिप्रसक्तेनापि धर्मेण कारणताग्रहोत्तरं पश्चादनुगता-वच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धान्तव्याकोपाऽऽपत्तेरिति, तत्र, तदालोकेनान्येषामपि चाक्षुषापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अनन्तप्रतिनियतसंस्कारकता-कल्पने च महद्दीर्घादिति दिग् । एतन् “द्रव्यचाक्षुषसामान्यं प्रत्यालोकसंयोगकारणतायाः क्लृप्तत्वादालोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसः कथं द्रव्यत्वं” इत्यपि दूरमपास्तम् ।

तौतात्तिकिकदेशिनस्तु - द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वेऽपि तामसेन्द्रियेणैव तमोग्रहसम्भवानुपपत्तिः । न च मीलितचक्षुषोऽपि तद्ग्रहापत्तिः, चक्षुःश्रवश्रोत्रवत्तस्य चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् । न च तद्द्रव्यस्थापकगुणाभावात्तद्दृशेन्द्रियाऽसिद्धिः, गुणत्वस्य व्यवस्थापकतायामतन्त्रत्वात्, इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकतामात्रस्य प्रकृतेऽपि सत्त्वात् । न च पेचकादीनां दिवापि घटादि-ग्रहापत्तिः, तामसेन्द्रिये तमःसंयोगस्यापि सहकारित्वात् । न च तमसि तमःसंयोगासंभवो गगनतमःसंयोगस्यैव जागरूक-त्वात् । नन्वेवमपि किञ्चिदवच्छेदेन तमःसंयोगवति भित्त्यादावालोकसंयुक्तेऽपि तामसेन्द्रियेण प्रतीतिः स्यादिति चेत् ? तर्हि तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्यैव तद्ग्रहहेतुत्वमस्तु, विनिगमनाविरहस्तु तवापि तुल्यः । चन्द्रिकायां पेचकादेस्तु चाक्षुषमेवाऽभ्युपेयम् । न च दिवाऽपि तद्ग्रहाऽऽपत्तिः, फलबलात्सौरालोकस्य तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनादित्याहुः ।

तत्तुच्छम्, तमः पश्यामीति प्रतीतेनिरालम्बनत्वापत्तेः । अथ पश्यामीति विषयता न्यायनये चक्षुःसन्निकर्षदोषविशेषयोरिव मन्यते तामसेन्द्रियसन्निकर्षस्यापि नियम्या, अव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटी दानेन व्यभिचाराऽप्रचारादिति चेत् ? न, तथापि तामसेन्द्रियेण तमस इव घटादीनामपि, पेचकादीनामिव नराणामपि ज्ञानाऽऽपत्तेः । न च नरतामसेन्द्रियजन्य-ज्ञानं प्रति तादात्म्येन तमसस्तमस्त्वादेश कारणत्वं, अजनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां तु बहलतमे तमसि घटादीनां न ताम-सेन्द्रियजन्यं ज्ञानं किन्तु चाक्षुषमेव । न चालोकं विना कथं तदानीं तेषां तचाक्षुषमिति वाच्यम्, आलोकस्यैवाजनादेरपि चाक्षुषे चक्षुषः पृथक् सहकारित्वात् ।

अजनादिसंस्कृतचक्षुष एवालोकजन्यचाक्षुषे हेतुत्वादजनादेर्हेतुतावच्छेदकत्वमेवेत्यपि कश्चित् । तत्र, अजनाद्यभावाकालीन-चाक्षुषं प्रति स्वसंस्कृतचक्षुःसंयोगसम्बन्धेनाजनादेरेव हेतुत्वीचित्यादित्यपरे । वस्तुतः सामान्यतः एका चाक्षुषजननी योग्यताऽपरा च तमःसंयुक्तचाक्षुषजननी । तत्र पेचकादीनां दिवा न चाक्षुषं मानवानां च नक्तं न घटादिचाक्षुषमित्यत्र स्वभाव एव शरणम् । न चैवं स्वभाववादिमतप्रवेशः समवायाऽभ्युपगमे तदप्रवेशात्, ‘बहिरिन्द्रियज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वमेव, मानसे तु विशेष्यत्व-मपि’, इत्यादी परस्यापि स्वभावस्याश्रयणीयत्वात् । सर्वज्ञानस्वभावावगमे तत्तत्पुरुषतत्तद्देशतत्तत्कालतत्तद्विषयायाश्चित्य विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमवशाद्विचित्रज्ञानदर्शने को वा विस्मयः स्याद्वादाऽऽस्वादसुन्दरधियाम् ?

किञ्च तमसोऽभावत्वे विधिमुखप्रत्ययो न प्रादुःस्यात् । न च ध्वंसादिबुदुपपत्तिस्तथापि घटस्य ध्वंस इतिवदालोकस्य तमः इति प्रत्ययापत्तेः । न चालोकाभाव एव संकेतितस्तमःशब्दः इति न तदापत्तिस्तथापि करिकलभेत्यादिवत्तत्प्रयोगस्य साधुत्वा-पत्तेः । किञ्च, अंधतमसावतमसाद्युत्कर्षाऽपकर्षदर्शनादपि तस्य द्रव्यत्वं, महदुद्भूताऽनभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावत्वकतिपयतद-भावत्वयोरज्ञानेऽपि तद्द्रव्यवहारात् । इत्थं च तमश्चलतीत्यादि प्रत्यक्षमपि तद्द्रव्यत्वसाक्षि । न च स्वाभाविकरा-तेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्तिः, पञ्चरागप्रभायामेवाश्रयचलनानुविधानदर्शनात् । पञ्चरागचलनं विनापि कुड्यावरणविगमादिनापि तत्प्रभावचलनमुपलब्धमिति चेत् ? तर्हि स्थिरेऽपि स्तम्भादौ प्राक् पश्चात् दीपसम्बन्धादिना तमश्चलनोपलम्भः किं काकेन भक्षितः ?

किञ्च, तमसः प्रागभावत्वे उत्पत्तिप्रत्यय इतराभावत्वे विनाशप्रत्ययश्च न स्याताम् ।

स्यादेतत् - तमसो जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारम्भत्वं स्यात्, स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्वस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वादिति चेत् ? मैवं, तत्र स्पर्शवत्त्वस्येष्टत्वात् । किञ्च, नव्यनैयायिकेन चक्षुरादीन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वादेनाऽप्युपेक्षः, स च तमस्यपि सम्भवतीति । न च द्रव्यारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्यैव तत्रानुद्भूत-स्पर्शोऽभ्युपगम्यतामिति वाच्यम्, अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य जातिविशेषकल्पनाया एवोचितत्वात् । तादृशजातेरन्त्या-वयवित्वस्यभ्युपगमाच्च सुवर्णत्वादिना सांकर्यम् । न च घटादीनामप्यारम्भकत्वं स्यात्, तत्तदन्त्यावयवित्वेन प्रतिबन्धकत्वात् । मूर्त्तत्वेनैव द्रव्यारम्भकत्वं, न च मनसोऽपि मूर्त्तत्वात्तदारम्भकत्वाऽऽपत्तिः, मनोऽन्यमूर्त्तत्वेनैव तथात्वादित्येके । मूर्त्तत्वेनैव तथात्वं, मनसि द्रव्यानुत्पत्तिस्तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराभावादित्यपरे ।

यत्तु - द्रव्यारम्भकतावच्छेदकतया पृथिव्यादिचतुर्वर्णैव भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते, आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भावत इति, तत्र, तमःसाधारणस्याऽपि तस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् । मनसोऽनतिरिक्तत्वनये भूतमूर्त्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेश्च ।

स्वतन्त्रास्तु - एकत्वनिष्ठ एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषः कल्प्यते । स चान्त्यावयव्येकत्वव्यतिरिक्त एवेति न तत्तदन्त्यावयवित्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवमित्याहुः ।

इत्थञ्च तमःसद्भावे मानमप्याहुः - तमो भावरूपं, यन्तरनिकरलहरीप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात्, आलोकवत् । ननु तमसो नीलरूपवत्त्वे पृथिवीत्वमेव स्यान्नातिरेक इति चेत् ? न, दाहप्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य जल इव तमस्यपि तवानपलप-नीयत्वात् । नन्वेवं नीलसमवायिकारणतावच्छेदकपृथिवीत्वाभाववति तमसि नीलमाकस्मिकं स्यादिति चेत् ? न, उभयसाधा-रणजातिविशेषस्यैव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात् । विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्येव विजातीयनीलस्यैव पृथिवीत्वं जनकता-वच्छेदकत्वमित्यप्याहुः । अवयवनीलादिनैवावयविनीलोपपत्तौ पृथिवीत्वस्य तत्समवायिकारणताऽनवच्छेदकमित्यप्याहुः । अवयव-नीलादिनैवावयविनीलोपपत्तौ पृथिवीत्वस्य तत्समवायिकारणताऽनवच्छेदकत्वं, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनावयवनीलादिमिति रूपादी नीलानुत्पत्तिस्तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति तत्रैकदेशिनाऽपि स्वीकाराच्च ।

एवं च 'नात्रालोकः किन्त्वंधकार' इति व्यवहारोऽपि समर्थितः । न ह्ययं 'नात्र घटः किन्तु तदभावः' इतिवत्समर्थयितुं शक्यते, नात्रालोकः किन्त्वंधकारतदभावाविति व्यवहारांतरस्यापि दर्शनात् । यत्त्वंधकारस्याऽऽलोकाभावत्वेऽधकारे नालोक इति प्रतीतिर्न स्यादिति केनचिदुक्तं, तत्तु मोघं, घटाभावे घटो नास्तीतिवत्तदुपपत्तेः । एवं सत्यंधकारेऽन्धकार इति प्रतीत्या-पत्तिस्तु स्यादेव । न ह्यन्धकारत्वमालोकाभावत्वादिदानीमतिरिच्यते । अथेतादृशसमभिव्याहारस्य शाब्दबोधजनकत्वाच्चेयमापत्तिः, जायमानप्रतीतेः प्रमात्वं त्विष्टमेवेति चेत् ? तथाप्यंधकारे नांधकार इति प्रतीतेर्भ्रमत्वं स्यात् । अभावचाश्रुपं प्रत्यालोकाधिकरण-संनिकर्षस्य हेतुत्वादालोकं विना दृश्यमानस्य तमसो नाऽभावत्वं इत्यपि कश्चिदिति दिग् ॥५॥

एतदवष्टम्भाय दृष्टान्तमाहुः - 'गुडो ही'ति -

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम् ।

द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेदजे ॥६॥

निगदसिद्धोऽयम् ॥६॥

अथ नित्यत्वाऽनित्यत्व-भेदाभेद-सत्त्वासत्त्व-सामान्यविशेषात्मकत्वाऽभिलाष्य(त्वा)ऽनभिलाष्यत्वादिधर्माणां विरोधशंका-मुद्दिधीर्षवोऽभिदधति 'द्वयमिति' -

द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।

विरुद्धवर्णयोगो हि दृष्टो भेदकवस्तुषु ॥७॥

एतच्च = एकाग्रवृत्तिसत् । द्वयं = नित्यत्वाऽनित्यत्वादिकं, न विरुद्धं = न परस्परानधिकरणाधिकरणम् । तत्र हेतु-माहुः - असदिति-प्रमाणप्रसिद्धेरसत्त्वात् । न ह्येकत्र सतोर्वस्तुनोर्विरोधग्राहकं किंचित्प्रमाणमस्ति । तथाहि, न हि जलान-लपोरिव तयोर्विरोधोऽनुभूयते, रूपरसयोरिवैकवृत्तित्वस्यैवानुभविकत्वात् । न चैकज्ञानानन्तरमज्ञायमानत्वं तथा, नित्यत्वादिज्ञाने सत्यनित्यत्वादेर्ज्ञानात् । स्वभावतो विरोधाभिधानं तु स्ववासनामात्रविजृम्भितम् ।

ननु नित्यानित्यत्व-भेदाभेदयोर्भवतु प्रागुक्तदिशैकवृत्तित्वं, सत्त्वाऽसत्त्वयोस्तु कुत इति चेत् ? श्रुणु । सर्वं हि वस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया सत्, परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च न सत् । व्यवहरन्ति हि घटोऽयं मार्त्तत्वेन काशीयत्वेनाऽयतनत्वेन रक्तत्वेन चास्ति, न तु ग्रावीयत्वेन प्रयागीयत्वेन श्वस्तनत्वेन श्यामत्वेन चेति ।

नन्वेतादृशमसत्त्वं अधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपर्यवसन्नमिति चेत् ? किं तावता ? तादृशाऽभावे मानमेव नास्तीति चेत् ?

न, 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेरेव मानत्वात् । यत्किंचिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यत्र तृतीयान्ताल्लभ्यते तत्र प्रकारिभूततद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैव व्युत्पत्तिबललभ्यत्वात् । कथमन्यथा घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमात्रास्तीत्यादिप्रतीतेरपि प्रा-
माण्यम् ? प्रत्यक्षे हि येन रूपेण प्रतियोगिनोऽनुपलम्भस्तद्धर्मावच्छिन्ना प्रतियोगिता संसर्गमर्यादया भासते तादृशधर्म एव च
तृतीयान्तनोल्लिख्यते इति । घटास्तित्वं च प्रदेशपुञ्जपरिणमनरूपं मार्तृत्वेन न विरुद्धम् । न च समयकालस्याऽनवच्छेदकत्वाद्
द्रव्यादिचतुष्टयबाधस्तत्र प्रतीतिबलात् स्वस्यैव स्वास्तित्वावच्छेदकत्वात् ।

अथ यदेव स्वरूपेणाऽस्तित्वं तदेव पररूपेण नास्तित्वमिति इदमेव तावत्प्रदर्शनीयमिति चेत् ? नयनानुमिलय, घावत्वेन
नास्तित्ववति पटादी किं मार्तृत्वेनास्तित्वमुपलब्धवानसि ? मार्तृत्वमार्तृभिन्नत्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वयोस्तथाप्यद्वैतमेवोपलभे इति
चेत् ? तत्किं तत्तन्निमित्तापेक्षाकृतविशेषं न ज्ञातवानसि ? साहजिकभेदयाच्चा तु पृथग्द्रव्ययोरेवोचिता ।

सामान्यविशेषात्मकत्वमपि, वस्तुनः सदृश-विसदृशपरिणती अपेक्ष्य अनुवृत्ति-व्यावृत्तिप्रत्ययजननात् । न ह्येतदनुरोधेन
तयोः पदार्थान्तरतास्वीकार उचितः । यतः सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवेतं च परैरभ्युपेयते, तदयुक्तं - अत्र भृत्पिंडे घटत्व-
मासीदिति प्रतीत्या तस्याऽनित्यत्वसिद्धेः । एकत्वमप्यनित्यतया प्रतीयमानस्याऽस्य सदृशपरिणतिरूपस्यैव संग्रहनयार्पणया प्राजते ।
तथा (हि) अनेकसमवेतत्वमपि जातेर्यावद्द्रव्यवृत्तित्वरूपं न संगच्छते, अतीताऽनागतव्यक्तिवृत्तित्वस्यैव दुरुपपादत्वादित्याहुः ।

अथ यथा भवन्मते एकस्य शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वं अतीतानागतव्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितवाच-
कताया एकत्वेन निर्वहति तथा ममापि तत्तद्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितसमवायस्यैकतयाऽनेकसमवेतत्वं
जातेनिर्वक्ष्यते इति चेत् ? न, समवायस्यैवाऽविष्वग्भावातिरिक्तस्याऽसिद्धेः । एतेनाऽनेकवृत्तित्वं च स्वाश्रयान्द्योन्याभावसामा-
नाधिकरण्यमिति वर्धमानवचनमप्यपास्तं, विशेषेऽतिव्याप्तितादवस्थ्यवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वावश्यकत्वात् ।

किं च - अनुगतधीजनकत्वेन सिध्यत् सामान्यमभावादिसाधारण्येनैव स्वीकर्तुमुचितम् । अपि च क्वचिदखंडोपाधिस्वीकर्तु-
स्तव स्वामिप्रेतजात्या पलायितमेव । किञ्च - लाघवाद्द्रव्यजकत्वेनाऽभिमतानामुपाधीनामेव संग्रहनयार्पणयैकीभवतां तत्त्वकल्पन-
मुचितम्, अन्यथा प्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनाऽऽपत्तेः ।

अथैवमपि ऊर्ध्वतासामान्ये मानाभावोऽगदकुंडलादी कांचनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव कांचनं कांचनमित्यनुगतप्रतीतेर्निवाहा-
दिति चेत् ? न, यदेव कांचनमंगदीभूतं तदेव कुंडलीभूतमित्यादिप्रतीतीनामेकाकारत्वस्योर्ध्वतासामान्यं विनाऽनुपपत्तेः । यद्यपीदृश-
मूर्ध्वतासामान्यं चिरस्थायिनां गुणपर्यायाणामपि सम्भवति तथापि पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमित्यत्र द्रव्यपदं
धर्मिपरमिति न कोऽपि दोषः ।

विशेषपदार्थस्वीकारोऽपि तेषां भेदकधर्मान्तराऽभाववतां परमाण्वादीनां नित्यद्रव्याणां परस्परं योगिभेदप्रत्यक्षानुपपत्तेः ।
सोऽप्यनुपपन्नस्तद्गुणेष्वपि तत्स्वीकाराऽऽपत्तेः । अथ तत्र शुक्लतरत्वाद्यवांतरजातयः स्वीक्रियन्ते, परमाणौ त्वन्त्यकार्याऽवति-
न्यस्ताः स्वीकर्तुं न शक्यन्ते इति चेत् ? तथाप्यवांतरजातीयेष्वपि रूपादी परस्परव्यावृत्तिः किमधीना ? स्वाश्रयाश्रितत्व-
सम्बन्धविशेषाधीना चेत् ? तर्हि स विशेषो गुणनिष्ठ एव कल्प्यतां, परमाणौ परस्परव्यावृत्तिस्तु स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेन
विशेषाधीनेत्यत्र किं विनिगमकं ? गुणानां बहुत्वात् तत्रानन्तविशेषकल्पनायां गौरवमेव विनिगमकमिति चेत् ? तथापि प्रत्येकं
विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः ? रूप एव विशेषः कल्प्यते पृथिवीपरमाणुरूपाणां पाकादिनैव विशेषः, तत्र विशेषाकल्पनलाघवा-
दित्यप्याहुः ।

किञ्च - तादृशविशेषाणामपि भेदः कुतः ? स्वत एवेति चेत् ? तर्हि तदाश्रयाणामपि स्वत एवायमास्थीयतामन्ततस्त-
तद्व्यक्तित्वादीनामपि भेदकत्वसम्भवात्, प्रतिद्रव्यमनन्तागुरुलघुपर्यायाणां विलक्षणानां सिद्धांतसिद्धत्वाच्च ।

अभिलाष्यत्वाऽनभिलाष्यत्वे अपि न विरुद्धे । दृष्टं हि घटस्य यथा घटपदापेक्षयाऽभिलाष्यत्वं तथा पटपदापेक्षयाऽन-
भिलाष्यत्वमपीति । नन्वभिलाष्यभावापेक्षयाऽनंतगुणिता अनभिलाष्या भावा भवद्भिरुपेयन्ते - यदुक्तं बृहत्कल्पवृत्ती "पञ्चवणिज्ज"-
त्तिः । तेष्वेवेदमनुपपन्नमिति चेत् ? न, तस्याऽनभिलाष्यपदेनैवाऽभिलाष्यत्वात् ।

ननु किमिदमभिलाष्यत्वं ? न तावत्पदजन्यबोधविषयत्वं, तदविषयेऽपि क्वचिद् घटादावभावात् । नाऽपि तद्वोध्यतावच्छेदक-
रूपवत्त्वं, घटस्याऽपि पटपदाभिलाष्यत्वापत्तेः, एकस्यापि पदस्य सर्वार्थवाचकत्वात् । नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसंकेतकपदबोध्य-
तावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, पटपदस्यापि घटे संकेतग्रहसंभवान्तदोषाऽनतिवृत्तेः । अत एव न तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपद-
बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमिति चेत् ? मैवं, गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियंत्रित-संकेतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तत्त्वात् । घटे
हि घटपदस्यैव कोशादिना संकेतो नियम्यते न तु पटपदस्येति नातिप्रसंगः । अत एव श्रुतज्ञानाविषयीभूतानामर्थानां प्राति-

४. 'पञ्चवणिज्ज' भावा अणंतभाषो उ अणभिलाष्याणं । = 'प्रज्ञापनीयाः भावा अनंतभागस्त्वनभिलाष्याणाम् ।

स्विकरूपेण संकेतग्रहासंभवात् अनभिलाष्यत्वम् ।

अथ घटादिपदस्यैव तत्तदर्थपुरस्कारेणाऽपि संकेतग्रहः कुतो न भवति इति चेत् ? तादृशश्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयो-
पशमलक्षणयोग्यताऽभावादिति गृहाण । यत्र च यत्पदस्य निर्यत्रितसंकेतो गृह्यते तत्पदप्रयोक्ता पुरुषः तदर्थप्रतिपादकत्वेनैव
व्यवहियते । अत एव भगवतां तत्तत्पदप्रयोक्तृणामपि श्रुतज्ञानाऽविषयीभूताऽर्थाऽप्रतिपादकत्वम् । इदमेवाऽभिप्रेत्याभ्यधायि
“केवलविज्ञेयत्वे” ति ।

दिग्बरास्तु - परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात् तत्र प्रयोक्तुरिच्छा, तत इष्टघटादिज्ञानसाधनतया घटादिपदे,
तत्साधनतया च कंठतात्वाद्यभिधातादादिच्छा, ततः प्रवृत्त्यादिऽभेदे घटादिपदप्रयोगः इत्येतादृशपरिपाट्याः केवलिनामभावात्
न ते शब्दप्रयोक्तारः किन्तु विश्रुता एव मूर्धनो निरित्वरा ध्वनयस्तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्यार्थविशेषं बोधयन्तीत्याहुः । तत्प्रति-
विहितमन्यत्राऽस्माभिः ।

एवं च नित्याऽनित्यत्वादिभर्माणां वस्तुतो विरोधाऽभावेऽपि यदि कथञ्चिद्विरोधः परेणाऽभ्युपेयते, अभ्युपेयतां तर्हि बाढं,
तथापि तेषामेकत्र समावेशं न किञ्चिद्वाधकं पश्यामः । कथञ्चिद्विरुद्धत्वेनाऽभ्युपेतानामपि नीलपीतादीनामेकत्र समावेशस्य दृष्टत्वात्
इत्याहुः “विरुद्धेति” । मिश्रवस्तुषु = मिश्रवस्तुषु, विरुद्धवर्णानां नीलपीतादीनां, योग = एकत्र समावेशो, हि = यतो,
दृष्टः = सकलजनानुभवसिद्धः । प्रतियन्ति हि सर्वेऽपि लोकाश्चित्रमपि घटं नीलत्वपीतत्वादिना । न च तत्राऽवयवनीलादि-
मतैव परम्परया प्रतीतेर्विषयः, एवं सति योग्यरूपादीनां त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेश्चित्रत्वव्यवहारस्तु नीलविशिष्टपीतादिनैकवृत्तिनील-
पीतोभयादिना वा । विशिष्टाऽविशिष्टभेदं तु स्याद्वादिनो वयं न प्रतिक्षिपामः, नीलादिविभाजकोपाधीनामेव पञ्चभ्योऽनतिरेके
तात्पर्यात् ॥७॥ (सप्तमश्लोकव्याख्या संपूर्णा)

अथ - अनेकान्ते परेषामपि संमतिमुपदिदर्शयिष्वः प्रथमतः तथागतसंमतिमाविष्कुर्वन्ते -

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम् ।

इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

“विज्ञाने”ति । विज्ञानस्य संविद एकमाकारं स्वरूपं नानाकार(करम्बितं=) चित्रपटाद्यनेकाकारमिश्रितमभ्युपगच्छन् बीजो
नानेकान्तं(प्रतिक्षिपेत् =) निराकुर्यात् = तस्यानेकान्तवादनिराकरणं न बलवदनिष्ठाननुबन्धीत्यर्थः । स हि परमाणौ मानाभावा-
त्तत्सिद्धयधीनस्थूलाऽवयवित्वस्याप्यसिद्धेर्नीलादेः प्रतिभासत्वाऽन्यथानुपपत्त्या विषयं विनापि वासनामात्रेण धियां विशेषाच्च
ज्ञानादनेकमपि, इति कथं न तस्यानेकान्तवादिकक्षापञ्जरे प्रवेशः ? ॥८॥

अथ अनेकान्ते योगवैशेषिकावपि संमानयन्ति - “चित्रमि”ति ।

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन् ।

योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

यद्यपि - चित्ररूपाभ्युपगन्तारी सांप्रदायिको नैयायिकवैशेषिकी चित्रे घटे न रूपान्तरमभ्युपगच्छतो, नीलादिप्रतीतेरव-
यवनीलादिनैवोपपत्तेः । नीलादिसामग्रीसत्त्वात् तत्र नीलादिकमपि कुतो नोत्पद्यत इति चेत् ? स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन
नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वात् । नीलाद्यभावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन विरोधित्वमिति तु वायूपनीतसुरभिभागादेर्नीरूपत्वे न
शोभते । चित्रसामान्यं प्रति च रूपत्वेनैव हेतुता । न च नीलमात्रारब्धे अपि तदापत्तिः, रूपजचित्रे नीलाभावादिपट्कस्यापि
हेतुत्वात् । नन्वनीलपीतोभयकपालारब्धे घटे पाकनाशितावयवपीतस्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले तदापत्तिः, कार्यसह-
भावेन तद्धेतुत्वात् । नील-नीलजनकतेजःसंयोगाऽन्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य वा तथात्वात् । नीलेतर-पीतेतरत्वादिनैव तद्धेतुतेत्य-
प्यन्ये । अग्निसंयोगजचित्रं प्रति च विजातीयतेजःसंयोग एव हेतुः, रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा स हेतुः फलबलेन
वैजात्यकल्पनात्, तेन नोभयजे उभयोः कारणत्वकल्पनम् । पाकजचित्रे वा मानाऽभावः, पाकादवयवे नानारूपोत्पत्त्यनंतरमेवाऽवय-
विनि चित्रस्वीकारे लाघवात् । चित्ररूपे रूपत्वेनैव हेतुता, नीलमात्रारब्धे तु प्रागभावाभावादेव न चित्रोत्पत्तिरिति । अस्तु
वा चित्रं प्रति चित्रेतररूपाभावस्य चित्रेतरत्वात्ति च चित्राभावस्य कार्यसहभावेन हेतुताऽतो नाऽतिप्रसंगः इति राममद्रसार्वभौमाः ।

केचित्तु नीलेतररूपाऽसमवायिकारणत्व-पीतेतररूपासमवायिकारणत्वादिनैव चित्रं प्रति हेतुतेति पाकरूपयोः न पार्थक्येन
कारणतेत्याहुः । तच्चिन्त्यम् - असमवायिकारणत्वस्याऽननुगतत्वात्, गुरुत्वाच्च । नीलादिकं प्रति नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकताव-
च्छेदकसंबन्धः स्वासमवायिकारणसमवायिसमवेतत्वमेव । न चैतत्त्वस्यापि सम्बन्धमध्ये निवेशाऽनिवेशाभ्यां विनिगमनाविरहः नीले-

१. केवलविज्ञेयत्वे सुअनागणं जिणो पयासेइ । सुअनाणकेवली वि हु तेणेवत्थे पयासेइ । केवलविज्ञेयार्थान् श्रुतज्ञानेन जिनः प्रकाशयति । श्रुतज्ञानकेवल्यपि
सह तेनेवार्थान् प्रकाशयति ॥

तरूपत्वादिना स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन प्रतिबन्धकतावादिनोऽपि तुल्यत्वात् । जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति च रूपत्वेनैवाऽसमवायि-
कारणत्वं न तु नीलादौ नीलादेः, प्रयोजनाभावात् । न च प्राक्पक्षोक्तदोषाऽनतिवृत्तिः, संवधाननुगमस्यादोषत्वात् । अन्यथा
चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुष्येनाऽपि कारणता न स्यात्, संयोगादिप्रत्यासत्तीनामननुगमात् ।

इत्थं च नानारूपवदवयवारब्धे चित्ररूपसिद्धिर्निरावृत्ता । चित्रं प्रत्यपि प्रागुक्तदिशा नीलेतरपीतेतरत्वादिनैव हेतुताऽतो
न कश्चिदोष इति न न्यायवादार्थेऽस्मदेककल्पनानिर्गम्यते । विजातीयं चित्रं प्रति रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वं, वैशिष्ट्यं च
स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन । स्वैजात्यं च चित्रत्वातिरिक्तं यत्स्ववृत्ति तद्विनाशमसमवायित्वम्, स्वसंवलितत्वं
च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम् । विजातीयचित्रं प्रति च विजातीयतेजःसंयोगत्वेन हेतुतत्त्वमपि कश्चित् ।

यत्तु —> नीलपीतोभयाभाव-पीतरक्तोभयाभावादीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां समवायावच्छिन्न-
प्रतियोगिताकानां च विजातीयविजातीयपाकोभयाभावादीनां यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एकचित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतु-
रिति <— तत्र, प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात् । चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुता, नीलपीतो-
भयजन्यचित्रत्वाऽवांतरजात्यवच्छिन्ने नीलपीतोभयत्वेनैव, त्रितयारब्धे तन्त्रितयत्वेन हेतुता, नीलपीतोभयारब्धचित्रे च नीलपीतान्यत-
रादीतरूपं प्रतिबन्धकमिति न त्रितयारब्धचित्रवति द्वितयारब्धचित्रापत्तिः, गौरवं तु प्रामाणिकत्वादिष्टमित्यन्ये । अत्र नीलतर-
नीलतमोभयत्वादिना तदुभयजन्यचित्रं न न्याय्यं च नीलतरनीलतमान्यतरेतररूपत्वादिना प्रतिबन्धकता तेन न नीलपीतोभयारब्ध-
चित्रवति तदापत्तिरिति बाध्यम् ।

केचित्तु नानारूपवदवयवारब्धो घटो नीरूप एव । न चैवमप्रत्यक्षः स्यात्, द्रव्यतत्त्वसमवेतचाक्षुषसाधारण्येन चाक्षुषत्वा-
वच्छिन्नं प्रत्येव स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वात् । अत एव त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन परमाणुद्रव्यणुकयोरपि सिद्धि-
रित्याहुः । तच्चिन्त्यम् - चित्रकपालिकास्थले तदसम्भवात् । किं च घटाकाशसंयोगाच्चक्षुषत्वानुरोधाय चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति
स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवोचितम् । स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षसंबन्धेन पर्याप्तिमतः स्वा-
वच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसंबन्धेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनेऽप्यव्यासज्यवृत्त्याकाशादिगुणाचाक्षुषत्वोपपत्तये रूप-
वत्त्वस्य प्रत्यासत्तिघटकत्वे गौरवात् । न च चाक्षुषाभावस्यैवास्तु चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वं, आश्रयाचाक्षुषत्वेनैव द्रव्यणुकाद्य-
चाक्षुषत्वोपपत्ती महत्त्वस्यापि प्रत्यासत्त्यघटकत्वे लाघवादिति वाच्यम् - त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन द्रव्यान्यत्वस्य प्रतिबन्धतावच्छेदककोटी
दाने गौरवात् । लौकिकविषयतावच्छिन्नचाक्षुषाभावापेक्षया समवायसंबन्धावच्छिन्नरूपाभावस्य लघुत्वाच्च ।

अथैवं रूपाद्युत्पत्तिक्षणेऽपि रूपादेःप्रत्यक्षं कुतो नेति चेत् ? विषयाऽभावादिति गृहाण । रूपनाशक्षणे संयोगादिचाक्षुषं
तु न, शपथमात्रश्रद्धेतत्वात् । इत्थं च तादृशघटस्य नीरूपत्वे तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं न स्यात् । एतेन - उद्भूतैकत्व-
स्यायोग्यव्यावृत्तधर्मविशेषस्य वा द्रव्यचाक्षुषकारणत्वेन रूपं विनाऽपि घटादिचाक्षुषत्वोपपादनेन तादृशघटस्य नीरूपत्वसमर्थनं-
प्रत्याख्यातम् । त्रुटावेव विश्रामे वायोः स्पर्शानत्वे च स्पर्शनं प्रति स्पर्शनाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं न तु स्पर्शाभावस्य, त्रुटि-
समवेतास्पर्शानानुरोधेन संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वस्य घटकत्वं गौरवात् । एवं च तादृशघटस्य निःस्पर्शत्वे तु
न क्षतिरिति ध्येयम् ।

एकदेशिनस्तु - तत्र अव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्येव । न चावच्छेदकतया नीलाद्यभावादिसामग्रीवलात्पीताद्यवयवावच्छेदेन
नीलाद्यापत्तिरवच्छेदकतया रूपत्वाद्यवच्छिन्नाभावस्य तथात्वेऽपि नीलपीतावयवारब्धे पीतावयवावच्छेदेन पाके रक्तोत्पत्तिकाले सा,
कार्यसहभावेन तदभावात् । अवच्छेदकतया नीलादीकं प्रति समवायेन नीलादेः कारणताभ्युपगमाद्वा । नन्वेवं घटादावप्यवच्छेदकतया
नीलाद्युत्पत्तिः स्यात्, सामग्रीसत्त्वादिति चेत्, ? अत्र केचित् अवच्छेदकतया नीलादीकं प्रति समवायेनाऽवयवनीलत्वादिना
द्रव्यविशिष्टनीलत्वादिना वा हेतुत्वमित्याहुः ।

अन्ये तु - अवच्छेदकतया तद्धारणाय स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायसंबन्धेनाऽवश्यकत्वहेतुताकस्य नीलाद्यभावस्यैव तादृशघटादाव-
भावान्नावच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः । तद्द्रव्यत्वादिना हेतुत्वे तु मूर्तत्वादिना विनिगमनाविरहाद्बहुहेतुहेतुमज्जावाऽऽपत्तेरिति ध्येयम् ।

केचित्तु - केवलनीलकपालादिष्ववच्छेदकतया नीलादिवारणायावयवान्तरवृत्तिनीलेतररूपादेः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवा-
यसंबन्धेन हेतुत्वमभ्युपगच्छन्ति । तत्रेत्यन्ये । कपालांतरावच्छेदेन पाकाद्रक्तरूपोत्पत्तिकाले कपालांतरविद्यमानानीलादेरव्याप्यवृत्ति-
नीलाऽनापत्तेः । रक्तोत्पत्त्यनंतरमेव तत्राऽव्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिं स्वीकुर्वन्त्यपरं । नन्वेवमपि नानारूपवत्कपालाद्वारब्धे घटे तत्क-
पालावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिरिति चेत् ? नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेनेष्टत्वमेव तस्याः ।

यत्तु - अवच्छेदकतया नीलादीकं प्रति समवायेन नीलादीनां न कारणत्वं किन्तु नीलेतररूपादीनामेव प्रतिबन्धकत्वमिति
न तत् नीलाद्यवच्छेदकं किन्तु नीलकपालिकैव तादृशीति - तनुच्छम् - कपालानीलाद्यवच्छेदिकायाः कपालिकाया घटनीलाद्य-

वच्छेदकत्वाऽयोगात् नीलादीनामपि नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकतायां विनिगमकाभावाच्च । नीलत्वादिना प्रतिबन्धकतायां लाघवं तु न पक्षपाति, प्रतिबन्धकतायामपि तत्संभवात् ।

‘अवच्छेदकत्वाऽयोगात् नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादिकं हेतुः, अवच्छिन्ननीलादिकं प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन नीलाद्यभावो हेतुः’ इत्याहः । सामानाधिकरण्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराद्यभावस्यावच्छेदकतया नीलादिकं प्रति कारणता इति कश्चित् । अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकार एव च “मुखे पुच्छे च पांडुर” इत्यादाववच्छेदकत्वार्थिका सप्तमी संगच्छते । न चैवं नीलकपालावच्छेदेन संनिकर्षे पीतादिग्रहापत्तिः । अव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबन्धावच्छिन्नाधारतायाः संनिकर्षत्वस्य संयोगादिस्थले क्लृप्तत्वादित्याहुः ।

अत्र केचित् - चित्ररूपवादिना नीलादिकं प्रति नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, नीलाभावादीनां चित्रं प्रति हेतुता च कल्प्या, अव्याप्यवृत्तिरूपवादिनाऽपि अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, केवलनीलावच्छेदकतया नीलोत्पत्तिवारणाय प्रागुक्तद्रव्यधटितसंबन्धेन नीलाभावादीनामवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति हेतुत्वं च कल्पनीयमिति यद्यपि तुल्यम्, तथापि चित्ररूपवादिमतेऽनन्ताऽव्याप्यवृत्तिरूपतद्ध्वंसप्रागभावाद्यकल्पनलाघवमित्याहुः । तत्राऽव्याप्यवृत्तिरूपवादिमते विनिगमनाविरहेण नीलेतरादिकं प्रति नीलादीनामपि हेतुत्वस्य कल्पत्वात् तुल्यत्वोक्तेरनीचित्यात् । अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकारे नीलपीतव्यग्निसंयोगानीलनाशात्तदवच्छेदेन रक्तं न स्यात्, रूपं प्रति रूपस्य प्रतिबन्धकत्वात् इत्याहुः ।

अपरे तु - तत्र व्याप्यवृत्तीन्येव नीलापीतादीन्युत्पद्यन्ते, नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वानीलाभावादिकारणत्वाऽकल्पनया लाघवात् । न च नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीतादेरुपलंभापत्तिः, पीतावयवाद्यवच्छिन्नचक्षुःसंनिकर्षस्य पीतादिग्राहकत्वकल्पनात् । यत्त्वेतत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेनैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत्तत्पीतान्यं तद्विन्नं यदेतद्धटसमवेतं तस्यैतत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रत्येतत्कपालावच्छेदेनैतद्धटचक्षुःसंयोगस्य हेतुत्वात् न नीलाद्यवयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीतादिचाक्षुषमिति - तत्र, तथापि नीलावयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे एतत्कपालाविषयकतत्साक्षात्कारापत्तेदुर्वारत्वात् । “मुखे पुच्छे च पांडुर” इत्यादी तु मुखवृत्तिपांडुरत्वमेव परंपरयाऽवयविनि प्रतीयत इत्याहुः ।

‘तथाऽपि ये नीलपीतरक्ताधारव्यधटादौ नीलपीतरक्तेभ्य एव नीलपीतोभयज-रक्तपीतोभयज-तत्त्रितयजचित्राणां चोत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात्, अनुभवसिद्धत्वाच्च, तत्र त्रितयजचित्रं व्याप्यवृत्ति, अन्यत्वव्याप्यवृत्ति, एकमेव वा तद्रूपमस्तु जातेरव्याप्यवृत्तित्वोपगमेन तु किञ्चिदवच्छेदेन नीलत्वपीतत्वादिकं विलक्षणचित्रत्वादिकं च व्यवहियते - इति येऽनुमन्यन्ते तदभिप्रायेणेदम्’ । स्वयं हि ये एकत्र घटे व्याप्यवृत्त्येकं चित्रमव्याप्यवृत्तिचित्रांतरं चाभ्युपगच्छन्ति तेषामनेकान्तवादाऽनादरो न ज्यायानिति भावः इति सर्वमवदातम् ॥१॥

अथाऽनेकान्तवादप्रामाणिकतां कापिलमतेनाऽपि संवादयति “इच्छन्ति” ति -

इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुणैर्गुणैः ।

सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सत्त्वाद्यैः = सत्त्व-रजस्तमोभिः, ‘सत्त्वं लघुप्रकाशकमित्यादिकारिकालक्षितैः, विरुद्धैः गुणैर्गुणैः तत्साम्यावस्थात्वमापन्नं प्रधानमङ्गीकुर्वन् सांख्यो यदि अनेकान्तवादं निराकुर्यात् तर्हि कथं न स्वाधिरूढशाखावच्छेदनकौशलमासादयेदिति भावः ॥१०॥

अथ लोकायतिकानां व्यवहारदुर्नयावलम्बिनां सकलतान्त्रिकवाह्यानां किं सम्मत्याऽसम्मत्या वा इति तेषामवगणनामेवाऽऽविष्कुर्वते “विमति” रिति -

विमतिः सम्मतिर्वापि चार्वाकस्य न मृग्यते ।

परलोकात्ममोक्षेषु यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

येषां परलोकात्ममोक्षेष्वेव मोहः तैः सह विचारान्तरविमतिसंमती अपर्यालोचितमूलारोपणकप्रसादकल्पनसंकल्पकल्पे इति भावः ।

१. - अयमत्र संदर्भः - पृष्ठ्या बहवः पुत्राः, यद्येकोऽपि गथां व्रजेत् । यजेत वाऽध्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्पुजेत् ॥१॥ अत्र वृषविशेषणभूतनीलपदार्थस्येयं परिभाषालोहितो यस्तु वर्णेन, मुखे पुच्छे च पांडुरः । इवतः खुर-विषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥२॥ अत्र सप्तम्या अवच्छिन्नत्वार्थं संगतिः ।
२. एतच्छ्लोकव्याख्यारम्भे विद्यमानं ‘यद्यपी’ति पदमत्रानुसंधेयम् । ३. ‘चित्रमेकमे’त्यादि श्लोकेनाऽनेकान्तसमर्थनम् । ४. “सत्त्वं लघु प्रकाशकमित्युपपन्नं चरं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥ (सांख्यकारिका) किञ्चिद्व्याख्या-कार्योद्गमने हेतुः धर्मो लाघवम्, गौरवं प्रतिद्वन्द्वि, यथानेनः ऊर्ध्वं ज्वलनम्, कस्पचित्तिर्यग्गमनेऽपि हेतुर्यथा वायोः । एवं करणानां वृत्तिपुटत्वेहेतुर्लाघवम् । सत्त्वतगसी स्वयमक्रिये रजसोपटभ्येते = स्वकार्ये उत्साहं = प्रयत्नं कार्यते । वरणकं = आवरणम्, आच्छादकमिति यावत् । प्रदीपवच्चति - यथा वर्त्तिर्निले अनलविरोधिनी, अथ मिलिते सहानलन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुत एवं सत्त्वादीन्यपि मिथो विरुद्धान्यपि अनुवर्त्त्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च । अर्थाः = गुरुष्वार्थाः ॥ इति ।

(चार्वाकमतपूर्वपक्षः)

ते हीत्थं ब्रुवते - न खलु निखिलेऽपि संसारे भूतचतुष्टयाऽतिरिक्तं किमप्यात्मादि वस्तु विद्यते, अनुपलब्धेः । किन्तु कायाकारपरिणतं भूतचतुष्टयमेव चैतन्यमाविर्भर्ति । न च प्रत्येकमचेतनानां समुदायेऽपि कथं चैतन्यमिति वाच्यं, मदव्यक्तिबहु-पपत्तेः । नव्यचार्वाकास्तु - अवच्छेदकतया ज्ञानादिकं प्रति तादात्म्येन कल्प्यकारणताकस्य शरीरस्यैव समवायेन ज्ञानादिकं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम् । न चैवं आत्मत्वं जातिर्न स्यात् पृथिवीत्वादिना सांकर्यात् इति वाच्यम्, उपाधिसांकर्यस्यैव जाति-सांकर्यस्याप्यदोषत्वात् । न चैवं परात्मन इव तत्समवेतज्ञानादीनामपि चाक्षुषस्पर्शने स्यातामिति वाच्यम्, रूपादिषु जातिविशेषमभ्यु-पगम्य रूपान्यतद्वत्त्वेन चाक्षुषं प्रति स्पर्शान्यतद्वत्त्वेन च स्पर्शनं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । इत्थमेव रसादीनामचाक्षुषा-स्पर्शनत्वनिर्वाहात् । अथैवं स्वज्ञानादेरपि प्रत्यक्षं कथमिति चेत् ? मनसैवेत्यवेहि । मनःसिद्धावेव किं मानमिति चेत् ? अनुमानमेव । न चानुमानोपगमेऽपसिद्धांतः, अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमात् । आत्मनः शरीरानतिरेके संयोगस्य पृथक् प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनेन लाघवमपि ।

अथ द्रवणुक - परमाणुरूपाद्यप्रत्यक्षाय चक्षुःसंयुक्तमहद्बुद्धिरूपवत्समवायत्वादिना प्रत्यासत्तित्वे त्रुटिग्रहार्थं संयोगस्य प्रत्यासत्तित्वमावश्यकमेवेति चेत् ? न, द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षं महत्त्वस्य समवायसामानाधिकरण्याभ्यां पृथग् नियामकत्वात् ।

ननु मम शरीरमित्यादिप्रतीत्यात्मनोऽतिरेकः सेत्यस्यतीति चेत् ? न; उक्तलाघवबलेनेदृशप्रतीतेर्न सत्वकल्पनात्, श्यामोऽहं, गौरोऽहं, इत्यादिसामानाधिकरण्यानुभवाच्च । ननु तथापि भूतचतुष्कप्रकृतित्वेन शरीरस्य पृथिव्यादिभिन्नत्वात्पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञासंन्यास इति चेत् ? न स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन गंधाभावस्य गन्धं प्रति प्रतिबन्धकत्वेन तस्य भूतचतुष्कप्रकृति-त्वाऽयोगात्, पार्थिवादिशरीरे जलादिधर्मस्यैवोपाधिकत्वादिति दिग् । इत्थं च शरीराद्यतिरिक्तस्यात्मन एवासिद्धौ कस्य नाम परलोकः कस्य वा मोक्ष इत्याहुः ❀

(चार्वाकमतनिरसन उत्तरपक्षः)

तेऽतिपापीयांसः सर्वापलापित्वात् । तत्र यत्तावदुक्तं - भूतचतुष्टयातिरिक्तमात्मादि वस्तु नास्त्येवानुपलब्धेरिति तत्र केयमनुपलब्धिः ? स्वभावानुपलब्धिर्वा (१), व्यापकानुपलब्धिर्वा (२), कार्यानुपलब्धिर्वा (३), कारणानुपलब्धिर्वा (४), पूर्वचरानुपलब्धिर्वा (५), उत्तरचरानुपलब्धिर्वा (६), सहचरानुपलब्धिर्वा (७) ? तत्र न तावदाद्या, यतः स्वभावानुपलब्धिर्हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भो, भवति चैतादृशो मुंडभूतले घटादेरनुपलम्भो न तु पिशाचादेः, तस्योपलब्धिल-क्षणप्राप्तत्वाऽभावात् । न च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघात, आरोप्ये तद्वपनिषेधात् । न चादृश्यस्यापि दृश्यतयाऽऽरोप्य प्रतिषेधो युक्तः, आरोपयोग्यस्यैवाऽऽरोपसंभवात् । उपलम्भकारणसाकल्ये सति हि यदुपलभ्यते स एव दोषवशात् कचित्कदाचिदारोप्यते, तादृशस्तु घटादिरेव न तु पिशाचादिः । एकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादौ घटादेः प्रागनुभूयमानत्वात्, पिशाचादेरतथात्वादिति स्पष्टं स्याद्वादरत्नाकरे ।

अथैवं स्तम्भे पिशाचानुपलब्धिः कथं ? तत्रैकज्ञानसंसर्गितया पिशाचस्य पूर्वमननुभूतत्वेनाऽनारोप्यत्वात् इति चेत् ? न, योग्यसहकारिसंपन्नत्वपर्यन्तस्य विवक्षणादत्राऽधिकरणयोग्यताया एव नियामकत्वादिति दिग् । इत्थं चात्मनि चक्षुरादिना स्वभावाऽ-नुपलब्धिर्नास्त्येवाऽऽत्मनश्चक्षुराद्ययोग्यत्वात् । मनसा तूपलब्धिरेवास्ति वादं, अहं सुखीत्याद्यनुभवस्य सार्वज-नीनत्वात् (१) ।

न द्वितीयतृतीये, व्यापककार्यज्ञानाद्युपलम्भादेव । कारणानुपलम्भस्तु कार्यपूर्वोत्तरनिषेधकत्वादात्मनश्चानीदृशत्वात् न बाधकः (२-३-४-५-६) । सहचरानुपलब्धिरपि नास्ति आत्मसहचराणां चेष्टादीनां बाढमुपलम्भादेव । किं च परस्परसांकर्यस्याऽन्योन्या-भावाऽनभ्युपगमे दुःपरिहरत्वाद्भूतचतुष्टयमपि लोकायतिकेन कथंकारमुपपादनीयम् ? यदपि मदव्यक्तिवच्छरीरे ज्ञानोत्पादाभिधानं तदपि तुच्छं, प्रत्येकमपि क्रमुकादिष्वस्माभिर्मदशक्तेः स्वीकारात्, त्वया पुनरनुमानापलापिना प्रत्येकं भूतेषु ज्ञानशक्तेः स्वीकर्तु-मशक्यत्वात् ।

यदपि नव्य-चार्वाकमतानुयायिभिरुच्ये-अवच्छेदकतयेत्यादिना, तत्तु-नैयायिकैरेव पराकृतम् । तथाहि-ज्ञानादेः प्रत्यक्षं तावत् सार्वजनीनं, तत्तु न चाक्षुषादिकं, चक्षुराद्यव्यापारेऽपि जायमानत्वात् । न च मानसमेव, मनसोऽनुमानापलापेऽभ्युपगन्तुमश-क्यत्वात् । अथ परामर्शजन्यज्ञानाभ्युपगमेऽपि तत्रानुमितित्वे मानाऽभावात् सर्वप्रमायाः प्रत्यक्षरूपत्वान्न प्रमाभेदाधीनः प्रमाणभेदः इति एतावदेवाभिमतमिति चेत् ? न, 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' एतादृशनिश्चयस्यैतदुत्तरदहनानुमितित्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वेन धर्मविशेषसिद्धौ धर्मिविशेषसिद्धेः । न चैतदुत्तरज्ञानत्वमेव तज्जन्यतावच्छेदकं, अप्रामाण्यज्ञानशून्यतादृशनिश्चयं विनापि तदवच्छिन्न-संदेहसंभवेन व्यभिचारात् । विशिष्टाऽव्यवहितोत्तरत्वदाने च गौरवात् ।

यत्त्वप्रामाण्यज्ञानाभावस्य पृथक्कारणत्वाभावात् दोष इति तत्र, तत्तद्व्यवहित्वेनाप्रामाण्यग्रहाभावानां तत्तदप्रामाण्यग्रहाभाव-
विशिष्टधूमादिलिङ्गकानुमितिं प्रति हेतुत्वकल्पनापेक्षया सामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासंबन्धवच्छिन्नप्रतियोगिताकाप्रामाण्यग्रहा-
भावानामवच्छेदकत्वकल्पनीचित्यात् ।

अनु 'वह्निमनुमिनोमी'त्यनुव्यवसायेनानुमितित्वसिद्धिरिति, तत्र, तत्र विधेयताविशेषस्यैव विषयत्वात् । अन्यथा पर्वतमनु-
मिनोमीत्यपि स्यात् । परामर्शजन्यतावच्छेदकतायामपि स एव प्रवेश्यतामिति चेत् ? न, तदीयसंबन्धोपेक्षयाऽनुमितित्वीयसंबन्धस्य
समवायरूपस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवात् ।

ननु तथापि अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वमेवेति प्रागंगीकृतम् । न चानुमितेः साक्षात्कारत्वे 'वह्निं न साक्षात्कारो-
मी'ति प्रतीतिः कथमिति वाच्यं, तत्र लौकिकविषयतया साक्षात्काराभावादेव गुरुत्वादाविव तदुपपत्तेः । अत एव लौकिक-
विषयतावत्येव साक्षात्कारोमीति प्रतीत्युत्पत्तेः 'पीतं शंखं साक्षात्कारोमी'त्यादिप्रतीतिवलादोपविशेषजन्यतयापि लौकिकविषयतां
कल्पयन्ति ग्रन्थिकाः । युक्तं चेत्-चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वे मानसत्वरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नसामग्र्यभावादेवानुमित्यनुदयोत्पत्ती
अनुमितित्वादेस्तत्प्रतिबन्धतावच्छेदकत्वाऽकल्पनेन लाघवात् ।

अथानुमितिसाधुत्तेजकभेदेन विभिन्नरूपेण प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव आवश्यक इति चेत् ? न, तत्तदिच्छानंतरोपजायमान-
भिन्नमानसे जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नं प्रति मानसान्यसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनादनुमितित्वादेर्मानसवृत्तित्वकल्पनी-
चित्यात् । अथ तत्तदिच्छाधैरहकाले तत्तदिच्छानंतरोपजायमानमानसापत्तिरिति चेत् ? न, तादृशमानसं प्रति तत्तदिच्छानां
हेतुत्वात् । न चैवं गौरवं, फलमुखत्वात् ।

अथ सुस्पर्शाद्यनंतरोपजायमानभिन्नज्ञाने जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छेदेन चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेऽनुमितित्वादेः
परोक्षवृत्तित्वमेवाऽस्तु इति चेत् ? न, तदवच्छेदेन स्मृत्यन्यज्ञानसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वात् तज्जातिविशेषस्य स्मृतित्वव्याप्यस्यैव
युक्तत्वात् । तज्जातिवदन्यज्ञानसामग्रीत्वादिना प्रतिबन्धकत्वेऽपि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यतावच्छेदकतया सिद्धस्य
प्रत्यक्षस्यैवानुमितौ युक्तत्वात् इति चेत् ?

अत्र वदन्ति-तदानीं वह्निमानसस्वीकारे लिङ्गादीनामपि मानसाऽऽपत्तिः । न चाऽऽचार्यमत इव तत्र तद्ज्ञानमात्रे इष्टापत्तिः
एवमप्युच्छृंखलोपस्थितानां घटादीनां तत्र भानाऽऽपत्तेः । न च तद्धर्मिकतत्संसर्गकतत्तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानात्मकपरामर्शादि-
रूपविशेषसामग्रीविरहात् न तदापत्तिरिति वाच्यं, सामान्य-सामग्रीवशात्तदापत्तेः । न च घटमानसत्वस्य परामर्शादिप्रतिबन्धता-
वच्छेदकतया न तदापत्तिः, घटमानसत्वादेरप्युच्छृंखलोपस्थितघटादिभानवारणाय तत्प्रतिबन्धावच्छेदकत्वेऽनंतप्रतिबन्धप्रतिबन्धक-
भावकल्पनाऽऽपत्तेः ।

अथ भोगपरामर्शजन्यभिन्नज्ञाने जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नमानसं प्रति तज्जातीयान्यज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वाच्च
तदानीं वह्नीतरज्ञानाऽऽपत्तिरिति चेत् ? न, मानसत्वस्यैव तत्प्रतिबन्धतावच्छेदकत्वौचित्यात् । न चैवं अनुमितिसामग्रीसत्यां
भोगोऽपि कथं भवेदिति वाच्यं, भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवतां सुखदुःखानामुत्तेजकत्वात् । न
च तादृशसुखदुःखकालेऽनुमितिसामग्रीभूतपरामर्शादी समवायेन तदभावादनुमित्यापत्तिः, सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसंबन्धा-
वच्छिन्नतदभावस्य निवेशात् ।

अत्रेदं चिन्त्यम् - अनुमितिसामग्र्या मानसं प्रति प्रतिबन्धकत्वस्य तत्तदिच्छारूपोत्तेजकभेदेन विशिष्य विश्रान्त्यानुमितेर्मान-
सत्व एव वह्न्वादिधर्मिकमानसं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वकल्पनया लाघवम्, तत्तदिच्छोपजायमानभिन्ने प्रतिबन्धतावच्छेदकजातिस्वीका-
रस्तु परामर्शजन्यभिन्नेऽपि स्वीकर्तुं शक्यते इति न वह्न्वाद्यनुमितिसामग्रीकाले उच्छृंखलोपस्थितघटादिभानवारणाय मानसत्वस्य
तत्तत्प्रतिबन्धतावच्छेदकत्वकल्पनीचित्येनानुमितेप्रत्यक्षत्वाभिधानं युक्तमिति ।

प्राश्नस्तु - उपनीतभानस्थले विशेषणज्ञानविशिष्टबुद्ध्योः कार्यकारणभावेनैवास्माकं चरितार्थता । अनुमितेर्मानसत्वव्याप्य-
तावादे तु पक्षादेर्मुख्यविशेष्यतयैव भानाज्ञानेन गतार्थता, इत्यतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पने गौरवमित्याहुरिति दिग् ।

सिध्यंतु वा यथाकथंचित् मनः अनुमानेन, तथापि यत्संयोगव्यतिरेकात् सुषुप्तिकाले कार्यानुत्पादस्तस्यैव मनस्त्वात्तस्य
च भीतिकाणुत्वे पृथिवीत्वजलत्वादौ विनिगमनाविरहात्, नव्यनये पृथिव्यादेरपि रूपवत्त्वाभावेन वायुत्वेऽपि विनिगमनाविरहादति-
रेकसिद्ध्या भूतचतुष्टयमात्रस्य पदार्थत्वप्रतिज्ञासंन्यासात् । न चात्मनः शरीरानतिरेके संयोगादेः पृथक् प्रत्यासत्तित्वाकल्पन-
लाघवमपि, परमाणौ पृथिवीत्वादिग्रहवारणाय महत्त्वोद्भूतरूपयोः प्रत्यासत्तिमध्येऽवश्यं निवेश्यत्वेन त्रुटिग्रहार्थं तत्स्वीकारात्,
इत्यन्यत्र विस्तरः ।

किंच शरीरस्यात्मत्वेऽहमात्मेतिवदहं शरीरमिति प्रत्ययोऽपि प्रमा स्यात्, न स्याच्चाहमात्मवानिति वदहं शरीरवानित्यपि । अपि च 'एगो आया इत्याद्यागमोऽप्यात्मानमुच्यतेति । स चायं "चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चेति" सूत्रम् । इत्थञ्चात्मनः सिद्धौ तसिद्धचधीनो परलोकमोक्षावपि सिद्धावेव । ननु मोक्षश्चेदशेषविशेषगुणोच्छेदरूपस्तर्हि तत्र कस्यापि प्रवृत्तिर्न स्यात्, विशेषगुणोच्छेदत्वस्याऽनिष्टतावच्छेदकत्वात् । अथ दुःखध्वंसत्वमेव काम्यतावच्छेदकमिति चेत् ? न, समनियताभावानामैकत्वेन तदानींतनसुखदुःखध्वंसयोरैक्यादुदुःखध्वंसे सुखध्वंसत्वरूपाऽनिष्टतावच्छेदकज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात् । अथ नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपः स इति चेत् ? न, तादृशसुखे मानाभावादिति चेत् ? अत्राहुः - 'कृत्स्नकर्मक्षय एव मोक्षः' । स च सूक्ष्मर्जुसूत्रनयाऽर्पणया नित्यसुखाभिव्यक्तिक्षणस्वरूपो, व्यवहारनयार्पणया नित्यसुखस्वरूपः, प्रमाणार्पणया तु द्रव्यपर्यायोभयस्वरूप इति दिग् । काम्यतावच्छेदकं तु विजातीयसुखत्वमेव । न च नित्यसुखे प्रमाणाभावः, आगमस्यैव मानत्वात् । न च सुखत्वावच्छेदेन शरीरादीनां कारणत्वात्तादृशं सुखं कथमिति वाच्यं, एवं सति परेषामीश्वरादी नित्यज्ञानादिकमपि न सिध्येत्, ज्ञानत्वावच्छेदेनात्ममनोयोगादीनां कारणत्वावधारणात् । प्रमाणान्तरान्नित्यज्ञानादिसिद्धौ कार्यतावच्छेदकसंकोचस्त्वन्यत्रापि तुल्य इति दिग् ।

मीमांसकास्तु प्रायशोऽनेकान्तवादाण्ययमेव न एतादृश्या इति न तेषां एतद् संमत्यनुकत्या न्यूनत्वमिति ध्येयम् ॥११॥
इत्थमनेकान्तवादं परेषामपि संमत्या प्रमाणयित्वा संप्रति वस्तुस्वरूपमाहुः "तेनेति" -

तेनोत्पादव्ययस्थेमसंभिन्नं गोरसादिवत् ।

त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥१२॥

तेन प्रागुक्तयुक्त्या परेषामपि संमत्या च कृतधियः = सत्परीक्षादक्षाः त्वदुपज्ञं = त्वदंगीकृतमेव वस्तुसत् = पारमार्थिकं वस्तु प्रपन्नाः = अंगीकृतवन्तः । कीदृशं वस्तु ? उत्पादव्ययध्रौव्यसंभिन्नमेतन्नित्यस्वभावमित्यर्थः । अयं भावः - द्रव्यस्योत्पादोच्छेदध्रौव्य-व्यपरिणामः स्वभावस्तथा च पारमर्थ - "उपज्ञेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ व" ति यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कंभक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशास्तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्या अपि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कंभक्रमः तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमोऽपि । यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं विभ्रति तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयाऽनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं विभ्रति । यथैव च य एव पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतया तदुभयात्मक इति तथैवात्रापि य एव पूर्वपरिणामोच्छेदनात्मको वृत्तिसीमान्तः, स एव तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवृत्तितया तदुभयात्मक इति । दृष्टान्तोऽत्र मुक्तादाम् । यथा दीर्घं लम्बे मुक्तादामनि सर्वेष्वपि स्वधामसूत्रकसत्सु मुक्ताफलेषु उत्तरोत्तरेषु धामसूत्रोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात् पूर्वेणां पूर्वेणां चानुदयनात् सर्वत्राऽपि परस्परानुस्यूतिसूत्रकसूत्रस्यावस्थानाच्च त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धं तथात्रापि ध्येयमिति ।

अत्र निश्चयतः प्रदेशादीनामुत्पत्तिनाशसंभवेऽपि व्यवहारतः परिणामानामेव तौ । यदवच्छेदेन च ध्रौव्यं तदवच्छेदेन तु नोत्पत्तिनाशौ, अन्यथा संकरापत्तेः । उत्पादव्यययोः द्रव्यत्वं तु स्वावलंबितपर्यायालंबनत्वाद्बोध्यम् । उत्पाद-स्थिति-भंगाश्च न परस्परं सर्वथा भिन्नाः कुंभसर्ग-मृत्पिण्डसंहार-मृत्तिकास्थितीनामैक्येनैवानुभवनात् । द्रव्यस्य स्थितिकाल एव च पर्यायाणामुत्पत्तिनाशसंभवाच्च क्षणभेदोऽपीति परमसमयामृतास्वादोद्धारः । इत्थं च सर्वेषां द्रव्याणामेकस्वभावत्वेऽप्ययं कश्चिद्विशेषो यदिह पुद्गलजीवद्रव्य एव परपरिणामाद्वैचित्र्यमनुभवतः । भवन्ति हि यथा परमाणवः स्निग्धरुक्षत्वादिविशेषेण परस्परमेकीभवन्तो द्रव्यणुकत्र्यणुकादिसमानजातीयद्रव्यपर्यायभाजो रागद्वेषादिप्रवृत्तिपारतंत्र्येणात्मानश्वासमानजातीयद्रव्यपर्यायभाज इति न ह्येवमाकाशादय इति दिग् ।

नन्वेकस्मिन् समये विरुद्धोत्पत्त्यादिधर्मसमावेशः कथमित्याशंकायां दृष्टान्तमाहुः गोरसादिवदिति । यथाहि गोरसे स्थायिनि पूर्वदुग्धपरिणामविनाशोत्तरदधिपरिणामोत्पादौ प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वाच्च विरुद्धौ, तदुक्तं "पयोव्रती न दध्यत्ती" न्यादि, तथेहापि द्रव्ये सर्वदा स्थायिनि पूर्वपरिणामोच्छेदोत्तरपरिणामोत्पादौ प्रतीतिबलादेव न विरुद्धाविति भाव इति श्रेयः श्रीः ॥१२॥

(अथ ग्रन्थकारप्रशस्त्यादि) - स्याद्वादोपनिषन्निषण्णविलसद्युक्तिप्रचारेऽपि धा, व्युत्पत्त्यै दधिरेऽत्र काश्चन महन्नेयायिक-

प्रक्रियाः । किं चित्रं भुवि चातुरीपरिचितप्रेमामृतास्वादिनां, तत्रास्मद्गुरवो नयादिविजयप्राज्ञाः प्रसन्ना यदि ॥१॥ सोऽयं श्रीतपगच्छमंडनमभूत् श्रीहीरसूरीश्वरो, रंभागीतजगद्गुरुत्वविरुद्धप्रद्योतमानोदयः । यस्य श्रीमदकब्बरप्रतिहतप्रत्यर्थिसीमंतिनी नेत्रास्त्रैर्मलीनीकृतमपि महीं कीर्तिः सितामातनोत् ॥२॥ सूरिश्रीविजयादिसेनसुगुरस्तेजस्विनामग्रणीस्तत्पट्टोदयपर्वते स्म नितमां पुष्पाति पूष्णः प्रभाम् । अंशायातदिगीशवृंदमहसो दिल्लीपतेः पर्वदि ध्वस्ता येन न के कुवादिनिवहा ध्वान्तप्रबन्धा इव ॥३॥ सूरिः श्रीविजयादिदेवसुगुरुः प्रद्योतते सांप्रतं, तत्पट्टैकविभूषणं मुनिजनस्तुत्यक्रमांभोरुहः । सायुज्यं भजतोऽनुमेयवसति भालेन शीतधुता, यं सेवत्यलमष्टमी प्रतिदिनं तादृक् तपोदर्शनात् ॥४॥ भाति श्रीविजयादिसिंहसुगुरनाम्ना समानीजसा, तत्पट्टाभरणी-भविष्णुरनिशं योगीन्द्रहृत्पञ्जरे । विंध्याद्री द्विषतां कुकीर्तिनिवहे तस्मात्सुखं शेरतां, चंचचंचलकर्णतालरचनादिकुंजराः कातराः ॥५॥ न्यायालंकृतिकाव्यनाटकमहच्छंदःककुबेलगीर्जनग्रंथपिचंडिला किल मर्तियेषां जजृभेतराम् । श्रीमद्वाचकपुंगवा समभवन् श्रीहीरसूरीशितुः श्रीकल्याणविराजमानविजयाः शिष्याः जयश्रीभृतः ॥६॥ श्रीहेमसूरितुलनां दधतः शब्दानुशासनोग्रधिया । श्रीलाभविजयविबुधास्तेषां शिष्योत्तमाः शुश्रुभुः ॥७॥ अभवन् तेषां शिष्या विबुधाः श्रीजीतविजयनामानः । राजन्ति तत्स-तीर्थ्याः श्रीनयविजयाभिधाः विबुधाः ॥८॥ स्याद्वादरहस्यमिदं व्यधायि तत्पादपद्मभुंजेण । जसविजयाऽभिधगणिना शिष्येण नवीनतर्कधिया ॥९॥

(लघु)श्रीस्याद्वादरहस्यग्रंथः संपूर्णः । संवत् १७०१ जसविजयेनांतरपल्लवां कृत इति श्रेयः ।

अंतरपल्यां प्रकरणमेनमनुस्मृत्य तर्कशास्त्राणि । अध्यात्ममतपरीक्षादीक्षादक्षो यतिर्व्यतनोत् ॥१॥ श्रीः । स्वैरमिदमुपादातुं कृतत्वर एव सज्जना जगति । परहितमात्रैकफला गुणगृह्यानां यतो वृत्तिः ॥२॥श्री॥

(संपूर्णः)

